विषय सूची

पाठ्यक्रम परिचय

एम. ए. हिन्दू अध्ययन कार्यक्रम प्रथम वर्ष के चतुर्थ पाठ्यक्रम में आपका स्वागत है। इस पाठ्यक्रम का नाम तत्त्व-मीमांसा है। भारत में प्राचीन काल से ही तत्त्व पर चिन्तन करने की सुदृढ परम्परा रही है, उसका प्रतिपादन दर्शनशास्त्र में, अन्य शास्त्रों में अथवा आख्यानों-कथाओं आदि के द्वारा लोक में हुआ है। तत्त्व पर विवेचन एवम् चिन्तन को ही तत्त्व-मीमांसा नाम दिया गया है। भारतीय ज्ञानपरम्परा में तत्त्व-सिद्धान्त, सत्ता अथवा परमसत्ता पर विचार, जगत् का विश्लेषण, आत्मतत्त्व आदि विषयों पर चिन्तन तत्त्व-मीमांसा के अन्तर्गत किया गया है। तत्त्व-मीमांसा नामक इस पाठ्यक्रम में 29 इकाइयों के माध्यम से विषयवस्तु को प्रस्तुत किया गया है। अध्ययन की सुविधा के लिए इस पाठ्यक्रम को आठ खण्डों में विभाजित किया गया है जिनके नामकरण अलग-अलग हैं। प्रथम खण्ड भारतीय तत्त्व-सिद्धान्त का स्वरूप है। इस खण्ड की तीन इकाइयों में तत्त्वज्ञान के लिए दर्शन की भूमिका को स्पष्ट करते हुए दर्शन के प्रयोजनों पर चर्चा प्रस्तुत है। अन्तिम इकाई में भारतीय दर्शन की परम्परा में उपस्थित विविध प्रवृत्तियों का वर्णन है। द्वितीय खण्ड का नाम है परतत्त्व या एकं सत्। इस खण्ड की तीन इकाइयों में परतत्त्व की विभिन्न भारतीय अवधारणाओं को प्रस्तुत किया है। भारत में किस प्रकार इस परतत्त्व की अवधारणा को भिन्न-भिन्न नामों से लक्षित किया गया है और किस प्रकार से परतत्त्व के इन अभिधेयों एवं पक्षों को परिभाषित तथा उनकी व्याख्या की गई? यह सब इस खण्ड में प्रस्तुत है। परतत्त्व के साथ-साथ इस भौतिक जगत् के विषय में भी भारतीय ज्ञानपरम्परा में अधिक चिन्तन हुआ है। प्रकृति एवं शक्ति के रूप से लेकर माया आदि तक, इस जगत् के मूलभूत स्वरूप को विभिन्न प्रकार से दर्शाया गया है। प्रथम इकाई में यही विषय प्रदत्त है। सम्पूर्ण जगत् काल के अधीन है एवं काल के द्वारा ही सञ्चालित है। कालतत्त्व का विवरण द्वितीय इकाई में प्रस्तुत है। तीसरी इकाई में पदार्थ की अवधारणा और पदार्थों के प्रकारों को वर्णित किया गया है। यह सृष्टि अन्ततः पञ्चमहाभूतों से मिलकर बनी है। पञ्चमहाभूतों का वर्णन अन्तिम इकाई में दिया गया है। चतुर्थ खण्ड व्यक्तित्व-मीमांसा है। यह जगत् प्रत्येक जीव और अजीव से मीलकर बना है। प्रत्येक जीव के तत्व को खोजना और उस पर चिन्तन करना ही वयक्तित्व-मीमांसा है। इस व्यक्तिगत तत्त्व को भारत में अधिकतर आत्मतत्व अथवा आत्मा की अवधारणा के द्वारा समझा गया है। इस खण्ड में भारत में विकसित हुए विभिन्न मतों के अनुसार आत्मतत्व के विवेचन तथा अवधारणा को प्रस्तुत किया गया है। प्रथम इकाई में वेदान्त में किए गए आत्मतत्व सम्बन्धी विवेचन को प्रस्तुत किया गया है। द्वितीय इकाई न्याय-वैशेषिक दर्शनों के अनुसार आत्मतत्व का वर्णन किया गया है। जैन परम्परा में भी आत्म अथवा जीव का विवेचन हुआ है। इसे तीसरी इकाई में दिया गया है। बौद्धों ने आत्मा को न मानते हुए अनत्त के सिद्धान्त को प्रतिपादित किया है। यह वर्णन अन्तिम इकाई में प्रस्तुत है। पञ्चम खण्ड का नाम है स्त्री-पुरुष की तात्विक एकता। भारत की ज्ञानपरम्परा में स्त्रीतत्व को बहुत ही आदर तथा सम्मान के साथ रखा गया है। वैदिक काल से प्रारम्भ करके सम्पूर्ण परम्परा में यही स्थिती रही है। इसके विश्लेषण के लिए इस खण्ड को प्रस्तुत किया गया है। जिसमें प्रथम इकाई में ऋग्वेदीय वाक्-सूक्त का वर्णन दिया गया है। दूसरी इकाई में देव्यथर्वशीर्ष में वर्णित स्त्रीतत्व का विवेचन प्रस्तुत है। शंकराचार्य ने देवीविषयक कई स्तोत्र रचे हैं जिनमें सौन्दर्यलहरी प्रमुख है। इस स्तोत्र में स्त्री तत्त्व की अभिव्यक्ति को तीसरी इकाई में दिया गया है। भारत में हिन्दू मत के अतिरिक्त जैन, बौद्ध तथा सीख मतों का भी आविर्भाव हुआ। इन मतों और उनसे सम्बद्ध ग्रन्थों में स्त्री तत्त्व के निरूपण को चौथी इकाई में प्रस्तुत किया गया है। अन्तिम इकाई में

देवी एवं स्त्रियों को ध्यान में रखते हुए शक्ति और प्रकृति के सिद्धान्त का वर्णन किया गया है। वर्ण, जाति और यूरोप से आयातित कास्ट, इन सभी को लेकर विभीन्न मत आज के आधुनिक समाज में उपस्थित है। इन अवधारणाओं के वास्तविक स्वरूप एवं मूल को जानने के लिए इस खण्ड का वर्ण्यविषय प्रस्तुत है। पहली इकाई में वर्ण की वैदिक अवधारणा को स्पष्ट किया गया है। दूसरी इकाई में मनीषा-पञ्चक में व्याख्यात वर्ण और जाति के विषय को प्रस्तुत किया गया है। योग, भक्ति और आगमों के आधार पर वर्णों के अधिकारों को तीसरी इकाई में प्रस्तुत किया गया है। अन्तिम इकाई में यूरोप से आयातित कास्ट की सङ्कल्पना का विश्लवषण प्रस्तुत है। भारतीय ज्ञानपरम्परा में एकत्व के सिद्धान्त का प्रतिपादन हुआ है। इसको समझने के लिए सप्तम खण्ड प्रस्तुत है। अद्वैत की सम्पूर्ण पद्धति ही एकत्व को स्थापित करने के लिए है। इसी को पहली इकाई में वर्णित किया गया है। आगम और निगमपरम्परा परस्पर पूरक हैं, यह वर्णन दूसरी इकाई में प्रस्तुत है। अन्तिम इकाई में वैदिक, श्रमण और गुरु परम्परा किस प्रकार परस्पर सम्बद्धता रखती हैं, इस विषय का वर्णन प्रस्तुत है। भारतीय ज्ञानपरम्परा में उद्भूत ग्रन्थों में श्रीमद्भगवद्गीता शिरोमणि के समान सुशोभित है। श्रीमद्भगवद्गीता में प्रतिपादित दर्शन को इस पाठ्यक्रम के अन्तिम खण्ड में प्रस्तुत किया गया है। प्रथम इकाई में श्रीमद्भगवद्गीता का परिचय प्रस्तुत करते हुए द्वितीय इकाई में इसकी दार्शनिकता पर प्रकाश डाला गया है। अन्तिम इकाई में श्रीमद्भगवद्गीता में वर्णित दैवी और आसुरी सम्पद् के विषय को प्रस्तुत किया गया है। इस प्रकार प्रस्तुत पाठ्यक्रम के अध्ययन के पश्चात् आप भारतीय तत्त्व-मीमांसा के अन्तर्गत तत्त्व के सिद्धान्त, परतत्त्व, जगत् की अवधारणा, आत्मतत्त्व, स्त्रीतत्त्व, वर्ण, जाति, कास्ट, एकत्व, श्रीमद्भगवद्गीता में प्रस्तुत दर्शन आदि विषयों का वर्णन करने में सक्षम को सकेंगें।

खण्ड 1
भारतीय तत्त्व–सिद्धान्त का स्वरूप

प्रथम खण्ड का परिचय

एम. ए. हिन्दू अध्ययन कार्यक्रम प्रथम वर्ष के चतुर्थ पाठ्यक्रम के प्रथम खण्ड में आपका स्वागत है। इस खण्ड का नाम भारतीय तत्त्व-सिद्धान्त का स्वरूप है। तत्त्व-मीमांसा में सर्वप्रथम और प्रमुख तत्त्व के सिद्धान्त को प्रतिपादित किया जाता है। यह सिद्धान्त ही तत्त्वसम्बन्धी चिन्तन का आधार बनता है। साथ ही यह चिन्तन दर्शन के माध्यम से ही किया जाता है। इसी क्रम में प्रथम इकाई में तत्त्व के ज्ञान में दर्शन की भूमिका को स्पष्ट किया गया है। कोई भी जीव की प्रयोजन के बिना किसी भी कार्य में प्रवृत्त नहीं होता। दर्शन भी किन्ही प्रयोजनों की पूर्ति के लिए प्रवृत्त हुआ जिनमें प्राथमिक तथा गौण प्रयोजन सम्मिलित हैं। इन्ही को दूसरी इकाई में प्रस्तुत किया गया है। भारत में दर्शन में अनेक प्रवृत्तियों के अनुसार विभिन्न मतों का उद्भव हुआ। अन्तिम इकाई में इन्ही विविध प्रवृत्तियों का वर्णन प्रस्तुत है। इस खण्ड की तीन इकाइयों का अध्ययन करने के बाद आप दर्शन, इसके प्रयोजन, इसमें उपस्थित विविधता आदि विषयों का वर्णन करने में सक्षम हो पाएँगें।भारतीय दर्शन केवल दृष्टिकोण नहीं है। इसकी सहायता से संपूर्ण मानव समाज के चिंतन पथ को प्रमाणित करने का प्रयास किया गया है। ब्रह्म, माया, जीव, जगत,ईश्वर आदि की जानकारीअथवा आत्मबोध के पथ पर चलने के लिए भारतीय दर्शन का प्रयोजन सिद्ध है। तात्विक अध्ययन के लिए भारतीय दर्शन का कोई विकल्प नहीं है। इस खण्ड में आप सभीके अध्ययन के लिए यहीविवेचन तीन इकाइयों में प्रस्तुत किया गया है।

इकाई 1 तत्त्वज्ञान में दर्शन की भूमिका

1.0 प्रस्तावना

मानव मन में कुछ स्वाभाविक अति सामान्य प्रश्न् उठते हैं। जैसे मैं कौन हूँ? कहॉ से आया हूँ? जिस जगत् में रहता हूँ उसका आदिकारण क्या है? आदिकारण एक है या अनेक? जगत् किसके सहारे स्थित है? वह प्रलय में कहॉ विलीन होगा? क्या आदि सत्ता पारमार्थिक है? यदि है तो उसका स्वरूप क्या है? वह भी विश्व के विशिष्ट पदार्थों की भांति है या उससे भिन्न? जगत्की सत्यता का स्तर क्या है। यह व्यावहारिक है या पारमार्थिक? इत्यादि। ये प्रश्न किसी भी विज्ञान के क्षेत्र में नहीं आते। ये तत्त्व मीमांसा प्रश्न हैं। दर्शन शास्त्र एक वो घर शास्त्र है और वह इन तत्त्वमीमांसीम प्रश्नों का समाधान करने की चेष्टा करता है। इसके अतिरिक्त तत्त्व का ज्ञान कैसे होता है? उस ज्ञान की प्रामाणिकता क्या है? हमारे जीवन का लक्ष्य क्या है? हमें क्या करना चाहिए? इन ज्ञान मीमांसा एवं आचार मीमांसीम प्रश्नों को भी दर्शन उतरित करने का प्रयास करता है।

उक्त प्रश्नों के सापेक्ष विभिन्न दर्शन एवं दर्शन सम्प्रदाय अपने-अपने तरह से समाधान ढूंढते हैं। यह उनकी अपनी दृष्टि होती है। ऐसे दर्शन के अनेक प्रजातियों का भारत में विकास हुआ। इस अध्ययन में हम विचार करेंगे कि – भारत की मुख्य दार्शनिक प्रणालियों में तत्त्व मीमांसीय प्रश्नों का क्या समाधान बताया गया है। तत्त्व मीमांसा के क्षेत्र में यही दर्शन की भूमिका है। इस इकाई के विस्तार को देखते हुये संहिताओं, उपनिषदों तथा षड़दर्शनों में ही तत्त्व मीमांसीम विचारों को देखने का प्रयास हुआ है।

1.1 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् आप :

- दर्शन काs अर्थ समझ सकेंगे।
- तत्त्व मीमांसा किसे कहते हैं, इसका उत्तर दे सकेंगे।
- तत्त्व मीमांसा में दर्शन की भूमिका से सम्बन्धित प्रश्नों का उत्तर दे सकेंगे।
- संहिताओं एवं उपनिषदों की तत्त्व मीमांसा से परिचित होंगे।
- षड़दर्शनों की तत्त्व मीमांसा से सम्बन्धित प्रश्नों के उत्तर दे सकेंगे।

1.2 दर्शन शब्द का अर्थ

दर्शन का अंग्रेजी अनुवाद प्राय: फिलॉसॉफी शब्द में किया जाता है। यह ग्रीस 'फिलास' और 'सोफिया' से बना है। फिलॉस का अर्थ है प्रेम और सोफिया का अर्थ है विद्या। फिलॉसॉफी शब्द का अर्थ हुआ विद्या से अनुराग। पाश्चात्य परम्परा दर्शन में बौद्धिक चिन्तन की प्रधानता देती है। इसीलिए दर्शन की परिभाषा दी जाती है – दर्शन मनुष्य का एक निष्पक्ष बौद्धिक प्रयत्न है जिसके द्वारा वह विश्व को उसकी सम्पूर्णता में समझने की चेष्टा करता है। भारतीय परम्परा में दर्शन का अर्थ है देखना, साक्षात्कार करना – **दर्शनं साक्षात्करणम्**। इसका उत्पत्ति जन्य अर्थ है – जिसके द्वारा देखा जाय वह दर्शन है – दृश्यतेडनेन इति दर्शनम्। इस प्रकार देखने (जानने) और देखने के साधन दोनों अर्थों में दर्शन का प्रयोग भारतीय परम्परा में होता रहा है। हरिभद्र ने दर्शन का अर्थ दार्शनिक प्रणाली के अर्थ में किया और अपनी पुस्तक का शीर्षक षड़दर्शन समुच्चयं रखा। माधवाचार्य ने भी दर्शन को दार्शनिक प्रणाली के रूप में देखा और 'सर्व दर्शन संग्रह' नामक ग्रन्थ का प्रणयन किया। तब से किसी भी दार्शनिक प्रणाली के लिए 'दर्शन' शब्द का प्रयोग सर्वाधिक लोकप्रिय हुआ।[1] 'शास्त्र' शब्द के दो अर्थ हैं – शासन करना एवं ज्ञान शंसन देना।[2] दर्शन शब्द के साथ शास्त्र का प्रयोग ज्ञान देने के अर्थ में है। यह शंसक अर्थात् बोधक शास्त्र है। धर्म के साथ शास्त्र का प्रयोग शासक अर्थ में है। धर्मशास्त्र हमें आचरण के सम्बन्ध में अनुशासित करता है जबकि दर्शन शास्त्र तत्त्व बोध करता है। दर्शन शास्त्र वस्तु के स्वरूप का प्रतिपादक होने से वस्तु तत्त्व होता है।[3]

मानव मन में स्वयं एवं बाह्य जगत् को जाननेकी नैसर्गिक प्रवृत्ति होती है। मानव की मूल प्रवृत्ति दार्शनिक चिन्तन की है। वह जीवन एवं सत्ता के समग्र सत्य की खोज तथा उपलब्धि चाहता है। अपने और विश्व के विषय में प्रत्यक्ष, अनुभव, कल्पना, बोध, गुरू से प्राप्त ज्ञान या सत्संग के द्वारा वह कुछ दृष्टि (धारणा) बना लेता है। यही उसका दर्शन होता है। उसी के आधार पर वह अपना जीवन, मूल्य एवं दृष्टि निर्धारण करता है। प्रोफेसर के. एस. मूर्ति का मानना है कि अति प्राचीन समय से दृष्टि का अर्थ दार्शनिक सिद्धान्त या मत रहा है। दार्शनिक सभी हैं अन्तर कुशल और अकुशल दार्शनिक होने का है। हक्सले ने ठीक ही कहा कि मानव के लिए चुनाव

---

[1] प्रो. के. एस. मूर्ति: फिलॉसॉफी नई इण्डिया, प्रथम अध्याय

[2] शासनात् शंसनात् शास्त्र' शास्त्रमित्यभिधीयते।

[3] शंसनं भूत वस्त्वेक विषयं न क्रिया परम्।।

दर्शन और अदर्शन के बीच न होकर अच्छे एवं बुरे दर्शन के बीच होता है। मानव की स्वाभाविक जिज्ञासा होती है कि – वह केवल शरीरेन्द्रिय प्राण संघात मात्र है या और कुछ भी है। उसकी तात्विक स्थिति क्या है? इस सम्बन्ध में छान्दोगयोपनिषद् की एक रोचक एवं दार्शनिक कथा उद्धरणीय है जो कुशल एवं अकुशल दार्शनिक की बात स्पष्ट करेगी।

देवता एवं असुर प्रजाति की इस वाणी को सुनते आये थे कि जो आत्मा पाप से रहित, जरा रहित, मृत्यु से रहित, शोक से रहित, क्षुधा-तृषा रहित है, सत्य काम, सत्य संकल्प है, वह जानने योग्य है। जो आत्मा को जानकर उसका अनुभव प्राप्त करता है वह सब लोगों एवं भोगों को प्राप्त करता है।[4] देवों और असुरों में आत्मा को जानने की जिज्ञासा हुई। देवताओं ने इन्द्र और असुरों ने विरोचन को आत्मज्ञान प्राप्त करने के लिए अपना प्रतिनिधि बनाकर प्रजाति के पास भेजा। प्रजापति ने उन दोनोंको बतीस वर्ष की तपस्या के बाद उपदेश देने को कहा।[5] तपस्या के बाद प्रजाति ने उपदेश दिया कि दूसरों की और वने में देखने पर या जल में झॉंकने पर या दर्पण में देखने पर जो दिखाई देता है अर्थात् शरीर ही आत्मा है, अमृत है, अभय है, ब्रह्म् है।[6] विरोचन उस उपदेश को सुनकर सन्तुष्ट हो, चले गये और उन्होंने असुरों से इस मत का प्रतिपादन किया कि जीवित शरीर ही आत्मा है, जो आत्मा को पूजेगा, उसकी सेवा करेगा वह इस लोक और पर लोक दोनों को प्राप्त करेगा।[7] इस प्रकार विरोचन ने असुरों को देहात्यवाद का प्रख्यान किया। किन्तु इन्द्र प्रजापति के इस उपदेश से सन्तुष्ट नहीं हुए। उन्होंने अन्वय एवं व्यक्तिरेक से निश्चय किया कि यदि प्रतिबिम्ब आत्मा देहानुसारी है तो शरीर के अलंकृत होने पर अलंकृत होगा तथा इन्द्रिय विकल होने पर इन्द्रिय विकल होगा और शरीर के नाश होने पर उसका भी नाश होग। ऐसी स्थिति में उत्पाद विनाशसील शरीर अमृतमय आदि गुणों वाला कैसे होगा? अर्थात् नहीं होगा।[8] इन्द्र पुन: जिज्ञासु बनकर गये और अपनी शंका प्रकट की। प्रजापति ने पुन: बतीस वर्षतक पर आने को कहा। तप के बाद प्रजापति ने उपदेश दिया कि जो पुरूष स्वप्न में मुक्त विचरण करते हुए दिखाई देता है वह आत्मा है।[9] पर इन्द्र ने विचार किया कि शरीरात्मवाद का दोष इसमें नहीं है पर स्वप्न में जान पड़ता है कोई मार रहा है, खदेड़ रहा है, अप्रिय प्रसंग में दु:खी हो रहा है, रो रहा है। इसलिए इस स्वप्नावस्था में भी कोई फल नहीं दिख रहा है। इन्द्र ने पुन: अपनी शंका प्रजापति के सामने रखी। प्रजापति ने पुन: बतीस वर्ष तप करके आने को कहा। आने पर प्रजापति ने उपदेश दिया कि – जब यह सोया हुआ सब तरह से शान्त होता है और स्वप्नादिका अनुभव नहीं करता, वह आत्मा है वही अमृत, अभय एवं ब्रह्म है।[10] इन्द्र ने पुन: विचार किया कि सुजाति अवस्था में आत्मा अपने को भी नहीं जानता कि यह मैं हूँ अन्य पदार्थों को भी नहीं जानता मानो इसका नाश ही हो जाता है। इस सुषुत्ति की आत्मा में

---

[4] छान्दोग्योपनिषद् 8/7/1

[5] तौ ह हातिंशत वर्षाणि बहमचर्यभूषतु:। छा. 8/7/3, तप से योग्यता का अर्जन होता है।

[6] एषो दाक्षिणि पुरूषो दृश्यत एष आत्मेति होवाचैत दमृतमभयम् ..... योडप्सु परिव्यापते पश्चायया दर्शे। छा. उ. 8/7/4

[7] शरीरमे वाल्मेति प्रजापतिना कथित:। तस्मत आत्मैव देह: एव मध्च्य: पूजयितुम् योग्य:। छा. उ. आनन्दभाष्य 8/8/4

[8] इन्द्रो हि अन्वय व्यतिरेकाम्याम् अवधारितवान .... उत्पाद विनाशसील स अमृतमय-त्वादि गुणक आत्मा कथं संभविष्यति। छा. उ. आनन्द भाष्य 8/9/1

[9] य एष स्वप्ने महीमानश्चरत्येष आत्मेति होवा चैतदमृतमयमय मेतद्व्रहयेति। छा. उ. 8/10/1

[10] यद्यतैतत् सुत्त: समस्त: सप्रसन्न: स्वप्नं न विजानात्येष आत्मेति। छा. उ. 8/11/1

मुझे कोई फल नहीं दिखाई पड़ता ।[11] इन्द्र ने अपनी शंका पुन: प्रजापति को निवेदित किया। प्रजापति ने पाँच वर्ष तप करने को कहा। तपोपरान्त उपदेश दिया कि जाग्रत, स्वप्न, सुषुत्ति तीनों अवस्थाओं में अभिव्यक्त चैतन्य शुद्ध आत्मा नहीं है अपितु आत्मा चैतन्य तुरीय, शुद्ध साक्षी, स्वप्रकाश और स्वत: सिद्ध है। उत्तम सभी अवस्थाओं का आधार है। जो यह समझता है कि –मैं सूँधूँ, उच्चारण करूँ, श्रवण करूँ जो विचारता है कि मैं मनन करूँ वही आत्मा है। उसके लिए मन रूपी दैवी नेत्र हैं।[12] जो पुरूष उस आत्मा को जानकर अनुभव करता है, वह सब लोकों और भोगों को पाता है।[13] तत्त्व दर्शन एवं अपने ऐश्वर्य को दिखाने के लिए भगवान ने अर्जुन को भी दिव्य नेत्र प्रदान किया क्योंकि भौतिक नेत्रों की गति परमतत्त्व तक नहीं है।[14]

यहां इन्द्र एवं विरोचन का उपाख्यान इसलिए दिया गया कि – पारूक यह समझ सके कि – दार्शनिक दृष्टि कैसे कुशल, अकुशल अथवा परिमार्जित एवं अपरिमार्जित होती है। विरोचन एवं इन्द्र इस बात के प्रतीक हैं कि – प्रत्येक व्यक्ति का दर्शन अलग-अलग होता है। अपनी तपस्या, साधना एवं योग्यता के परिप्रेक्ष्य में व्यक्ति अपना दर्शन निर्धारित करता है। विरोचन एवं इन्द्र से प्रारम्भिक स्तर पर बतीस वर्ष तपस्या की किन्तु दोनों में योग्यता का अन्तर रहा। विरोचन शरीरात्मवाद स्वीकार कर लेता है। इन्द्र भी प्रथम दृष्टि में इसे स्वीकार कर लेता है किन्तु उसका संस्कार, उसका चिन्तन इस स्वीकृति को नकारता है फिर प्रजापति के द्वारा क्रमश: स्वप्नावस्था के पुरूष एवं सुषप्तावस्था के पुरूष को आत्मा समझने का उपदेश पाता है किन्तु उसका चिन्तन फिर-फिर प्रश्न उठाता है, असन्तोष व्यक्त करता है, शंका करता है। तुरीयावस्था के रूप में आत्मा का उपदेश पाने पर उसका सारा सन्देह दूर हो जाता है, वह शंका रहित होकर उसे स्वीकार कर लेता है। यहां एक विषय और चिन्तनीय है कि आत्मज्ञान प्राप्त करने हेतु इन्द्र को एक सौ एक वर्ष तपस्या (साधना) कर अपने में आत्मज्ञान प्राप्त करने की योग्यता लानी पड़ती हैं।

दर्शन शास्त्र के प्रश्न मूलत: तीन तरह के हैं – विश्व का मूल तत्त्व क्या हैं?, इसका ज्ञान कैसे होता है? उसकी प्रामाणिकता क्या है?, और मुझे क्या करना चाहिए, मेरा नि:श्रेयस् और कर्तव्य क्या है? इन्द्री प्रश्नों पर क्रमश: तत्त्व मीमांसा, ज्ञान मीमांसा एवं आचार मीमांसा निर्धारित होती है, एक दृष्टि बनती है।

1.3 तत्त्वमीमांसा शब्द का अर्थ

मानव मन में उठने वाले कुछ स्वाभाविक दार्शनिक प्रश्न है। मैं कौन हूँ? कहां से आया हूँ? जिस जगत् में रहता हूँ उसका आदिकारण क्या है? वह आदिकारण क्या स्वयं अकारण है? जगत् कैसे उत्पन्न हुआ? वह किसके सहारे स्थित है? वह प्रलय में कहां विलीन होगा? क्या आदि सत्ता पारमार्थिक है? यदि है तो उसका स्वरूप क्या है? वह भी विश्व के विशिष्ट पदार्थों की भांति है अथवा उससे भिन्न? उसकी संख्या कितनी है? मेरा पारमार्थिक् सत्ता से क्या सम्बन्ध है। जगत् की सत्यता का स्तर क्या है? क्या वह प्रातिमासिक है? व्यावहारिक है? या

---

[11] छा. उ. 8/12/4

[12] अथयो वेदेदं मन्वानीति स आत्मा मनोडस्य दिव्यंचक्षु। स वा एष दिव्येन चक्षुष मनसैतान कामान् पश्चन् रसते च एतेब्रह्म लोके। छा. उ. 8/12/5

[13] सर्वच कामा सर्वाच्च लोकानाप्नोति। छा. 8/12/6

[14] न तु मां शक्य से द्रष्टुमनैनैव स्व चक्षुषा। दिव्यम्ददामितेचक्षु: पश्य मे भोग मैश्वरम्। गीता 11/8

पारमार्थिक? इत्यादि प्रश्नों का सम्बन्ध तत्त्व मीमांसा से है। दर्शन की जिस शाखा में सत्ता के अस्तित्व एवं धर्म के सम्बन्ध में मूल भूत प्रश्नों की मीमांसा अथवा पारमार्थिक सत्य का विवेचन किया जाता है उसे तत्त्व मीमांसा की संज्ञा दी जाती है।

मैं अपने एवं जगत् को कैसे जानूँ? मेरा जानना कहां तक प्रामाणिक है? ये प्रश्न ज्ञान मीमांसा के हैं। मेरे जीवन का लक्ष्य क्या है? मुझे अपने लिए जीना है या संसार के लिए भी? ये प्रश्न आचार मीमांसा के हैं। ऐसे ही अनेक दार्शनिक प्रश्न उठते हैं जिनका समावेश इन्हीं तीनों में हो जाता है। भारतीय परम्परा में ये तीनों – तत्त्व की मीमांसा, ज्ञान मीमांसा एवं आचार मीमांसा आपस में जुड़े हुए हैं।

स्पष्ट है दर्शन का मूल तत्त्व मीमांसा ही है। चूंकि तत्त्व मीमांसा में मूल तत्त्व का अनुसन्धान होता है। अत: उसके सिद्धान्त सार्वमौय अथवा सर्व व्यापक होते हैं। तत्त्वमीमांसा उच्चतम व्यापकता का ज्ञान है। तत्त्व के निर्धारण होने के बाद ही मनुष्य अपना लक्ष्य निर्धारित करता है। विरोचन ने शरीर को ही आत्मा समझा तदनुसार असुरों को शरीर पोषण के लिए प्रेरित किया। इन्द्र ने इसे स्वीकार नहीं किया और शंका और जिज्ञासा करते-करते निरपेक्ष, शुद्ध-बुद्ध, साक्षी स्व प्रकाश स्वयं सिद्ध आत्मा का अनुसन्धान किया और तदनुकूल अपनी आचार मीमांसा निर्धारित की। सामान्य रूप से जो लोग, आत्मा, ईश्वर, लोक, परलोक की सत्ता स्वीकार नहीं करते (जैसे चार्वाक दर्शन) उनके जीवन का लक्ष्य खाओ, पीओ, मौज करो ही रहता है। जो लोग आत्मा की नित्यता एवं ईश्वर की सत्ता स्वीकार करते हैं वे धर्माचरण एवं मोक्ष को अपने आचरण का लक्ष्य बनाते हैं। अस्तु प्रत्येक व्यक्ति के लिए तत्त्व मीमांसा महत्वपूर्ण है।

मानव मन में तत्त्व को जानने की प्रबल जिज्ञासा होती है क्योंकि तत्त्व को समझे बिना वह अपने जीवन यापन की प्रविधि नहीं तय कर पाता। दर्शन इन तत्त्व विषयक जिज्ञासा को शान्त करता है, तात्विक प्रश्नों का समाधान करता है, उत्तर देता है। इसलिए तत्त्वमीमांसा के लिए दर्शन आवश्यक है। तत्त्वमीमांसा में दर्शन की यह ही भूमिका है।

दर्शन तत्त्वमीमांसा को जानने एवं समझने का माध्यम है। सामान्य तौर पर हमारे जानने का बाहय माध्यम ज्ञानेन्द्रियां (आंख, कान, नाक, त्वचा एवं जिहा) हैं। इनसे संसारके बाह्य पंच विषयों – रूप, शब्द, गन्ध, स्पर्श एवं स्वाद का ज्ञान होता है। परमात्मा ने इन्द्रियों को बहिर्मुख बनाया है इसलिए वे बाहरी पदार्थों को ही जानने की चेष्टा करती हैं अपने अन्दर नहीं देखतीं।[15] आन्तरिक सुख-दु:ख आदि विषयों को अन्तरीन्द्रिय मन अपना विषय बनाता है। लेकिन इन्द्रियों की अपनी सीमायें है। दूर के पदार्थों को या व्यवधान युक्त पदार्थों को आंखे नहीं देख सकतीं। आंखों में विकार आने पर नहीं भी देख सकती। विकार युक्त होने पर कभी-कभी नजदीकी वस्तुओं को भी आंखे ठीक से नहीं देख पातीं। बहुत बार आंखे हमें धोखा देती हैं। सीधी लकड़ी जल में टेढ़ी दिखाई पड़ती है। समान आकार का सूर्य सुबह-शाम बड़ा और दिन में छोटा दिखाई पड़ता है। यही हास सभी इन्द्रियों का है।

ऐन्द्रिय अनुभव में यह सिद्ध होता है कि जो प्रतीति है; जो अनुभव में आता है वह सदैव यथार्थ अथवा सत्य नहीं हुआ करता। यथार्थ एवं प्रतीति के वैषम्य ज्ञान से तत्त्व मीमांसा प्रश्न यह भी उठता है कि – दृश्य जगत् प्रतीति मात्र है या सत्य है। सत्य और प्रतीति में क्या सम्बन्ध है? फिर इन्द्रियानुभव से अतिरिक्त भी कोई अनुभव है जो तत्त्व का यथार्थ रूप से हमारा साक्षात्कार

[15] पराञ्चि खानि व्यतृण त्स्वयं भू स्तमात्पराङ् पश्यति नानारात्मन्। रूणेोनिषा 2/1/1

करा सके। भारतीय दर्शन में ऐसी अनुभूति को स्वीकार किया गया है। यह अतीन्द्रिय अनुभूति है। ऐन्द्रिय अनुभूति में ज्ञाता-ज्ञेय का द्वैत सदा बना रहता है किन्तु अतीन्द्रिय अनुभूति में यह द्वैत मिट जाता है। यह अतीन्द्रिय अनुभूति योग दृष्टि या दिव्य दृष्टि कही जाती है जो कठिन साधना, गुरू कृपा या ईश्वर प्रसाद से प्राप्त होती है। इन्द्र विरोचन प्रजापति प्रसंग में सत्य के साक्षात्कार तक पहुँचने में इन्द्र को 101 (एक सौ एक) वर्ष की कठिन तपस्या करनी पड़ी। अर्जुन को दिव्य दृष्टि भगवान कृष्ण की कृपा से प्राप्त हुई। भगवान ने अर्जुन से कहा – कि तुम इन नेत्रों से युक्त वास्तविक रूप में नहीं देख सकते। इसलिए तुम्हें दिव्य दृष्टि प्रदान करता हूँ।[16] रामकृष्ण जैसे सन्त एवं गुरू ने अपने प्रियशिष्य विवेकानन्द को निर्विकल्प समाधि तक पहुँचाना था। विवेकानन्द निर्विकल्प समाधि प्राप्त कर चुके थे पर गुरू का आदेश था तुम्हें अपना मोक्ष ही अभीष्ट नहीं होना चाहिए तुम अपने मोक्ष और जगत् के हित के लिए कार्य करो।[17] ईश्वरस्योवनिषद् में सत्य के अवलोकन के लिए सूर्य से प्रार्थना की गयी है। ऋषि कहते हैं – आदित्य मण्डलस्थ ब्रह्म का मुख ज्योतिर्मय पात्र (हिरण्यमय पात्र) से ढका हुआ है। हे पूजन् मुझ सत्य धर्मा को आत्मा की उपलब्धि के लिए उसे उपावृत कर (उधाड़) दे।[18]

यहां महत्वपूर्ण बात यह है कि – सत्य आवरण से ढका है, सत्य का वास्तविक स्वरूप हमारे सामने नहीं है, सत्य निगूढ़ है। सत्य ज्ञान के लिए आवरण को हटाना आवश्यक है। दर्शन का मुख्य कार्य सत्याचेषण है, तत्त्वमीमांसा ही उसका अभीष्ट है क्योंकि तत्त्व के ज्ञान के बिना मुक्ति भी नहीं होती है। दर्शन के लिए तत्त्वमीमांसा लक्ष्य है, अन्य दार्शनिक प्रश्न तत्सापेक्ष हैं।

ब्रह्माण्ड, ब्रह्म, ईश्वर तथा अपहत पाप्मा, अजर एवं अमृत आत्मा आदि तत्त्वमीमांसीय सत्ताएं हैं। इन सत्ताओं की मीमांसा दर्शन शास्त्र करता है। तत्त्वमीमांसा मात्र इनका ज्ञान ही नहीं प्राप्त करना, अपितु, इनके ज्ञान में उसे आत्मपूर्णता की प्राप्त होती है और आत्मपूर्णता की प्राप्ति मानव की महती मनोवैज्ञानिक प्रेरणा है।

भारतीय दर्शनों के अनुसार परमार्थ सत्ता की अनुमूति से क्षणभंगुर,परिवर्तनशील मानव जरा मरण अथवा माया मोह के वचनोंसे पार होकर मोक्ष, निर्माण अथवा ब्रह्म को प्राप्त करता है। तत्त्व मीमांसा का ज्ञान ऐसा है कि जीव का आध्यात्मिक रूपान्तरण हो जाता है। वेदान्त मत में वह साक्षात् ब्रह्म हो जाता है: ब्रह्मवेद वहममेव भवति।

1.3.1 भारतीय दर्शनों में तत्त्व मीमांसा

भारतीय दर्शन का क्षेत्र अत्यन्त व्यापक है। इसमें वैदिक-अवैदिक सभी दर्शन आ जाते हैं। वेद (संहिता), उपनिषद्, गीता षड् दर्शन आदि वैदिक दर्शनों के साथ ही चार्वाक, जैन एवं बौद्ध दर्शन को प्राय: करके इसके अध्ययन का विषय बनाया जाता है। यद्यपि कि – माधनाचार्य ने सर्व दर्शन सातहम पन्द्रह दर्शनों का समावेश किया है। लेकिन पाठ्यक्रम की इस इकाई के अध्ययन विस्तार को ध्यान में रखकर कुछ प्रतिनिधि दर्शनों की तत्त्व मीमांसा की चर्चा की जायेगी।

---

[16] गीता 11/8

[17] आत्यन: मोक्षार्थं जगद्धितापच।

[18] हिरण्यमयेन यात्रेण सत्य स्थापि हितं मुखम्। तत्वं पूषलपावृण्तुसत्य धर्माय दृष्टये। ईशउपनिषद् 15

संहिताओं में तत्त्व मीमांसा

पश्चिमी प्रभाव में अर्जुन मित्र जैसे कुछ विद्वानों का मत है कि ऋग्वेद कालीन ऋषि पारिभाषिक रूप में दार्शनिक नहीं थे। उनमें जिज्ञासा की अपेक्षा विस्मय तथा चिन्तन की अपेक्षा कल्पना का ही बाहुल्य दृष्टिगोचर होता है। फिर भी दार्शनिक जिज्ञासा और चिन्तन के बीच जहाँ तहां बिखरे हुए मिल सकते हैं।[19] किन्तु मेरा अपना मानना है कि ऋग्वेद ही नहीं अन्य संहिताओं में भी मन्त्र द्रष्टा ऋषियों द्वारा साक्षात्कृत आध्यात्मिक रहस्य भी यन्त्रों के रूप में प्रकट हुए हैं। तत्त्व मीमांसा के क्षेत्र में एकेश्वरवाद का स्वर वैदिक संहिताओं में स्पष्ट है। यद्यपि अनेक देवताओं की उपासना का प्रसंग है किन्तु मन को एक सत् के ही विभिन्न नाम समझा गया।[20] वैदिक देवतागण एक ही देवता के विभिन्न शक्तियों के प्रतीक हैं। देवताओं को 'असुर' अर्थात् प्राणवान बलवान अप्रतिहत सामर्थ्य माना गया है उनके असुरतव को स्पष्टतया एक ही स्वीकार किया गया है – यहद् देवानामसुरत्व मेकम – ऋग्वेद। पुरूष सूक्त में कहा गया कि – पुरूष ही है।[21] ठीक यही बात यर्जुवेद के पुरूष सूक्त में भी कहा गया है।[22] विश्वदेवा सूक्त में कहा गया है कि – आकाश, अन्तरिक्ष, माता-पिता, पुत्र, सम्पूर्ण देवता सभी जातियां अथवा जो उत्पन्न हुआ है और होगा वह सब अदिति रूप है।[23] ऋग्वेद के नासदीय सूक्त में कहा गया कि सृष्टि के आदि में न सत् था न असत् था न वायु था न आकाश था .... न मृत्यु थी न अमरता, न रात थी न दिन था उस समय केवल वही एक था जो वायु रहित स्थिति में अपनी शक्ति से श्वास ले रहा था, उसके अतिरिक्त कुछ नहीं था।[24] ऋग्वेद का हिरणयगर्भ सूक्त गहरे आध्यात्मिक रहस्यों से भरा हुआ था। आनन्द रूप होने से अथवा इन्द्रियं रूप से अनिर्वचनीय होने के कारण हिरण्य गर्भ 'क' शब्द से व्यवहत हुये। यही हिरण्यगर्भ सर्व प्रथम उत्पन्न हुए और उत्पत्ति होते ही सब भूतोंके अधिपति हो गये।[25] इन्होंने आकाश और पृथिवी को अपने स्थान पर स्थित किया। जिन प्रजापति ने प्राणी को शरीर और बल प्रदान किया उसकी आज्ञा से सभी देव चलते हैं। मृत्यु भी उनके अधीन रहती है।[26]

विष्णु सूक्त में कहा गया है कि –विष्णु के पराक्रम को देखो जिनके बल से सभी नियम स्थित हैं।[27] विष्णु परम पदको ज्ञानीजन सदा अपने ह्दय में देखते है।[28] अथर्ववेद के स्कम्भ(10/3) एवं उच्छिपट (11/5) सूक्त में तत्त्व मीमांसा का एकेश्वरवादी स्वर सपष्ट है। स्कम्भ सूक्त में प्रतिपादित है कि – उस अकाम, धीर, अमृत, स्वयंभू, रसतृप्य, अन्मून अजर आत्मा तत्त्व केअनुभव से ही मृत्यु पर विजय प्राप्त होती है।[29] उच्छिष्ट सूक्त में अच्छिष्ट नाम से ब्रह्म का

---

[19] अर्जुन मित्र: दर्शन की मूल धारायें पृ. 5

[20] इन्द्रं मित्रं वरूणमग्निया हुरथो दिव्य: स सुपर्णो ग:त्मन्।

[21] पुरूष सूक्त ऋग्वेद 10190/

[22] पुरूष एवेदमं सर्वं भद् भूत यच्च भाव्यम्। यर्जुवद पुरूष सूक्ष्म

[23] अदिति जतियदितिर्जनित्वम्। ऋग्वेद 1/89/10

[24] अनीदवात स्वधयातदेक तस्माद्धान्यन्त पर: किंचिनास:। ऋग्वेद 10/129/2

[25] हिरण्यगर्भ: समवर्तताग्र भूतस्य जात: पतिरेक आसीत। सदाधार पृथिवीं द्यामुतेमा कस्मै देवाय हविशा विधेम।। ऋग्वेद 10/121/2।

[26] .ऋग्वेद 10/121/2

[27] विष्णो: कर्माणि पश्यत यतो व्रतानि पश्परो। ऋग्वेद 1/22/9

[28] तद्धिपणो: परमं पदं सदा पश्यन्ति सूक्त:

[29] अकामो धीरो डमृत: स्वयम्भू: रसेनन तृतोन कुतरचनोन:। तमेव विद्वान न विभाय मृत्यो रात्मान धीरयजांरयुवानम्।। अथर्ववेद 10/3/44

प्रतिपादन है। उच्छिष्ट का अर्थ है बचा हुआ, शेष पदार्थ; दृश्य प्रपंच के निषेध करने के अन्तर जो अवशिष्ट रहता है वही उच्छिष्ट है, अर्थात् बाधा रहित पर ब्रह्म।इस उच्छिष्ट पर नमा रूप जगत् आश्रित है, सारा लोक आश्रित है।[30] समस्त वेद पुराण अपान चक्षु स्रोत, अक्षिति (स्थिति) तथा क्षिति (लय), सब उच्छिष्ट से उत्पन्न हुए हैं। देव, पितर, मनुष्य, गन्धर्व, अप्सरायें और सब द्युलोक उच्छिष्ट से ही उत्पन्न हुए हैं।[31]

प्रजापति, पुरूष, हिरण्यगर्भ, विष्णु, अदिति, स्कम्भ, उच्छिष्ट सब एक ही परम तत्त्व के वाचक हैं। स्पष्ट है संहिता काल में एकेश्वरवाद की प्रवृत्ति दिखलाई पड़ती है। उपनिषदों के ब्रह्म तत्त्व या आत्म तत्त्व, तथा ब्रह्मात्मैक्यवाद के लिए संहिताओं के वर्णन पूर्व पीडिला हैं।

1.3.2 उपनिषद् दर्शन में तत्त्व मीमांसा

उपनिषदें भारतीय दर्शन के मूल स्रोत हैं। भारतीय दर्शन की कोई ऐसी प्रमुख विचारधारा नहीं है जिसका उद्गम उपनिषदों में न हो। उपनिषदों में अद्वैत, विशिष्टाद्वैत, एवं द्वैतपरक वाक्य हैं किन्तु उनका तात्पर्य अद्वैत के प्रतिपादन में है क्योंकि बाहुल्य अद्वैत श्रुतियों का है। उन्हीं को बारंबार प्रतिष्ठित किया गया है। फिर विशिष्टाद्वैत एवं द्वैतपरक वाक्यों को गौण मानकर उनकी संगति अद्वैत श्रुक्तियों के साथ हो जाती है। शंकराचार्य ने इसका स्पष्ट विशुद्ध एवं विस्तृत प्रतिपादन किया है।[32]

उपनिषदों की जिज्ञासा का प्रमुख विषय मूल तत्त्व को जानना है। वह तत्त्व जिस एक के जानने से सब कुछ जाना जाता है। छान्दोग्योपनिषद् में आरूणि अपने विद्यामिमाकी पुत्र से पूछते हैं कि – क्या तुम उस तत्त्व को जानते हो जिससे बिना सुना हुआ सुवा हुआ हो जाता है, बिना समझा हुआ समझा हुआ हो जाता है।[33] शौनक ने सभ्य पुरूषों से ऐसी कहावत सुनी थी कि – एक ही को जानने से मनुष्य सर्वज्ञ हो जाता है। उसे विशेष रूप से जानने की इच्छा से वितर्क करते हुए मरवाज शिष्य अड़िगरा के पास जाकर विधिवत् पूछा – हे भगवान। किस वस्तु को जान लेने से यह सब विज्ञेय पदार्थ विशेष रूप से ज्ञात हो जाता है।[34] इस मूल तत्त्व को उपनिषदों में आत्मा कहा गया है।

सृष्टि के आरम्भ में क्या था? इस प्रश्न पर उपनिषदों में स्थल-स्थल पर सत्[35], असत्[36] मृत्यु[37], आत्मा[38] और ब्रह्म[39] आदि नाम आये हैं लेकिन ये एक ही सत्ता के भिन्न-भिन्न हैं जैसाकि श्रुति परम्परा में कहा गया है कि – एक ही सत् को विद्वान, लोग भिन्न-भिन्न नामों से जानते है।[40] विश्व के परम तत्त्व को उपनिषदों में प्राय: ब्रह्म नाम दिया गया और उसे ही जिज्ञास्य

---

[30] उच्छिष्टे नाम रूपं चोच्छिष्टे लोक आहित:। अथर्ववेद 11/7/1

[31] उच्छिष्टाण्जातिरे सर्वे दिवि देवा विविज्ञिता:। अथर्ववेद 11/7/27

[32] च्रन्द्रधर शर्मा: भारतीय दर्शन आलोचना एवं अनुशीलन पृ. 6

[33] मेनाश्रुतं श्रुतं भवत्यमतमविज्ञातं विज्ञातमिति। छान्दोग्योपानिषद् 6/1/3

[34] कास्मेन्तु भगवो विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवति। मुण्डक उपनिषद् 1/1/3 एवं शंकर भाष्य।

[35] सदैव सौम्येदभग्र आसीत् एकमेवाद्वितीयम्। छा. उ. 6/21/1

[36] अस द्वा इदभात आसीत्। तैत्रि. आरण्यक 7/1

[37] नैवेह किण्चाग्त आसीन्मृत्युनैवेदभावृतमासीद्। वृ. उ. 1/2/1

[38] आत्मैवेदभग्र। बृ. उ. 3/4/1; आत्मोवैदभग्र आसीदेव: एक:। बृ. उ. 1/4/7

[39] ब्रह्मवा इदयग्र आसीदेवतदेक: (वृ. उ. 1/4/11); एक मेवाद्वितीय ब्रह्म (छा. उ. 6/2/1

[40] एक सद्विप्रा: बहुधावदन्ति। ऋग्वेद 1/164/46

बताया गया। केन उपनिषद् का प्रारम्भ मन, वाणी के प्रेरक परम तत्त्व ब्रह्म की जिज्ञासा से होता है[41] और यही उसका प्रतिपाद्य है।[42] वृहदारण्यक उपनिषद् के एक प्रसंग में बालक्ति के यह कहने पर कि – मैं तुम्हें ब्रह्म विद्या सिखाउँगा अजात शत्रु ने मात्र इतना कहने के लिए एक हजार गाय दिया। विश्व इतिहास में ब्रह्म विषयक तीव्र जिज्ञासा का इस तरह का उदाहरण मिलना कठिन है। ब्रह्म सूक्त का प्रारम्भ भी 'अथाताद्ध ब्रह्म जिज्ञासा (1/1/1) कहकर ब्रह्म जिज्ञासा से हुआ है। श्वेताश्वतर उपनिषद् में ब्रह्मविद ऋषि गण आपस में प्रश्न उठाते हैं और उसका समाधान चाहते हैं। प्रश्न इस प्रकार है – जगत् का कारण ब्रह्म कैसा है? हम किससे उत्पन्न हुए हैं? किसके द्वारा जीवित रहते हैं? कहाँ स्थित हैं? और हे ब्रह्म विद्गण हम किसके द्वारा सुख दु:खों में प्रेरित होकर व्यवस्था (संसार यात्रा) का अनुवर्तन करते हैं।[43] काल, स्वभाव य दृष्टा, भूत और पुरूष कारण हैं या नहीं? इस पर श्री विचार करना चाहिए। विचार पूर्वक काल आदि की कारणता का निषेध कर परमात्मा ब्रह्म की कारणता का निश्चय किया गया।[44] वरूण का पुत्र मृगु अपने पिता से ब्रह्म विद्या का वैध कराने के लिए कहते हैं।[45] पिता ने कहा जिससे निश्चय ही ये सब भूत उत्पन्न होते हैं उत्पन्न होने पर जिसके आश्रय जीवित रहते हैं और अन्त में विनाशोन्मुख होकर जिसमें ये लीन हो जाते हैं, वहीं ब्रह्म है।[46]

उपनिषद् ब्रह्म या आत्मा को जगत् का निमित्तोपादान काल मानता है और इसके लिए मकड़ी के जाले का उदाहरण देता है। मकड़ी जाले के निर्माण की सामग्री (उपादान कारण) स्वयंसे उत्पन्न करती है और उसका निर्माण भी स्वयं करती है (निमित काय) उसी प्रकार अक्षर ब्रह्म से जगत् की उत्पत्ति होती है।[47] वह ब्रह्म जगत् में व्याप्त है उपादान होने से और जगत् से परे भी है निर्मित होने से। ब्रह्म जगत् व्यापार (सर्जन, क्षम और लय) अपनी अचित्य शक्ति मापा के द्वारा करता है। जगत् सम्बन्ध से वह सगुण से विशेष है अन्यथा वह वास्तव में निर्गुण निर्विशेष है। मन, वाणी एवं बुद्धि का विषय नहीं है।[48] उसका सर्वोत्तम निर्वचन 'नेति-नेति' है।[49]

ब्रह्म जिज्ञासा उपनिषदों का प्रमुख विषय है पर उनकी जिज्ञासा का दूसरा विषय आत्मा है हालांकि आत्मा और ब्रह्म को एक ही माना गया है। नारद सनत्कुमार से शिक्षा ग्रहण करने जाते है संतत्कुमार के पूछने पर नारद अपनी पडिंत अनेक विद्याओं का नाम गिनाते है।[50] पर कहते हैं कि – मैं मन्तवित हूँ पर आत्मवित नहीं। आप जैसे विद्वानों के मुख से सुना हूँ कि आत्मवित शोक से पार हो जाता है। आत्रुभगवन् आप आत्मोपदेश देकर मुझे संसार सागर से पार करें।[51] यहां नारद की जिज्ञासा आत्म विषयक है। वृहदारणयकोपनिषद् में कहा गया है कि आत्मा ही द्रव्यव्य है, श्रोतव्य है और मत्रव्य है, आत्मा ही निद्धिध्यासन का विषय है। हे मैलेमी आत्मा के

---

[41] केनेषितं इत्याद्योपनिषद् पर ब्रहम विषया वक्तव्या। केन उ. 1/1 शंकराचार्य सम्बन्ध भाष्य।

[42] तदेवब्रह्म त्वं बिद्धि नेदं यछिदमुपासते। केन उ. ¼ एवं उस पर शांकर भाष्य।

[43] कि कारण ब्रह्म कुत- स्म जाता जीवाम केन वच च सम्प्रतीष्ठा।

[44] श्वेताश्वर उप. ½-5

[45] भृगुर्वे वारूणि: पितामुपससार अधीहिभगवो ब्रह्मेति। तैत्तिरीय उप. 3/1

[46] यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते मेन जातानि जीवत्ति यत्प्रत्यन्म मिसंविशान्ति ब्रह्म। तैत्रि. 3/1

[47] यथोर्णनाभि: सृजतेगृह तैच तथा क्षरात्संभवती हविश्वम्र। मु. 1/1/7

[48] पतो वाचो निवर्तन्ते प्राप्य मनसा सह।

[49] अथातो आदेश नेति नेति।

[50] छान्दोग्योपनिषद् में पंडित विद्याओं की एक लम्बी सूची है। छा. उ; 7/1/10 द्रष्टस्य।

[51] सोद्रह भगवो मन्त्र विदेवास्मि ना डडत्यवित्। श्रुत हयेव में भगवद् दशेभ्य स्तराते शोकमात्मवित्। सोडहं भगवो शोचामि तं मा भगवाज्छो कस्य पारं तारयात्विति। छा. उ; 7/1/3

ही दर्शन, श्रवण और ज्ञान से यह सब विदित (ज्ञात) होता है।[52] जिस प्रकार दुन्दुभि, शंख एवं वीणा से उत्पन्न ध्वनियों को पकड़ने के लिए तत् तत् वाद्य यन्त्रों को पकड़ना पड़ता है वैसे ही विश्व को जानने के लिए आत्मा को जानना ही एक मात्र उपाय है।[53]

कठोपनिषद् में नचिकेता का मुख्य जिज्ञास्य आत्मा ही है। नचिकेता यमराज द्वारा अनेक प्रलोभनों को देने के बाद भी नचिकेता सभी को नकार कर आत्म जिज्ञासा को ही अपने वरदान का विषय बनाता है।[54] छान्दोग्योपनिषद् इन्द्र और विरोचन प्रजापति के पास आत्मोपदेश के लिए जाते हैं (पूरी कथा पूर्व वर्णित है)। ये सब प्रसंगयह स्पष्ट करते हैं कि – उपनिषदों के विचारों की परम तत्त्व सम्बन्धी जिज्ञासा का पर्मवसान आत्मा जिज्ञासा में है।

उपनिषद् तत्त्व दर्शन की सबसे बड़ी विशेषता है कि – ब्रह्म और आत्मा की एकता घोषित कर आत्मा को तत्त्व मीमांसा का एक मात्र विषय बनाता है। कंन उपनिषद् में कहा गया है कि जो मन से मन न नहीं किया जाता बल्कि जिससे (आत्मा से) मन मन न किया हुआ जाना जाता है उसी को तू ब्रह्म जान तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि। वह आत्मा तो सर्वोत्कृष्ट ब्रह्म स्वरूप ही है। तुम उसी ब्रह्म को जानो।[55] शंकराचार्य केन उपनिषद्के ही एक स्थल पर भाष्य में लिखते हैं – वही आत्म स्वरूप ब्रह्म है, आत्मा को ही निर्विश ब्रह्म जानो।[56] ब्रह्दारण्यक उपनिषद् की उक्तिहै – यह आत्मा ही ब्रह्म है।[57] छान्दोग्योपनिषद् छठे अध्याय के आठवें खण्ड से लेकर सोलहवें खण्ड तक विविध उदाहरणों से समझाकर हर खण्ड के अन्त में कहा गया कि – 'हे श्वेत केतु तुम ही ब्रह्म हो।[58] यहां छान्दोग्योपनिषद् आत्मा और ब्रह्म की एकता स्थापित कर देता है। मुण्ड को पनिषद् ब्रह्मज्ञानी (आत्मा) ब्रह्म् हो जाता है[59] कह कर आत्मा और ब्रह्म में अभेद बतलाता है। ब्रह्म की ही भांति आत्मा को भी 'नेति-नेति' कहा गया है।[60]

उपनिषद्कार मानते हैं कि – तत्त्व ज्ञान के अति कत्व अमृत तत्त्व की प्राप्ति का कोई अन्य साधन नहीं है। ब्रह्म को जानने वाला सब प्रकार के भय से मुक्त हो जाता है।[61] यह ज्ञान ही आत्मा और ब्रह्म की एकता का। उपनिषदों में दर्शन स्वयं साध्य नहीं तत्त्व ज्ञान का साधन है। स्वप्न है, उपनिषद् दर्शन का तत्त्व मीमांसा के क्षेत्र में अप्रक्तिम योगदान है।

1.3.3 सांख्य–योग दर्शन में तत्त्व मीमांसा

कपिल का सांख्य दर्शन और पतंजलि का योग दर्शन समान तन्त्र है। योग दर्शन सांख्य की तत्त्व मीमांसा को स्वीकार करता है किन्तु उसमें ईश्वर तत्त्व की वृद्धि कर देता है जो पुरूष-प्रकृति का संयोग कराता है। उसके ध्यान से समाधि निद्धि होता है – समाधि रिद्धि: ईश्वर प्राणिधानाश।[62]

---

[52] आत्मा वा अरे द्रष्टव्य: श्रोतव्यो मन्त्रव्यो निदिध्मासितव्य .... विज्ञानेने द सर्व विदितम्। बृह. उ. 2/4/5

[53] बृह. उ. 2/4/6-9।

[54] वरस्तु ये वरणीय स एव स एव मदात्म विज्ञानम् शांकरभाष्य कठोपनिषद् 1/1/27; आत्मनां निर्णय विज्ञानं यत् तत् ब्रूहि कथय नो डस्यभ्यम्। कठोपनिषद् शांकरभाष्य 1/1/29

[55] निरतिशय ब्रह्म स्वरूपों हयात्मा विजिज्ञापयिषित:। शांकर सम्बन्ध भाष्य केन उप.।

[56] तदेव आत्म स्वरूप ब्रह्म; आत्मानमेव निर्विशेष ब्रहम विद्धि। केन उप. ¼ शांकरभाष्य।

[57] बृहदारण्य कोपनिषद् 2/5/1, 4/4/5

[58] तत्त्वमति श्वेत के तो:। छा. उ. अध्याय 6 खण्ड 8-16

[59] ब्रह्मवेद ब्रह्मैव भवति। मु. उ. 3/9/26

[60] नेति-नेति आत्मा। वृह. उ. 3/9/26

[61] आनन्द ब्रह्मणो विद्वान न विमेति कदाचनेति। ते. उ. 2/4

[62] योग सूक्त 2/45

इसलिए योग को सेश्वर सांख्य कहा जाता है।

सांख्य दर्शन की तत्त्व मीमांसा द्वैतवादी है। ये दो तत्त्व हैं – प्रकृति एवं पुरूष। दोनों का अस्तित्व एक दूसरे से निरपेक्ष हैं स्वभाव भिन्न है। पुरूष चेतन है, चैतन्य उसका स्वाभाविक गुण है, आकस्मिक नहीं (जैसा न्याय वैशेषिक मानता है) है। प्रकृति जड़ है। पुरूष निष्तैगुणय भोत्मा, निष्क्रिय, अपरिणामी, असामान्य एवं अनेक। इसके विपरीत प्रकृति त्रिगुणात्मिका, योग्य, सक्रिय, परिणामी (प्रसव धर्मों –उत्पपति कर्ता), सामान्य तथा एक है।[63]

पुरूष साक्षी केवल (पास विशुद्ध), मध्यस्थ अर्थात् तटस्थ या उदासीन ज्ञाता अर्थात शुद्ध चैतन्य रूप है। नित्य एवं अनेक है। अनेकता में सांख्य का तर्क है कि – पुरूषों में जन्म, मरण एवं इन्द्रिय भेद (कोई सकल है, कोई विकल्प है) है, प्रवृत्ति एक साथ नहीं है (कोई सोता है, कोई जागता है) और उनमें गुण भेद है कोई सात्विक है, कोई राजस तो कोई तामस रचनभावकन। अत: पुरूष अनेक है। सांख्य का यह तर्क संगत नहीं है क्योंकि जन्म, मरण, करण, प्रवृत्ति एवं गुण भेद सभी प्रकृति के तत्त्व हैं। आत्मा जन्म रहित, मरण रहित (नित्य होने से) शरीर एवं इन्द्रिय से भिन्न है। प्रवृत्ति भी आत्मा में नहीं है क्योंकि वह निष्क्रिय है।

सांख्य का दूसरा तत्त्व प्रकृति है। वह एक नित्य, जड़ और सदा परिणामी है। उसका लक्ष्य पुरूष के उद्देश्य साधन के अतिरिक्त कुछ नहीं है। सत्व, रज एवं तम - ये तीन गुण प्रकृति के उपादान हैं।

सत्व गुण लघु एवं प्रकाशक है, इष्ट है, रजोगुण उत्तेजक एवं चण्चल है तमोगुण भारी आवश्यक एवं अवरोधक है। सत्व की अधिकता से सुख, रजोगुण की अधिकता से दु:ख एवं तमोगुण की अधिकता से मोह की स्थिति होती है। गुणों का परम रूप दृष्टिगत नहीं होता।[64] प्रकृति की दो अवस्था होती है 1) साम्यावस्था और 2) विक्षोभवस्था। साभ्यावस्था में सभी गुण अलग-अलग एक दूसरे से निरपेक्ष अपने आप में क्रियाशील रहते हैं। विक्षोभावस्था में एक गुण दूसरे को दबाना चाहता है इसी अवस्था में सृष्टि प्रारम्भ होती है। यह विक्षोभावस्था पुरूष के संसासि पंग्वन्धन्याय से होती है। पंगु चल नहीं सकता, अन्धा देख नहीं सकता पर अन्धा पंगु को कन्धे पर बैठा ले तो दोनोंगन्तव्य तक पहुंच सकते हैं। पुरूष निष्क्रिय (पंगु) पर चेतक है, प्रकृति अन्ध (जड़) किन्तु सक्रिय है। किन्तु इस व्याख्या में दोष है पंगु और अन्ध दोनों चेतन हैं पर यहां एक चेतन और दूसरा जड़ है। दो चेतन योजना बना सकते हैं पर एक जड़ और दूसरा चेतन योजना नहीं बना सकते। सांख्य पुन: कहता है प्रकृति को पुरूष संसारिका आभास होता है तब तो सृष्टि आभासी होगी पर सांख्य सृष्टि वास्तविक मानता है। यहां अधिक तर्क का अवकाश नहीं है। पुरूष-प्रकृति के संयोग से विक्षोभावस्था में सत्व की अधिकता से पहले महत् (बुद्धि) तत्त्व की उत्पत्ति होती है। उससे अंहकार होता है। अंहकार में सत्व की प्रचुरता में पंचज्ञानेन्द्रिय, पंचकर्मेन्द्रिय एवं मन की उत्पत्ति होती है। तान की प्रचुरता से शब्द, स्पर्श, रूप, रस एवं गन्ध-पंच तन्मात्राओं की उत्पत्ति होती है। इन पंच तन्मात्राओं से पंच सूत्रों की उत्पत्ति होती है।[65] प्रकृति एवं तण्चन्य विकारों की संख्या 24 है। पुरुष को लेकर यह संख्या पच्चीस हो जाती है।

---

[63] त्रिगुणम विवेकि विषय: सामान्यमचेतनं प्रसव धर्मि। व्यक्त तथा प्रधानंतहिद्वपरोत स्त्था जुमान्। (सांख्य कारिका 11)

[64] गुणाना परमं रूप न दृष्टि पंचमृच्छति। पाष्टि तन्त्र

[65] प्रकृतेर्म हान महतोडहंकार: तस्मात् गणश्च षोडषक:षक:। तस्मादपि षोडशकाद् पंचम्य: पंच भूतानि।

पुरूष अविद्या के कारण अपने को शरीर, इन्द्रिय, मन आदि प्रकृति जन्य विकारों से पृथक् नहीं समझा और विविध दु:खों से पीड़ित होता है। ज्ञान के द्वारा जब वह अपने को प्रकृति से अलग समझता है तो उसकी मुक्ति हो जाती है।

1.3.4 न्याय दर्शन में तत्त्व मीमांसा

न्याय दर्शन के प्रधान आचार्य गौतम हैं जिन्होंने न्याय सूत्र की रचना की जिस पर विस्तृत टीका वात्स्यायन ने की है। न्याय तत्त्व मीमांसा में प्रमेय के बारह भेद स्वीकार किये गये है[66] - आत्मा, शरीर, इन्द्रिय, अर्थ, बुद्धि, मन, प्रवृत्ति, दोष, प्रेत्यभाव (पुनर्जन्म) फल, दु:ख तथा अपर्ना।

इन्छा, द्वेष, प्रयत्न, सुख-दु:ख और ज्ञान आत्मा के लिंग (चिन्ह) है। जीवात्मा प्रयत्न वाला होने से कर्ता माना गया है, सुखी दु:खी होने के कारण भोत्मा तथा ज्ञान वाला होने अनुभवी है। ज्ञान उसका आगन्तुक गुण है। जब आत्मा मन तथा इन्द्रियों के माध्यम से विषय के संपर्क में आता है तब उसमें चैतन्य या ज्ञान उदय होता है। आत्मा ज्ञातृत्व, कर्तृव्य, भक्तित्व आदि धर्म इसमें तभी संभव हैं जब वह शरीरावच्छिन्न हो। मुक्त होने पर जीवात्मा इन संपर्कों रे रहित हो जाता है तो ज्ञान भी लुप्त हो जाता है। इन्द्र, मिथ्या ज्ञान, रागद्वेष तथा मोह से प्रेरित आत्मा अच्छे और बुरे कर्म करता है और संसार चक्ररों फंसा रहता है। तत्त्व ज्ञान के जब सारे दु:खों से उसकी मुक्ति होती है तो उसे अपर्क्षा की अवस्था कहते हैं। इसमें सुख और दु:ख का कोई अनुभव नहीं होता।

न्याय तत्त्व मीमांसा में आत्मा का दो विभाजन है – जीवात्मा एवं परमात्मा। जीवात्मा अनित्य, साख्यीय, अपूर्ण एवं अल्पज्ञ है इसके विपरीत परमात्मा नित्य, असीम, पूर्ण एवं सर्वज्ञ है। जीवात्मा शरीरवस्था में बन्धन में पड़ता है परन्तु ईश्वर नित्य मुक्त है। ईश्वर परम पिता, जगलियन्ता जगदीशवर है। उसमें आधिपतय वीर्य, यश, श्री, ज्ञान और वैराग्य छ: गुण है। वह लोक निर्माता आनन्द मूर्ति व कृपाधाम है। वह कलेश, कर्म, विपाक आदि से रहित पुरूष विशेष है।[67]

न्याय दर्शन ईश्वर की सिद्धि में प्रत्यक्ष, अनुमान एवं शब्द - तीन प्रमाण देता है। ईश्वर अलौकिक प्रत्यक्ष द्वारा सिद्धों द्वारा प्रत्यक्ष है। ईश्वर सिद्धि में उदयनाचार्य का प्रसिद्ध तर्क है – कार्यायोजन घृत्माडे: पदात् प्रत्ययत: श्रुते।

वाक्यात् संख्या विशेषाच्च साध्यो विश्व बिदव्यय:। न्याय कुसुमाजलि प्र. स्ववम 5/8 जगत् एक कार्य है इसके निर्मित कारण के लिए परमाणुओं में आद्यस्पन्दन हेतु, जगत् के धारण एवं संहार के लिए जिस सत्ता की आवश्यकता है वह ईश्वर है। पदों में अर्थ की अभिव्यक्ति की शक्ति, तथा वेद का प्रामाण्य तद्वचन होने से ईश्वर सिद्ध है। श्रुति ईश्वर की सत्ता का प्रतिपादन करती है, वेद ईश्वर वाक्य हैं जिनमें कर्तव्याकर्तव्य का निरूपण है। द्वयणुय का परिमाण दो अणुओं की संख्या से होता है। संख्या का प्रत्यय चेतन ईश्वर से सम्बद्ध है। जीवों के शुभाशुभ कर्मो का आगार अदृष्ट हैं। ये अदृष्ट जड़ होने से फल भोग नहीं करा सकते। यह दृष्ट के संचालन के रूप में सर्वज्ञ ईश्वर की सतता सिद्ध होती है।

नैयायिकों के विपरीत वेदान्तियों का मानना है कि ईश्वर तर्क का विषय नहीं है। उसके पक्ष की तरह विपक्ष में तर्क दिये जा सकते हैं। ईश्वर का प्रमाण केवल श्रुक्ति है।

---

[66] न्याय सूक्त 1/1|9

[67] स देवो परमो ज्ञाता नित्यानन्द: कृपान्वित: क्लेशकर्म विपाकादि परामर्श निर्वशित:। जयन्त भट्ट।

1.3.5 वैशेषिक दर्शन में तत्त्व मीमांसा

वैशेषिक दर्शन के प्रवर्तक महर्षि कणाद् हैं जिनका ग्रन्थ है – कणाद् सूक्त। इस पर प्रशान्त पाद की पदार्थ धर्म संग्रह नामक टीका है। इस टीका ग्रन्थ की उदयनाचार्य की किरणावरनी तथा श्रीघरा चार्य की न्याय कन्दत्नी दो टीकायें है।

वैशेषिक तत्त्व मीमांसा में पदार्थ निरूपण एवं परमाणु कारण वाड दो प्रमुख स्थापना में हैं। पदार्थ का लक्षण है – अभिधेयत्व एवं ज्ञेयतव। अर्थात् पदार्थ वह है जिसको नाम दे सकें और जान सकें। वैशेषिक तत्त्व मीमांसा भेद मूलक वहुत्ववादी वस्तुवाद है। कणाद् सूक्त में छह भाव पदार्थों का उल्लेख है[68] - द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष एवं समवाय। बाद के वैशेषिकों ने अभाव को भी एक पदार्थ को मान्यता दी।

द्रव्य – द्रव्य वह है जो गुण तथा कर्म का आश्रय हो और अपने कार्य का समवायी कारण हो।[69] द्रव्यों की संख्या नौ है – पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, काल, दिरू, आत्मा एवं मन। इनमें प्रथम पांच पंचसूक्त कहलाते हैं और इनमें कोई विशेष गुण पाया जाता है। पृथ्वी का विशेष गुण गन्ध, जल का रस, तेज का रूप, वायु का स्पर्श तथा आकाश का शब्द गुण है। चार भूतों का ज्ञान ज्ञानेन्द्रियों से होता है किन्तु आकाश का कर्णन्द्रिय से उसके शब्द गुण के द्वारा अनुमान से होता है।

पृथिवी, जल, अग्नि तथा वायु क्रमशः चार प्रकार के परमाणुओं से बने हैं। ये परमाणु भौतिक हैं। इनका विभाजन तथा नाश नहीं होता। सबसे छोटे टुकड़े को जिनका और अधिक विभाजन नहीं हो सकता परमाणु कहते हैं।[70] भूतों के परमाणु कारण रूप में नित्य एवं शाश्वत हैं। इनमें आद्यस्पन्दन ईश्वेच्छा से होता है। दो परमाणुओं के संभोग से द्वयणुम निर्मित होता है। तीन ध्यणुओं से त्रसरेणु की उत्पत्ति होती है। ये चाक्षुष प्रत्यक्ष के विषय बनते हैं।[71] चार त्रसरेणु से चतुरणुम और इसी क्रम से स्थूल तत्वों की उत्पत्ति होती है।

काल एवं दिक् अगोचर नित्य एवं विभु हैं। भूत, वर्तमान, भविष्य, ज्येष्ठ कनिष्ठ आदि के ज्ञान का आधार काल तथा पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण, उपर, नीचे दूर-पास आदि का आधार आकाश है। आत्मा अनेक, नित्य, स्वतन्त्र एवं विभु है। आत्मा इस गुण का आश्रय है पर ज्ञान उसका आगन्तुक गुण है। मन अन्तरोन्द्रिय, नित्य, अणु तथा अनेक है पर पृथिव्यादि के परमाणुओं की तात संघाल नहीं बनाता। मन के अणु होने से एक समय में एक ही पदार्थ का ज्ञान होता है।

गुण – गुण का लक्षण है – द्रव्याज्तित्व, निर्गुणत्व एवं निष्क्रियत्व।[72] गुण द्रव्यजित होने पर निर्गुण (गुण का गुण नहीं होता) और निष्क्रिय होता है। कणाद् ने सत्रह गुणों का उल्लेख किया है। प्रशान पाद ने सात गुणों को जोड़कर इनकी संख्या चौबीस कर दी। रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, शब्द, संयोग वियोग बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वैष, प्रयत्न आदि प्रमुख गुण हैं।

कर्म – कर्म मूर्त द्रव्यों के सक्रिय धर्म हैं जिनके कारण संयोग एवं विभाग होता है। उत्क्षेपण (उपर फेंकना) अवक्षेपण (नीचे फेंकना) आकुण्चन (सिकोड़ना), प्रसारण (फैलाना) और गमन

---

[68] कणाद् सूक्त 1/1/14

[69] क्रियागुणवत् समवामिकारणं द्रव्यम्। कणाद् सूक्त 1/1/5

[70] परमत्व विशिष्टे ध्यणुः परमाणुः। न्यायवर्तिक तात्पर्य दीपिका।

[71] द्रव्याज्तत्व द्रव्याज्रयी गुणवान् सयोगवियोगेण्कारणमनपेक्ष इति गुण लक्षयम्। कणाद् सूक्त 1/1/16

[72] द्रव्याजतयत्व द्रव्याज्रयी गुणवान् संयोग वियोगेष्काराणमनपिक्षइति गुणलक्षणम्। कणाद् सूक्त 1/1/16

– ये पांच प्रकार के कर्म हैं।[73]

सामान्य – नित्य एक और अनेकानुगत को सामान्य कहते हैं।[74] सामान्य को जाति भी कहते हैं। यह किसी वर्ग के सभी सदस्यों में समवाय सम्बन्ध से वियमान रहता है। जैसे मनुष्यत्व सभी मनुष्यों में अनुगत है। सामान्य की वास्तुगत सत्ता है। जो सबसे अधिक व्यापक हो उसे पर सामान्य कहते हैं, जैसे सत्ता। कम व्यापक को उपर सामान्य कहते हैं, जैसे मनुष्यत्व।

विशेष – नित्य द्रव्यों के पार्थक्य के मूल कारण को विशेष कहते हैं। ये परमाणु नित्य द्रव्यों में रहते हैं।[75] इन्हीं से नित्य द्रव्यों के एक परमाणु से दूसरे परमाणु का भेद होता है जैसे – पृथ्वी के एक परमाणु दूसरे परमाणु से विशेष के कारण ही मिल है। नित्य द्रव्यों में रहने वाले विशेष स्वयं नित्य हैं। ये अनन्त हैं क्योंकि नित्य द्रव्य अनन्त हैं।[76] विशेष को मानने के कारण ही इस दर्शन का नाम वैशेषिक पड़ा।

समवाय – समवाय दो वस्तुओं में रहने वाला नित्य अपृथक सिद्ध सम्बन्ध है। अभुत सिंह दो वस्तुओं को एक दूसरे से अलग नहीं किया जा सकता। इनमें एक आधार होता है और दूसरा आधार्य।[77] द्रव्य एवं गुण में, द्रव्य और कर्म में, सामान्य और विशेष में नित्य द्रव्य और विशेष में, अवयवी तथा अवयवों में समवाय सम्बन्ध होता है।

अभाव – अभाव पदार्थ सापेक्षता के सिद्धान्त पर आधारित होता है। किसी वस्तु का न होना अभाव कहा जाता है जैसे रात्रि आकाश में सूर्य का अभाव। अभाव चार प्रकार का होता है – प्रागभाव, प्रध्वंशायाब, अत्यन्ता भाव तथा अन्योन्या भाव। उत्पत्ति के पूर्व कारण में कार्य का अभाव प्रागभाव है जैसे घर निर्माण पूर्व मिट्टी में घर का अभाव। प्रध्वंशा भाव विनाश के बाद वस्तु का अभाव है जैसे घड़े के फूटने पर उसके टुकड़ें में घड़े का अभाव। अत्यन्ताभाव त्रिकाल अभाव है जैसे वायु में रूप का अभाव। दो वस्तुओं का परस्पर भेद होने से एक में दूसरे का अभाव अन्योनयाभाव है, जैसे घर में पर का अभाव।

1.3.6 मीमांसा दर्शन में तत्त्व मीमांसा

मीमांसा – बाह्य सत्तावादी है। यह भौतिक जगत् एवं आत्माओं की सत्ता स्वीकार करती है। किन्तु यह किसी जगत् सृष्टा ईश्वर को नहीं मानती जगत् अनादि तथा अनन्त है न इसकी कभी ाभासृष्टि हुई और न प्रलय होगा। सांसारिक वस्तुओं का निर्माण आत्माओं के पूर्व अर्जित कर्म के अनुसार भौतिक तत्त्वों से होता है। व्यक्ति के कर्म करने पर एक शक्ति की उत्पत्ति होती है। कर्म की उस शक्ति को 'अपूर्व' कहते हैं। इसे न्याय-वैशेषिक अदृष्ट कहता है। अपूर्व के कारण ही किसी भी कर्म का फल भविष्य में उपयुक्त अवसर पर मिलता है। किसी कर्मफल प्रदाता की आवश्यकता नहीं है। मीमांसा में ईश्वर का स्थान अपूर्व ने ले लिया।

वेदान्त दर्शन में तत्त्व मीमांसा – वेदान्त की तत्व मीमांसा प्राय: वही है जो उपनिषदों की है। उपनिषदों के विचारों को संकलित कर एवं उसके मन्त्रों के आपसी विरोध का सामण्जस्य कर वादरायण व्यास ने ब्रह्म सूक्त की रचना की। ब्रह्म सूक्त पर शंकर, रामानुज, मध्व, निम्बार्क

---

[73] कर्माण्येतानिपंचच।

[74] नित्यमेकानुगतं सामान्यम्। तर्क संग्रह

[75] स्वाग्रयविशेषत्वात् विशेषा:। प्रशस्त्र पाद भाष्य

[76] नित्य द्रव्य वृत्तयो व्यावर्तका विशेषा स्त्वनन्ता एव।

[77] अयुत सिद्धानायाधार्याधारभूतानां य: सम्बन्ध: स समवाय:। कणाद् सूक्त 1/1/3 एवं प्रशस्त पाद भाष्य

वल्लभ आदि अनेक आचार्यों ने भाष्य किया। उपनिषद् ब्रह्मसूक्त एवं भगवदगीता वेदान्त के तीन प्रस्थान हैं जिनके आधार पर भाष्यकारों ने अपनी-अपनी तत्त्व मीमांसा का महल खड़ा किया, उनमें शंकराचार्य एवं रामानुजाचार्य प्रमुख हैं।

1.3.7 शंकराचार्य के वेदान्त में तत्त्व मीमांसा

शंकराचार्य के अनुसार वेदान्त की वेदान्त की तत्त्व मीमांसा विशुद्ध अद्वैतवाद है। ब्रह्म या आत्मा की मूल सत्ता है, पारमार्थिक है, अन्य सब कुछ या तो प्रातिभासिक है या व्यावहारिक। श्रुक्तियां नानात्व का निषेध करती हैं। एकत्व पर बल देती हैं। उपनिषदों में जहां भी सृष्टि पूर्व सत्ता का उल्लेख है उसे वहां एक मेवा द्वितीय कहा गया है। ये सभी प्रकरण उपनिषद् तत्त्व मीमांसा में आ चुके हैं।

पारमार्थिक दृष्टि से ब्रह्म ही एक मात्र सत्ता है। वह स्वरूपत: सत्य ज्ञान और अनन्त है। वह सच्चिदानन्द है। विज्ञान धन है। वह निर्गुणनिरविशेष, चैतन्य सत्ता मात्र है। किन्तु जगत् की दृष्टि से वह सर्वगुण सम्पन्न जगत् सर्जक, पालक एवं संहारक है। यह उसका सगुण रूप वस्तुत: मायिक है, अयथार्थ है।

ब्रह्म सजातीय (जैसे एक मनुष्य का दूसरे से भेद) बि जातीय (जैसे गाय घोड़े का भेद एवं स्वगत (शरीर एवं उसके अंगों का भेद) भेदों से रहित है क्योंकि कि वह एक अद्वितीय एवं चैतन्य सत्ता है। वह प्रत्यक्ष एवं संभावित विरोधों से भी परे है। प्रत्यक्ष विरोध में एक प्रतीति दूसरी वास्तविक प्रतीति से खण्डित होती है जैसे रस्सी (अधिष्ठान) के ज्ञान से प्रकाश पूर्व उसमें अनुभूत सर्व ज्ञान का खण्डित हो जाना। संभावित विरोध में सत्ता युक्ति द्वारा बाधित होती हैं। जैसे परिवर्तन असत्य है क्योंकि इसका खण्डन युक्ति से होता है। मूल सत्ता ब्रह्म परिवर्तनों से परे और त्रिकाला बाधित है अत: उसमें न प्रत्यक्ष विरोध है न संभावित।

उपनिषदों एवं वेदों में संसार सृष्टि की तुलना इन्द्र जाल से की गयी और ईश्वर को मायावी कहा गया है। ईश्वर अपनी माया शक्ति से संसार का सर्जन करता है, लेकिन यह सृष्टि वास्तविक नहीं है। रस्सी अंधेरे में सांप दिखाई देती है किन्तु प्रकाश होने पर अधिष्ठान रूप रस्सी ही रहती है। भ्रम वश हम प्रकाश पूर्व सांप समझे रहते हैं, वैसे ही अधिष्ठान ब्रह्म में माया जगत् का दर्शन कराती है। एक जादूगर अपनी जाइ से एक मुद्रा को कई मुद्राओं में परिणत हुआ दिखाता है। जो उसके जादू को नहीं जानते उनके लिए यह सत्य है किन्तु जो जादूगर के जादू को जानता है उसके लिए यह मात्र एक धोखा है। वह जादूगर भी नहीं है और धोखा देने की कला भी नहीं है। वैसे ही जब मनुष्य विश्व को पूर्णतया ब्रह्ममय (अधिष्ठान) देखता है, उसके लिए ब्रह्म में माया या सृष्टि शक्ति नहीं रहती और न ही सृष्टि का सत्यत्व रह जाता है। उसके लिए ब्रह्म सत्य एवं जगत् मिथ्या हो जाता है।

वेदान्त में आत्म तत्त्व की जिज्ञासा एवं महत्व पर विशेष बल दिया गया है। आत्मा को ही श्रवण मनन्त एवं निद्धिध्यासन के योग्य बताया गया है। उपनिषद् तत्त्व मीमांसा में विस्तार से चर्चा किया गया है।

वेदान्त आत्मा और ब्रहम दोनों को एक ही सत्ता के दो नाम मानता है (देखें उपनिषद् तत्त्व मीमांसा) गुरू शिष्य को विभिन्न उदाहरणों से समझा कर आत्मा एवं ब्रह्म के एकत्व को बतलाता है और कहता है – 'तत्त्वमतिश्वेतकेतो' हे खेतकेट वह ब्रह्म तुम हो। शिष्य कह उठता है – अहं ब्रह्मामि' मैं ही ब्रह्म हूं। ब्रह्मात्यैक्य ज्ञान ही वेदान्त में मुक्ति का मार्ग है।

1.3.8 रामानुज वेदान्त में तत्त्व मीमांसा

रामानुज वेदान्त दर्शन में तत्त्व मीमांसा सिद्धान्त विशिष्टाद्वैत है। रामानुज चित्, अचित् एवं ईश्वर इन तीन तत्वों को मानते हैं। चित् चेतन मोत्मा जीव है; अचित् जड़ योग्य जगत्। ईश्वर दोनों का अन्तर्यामी है। चित् एवं अचित् दोनों नित्य एवं परस्पर स्वतन्त्र द्रव्य हैं किन्तु दोनों ईश्वर पर आश्रित हैं और सर्वथा उसके अधीन हैं। दोनों स्वयं में द्रव्य हैं किन्तु ईश्वर के गुण धर्म हैं। दोनों ईश्वर के शरीर है और ईश्वर उनका अन्तर्यामी आत्मा है। रामानुज के अनुसार शरीर वह है जो आत्मा द्वारा धार्य, नियाक्य और शेष हो। आत्मा धर्त्ता, नियत्रा एवं शेषी है। सभी चेतन एवं अचेतन परम पुरूषद्बमा नियाग्य, धार्य एवं शेष होने के कारण उनका शरीर है।[78] ईश्वर चिदचिद्विशिष्ट है।[79] चिदाचिद् ईश्वर के विशेषम धर्म, गुण, प्रकार, अंश, अंग, शरीर, नियाम्य, धार्य और शेष हैं तथा ईश्वर उनके विशेषय, धर्मो, द्रव्य, प्रकारों, अंशी, अंगी, शरीरी (आत्मा) नियत्रा, धर्ता एवं शेषी है। चित् और अचित् भी नित्य हैं पर ईश्वर से बाह्य एवं पृथक् नहीं। ब्रह्म सृष्टि दशा में स्थूल चिदाचिद्विशिष्ट तथा प्रलय दशा में सूक्ष्म चिदचिद्विशिष्ट रहता है किन्तु सदा विशिष्ट ही रहता है और एक है।[80]

ईश्वर में सजातीय एवं विजातीय भेद नहीं है क्योंकि ईश्वर के समान या भिन्न कोई स्वतन्त्र तत्त्व नहीं है किन्तु ईश्वर में स्वगत भेद विद्यमान है क्योंकि उनका शरीर नित्य एवं परस्पर मिल चित् और अचित् तत्वों से निर्मित है।

ईश्वर सर्वज्ञ तथा सर्वशक्तिमान है वह अनन्त गुणाकर है किन्तु उसमें हेय गुणों का अभाव है।[81] ईश्वर चिदचिद से इस संसार की उत्पत्ति उसी प्रकार की है जिस प्रकार मकड़ा अपने शरीर से अपने जाले की उत्पत्ति करता है। यह जगत् ईश्वर का परिणाम एवं वास्तविक है। ईश्वर सृष्टि का कर्त्ता, धर्त्ता तथा हर्त्ता है अचित् एवं चित् (जीवात्मा) सदा ईश्वर में विद्यमान है, अणु है तथा स्वभाव चिन्मय है। कर्मानुसार प्रत्येक आत्मा को शरीर धारण करना पड़ता है। सृष्टि दशा में चित् अचित् व्यत्म या सथूत् रूप धारण कर लेते हैं और प्रलयावस्था में सूक्ष्म रूप में ईश्वर के अंश के रूप में रहते हैं।

आत्मा अपने कर्मानुसार शरीर धारणा करता है, अचित् विशिष्ट होता है और यह उसका बन्धन है। वह अपने शरीर को समझ नहीं पाती और शरीर को अपना स्वरूप समझती है। विषयासत्म में निमग्न होकर फिर-फिर जन्म और मरण के चक्र में फँसी रहती है। जब साधना एवं गुरू कृपा द्वारा वेदान्त ज्ञान से उसे ज्ञात होता है कि वह शरीर से भिन्न ईश्वर का अंश है तब वह अनासत्म भाव से वेद विहित धर्मों का आचरण करता है और ईश्वर की उपासना कर अपने को ईश्वर में अर्पित कर देता है। ईश्वर उसकी भक्ति एवं प्रपत्ति से प्रसनन होकर उसे बन्धन मुक्त कर देते हैं। वह वेदान्त के बाद जन्म ग्रहण नहीं करता और ईश्वर के धाम को प्राप्त होता है।

---

[78] सर्व परम पुरूषेण सर्वात्मना स्वार्थ नियाम्यं धार्यं तच्छेषतैक स्वरूपं इति सर्वंचेतना चेतनं तस्य शरीरम। श्री भाष्य 2/1/9

[79] चिद चिद्विशिष्ट ईश्वरः।

[80] सूक्ष्म चिदचिद्विशिष्टस्य ब्रह्मण तदानीं सिद्धखात् विशेष्यैव अद्वितीय पखं सिद्धम। वेदान्त सार भाष्य

[81] ब्रह्म शब्देन स्वभावतो निररात्रानिविल दोषा नवधिकाशक्तिशय असंख्येम कल्याण गुणाकर पुरूषोत्तम: 1/1/1

1.4 सारांश

दर्शन साक्षात्कार और तत्त्व बोध का माध्यम है। दर्शन की अनेक शाखाओं में जिस शाखा में सत्ता के अस्तित्व एवं धर्म के सम्बन्ध में मूल भूत प्रश्नों की मीमांसा तथा पारमार्थिक सत्य का विवेचन किया जाता है उसे तत्त्व मीमांसा की संज्ञा दी जाती है। तत्त्व मीमांसा के प्रश्न अति सामान्य होते हैं। उनका अध्ययन विज्ञानों में नहीं होता। उनका अध्ययन दर्शन में होता है। विभिन्न दर्शनों में तत्त्व मीमांसीय प्रश्नों को अपने-अपने ढंग से सुलझाया जा गया है।

संहिताओं (वेदों) में जहां सृष्टि का प्रसंग है उसके मूल में एक ही सत्ता का उल्लेख है। स्थल भेद में उसे पुरूष, हिरण्यगर्भ, प्रजापति, आदित्य, एकम्भ, उच्छिष्ट आदि अनेक नाम से दिये गये हैं और स्पष्ट घोषणा है कि एक सत् को ही विद्वान लोग भिन्न–भिन्न नामों से पुकारते हैं। उपनिषद् तत्त्व मीमांसा में भी यही दृष्टि देखने को मिलती है। सृष्टि पूर्व सत्, असत्, मृत्यु आत्मा, ब्रह्म, आदि के होने का सृभत्व में इसे प्रसंग प्राप्त होता है। लेकिन संहिताओं की तरह यहां भी उसे एक मेवाद्वितीयम् कहा गया है। उपनिषदों में जिज्ञासा का विषय प्राय: ब्रह्म और आत्मा को बताया गया है और दोनों को एक कहा गया है। उस एक के ज्ञान से सबका ज्ञान हो जाता है। वही जगत् की उत्पत्ति स्थिति एवं लय का कारण है। वह विश्व में व्याप्त भी है और परे भी है।

सांख्य-योग की तत्त्व मीमांसा द्वैतवादी है जिसमें दो मूल तत्त्व है – पुरूष और प्रकृति। प्रकृति जड़ और एक है पुरूष चेतन और अनेक है। प्रकृति एवं पुरूष के संयोग से सृष्टि की प्रक्रिया प्रारम्भ होती है। प्रकृति से महत् और महत् से अंहकार की उत्पत्ति होती है। सात्तिक अंहकार से मन एवं दस इन्द्रियां और ताम अंहकारिक पंच तन्मात्ताओं की उत्पत्ति होती है और पंच तन्मात्ताओं से पंच मटायू तो की उत्पत्ति होती है। संपूर्ण सृष्टि प्रकृति एवं तद् प्रसूत तत्वों का खेल है। योग दर्शन संख्या की पूरी तत्त्व मीमांसा को स्वीकार कर उसमें एक तत्त्व ईश्वर की वृद्धि कर देता है।

वैशेविक दर्शन की तत्त्व मीमांसा में 6 भाव पदार्थ एवं एक अभाव पदार्थ है। द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष एवं समवाय भाव पदार्थ हैं। सातवां अभाव पदार्थ है। जिसका ज्ञान अनुमान से होता है। संपूर्ण जगत् नित्य परमाणुओं से निर्मित है। नित्य परमाणुओं में आद्य स्चन्दन ईश्वर द्वारा होता है।

न्याय दर्शन में बारह प्रमेय माने गये हैं। आत्मा चेतन है किन्तु चैतन्य उसका स्वाभाविक नहीं आकस्मिक गुण है। मन एवं इन्द्रियों द्वारा विषय के संपर्क में आने पर उसमें चैतन्य एवं ज्ञान का उदय होता है। आत्मा में कर्तृव्य, मोकृत्व, ज्ञातृत्व आदि धर्म तभी संभव हैं जब वह शरीरावाच्छेना हो। ईश्वर जगत् कर्ता, धर्ता एवं संहर्चा है। वह जगत् का निमित्र कारण है, उपादन कारण नित्य परमाणु हैं। इसी न्याय दर्शन की तत्त्व मीमांसा बहुत्ववादी वास्तववाद है। ईश्वर की सिद्धि के लिए अनेक तर्क दिये गये हैं।

मीमांसा दर्शन की तत्त्व मीमांसा बाह्य सत्तावादी है। भौतिक जगत् के अतिरिक्त आत्माओं की सत्ता है। इसकी तत्त्व मीमांसा में ईश्वर को स्थान नहीं है। जगत् अनादि तथा अनन्त है। न इसकी सृष्टि होती है न इसका प्रलय होता है। जगत् का निर्माण आत्माओं के पूर्व अर्जित कर्मानुसार भौतिक तत्वों से होता है।

अद्वैत वेदान्त की तत्त्व मीमांसा प्राय: उपनिषदों की तत्त्व मीमांसा जैसी है। एक मात्र सत्ता

आत्मा या ब्रह्म है। जगत् ब्रह्म का विवर्त है। माया अधिष्ठान ब्रह्म में जगत् को दिखाती है। जगत् की सत्ता पर आर्थिक नहीं व्यावहारिक है। ब्रहम ज्ञान होने पर जगत और माया दोनों की सत्ता मिथ्या हो जाती है।

रामानुज वेदान्त में तत्त्व चित् अचित् विशिष्ट है। ईश्वर एक और अद्वितीय है। किन्तु चित् और अचित् उसके शरीर हैं और वह शरीरी है। चित् और अचित् से वह संसार को बनाता है। वह जगत् का निमित्रो पादान कारण है। जगत् ब्रहम का परिणाम होने से वास्ताविक है।

1.5 पारिभाषिक शब्दावली

1) तत्त्व मीमांसा – दर्शन की शाखा जिसमें सत्ता के अस्तित्व एवं धर्म सम्बन्धी प्रश्नों की मीमांसा हो।
2) दर्शन – तत्त्व साक्षात्कार एवं उसका साधन
3) स्वाभाविक लक्षण – जो तत्त्व में सर्वदा वर्तमान रहे।
4) आकस्मिक लक्षण – जो प्रसंग विशेष में उपस्थित हो।
5) ऐन्द्रिय अनुभूति – पंचज्ञानेन्द्रियों से प्राप्त अनुभूति।
6) अनैन्द्रिय अनुभूति – अन्तरात्मा की अनुभूति या दिव्य अनुभूति।
7) त्रिगुण – सत्व, रज एवं तम।
8) परमाणु किसी तत्त्व का आन्तीय भाग जिसका विभाजन न हो सके।
9) निदिध्यासन – ध्यान करना, तत्त्व से अपने को जोड़ना
10) विशिष्टाद्वैत – चित् एवं अचित् विशिष्ट ईश्वर
11) उपादान कारण – निर्माण सामग्री
12) निमित्र कारण – वस्तु निर्माता।

1.6 सन्दर्भ ग्रन्थ

ऋग्वेद	संस्कृत संस्थान वरेली 2002 ई.
यजुर्वेद	संस्कृत संस्थान वरेली 2002 ई.
अथर्ववेद	संस्कृत संस्थान वरेली 2002 ई.
ईशादि नौ उपानिषद् शांकरभाष्य	गीता प्रेस गोरखपुर 2071 ई.
छान्दोग्योपनिषद्	श्री रामानन्द वेदान्त प्रचारक समिति अहमदाबाद 2025 सं.
बृहदारण्यक उपनिषद्	श्री रामानन्द वेदान्त प्रचारक समिति अहमदाबाद 2025 सं.
श्रीमद्भगवत् गीता	गीता प्रेस गोरखपुर 2041 सं.
ब्रह्म सूक्त शंकरभाष्य	चौखम्भा संस्कृत प्रतिष्ठान दिल्ली 2011

ब्रह्म सूक्त श्रीभाष्य	निर्णय सागर प्रेस ववई
रामानुजाचार्य	वेदान्तसार
रामानुजाचार्य	वेदार्थ संग्रह
वाचस्पति	न्याय सूक्त वार्तिक तात्पर्य दीपिका
वात्स्यापन	न्याय सूक्त भाष्य, जीवान्द विद्यासागर प्रेस कलकत्ता
प्रशस्त्रपाद	धर्मपदार्थ संग्रह - चौखम्भा संस्कृत संस्थान वाराणसी
गौतम	न्याय सूक्त
अलंभह	तर्क संग्रह
कणाद्	कणाद् सूक्त
उदयनाचार्य	किरणावली
श्रीधर	न्याय कन्दती
ईश्वर कृपण	सांख्य व्यारिका
कपिल	सांख्य सूक्त
कुमारिल भट्ट	श्लोक वार्तिक
मैसूर हिरियला	भारतीय दर्शन रूपरेखा, राज कमल प्रकाशन दिल्ली 1965
चन्द्र धर शर्मा	भारतीय दर्शन : आलोचना एवं अनुशीलन, मोतीलाल बनारसीदास वाराणसी 1991
इन्द्र मोहन दत्र एवं सतीश चन्द्र चट्टोपाधयाय	भारतीय दर्शन पुस्तक भण्डार पटन 1982
बलदेव उपाध्याय	भारतीय दर्शन चौखम्भा ओर्यन्टल प्रकाशन दिल्ली
बद्रीनाथ सिंह	भारतीय दर्शन, स्टूडेण्टस फ्रेण्ड्स एण्ड कम्पनी हिन्दू विश्व विद्यालय लंका वाराणसी 1996।

1.7 बोध प्रश्न

वृहद् उत्तीय प्रश्न

1) दर्शन शास्त्र का तत्त्व मीमांसा में क्या योगदान है?
2) क्या संहिताओं में तत्त्व मीमांसा पाई जाती है? स्पष्ट कीजिए।
3) प्रजापति द्वारा विरोचन एवं इत्ते को दिए उपदेश की समीक्षा कीजिए।
4) सांख्य तत्त्व मीमांसा में प्रकृति एवं उसके तत्वों की विवेचना कीजिए।

5) शंकराचार्य के अद्वैतवाद की व्याख्या कीजिए।

6) रामानुजा चार्य के विशिष्टा द्वैत मत की विवेचना कीजिए।

लघु उत्तरीय प्रश्न

1) दर्शन शब्द का व्युत्पत्ति जन्य अर्थ क्या है?

2) तत्त्व मीमांसा किसे कहते हैं?

3) तत्त्व मीमांसा के मूल प्रश्न क्या है?

4) सांख्य मत में पुरूष की अनेकता का तर्क क्या है?

5) नारद सनत्कुमार संवाद संक्षेप में बताइए।

6) आत्मा और ब्रहम की एकता पर प्रकाश डालिए।

7) न्याय तत्त्व मीमांसा में बारह प्रमेय कौन हैं?

8) वैशेषिक दर्शन का विशेष नाम क्यों पड़ा।

9) अभाव पदार्थ क्या है? कितने प्रकार का हैं।

10) वैशेषिक दर्शन में परमाणु की परिभाषा कैसे की गई है?

इकाई 2 दर्शन के प्राथमिक तथा गौड़ प्रयोजन

इकाई की रूपरेखा

2.0 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई में दर्शन के प्राथमिक एवं गौड़ प्रयोजन का विचार किया गया है । दर्शन क्यों पढ़ें ? इसके अध्ययन से क्या लाभ हो सकता है ? दर्शन क्या क्या छोड़ने की इच्छा से पढ़ा जाता है ? इत्यादि प्रश्नों का उत्तर इस ईकाई में बताया गया है। भारतीय दर्शन के मुख्य प्रयोजन मुक्ति, एवं गौड़ प्रयोजन सृष्टि एवं प्रलय व्याख्या करना है। इस इकाई के अध्ययन से आप को भारतीय दर्शन के प्रयोजनो का बोध हो जायेगा।

2.1 प्रस्तावना

दर्शन तत्व का साक्षात्कार व तत्व साक्षात्कार करने के साधन का नाम है । गीता में दर्शन तो दिव्यदृष्टि से आत्मसाक्षात्कार है। दर्शन में तत्वमीमांसा,ज्ञानमीमांसा, व नीतमीमांसा का चिन्तन किया जाता है। सृष्टि और प्रलय की अवधारणा भारतीय दर्शन में प्रयोजन मूलक है और इसका संकेत ऋगवेदीय पुरूष सूक्त में मिलता है। वहाँ कहा गया है कि सृष्टि का प्रयोजन कर्म फल का भोग सम्पन्न कराना है– यदन्नेनातिरोहति वहीं पर मुक्ति को भी दर्शन का प्राथमिक प्रयोजन माना गया है– उतामृतत्वस्येशानः। यहाँ ध्यातव्य है कि मुक्ति दर्शन का परम प्रयोजन है किन्तु यह मुक्ति ऋगवेद में सर्व प्रथम वागाम्भृणि ऋषिका को प्राप्त हुयी जो वाक् सूक्त की ऋषिका हैं। वह नारी हैं। जो दर्शन प्रस्थान नारियों के मुक्ति का निषेध करते हैं पता नही कैसे किये क्योंकि वेद स्त्री और पुरूष दोनों को ही मुक्त होने का विचार देता है। सृष्टि को बचाने के लिये यज्ञ का आयोजन द्वितीयक प्रयोजन के रूप में मान्य है। अथर्वा ने सत्य वृहत ऋत उग्र दीक्षा तप और यज्ञ को पृथ्वी के धारक तत्व के रूप में स्वीकार किया हैं।

बाद में भारतीय दर्शन की दो प्रवृत्तियाँ बनीं–आस्तिक और नास्तिक। सभी भारतीय दर्शन में प्रयोजन का विचार मिलता है। प्रयोजन का अर्थ करते हुये न्यायदर्शन में प्रतिपादित है– जिस किसी अभीष्ट पदार्थ अथवा ज्ञान की प्राप्ति की इच्छा से अथवा

द्वेष योग्य अनिष्ट पदार्थ के त्याग करने की इच्छा करता हुआ प्राणी क्रिया अथवा ज्ञान में प्रवृत्त होता है,उसको प्रयोजन कहते है– येन प्रयुक्तो प्रवर्तते तत्प्रयोजनम्। प्रयोजन से सभी कर्म और सभी विद्याएँ व्याप्त है। क्रियाओं में प्रवृत्त होने और विद्योपार्जन में प्रयोजन ही मुख्य है। भारतीय दर्शन में चतुर्विधि पुरूषार्थ धर्म अर्थ काम और मोक्ष में से काम,धर्म और मोक्ष रूप पुरुषार्थ को परम प्रयोजन स्वीकार किया गया है । चार्वाक दर्शन कामसुख, वैशेषिक और मीमांसा धर्म को , और वेदान्त न्याय, सांख्य योग जैन बौद्व मोक्ष को परम प्रयोजन मानते है। मीमांसा दर्शन में बाद में विकसित भाट्ट और गुरुमत में मोक्ष भी परम प्रयोजन के रुप स्थान पाये। ये परम प्रयोजन तो प्राथमिकप्रयोजन के रूप में यहाँ वर्णनकिये जा रहे है। इनके अतिरिक्त जो गौड़ प्रयोजन भारतीय दर्शन में दिखाई पड़ते है। उनका भी वर्णन इस ईकाई में किया जायेगा।

2.2 भारतीय आस्तिक दर्शनों के प्राथमिक प्रयोजन

आस्तिक दर्शन वेदों की प्रामाणिकता मानते है। वे हैं– सांख्य योग,न्याय वैशेषिक मीमांसा व वेदान्त। सांख्यदर्शन महिर्षि कपिल से प्रवर्तित है । यह दर्शन द्वैतवादी 25 तत्वों वाला यर्थाथवादी प्रकृति पुरूष की अवधारणा को मानने वाला है। इस दर्शन में मनुष्य के लिये प्राथमिक प्रयोजन मुक्ति मानी गयी है। जो आध्यात्मिक आधिदैविक और आध्यात्मिक दुःखो का ऐकान्तिक और आत्यन्तिक विनाश है। जो व्यक्त अव्यक्त और ज्ञ के विभेद ज्ञान से होता है। यह विवके ज्ञान पच्चीस तत्वों के अभ्यास से उत्पन्न होता है तब प्रकृति और पुरुष की विवेकख्याति होती है। यही मोक्ष है। सांख्यकारिका में इसका स्वरूप निम्नवत है –

एवं तत्वाभ्यासान्नास्मि न मे नाऽहमित्यपरिशेषम्।
अविपर्ययाद विशुद्धं केवलमुत्पद्यते ज्ञानम्।।
———————— उभयं कैवल्यमाप्नोति। सांख्यकारिका 64,68

अर्थात् तत्व के अभ्यास से जीव को यह बोध होता है कि मै अचेतन प्रकृति नहीं हूँ ,जो ज्ञेय विषय है वह सब मेरा नहीं है और मै अहंकार भी नहीं हूँ। तब भ्रम से रहित केवल ज्ञान उत्पन्न होता है। शरीर पात होने पर कैवल्य प्राप्त होता है। इस अवस्था में पुरूष प्रकृति के स्वरूप को देख लेता है और विवकज्ञान द्वारा वह मुक्त हो जाता है। प्रकृति भी पुरूष का भोग तथा अपवर्ग रूपी प्रयोजन सिद्व करके निवृत्त हो जाती है। मोक्ष पुरूष का होता है और उसको प्रकृति सम्पन्न करती है। बन्धन और मोक्ष प्रकृति का होता है। भावों से अधिवासित लिंग शरीर संसरण करता है। मुक्ति के बाद संसरण नष्ट हो जाता है।

योग दर्शन के प्रवर्तक हिरण्यगर्भ हैं। महर्षि पतंजलिने योगसूत्रम लिखकर इसको निश्चित स्वरूप प्रदान किया। जिसमे मानव के लिए दर्शन का प्राथमिक प्रयोजन पुरुष को कैवल्य प्राप्ति है। जो कैवल्य सम्प्रज्ञात योग सिद्वि के अनन्तर उपाय प्रत्यय साध्य असम्प्रज्ञात समाधि से उत्पन असम्प्रज्ञात योग कहा जाता है । यदि निंविप्लवा विवेकख्याति को ही मोक्षप्रद माना गया है तो वह सम्प्रज्ञात समाधि से सिद्व होती है, तो असम्प्रज्ञात की आवश्यकता और उपयोगिता यह है कि विवेकख्याति के सुदृढ होने पर यद्यपि जीवनमुक्ति का लाभ होता है ; लेकिन प्रारब्ध फल तो भोगना ही पड़ता है। उपायप्रत्ययसाध्य असम्प्रज्ञात योग अखिल कर्म संस्कारो को जलाता है। इस असम्प्रज्ञात योग में वृत्तिज्ञान तो बिलकुल नहीं रहता है। अतः इसे असम्प्रज्ञात योग

कहते है। किन्तु इसमे पुरुष तत्व की साक्षात उपलब्धि होती है। बुद्धि का माध्यमत्व समाप्त हो जाता है। आत्मा की अपरोक्षानुभूति होती है। इसमे ज्ञान की साधनभूत दर्शन शक्ति बुद्धि का आश्रय त्याग कर साक्षात अपरोक्ष 'ज्ञ' रूप पुरुष तत्व में प्रतिष्ठा होती हैं। यही असम्प्रज्ञात योग है। इसी के सुदृढ और व्युत्थान रहित हो जाने पर सारे कर्मसंस्कार जल जाते है। निरोध संस्कारो के साथ चित्त अपनी प्रकृति में लय हो जाता है और पुरुष मात्र अवशिष्ट रहता है। उस समय पुरूष अपने चिति स्वरूप में स्थित रहता है। यही अवस्था कैवल्य है। इस दर्शन में विदेह और सदेह दोनो प्रकार की मुक्ति मानी गयी है। इस अवस्था में सम्पूर्ण अविद्या मिट जाती है।

न्याय दर्शन महर्षि गौतम के द्वारा लिखित न्यायसूत्रम से प्रवर्तित है। गौतम ने अपने प्रथम सूत्र में प्रमाण,प्रमेय,संशय प्रयोजन दृष्टान्त, सिद्धान्त ,अवयव ,तर्क ,निर्णय ,वाद, जल्प, वितंडा, हेत्वाभास, छल, जाति, निग्रहस्थान के तत्वज्ञान से निःश्रेयस की प्राप्ति को दर्शन का परम प्रयोजन माना है। न्याय में आत्मा शरीर इन्द्रिय अर्थ बुद्धि मन प्रवृत्ति दोष प्रेत्यभाव फल दुःख और अपवर्ग का ज्ञान तत्वज्ञान है । इन तत्वों के ज्ञान से निःश्रेयस की प्राप्ति होती है। निःश्रेयस आत्मा में दुःख की आत्यन्तिक एवं ऐकान्तिक निवृत रूप अपवर्ग है। तत्वज्ञान सें मिथ्याज्ञान का नाश होता है। तत्वज्ञान योग दर्शन में कहे गए समाधि विशेष के आभ्यास से उत्पन्न होता है। अथवा पूर्व जन्म में किए गए योगाभ्यास के सामर्थ्य से उत्पन्न होता है। न्याय दर्शन में अपवर्ग कि सिद्धि के लिए यम नियम तपश्चर्या प्राणायम आदि सेवन का विधान किया गया है।

वैशेषिक दर्शन महर्षि कणाद से प्रवर्तित है। इस दर्शन का मुख्य प्रयोजन धर्म की व्याख्या करना है। सात पदार्थ (द्रब्य,गुण,कर्म सामान्य विशेष समवाय और अभाव) की मीमांसा तो धर्म रूप प्राथमिक प्रयोजन का अंग है। कणाद ऋषि वैशेषिकसूत्रम के प्रथम सूत्र में धर्म की व्याख्या करने की प्रतिज्ञा करते हैं। द्वितीय सूत्र में अभ्युदय और निःश्रेयस की सिद्धि जिससे होती है उसे धर्म कहते है– यतोऽभ्युदयनिःश्रेयशसिद्धिः स धर्मः। तृतीय सूत्र में कहा गया है– धर्म का व्याख्यान वेद अर्थात आर्श ज्ञान में हुआ है। चतुर्थ सूत्र में कहा गया है धर्म का लाभ पदार्थो के तत्वज्ञान से होता है। इसके आधार पर यह कहा जा सकता है की सप्त पदार्थो पर विचार करना एक साधन है जो परम प्रयोजन धर्म की व्याख्या करता है।

मीमांसा दर्शन महिर्षि जैमिनि के द्वारा मीमांसासूत्रम् में प्रतिष्ठित है। मीमांसासूत्रम में कुल 12 अध्याय है जैमिनि अथातो धर्मजिज्ञासा, चोदना लक्षणोऽर्थो धर्मः अर्थात अब धर्म की जिज्ञासा करते है और प्रेरित करने वाला विधि वाक्य धर्म है, कहते हैं। याग आदि ही धर्म है जो वेद में प्रतिपादित है। आचार्य कुमारिल भट्ट ने श्लोकवार्तिक में धर्म की जिज्ञासा को ही मीमांसा दर्शन का परम प्रयोजन माना है।

प्रो० चन्द्रधर शर्मा के अनुसार प्रारम्भ में मीमांसा का आग्रह धर्म पर था और लक्ष्य था उससे प्राप्य स्वर्ग। बाद में स्वर्ग के स्थान पर मोक्ष या अपवर्ग को मनुष्य जीवन का परम प्रयोजन स्वीकार किया गया है प्रभाकर और कुमारिल दोनों ने मोक्ष को परम प्रयोजन माना है......................... दोनों के अनुसार आत्मा द्रब्य है और ज्ञान उसका गुण (प्रभाकर के अनुसार) या क्रिया (कुमारिल के अनुसार) है–––––––––––––––– मोक्षावस्था में देहेन्द्रिय संयोग के विलय के कारण आत्मा में ज्ञान और आनंद उत्त्पन्न नहीं हो सकते। प्रभाकर नैयायिक के सामान आत्मा को जड़ द्रव्य और कुमारिल जड़ बोधात्मक द्रव्य मानते है। कुमारिल के अनुसार मोक्षावस्था में सुषुप्ति के सामान आत्मा में ज्ञान और आनन्द नहीं रहते। किन्तु उस समय भी आत्मा ज्ञान शक्ति संपन्न अवश्य रहता है।(भारतीय दर्शन आलोचन और अनुशीलन पृ0 208–209)

वेदान्त दर्शन को उत्तर मीमांसा कहा जाता है। इसके आधार भूत ग्रन्थ है– उपनिषद् व्रह्मसूत्र और श्रीमद्भगवत्गीता। इन्हे प्रस्थानत्रयी भी कहा जाता है ; क्योंकि इनमें व्रह्म विद्या प्रतिष्ठित है। व्रह्मसूत्र पर आचार्य शंकर ने शारीरक भाष्य लिखा है और उसमें केवल अद्वैत की प्रतिष्ठा की गयी है। रामानुजाचार्य ने श्रीभाष्य लिखा जिसमें विशिष्टाद्वैत की प्रतिष्ठा की गयी है। माध्वाचार्य ने पूर्णप्रज्ञभाष्य लिखा और उसमें द्वैतवाद की प्रतिष्ठा की गयी है। निम्बार्काचार्य ने वेदान्तपारिजात–भाष्य लिखा और द्वैताद्वैतवाद की प्रतिष्ठा किया है। वल्लभाचार्य नें अणुभाष्य लिखा और शुद्धाद्वैतवाद की प्रतिष्ठा किया। चैतन्य सम्प्रदाय के प्रस्थानभेदक बलदेव स्वामी ने गोविन्द भाष्य लिखा और अचिन्त्यभेदाभेदवाद को पुष्ट किया। रामानन्दाचार्य ने आनन्द भाष्य लिखकर रामव्रह्मवाद की प्रतिष्ठा किये। सम्प्रति रामभद्राचार्य ने व्रह्मसूत्र पर श्रीराघवकृपाभाष्यम् को लिखा है और रामव्रह्मवाद को पुष्ट किया है। प्राचीन आचार्य भाष्कराचार्य ने व्रह्मसूत्र पर भाष्करभाष्य लिखकर भेदाभेदवाद की प्रतिष्ठा किये। इनके अतिरिक्त शैव सम्प्रदाय में श्रीकण्ठ ने बह्मसूत्र पर शैवभाष्य लिखकर शैवविशिष्टाद्वैतवाद प्रतिष्ठित किया। श्रीपति ने श्रीकरभाष्य लिखकर वीरशैवविशिष्टाद्वैतवाद को प्रतिष्ठित किया। विज्ञानभिक्षु ने विज्ञानामृतभाष्य लिखकर अविभागाद्वैत को प्रतिष्ठित किया।

आचार्य शंकर ने दर्शन का परम प्रयोजन आत्म साक्षात्कार को माना है जो जीवनकाल में भी और शरीरपात के उपरान्त भी मिलता है। यह विशुद्ध रूप से व्रह्मानन्द की अवस्था है। इस अवस्था की अनुभूति अहं व्रह्मास्मि की अवस्था है। तत्वज्ञान से सम्पूर्ण कर्म संस्कार जल जाते हैं। प्रारब्ध के वशीभूत शरीरचक्र चलता रहता है और देह पात के अनन्तर वह भी कारण में लीन हो जाता है। रामानुज से लेकर राम भद्राचार्यपर्यन्त सभी वैष्णव वेदान्ती मुक्ति को परम प्रयोजन मानते है। वहाँ पर मुक्ति का अर्थ है विष्णु कृष्ण श्री राम आदि का सायुज्य लाभ और उसका साधन है भक्ति । आचार्य रामानुज के मत में मुक्ति का स्वरूप है– जीव का व्रह्म से सायुज्यलाभ। जीव या आत्मा व्रह्म से अविभक्त रहते हुए भी अपने वैयक्तिक रूप से भी बना रहता है। जीव ईश्वर के दास्य भाव में रहता है। उसके सम्पूर्ण दुःख नष्ट हो जाते है वह जन्म मरण के चक्र से मुक्ति की अवस्था है। मुक्ति देहपात के बाद ही सम्भव होती है। रामानुज क्रम मुक्ति में विश्वास करते है। इस मुक्ति का साधन है भक्ति

मध्वाचार्य के द्वैतवाद में मुक्ति का अर्थ है– विष्णु का साक्षात् दर्शन मुक्ति परमात्मा की कृपा से मिलती है। जीव पर विष्णु की कृपा अगाध प्रेम से होती है। विष्णु के अनुग्रह से जीव मुक्त होता है। इस अवस्था में जीव को विष्णु का सायुज्य लाभ प्राप्त होता है।

निर्म्बाकाचार्य ने राधा कृष्ण के प्रति दिब्य प्रेम (रागानुगा भक्ति) से जीव की मुक्ति का प्रतिपादन किया है। जिसमे श्रीकृष्ण से अभिन्नता तथा भिन्नता का वास्तविक अनुभव जीव को होता है। जीव का राधा कृष्ण से सायुज्य माधुर्यभाव से होता है।

वल्लभाचार्य ने मुक्ति को गोलोकधामवासी श्रीराधाकृष्ण की अनुग्रह रूपा माना है,जो पाचवाँ पुरुषार्थ है। इसमे जीव को सर्वज्ञता की प्राप्ति होती है। जीव परमब्रह्म श्री राधा कृष्ण का सायुज्य लाभ कर आनन्दानुभव करता है। अन्य वेदान्तियों के मुक्ति सम्बन्धी परम प्रयोजन के स्वरूप को जानने के लिए संगम लाल पाण्डेय का भारतीय दर्शन का सर्वेक्षण गन्थ देखना चाहिए।

2.3 भारतीय नास्तिक दर्शनों के प्राथमिक प्रयोजन

भारतीय नास्तिक दर्शनों में चावार्क,जैन और बौद्ध दर्शन माने गये है। वेदों के प्रमाण को न मानने से ही इन्हें नास्तिक कहा गया है– नास्तिको वेदनिन्दकः (मनुस्मृति)। अब क्रमशः इनके प्राथमिक प्रयोजनों पर विमर्श किया जा रहा है।

चार्वाक दर्शन चार्वाक मुनि से प्रवर्तित है। इसे वार्हस्पत्य दर्शन लोकायतम व जड़वाद के नाम से भी जाना जाता है। इस दर्शन में प्राथमिक प्रयोजन काम अथवा जीवन में सुख की इच्छा को माना है। काम ही मानव जीवन का परम प्रयोजन लक्ष्य अथवा उद्देश्य है। जिन कर्मो से काम प्रयोजन की पूर्ति हो वही उचित माना गया है। चार्वाक दर्शन की उद्घोषणा है जब तक जिओ सुख से जियो ,ऋण लेकर घी पियो,शरीर के जल जाने पर पुनरागमन नहीं होता है । परलोक की बाते व्यर्थ हैं। इस लोक के सुखो को त्याग देना मूर्खता है । कलमयूर मिलने की आशा में आज हस्तगत कबूतर को नहीं छोड़ना चाहिये। दुःख की भिति से सुख की प्राप्ति का त्याग करना बुद्धिमानी नहीं है। क्या कोई व्यक्ति धान की भूसी हटाने के परिश्रम से चावल का खाना छोड़ देता है ? चार्वाक मोक्ष की वह कल्पना जो जीव को संसार के बन्धन से मुक्ति की कल्पना है को भ्रमजनित एवं तर्क विरूद्ध मानता है। पुर्नजन्म की बातों को निरर्थक कहता है। मृत्यु को अपवर्ग मानता है ; जो अनिष्ठ है। लोकसिद्ध राजा ही ईश्वर है ऐसा चार्वाक दर्शन मानता है। यह दर्शन काम अर्थात सुख प्राप्ति को ही दर्शन का परम प्रयोजन मानता है। इस दर्शन में 64 ललित कलाओ के सेवन करने की भी प्रेरणा दिया है। अर्थ को काम के साधन के रूप में ही इसमे स्वीकार किया गया है।

जैन दर्शन का प्रारम्भ ऋषभदेव से हुआ उत्तरवर्ती चौबीसवे तीर्थंकर महावीर ने इसको पूर्णता प्रदान की। इसमे मानव जीवन के लिये दर्शन का परम् भाव और कर्म पुदगलों से छूटनें रूपी कैवल्य को बताया गया है जैन दर्शन में जीव में कर्म पुदगलों व भावों का प्रवेश होने पर बन्धन और भावों व कर्म पुद्गलों का पूर्ण विनाश होने पर जीव को मुक्ति मिलती है ऐसा प्रतिपादन किया गया है। जीव स्वभाव से मुक्त है किन्तु अविधा के कारण मिथ्यात्व अविरति प्रसाद और कषाय और योग से जीव का बन्धन होता है। भावों और कर्म पुद्गलों के प्रवाह को रोकने और जीव में प्रविष्ट भावों और कर्म पुदगलों को सम्यक दर्शन ज्ञान और चारित्र से पूर्णतः नष्ट करने से चैतन्य लक्षण वाला जीव अपने सहज सर्वज्ञ रूप में प्रकाशित होता है। इस अवस्था में उसे अनन्त चतुष्टय की प्राप्ति होती है। यही मोक्ष की अवस्था है। यही कैवल्य है। यही अर्हतत्व है। यह अवस्था अनन्त ज्ञान और सुख की अवस्था है। यह जीवन मुक्ति की अवस्था है। शरीर पात होने पर पुरुष ऊपर उठ कर लोकाकाश के ऊपर सिद्ध शिला नामक पवित्र स्थान पर अनन्तचतुष्टय का अनुभव करता है।

बौद्ध दर्शन गौतमबुद्ध से प्रवर्तित है। उनके उपदेशों का संकलन पिटकों में हुआ है। बोधि के अनन्तर भगवान बुद्ध नें आर्य सत्यों का उपदेश किया। वे आर्य सत्य है– दुःख दुःखसमुदय दुःखनिरोध और दुःखनिरोध के मार्ग ये चार आर्य सत्य है। दुःख निरोध अर्थात निर्वाण ही बोद्ध दर्शन का परम प्रयोजन है। यह सम्पूर्ण दुःखों के नाश की अवस्था है। वह अद्वय और अमृत है। इसमें तृष्णा का पूर्ण क्षय हो जाता है। अविद्या विनष्ट हो जाती है । तृष्णा के नाश से उपादान का निरोध होता है। उपादान के निरोध से भव का निरोध होता है। भव निरोध से जाति का निरोध होता है जाति के निरोध से मरण शोक दुःख दौर्मनस्य का निरोध होता है। समस्त दुःख का नाश

होने पर निर्वाण लाभ होता है और यह निर्वाण कोई भी मनुष्य अष्टांगमार्गो पर चलकर प्राप्त कर सकता है। निर्वाण ही बौद्ध धर्म का अंतिम लक्ष्य है। राजगृह में बोधिवृक्ष के नीचे गौतमबुद्ध को निर्वाण प्राप्त हुआ था और उनकी समस्त कामनाँये शांत हो गयी । वे जरामरण से मुक्त हो गए।

बौद्ध दर्शन बाद में हीनयान और महायान नामक दो सम्प्रदायों में बट गया। हीनयान का परम लक्ष्य वैयक्तिक मुक्ति बना लेकिन महायान नें अपना परम् लक्ष्य वैयक्तिक बुद्धत्व के स्थान पर सहस्रों प्राणियों को बुद्धत्व का लाभ कराना माना। महायान में असंख्या बुद्धो और बोधिसत्वों की कल्पना की गयी और बोधिचित्त की प्राप्ति के लिये अष्टांगमार्ग पर चलने का आग्रह किया गया। बाद में हीनयान सम्प्रदाय से वैभाषिक और सैत्रान्तिक प्रस्थान निकले तथा महायान सम्प्रदाय से योगाचार विज्ञानवाद और शून्यतावाद निकले। इन चारों प्रस्थानों में दर्शन का परम् प्रयोजन निर्वाण लाभ को ही माना गया। इन प्रस्थानों में परम प्रयोजन निर्वाण के स्वरूप ज्ञान के लिए आप लोग डॉ0 यदुनाथ सिन्हा का भारतीय दर्शन पढ़ सकते हैं।

2.4 भारतीय दर्शन में गौंड़ प्रयोजन

भारतीय आस्तिक और नास्तिक दर्शन में जो गौड प्रयोजन के रूप में माने जा सकते है उनका क्रमशः वर्णन किया जा रहा है।

सांख्य दर्शन में सृष्टि की उत्पत्ति व प्रलय की मीमांसा को दर्शन का गौड प्रयोजन माना जा सकता है। योग दर्शन का द्वितीयक प्रयोजन आरोग्यलाभ,मैत्री,करूणा,मुदिता, यम, नियम ,तपश्चर्या, स्वाध्याय, विभिन्न प्रकार की विभूतियों की प्राप्ति (जो योगाभ्यास से प्राप्त होती हैं) को माना जा सकता है। मैत्री करूणा और मुदिता सम्पूर्ण मानवता के लिये उपयोगी हैं– इन्हे द्वितीयक प्रयोजन के रूप में माना जा सकता है।

न्याय दर्शन में संदेह का निराकरण करना रूप प्रयोजन को गौड प्रयोजन के रूप में माना जा सकता है ; क्योकि न्याय का लक्ष्य सभी प्रकार के सन्देहों का निराकरण करना है। वैशेषिक दर्शन में अभ्युदय को दर्शन का द्वितीयक प्रयोजन माना जा सकता है। वैशेषिक सृष्टि एवं प्रलय के करने में ईश्वर की सिसृक्षा को कारण मानते हैं। ईश्वर प्राणियों का भोग सम्पन्न कराने के लिये और किंचित काल पर्यन्त उन्हे विश्राम देने के लिये सृष्टि व प्रलय करता है। भारतीय दर्शन में सृष्टि और प्रलय का विचार प्रयोजनवादी है। जो वेदों से निकला है।

मीमांशा दर्शन में विधि वाक्यों का निर्धारण द्वितीयक प्रयोजन माना जा सकता है ।

वेदान्त दर्शन का द्वितीयक प्रयोजन सृष्टि एवं प्रलय की व्याख्या करना है। सम्पूर्ण वेदान्त परम्परा श्रीमद्‌भगवत्‌गीता को प्रमाण मानती है। उसमें दैवी सम्पदा अभय आदि का मनुष्यों में विकास कराना, लोक संग्रह द्वितीयक प्रयोजन के रूप में माने जा सकते हैं। दैवी सम्पदायेँ हैं– अभय,सत्वसंशुद्धि, ज्ञानयोगव्यवस्थित, दान,दम, यज्ञ स्वाध्याय, आर्जव, अहिंसा,सत्य,अक्रोध,त्याग,शांति, अपिशुनता सभी प्राणियों के प्रति दया अलोलुपता,मादर्व,लज्जा,अचपलता,तेज क्षमा धृति, शौच,अद्रोह, अतिमनिता का अभाव। सम्पूर्ण वेदान्त दर्शन गीता के इन दैवी संपत्तियों को जीव मात्र के लिए विहित करते हैं। गीता में आसुरी सम्पत्तियों से बचने का भी उपदेश दिया गया है। वेदान्त दर्शन आसुरी सम्पत को छोडने व दैवी सम्पत को प्राप्त करने के लिये मनुष्य को प्रवृत्त करता है। ये द्वितीयक प्रयोजन है। साथ ही गीता ब्राह्मण गाय हाथी और कुत्ते में एक ही आत्म तत्व का वास मानती है। अतः किसी दूसरे से न डरना चाहिए ना

डरवाना चाहिए। गीता में कहे गये लोकसंग्रह को भी द्वितीयक प्रयोजन के रूप में माना जा सकता है।

चावार्क दर्शन में अर्थोपार्जन को दूसरा प्रयोजन माना गया है जो सुख प्राप्ति में साधन होता है। जैन दर्शन में यम नियम आदि का अभ्यास करना द्वितीयक प्रयोजन के रूप में मान्य है। महावीर स्वामी ने अहिंसा को बहुत महत्व दिया। विश्व में अहिंसा की स्थापना करने के लिये जैन दर्शन में प्रवृत्त होना चाहिए। बौद्ध दर्शन में बहुजनहित को गौड प्रयोजन के रूप माना जा सकता है। जो महायानियों के करूणा पर आधारित है। यह करूणा भगवान गौतम बुद्ध के उपदेशो से निकली है। भगवान बुद्ध ने उपदेश देते हुए कहा– चरथ भिक्खवे,चारिकं बहुजनहिताय बहुजनसुखाय लोकानुकम्पाय अत्थाय हिताय सुखाय देवमनुस्सानम् (विनय पिटक 1/21)। वैभाषिक सौत्रान्तिक विज्ञानवाद और शून्यतावाद में सृष्टि एवं प्रलय की व्याख्या की गयी है। सृष्टि एवं प्रलय की व्याख्या को जानने की इच्छा से भी इस दर्शन में प्रवृत्त हुआ जा सकता है । जिसे हम द्वितीयक प्रयोजन मान सकते हैं।

सभी भारतीय दर्शन निराशा से बचाकर आशावाद की प्रेरणा देते है और सत्कर्म में प्रवृत्त होने की प्रेरणा देतें हैं।

बोध प्रश्न–1

1. चार्वाक दर्शन का प्राथमिक प्रयोजन है –

   (क) काम (ख) अर्थ

   (ग) मोक्ष (घ) धर्म

2. वैदिक् धर्म की निंदा करता है

   (क) वैशेषिक (ख) न्याय

   (ग) मीमांसा (घ) चार्वाक

3. निर्वाण को दर्शन का प्राथमिक प्रयोजन मानता है

   (क) जैन (ख) वेदान्त

   (ग) बौद्ध (घ) इनमे से कोई नहीं

4. न्याय में प्रमाण आदि 16 पदार्थो के तत्वज्ञान से किसका अधिगम होता है

   (क) कैवल्य का (ख) निवार्ण का

   (ग) भक्ति का (घ) निःश्रेयश का

5. धर्म की व्याख्या की गयी है–

   (क) सांख्य दर्शन में (ख) न्याय दर्शन में

   (ग) वैशेषिक में (घ) इनमे से कोई नहीं

6. असम्प्रज्ञात योग को प्राथमिक प्रयोजन माना गया है।

   (क) बौद्ध दर्शन में (ख) जैन दर्शन में

   (ग) योग दर्शन में (घ) मीमांसा में

7. तत्वाभ्यास से केवल ज्ञान उत्पन्न होता है।

   (क) जैन में (ख) बौद्ध में

(ग) न्याय में (घ) सांख्य में

8. धर्म की जिज्ञासा को प्राथमिक प्रयोजन माना गया है—

(क) मीमांसा में (ख) जैन में

(ग) वेदान्त में (घ) चार्वाक

9. सात पदार्थो के तत्वज्ञान से धर्म लाभ होता है—

(क) कणाद के मत में (ख) गौतम के मत में

(ग) महावीर के मत में (घ) शंकर के मत में

10. न्याय दर्शन में अपवर्ग है—

(क) प्रमाण (ख) प्रमेय

(ग) व्यक्त (घ) इनमे से कोई नहीं

11. सायुज्य मुक्ति मानते है—

(क) रामानुज (ख) शंकर

(ग) जैमिनि (घ.) बौद्ध

12. सम्यक दर्शन ज्ञान व चारित्र प्रतिपादित है—

(क) मीमांशा में (ख) बौद्ध में

(ग) न्याय में (घ) जैन में

2.5 सारांश

भारतीय आस्तिक व नास्तिक दर्शनों में मानव को प्रवृत्त होने के लिए मुक्ति को प्रथम प्रयोजन के रूप में माना गया है। जैन से लेकर वेदान्त पर्यन्त दर्शनों में मुक्ति का अलग–अलग स्वरूप प्रतिपादित है। किन्तु सभी ने मुक्ति को ही दर्शन का परम् प्रयोजन बताया है। सृष्टि और प्रलय की मीमांसा, लोक संग्रह, यम नियम, अभयआदि दैवी सम्पत् (गीता के 16वे अध्याय में वर्णित।) को द्वितीयक प्रयोजन के रूप में माना जा सकता है। सम्पूर्ण विश्व में भयरहित,करूणा मुदिता व मैत्रीमूलक शान्तिपूर्ण परिवेश का निर्माण करना भी भारतीय दर्शन का द्वितीयक प्रयोजन माना जा सकता है। अतएव मानव मात्र को भारतीय दर्शन के विविध प्रयोजनों के सम्यक बोध के लिये प्रवृत्त होना चाहिए।

2.6 पारिभाषिक शब्दावली

1.

2.7 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1 उत्तर

(1) क (2) घ (3) ग (4) घ (5) ग (6) ग (7) घ (8) क (9) क (10) ख (11) क (12) घ

2.8 बोध प्रश्न

1. भारतीय आस्तिक दर्शनों के प्राथमिक प्रयोजनों को लिखिए ?
2. भारतीय दर्शनों के गौंड़ प्रयोजन को लिखिये ?
3. भारतीय नास्तिक दर्शनों के प्राथमिक प्रयोजन को लिखिये ?

2.9 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. भारतीय दर्शन सम्पादक डा0 नन्द किशोर देवराज,प्रकाशक हिन्दी ग्रन्थ अकादमी प्रभाग उत्तर प्रदेश हिन्दी सस्थान लखलऊ संस्करण 1983 ।
2. भारतीय दर्शन आलोचन और अनुशीलन लेखक–चन्द्रधर शर्मा, प्रकाशकः मोतीलाल बनारसी दास पब्लिशर्स प्रा0लि0 दिल्ली, पुर्नमुद्रणः दिल्ली 1991
3. भारतीय दर्शन की रूपरेखा ,लेखक बद्रीनाथ सिंह,प्रकाशकः आशा प्रकाशन,वाराणसी,संस्करण 2003
4. भारतीय दार्शनिक समस्याएँ ,लेखक डा0नन्द किशोर शर्मा,प्रकाशक रास्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी जयपुर पंचम संस्करण 1996।
5. भारतीय दर्शन का सर्वेक्षण, लेखकः संगम लाल पाण्डेय, प्रकाशकः सेन्ट्रल पब्लिशिंग हाउस इलाहाबाद, चतुर्थ संशोधित संस्करण 2002
6. भारतीय दर्शन : लेखक चटर्जी और दत्त, प्रकाशकः पुस्तक भण्डार पब्लिशिंग हाउस गोविन्द मित्र रोड ,पटना, तृतीय संस्करण 1994।
7. सर्व दर्शन संग्रहः ,लेखक माधवाचार्य,अनुवादकः प्रो0उमाशंकर शर्मा ऋषि, प्रकाशक चौखम्भा विद्याभवन वाराणसी, पुर्नमुद्रित संस्करण 2014 ।
8. पातञ्जलयोगदर्शनम् लेखक महर्षि पतञ्जलि सम्पादक – डा0 सुरेश चन्द्र श्रीवास्तव,प्रकाशक चैखम्भा सुरभारती प्रकाशन वाराणसी संस्करण 1993
9. न्यायदर्शनम् लेखक गौतम,सम्पादक श्रीनारायण मिश्र, चौखम्भा संस्कृत संस्थान वाराणसी चतुर्थ संस्करण वि0सं0 2047
10. सिविल सेवा प्रारम्भिक परीक्षा लेखक डा0 रामनाथ शर्मा,प्रकाशकः प्रकाश प्रकाशन विजय नगर मेरठ।
11. स्पन्दकारिका लेखक भट्ट कल्लटाचार्य,अनुवादक एवं व्याख्याकार डा0श्यामाकान्त द्विवेदी, प्रकाशक चौखम्भा सुरभारती प्रकाशन वाराणसी संस्करण 2014
12. श्रीमद्भगवद्गीता(मोटे अक्षर वाली) प्रकाशक गीता प्रेस गोरखपुर।

संस्करणः संवत 2080

इकाई 3 विविध दार्शनिक प्रवृत्तियाँ

इकाई की रूपरेखा

3.0 उद्देश्य

इकाई को पढने के बाद आप

- भारत के आस्तिक और नास्तिक दो प्रवृत्तियों का वर्णन किया गया है।
- इस ईकाई के अध्ययन से आप भारत की दोनो आस्तिक एवं नास्तिक दार्शनिक प्रवृत्तियों का बोध प्राप्त करेंगे।
- भारतीय दर्शन के प्रमुख धाराओं के परिचय से सम्बन्धित प्रश्नों के उत्तर दे सकेंगे।

3.1 प्रस्तावना

भारतीय दार्शनिक प्रवृत्तियों के विभाजन का आधार उनकी वेद मूलकता अथवा वेद के विचारों का निन्दा करना है। जो दर्शन वेद को प्रमाण के रूप में स्वीकार करता है वह आस्तिक दर्शन कहा जाता है, उसकी प्रवृत्ति आस्तिक है। जो दर्शन वेद को प्रमाण के रूप में नही मानता है और उसकी निन्दा करता है,उसे नास्तिक दर्शन कहा जाता है। उसकी प्रवृत्ति नास्तिक है। आस्तिक दर्शनों में सांख्य योग न्याय वैशेषिक मीमांसा और वेदान्त ये छः दर्शन माने जाते है। वेद को प्रमाण न मानने वाले तीन नास्तिक दर्शन हैं— चार्वाक,जैन,बौद्ध। इस ईकाई में इन्ही दर्शनों के तत्त्वमीमांसा,ज्ञानमीमांसा और आचारशास्त्र का संक्षिप्त वर्णन किया जायेगा।

3.2 विविध दार्शनिक प्रवृत्तियाँ

भारतीय दर्शन में आस्तिक और नास्तिक दो दार्शनिक प्रवृत्तियाँ स्वीकृत है। आस्तिक दार्शनिक प्रवृत्ति सांख्य के प्रवर्तक महर्षि कपिल हैं। योग दर्शन के प्रवर्तक महर्षि

पतंजलि हैं। न्याय के प्रवर्तक महर्षि गौतम है। वैशषिक के प्रवर्तक महर्षि कणाद हैं। मीमांसा के प्रवर्तक महर्षि जैमिनि हैं। वेदान्त दर्शन वेदव्यास के व्रह्मसूत्र पर आधारित है। वेदान्त में प्रस्थानत्रयी– उपनिषद्,श्रीमद्भगवद्गीता व व्रह्मसूत्र आधारभूत ग्रन्थ है।

3.2.1 आस्तिक दार्शनिक प्रवृत्ति सांख्य व योग

सांख्य दर्शन प्रकृति और पुरूष के द्वैत पर आधारित वास्तववादी पुरूष बहुत्ववादी पच्चीस तत्त्वों का दर्शन है। इसका मूल ग्रन्थ ईश्वरकृष्ण की सांख्यकारिका ही मानी गयी है। तत्त्वसमास को यद्यपि कपिल की रचना कहा जाता है, लेकिन वह संदेह से परे नही है। सांख्यदर्शन तीन दुःखों से पुरूष को बचाने के लिए प्रकृति पुरूष का विमर्श करते हुए सृष्टि की सम्पूर्ण प्रक्रिया, मोक्ष की प्राप्ति तथा तीन प्रमाणों का वर्णन करता है। प्रकृति नित्य तत्त्व है व सत्व,रजस् व तमस् गुणों की साम्यावस्था है। पुरूष चेतन तत्त्व है और बहुत हैं। प्रकृति पुरूष के संयोग से सरूप परिणाम वाली प्रकृति में गुणक्षोभ होकर विरूप परिणाम होने लगता है। और उससे महत्तत्त्व ,महत्तत्त्व से अहंकार तत्त्व अहंकार से मन श्रोत्र,नेत्र जिह्वा घ्राण,वाक् पाणि पाद पायु उपस्थ इन एकादश इन्द्रियों और रूपरस ग्रन्थ स्पर्श शब्द तन्मात्राओं की उत्पत्ति होती है। वाक् आदि पाँच कर्मेन्द्रिया है और श्रोत्र आदि पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ है। मन उभयात्मक इन्द्रिय है। पंचतन्मात्राओं में से शब्द तन्मात्र से आकाश महाभूत ,स्पर्श तन्मात्र से वायु महाभूत, रूप तन्मात्र से अग्नि महाभूत, रस तन्मात्र से जलमहाभूत, और गन्ध तन्मात्र से पृथ्वी महाभूत उत्पन्न होता है। एक प्रकृति, एक महत् ,एक अहंकार, 11 इन्द्रियाँ, पंचतन्मात्राऐं, पंचमहाभूत मिलकर कुल 24 तत्त्व होते है। इसके अतिरिक्त एक पुरूष तत्त्व जो माना गया है। मिलाकर कुल 25 तत्त्व हो जाते है। इन्ही 25 तत्त्वों का परिगणन होने के कारण और प्रकृति और पुरूष का विभेदक ज्ञान प्रतिपादित करने से इसे सांख्य कहा गया है। इन्हीं 25 तत्त्वों के ज्ञान से जीव को मोक्ष की प्राप्ति होती है। सांख्य में कारण सिद्धान्त के रूप में सत्कार्यवाद माना गया है। इस सिद्धान्त के अनुसार कारण में कार्य उत्पन्न होने के पहले ही विद्यमान रहता है। उसमें अनभिव्यक्त रहता है। कारण व्यापार से वह कार्य में परिणमित हो जाता है। सम्पूर्ण सृष्टि उत्पत्ति के पहले अपने मूल कारण प्रकृति में विद्यमान रहती है। प्रलय में उसका प्रकृति में प्रतिप्रसव हो जाता है। सृष्टि प्रकृति का परिणाम है। सृष्टि यथार्थ है। सांख्य जीवन का लक्ष्य कैवल्य को मानता है। जिसका अर्थ है आध्यात्मिक,आधिभौतिक और आध्यात्मिक दुःख से सदा के लिए पुरूष का छूट जाना। मुक्ति विदेह और सदेह दोनो रूपों में सांख्य को मान्य है। साख्य दर्शन में तीन प्रमाण माने गये हैं– प्रत्यक्ष ,अनुमान और शब्द प्रमाण । ईश्वरकृष्ण की सांख्यकारिका में ईश्वर के विषय में कोई विचार नही मिलता है। कपिल द्वारा उपदिष्ट पुरूषार्थ अपवर्ग के साधक सांख्य में भूतों की सृष्टि,स्थिति और प्रलय का विचार किया जाता है। कपिल ने इस ज्ञान को आसुरि को दिया। आसुरि ने इस ज्ञान को पंचशिख को दिया। फिर उन्होने इस ज्ञान का खूब विस्तार किया ।

योगदर्शन का आदि उपदेष्टा हिरण्यगर्भ को माना गया है। उन्हे ही कपिल माना गया है । पतंजलि ने योग दर्शन को सूत्रबद्ध करते हुए योगसूत्रम् की रचना किया। जिसमें चार पाद हैं– समाधिपाद,साधनपाद,विभूतिपाद और कैवल्यपाद। योग का अर्थ है– चित्त्वृत्तियों का निरोध। चित्त का अर्थ है मन,बुद्धि और अहंकार। वृत्तियाँ तीन तरह की होती है– सात्विक,राजसिक और तामसिक। मन की पाँच अवस्थाएँ होती है– क्षिप्त,मूढ़, विक्षिप्त, एकाग्र और निरूद्ध। योग दर्शन का उद्देश्य असम्प्रज्ञात् योग की सिद्धि है। जिसमें चित्त की सम्पूर्ण सात्विक,राजसिक और तामसिक वृत्तियों का निरोध

हो जाता है। तीन तरह के उत्तम मध्यम और अधम कोटि के मनुष्यों के कल्याण के लिये क्रमशः सम्प्रज्ञात और असम्प्रज्ञात योग, क्रियायोग व अष्टांगयोग,का प्रतिपादन योग में मिलता है। तपःस्वाध्याय और ईश्वर प्रणिधान को क्रियायोग कहा जाता है। यम नियम आसन प्राणायाम्, धारणा,ध्यान और समाधि को अष्टांगयोग कहा जाता है। तपः सभी प्रकार के द्वन्द्वों सुखादि का सहन करना है। स्वाध्याय मोक्ष परक सांख्य योग शास्त्र का अध्ययन है। किये गये कर्मो का ईश्वर को अर्पित करना ईश्वर प्रणिधान है। ईश्वर समाधि के विघ्नों को दूर कर समाधि को भावित करता है। ईश्वर पुरूष विशेष है। वह क्लेश कर्म विपाक और आशय से सर्वथा अस्पृष्ट पुरूष विशेष है। वह गुरूओं का भी गुरू है। दिक और काल से वह परे है। प्रणव ईश्वर का वाचक है। प्रणव ऊँ है। यम में अहिंसा सत्य अस्तेय व्रह्मचर्य और अपरिग्रह सम्मिलित है। नियम में शौच सन्तोष तप और ईश्वर प्रणिधान माने जाते है। आसन् पदमासन आदि है। प्राणायाम श्वास और प्रश्वास की गति का विच्छेद है। इसके तीन भेद है– पूरक,कुम्भक और रेचक। प्रत्याहार इन्द्रियों का संयम है उनको वाह्य विषयों से हटाकर अर्न्तमुखी किया जाता है। ये पाँच योग के वाह्य अंग है। धारणा में किसी देश में चित्त को लगाया जाता है। ध्यान में ध्येय वस्तु विषयक चित्त्वृत्तियों का निरन्तर एकाकार रूप में प्रवाह होता है। इसमें ध्येय वस्तु के ज्ञान की एकतानता होती है। समाधि में ध्येय वस्तु में चित्त की विक्षेप रहित एकाग्रता होती है और चित्त उस समय ध्येय वस्तु का आकार ग्रहण कर लेता है। समाधि दो तरह की होती है– सम्प्रज्ञात और असम्प्रज्ञात । सम्प्रज्ञात में राजसिक और तामसिक वृत्तियों का निरोध हो जाता है। लेकिन इसमें सात्विक वृत्ति बनी रहती है। ध्येय वस्तु का ज्ञान बना रहता है। इसमें चार अवस्थाये होती है–सवितर्क,सविचार,सानन्द,सास्मित। असम्प्रज्ञात समाधि में चित्त की सात्विक वृत्ति का भी निरोध हो जाता है। उपाय प्रत्ययसाध्य असम्प्रज्ञात समाधि में ऋतम्भरा प्रज्ञा का उदय होता है। अविद्या की उपशान्ति होती है और पुरूष चैतन्य मात्र रहता है ; जो कि उसका निजी स्वरूप है। यही कैवल्य है।

3.2.2 आस्तिक दार्शनिक प्रवृत्ति न्याय व वैशेषिक

न्याय दर्शन के प्रवर्तक महर्षि गौतम हैं। जिन्होंने न्यायसूत्रम् गन्थ की रचना किया है। जिन्हे अक्षपाद भी कहा गया है। न्यायसूत्र में कुल 5 अध्याय और 10 आह्निक है। इसमें प्रमाण, प्रमेय संशय प्रयोजन,दृष्टान्त,सिद्धान्त,अवयव, तर्क, निर्णय,वाद, जल्प, वितण्डा हेत्वाभास, छल जाति और निग्रह स्थान इन 16 प्रकार के पदार्थो के तत्त्वज्ञान से निःश्रेयस की प्राप्ति होती है। न्याय दर्शन ने चार प्रमाण माना है प्रत्यक्ष अनुमान उपमान, और शब्द। इसमें कुल 12 प्रमेय माने गये है– आत्मा,शरीर,इन्द्रिय,अर्थ, बुद्ध मन, प्रवृत्ति दोष, प्रेत्यभाव,फल, दुःख एवं अपवर्ग। प्रमाण प्रमा का करण है। प्रमा का अर्थ है यथार्थ अनुभव। प्रमा चार है। प्रत्यक्ष ,अनुमिति,उपमिति और शाब्द। जिनका बोध क्रमशः प्रत्यक्ष अनुमान उपमान और शब्द प्रमाण के द्वारा होता है। प्रमाणों से अर्थ की परीक्षा को न्याय कहते है। परार्थानुमान जो पाँच अवयवों आगम प्रतिज्ञा हेतु उपनय और निगमन से युक्त होता है को परम न्याय कहते है। संदेह होने पर ही न्याय की प्रवृत्ति होती है। न्याय दर्शन वस्तुतः ज्ञान मीमांसीय चिन्तन है। जिसमें विरोधी को वाद परम्परा के द्वारा पराजित कर अपने सिद्धान्त का प्रतिपादन किया जाता है। इस दर्शन में ईश्वर के अस्तित्त्व को माना गया है ईश्वर की सिद्धि के लिए उदयनाचार्य ने न्याय कुसुमांजलि में कार्य, आयोजन,धृत्यादि,पद,प्रत्यय,श्रुति, वाक्य और संख्या, विशेष व अदृष्ट को हेतु के रूप में दिया है। ईश्वर विभु और नित्य ज्ञानाधिकरण है। वह सृष्टि और प्रलय के लिए इच्छा करता है। 12वी शती में गंगेश उपाध्याय ने नवदीप बंगाल से तत्त्व चिन्तामणि ग्रन्थ का लेखन कर नव्यनन्याय का

प्रवर्तन किया ।

वैशेषिक दर्शन महर्षि कणाद के वैशेषिक सूत्रो से जन्म लिया। इसमें धर्म के व्याख्या के लिए द्रव्यगुण कर्म सामान्य विशेष समवाय और अभाव इन सात पदार्थो का प्रतिपादन किया गया है। इनके ज्ञान से धर्म की प्राप्ति होती है। धर्म अभ्युदय और निःश्रेयस की सिद्धि का साधन है। सांख्य में कुल 9 द्रव्य माने गये है – पृथ्वी जल, अग्नि,वायु,आकाश,दिक,काल और आत्मा। इस दर्शन में 24 गुण माने गये है– रूप,रस,गन्ध, स्पर्श, संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व अपरत्व, गुरूत्व, द्रवत्व, स्नेह, शब्द, बुद्धि, सुख, दुख, इच्छा, ,द्वेष प्रयत्न धर्म,अधर्म और संस्कार। कर्म के कुल पाँच भेद है– उत्क्षेपण अपत्क्षेपण,आकुंचन प्रसारण और गमन,। सामान्य नित्य और अनेकानुगत है। जिसके दो भेद है – पर समान्य , अपर समान्य। पृथ्वी आदि के नित्य परमाणुओं में जो एक दूसरे का विभेदक है और अनन्त है। उसे विशेष पदार्थ कहते है। इसी विशेष को स्वकीार करने के कारण इस दर्शन को वैशेषिक दर्शन कहा गया है। समवाय नित्य सम्बन्ध है। वह अयुतसिद्ध पदार्थो में रहता है – अवयव अवयवी,गुण और गुणी, क्रिया और क्रियावान विशेष और नित्य द्रव्य अयुतसिद्ध पदार्थ है। और इनमें समवाय सम्बन्ध रहता है। समवाय द्रव्य और गुण में होता है और कार्य के बने रहने तक यह नित्य रहता है। अभाव किसी भी भाव पदार्थ होने के न होने की अवस्था है। इसके चार भेद हैं प्रागभाव,प्रध्वंसाभाव अत्यन्ताभाव और अनन्योन्याभाव। वैशेषिक में दो प्रमाण माने गये है। प्रत्यक्ष और अनुमान।

3.2.3 आस्तिक दार्शनिक प्रवृत्ति मीमांसा

इस दर्शन का प्रवर्तन आचार्य जैमिनि के मीमांसासूत्रम् से हुआ है। इसमें कुल 12 अध्याय है। मीमांसा में धर्म की जिज्ञासा की गयी है। धर्म का अर्थ प्रेरणात्मक है। यज्ञ की दोष रहित समाप्ति में वेद मंत्रो का उपयोग होता है। मंत्रों के अर्थ का विचार ही मीमांसा दर्शन में मूलतः किया गया है। मीमांसासूत्रम् में विधि,अर्थवाद ,मंत्र, स्मृति और नामध्येय,कर्मभेद,कर्मभेद के प्रामाण्य का अपवाद,प्रयोगों में भेद, श्रुति लिंग वाक्य आदि के पारस्परिक विरोध का परिहार, द्रव्यों के विनियोग, प्रधान और अप्रधान प्रयाज कर्म, यजमान के कर्म,श्रुति आदि का कर्म,श्रुति की प्रबलता एवं दुर्बलता, यज्ञ करने के अधिकारी व्यक्ति,उनके धर्म, यज्ञ में प्रयुक्त स्थानापन्न द्रव्य,द्रव्यों का लोप प्रायश्चित्तकर्म ,वैदिक वाक्यों के प्रत्यक्ष आदेश से किसी दूसरे यज्ञ में स्थानान्तरण , स्पष्ट लिंगो के द्वारा अतिदेश विधान व उसका अपवाद,ऊह, बाध के कारण स्वरूप करणों के लोप का वर्णन,तंत्र का उपोद्घात तन्त्र और आवाप, तन्त्र और विस्तार, तन्त्रों का निर्णय,समुच्चय तथा विकल्प आदि का विचार मिलता है। मीमांसा दर्शन में अपौरूषेय वेदमंत्रों को पाँच भागों में बाटा गया है– विधि मंत्र नामध्येय,निषेध और अर्थवाद।

मीमांसासूत्र पर शबर मुनि का शाबर भाष्य मिलता है। इस दर्शन में बाद में तीन मत बनें–1.भाट्ट मत् 2.गुरूमत् 3.मुरारि मत्। कुमारिल भट्ट से भाट्ट मत निकला जो श्लोकवार्तिक पर आधारित है। प्रभाकर जो कुमारिल के शिष्य थे से गुरूमत निकला और मुरारि मिश्र से मुरारि मत निकला। वाक्यार्थ के लिए कुमारिल भट्ट ने अभिहितान्वयवाद स्वीकार किये जबकि प्रभाकर ने अन्विताभिधानवाद को स्वीकार किया। कुमारिल भट्ट ने छः प्रमाणो को माना है– प्रत्यक्ष अनुमान उपमान शब्द अर्थापत्ति और अनुपलब्धि। प्रभाकर ने अनुपलिब्धि को प्रमाण नही माना है। कुमारिल ने तत्त्वमीमांसा में पाँच पदार्थो को माना है– द्रव्य गुण कर्म और समान्य और अभाव। प्रभाकर ने आठ पदार्थ माना है– द्रव्य गुण कर्म समान्य परतंत्रता शक्ति सादृश्य और

संख्या। बाद में कुमारिल के अनुयायी शालिकनाथ ने प्रकरण पंचिका में द्रव्य गुण कर्म सामान्य समवाय संख्या शक्ति और सादृश्य आठ पदार्थ माने है। जैमिनि के अनुसार वेद वाक्य जो प्रेरित करने वाले है वे धर्म है जैसे याग आदि। मीमांसा में अपूर्व नामक एक तत्त्व में विस्वास किया गया है जो यज्ञ आदि से उत्पन्न होता है और स्वर्ग आदि प्रदान करता है। यह अपूर्व कर्म एवं फल के बीच का अन्तः सम्बन्ध बताने वाला तत्त्व है। प्राचीन मीमांसा में मोक्ष का तो विचार नही मिलता है लेकिन उत्तरवर्ती प्रभाकर एवं कुमारिल ने मोक्ष की संकल्पना को स्वीकार किया है। मीमांसा में ईश्वर का विचार नही मिलता है।

3.2.4 आस्तिक दार्शनिक प्रवृत्ति वेदान्त

वेदान्त दर्शन प्रस्थानत्रयी पर आधारित है। उपनिषद श्रीमद्भगवदगीता और व्रह्मसूत्र प्रस्थानत्रयी कहे जाते है क्योकि इनमें व्रह्म विद्या प्रतिष्ठित है। व्रह्मसूत्र पर आचार्य शंकर ने शारीरक भाष्य लिखा है और उसमें केवल अद्वैत की प्रतिष्ठा की गयी है। रामानुजाचार्य ने श्रीभाष्य लिखा जिसमें विशिष्टाद्वैत की प्रतिष्ठा की गयी है। माध्वाचार्य ने पूर्णप्रज्ञभाष्य लिखा और उसमें द्वैतवाद की प्रतिष्ठा की गयी है। निम्बार्काचार्य ने वेदान्तपारिजात–भाष्य लिखा और द्वैताद्वैतवाद की प्रतिष्ठा किया है। वल्लभाचार्य नें अणुभाष्य लिखा और शुद्धाद्वैतवाद की प्रतिष्ठा किया। चैतन्य सम्प्रदाय के प्रस्थानभेदक बलदेव स्वामी ने गोविन्द भाष्य लिखा और अचिन्त्यभेदाभेदवाद को पुष्ट किया। रामानन्दाचार्य ने आनन्द भाष्य लिखकर रामव्रह्मवाद की प्रतिष्ठा किये। सम्प्रति राम भद्राचार्य नें व्रह्मसूत्र पर श्रीराघवकृपाभाष्यम् को लिखा है और रामव्रह्मवाद को पुष्ट किया है। प्राचीन आचार्य भाष्कराचार्य ने व्रह्मसूत्र पर भाष्करभाष्य लिखकर भेदाभेदवाद की प्रतिष्ठा किये। इनके अतिरिक्त शैव सम्प्रदाय में श्रीकण्ठ ने बह्मसूत्र पर शैवभाष्य लिखकर शैवविशिष्टाद्वैतवाद प्रतिष्ठित किया । श्रीपति ने श्रीकरभाष्य लिखकर वीरशैवविशिष्टाद्वैतवाद को प्रतिष्ठित किया । विज्ञानभिक्षु ने विज्ञानामृतभाष्य लिखकर अविभागाद्वैत को प्रष्ठित किया । शंकराचार्य एकमात्र ब्रह्म को सत्य मानते है और जगत को मिथ्या मानते है। इनका व्रह्म शुद्ध बुद्ध मुक्त और नित्य है। व्रह्म सच्चिदानन्द है। उसमें उत्पाद्य आप्य और विकार्य,सस्कार्य दोष नही है। जीव और आत्मा में कोई भेद नही है। 1.नित्य और अनित्य वस्तु विवेक , 2.इस लोक व परलोक के फल भोग में विरक्ति का भाव। 3.शम दम उपरति तितिक्षा श्रद्धा समाधान,और 4. मुमुक्षत्व इन चार साधनों से जीव को आत्मज्ञान होता है। एकमात्र व्रह्मतत्त्व को स्वीकार करने के कारण इस दर्शन को अद्वैतवादी कहा गया है। रामानुज ने सत् और असत् विशिष्ट अद्वैत व्रह्मवाद की प्रतिष्ठा किया अतएव उनका दर्शन विशिष्टद्वैत माना गया। सम्पूर्ण वेदान्त परम्परा में व्रह्म की जिज्ञासा की गयी है। सृष्टि की उत्पत्ति स्थिति का विचार मिलता है। शास्त्र के द्वारा व्रह्म का प्रतिपादन किया जाता है। और सम्पूर्ण श्रुतियों की व्रह्मपरकता दिखाई गयी है। रामानुज जगत को यथार्थ मानते हैं ; और उसे व्रह्म का परिणाम मानते है। वे मायावाद में विश्वास नही करते है। रामानुज ने व्रह्म में स्वगत भेद स्वकीर किया गया है। रामानुज ने मायावाद का प्रमाणपूर्वक खण्डन किया है। रामानुज का व्रह्म उपासना का विषय है और भक्ति से मुक्ति होती है। ऐसा प्रतिपादन मिलता है। माध्वाचार्य आदि वैष्णव वेदान्तियों के सिद्धान्तों को पढ़ने के लिए नन्द किशोर देवराज के अथवा संगमलाल पाण्डेय के भारतीय दर्शन विषयक ग्रन्थों को देख सकते हैं।

सांख्य योग न्याय वैशेषिक मीमांसा वेदान्त के अतिरिक्त नकुलीश पाशुपत दर्शन,शैव दर्शन,प्रत्यभिज्ञा दर्शन,रसेश्वर दर्शन ,पाणिनि दर्शन जो सर्वदर्शनसंग्रह में वर्णित है भी

आस्तिक दार्शनिक प्रवृत्ति के अर्न्तगत है। विस्तार भय से उनका वर्णन नही किया जा रहा है। जिज्ञासु विद्यार्थी सर्वग्रह दर्शन संग्रह को पढ़ सकते हैं।

3.2.5 नास्तिक दार्शनिक प्रवृत्तिः– चार्वाक जैन और बौध

चार्वाक् दर्शन का प्रवर्तन चार्वाक मुनि के द्वारा हुआ। इनका लिखा हुआ कोई स्वतंत्र ग्रन्थ नही मिलता है। अन्य नास्तिक व आस्तिक दर्शनों में पूर्व पक्ष के रूप में इसका वर्णन हुआ है। उसी से इसके स्वरूप का बोध होता है। माधवाचार्य के सर्वदर्शन संग्रह के आधार पर इसका वर्णन किया जा रहा है। इस दर्शन को लोकायतिक दर्शन भी कहा गया है। इसमें चार तत्त्वों को स्वीकार किया गया है। पृथ्वी जल, तेज अग्नि, इन्ही चारों के मिलने से सृष्टि होती है और इन्ही के मिलने से शरीर में चैतन्य की उत्पत्ति होती है। आत्मा कोई स्वतंत्र तत्त्व नही है। यह दर्शन केवल प्रत्यक्ष प्रमाण को मानता है। अन्य किसी प्रमाण को नही मानता है। अन्य सभी प्रमाण प्रत्यक्ष में ही अर्न्तभूत माने गये है। यह यज्ञो और वेदों की निसारता प्रतिपादित करता है । यह वैदिक कर्मकाण्डों की निन्दा करता है। इनके लिए एक मात्र काम ही (ऐन्द्रिक सुख) परम लक्ष्य है। सुख को ही यह परमलक्ष्य मानते है। अनुमान प्रमाण का खण्डन करने के लिए यह व्याप्ति की असिद्वि मानते है। इनके मत का सार है न तो स्वर्ग है,न अपर्वग है न परलोक में रहने वाली आत्मा है। वर्ण आश्रम आदि की क्रियाऐ फल देने वाली नही हैं । अग्निहोत्र, तीनो वेद,तीन दण्ड धारण करना और भस्म लगाना यह सब पुरूषार्थ हीनों की जीविका का साधन है। यदि यज्ञ में मारा गया पशु स्वर्ग जाता है तो यजमान अपने पिता को ही क्यो नही मार देता। यदि श्राद्ध करने से प्रेत तृप्त होता है तबतो बुझे हुये दीपक की शिखा को तेल अवश्य ही बढा देता। जबतक जीना है सुख से जीना चाहिए ऋण लेकर घी पीना चाहिए अर्थात विलास करना चाहिए ; क्योकि मरने पर भस्म के रूप में बदला हुआ शरीर फिर कैसे आ सकता है। ये प्रेत आदि कर्म का भी निषेध करते है। वेद के रचयिता भाड़ धूर्त और राक्षस लोग है। जर्भरी और तुर्फरी आदि पण्डितों की वाणी समझी जाती है। इसलिए प्राणियों के कल्याण के लिए चार्वाक मत का आश्रय लेना चाहिए। ऐसा वृहस्पति का वचन है। इस दर्शन को वार्हस्पत्य दर्शन भी कहा जाता है।

जैन दर्शन ऋषभ देव के द्वारा प्रवर्तित हुआ जो इस दर्शन के प्रथम तीर्थंकर है। महावीर स्वामी जो इस दर्शन के 24वे तीर्थंकर हुए ने इस दर्शन को लोक में व्यापक बनाया। रागद्वेष पर विजय प्राप्त करने के कारण इनको महावीर कहा गया। इस दर्शन में दो सम्प्रदाय हुये – श्वेताम्बर और दिगम्बर। श्वेताम्बर लोग सफेद कपड़ा धारण करते है। दिगम्बर वस्त्र का भी त्याग करता है। दिगम्बर मानते है की केवली भोजन नही करता और स्त्री को मुक्ति नही मिलती। किन्तु श्वेताम्बर इन बातों को नही मानते। इस दर्शन पर उमास्वामी का तत्त्वार्थाधिगम नाम का ग्रन्थ मिलता है। जिसमें जैन दर्शन की तत्त्वमीमांसा ,ज्ञानमीमांसा और आचारमीमांसा का वर्णन मिलता है। जैन दर्शन में वास्तववादी द्रव्य विचार मिलता है। द्रव्य अनेक धर्म वाला है। वह गुण और पर्याय वाला है। इसमें एक ही साथ नित्यता और उत्पाद और व्यय तीनों धर्म होते है। द्रव्य अनेक है और वास्तिविक है। द्रव्य के दो भेद है– अस्तिकाय और अनस्तिकाय। अस्तिकाय का अर्थ है विस्तारयुक्त। अस्तिकाय के पाँच भेद है– जीव पुदगल आकाश धर्म और अधर्म। जीव चैतन्य लक्षण वाला है। उसमें अनन्त ज्ञान , अनन्त दर्शन ,अनन्त सुख ,अनन्तवीर्य होता है। इसके दो भेद है बद्ध और मुक्त। बद्ध जीव के दो भेद है स्थावर और जंगम। जंगम जीव को त्रस भी कहते है। त्रस जीवों में पाँच इन्द्रिय वाले, चार इन्दिय वाले, तीन इन्द्रिय वाले और दो इन्द्रिय वाले जीव होते है। स्थावर जीवों में केवल एक इन्द्रियाँ होती है। पुदगल का अर्थ है जो जुड़ते रहते है और अलग होते रहते है। आकाश में जीवो की स्थिति होती है। धर्म और अधर्म जीव और पुद्गलों की स्थिति में सहायक होते है। अनस्तिकाय द्रव्य एक है और वह है

काल। जैन दर्शन ज्ञानमीमांसा में स्यादवादी सिद्वान्त को मानता है जिसका प्रयोजन दार्शनिक विभेदो को समाप्त करना है। स्याद्वाद को सप्तभंगीनय भी कहते है। यह ज्ञान के परामर्श का ढंग है। स्यात् द्रव्य है , स्यात् द्रव्य नही है। स्यात् द्रव्य है और नही भी है, स्यात् द्रव्य अवक्तव्य है ,स्यात् द्रव्य है और अवक्तव्य है, स्यात् द्रव्य नही है और अवक्तव्य है ,स्यात् द्रव्य है नही है और अवक्तव्य है। स्यात् सापेक्षता के अर्थ में है यह ज्ञान का आपेक्षिक सिद्धान्त है। इसी के आधार पर अनेकात्वाद की व्याख्या की जाती है। जैन दर्शन ने प्रत्यक्ष अनुमान और शब्द इन तीन प्रमाणो के स्वीकार किया है। जैन दर्शन में बंधन और मोक्ष का विचार करते हुए आस्रव बन्ध संवर,निर्जरा एवं मोक्ष का प्रतिपादन किया गया है। आस्रव का अर्थ है भाव और कर्मपुद्गल का जीव की ओर प्रवाह। बन्ध का अर्थ है भाव और कर्मपुद्गल का जीव को जकड़ लेना। संवर का अर्थ है भाव और कर्मपुद्गलों के प्रवाह को रोकना । निर्जरा का अर्थ है जीव में प्रवेश किये हुए भाव व कर्म पुद्गलों को नष्ट करना। मोक्ष का अर्थ है– सभी भावों व पुद्गलों का नाश होने पर जीव का अनन्त चतुष्टय सम्पन्न हो जाना । जैन सदेह और विदेह दोनो प्रकार की मुक्ति को मानता है। उमास्वामी ने सम्यक दर्शन ज्ञान और चारित्र को मोक्ष का मार्ग माना है। इस दर्शन में अहिंसा के सिद्वान्त का प्रतिपादन हुआ है।

गौतम बुद्व के उपदेशों से बौद्ध दर्शन का प्रारम्भ हुआ । भगवान बुद्ध के उपदेशों का संकलन त्रिपिटकों के रूप में पालि भाषा में किया गया – विनय पिटक ,सुत्त पिटक व अभिधम्म पिटक। विनय पिटक में आचरण के नियमों का संकलन है। जिसका आचरण भिक्षु एवं भिक्षुणियों को करना पड़ता था। इके चार विभाग है– सुत्त विभंग,खन्धक परिवार तथा पात्तिमोख । सुत्त पिटक में बुद्व के धम्म सम्बन्धी उपदेश है। इसमें कुल पाँच निकाय है– दीर्घनिकाय ,मज्झिम निकाय, संयुक्तनिकाय, अंगुत्तरनिकाय तथा खुद्दकनिकाय। अभिधम्म पिटक में बौद्धों के दार्शनिक विचारों का संकलन है। बोधि प्राप्त करने के उपरान्त बुद्ध ने जो उपदेश दिये उसका सारांश धर्म चक्र प्रवर्तन में मिलता है। उन्होने चार आर्य सत्यों का उपदेश किया। वे आर्य सत्य हैं–.1.दुःख 2.दुःख समुदय 3.दुःख निरोध 4.दुख निरोध मार्ग । बुद्व ने संसार को दुखमय माना है। संसार में व्याप्त दुख का कारण अविद्या है। दुःख तथा अविद्या के बीच 12 कारणों की श्रृंखला है ; जिसे द्वादश निदान कहा गया है। सकारण दुख का निरोध निर्वाण की अवस्था है। निर्वाण प्राप्ति के लिये अष्टांगिक मार्ग आर्यमार्ग है। सम्यक् दृष्टि सम्यक् संकल्प सम्यक् वाक् सम्यक् कर्मान्त,सम्यक् आजीव,सम्यक् व्यायाम सम्यक् स्मृति तथा सम्यक् समाधि। इसे ही मध्यमाप्रतिपद कहा गया है। अष्टांग मार्ग शील,समाधि एवं प्रज्ञा में समाहित हैं। शील के अन्तर्गत सम्यक् कर्मान्त,सम्यक् आजीव व सम्यक् व्यायाम माने गये है। समाधि में सम्यक स्मृति और सम्यक समाधि को माना गया है। प्रज्ञा के अन्तर्गत सम्यक् दृष्टि,सम्यक् संकल्प और सम्यक् वाक् माना गया है। शील समाधि एवं प्रज्ञा को त्रिशिक्षा के नाम से भी जाना जाता है। बौद्ध दर्शन के दार्शनिक सिद्धान्तो में प्रतीत्य समुत्पाद,क्षण भंगवाद, नैरात्मवाद, पंचस्कन्ध,कर्मवाद, स्वीकृत हैं।

बौध धर्म में हीनयान और महायान दो सम्प्रदाय बनें। हीनयान से वैभाषिक एवं सौत्रन्तिक प्रस्थान बनें और महायान से विज्ञानवाद और शून्यवाद निकले। वैभाषिक वाह्य प्रत्यक्षवादी है और सौत्रान्तिक बाह्यानुमेयवादी। योगाचार प्रस्थान के प्रमुख आचार्य है असंग वसुबन्धु और शून्यवाद के प्रवर्तक है नागार्जुन।

अभ्यास प्रश्न :

1. भारतीय दर्शन की नास्तिक प्रवृत्ति के अन्तर्गत है–

   क.सांख्य ख.योग ग. जैन घ.वेदान्त

2. भारतीय आस्तिक दर्शन है—
   क. चार्वाक ख.जैन ग. वेदान्त घ. बौद्ध
3. नास्तिक का अर्थ है—
   क. वेद के प्रमाण को मानने वाला ख. वेद के प्रमाण को न मानने वाला
   ग. उपर्युक्त दोनो घ. इनमें से कोई नही
4. 16 पदार्थो को स्वीकार किया है—
   क. न्याय ख.वेदान्त ग.मीमांसा घ. योग
5. जैन दर्शन के चौबीसवें तीर्थंकर है—
   क. ऋषभदेव ख.पार्श्वनाथ ग. महावीर स्वामी घ.गौतम
6. असम्प्रज्ञात योग की अवधारणा किस दर्शन में दी गयी है—
   क.वैशेषिक ख.मीमांसा ग.वेदान्त घ. योग
7. मीमांसा दर्शन के प्रवर्तक है
   क.जैमिनि ख.गौतम ग. व्यास घ.उद्योतकर।
8. तत्त्वचिन्तामणि के लेखक है —
   क. गौतम ख. आचार्य शंकर ग.रामानुज घ. गंगेश उपाध्याय
9. व्रह्मसूत्र पर श्रीराघवकृपाभाष्यम् को लिखा है—
   क. आचार्य शंकर ख. आचार्य बल्लभ
   ग. रामभद्राचार्य घ. इनमें से कोई नही
10. पच्चीस तत्त्वों की संख्या वाला दर्शन है—
    क.मीमांसा ख.सांख्य ग.जैन घ. बौद्ध
11. स्यादवाद सिद्धान्त है—
    क.जैन दर्शन का ख. बौद्ध दर्शन का ग.चार्वाक का घ.मीमांसा का
12. वैशेषिक दर्शन के प्रवर्तक है—
    क.कणाद ख.गौतम ग.गौतमबुद्ध घ. इनमें से कोई नही
13. वेद के कर्मकाण्ड की निन्दा करता है—
    क. चार्वाक दर्शन ख. योग दर्शन
    ग. वेदान्त दर्शन घ. इनमें से कोई नही
14. किसके अनुसार जगत् मिथ्या है—
    क. आचार्य शंकर ख.रामानुजाचार्य ग.रामभद्राचार्य घ.चैतन्य महाप्रभु
15. विशिष्टाद्वैतमत है—
    क. रामानुज का ख. गौतम का ग.जैन का घ. चार्वाक का

3.3 सारांश

इस ईकाई का अध्ययन करने से यह ज्ञात होता है कि वेद को प्रमाण मानने वाले सांख्य योग न्याय वैशेषिक मीमांसा,वेदान्त आस्तिक दार्शनिक प्रवृत्तियाँ है और चार्वाक जैन बौद्ध, नास्तिक दार्शनिक प्रवृत्तियाँ है। नास्तिक दार्शनिक वेद के प्रमाण को नही मानते है। वेदान्त दर्शन में बहुत से अद्वैत आदि सम्प्रदाय विकसित हुए। भारतीय दर्शन मानव जीवन के लिये और विश्व कल्याण के लिये उपयोगी है।

3.4 पारिभाषिक शब्दावली

1. भारतीय

3.5 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1.ग 2.ग 3.ख 4.क 5.ग 6.घ 7.क 8.घ 9.ग 10.ख 11.क
12.क 13.क 14.क 15.क

3.6 बोध प्रश्न

2. भारतीय आस्तिक दार्शनिक प्रवृत्तियों को लिखिए।
3. भारतीय नास्तिक दार्शनिक प्रवृत्तियों का परिचय लिखिए।
4. भारतीय दर्शन के सामान्य प्रवृत्तियों की विवेचना कीजिए।
5. भारतीय दशर्न के प्रमुख सम्प्रदायों का संक्षिप्त परिचय दीजिए।

3.7 सन्दर्भ ग्रन्थ

इस ईकाई के लेखन में निम्नलिखित ग्रन्थो की सहायता ली गयी है

1. भारतीय दर्शन सम्पादक डा0 नन्द किशोर देवराज,प्रकाशक हिन्दी ग्रन्थ अकादमी प्रभाग उत्तर प्रदेश हिन्दी सस्थान लखलऊ संस्करण 1983 ।
2. भारतीय दर्शन आलोचन और अनुशीलन लेखक–चन्द्रधर शर्मा, प्रकाशकः मोतीलाल बनारसी दास पब्लिशर्स प्रा0लि0 दिल्ली, पुर्नमुद्रणः दिल्ली 1991
3. भारतीय दर्शन की रूपरेखा ,लेखक बद्रीनाथ सिंह,प्रकाशकः आशा प्रकाशन, वाराणसी, संस्करण 2003
4. भारतीय दार्शनिक समस्याएँ ,लेखक डा0नन्द किशोर शर्मा,प्रकाशक रास्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी जयपुर पंचम संस्करण 1996।
5. भारतीय दर्शन का सर्वेक्षण, लेखकः संगम लाल पाण्डेय, प्रकाशकः सेन्ट्रल पब्लिशिंग हाउस इलाहाबाद, चतुर्थ संशोधित संस्करण 2002
6. भारतीय दर्शन : लेखक चटर्जी और दत्त, प्रकाशकः पुस्तक भण्डार पब्लिशिंग हाउस गोविन्द मित्र रोड ,पटना, तृतीय संस्करण 1994।
7. सर्व दर्शन संग्रहः ,लेखक माधवाचार्य,अनुवादकः प्रो0उमाशंकर शर्मा ऋषि, प्रकाशक चौखम्भा विद्याभवन वाराणसी, पुर्नमुद्रित संस्करण 2014 ।
8. पातञ्जलयोगदर्शनम् लेखक महर्षि पतञ्जलि सम्पादक – डा0 सुरेश चन्द्र श्रीवास्तव,प्रकाशक चैखम्भा सुरभारती प्रकाशन वाराणसी संस्करण 1993
9. न्यायदर्शनम् लेखक गौतम,सम्पादक श्रीनारायण मिश्र, चौखम्भा संस्कृत संस्थान वाराणसी चतुर्थ संस्करण वि0सं0 2047
10. सिविल सेवा प्रारम्भिक परीक्षा लेखक डा0 रामनाथ शर्मा,प्रकाशकः प्रकाश प्रकाशन विजय नगर मेरठ।
11. स्पन्दकारिका लेखक भट्ट कल्लटाचार्य,अनुवादक एवं व्याख्याकार डा0श्यामाकान्त द्विवेदी,प्रकाशक चौखम्भा सुरभारती प्रकाशन वाराणसी संस्करण 2014
12. श्रीमद्भगवद्गीता(मोटे अक्षर वाली) प्रकाशक गीता प्रेस गोरखपुर।

खण्ड 2
परतत्त्व या एकं सत्

द्वितीय खण्ड का परिचय

एम. ए. हिन्दू अध्ययन कार्यक्रम प्रथम वर्ष के चतुर्थ पाठ्यक्रम के द्वितीय खण्ड में आपका स्वागत है। इस खण्ड का नाम परतत्त्व या एकं सत् है। द्वितीय खण्ड की प्रथम इकाई पुरुष, पुरुषोत्तम की अवधारणा को व्यक्त करती है। वेद में भी पुरुष है। यह पुरुष सामान्य सांसारिक स्त्री पुरुष के भेद वाला नहीं है। पुरुषसूक्त में विराट की अवधारणा से आप सभी परिचित हैं, जिसका वर्णन ऋग्वेद में है। पुराण में भी पुरुष का वर्णन आया है। यह सत्तात्मक वर्णन है। पुरुषोत्तम का वर्णन आचरित संकल्पना पर आधारित है। ऐसा उल्लेख भी संस्कृतसाहित्य में अनेक स्थानों पर मिलता है। सत्ता ही ब्रह्म के रूप में व्यक्त की गई है। यही सब की उत्पत्ति के केंद्रमें है। वेदांतने इसे परिभाषितकिया। आत्मा का वर्णन उपनिषदोंमें भरा है। सभी उपनिषद आत्म का चिंतन अवश्य करते हैं। यही नहीं काव्य जगत में भी आत्मा की चर्चा की गई है । भारतीय संस्कृति के अंतर्गत धार्मिक चिंतन में आत्मा का चिंतन बहुत व्यापक है। ईश्वर शब्द से शिव को समझना चाहिए। किंतु इसके लिए दर्शन में शास्त्रार्थ है। भगवान शब्द से सभी परिचित हैं। भगवान की अवधारणा का वर्णन भी इस खण्ड का विषय है। परमात्मा और परम शिव की संकल्पना का वर्णन भी इस खण्ड की अन्तिम इकाई में प्रस्तुत कियागया है। इस प्रकार द्वितीय खण्ड से इन सभी तथ्यों का अध्ययन करके उनकी व्याख्या करने में सक्षम हो जाएंगे।

इकाई 1 पुरुष, पुरुषोत्तम, आत्मा एवं धर्म

इकाई की रूपरेखा

1.0 उद्देश्य

प्रस्तुत ईकाई को पढ़ने के बाद आप–

1. ब्रह्म, पुरूषोत्तम, आत्मा, ईश्वर शब्द के अर्थ को जान सकेंगे।
2. इन शब्दों के मध्य अर्न्तसम्बन्ध को जान सकेंगे।
3. इन शब्दों के मध्य अर्न्तसम्बन्ध को जान सकेंगे।
4. ब्रह्म, पुरूषोत्तम, ईश्वर तथा आत्मा एक ही सत्ता के अवस्था भेद है, इस तथ्य का विश्लेषण कर सकेंगे।

1.1 प्रस्तावना

वेद को सम्पूर्ण मानव जाति के इतिहास की सबसे पुरानी रचना होने का गौरव प्राप्त है। वेद सम्पूर्ण भारतीय साहित्य, दर्शन, कला, संगीत तथा सभी प्रकार के ज्ञान–विज्ञान का सर्वाधिक प्रामाणिक एवं निर्विवादित स्रोत है। यहाँ सुविदित है कि मनुष्य का विचारशील मस्तिष्क अपने जीवन की आन्तरिक अनुभूतियों एवं बाह्य जगत् को समझने के लिए गहरी आकांक्षा रखता है। मैं कौन हूँ? मेरे अनुभव में आने वाला समस्त दृश्यमान जगत् क्या है? इसमें और मुझमें क्या सम्बन्ध है? मेरा और इस जगत् का प्रयोजन क्या है? इत्यादि विचारों के बादल सहज ही घेर लेते हैं। ये सभी प्रश्न दार्शनिक एवं बौद्धिक दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।

इस प्रश्नों के उदय होने का कारण है अखिल विश्व के मूल कारण तथा स्वयं अपने स्वरूप को जानने की जिज्ञासा। क्योंकि स्वयं 'अपने आप' के बाद ही अखिल या सार्वभौम की धारणा की सम्भावना है। ऋग्वेद (10/129/6) के उद्गारों में तत्त्वचिन्तन की प्रथम स्पष्ट अभिव्यक्ति प्राप्त होती है जो मूल जिज्ञासा से सम्बन्धित है। इसके अनुसार, ''प्रकृत तत्त्व को कौन जानता है? कौन उसका वर्णन करें? किस उपादान और निमित्त कारण से ये विविध सृष्टियाँ हुई? कहाँ से सृष्टि हुई, यह कौन जानता है?''

इस जिज्ञासा ने इसी समय दो चिन्तनधाराओं को जन्म दिया। जिनमें से एक का लक्ष्य था खुद से बाहर प्रतीत हो रहे बाहरी विश्व का मूल स्रोत खोजना तथा दूसरे का लक्ष्य था खुद के वास्तविक स्वरूप को खोजना। प्रथम चिन्तनधारा में बाहरी जगत् के मूल स्थान पर विभिन्न देवताओं की अवधारणाएँ विकसित हुई। जबकि द्वितीय चिन्तनधारा ने कभी प्राण, कभी मन आदि में अपने अस्तित्त्व को ढूँढ़ने का प्रयास किया किन्तु उचित समाधान प्राप्त नहीं हुआ। फिर इसी स्थिति के विचारकों ने व्यक्ति एवं जगत् के मध्य अनुरूपता को ढूँढ़ने चाहा।

1.2 विषय का सामान्य परिचय

यदि हम प्राचीन सृष्टि के आख्यानों अथवा कथाओं का अध्ययन करें तो यह ज्ञात होता है कि प्रजापति ने जल में कमल पर बैठकर विश्व को उत्पन्न किया था। इसका अर्थ यह हुआ कि प्रजापति विश्व के निर्माता थे। वस्तुतः इस विचार का कारण यह था कि उस समय लोकनायकों अथवा नेताओं को प्रजापति कहा जाता था और वे ही सामाजिक संस्थाओं के सच्चे सूत्रकार थे। सभी प्रकार के सामाजिक व्यवहार जैसे परिवार, अर्थव्यवस्था और युद्ध आदि इन्हीं लोकनायकों के नेतृत्व में सम्पन्न होते थे। अतः वैदिक कालीन मानवों ने अपने आस–पास के घटनाओं एवं क्रिया–कलापों को देखकर एक ऐसी दृढ़ भावना उत्पन्न हुई कि इस विशाल विश्व के कर्त्ता–धर्त्ता भी एक ऐसे ही प्रजापति होगें।

परन्तु बाद में विचार–पद्धति में सुधार एवं प्रगति के कारण उस काल के मानवों को इसका एक अलग अर्थ करने का प्रयत्न किया। जिसका एक अच्छा उदाहरण तैत्तिरीय संहिता (15/6/4/2) में प्राप्त होता है। इस उदाहरण के अनुसार, ''प्रारम्भ में सर्वत्र जल ही जल था। प्रजापति वायुरूप धारण कर कमलपत्र पर क्रीड़ा कर रहे थे।''

भारतीय समाज के चार वर्ण अर्थात् समाज की उत्पत्ति के सम्बन्ध में वैदिक ऋषियों की यह धारणा थी कि प्रजापति के मुख से ब्राह्मण, बाहु से क्षत्रिय, जंधाओं से वैश्य तथा पैरों से शूद्र उत्पन्न हुए। जैमिनि ब्राह्मण (1/6/8) में इस कथा के अर्थ को रूपक के तौर पर वर्णित किया गया है– 'प्रजापति प्रारम्भ में विद्यमान थे, प्रजापति (देवता) का अर्थ है जनता'। इस अर्थ से स्पष्ट है कि मुख, बाहु आदि को भी एक रूपक ही मानना चाहिए।

यहाँ यह बात ध्यान देने योग्य है कि प्राचीन ग्रंथों जैसे जैमिनि ब्राह्मण, तैत्तिरीय संहिता आदि ग्रंथों में 'प्रजापति' शब्द के अनेक अर्थ किए गये हैं, जैसे– सूर्य, चन्द्र, यज्ञ, वाणी, मन प्राण, अन्न, आत्मा आदि। केवल इतना ही नहीं अपितु समूचे विश्व को भी प्रजापति की संज्ञा दी गई हैं।

भारतीय मेधा (बुद्धि) के विकास–क्रम के फलस्वरूप परमतत्त्व से सम्बन्धित प्रजापति की उक्त अवधारणा पुरुष अथवा विराट् पुरुष के अर्थ में परिवर्तित हो गयी। अब व्यक्ति अथवा मानव को माध्यम बनाकर जगत् के मूलभूत कारण को समझने का प्रयास होने लगा। यदि सरल शब्दों में कहा जाए तो परम् तत्त्व पहले प्रजापति के नाम से जाना गया, हिरण्यगर्भ भी वही है और पुरुष अथवा विराट् पुरुष भी वही है। जैसे–जैसे बुद्धि का विकास होता गया वैसे–वैसे परम तत्त्व का नाम या संज्ञा भी बदलता गया परन्तु उाके स्वरूप, लक्षण, प्रकृति तथा कार्य आदि में कोई परिवर्तन नहीं हुआ।

व्यक्ति के माध्यम से जगत् के मूल को समझने का प्रयास ऋग्वेद के पुरुषसूक्त (10/90/11–14) में स्पष्ट रूप से हुआ है। जहाँ जगत् के भागों को किसी एक मूल पुरुष का अंग बताया गया है। वेदों में वर्णित यह विराट् पुरुष केवल मानव समाज में ही व्याप्त नहीं अपितु जीव–जन्तु, जड़–चेतना के भी विस्तार में है और यह पुरुष सब में किसी चेतना सत्ता को जोड़ने वाला कहा गया है। ब्रह्माण्ड के प्रत्येक कण से लेकर चन्द्रमा, पृथ्वी जैसे विशाल भूत–तत्त्वों को उस विराट् पुरुष का कोई न कोइ अंग माना गया है– **अग्निर्मूर्धा चक्षुषी चन्द्रसूर्यौ दिशः श्रोत्रे वाग्विवृताश्च वेदाः।** (मुण्डपकोपनिषद्, 2/1/4)

विराट् पुरुष की व्यापकता और समग्रता का वर्णन करते हुए ऋग्वेद का दसवाँ मण्डल कहता है कि वह (पुरुष) जड़–चेतन के समूचे विस्तार को व्याप्त करते हुए उससे परे भी दस अंगुल निकल जाता है। जितने भी सिर और पैर से सब उसी के है– **सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्त्राक्षः सहस्रणत्। सभूमिं सर्वत स्पृत्वात्यतिष्ठद्दशांगुलम्।।** (ऋग्वेद, पुरुषसूक्त,1)। इतना ही नहीं पुरुष तत्त्व सर्वव्यापी है, जो भूत, भविष्य और वर्तमान तीनों कालों में सदैव व्याप्त रहता है– '**पुरुष एवेदं सर्वं यद्भूतं यच्च भाव्यम्।**' (पुरुषसूक्त, 2) अर्थात् जो कुछ है, जो हुआ अथवा होगा वह यह एक पुरुष ही है।

वास्तव में आरम्भ में कल्पना यह थी कि शरीर में विद्यमान जीवात्मा एक मनुष्य है, यानी उसका आकार मनुष्य जैसा है। परन्तु मानवीय मस्तिष्क के विकास की अवस्था में धीरे–धीरे यह धारणा विकसित हुई कि आत्मा एक शक्ति है, वह मनुष्य के आकार से युक्त अर्थात् इतनी स्थूल (स्थान घेरने वाला) नहीं हो सकती। तब मनुष्य के अर्थ में जीवात्मा का ज्ञान कराने वाले 'पुरुष' शब्द के अर्थ में व्युत्पत्ति के आधार पर परिवर्तन होना शुरू हुआ। 'पुरुष' शब्द का मूल अर्थ है मनुष्य के शरीर के हृदय या नेत्रों जैसे अवयव (अंग) में स्थिर होकर विचार करने वाली जीवात्मा निश्चय ही सूक्ष्म है। इसलिए वैदिक मुनियों ने सोचा कि इस जीवात्मा के लिए 'पुरुष' शब्द का उपयोग दूसरे अर्थ में करना चाहिए।

अथर्ववेद में 'पुरुष' शब्द की जो व्युत्पत्ति दी गई है वह है– 'पुरि+शय' अर्थात् घर में रहने वाला। शरीर विश्व के शक्तियों का पुर अर्थात् घर है। 'पुरुष' शब्द की व्युत्पत्ति उक्त अलंकारिक अर्थ को स्वीकार कर बतलाई गई है। अर्थववेद (10/2/28–33) में वर्णित है कि ''पुरुष सभी दिशाओं में व्याप्त है। वह ब्रह्म है। उस ब्रह्म के पुर को (धर को) समझना चाहिए इसीलिए उसे 'पुरुष' कहा जाता है।''

यहाँ पर यह बात ध्यान देने योग्य है कि वैदिक कल्पनाओं में तत्त्व की दृष्टि से बड़ी महत्त्वपूर्ण कल्पनाएँ सिर्फ तीन है– पुरुष, ब्रह्म तथा आत्मा। यहाँ 'पुरुष' शब्द का अर्थ

परमेश्वर से है। विश्व का अन्तिम सत्य पुरुष रूप है। अतः ऋग्वेद के पुरुषसूक्त में उसका निर्देश केवल 'पुरुष' संज्ञा से किया गया है। छान्दोग्य उपनिषद् में इसी को उत्तम 'पुरुष' कहा गया है। ईश्वर, पुरुषोत्तम अथवा परम पुरुष है यह कल्पना वास्तव में संसार के सभी धर्मों की आधारशिला है। क्योंकि प्रार्थना, पूजा, समर्पण सब धर्मों का स्वरूप है। जो सर्वज्ञ, कृपावाला है उसकी प्रार्थना, पूजा, आराधना करना उदित ही है अन्तिम कल्याण या निःश्रेयस की और संसार में यश की प्राप्ति के लिए एक साधन के रूप में मानव धर्म का उपयोग करता आया है। इसलिए यह श्रद्धा रखना जरूरी है कि ईश्वर पुरुष है, मनुष्य है। ईश्वर वह मानव है जो सब मनुष्यों में सर्वोपरि है। यह श्रद्धा विश्व के सभी धर्मों की जड़ है।

कहने का तात्पर्य है कि विराट् पुरुष ही विश्व–चैतन्य है अथवा विश्व का प्राण है। यह पुरुष हमारे शरीर से भिन्न है। इसलिए बड़े विचार के बाद हमारे मनीषियों ने 'पुरुष' का अर्थ किया था– 'पुर (घर) निवासी तत्त्व'। दूसरे शब्दों में कहा जाए तो विश्व ही 'पुरुष' है।

प्रकृति की महान् शक्तियों को 'पुरुष' का रूप प्रदान कर उसकी आराधना के साथ–साथ प्राकृतिक शक्तियों का नियंत्रण करने वाले देवता को भी 'पुरुष' रूप मानकर की गई प्रार्थना ऋग्वेद में प्राप्त होती है।

सोम, अग्नि, सूर्य, सविता, पूषव्, पृथ्वी, जल, वायु, द्युलोक आदि प्राकृतिक शक्तियाँ है। इन्द्र, वरूण, प्रजापति, विश्वकर्मा, अदिति प्राकृतिक शक्तियों के नियामक देवता है। किन्तु इन्हें किसी एक विशेष शक्ति से एक रूप नहीं माना जा सकता।

इन दोनों प्रकार के देवताओं से सम्बन्धित भावों का समावेश करने वाली कल्पना का ऋग्वेद में वर्णन हुआ है और वही 'पुरुष' की कल्पना है। अथर्ववेद के दसवें काण्ड के दूसरे सूक्त में मनुष्य–रचना के सम्बन्ध में आश्चर्य के साथ जिज्ञासा प्रकट होती है।

अति प्राचीन काल में मानव को मनुष्य की रचना के सम्बन्ध में पहली जिज्ञासा कैसे उत्पन्न हुई इस बात का यह सूत्र एक उत्कृष्ट उदाहरण है। अर्थववेद के दसवें काण्ड के द्वितीय सूक्त में प्रश्न किया गया है कि जागृति तथा निद्रा को, सुख और दुःख को, सुबुद्धि और दुर्बद्धि, सत्य तथा असत्य को किसने निर्माण किया? इसके साथ–साथ एक अन्य अन्य प्रश्न भी है– भूमि, द्युलोक, अग्नि की व्यवस्था किसने की?

दोनों प्रश्नों के उत्तर में कहा गया है कि मानव तथा विश्व की रचना 'पुरुष' रूप ब्रह्म ने की है। जैसे गौशाला में गायें निवास करती हैं। उसी तरह मानव शरीर में ब्रह्मा के साथ सारे देवता निवास करते हैं। मनुष्य के शरीर में विश्व शक्तियों का वह मेल हुआ है जो उसके कार्यों के लिए उपयोगी है। इसे देखकर विश्व में इसी तरह के मेल की कल्पना का उदय हुआ और इसी ने विराट पुरुष की कल्पना को जन्म दिया। इसके अतिरिक्त प्राकृतिक शक्तियों में जो क्रमव्यवस्था, नियमबद्धता और तार्किक दिखाई दी उसका समाधान विराट् पुरुष की कल्पना से हुआ है।

सच बात तो यह है कि ऋग्वेद इस विश्व के एक अद्वितीय शक्तिशाली तत्त्व अथवा एक नियन्ता से परिचित है तथा वह विभिन्न देवताओं को उसी की विभिन्न शक्तियों का प्रतिनिधि बतलाता है। अनेकता के बीच एकता की भावना, भिन्नता के बीच अभिन्नता की कल्पना दार्शनिक जगत् में सर्वथा मौलिक तत्त्व है।

वैदिक साहित्य के अध्ययन से यह बात उभरकर आती है कि इस देवता की विभिन्न संज्ञायें अथवा नाम है। वही प्रजापति है, वही हिरण्यगर्भ है, और वही विराट् पुरुष अथवा पुरुष है।

वेदों में परम पुरुष के अग्नि रूप का विचार भी प्राप्त होता है यहाँ आदि पुरुष को अग्निरूप या सूर्यरूप माना गया है तथा उसे हिरण्यगर्भ की उपाधि दी गई है। ऋग्वेद के दशम मण्डल का 121वाँ सूक्त (जिसे हिरण्यगर्भसूक्त कहा जाता है) गहरे आध्यात्मिक भावों को समेटे हुए है। उत्कृष्ट दार्शनिक विचारों के कारण यह सूक्त अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इसके अनुसार, 'यह हिरण्यगर्भ सबसे पहले उत्पन्न हुए, जो संसार के सभी प्राणियों के अधिष्ठाता है, वे पृथ्वी, अन्तरिक्ष तथा आकाश को धारण करने वाले है। यज्ञादि में उन्हीं के प्रसादनार्थ हम लोग हविष्य का होम किया करते हैं।'' इस प्रजापति का स्वरूप आनन्दमय भी है और अनिर्वचनीय भी हैं। इन्हें ऋग्वेद में 'कः' शब्द की संज्ञा दी गई है। ये प्रजापति समस्त प्राणियों की आत्मा को बल प्रदान करते हैं। यहाँ यह बात महत्त्वपूर्ण है कि ब्राह्मण ग्रन्थों में प्रजापति ही सर्वश्रेष्ठ देवता बताए गये हैं।

इस प्रकार हम देखते है कि संहिता कालीन तत्त्व चिन्तन की अभिव्यक्तियों में मनुष्य की आत्मा को विश्व का परमतत्त्व मानने की प्रवृत्ति बढ़ती जाती है जो फिर ब्राह्मण एवं आरण्यक ग्रन्थों में मनुष्य एवं विश्व के एक ही मूलभूत परमतत्त्व आत्मा के नाम से अभिव्यक्त होता है जिसका ज्ञान मनुष्य को पवित्र बना देता है। तैत्तिरीय आरण्यक (1/13/1) में कहा गया है कि 'अहं वेद न मे मृत्युः' अर्थात् जो कभी विनष्ट नहीं होता। तैत्तिरीय ब्राह्मण (1/2/1/20) के अनुसार 'अहं त्वदस्मि मदसि त्वदेतत्' अर्थात् जिससे रहित कुछ नहीं है पर चाहने पर अनेक भी हो सकता है, हो जाता है। (अहमेवेदं सर्वं भूयासम्– शतपथ ब्राह्मण (14/9/3/13)।

संहिता काल की परम तत्त्व सम्बन्धी जिज्ञासा उपनिषद् काल में भी स्पष्टतः दिखायी पड़ती है किन्तु यहाँ परम तत्त्व सम्बन्धी जिज्ञासा का सरलीकरण नहीं हुआ था, यह अभी भी अपने कठिन स्वरूप में बनी हुई थी परन्तु कठिन होने के कारण ऐसा नहीं हुआ कि उस पर वैदिक ऋषियों ने विचार नहीं किया है। इस काल तक आते–आते भारतीय संस्कृति में यज्ञ भावना सुदृढ़ हो चुकी थी। अब परम तत्त्व सम्बन्धी जिज्ञासा जीवन का मूल प्रश्न बन जाती है क्योंकि तब तक वैदिक ऋषियों के मन में यह मान्यता दृढ़ रूप ले चुकी थी कि इस शरीर में रहते हुए ही उस परम तत्त्व को जाना जा सकता है। अतः उपनिषत्काल में चिन्तकों की सम्पूर्ण शक्ति मानो इसी एक विषय आत्म–तत्त्व पर केन्द्रित हो जाती है।

अनन्त से एक ही ओर बढ़ने की प्रवृत्ति और अभिलषित एक तक पहुँचने का सुन्दर निदर्शन बृहदारण्यकोपनिषद् (3/9/1–9) में शाकल्य व याज्ञवल्क्य के संवाद में मिलता है, जहाँ देवताओं की संख्या तीन हजार तीन से क्रमशः घटाकर एक तक लायी गई है। वह एक देवता है प्राण अर्थात् ब्रह्म। पुनः शतपथब्राह्मण के अनुसार देवताओं की संख्या तैंतीस मानी गयी है। यहाँ ध्यान देने योग्य बात यह है कि मानवीय बुद्धि का जैसे–जैसे विकास होता गया वैसे–वैसे तत्त्व–चिन्तन की प्रक्रिया तार्किक रूप से मजबूत होती गयी। यही कारण है कि वैदिक सर्वेश्वरवाद का सिद्धान्त धीरे–धीरे एकेश्वरवाद या एकत्ववाद या अध्यात्मवाद में बदल गया। प्रारम्भिक वैदिक चिन्तन के मूलतत्त्व प्रजापति, हिरण्यगर्भ, विराट्पुरुष, परमपुरुष अथवा पुरुष (एक

देवता के विभिन्न नाम) को अब आत्म–तत्त्व, आत्मा अथवा ब्रह्म के रूप में जाने जाना लगा।

1.3 आत्मा

हमारे वैदिक ऋषियों ने आत्मा या आत्म–तत्त्व के स्वरूप का विवेचन उपनिषदों में बड़ी छान–बीन तथा सजगता के साथ किया है। पुरुष की अपेक्षा आत्मा की कल्पना दार्शनिक और बौद्धिक दृष्टि से अधिक महत्त्वपूर्ण है।

विश्व परम् पुरुष का रूप है। इसी विचार से उसे आत्मा मानने वाली अवधारणा का जन्म होता है। चूँकि मानव (पुरुष) अपना उल्लेख 'अहम्' से करता है। 'आत्मा' से मनुष्य अपनी जीवनशक्ति का निर्देश करता है। ऋग्वेद में 'आत्मा' का यह अर्थ बहुत प्रसिद्ध है। 'आत्मा' वही जीवन–प्राण तथा चैतन्य का रूप है जिसमें जागृति, स्वप्न और सुषुप्ति की अथवा जन्म–मरण की अवस्थाएँ पिरोयी गयी है। हमें यह मालूम है कि विश्व उत्पत्ति, स्थिति तथा लय की अवस्थाओं से गुजरता है। इन सब अवस्थाओं को व्याप्त करने वाली जीवन–शक्ति के अर्थ में 'आत्मा' शब्द उपनिषदों द्वारा परम् पुरुष के लिए प्रयुक्त हुआ है।

विश्व–शक्ति को देवता मानकर उसकी भक्ति तथा उसके लिए यज्ञ करने वाला मानव देवता के साथ अभेद–सम्बन्ध की स्थापना अथवा अन्वेषण के लिए व्याकुल है। इसकी अभिव्यक्ति उपनिषदों के पहले के वैदिक साहित्य में कई जगह हुई है। 'मैं ही विश्व–शक्ति देवता हूँ', इसी से 'विश्व–शक्ति आत्मा है' जैसे विचार निकले।

ऋग्वेद (10/90/2) के 'पुरुष ही सब विश्व है' विचार के दृढ़ हो जाने के बाद तत्त्व–चिन्तकों ने यह निष्कर्ष निकाला कि विश्व और पुरुष एक ही है और दोनों की एकता का निर्देश 'आत्मा' शब्द से किया जाए। इसके बाद वैदिक तत्त्व–चिन्तक इस निर्णय पर पहुँचे कि विश्व–शक्ति की दृष्टि से मानव उसी विश्व–शक्ति का एक रूप है और मानव की दृष्टि से विश्व–शक्ति उसी का (मानव का) मूल रूप है। इस निर्णय के कारण उपनिषदों की प्रगति 'आत्मा ही विश्व का सत्य है' के महान् सिद्धान्त तक हो पायी।

उपनिषदों में पुरुष शब्द के अर्थ को बदलने का यही कारण है। पुरुष शब्द की अपेक्षा आत्मा शब्द अधिक निर्दोष अथवा उचित है क्योंकि मृत्यु के उपरान्त तथा जन्म के पूर्व भी उसके अस्तित्त्व को ऋग्वेद काल में ही मान्यता मिल गई थी।

ऋग्वेद में अस्यवामीय सूक्त (1/164) में कहा गया है कि अमर्त्य (न मरने वाला) मर्त्य शरीर से जुड़ा होता है। ऋग्वेद में कई स्थानों पर असु, प्राण तथा आत्मा तीनों शब्द एक ही अर्थ में प्रयुक्त हुए है। वेद में आत्मा शब्द प्रधान रूप से दो अर्थों में प्रयुक्त हुआ है– 1. देह या शरीर की जीवन शक्ति। 2. समूचा व्यक्ति। समूचे शरीर में शरीर, इन्द्रिय, अंग, मन तथा वाणी सम्मिलित है। यह व्यक्तित्व 'अहम्' के नाम से जाना जाता है। आत्मा शब्द वैदिक भाषा में सामान्य रूप से अहम् के वाचक के रूप में प्रयोग होता है। वैदिक मनीषियों की यह कल्पना थी कि वायु और प्राण एक है। यह कल्पना बाद में भी कायम रही।

ऋग्वेद में आत्मा के नाम से वायु का निर्देश बहुत बार हुआ है। वहाँ कहा गया है कि

मृत का चक्षु (आँख) सूर्य में तथा आत्मा वायु में विलीन होती है। परन्तु तत्त्व की दृष्टि से 'आत्मा' का अर्थ ऋग्वेद में 'जीनवशक्ति' था।

ऋग्वेद में 'आत्मन्' या 'त्वन्' शब्द 'स्वयम्' या 'खुद' जैसे निजी वाचक सर्वनाम के अर्थ में बार–बार आया है। यह आत्मा का तीसरा अर्थ है इसका उदाहरण है– ''द्युलोक तथा पृथ्वी समूचे विश्व के स्वयं (आत्मन्) ही धारण करते हैं''। आत्मा के इन तीन अर्थों के अलावा इस शब्द का उपयोग यजुर्वेद तथा ब्राह्मण ग्रन्थों में शरीर के मध्य भाग (छाती) के अर्थ में कई बार किया गया है। आत्मा शब्द का तात्विक प्रयोग अथर्ववेद के ब्रह्मसूक्त (10/9/44) में केवल एक बार हुआ है– '' वह अकाम, धीर, अमृत, स्वयभू और रस से तृप्त है। उसमें किसी प्रकार की न्यूता नहीं है। उसी धीर, अजर तथा युवा आत्मा के ज्ञाता मृत्यु से नहीं डरते''।

देखने वाली बात यह है कि आत्मा शब्द से बड़े पैमाने पर विश्व सत्य की ओर संकेत करने वाली पद्धति का प्रारम्भ उपनिषदों में ही हुआ है। आत्मा की कल्पना मनुष्य की बुद्धि और विचारों की उन्नत अवस्था का परिचायक है।

इसके अतिरिक्त यहाँ यह प्रश्न अवश्य उठता है कि आत्मा की सत्ता इसी जीवन काल तक विद्यमान रहती है या जीवन की समाप्ति के बाद भी बनी रहती है। कठोपनिषद् में इसी समस्या को यम–नचिकेता संवाद में बड़े सुन्दर तरीके से समझाया गया है। जहाँ नचिकेता ने यमराज से मृत्यु का रहस्य पूछा था। मृत्यु सब रहस्यों का रहस्य है इसका विवेचन यमराज ने स्वयं किया था। आत्मा नित्य वस्तु है, वह कभी न मरता है न कभी अवस्था आदि दोष को प्राप्त होता है वह हमारी समस्त इन्द्रियों से, मन से, बुद्धि से तथा हमारी सत्ता के कारणभूत प्राणों से अलग है। रथ और रथी के रूपक के माध्यम से आत्मतत्त्व का वर्णन किया गया है– ''यह शरीर रथ है, बुद्धि सारथी है, मन लगाम है, इंद्रियाँ घोड़े हैं, जो विषयरूपी मार्ग पर चला करते हैं और आत्मा रथ का स्वामी है।'' (कठोपनिषद् 1/3/3–4)। कठोपनिषद् में आत्मा को रथी बतलाकर यम ने आत्मा की श्रेष्ठता सिद्ध की है। रथ के स्वामी के उपभोग के लिए ही रथ आदि की महत्ता है। उसी प्रकार आत्मा के लिए शरीर आदि विषयों का व्यापार होता है।

आत्मा की चार अवस्थाएँ : माण्डूक्य उपनिषद् में भी आत्मा का वर्णन प्राप्त होता है यहाँ आत्मा की चार अवस्थाएँ बतलाई गई है। 1. जागृत, 2. स्वप्न, 3. सुषुप्ति तथा 4. तुरीय। आत्मा की शुद्ध अवस्था 'तुरीय' कहलाती है। जाग्रत अवस्था में आत्मा बाहरी वस्तुओं का अनुभव करता है, स्वप्न अवस्था में यह आभ्यन्तर मानस जगत का अनुभव करता है, सुषुप्ति अवस्था (घोर निद्रा अवस्था) में वह अपने केवल आनन्द–स्वरूपता का अनुभव करता है। ये तीनों अवस्थाएँ आत्मा की अपर अवस्था को बताती है और इनमें आत्मा को क्रमशः विश्व, तैजस तथा प्राज्ञ कहते हैं। इन तीनों अवस्थाओं में आत्मा के कुछ अंश का ही परिचय प्राप्त होता है। पर हम जानते हैं कि आत्मा तो पूर्ण है इसलिए पूर्ण आत्मा में ऊपर बतलाए गये सभी गुणों का अभाव रहता है। 'उस समय ना तो बाहरी चेतना रहती है न अन्तश्चेतना और न दोनों का समिश्रण प्रज्ञा और अप्रज्ञा भी नहीं रहती। अदृष्ट, अग्राह्य, अव्यवहार्य, अलक्षण, अचिन्तनीय, अत्यपदेश्य (नाम रहित), केवल आत्म–प्रत्ययसार (एक ही आत्मा की सत्ता का भान होता है), यही आत्मा है इसे ही जानना चाहिए। यही आत्मा की चौथी अवस्था तुरीय है। वह पहले बतलाई गई जागृत, स्वप्न, सुषुप्ति इन तीन अवस्थाओं से बिल्कुल

अलग है। ओंकार इसी आत्मा को बतलाने वाला अक्षर है।

उपनिषदों के आत्मा सम्बन्धी विचारों का सारांश निम्नलिखित प्रकार से कहा जा सकता है–

1. सब शक्तियों के मूल में एक ही अक्षर तत्त्व है, विश्व उससे भिन्न नहीं है। विश्व इसी में विलीन होता है। नाम, रूप (आकार) तथा कर्म यही विश्व का स्वरूप है। इनकी एकता ही वास्तव में आत्मा है।
2. आत्मा वह है, जिससे सब कर्मों का उत्थान होता है। आत्मा ही सबको प्रेरित करने वाली शक्ति है। मानव के मन तथा इन्द्रियों को वही प्रेरणा देता है।
3. विश्व में एक सुसंगति दिखाई देती है। उसमें सब वस्तुएँ एक–दूसरे पर निर्भर रहती हैं। इसका कारण सबको नियंत्रित करने वाली शक्ति की एकता में ही मिल सकता है।
4. सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र, पृथ्वी, जल, वायु, मनुष्य, पशु–पक्षी, वनस्पति आदि समस्त चेतन–अचेतन वस्तुओं में, उसी एक अन्तर्यामी का निवास है जो सभी को नियंत्रित करता है।
5. भोक्ता तथा भोग्य का भेद स्वयं निर्मित है।
6. जन्म देने की शक्ति मिथुनात्मक है। आत्मा का जनन करने वाला स्वरूप मिथुन रूप ही है।
7. विश्वात्मा ही मनुष्य के रूप से विकसित हुआ है। मनुष्य ही धर्म तथा नैतिक कर्त्तव्यों का केन्द्र है। सभी कर्त्तव्य उसके लिए ही निर्मित हुए है।
8. ज्ञानेन्द्रियाँ, कर्मेन्द्रियाँ, प्राण, मन तथा समूचा शरीर उसी आत्मा पर निर्भर हैं। जागृति, स्वप्न और सुषुप्ति तीनों अवस्थाओं के रूप वही धारण करता है।
9. यह आत्मा अपनी तीनों अवस्थाओं (जागृति, स्वप्न और सुषुप्ति) से और सभी कर्मों से अलिप्त एवं असंग है। वह अज, अजर और अमर है। वह विश्व से परे है। सम्पूर्णता ही उसका लक्षण है।
10. आत्मा द्वैत से रहित, स्वयं प्रकाश, स्वयं सिद्ध द्रष्टा है। यही स्वरूप मोक्ष का सहायक है। आत्मा का स्वभाव पूर्णता है।

इस प्रकार अब हम जान चुके हैं कि परम तत्त्व के विषय मूल जिज्ञासा के उत्पन्न तत्त्व के दो नाम प्राप्त होते हैं जिन्हें 'आत्मा' अथवा 'आत्म–तत्त्व' या 'आत्मन्' तथा 'ब्रह्म' के नाम से जाना गया। इनमें से पहला शब्द आरम्भ में 'शरीर', 'असु', 'श्वास' या 'प्राण' के पर्यायवाची शब्द के रूप में प्रयोग होता था। कुछ समय बाद यह आत्मा के रूप में परिवर्तित हो गया फिर यह ब्रह्म के रूप में जाना जाने लगा।

1.4 ब्रह्म

आत्मा की अवधारणा की तरह ब्रह्म की अवधारणा बौद्धिक एवं दार्शनिक दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। आत्मा की अवधारणा विराट् पुरुष की अवधारणा से उत्पन्न तथा विकसित हुई परन्तु ब्रह्म की अवधारणा का विकास महत्त्वपूर्ण घटना थी। ऋग्वेद में 'ब्रह्म' पद का मूल अर्थ है देवता की महिमा का वर्णन करने वाला काव्य। इस काव्य

को ही ऋचा, स्तोत्र या सूक्त कहा जाता है। ऋग्वेद की ऋचाओं, स्तोत्रों या मन्त्रों में देवों की महिमा, उनके पराक्रम या उनकी भक्ति करने वाली प्रार्थनाएँ पायी जाती है। इसलिए यह ऋग्वेद में स्तोत्र या स्तुति के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। अथर्ववेद (10/2/32) में 'ब्रह्म' शब्द यज्ञ के रूप प्रयुक्त हुआ है।

यह 'ब्रह्म' शब्द 'बृह्' धातु से बनता है जिसका अर्थ 'बढ़ना', 'बड़ा होना', 'वर्धमान होना' या 'विस्तृत होना' है। बाद में यह शब्द विश्व की चेतना–शक्ति या अन्तिम सत्य के रूप में बदल गया। शंकराचार्य 'ब्रह्म' शब्द व्युत्पत्ति 'बृहति' (अधिकता या श्रेष्ठता) से मानते हैं और उसका अर्थ शाश्वत एवं विशुद्ध करते हैं।

उपनिषदों में वर्णित ब्रह्म–विचार का प्रथम उल्लेख अथर्ववेद में दिखाई देता है। ऋग्वेद (9/96/6) में श्रेष्ठ देवताओं का निर्देश करने के लिए 'ब्रह्मा' की संज्ञा प्रयोग किया गया है। ये ब्रह्मा ही देवों के पिता, प्रजापति हैं। यजुर्वेद तथा ब्राह्मण ग्रन्थों में अनेक बार कहा गया है कि प्रजापति से ही सृष्टि की उत्पत्ति हुई है और प्रजापति स्वयं ही सृष्टि के रूप में परिणत हुए।

यहाँ ध्यान देने योग्य है कि प्रजापति का वाचक ब्रह्म पुल्लिंग में प्रयुक्त हुआ है। संस्कृत में जब ब्रह्म नपुंसकलिंग में प्रयुक्त होता है तब वह अन्तिम सत्य की ओर निर्देश करता है। अथर्ववेद में नपुंसकलिंग में प्रयुक्त ब्रह्म शब्द से ही निर्देश हुआ है।

अथर्ववेद के ब्रह्मचारिसूक्त (11/7/24) में कहा गया है कि 'ब्रह्मचारी तेजस्वी ब्रह्म को धारण करता है। इस ब्रह्म में ही सब देवों का समावेश है'। इस सूक्त में ब्रह्मचारी के रूप में सूर्य के रूपक की कल्पना की गई है। इसमें आगे कहा गया है कि ब्रह्मचारी तप से संसार की रक्षा करता ह, उसका जन्म भी ब्रह्म से हुआ है। वेदरूप ब्रह्म ही विश्व का सृजन करने वाली शक्ति है।

इसी वेदरूप शक्ति को विश्व का कारण मानने की अवधारणा के बाद नपुंसकलिंग में प्रयुक्त ब्रह्म को विश्व का कारण माना जाने लगा। अथर्ववेद (4/1/1) में ब्रह्म को 'प्रथमज' यानि 'सबसे पहले निर्मित' कहा गया है– '' प्रथम ही निर्माण होने वाला ब्रह्म ही सुन्दर रूपों को धारण करता है, अन्तरिक्ष के विविध दृश्यों को उत्पन्न करता है''।

उपनिषदों में ब्रह्म सम्बन्धी विचारों (ब्रह्म ही अन्तिम सत्य, परमसत्य या परमतत्त्व है) का बीजारोपण सबसे पहले अथर्ववेद में ही हुआ था। इस आधार पर यह कहा जा सकता है कि उपनिषद् इस सम्बन्ध में अथर्ववेद के ऋणी है।

उपनिषदों में प्रतिपादित परमसत्य या परमतत्त्व को ब्रह्म कहा गया है। इसके अनुसार ब्रह्म सत्, चित् और आनन्द रूप है। वही सबकी आत्मा है और उसी से जगत् की रचना होती है। तैत्तिरीयोपनिषद् के अनुसार तप एवं ब्रह्मचर्य का सम्बन्ध ब्रह्मचर्य व्रत में रहता है अतः तप ही ब्रह्म है।

तैत्तिरीयोपनिषद् (3/1) के अनुसार भृगु अपने पिता वरुण से प्रश्न करते हैं कि मुझे ब्रह्म ज्ञान कराइये। वरुण ब्रह्म का उपदेश देते हैं कि '**यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते। येन जातानि जीवन्ति। यत् प्रयन्त्यभिसंवशन्ति तद् ब्रह्मेति।**' अर्थात् जिससे संसार के सभी प्राणी उत्पन्न होते हैं और उत्पन्न होकर जीवित रहते हैं तथा अन्त में जिसमें लीन हो जाते हैं वही ब्रह्म हैं।

वस्तुतः 'ब्रह्म' षब्द का भावार्थ है उत्साह, स्फूर्ति, आनन्द, स्वयंसिद्ध, अपार सामर्थ्य और स्वातंत्र्य। स्वयंसिद्धता एवं चेतना शक्ति ही उसका लक्षण है। इन्हीं लक्षणों के कारण वेद इस निर्णय पर पहुँचे कि आत्मा ही ब्रह्म है। व्युत्पत्ति की दृष्टि से उसका अर्थ है विभुत्व (सर्वव्यापी होने का गुण)। अतः छान्दोग्योपनिषद् में इसे 'भूमा' या 'महान्' का गया है। उपनिषदों में ब्रह्म शब्द का भावार्थ है– शाश्वत स्वयंभू विश्व की शक्ति, आनन्द और चेतना का परिपूर्ण भण्डार।

निर्गुण ब्रह्म : उपनिषदों में ब्रह्म के दो रूपों का वर्णन प्राप्त होता हैं– निर्गुण तथा सगुण। निर्गुणब्रह्म को 'परब्रह्म' कहा गया है। वह परब्रह्म सच्चिदानन्द रूप और निरूपाधिक होने के कारण अनिर्वचनीय है। उसे ही तैत्तिरीयोपनिषद् में 'सत्यं **ज्ञानमनन्तं ब्रह्म**' अर्थात् सत्य, ज्ञानरूप और अनन्त कहा गया है। इसी उपनिषद् (2/7) में उसे "**रसो वै सः**" अर्थात् वही (ब्रह्म) रस (आनन्द) रूप है। उसे ही प्राप्त कर आत्मा आनन्दयुक्त हो जाता है।

बृहदारण्यकोपनिषद् कहता है कि '**ब्रह्मवेद ब्रह्मैव भवति**' अर्थात् ब्रह्म को जानने वाला ब्रह्म ही हो जाता है। इसी उपनिषद् में उसे '**सन्मात्रं हि ब्रह्म**' अर्थात् "वह परब्रह्म सत् है" कहा गया है।

केनोपनिषद् परब्रह्म का विवेचन करते हुए कहता है– "जो वाणी से प्रकाशित नहीं होता, किन्तु वाणी उससे प्रकाशित होती है, वही ब्रह्म है; जिसे मन से समझा नहीं जा सकता, बल्कि जिससे मन जाना हुआ हो जाता है, वही ब्रह्म है; जिसे आँख से देखा नहीं जा सकता, बल्कि जिससे आँखे देखती है, जिसको कान से सुना नहीं जा सकता, बल्कि जिसके द्वारा यह कान सुनते हैं, जो प्राण के द्वारा प्रेरित नहीं होता, बल्कि प्राण जिसके द्वारा प्रेरणा प्राप्त करता है, वही ब्रह्म है, उसे नहीं, जिसकी लोग उपासना करते हैं।

केनोपनिषद् के उपरोक्त कथन से यह सिद्ध होता है कि ब्रह्म, वाणी, मन, चक्षु, श्रोत, प्राण का विषय नहीं है अपितु उसके परे (बाहर) का विषय है। इसी बात की पुष्टि मुण्डकोपनिषद् के इस कथन से होती है कि 'वह ब्रह्म अदृश्य, अग्राह्य, अनादि, रूप–रंग से रहित और चक्षु–श्रोत से रहित है। यहाँ प्रश्न उठता है कि यदि ब्रह्म का निर्वचन अपर कहे कथन से नहीं होता तो फिर कैसे होता है?

इस प्रश्न का समाधान बृहदारण्यकोपनिषद के याज्ञवल्क्य, गार्गी संवाद के माध्यम से होता है। जहाँ याज्ञवल्क्य गार्गी के प्रश्न का उत्तर देते हुए उस अक्षर ब्रह्म को अवाङ्मनस–गोचर बताया है, और कहा है कि वह परब्रह्म कार्य–कारण से रहित है। ब्रह्म का निर्वचन 'नेति–नेति' (इति = नेति अर्थात् यह नहीं, यह नहीं) अर्थात् निषेध के द्वारा ही वह (आत्मा) अगृह्य, अशीर्य (नष्ट न होने वाला), असंग (संग रहित) है। इस प्रकार वह परब्रह्म गुणातीत (गुणों से परे) निर्विशेष तथा अवाङ्मनसगोचर सिद्ध होता है।

सगुण ब्रह्म : सगुण ब्रह्म को 'अपरब्रह्म' कहा गया है। यह अपरब्रह्म, नित्य, विभु, विश्व का सर्जक, पालक एवं संहारक है और सोपाधि (उपाधि वाला) होने के कारण वर्णनीय (जिसका वर्णन या व्याख्या की जा सके) है।

छान्दोग्योपनिषद् में सगुण ब्रह्म का विवेचन 'तज्जलान्' शब्द द्वारा किया गया है। 'तज्जलान्' में तीन शब्द है– 'तज्ज'+'तल्ल'+'तदन्'। अतः 'तज्जलान्' का अर्थ है–

'उस ब्रह्म से यह जगत् उत्पन्न होता है (तज्ज), उसी में लीन हो जाता है (तल्ल) और उसी से धारण करता है (तदन्)।' अर्थात् इस जगत् को उत्पन्न करने वाला, धारण करने वाला और अपने में लीन करने वाला ब्रह्म ही है। 'तैत्तिरीयोपनिषद् भी ठीक यही सिद्धान्त प्रतिपादित करता है जिसका वर्णन निर्गुण ब्रह्म में किया जा चुका है।

इस प्रकार सगुण ब्रह्म ही इस संसार का कारण है, वही सभी का स्वामी है, वह सर्वज्ञ एवं सर्व व्यापक है वही इस जगत् का प्रतिष्ठान है। ब्रह्म के सन्दर्भ में कहे गये सम्पूर्ण कथन का सारांश है कि उपनिषदों में ब्रह्म के दो रूपों का निर्देश मिलता है– निर्गुण और सगुण। निर्गुण ब्रह्म को ही 'परब्रह्म' कहा गया है। यह सच्चिदानन्द, अवाङ्मनसगोचर एवं निरूपाधि (बिना उपाधि का) होने के कारण अनिर्वचनीय है। सगुण ब्रह्म को 'अपरब्रह्म' कहा गया है। यह नित्य, विभु और विश्व का रचयिता, पालक और संहारक है और सोपाधि होने के कारण वर्णनीय है।

1.5 पुरुषोत्तम

वेद और उपनिषदों में वर्णित प्रजापति, हिरण्यगर्भ, विराट पुरुष, परम पुरुष का आध्यात्मिक आदर्शवाद गीता में ईश्वरवादी धर्म के रूप में बदल जाता है जिसमें प्रेम, प्रार्थना भक्ति का मिश्रण है। क्योंकि जब तक हमें परम तत्त्व या परब्रह्म का साक्षात्कार नहीं होता और हम इस आनुभविक जगत में जी रहे है। तब तक हमें उक्त विषय की व्याख्या के लिए एक सर्वशक्तिमान ईश्वर की आवश्यकता है, इसी को गीता में पुरुषोत्तम कहा गया है।

परमसत्ता या परम तत्त्व का बिना आकार के होना अथवा अशरीरधारी होना, सामान्य मनुष्य की दृष्टि में उसका बहुत अधिक महत्त्व नहीं रखता है। गीता, उपनिषदों के आध्यात्मिक आदर्शवाद को मनुष्य जाति के दैनिक जीवन के अनुकूल बनाने के लिए तत्पर होती है। इसके लिए वह परमतत्त्व की दैवीय क्रिया तथा परमतत्त्व द्वारार प्रकृति (संसार) के कार्यों में भाग लेने सम्बन्धी दोनों विचार का समर्थन करती है।

गीता हमारे सामने एक ऐसे ईश्वर की कल्पना प्रस्तुत करती है जो सामान्य मनुष्य के जीवन के लिए लाभदायी और सन्तोषप्रद तो है ही, साथ में उसके आध्यात्मिक उत्थान के लिए भी लाभप्रद है। गीता का पुरुषोत्तम (ईश्वर) ऐसी यथार्थ सत्ता है जो अनन्त और सान्त दोनों से ऊपर है। परमात्मा संसार का जनक (उत्पादक) तथा कारण है जो अद्वितीय शक्ति के रूप में समस्त प्राणियों में व्याप्त है। यह संसार अंग–अंगी भाव (मानव का शरीर और उसका अंग) से पुरुषोत्तम के साथ जुड़ा हुआ है। पुरुषोत्तम ऊपर से लेकर नीचे तक की सभी वस्तुओं में विद्यमान है।

इसी कारण पुरुषोत्तम तत्त्व को गीता का महत्त्वपूर्ण तत्त्व माना जाता है। ऋग्वेद के पुरुषसूक्त **'पुरुष एवेदं सर्वं यद्भूतं यच्च भाव्यम्'** अर्थात् ''जो कुछ है, जो हुआ अथवा होगा वह यह एक पुरुष ही है'' की इस भावना को गीता (10/8) में भली भाँति प्रस्तुत किया गया है– ''सब कुछ मैं ही हूँ और इसके परे भी मैं ही हूँ''। पुनः वहाँ (गीता 7/7) कहा गया है कि 'मयि सर्वमिदं प्रोतम्' अर्थात् मुझसे श्रेष्ठतर तत्त्व कुछ भी नहीं है, मुझमें यह सम्पूर्ण जगत् समाया हुआ है।

गीता में सांख्य दर्शन का प्रतिपादन अनेक जगहों पर हुआ है। सांख्य दर्शन की

द्वैतवादी मान्यतानुसार इस सम्पूर्ण जगत् के कारण के रूप में जड़ प्रकृति ही मूल तत्त्व है। इसे अव्यक्त या प्रधान भी कहा गया है। चेतन पुरुष तत्त्व निष्क्रिय तथा असंग है, वह सृष्टि रचना के कार्य में भाग नहीं लेता। गीता (9/10) में इन दोनों तत्त्वों से परे एक सर्वव्यापक, अद्वितीय तत्त्व को स्वीकार करती है जो प्रकृति–पुरुष दोनों से भिन्न है। यह अद्वितीय तत्त्व सम्पूर्ण जगत् का मूलाधार है।

गीता (15/16) के अनुसार पदार्थों की संख्या तीन है और उन पदार्थों को पुरुष कहा गया है। ये तीन पदार्थ हैं– क्षर (क्षेत्र), अक्षर (क्षेत्रज्ञ) और उत्तम पुरुष। गीता (15/18) में उत्तम पुरुष को ही प्रकारान्तर से पुरुषोत्तम कहा गया है– **'अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः'** अर्थात् मैं (उत्तमपुरुष) लोक में तथा वेद में पुरुषोत्तम नाम से प्रसिद्ध हूँ। अतः गीता सर्वेश्वरवाद से ऊपर उठकर पुरुषोत्तम का व्याख्यान करती है।

यहाँ पर ध्यान देने योग्य है कि अक्षर ब्रह्म तथा पुरुषोत्तम में भेद है। जड़ जगत् से भिन्न चेतन ब्रह्म या चेतन तत्त्व को अक्षर ब्रह्म कहते हैं। परन्तु जो ईश्वर इस विश्व में व्याप्त रहते हुए भी इससे परे है, वह जगत् के समस्त पदार्थों में स्थित है और साथ ही साथ उससे अलग भी है। वह विश्व के अन्दर रहते हुए भी विश्व से बाहर है वही ईश्वर पुरुषोत्तम है। पुरुषोत्तम शब्द दो शब्दों से मिलकर बनता है– पुरुष और उत्तम। पुरुष के बारे में पहले ही बतलाया जा चुका है उत्तम शब्द उसकी उत्तमता या श्रेष्ठता को बतलाता है।

परा और अपरा प्रकृति : गीता का पुरुषोत्तम तत्त्व वेद, वेदान्त और दर्शन के परम तत्त्व से भिन्न अर्थ रखता है। क्षर, अक्षर और पुरुषोत्तम गीता के तीन तत्त्व है। क्षर उसकी अपरा प्रकृति है, जिसका अधिभूत, क्षेत्र और अश्वत्थ भी कहा गया है। पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, मन, बुद्धि और अहंकार ये आठ भगवान् की अपरा प्रकृति के रूप है।

अक्षर तत्त्व उसकी परा प्रकृति है, जिसको अध्यात्मा, पुरुष तथा क्षेत्रज्ञ भी कहा जाता है। अनन्त ब्रह्माण्ड के रूप में प्रकाशित प्रकृति–पुरुष उस पुरुषोत्तम की अपरा और परा प्रकृतियाँ है। उसकी यह अपरा प्रकृति जड़ है और परा प्रकृति चेतन। इस दोनों जड़–चेतन के संयोग से ही इस जगत् की उत्पत्ति हुई है।

'गीता' के अनुसार प्रकृति पुरुष के संयोग से इस जगत् की उत्पत्ति हुई है किन्तु वे दोनों दो नहीं, एक ही है। प्रकृति और पुरुष परमात्मा नहीं अपितु परमतत्त्व के प्रकाशक मात्र है। गीता में इस जगत् को भगवान् की प्रकृति कहा गया है और इसलिए जगत् भगवान् का 'विवर्त्त' (आभास) तथा परिणाम न होकर ईश्वर में ही व्याप्त है।

जगत् का नित्य अस्तित्व है क्योंकि वह भगवान् की लीला या अभिव्यक्ति है। यहाँ यह ध्यान देने योग्य है कि जगत् की अपेक्षा भगवान् व्यापक है और जगत् उसका एक अंश मात्र है। इसलिए जगत् अंग–अंगी भाव से पुरुषोत्तम से जुड़ा है। वह पुरुषोत्तम अनन्त, अखण्ड, असीम तथा अजेय है। यह पुरुषोत्तम स्वयं श्रीकृष्ण ही है। गीता में उत्तम पुरुष के रूप में कृष्ण ने अपनी विभूतियों का वर्णन किया है।

सगुण और निर्गुण रूप : गीता के पुरुषोत्तम कृष्ण सगुण निर्गुण, निराकारण साकार सभी कुछ है, प्रकृति के गुणों (सत्, रज, तम्) का अभाव होने पर वे निर्गुण है और लीलामय होने के कारण सगुण है। पुरुषोत्तम यद्यपि अखण्ड तत्त्व है किन्तु लीला के कारण पुरुषोत्तम के अनेक रूप है। वही एकत्व, अनेकत्व है। ब्रह्मरूप में एकत्व है और प्रकृति रूप में होने से अनेकत्व रूप धारण किये हुए है। उनकी विश्व लीला को देखकर ज्ञात होता है कि वे अनेक है, जन्म मृत्यु के वश में है और असीम है। यह भी पुरुषोत्तम की एक अवस्था है, जो क्षर रूप कही जाती है जिसे वे अपने भक्तों के लिए धारण करते हैं।

अक्षर : किन्तु एक रूप उनका इससे भी बढ़कर है, जिसे अक्षर कहते हैं। इस अवस्था में भगवान् प्रकृति से सर्वथा अलग रहते हैं। इस अवस्था में पुरुषोत्तम, द्रष्टा, उदासीन, विमुक्त और स्वाधीन होते हैं। यह उनका निर्गुण रूप है।

संक्षेप में कहा जाय तो बद्ध जीव की अवस्था का नाम क्षर और शान्त निर्गुण अवस्था का नाम अक्षर है। इन दोनों रूपों के अतिरिक्त तीसरा रूप दोनों रूपों में श्रेष्ठ और सर्वोच्च है जिसके अन्दर क्षर और अक्षर समा जाते हैं। यह रूप पुरुषोत्तम कहलाता है।

इस अवस्था में सगुण और निर्गुण दोनों संयुक्त है। क्षर के रूप में कृष्ण विश्व लीला में एकाकार है, अक्षर रूप में वे अपनी ही लीला देख रहे हैं। और पुरुषोत्तम रूप में वे अपनी प्रकृति को संचालित कर विश्व को सार्थक कर रहे हैं। अपने तीनों रूपों को गीता में वर्णित करते हुए कृष्ण कहते हैं कि इस संसार में क्षर (नाशवान) और अक्षर (अविनाशी) दो तरह के पुरुष है उत्तम पुरुष (पुरुषोत्तम) इन दोनों से भिन्न है, जो परमात्मा कहा गया है। ब्रह्म प्राप्ति के समान ही उसकी 'पराभक्ति' प्राप्त होती है और उस पराभक्ति के द्वारा उनका वास्तविक स्वरूप देखा जा सकता है।

इस प्रकार हमने देखा कि भगवद्गीता में पुरुषोत्तम शब्द का अर्थ 'परम उत्तम पुरुष' है जिसे श्रीकृष्ण ने स्वयं के द्वारा व्याख्यायित किया है। इसमें पुरुषोत्तम को अद्वितीय, अनंत, सर्वशक्तिमान और सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का आधार माना गया है। उसका सार्वभौम एवं सर्वव्यापी स्वरूप समस्त जीवों के उत्थान एवं प्रवृत्ति का कारण है। इस पुरुषोत्तम की उपासना, भक्ति और सर्वधर्मों में समर्पण से मनुष्य उस परम तत्त्व को प्राप्त कर सकता है।

1.5.1 परा एवं अपरा प्रकृति

गीता का पुरुषोत्तम तत्त्व वेद, वेदान्त और दर्शन के परम तत्त्व से भिन्न अर्थ रखता है। क्षर, अक्षर और पुरुषोत्तम गीता के तीन तत्त्व है। क्षर उसकी अपरा प्रकृति है, जिसका अधिभूत, क्षेत्र और अश्वत्थ भी कहा गया है। पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, मन, बुद्धि और अहंकार ये आठ भगवान् की अपरा प्रकृति के रूप है।

अक्षर तत्त्व उसकी परा प्रकृति है, जिसको अध्यात्मा, पुरुष तथा क्षेत्रज्ञ भी कहा जाता है। अनन्त ब्रह्माण्ड के रूप में प्रकाशित प्रकृति–पुरुष उस पुरुषोत्तम की अपरा और परा प्रकृतियाँ है। उसकी यह अपरा प्रकृति जड़ है और परा प्रकृति चेतन। इस दोनों जड़–चेतन के संयोग से ही इस जगत् की उत्पत्ति हुई है।

'गीता' के अनुसार प्रकृति पुरुष के संयोग से इस जगत् की उत्पत्ति हुई है किन्तु वे दोनों दो नहीं, एक ही है। प्रकृति और पुरुष परमात्मा नहीं अपितु परमतत्त्व के प्रकाशक मात्र है। गीता में इस जगत् को भगवान् की प्रकृति कहा गया है और इसलिए जगत् भगवान् का 'विवर्त्त' (आभास) तथा परिणाम न होकर ईश्वर में ही व्याप्त है।

जगत् का नित्य अस्तित्व है क्योंकि वह भगवान् की लीला या अभिव्यक्ति है। यहाँ यह ध्यान देने योग्य है कि जगत् की अपेक्षा भगवान् व्यापक है और जगत् उसका एक अंश मात्र है। इसलिए जगत् अंग–अंगी भाव से पुरुषोत्तम से जुड़ा है। वह पुरुषोत्तम अनन्त, अखण्ड, असीम तथा अजेय है। यह पुरुषोत्तम स्वयं श्रीकृष्ण ही है। गीता में उत्तम पुरुष के रूप में कृष्ण ने अपनी विभूतियों का वर्णन किया है।

1.5.2 सगुण एवं निर्गुण रूप

गीता के पुरुषोत्तम कृष्ण सगुण निर्गुण, निराकारण साकार सभी कुछ है, प्रकृति के गुणों (सत्, रज, तम्) का अभाव होने पर वे निर्गुण है और लीलामय होने के कारण सगुण है। पुरुषोत्तम यद्यपि अखण्ड तत्त्व है किन्तु लीला के कारण पुरुषोत्तम के अनेक रूप है। वही एकत्व, अनेकत्व है। ब्रह्मरूप में एकत्व है और प्रकृति रूप में होने से अनेकत्व रूप धारण किये हुए है। उनकी विश्व लीला को देखकर ज्ञात होता है कि वे अनेक है, जन्म मृत्यु के वश में है और असीम है। यह भी पुरुषोत्तम की एक अवस्था है, जो क्षर रूप कही जाती है जिसे वे अपने भक्तों के लिए धारण करते हैं।

अक्षर : किन्तु एक रूप उनका इससे भी बढ़कर है, जिसे अक्षर कहते हैं। इस अवस्था में भगवान् प्रकृति से सर्वथा अलग रहते हैं। इस अवस्था में पुरुषोत्तम, द्रष्टा, उदासीन, विमुक्त और स्वाधीन होते हैं। यह उनका निर्गुण रूप है।

संक्षेप में कहा जाय तो बद्ध जीव की अवस्था का नाम क्षर और शान्त निर्गुण अवस्था का नाम अक्षर है। इन दोनों रूपों के अतिरिक्त तीसरा रूप दोनों रूपों में श्रेष्ठ और सर्वोच्च है जिसके अन्दर क्षर और अक्षर समा जाते हैं। यह रूप पुरुषोत्तम कहलाता है।

इस अवस्था में सगुण और निर्गुण दोनों संयुक्त है। क्षर के रूप में कृष्ण विश्व लीला में एकाकार है, अक्षर रूप में वे अपनी ही लीला देख रहे हैं। और पुरुषोत्तम रूप में वे अपनी प्रकृति को संचालित कर विश्व को सार्थक कर रहे हैं। अपने तीनों रूपों को गीता में वर्णित करते हुए कृष्ण कहते हैं कि इस संसार में क्षर (नाशवान) और अक्षर (अविनाशी) दो तरह के पुरुष है उत्तम पुरुष (पुरुषोत्तम) इन दोनों से भिन्न है, जो परमात्मा कहा गया है। ब्रह्म प्राप्ति के समान ही उसकी 'पराभक्ति' प्राप्त होती है और उस पराभक्ति के द्वारा उनका वास्तविक स्वरूप देखा जा सकता है।

इस प्रकार हमने देखा कि भगवद्गीता में पुरुषोत्तम शब्द का अर्थ 'परम उत्तम पुरुष' है जिसे श्रीकृष्ण ने स्वयं के द्वारा व्याख्यायित किया है। इसमें पुरुषोत्तम को अद्वितीय, अनंत, सर्वशक्तिमान और सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का आधार माना गया है। उसका सार्वभौम एवं सर्वव्यापी स्वरूप समस्त जीवों के उत्थान एवं प्रवृत्ति का कारण है। इस पुरुषोत्तम की उपासना, भक्ति और सर्वधर्मों में समर्पण से मनुष्य उस परम तत्त्व को प्राप्त कर सकता है।

1.6 ईश्वर

भारतीय चिन्तन धारा की अविरल प्रवाह शृंखला समय–चक्र के साथ धीरे–धीरे परिवर्तित होती गई। परम तत्त्व की मूल जिज्ञासा ऋग्वैदिक काल में प्रजापति, हिरण्यगर्भ, विराट पुरुष, परम पुरुष, पुरुष की अवधारणा से होते हुए औपनिषदिक काल में पहले आत्मतत्व, आत्मा या आत्मन् के रूप में परिवर्तित हुई फिर औपनिषदिक चिन्तन की पराकाष्ठा के फलस्वरूप यह परम तत्त्व ब्रह्म के रूप में बदल गया। कालान्तर में पुनः यही परमतत्त्व की मूल जिज्ञासा श्रीमद्भगवद्गीता में पुरुषोत्तम के रूप में परिणत हुई। पुरुषोत्तम की अवधारणा को गीता में प्रश्रय तो मिला ही साथ ही वेदांत की वैष्णव विचारधारा के अनुयायियों जैसे रामानुजाचार्य, मध्वाचार्य, निम्बार्काचार्य और बल्लभाचार्य के विचारों में भी पुष्पित एवं पल्लवित हुई।

फिर बाद में वेदान्त के वैष्णव आचार्यों की ईश्वर सम्बन्धी अवधारणा ने पुराण काल तक आते–आते, विराट, शुद्ध, चैतन्यस्वरूप, कूटस्थ, नित्य, शुद्ध, मुक्त परमतत्त्व के स्थान पर साकार, सगुण, सर्वज्ञ, सर्वव्यापी, सर्वशक्तिमान, दयालु, करूणामय, भक्तों पर अनुग्रह करने वाले ईश्वर का रूप धारण कर लिया। जहाँ उन्हें ब्रह्मा, विष्णु, शिव आदि के पूजा जाने लगा।

ईश्वर तत्त्व भारतीय मनीषियों की वो अतुलनीय कल्पना है जिसकी छाँव में सम्पूर्ण भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति उत्तरोत्तर समृद्ध एवं विकसित हुई है। ईश्वर की उत्पत्ति और विकास वेद, उपनिषद्, पुराण, स्तोत्र ग्रन्थों के माध्यम से हुआ है। वेदों में अनेकेश्वरवाद के माध्यम से प्राकृतिक शक्तियों (जैसे इन्द्र, अग्नि, वरुण, सूर्य, चन्द्र, वायु) को ईश्वर के रूप में पूजा जाता था। उपनिषदों में ईश्वर को सगुण एवं निर्गुण रूपों में प्रस्तुत किया गया।

भारतीय दर्शन के आस्तिक सम्प्रदायों के कुछ सम्प्रदाय जैसे न्याय दर्शन, वैष्णव वेदान्त आदि में ईश्वर की सिद्धि पर बल दिया गया है। उदयनाचार्य जैसे नैयायिक ने अपनी कृति न्यायकुसुमांजलि में दार्शनिक दृष्टि से न केवल ईश्वर के अस्तित्व की सिद्धि की है अपितु भक्त के दृष्टिकोण से यह भी कहा है– **''ऐश्वर्यमदमत्तोऽसि मामवज्ञाय वर्त्तते। उपस्थितेषु बौद्धेषु ममधीना तव स्थितिः''**।। अर्थात् हे भगवन् ! तुम अपने ऐश्वर्य में मदमत्त होकर मेरा अपमान कर रहे हो, पर इतना ध्यान रखना कि बौद्धों के आने पर मैं तुम्हारे अस्तित्व को स्वीकार कर तुम्हारी रक्षा करूँगा। वेदान्त दर्शन में ब्रह्म और ईश्वर का वर्णन प्राप्त होता है जो मोक्ष प्राप्ति के लिए महत्त्वपूर्ण है। यहाँ ईश्वर के सगुण एवं निर्गुण स्वरूप का वर्णन प्राप्त होता है। यद्यपि आचार्य शंकर के अद्वैत वेदान्त में ब्रह्म प्राप्ति अथवा मोक्ष ज्ञान के माध्यम से ही सम्भव है। जबकि वैष्णव वेदान्त में यह श्रद्धा और भक्ति का विषय है। अब रामानुज के विशिष्टाद्वैतवाद में ईश्वर के स्वरूप का वर्णन किया जाएगा।

1.6.1 रामानुजाचार्य का मत

रामानुजाचार्य के अनुसार ब्रह्म, चित्–अचित् से विशिष्ट सत् है इसीलिए रामानुज का सिद्धान्त विशिष्टाद्वैतवाद कहलाता है। विशिष्टाद्वैत का अर्थ है विशिष्ट अद्वैत। रामानुज के ईश्वर निरूपण में तीन बिन्दु मुख्य हैं– चित्, अचित् और ब्रह्म। चित् का अर्थ है 'चेतन जीव', अचित् जगत् को कहते हैं तथा ब्रह्म जो परमतत्त्व है वही ईश्वर

कहलाता है। ब्रह्म अथवा ईश्वर ही इस जगत् का कारण और कार्यरूप उपादान है। सृष्टि ईश्वर की इच्छा में होती है। इसका प्रयोजन केवल लीला है। ईश्वर या ब्रह्म की प्रेरणा, इच्छा या लीला से जगत् या सृष्टि का निर्माण होता है।

ईश्वर हेय गुणों से रहित तथा अशेष कल्याण के गुण सागर है। वे वासुदेव या नारायण है। श्रीपति अथवा लक्ष्मीपति है, वे सर्वज्ञ, सर्वव्यापी तथा सर्वशक्तिमान और करूणा सागर है। उनके दिव्यगुण नित्य, शुद्ध और अनन्त है। उनका ज्ञान, आनन्द, प्रेम, ऐश्वर्य, कृपा आदि अपार है। ईश्वर एक हैं किन्तु अपने भक्तों पर अनुग्रह करने के कारण वे स्वयं की पाँच रूपों में प्रकट करते हैं– अन्तर्यामी, पर, व्यूह, विभव और अर्चावतार। चित् अचित् रूप विश्व में अन्तर्यामी आत्मा के रूप में वे व्याप्त रहकर उसका संचालन करना, ईश्वर का अन्तर्यामी रूप है। 'पर' रूप में वे परात्पर नारायण या वासुदेव है। उनका तीसरा रूप 'व्यूह' है जिसमें वे चतुर्व्यूह के रूप में प्रकट होते हैं। ये चार व्यूह है– वासुदेव, संकषर्ण, प्रद्युम्न और अनिरूद्ध। उनका चौथा रूप विभव या अवतार कहलाता है। अर्चावतार में वे भक्तों पर असीम कृपा करते हैं।

1.6.2 मध्वाचार्य का मत

द्वैतवाद अथवा ब्रह्म सम्प्रदाय के प्रवर्तक मध्वाचार्य के सिद्धांतों में परमतत्त्व या परमात्मा विष्णु है जो सभी प्रकार से पूर्ण है। वे अनन्त गुणों से परिपूर्ण है। उनका प्रत्येक गुण पूर्ण, निरवधि (जिसकी समाप्ति की कोई भी अवधि न हो) और निरतिशय (अत्यधिक बहुलता) है। वे उत्पत्ति, स्थिति, संहार, नियमन, आवरण, ज्ञान, बन्धन और मोक्ष इन आठों के नियंत्रक है। परमात्मा विभिन्न अवतारों यथा मत्स्य, कूर्म, वाराह आदि को धारण करते हैं। वे सर्वज्ञ तथा एकराट् कहलाते हैं। वे सभी प्रकार के तन्त्रों से स्वतन्त्र तथा एक है। वे जीव, जड़ प्रकृति से अत्यन्त विलक्षण है।

1.6.3 निम्बार्काचार्य का मत

निम्बार्काचार्य के मत को द्वैताद्वैत कहा जाता है। रामानुज की भाँति निम्बार्काचार्य भी चित्, अचित् और ईश्वर तीन तत्त्व मानते हैं। समस्त जगत् उस परब्रह्म में स्थित है और इसी में उसका पर्यावसान होता है। ईश्वर में अनंत वस्तुओं को उत्पन्न करने की शक्ति है। वह परमात्मा, ब्रह्म, वैश्वानर, पुरुषोत्तम, भगवान् आदि नामों से जाना जाता है। वह सर्वज्ञ, अचिंत्य, सत्कर्मों का फलदाता है। वह जगत् स्रष्टा सबसे भिन्न और सबसे अभिन्न और आनन्दमय, पाप–पुण्य से परे तथा सगुण है। निम्बार्क ने रामानुज के ऐश्वर्य प्रधान भक्ति के स्थान पर माधुर्य प्रधान भक्ति का उपदेश दिया।

1.6.3 वल्लभाचार्य का मत

वल्लभ का सिद्धान्त शुद्धाद्वैतवाद कहलाता है। इसके अनुसार माया से अलिप्त ब्रह्म ही अद्वैत तत्त्व है। ब्रह्म ही एकमात्र तत्त्व है जो शुद्ध है। सारा जगत् उसी की लीला का परिणाम है। यह ब्रह्म ही कृष्ण है अथवा कृष्ण ही ब्रह्म है। वह अनन्त शक्तियों से सम्पन्न है किन्तु उनकी तीन शक्तियों का अधिक महत्त्व है– स्वरूप शक्ति, तटस्थ शक्ति तथा माया शक्ति। स्वरूप शक्ति को चेतना की शक्ति कहा जाता है। तटस्थ शक्ति जीव को जन्म देती है। माया शक्ति से प्रकृति तथा जगत् का आविर्भाव होता है। अधर्म का नाश एवं धर्म के उत्थान के लिए भगवान् अवतार लेते हैं। कृष्ण अवतार है। यहाँ कहा गया है कि ''कृष्णात् परं किमपि तत्त्वं अहं न जानि'' अर्थात् श्रीकृष्ण के

सिवा और कोई परम तत्त्व है, यह मैं नहीं जानता।

इस प्रकार हमने जाना कि वैष्णव आचार्यों के दार्शनिक सिद्धान्तों में परमतत्त्व केवल और केवल विष्णु, हरि या कृष्ण है। जो इस तथ्य की ओर संकेत करता है कि औपनिषदिक ब्रह्मवाद और भागवत (वैष्णव) धर्म के ईश्वरवाद का एकीकरण हो चुका था। वास्तव में, वैष्णव आचार्यों में औपनिषदिक ब्रह्मवाद का दार्शनिक भाव तो प्रबल था, साथ ही, धार्मिक आकांक्षाएँ भी उतनी ही प्रबल थी। इन सभी आचार्यों ने धार्मिक भावनाओं की मांग का दार्शनिक और तार्किक विचार–पद्धति के साथ समन्वय करने का प्रयास किया किया था। जो भारतीय जनमानस की भावनाओं से सीधे जुड़ा था।

1.7 सारांश

इस इकाई के अध्ययन द्वारा हमें यह ज्ञात होता है कि दार्शनिक बौद्धिकता की दुरूह यात्रा का सुखद समापन मनन के द्वारा चित् को निर्मल कर परमतत्त्व ईश्वर के दर्शन से होता है।

भारतीय चिन्तन परम्परा परम तत्त्व की जिज्ञासा से प्रारम्भ होती है। अपने प्रारम्भिक स्वरूप में यह परमतत्त्व प्रजापति, हिरण्यगर्भ और विराट् पुरुष के रूप में हमारे सम्मुख आती है, जो सकल ब्रह्माण्ड एवं समाज का अधिपति था। मानवीय बुद्धि के विकासक्रम में परमतत्त्व की यह जिज्ञासा उपनिषद् काल में आत्मा या ब्रह्म का रूप ले लेती है।

राष्ट्र–भाव, समाज और धर्म की चेतना ज्यों–ज्यों विकसित होती गयी त्यों–त्यों परमतत्त्व सम्बन्धी मूल जिज्ञासा पहले पुरुषोत्तम तत्त्व फिर वेदान्तीय वैष्णव विचारधारा तथा पुराण काल में इसने ईश्वर का रूप धारण कर लिया। ईश्वर के साकार रूप को अपनाने के कारण यह विचारधारा भारतीय जन–सामान्य के मन में पूर्ण रूप से समा गयी। जिसका प्रभाव आज भी अक्षुण्य है।

पुरुष, पुरुषोत्तम, आत्मा, ब्रह्म और ईश्वर वस्तुतः एक ही तत्त्व का प्रतिनिधित्व करते हैं। हमारे इस विचार को और भी दृढ़ करने के लिए पुष्पदत्त कृत शिवमहिम्नःस्तोत्र की पंक्तियों का उल्लेख करना बिल्कुल उचित है– 'रुचीनां वैचित्र्यादृजुकुटिलनानापथजुषां नृणामेको गम्यस्त्वमसि पयसामर्णव इव'' अर्थात् रुचियों की विचित्रता से सीधे–टेढ़े विभिन्न मार्गों से चलने वाले साधकों के लिए गन्तव्य तो एक ही है। जिस प्रकार विभिन्न मार्गों से बहती सभी नदियाँ अन्त में समुद्र में ही जा मिलती है। उसी प्रकार परमतत्त्व तो एक ही है, भले ही साधक या जिज्ञासु उसे भिन्न–भिन्न नामों से पुकारें।

1.8 पारिभाषिक शब्दावली

1.9 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. ऋग्वेद संस्कृत बरेली 2002 ई.
2. यजुर्वेद संस्कृत बरेली 2002 ई.
3. अथर्ववेद संस्कृत बरेली 2002 ई.
4. ईशादि नौ उपनिषद् – शांकरभाष्य – गीता प्रेस गोरखपुर सं. 2071
   (ईश, केन, कठ, प्रश्न, मुण्डक, माण्डूक्य, ऐतरेय, तैत्तिरीय एव श्वेताश्वतर उपनिषद्)
5. छान्दोग्योपनिषद् श्रीरामानन्द वेदान्त प्रचारक समिति अहमदाबाद 2025 वि.
6. वृहदारण्यक उपनिषद् श्रीरामानन्द वेदान्त प्रचारक समिति अहमदाबाद 2025 वि.
7. केनाद्युपनिषद् पुरुषसूक्त श्री सूत्र भाष्यम – द सुन्दरम् चैरीटीज मद्रास 1973
   वेदान्त दर्शन (ब्रह्मसूत्र) गीता प्रेस गोरखपुर 2041 सं.

1.10 बोध प्रश्न

1. भारतीय दर्शन में पुरुष की अवधारणा की विवेचना कीजिए।
2. भारतीय दर्शन में आत्मा की अवधारणा की विवेचना कीजिए।
3. भारतीय दर्शन में ब्रह्म की अवधारणा की विवेचना कीजिए।
4. भारतीय दर्शन में पुरूषोत्तम की अवधारणा की विवेचना कीजिए।

इकाई 2 भगवान की अवधारणा एवं स्वरूप

इकाई की रूपरेखा

2.0 उद्देश्य

भगवान की अवधारणा एवं स्वरूप से संबंधित इस ईकाई के अध्ययन के बाद आप:

- भगवान के स्वरूप एवं उसके गुणों को बता सकेंगे।
- विभिन्न धर्म एवं दार्शनिक सम्प्रदायों में भगवान के अस्तित्व की सिद्धि के लिए दिये गए प्रमाणों को बता सकेंगे।
- हिंदू धर्म एवं दर्शन में भगवान की अवधारणा एवं स्वरूप को बता सकेंगे।
- विश्व के विभिन्न धर्म एवं दर्शन में भगवान की अवधारणा एवं स्वरूप को बता सकेंगे।

2.1 प्रस्तावना

श्रीमद्भागवत के अनुसार "वदन्ति तत्रत्वविदस् तत्वं यज्ज्ञानमद्वयम्।
ब्रह्मेति पर्मात्मेति भगवानिति शब्द्यते।। 1/2/11

अर्थात् तत्ववेत्ताओं (जो परमतत्व को प्राप्त कर चुके हैं) का कथन है कि उनके अनादि काल से

तीन रूप हैं- ब्रह्म, परमात्मा, भगवान। भगवान गुणवाचक शब्द है जिसका अर्थ गुणवान होता है। यह भग धातु से बना है। भग के छह अर्थ हैं-1. ऐश्वर्य 2. धर्म 3. श्री 4. यश 5. ज्ञान 6. वैराग्य। इसका अर्थ यह नहीं है कि उसमें केवल ये छह गुण हैं, उसमें अनंत गुण हैं।कोई भी मनुष्य या देवता आदि भगवान नही कहे जा सकते हैं। यह शब्द केवल ईश्वर या परमात्मा को कहा जाता है। किन्तु विशेषण रूप में देवताओं और उनके अवतारों, महापुरूषों, धर्मगुरुओं आदि को भगवान कहा जाता है।

भगवान का एक और विश्लेषण इस प्रकार होता है कि भ अर्थात् भक्ति, ग अर्थात ज्ञान, वा अर्थात् वास, न अर्थात् नित्य। अर्थात् भगवान वह है जिसमें ज्ञान और भक्ति नित्य रूप से वास करता है अर्थात् उनमें रहता है। भगवान अनंत ज्ञानवाले हैं अर्थात् उनका ज्ञान कभी नष्ट नहीं होता। अनंत दर्शनवाले हैं। परमात्मा और शुद्ध प्रेम रूप हैं। भगवान किसी भी दुख-सुख से अप्रभावित रहते हैं।

2.2 भगवान का स्वरूप

तैत्तिरीयोपनिषद् में कहा गया है-जिससे संसार उत्पन्न हो, जिससे संसार का पालन हो और जिसमे संसार का लय हो, उसका नाम भगवान है।

भागवत पुराण में भी कहा गया है कि 'जिससे संसार उत्पन्न हो, जिससे संसार का पालन हो, जिसमें संसार का लय हो, उसका नाम है भगवान श्रीकृष्ण।'

भगवान में सभी शक्ति प्रकट होती है। उसके अनंत रूप और नाम है। उसमें अनंत गुण है।इसीलिए उपनिषदें भगवान के स्वरूप का वर्णन नेति नेति कहकर करते हैं। वह सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान,सभी वस्तुओं का ज्ञाता तथा सभी वस्तुओं के आंतरिक रहस्यों का वेत्ता है। इसलिये वे प्रकृति या माया के गुणों से रहित होने के कारण निर्गुण और स्वाभाविक ज्ञान, बल, क्रिया, वात्सल्य, कृपा, करूणा आदि अनंत गुणों का आश्रय होने से सगुण भी है।यही भगवान उपनिषदों में ब्रह्म शब्द से अभिहित किये जाते हैं और यही सभी कारणों के कारण होते हैं। किन्तु इनका कारण कोई नहीं।

भगवान एक स्वतन्त्र एवं यथार्थपरक सत्ता हैं। भगवान सर्वशक्तिमान, सर्वज्ञ, सर्वव्यापक, दयालु, कृपालु, नित्य, अनादि, असीम, अनन्त, अपरिमित, अपरिवर्तनीय या अपरिणामी सत्ता के रूप में माना जाता हैं। भगवान को पूर्ण तथा स्वतन्त्र माना जाता है जो सृष्टिकर्ता, पालनकर्ता, संहारकर्त्ता और विश्व का आदि कारण है। विभिन्न धर्मों में, भले ही वह हिन्दू धर्म हो, ईसाई धर्म या यहूदी धर्म या इस्लाम धर्म हो, थोड़े बहुत अन्तर के साथ इसी रूप में भगवान के अस्तित्व को स्वीकार किया गया है। अनेक दार्शनिक और धार्मिक व्यक्ति भी भगवान के स्वरूप के बारे में यही मानते हैं। यहाँ तक कि जब सामान्य व्यक्ति भी भगवान के अस्तित्व के सम्बन्ध में बात करता है तो भगवान के बारे में इसी प्रकार की धारणा को अभिव्यक्त करता है। भक्त भी ऐसे ही भगवान को आराध्य देव के रूप में स्वीकार करता है जिसमें असीम शक्ति, ज्ञान,दयालुता और नित्यता आदि विशिष्ट गुण पाये जाते हैं। धर्मपरायण व्यक्ति भगवान को व्यक्तित्वपूर्ण मानते हैं तथा उसने समस्त मानवीय सद्गुणों का आरोपण करते हैं।

भगवान को ऐसी अनिवार्य सत्ता माना जाता है जो अपने अस्तित्व के लिए किसी अन्य वस्तु पर निर्भर नहीं है, जो अनादि,अनन्त, स्वयंभू, नित्य अथवा शाश्वत है। इस प्रकार भगवान

भौतिक वस्तु न होकर अभौतिक सत्ता है।भगवान को शरीर रहित ऐसी अभौतिक सत्ता माना जाता है जो मानवीय अनुभूति और तर्कबुद्धि की सीमाओं से परे है। साधारणतया विचारकों में इस संदर्भ में भी सहमति है कि भगवान कोई ऐसा विचार, मूल्य या आदर्श नहीं है जिसे कि मनुष्य ने उत्पन्न किया है। प्रत्येक विचार, मूल्य या आदर्श मानव की उपज होता है और मनुष्य से निरपेक्ष या स्वतन्त्र उसकी सत्ता की कल्पना नहीं की जा सकती है। किन्तु भगवान को मानव सहित समस्त ब्रह्माण्ड का सृष्टिकर्त्ता माना जाता है जिसका अस्तित्व मानव-मस्तिष्क पर निर्भर नहीं है।

भगवान के स्वरूप के सम्बन्ध में दार्शनिकों में पर्याप्त मतभेद है, पूर्णतया निश्चित रूप से यह कहना संभव नहीं है कि भगवान का स्वरूप क्या है? कतिपय दार्शनिक भगवान को सगुण,साकार तथा व्यक्तित्व सम्पन्न सत्ता मानते हैं जबकि अन्य कुछ दार्शनिक भगवान को निर्गुण, निराकार, निर्वैयक्तिक या व्यक्तित्व रहित मानते हैं। ईश्वरवादी दार्शनिकों में भगवान के स्वरूप के सम्बन्ध में इस आधारभूत मतभेद के होते हुए भी प्रायः सभी यह मानते हैं कि भगवान अभौतिक तथा विशुद्ध चैतन्य सत्ता है जो अनादि, अनन्त, शाश्वत एवं स्वयंभू है। वह सम्पूर्ण सृष्टि का आदि-कारण है।

2.3 भगवान् के गुण

भगवान सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान है।वह न्याय, प्रेम, सौंदर्य की साक्षात मूर्ति है। उसमें वह सभी गुण विद्यमान है जिसकी मनुष्य कल्पना भी नहीं कर सकता। इसलिये वह गुणातीत है।वह करूणासागर, दयालु और प्राणियों का भला करने वाला है। इसकी सत्ता त्रिकालाबाधित है अर्थात् वह सृष्टि के पूर्व भी, सृष्टि में भी और प्रलय सभी काल में विद्यमान रहता है।वह ज्ञान स्वरूप और आनंद स्वरूप है। अनन्त है अर्थात उसका कभी अन्त नहीं **है।भागवत में कहा गया है कि उसके अनंत गुण हैं। (1/18/14)**उसके गुणों को कोई गिन नहीं सकता। **'गुणात्मनस्तेऽपि गुणान् विमातुं हितावत्तीर्णस्य क ईशिरेऽस्य।अर्थात् कोई व्यक्ति पृथ्वी के एक-एक कणों को भले ही गिन लेने में समर्थ हो जाये। परन्तु भगवान के गुणों को कोई भी नहीं गिन सकता। भागवत (10/14/17)**

उपनिषदों में भगवान को निर्गुण कहा गया है। निर्गुण कहने का यह अर्थ नहीं है कि उसमें कोई गुण नहीं हैं, निर्गुण कहने का अर्थ है कि उसके गुणों का कोई अंत नहीं है।

भक्तिमार्गीयों ने आराधना के विषय के रूप में ऐसे भगवान को स्वीकार किया है जो समस्त अपूर्णताओं, कमियों, बुराइयों, दुर्बलताओं, सीमाओं, विसंगतियों तथा दोषों से परे है तथा जो समस्त सद्गुणों से सम्पन्न है। सर्वशक्तिमत्ता, सर्वज्ञता, सर्वव्यापकता, अपरिमितता, नित्यता, पूर्ण-शुभत्व, असीमित प्रेम, अपार करुणा आदि ऐसे ही गुण हैं जिनका भगवान में होना अनिवार्य माना जाता है। भगवान की आराधना करने वाला भक्त भगवान को सर्वगुण सम्पन्न मानकर ही उसकी आराधना करता है। भक्त अपनी श्रद्धा एवं आस्था के आधार पर इन गुणों को स्वीकार कर लेता है, वह इसके लिए तर्क या प्रमाण की आवश्यकता का अनुभव नहीं करता। परन्तु दार्शनिक तो श्रद्धा या आस्था के ही आधार पर इन गुणों को स्वीकार नहीं कर सकता, इसलिए वह इस सम्बन्ध में अनेक गंभीर प्रश्न उठाता है और उनके तर्कसंगत उत्तर खोजने का प्रयास करता है।

भगवान के जिन गुणों का उल्लेख धर्मशास्त्रियों और दार्शनिकों ने किया है, उन्हें दो वर्गों में विभाजित किया जा सकता है- (1) तत्वमीमांसीय गुण और (2) नैतिक गुण । सर्वशक्तिमत्ता, सर्वज्ञता, सर्वव्यापकता, अपरिमितता, नित्यता आदि गुण 'तत्व मीमांसीय गुण हैं और शुभत्व, प्रेम, दयालुता आदि गुणों को 'नैतिक गुण के अन्तर्गत रखा जा सकता है।

1. तत्वमीमांसीय गुण-

1) **सर्वशक्तिमत्ता -**भगवान को सर्वशक्तिमान और सर्वोच्च सत्ता के रूप में स्वीकार किया गया है। 'सर्वशक्तिमान' कहने का अर्थ है, असीम शक्तियुक्त होना। सर्वशक्तिमान होने के कारण भगवान को सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का नियन्ता माना जाता है। भगवान के लिए कोई भी कार्य करना असंभव नहीं है। वह प्रकृति के समस्त नियमों का नियामक है।भगवान सभी के ऊपर शासन करता है, क्योंकि यह सर्वशक्तिसम्पन्न है। विश्व की सभी शक्तियां भगवान के अधीन हैं। भगवान परमशक्ति होने के कारण परम शासक है।इसका अर्थ है, भगवान जो चाहे कर सकता है, जो नहीं चाहे नहीं कर सकता है और यदि दूसरी प्रकार से चाहे तो दूसरी प्रकार से कर सकता है। भगवान पूर्णतया स्वतन्त्र है।

2) **सर्वव्यापकता (Omnipresence)-** सर्वव्यापकता का अर्थ होता है, सर्वत्र व्याप्त होना अर्थात्, ऐसा कोई स्थान नहीं है जहां भगवान न हो।भगवान विश्व के कण-कण में व्याप्त माना जाता है। ईश्वरवादी विचारकों के अनुसार जिस प्रकार शरीर के प्रत्येक अंग में आत्मा व्याप्त होती है, उसी प्रकार संसार के कण-कण में भगवान विद्यमान है। धार्मिक भावना के विकास के लिए भी भक्तिमार्गी भगवानवादियों ने भगवान की सर्वव्यापकता को अनिवार्य माना है। एक साधक या भक्त एक ऐसे भगवान की कल्पना करता है जो निरन्तर उसके समीप हो तथा उसकी कमियों को दूर करने के लिए प्रयत्नशील हो। एक ऐसा भगवान जो विश्वातीत है, मनुष्य से सुदूर है, भक्ति का पात्र नहीं बन सकता। इस प्रकार सर्वशक्तिमत्ता की तरह सर्वव्यापकता भी भगवान के अनिवार्य गुण माना जाता है।

3) **सर्वज्ञता (Omniscience)-** भगवान को सर्वशक्तिमान और सर्वव्यापक मानने के साथ ही साथ उसे सर्वज्ञ भी माना गया है। सर्वज्ञ का शाब्दिक अर्थ है जिसे सब वस्तुओं का ज्ञान हो या जो सब कुछ जानता हो। भगवान का ज्ञान पूर्ण कहलाता है क्योंकि वह समस्त विषयों को पूरी तरह से जानता है। भगवान को समस्त चराचर, भौतिक और चेतन सत्ताओं के ज्ञान के साथ ही साथ भूत, वर्तमान और भविष्य की सभी घटनाओं का पूर्ण ज्ञान रहता है। इस जगत में ऐसी कोई घटना नहीं है जिसका भगवान को पूर्ण ज्ञान न हो। इस प्रकार भगवान का पूर्ण तथा असीमित ज्ञान मनुष्य के अपूर्ण तथा सीमित ज्ञान से भिन्न है।

धार्मिको का अभिमत है कि भगवान की सर्वज्ञता का कारण यह है कि उसने ही सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड की रचना की है और भगवान विश्व में व्याप्त है। भगवान का ज्ञान किसी घटना विशेष से सम्बद्ध नहीं होता अपितु सम्पूर्ण विश्व से सम्बद्ध होता है। मानव की चेतना सीमित है जबकि भगवान में असीम, अनन्त चेतना है। विश्व में ऐसी कोई भी घटना नहीं है जिसे भगवान के ज्ञान से से परे माना जा सके।

4) **अनन्तता और नित्यता (Infinity and Eternity)-** धर्मशास्त्रियों ने भगवान को नित्य सत्ता के रूप में स्थापित किया है। 'नित्य शब्द का प्रयोग प्रायः दो अर्थों में किया गया है। पहले अर्थ में भगवान को नित्य कहने का आशय यह है कि वह शाश्वत, अविनाशी, अपरिणामी, अपरिवर्तनशील, अनादि तथा अनन्त है। भगवान के स्वरूप के विपरीत समस्त सांसारिक पदार्थ, विनाशशील, नश्वर, परिणामी, परिवर्तनशील एवं अनित्य हैं। सभी वस्तुओं की उत्पत्ति होती है तथा ये विनष्ट हो जाते हैं। भगवान को इन समस्त वस्तुओं का आदि कारण माना जाता है। नित्यता के इस अर्थ में भगवान सर्वदा अपरिवर्तित एकरूप तथा अविकारी बना रहता है।

नित्यता के दूसरे अर्थ में भगवान को कालातीत या काल से परे माना जाता है। यहाँ यह निहितार्थ है कि अन्य वस्तुओं की भांति काल भी भगवान की रचना है । काल का स्रष्टा होने के कारण भगवान काल से परे है। इस अर्थ में भी भगवान की नित्यता के अन्तर्गत भगवान की शाश्वतता, अनश्वरता तथा अपरिवर्तनशीलता स्थापित रहती है ! अनन्तता शब्द का भावात्मक अर्थों में प्रयोग करते हुए कहा गया है अनन्तता पूर्णता और स्वतन्त्रता का द्योतक है। भगवान पूर्ण है, आप्तकाम है, वह किसी की अपेक्षा नहीं करता, वह किसी पर आधारित भी नहीं है। मृत्यु और विनाश से परे होने के कारण भगवान समस्त दोषों से भी परे है।

5) **असीमितता या अपरिमितता (Unlimitedness)-**

धर्मशास्त्रियों ने उपरोक्त गुणों के साथ ही साथ भगवान को असीम या अपरिमित भी माना है। संसार के समस्त भौतिक पदार्थ सीमित एवं परिमित है। संसार के समस्त भौतिक पदार्थ कुछ निश्चित सीमाओं द्वारा निर्धारित होते हैं जबकि भगवान समस्त सीमाओं के परे है।कुछ विद्वानों ने असीमितता शब्द को उपरोक्त अर्थ से भिन्न मानते हुए इसका अर्थ सभी दृष्टियों से पूर्ण होने से लिया है। जो अपने आप में पर्याप्त हो अर्थात् आप्तकाम हो भगवान में कोई अभाव, अपूर्णता, कमी, दोष या विसंगति नहीं है जिससे कि उसे सीमित माना जाय।

2 नैतिक गुण-

भगवानवादियों ने भगवान के विभिन्न गुणों के अन्तर्गत अनेक नैतिक गुणों का भी समावेश किया है। सर्वगुण सम्पन्न, व्यक्तित्वपूर्ण भगवान में प्रेम, शुभत्व, करुणा, परोपकार, न्याय, उदारता, क्षमाशीलता आदि सद्गुण पाए जाते हैं। ऐसा भगवान विश्व का रचयिता होने के कारण समस्त प्राणियों से प्रेम करता है तथा उसका प्रेम निःस्वार्थ एवं असीम है। भगवान की कृपा, उदारता, क्षमाशीलता और करुणा भी असीमित है। भगवान सर्वदोषविर्निमुक्त, परम शुभ तथा परम पवित्र है जो समस्त कमियों, बुराइयों, दोषों, विसंगतियों और अशुभों से परे है। भगवान न्यायप्रिय एवं निष्पक्ष है। भारतीय दर्शन में अनेक दार्शनिकों ने भगवान को कर्मो का निर्णायक भी माना है जो मनुष्य के कर्मों के अनुसार मनुष्य को सुख-दुःखादि फल प्रदान करता है।

2.4 निरपेक्ष ब्रह्मा के रूप में भगवान

भगवान के स्वरूप के सम्बन्ध में धर्म दार्शनिकों एवं धर्मशास्त्रियों ने दो प्रकार की धारणाओं का प्रतिपादन किया है। कुछ धर्मदार्शनिक भगवान को व्यक्तित्वपूर्ण, सगुण एवं साकार मानते हैं

जबकि कुछ भगवान को निराकार, व्यक्तित्वविहीन, निर्गुण, निर्विशेष परमतत्व मानते हैं। भगवान के सम्बन्ध में दूसरी अवधारणा को भगवान की 'निरपेक्ष अवधारणा' के रूप में अभिहित किया जाता है। कुछ भारतीय एवं पाश्चात्य भगवानवादी भगवान की निरपेक्ष अवधारणा का समर्थन करते हैं। भारतीय विचारधारा के अन्तर्गत अद्वैत वेदान्त में शंकराचार्य ने इसी धारणा की स्थापना की है। पारमार्थिक दृष्टि से शंकराचार्य ने एक ही परमतत्व की सत्ता को स्वीकार किया है जो निराकार, निर्गुण, निरपेक्ष एवं निर्विशेष ब्रह्म है। भारतीय दर्शन के उद्गम स्रोत के रूप में स्वीकार किए जाने वाले उपनिषदों में पहले ही निरपेक्षवाद, एकतत्ववाद, ब्रह्मवाद या आध्यात्मवाद की स्थापना की जा चुकी है। शंकराचार्य ने उपनिषदों की विचारधारा को ही अपने अद्वैत वेदान्त में तार्किक दृष्टि से प्रस्तुत किया है। शंकर के अनुसार भगवान, जीव तथा जगत पारमार्थिक दृष्टि से यथार्थ न होकर माया अथवा अविद्या के फलस्वरूप उत्पन्न प्रतिभास या मिथ्या प्रतीतियां मात्र हैं।

जगत की समस्त वस्तुएं अनित्य एवं परिवर्तनशील हैं। शंकर इसके आगे बढ़ते हुए यह तर्क करते हैं कि अनित्यता और अपरिवर्तनशीलता के मूल में एक शाश्वत एवं स्थायी सत्ता अवश्य विद्यमान है जो सम्पूर्ण जगत का अधिष्ठान अथवा मूल आधार है। इसी नित्य, अपरिवर्तनशील अपरिणामी, अविकारी, चैतन्य सत्ता को शंकर ने ब्रह्म कहा है। उनके अनुसार ब्रह्म निराकार निर्विशेष और निर्गुण है और यह समस्त भेदों एवं उपाधियों से रहित है। ब्रह्म समस्त वर्णनों से परे है, वह समस्त गुणों, विशेषताओं और धर्म से भी परे हैं। ब्रह्म में किसी गुण का समावेश करना उसे सीमित करना है अतः वह अनिर्वचनीय एवं अनभिलाप्य है। उसका 'नेति नेति' या निषेधात्मक दृष्टिकोण रूप से उल्लेख किया जा सकता है। शंकर ने उपनिषदों का अनुकरण करते हुए ब्रह्म को चैतन्य स्वरूप, ज्ञानस्वरूप, आनन्दस्वरूप माना गया है, शंकराचार्य का मत है कि ब्रह्म सजातीय, विजातीय एवं स्वगत भेदों से रहित है। और समस्त विकारों से रहित है। ब्रह्म को सत्, चित, आनन्द या सच्चिदानन्द कहा गया है। इस सम्बन्ध में अद्वैत वेदान्ताचार्यों ने यह स्पष्ट किया है कि सत्, चित् और आनन्द ब्रह्म के गुण न होकर ब्रह्म के स्वरूप के अभिन्न अंश अथवा मूलतत्व हैं। इस प्रकार निर्गुण एवं निराकार ब्रह्म को ही अद्वैत वेदान्त में पारमार्थिक दृष्टि से परमतत्व एवं जगत का अधिष्ठान माना गया है।

जहां तक ब्रह्म के ज्ञान का प्रश्न है, शंकराचार्य की मान्यता है कि ब्रह्म को अनुभव एवं तर्कबुद्धि के माध्यम से नहीं जाना जा सकता है क्योंकि निराकार, निर्गुण एवं निरपेक्ष होने के कारण ब्रह्म बुद्धि की समस्त अवधारणाओं से परे हैं। ब्रह्म स्वयं प्रकाशमान एवं स्वयंसिद्ध सत्ता है जिसे प्रमाणों द्वारा सिद्ध किए जाने की कोई आवश्यकता नहीं है। शंकर के अनुसार श्रुतियां ब्रह्म की सत्ता के प्रमाण हैं भारत में वेद, उपनिषद एवं गीता को श्रुति का स्थान दिया गया है जिसके कथन प्रामाणिक और सत्य माने जाते हैं। उपनिषदों में निर्गुण, निराकार, निर्विशेष, निराधार एवं सचिदानन्द ब्रह्म के अस्तित्व को प्रतिपादित किया गया है अतः ब्रह्म का अस्तित्व असंदिग्ध है। ब्रह्म की सत्ता के लिए श्रुति के रूप में इन उपनिषदों के कथन ही अंतिम एवं अकाट्य प्रमाण है। श्रुतियों के कथनों को स्वतः प्रमाणित माना जाता है जिन्हें प्रमाणित करने की आवश्यकता नहीं होती।

पाश्चात्य दर्शन में भी कुछ ऐसे महत्वपूर्ण दार्शनिक हुये हैं जिन्हें भगवान या परम-तत्व को निर्वैयक्तिक सत्ता के रूप में स्वीकार करते हैं। इन दार्शनिकों में शैलिंग, हीगेल, ग्रीन, ब्रेडले आदि का नाम मुख्य रूप से उद्धरणीय है। इन दार्शनिकों ने परमतत्व को सगुण, साकार, सविशेष एवं व्यक्तित्वपूर्ण न मानकर उसे निर्वैयक्तिक, निराकार निरपेक्ष, निर्गुण एवं निर्विशेष

सत्ता मानते हैं।

भगवान या परमतत्व के बारे में उपरोक्त धारणा की आलोचना करने वाले धार्मिक दृष्टि से इस मत को अनुपयोगी मानते हैं। भक्त के लिए उपासना का अत्यधिक महत्व है, जहाँ पर भगवान और भक्त, आराधक और आराध्य में द्वैत होना परमावश्यक है, विना इस भेद के उपासना या आराधना संभव ही नहीं है। एक भक्त सगुण और साकार भगवान को ही अपना उपास्य मानकर उसकी पूजा-अर्चना करता है और उसके प्रति पूर्ण आत्म-समर्पण करता है। जो भगवान भक्त की प्रार्थना नहीं सुन सकता या उसकी सहायता नहीं कर सकता उसका भक्त के लिए कोई महत्व नहीं हो सकता। यही कारण है कि भक्त, साधक या आराधक भगवान में मानवीय गुणों को आरोपित करके उसे व्यक्तित्वपूर्ण और सर्वगुण सम्पन्न मान लेता है।धार्मिक दृष्टि से ब्रह्म को सगुण साकार, सविशेष तथा व्यक्तित्वपूर्ण माना गया है। इस सगुण ब्रह्म को ही भगवान कहा जाता है जो कि सृष्टिकर्ता, पालनकर्ता और संहारकर्ता है।

2.5 भगवान के विभिन्न नाम

भागवत पुराण में कहा गया है कि भगवान के विभिन्न नाम हैंIभगवान को विभिन्न नामों से पुकारा जाता है। जैसे- भगवान - विभिन्न गुणों और शक्तियों के स्वामी।

धाता - संसार का पालन करने वाला, पालनकर्ता।

ईश्वर - सर्वशक्तिमान, शासक।

परमात्मा - परम आत्मा।

परमेश्वर - परम ईश्वर, जो संसार का सृष्टिकर्ता, पालक और संहारक है।

विधाता - सृष्टि की रचना करने वाला, सृष्टिकर्ता।

2.6 भगवान् के अस्तित्व के लिए प्रमाण

1) **सृष्टिमूलक प्रमाण(Cosmological Argument)-** इसे विश्वमूलक युक्ति भी कहा जाता है, अंग्रेजी शब्द 'Cosmos' का अर्थ संसार या विश्व है। यह एक अनुभवमूलक युक्ति (Aposteriori Argument) है। विश्व की व्याख्या करने के निमित्त इस युक्ति में भगवान की सत्ता को प्रमाणित करने का प्रयास किया गया है। विश्वमूलक प्रमाण भगवान के अस्तित्व के लिये दिये जाने वाले प्राचीनतम प्रमाणों में से एक है जिसका प्रयोग महान यूनानी दार्शनिक **प्लेटो** और **अरस्तू** ने किया है। सर्वप्रथम 'लाओज' और 'फिडरस' नामक पुस्तक में **प्लेटो** ने इस युक्ति का प्रयोग किया। **अरस्तू** ने **प्लेटो** से प्रेरणा लेकर गति के आधार भगवान को अप्रवर्तित प्रवर्तक (unmoved mover) सिद्ध किया। **सन्त थॉमस एकीनास अरस्तू** की युक्ति से प्रभावित हुये तथा उन्होंने इसी प्रकार विश्वमूलक प्रकार के पांच रूपों का उल्लेख किया। 'Summa Theologiae' नामक प्रसिद्ध ग्रन्थ में **सन्त थॉमस एक्वीनास** ने विश्वमूलक युक्ति की अत्यन्त विस्तारपूर्वक विवेचना की है। उनके द्वारा प्रस्तुत पांच रूपों में से तीन रूप अधिक प्रचलित होने के कारण विशेष महत्वपूर्ण हैं— इन्हें क्रमशः 'गति सम्बन्धी प्रमाण', 'आकस्मिकता सम्बन्धी प्रमाण और 'कारणता सम्बन्धी प्रमाण' कहा जाता है।

गतिमूलक तर्क का सर्वप्रथम प्रयोग महान यूनानी दार्शनिक **अरस्तू** ने किया। अरस्तू के अनुसार गति एक ऐसे पारमार्थिक स्रोत की ओर संकेत करती है जो समस्त गति का कारण, स्रोत या आधार है तथा जो स्वयं अप्रवर्तित रहते हुए सभी को गति प्रदान करता है (Metaphysics 999B) इस तर्क का प्रारंभ इस प्रकार होता है, विश्व में सर्वत्र गति, परिवर्तन और परिणाम है। गति स्वयं उत्पन्न नहीं हो सकती है क्योंकि गति का कोई न कोई कारण या स्रोत होता है। पुनः गति के उस स्रोत का भी कोई अन्य स्रोत होना चाहिए, इसी क्रम में आगे बढ़ने पर अनवस्था दोष आ जाता है। इसलिए अनन्त श्रृंखला के परिणामस्वरूप उत्पन्न होने वाले इस दोष से बचने के लिये हमें एक ऐसी सत्ता को स्वीकार करना पड़ता है जो समस्त गतिमान वस्तुओं की गति का आदि कारण है अर्थात् सर्वप्रथम गति प्रदान करने वाली वही सत्ता है। इसी सत्ता को भगवान कहा गया है जो अप्रवर्तित प्रवर्तक है। **अरस्तू** के अनुसार भगवान ही गति का मूल कारण है परन्तु वह स्वयं गतिहीन है। इसी प्रकार अरस्तू का अनुकरण करते हुए **सन्त एक्वीनास** तथा अन्य दार्शनिक भगवान के अस्तित्व को प्रमाणित करते हैं।

उपरोक्त युक्ति का विश्लेषण करने पर यह स्पष्ट होता है कि **एक्वीनास** के अनुसार / विश्व की समस्त वस्तुएं आकस्मिक या आपातिक हैं क्योंकि ये उत्पन्न होती हैं और विनष्ट हो जाती हैं। इन वस्तुओं का अस्तित्व अन्य वस्तुओं पर निर्भर होने के कारण इन्हें निरपेक्ष और स्वतन्त्र नहीं माना जा सकता है, ये सभी वस्तुएं सान्त, सीमित, सापेक्ष और सोपाधिक हैं। यदि सभी वस्तुएं विनाशशील हैं तो काल की अनन्त श्रृंखला में वे एक-एक करके विनष्ट हो जायेंगी और अन्त में शून्य बचेगा जबकि शून्य से किसी वस्तु की उत्पत्ति संभव नहीं है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि भगवान एक अनिवार्य सत्ता है जो अनादि और अनन्त है जो उत्पत्ति और विनाश से परे है। यह भगवान आत्मनिर्भर, स्वाश्रित और स्वयंभू है जो अन्य सभी आकस्मिक आपातिक और सोपाधिक वस्तुओं का अनिवार्य आश्रय और आधार है। भगवान अपने अस्तित्व के लिए किसी अन्य की अपेक्षा नहीं करता, वह निरपेक्ष और स्वतन्त्र है तथा विश्व की सभी वस्तुओं का कारण है।

सृष्टिमूलक प्रमाण का तीसरा रूप **कारणमूलक** तर्क है जिसके अन्तर्गत विश्व को कार्य और भगवान को इसका कारण या सृष्टिकर्ता मान लिया जाता है। यहाँ यह तर्क दिया जाता है कि कोई भी घटना अकारण घटित नहीं होती है अर्थात प्रत्येक घटना का कोई न कोई कारण अवश्य होता है। विश्व की जितनी घटनाएं हैं वे पूर्ववर्ती घटनाओं के कार्य हैं और स्वयं पूर्ववर्ती घटनाएं अपनी पूर्ववर्ती घटनाओं के और पुनः पूर्ववर्ती अपने पूर्व की घटनाओं के कार्य हैं अतः अनवस्था दोष से बचने के लिए हमें यह स्वीकार कर लेना चाहिए कि सभी घटनाओं का एक आदि कारण (First Cause) है जिसका अन्य कोई कारण नहीं है। इसी कारणरहित कारण (Uncaused Cause) को भगवान कहा गया है जो सभी कार्यों का कारण है किन्तु स्वयं जिसका कोई कारण नहीं है। समस्त सांसारिक पदार्थ उसके कार्य हैं किन्तु वह स्वयं किसी का कार्य नहीं है।

भारतीय दर्शन में न्याय दर्शन के **आचार्य उदयन** ने अपने ग्रन्थ **'न्याय कुसुमांजलि'** में भगवान की सत्ता को सिद्ध करने के लिए कारणमूलक तर्क का प्रयोग किया है। नैयायिकों के मतानुसार भगवान इस विश्व का उपादान कारण न होकर केवल निमित्त कारण है। नैययिकों ने दिक, काल, पंच महाभूत(आकाश,वायु,अग्नि,जल,पृथ्वी) आत्मा, मनस इन नौ शाश्वत द्रव्यों का उल्लेख किया है जो भगवान-विरचित न होकर शाश्वत द्रव्य है।

भगवान निमित्त कारण के रूप में विश्व का सृष्टिकर्ता है। इन विधारकों के अनुसार भगवान की सत्ता को स्वीकार किए बिना विश्व के अस्तित्व की संतोषजनक व्याख्या नहीं की जा सकती है।

2) **सत्तामूलक तर्क(Ontological Argument)-** सृष्टिमूलक तर्क के विपरीत सत्तामूलक तर्क एक प्रागानुभविक प्रमाण है। इसे प्रत्यय-सत्ता प्रमाण भी कहा जाता है क्योंकि इसमें भगवान के प्रत्यय के आधार पर भगवान की सत्ता को प्रमाणित किये जाने का प्रयास किया गया है।

   उनकी धारणा है कि भगवान वह पूर्ण सत्ता है जिसके अनस्तित्व का विचार ही नहीं किया जा सकता है। पूर्ण सत्ता का तात्पर्य ऐसी सत्ता से है जिससे उच्चतर या वृहत्तर कोई अन्य सत्ता न हो। ऐसी सत्ता या तो मस्तिष्क मात्र में होगी या वास्तव में तथ्यपरक होगी। यदि ऐसी सत्ता केवल विचार मात्र है या मानसिक ही है, तो उसे पूर्ण सत्ता नहीं माना जा सकता। इस प्रकार पूर्ण सत्ता उसे माना जायेगा जो विचार और यथार्थ दोनों में सत् हो।

   देकार्त के अनुसार जिस प्रकार त्रिभुज के ज्ञान में ही यह ज्ञान भी निहित है कि उसके तीनों कोणों का योग दो समकोण के बराबर होता है,उसी प्रकार भगवान की पूर्णता में यह भी निहित है कि उसका अपना अस्तित्व है। यदि भगवान में अस्तित्व का अभाव है तो उसे अपूर्ण कहा जायेगा। अतः भगवान की पूर्णता में ही उसका अस्तित्व समाविष्ट है।**देकार्त** ने सत्तामूलक युक्ति को एक अन्य रूप में भी अभिव्यक्त किया है— 'मेरी बुद्धि में पूर्ण (Perfect),अनन्त (Infinite) भगवान का विचार है। इस विचार या प्रत्यय का कोई न कोई कारण अवश्य होगा'। **देकार्त** के अनुसार हम अपूर्ण और सीमित प्राणी हैं इसलिए पूर्ण और अनन्त भगवान के प्रत्यय का कारण नहीं हो सकते हैं। अतः इस धारणा का अन्य कोई कारण नहीं है अपितु भगवान स्वयं हैं जो पूर्ण एवं अनन्त है। परिणामस्वरूप भगवान का अस्तित्व असन्दिग्ध रूप से माना जा सकता है।

3) **प्रयोजनमूलक प्रमाण(Teleological Argument)-** प्रयोजनमूलक प्रमाण के अन्तर्गत विश्व में व्याप्त प्रयोजन, उद्देश्य, सुसंगति, व्यवस्था और अनुरूपता के आधार पर भगवान के अस्तित्व को सिद्ध करने का प्रयास किया गया हैI ऑग्ल भाषा में इसे 'Teleological Argument' कहा जाता है। 'Teleology' यूनानी शब्द 'Teleolos' से निःसृत हुआ है जिसका अर्थ है 'उद्देश्य'I इस प्रमाण का आधार यही है कि यह विश्व प्रयोजनविहीन या निरुद्देश्य नहीं है तथा इस विश्व में एक व्यवस्था है जो अपने आप स्थापित नहीं है अपितु इस व्यवस्था का कोई व्यवस्थापक अवश्य है जो कि चेतन एवं बौद्धिक सत्ता है। अनुभव पर आधारित यह युक्ति भगवान को व्यवस्थापक और योजनाकार के रूप में निदर्शित करती है।यहाँ जिस तथ्य को इंगित किया गया है वह यह है कि यह विश्व किसी बौद्धिक सत्ता द्वारा नियंत्रित और नियमित किया जा रहा है और वह बौद्धिक सत्ता **'Summa Theologica'** नामक ग्रन्थ में महान मध्यकालीन विचारक **सन्त थॉमस एकीनास** ने भी इस युक्ति का प्रयोग किया। उनका मन्तव्य है कि विश्व में जो प्राकृतिक तत्व हैं जिनमें ज्ञान का अभाव है' ,दूसरों के उद्देश्य की पूर्ति करते हैं। जिन तत्वों में ज्ञान का अभाव है, वे तब तक किसी एक निश्चित उद्देश्य या प्रयोजन की सिद्धि नहीं कर सकते जब तक कि उसे ज्ञानयुक्त और बुद्धिसम्पन्न कोई तत्व निर्देशित, नियंत्रित या नियमित न करे। इसलिए कोई बौद्धिक सत्ता अस्तित्वमान है जो समस्त प्राकृतिक वस्तुओं

को निर्दिष्ट कर रही है और इस शक्ति को हम भगवान कहते हैं।

प्रसिद्ध नैयायिक **जयन्त भट्ट** और **महान अद्वैत वेदान्ती शंकराचार्य** ने प्रयोजनमूलक युक्ति का समर्थन किया है। विश्व में व्याप्त व्यवस्था और प्रयोजन के आधार पर ही **जयन्त भट्ट** ने भगवान की सत्ता को सिद्ध किया है। सांसारिक वस्तुओं की उत्पत्ति न तो आकस्मिक है और न ही संयोगवश उसी प्रकार ब्रह्माण्ड की रचना भी सर्वज्ञ तथा सर्वशक्तिमान भगवान द्वारा की गई है क्योंकि उसमें भी व्यवस्था और प्रयोजन विद्यमान है।जहाँ तक **शंकराचार्य** के मत का प्रश्न है, पारमार्थिक दृष्टि से तो उन्होंने निर्गुण, निराकार, और निविशेष ब्रह्म की वास्तविक सत्ता को स्वीकार किया है। परन्तु व्यावहारिक दृष्टि से उन्होंने जगत की सत्ता और इसके कारण के रूप में भगवान की सत्ता को स्वीकार किया है। भगवान के अस्तित्व के लिए सृष्टिमूलक और नैतिक तर्कों के साथ-साथ प्रयोजन मूलक तर्क का भी प्रतिपादन किया है। विश्व में व्याप्त व्यवस्था, सुसंगति और प्रयोजन के आधार पर उन्होंने भी बुद्धिमान भगवान की सत्ता को स्वीकार किया है। भगवान ने माया के द्वारा इस व्यवस्थित एवं प्रयोजनपूर्ण जगत् की रचना की है। बिना भगवान के अस्तित्व को स्वीकार किये हम इस व्यावहारिक जगत की सत्ता की व्याख्या नहीं कर सकते।

4) **नैतिक तर्क(Moral Argument)-** नीतिशास्त्र के अन्तर्गत **कान्ट** ने आत्मा की अमरता (Immortality of Soul), भगवान के अस्तित्व (Existence of God) और संकल्प की स्वतन्त्रता (Freedom of will) को नैतिकता की पूर्वमान्यताओं (Postulates of Morality) के रूप में स्वीकार किया है।भगवान को नैतिक न्यायाधीश की संज्ञा दी है। यदि हम भगवान के अस्तित्व को स्वीकार करें और यह मानें कि मानव कर्तव्य भगवान की आज्ञाएं हैं तो हमें कर्तव्य पालन में प्रेरणा मिलती है।

प्रायः हम देखते हैं कि सदाचारी व्यक्ति दुखी रहता है, जबकि दुराचारी व्यक्ति सदैव ही सुखी। क्या यह न्याय है? किंतु फिर भी सदाचारी व्यक्ति के मन में यह दृढ़ आस्था रहती है कि भगवान एक न एक दिन अवश्य ही न्याय करेगा और सदाचारियों को पुरस्कृत और दुराचारियों को दंडित करेगा।अतः एक न एक दिन ऐसा आएगा जब व्यक्ति के कर्मों का मूल्यांकन होगा। इस प्रकार न्याय की स्थापना के लिए भगवान का होना आवश्यक है। अन्यथा नैतिक नियमों का कोई अर्थ नहीं रह जाएगा। भारतीय परंपरा में भगवान को इसीलिए कर्माध्यक्ष या न्यायाधीश के रूप में स्वीकार किया गया है जो शुभ - अशुभ कर्मों के अनुसार दुष्टों को दंडित और सदाचारियों को पुरस्कृत करता है। **गीता में भगवान श्रीकृष्ण कहते हैं कि " परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।**

धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे।। "4/8

अर्थात् दुष्टों के विनाश तथा साधु पुरूषों को मुक्ति दिलाने के लिए और धर्म की स्थापना के लिए मैं प्रत्येक युग में प्रकट हुआ करता हूँ। इस प्रकार नैतिक मूल्यों के रक्षा के लिए भगवान का होना अनिवार्य है। ऋग्वेद में भी ऋत को माना गया है जो संपूर्ण नैतिक और भौतिक व्यवस्थाओं का आधार है, और ऋत का अधिष्ठाता स्वयं भगवान है। अतः भगवान का अस्तित्व सिद्ध होता है। न्याय दर्शन में भी अदृष्ट को माना गया है जो हमारे कर्मों के अनुसार हमें उचित- अनुचित कर्मफल प्रदान करता है। परन्तु अदृष्ट स्वयं अचेतन है। अतः अदृष्ट में गति के लिए सर्वज्ञ भगवान के निर्देश एवं संचालन की आवश्यकता है।

इस प्रकार अदृष्ट के संचालन हेतु भगवान की सत्ता सिद्ध होती है।

5) **धार्मिक अनुभूति के आधार पर भगवान के अस्तित्व का प्रमाण (Argument for the existence of God based on 'Religious Experience)-** धर्मशास्त्र और धर्म में धार्मिक अनुभूति का विशिष्ट स्थान है और इसका प्रयोग व्यापक अर्थों में किया जाता है। इसके अन्तर्गत रहस्यानुभूति, श्रुति प्रकाश तथा अयौक्तिक अनुभूति को भी समाविष्ट किया जाता है। भगवान की सत्ता को प्रमाणित करने के लिए अनेक धार्मिकों एवं भगवानवादी दार्शनिकों ने धार्मिक अनुभूति का आश्रय लिया है। **सन्त प्लोटिनस** से लेकर **विलियम जेम्स** और **डब्लू. टी. स्टेस** तक ईश्वरवादी दार्शनिकों, रहस्यवादियों, सन्तों, पैगम्बरों की एक लम्बी श्रृंखला है जिन्होंने विशिष्ट धार्मिक अनुभूति, अलौकिक अन्तः अनुभूति और दिव्य अनुभूति के आधार पर भगवान की सत्ता को प्रदर्शित किया है। समकालीन धार्मिकों एवं विचारकों में भी **डब्लू. आर. इञ्ज, इब्लिन अन्डरहिल,सफल जोन्स, हेनरी वर्गसां, रुडोल्फ ऑटो, जॉन बेली और रिचर्ड नेभ्यु** आदि दार्शनिको ने धार्मिक अनुभूति के आधार पर भगवान के अस्तित्व को प्रदर्शित करने का प्रयास किया है।

अनेक धार्मिकों ने रहस्यानुभूति (Mystical experience) को धार्मिक अनुभूति की चरम परिणति मानते हुए इसे भगवान की साक्षात् अनुभूति का प्रबल साधन माना है। रूढ़िवादी ईसाई एवं इस्लाम धर्म के समर्थक इस प्रकार की अनुभूति का समर्थन नहीं करते क्योंकि इसमें भक्त भगवान के साथ आत्मसात करता हुआ माना जाता है। रहस्यवादी यह मानते हैं कि भक्त भगवान में इतना निमग्न हो जाता है कि वह भगवान में स्वयं को विलीन समझता है। स्मरणीय है कि ईश्वरवादी भगवान को पूर्ण, परम पवित्र, मानवेतर, विश्वेतर, और शुभ मानता है कि किसी भी मनुष्य के भगवान के साथ साक्षात्कार को सिद्धान्ततः स्वीकार ही नहीं कर सकता है।इसके सबके बावजूद कुछ धार्मिकों जैसे- **डीन इञ्ज, इब्लिन अण्डरहिल, रुफस** इत्यादि ने रहस्यात्मक अनुभूति को भगवान के साक्षात्कार का सशक्त साधन माना है। अधिकांश ईश्वरवादी धर्मदार्शनिकों ने रहस्यानुभूति के माध्यम से भगवान के साक्षात्कार को भगवान की दिव्य अनुभूति के रूप में चिन्तित किया है जो अवर्णनीय, अवक्तव्य और अनिर्वचनीय है क्योंकि इस दिव्य अनुभूति को लौकिक साधारण भाषा के माध्यम से व्यक्त नहीं किया जा सकता है।

2.7 हिन्दू धर्म-दर्शन में भगवान

1) **हिन्दू धर्म की आधारभूत मान्यताएँ :** हिन्दू-धर्म का मूलाधार वेदों की प्रामाणिकता में विश्वास करना है। भगवान, आत्मा या मोक्ष सम्बन्धी किसी अवधारणा में विश्वास करना हिन्दू धर्म की आधारभूत विशेषता नहीं है अपितु वेदों में श्रद्धा रखना तथा उनकी प्रामाणिकता में विश्वास करना हिन्दू धर्म के लिए परमावश्यक हैं। बौद्ध और जैन ,सांख्य और मीमांसा जैसे भारतीय दार्शनिक सम्प्रदाय भगवान के अस्तित्व में विश्वास नहीं करते फिर भी इन्हें हिन्दू-धर्म का महत्वपूर्ण अंग माना जाता है। भगवान की धारणा, आत्मा की अमरता, सृष्टि सम्बन्धी धारणा, पुर्नजन्म एवं आवागमन-चक्र, कर्मवाद, वर्णाश्रम-विधान आदि हिन्दू धर्म की प्रमुख मान्यताएं हैं-

भगवान - भगवान-विचार हिन्दू-धर्म का केन्द्र बिन्दु है। हिन्दू धर्म में भगवान को

सृष्टिकर्ता, पालनकर्ता और संहारकर्ता माना गया है जिन्हें ब्रह्मा, विष्णु एवं महेश के रूप में स्वीकार किया गया है। भगवान कर्म का नियामक एवं धर्म का संस्थापक है। अवतारवाद में विश्वास इस धर्म का विशिष्ट लक्षण है। ऐसा माना गया है कि जब पृथ्वी पर धर्म का नाश होने लगता है तो भगवान का पृथ्वी पर अवतार होता है। जो विश्व में व्याप्त अधर्म एवं पाप का संहार करते हैं तथा धर्म की रक्षा करते हैं। राम, कृष्ण, परशुराम आदि अवतार के रूप में स्वीकार किए गये हैं।

हिन्दू-धर्म में भगवान को विश्वव्यापी एवं विश्वातीत दोनों माना गया है। भगवान इस विश्व में व्याप्त रहने के कारण विश्व का उपादान कारण है। इसी प्रकार विश्व से अलग रहने के कारण विश्व का निमित्त कारण भी है। भगवान को पूर्ण, सर्वशक्तिमान, पूर्ण स्वतन्त्र और पूर्ण सर्वज्ञ माना गया है। हिन्दू धर्म में भगवान को अनन्त गुणों से युक्त माना गया है जिनमें से छः गुण अत्यधिक प्रधान हैं - आधिपत्य (Majesty), वीर्य (Almighty), यश (Allglorious), श्री (Infinitely beautiful), ज्ञान (Knowledge) एवं वैराग्य (Detachment)। हिन्दू-धर्म में भगवान को नैतिक व्यवस्थापक (Moral Governor) कहा गया है जो हमारे शुभ तथा अशुभ कर्मों का निर्णय करता है तथा सुख एवं दुःख प्रदान करता है। हिन्दू-धर्म में भगवान को दयालु और कृपालु माना गया है जो अपने भक्तों का उद्धार करता है और धार्मिक आत्माओं की रक्षा करता है।

2) **गीता में भगवान-** गीता में भगवान के सगुण रूप का विवेचन किया गया है। यह शिव, विष्णु आदि नामों से जाना जाता है। गीता में भगवान को अनंत एवं सांत दोनों से परे माना गया है। वह संसार का जनक तथा कारण है और सभी प्राणियों में शक्ति के रूप में व्याप्त है। वह सभी वस्तुओं का आधार है। और सबमें जीवन का संचार करता है। वह अनादि, अनंत, कूटस्थ, नित्य और सर्वगुणसम्पन्न है। गीता में भगवान को एक सर्वोपरि सत्ता, सर्वोच्च आत्मा या परमात्मा माना गया है जो तीनों लोक में व्याप्त है और उसे धारण करता है।

गीता में भगवान के दो स्वरूपों का विवेचन प्राप्त होता है- परा और अपरा।भगवान का परा रूप उसकी उच्च प्रकृति है।यह उसकी चेतन प्रकृति है। भगवान की परा प्रकृति को क्षेत्रज्ञ या अक्षर जीव भी कहते हैं।भगवान का अपरा स्वरूप उसकी निम्न प्रकृति है। यह उसकी अचेतन प्रकृति है। भगवान के अपरा रूप को क्षर पुरुष या क्षेत्र भी कहते हैं। यह स्वरूप में भौतिक है। भगवान की अपरा प्रकृति आठ प्रकार की है। -पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन, बुद्धि और अहंकार।

गीता भगवान के व्यक्त और अव्यक्त रूप में दो रूप मानती है। प्रकृति और पुरुष ईश्वर के व्यक्त रूप हैं। अव्यक्त रूप में भगवान शुद्ध, निर्गुण, अनादि और निरवयव माना गया है। गीता के अनुसार भगवान का अव्यक्त रूप उसका श्रेष्ठ रूप है।

गीता में ईश्वर के व्यक्त एवं अव्यक्त रूप के अतिरिक्त उसके विराट् स्वरूप का वर्णन प्राप्त होता है। इसके विराट स्वरूप का न आदि है, न अंत, और न मध्य है। गीता का भगवान अजन्मा है। वह समस्त भूतों की आत्मा है और उन पर शासन करता है। गीता भगवान के अवतारों में भी विश्वास करता है। उसका ईश्वर अजन्मा होते हुए भी जन्म लेता है। जब विश्व में नैतिक एवं धार्मिक मूल्यों का पतन होता है, अनैतिक और अधार्मिक मूल्यों में वृद्धि होती है तब प्रत्येक युग में धर्म की स्थापना के लिए, सज्जनों की रक्षा और दुर्जनों के

विनाश के लिए भगवान जन्म लेता है। वह अकर्ता होकर भी कार्य करता है। गीता में भगवान श्रीकृष्ण स्पष्ट कहते हैं कि 'यद्यपि तीनों लोको मे मेरा कोई कर्तव्य शेष नहीं है और न कोई अप्राप्त वस्तु प्राप्त करना है, तथापि मैं अपना कर्म करता हूँ।' उसके कर्म को उसकी लीला कहते हैं। इस प्रकार गीता का भगवान एक ओर अपने को संसार या प्रकृति के रूप में और दूसरी ओर चेतन बुद्धि या जीव के रूप में व्यक्त करता है। संसार की समस्त वस्तुओं में ईश्वर विद्यमान है। वह संसार में व्याप्त भी है और उससे परे भी है।

भगवान धर्म का संस्थापक और रक्षक है। लोकसंग्रह करता है, सभी मनुष्यों को कर्तव्य पथ पर लगाता है। वह कृपालु है और अपने भक्तों की रक्षा करता है। भक्तों की पुकार सुनता है और उनको अपनी शरण में लेता है। गीता में भगवान को सृष्टिकर्ता तथा जगत का मूल कारण कहा गया है।

3) **न्याय दर्शन में भगवान-** न्याय दर्शन में प्रमाणमीमांसा के बाद दूसरा सर्वाधिक महत्वपूर्ण पक्ष ईश्वरमीमांसा है। न्याय दर्शन में तर्क के आधार पर भगवान की सत्ता को सिद्ध करने का प्रयास किया गया है। न्याय दर्शन का भगवान जगत का सृष्टा, पालक और संहारक है। वह शून्य से जगत की सृष्टि न कर के नित्य परमाणुओं, दिक्, काल, आकाश, मन तथा आत्माओं से उसकी सृष्टि करता है। भगवान इस संसार का निमित्त कारण है। वह कुम्भकार के जैसे नित्य परमाणुओं से उसकी सृष्टि करता है। वह जीवों के कर्मों का प्रयोजक भी है। वह संसार के सभी प्राणियों का कर्मफलदाता और उनके सुख दुःख का निर्णायक तथा दयालु है। न्याय दर्शन में भगवान को शरीरधारी माना गया है जो सत्, चित्त और आनंद से परिपूर्ण है। वह सर्वज्ञ और नित्य है। परमानन्द का भंडार है। भगवान में वैसे तो अंनत गुण हैं लेकिन छह गुण अत्यंत महत्वपूर्ण है जिसे षडैश्वर्य कहते हैं। ये छह गुण हैं- आधिपत्य, वीर्य, यश, श्री, ज्ञान एवं वैराग्य।

न्याय दर्शन में प्रमाणों के आधार पर भगवान के अस्तित्व को सिद्ध करने का प्रयास किया गया है। न्याय दर्शन में भगवान के अस्तित्व को सिद्ध करने के लिए निम्नलिखित नौ तर्क दिये जाते हैं–

पहला, जगत् एक कार्य है। इसका एक निमित्त कारण होना चाहिए जो कोई चेतन तत्व ही हो सकता है। मनुष्य की शक्ति और ज्ञान सीमित होने से वह जगत् का कारण नहीं हो सकता है। अतः भगवान इस जगत रूपी कार्य का कारण है।

दूसरा, न्याय दर्शन के अनुसार यह जगत् एक आयोजन है। यह जगत जिन तत्वों से मिलकर बना है उनमें अनंत आयोजन देखा जाता है। यह आयोजन एक बुद्धि संपन्न कर्ता की अपेक्षा रखता है। चूंकि सृष्टि के आरंभ होने के एकमात्र भगवान ही बुद्धि संपन्न प्राणी के रूप में अस्तित्व में था। अतः यह आयोजन भगवान की सत्ता को सिद्ध करती है।

तीसरा, धारण से भगवान का अस्तित्व सिद्ध होता है। धारण से तात्पर्य है कि यह संसार भगवान की इच्छा से ही स्थित है। भगवान ने इस अद्भुत जगत को धारण किया हुआ है।

चौथा, यह संसार एक व्यवहार है। प्रारम्भ में जीव संसार के व्यवहार से अपरिचित होते हैं। उस समय जीवों को संसार के व्यवहार का ज्ञान कराने के लिए एक चेतन आदि शिक्षक की आवश्यकता होती है। वह आदि शिक्षक भगवान ही हो सकता है।

पांचवा, न्याय दर्शन वेद की प्रामाणिकता के आधार पर भगवान की सत्ता को सिद्ध करता है। वेद सत्य एवं अखंड ज्ञान है। अतः इसकी प्रामाणिकता का कारण कोई चेतन तत्व है। यह चेतन तत्व जीव नहीं हो सकता है क्योंकि उसका ज्ञान सीमित है। अतः असीमित भगवान ही वेद की प्रामाणिकता का कारण है।

छठां, श्रुतियां भी भगवान की सत्ता के लिए प्रमाण हैं। विभिन्न श्रुतियों, स्मृति ग्रंथ में भगवान के सृष्टिकर्ता, पालक, संहारक और संसार के नैतिक संचालक होने का प्रमाण मिलता है।

सातवां, वेद प्रामाणिक ग्रंथ हैं। वेदों के विभिन्न भाग हैं तब भी उनमें अभिप्राय की एकता है।अतः वेदों का रचयिता कोई सर्वज्ञ ही हो सकता है। अतः वेदों का रचयिता भगवान हैं।

आठवां, न्याय वैशेषिक दर्शन परमाणुवादी हैं। उनके अनुसार परमाणुओं से सबसे पहले द्वयणुक उत्पन्न होते हैं। द्वयणुक का परिमाण परमाणुगत द्वित्व संख्या से उत्पन्न होता है। किन्तु इस द्वित्व संख्या की उत्पत्ति अपेक्षा बुद्धि से ही हो सकती है। यह अपेक्षा बुद्धि भगवान की ही हो सकती है क्योंकि सृष्टि के आरंभ में एकमात्र भगवान ही अपेक्षा बुद्धि वाला तत्व था।

नौवां, न्याय दर्शन अदृष्ट से भी भगवान की सत्ता को सिद्ध करता है। धर्म एवं अधर्म अथवा पुण्य और पाप के संग्रह को अदृष्ट कहते हैं जिससे कर्मफल उत्पन्न होता है। सभी जीवों को अदृष्ट का फल मिलता है। किंतु अदृष्ट जड़ है। अतः उसे गतिशील बनाने के लिए एक चेतन तत्व अवश्य होना चाहिए। यह चेतन तत्व भगवान है।

4) **योग दर्शन में भगवान-** महर्षि पतंजलि ने भगवान को पुरुष विशेष के रूप में माना है। महर्षि पतंजलि ने भगवान को स्वीकार करने के दो कारण बताये हैं- प्रथम, चित्त की एकाग्रता में भगवान का ध्यान उपयोगी है। द्वितीय, सृष्टि के पुनः प्रारंभ होने पर जीव को मुक्ति का उपदेश केवल ऐसी सत्ता द्वारा संभव माना गया है जो सर्वदा मुक्त हो और सर्वज्ञ हो। महर्षि पतंजलि भगवान के के सृष्टिकर्ता, नियामक एवं संहारक रूप में वर्णन नहीं करते किंतु योगसूत्र के भाष्यकारों ने सृष्टि के उत्पत्ति एवं विकास के नियमता के आधार रूप में भगवान की सत्ता को सिद्ध करने का प्रयास किया है। योग दर्शन में भगवान अविद्या, अस्मिता, आदि क्लेशों से, कर्मों के पाप-पुण्य आदि फलों से तथा कर्मों के संस्कारों से अप्रभावित पुरुष विशेष भगवान है। उसमें अपूर्णता का लेशमात्र भी नहीं है। वह कर्म विधान से ऊपर है। वह मुक्त पुरूषों से भी भिन्न है क्योंकि वह सदैव स्वतंत्र और मुक्त है। वह सर्वज्ञ और अपनी इच्छा मात्र से संपूर्ण सृष्टि का संचालन करता है। वह प्राचीन ऋषियों का गुरु भी है। योगदर्शन का भगवान सत्य का प्रथम उपदेशक है। प्रकृति के विकास का मार्गदर्शक है। वह सदैव इस बात के लिए प्रयासरत रहता है कि प्रकृति का विकास पुरुष के प्रयोजन की सिद्धि करे। भगवान ज्ञानशक्ति, इच्छाशक्ति एवं क्रियाशक्ति से युक्त है। वह करूणामय है। यद्यपि उसमें किसी प्रकार की इच्छा नहीं है तथापि वह सृष्टि के आरंभ के समय सभी प्राणियों के कल्याण के लिए उपदेश देता है। उसके समान अन्य कोई नहीं है।

योगदर्शन में भगवान के अस्तित्व के लिए प्रमाण भी देता है। उसके लिए सबसे बड़ा प्रमाण आगमशास्त्र है क्योंकि सभी आगमशास्त्र भगवान के साक्षात्कार को जीवन का

प्रमुख लक्ष्य मानते हैं और भगवान को आदि सत्ता के रूप में देखते हैं।

संसार में भगवान के लिए दूसरा प्रमाण यह है कि संसार में सभी वस्तुओं के न्यूनाधिक परिमाण है। परिमाण की एक अल्पतम और अधिकतम सीमा है। जैसे अणु वस्तुओं का अल्पतम परिमाण और आकाश अधिकतम परिमाण है। अतः एक ऐसी सत्ता होनी चाहिए जिससे अधिक और अल्प और कोई सत्ता न हो। ऐसा परमपुरुष सत्ता भगवान ही है।

5) **विशिष्टाद्वैतवाद में भगवान-** रामानुज का भगवान भागवत धर्म के अनुरूप है। रामानुज भी सर्वोच्च तत्व भगवान को ब्रह्म कहते हैं।वह सगुण, सविशेष और व्यक्तित्वयुक्त है। वह शुभ गुणों से युक्त है। उपनिषदों में उसे सत्यं, ज्ञानम् और अनन्तम् कहा गया है। रामानुज के अनुसार सत्य, ज्ञान और आनंद भगवान के गुण हैं। स्वरूप नहीं। ब्रह्म को निर्गुण कहने का अर्थ केवल इतना है कि उसमें सांत एवं मिथ्या गुण नहीं हैं। भगवान का ऐश्वर्य इतना महान है कि सीमित बुद्धि वाले मानवीय मस्तिष्क के बाहर है।

रामानुज भगवान या ब्रह्म के दो रूप मानते हैं- कारण ब्रह्म और कार्य ब्रह्म। कारण ब्रह्म सृष्टि के पूर्व की अवस्था है। इस अवस्था में ब्रह्म में चित् अर्थात् जीव और अचित् अर्थात् प्रकृति सूक्ष्म रूप से विद्यमान रहता है। यही भगवान या ब्रह्म की कारणावस्था है। भगवान की कार्यावस्था में भगवान में कोई परिवर्तन नहीं होता है। परिवर्तन केवल उसके अंश चित् और अचित् में होता है। ये दोनों अंश स्थूल होकर नामरूप धारण कर लेते हैं। इस प्रकार स्थूल चिदचिद्विशिष्ट ब्रह्म कार्यं ब्रह्म है। वास्तव में भगवान ही इस संसार में सब रूपों में विद्यमान है।

रामानुज भागवत धर्म के अनुसार भगवान को विष्णु कहते हैं। वे विष्णु या ब्रह्म के पांच रूपों की चर्चा करते हैं- परा, व्यूहरूप, विभवरूप, अन्तर्यामी रूप और अर्चारूप। परा ब्रह्म की सर्वोच्च अवस्था है। वह इस रूप में नारायण या वासुदेव हैं और बैकुंठ में निवास करते हैं। वहाँ देवता और मुक्त आत्माएं उनकी सेवा में रहते हैं। वह बैकुंठ में शेषनाग पर बैठे हैं और उनकी धर्मपत्नी लक्ष्मी उन्हें सहारा दिये हैं। भगवान न्याय के प्रतीक हैं और लक्ष्मी दया की। इस प्रकार ये दोनों गुण ब्रह्म में एक साथ संयुक्त रहते हैं। भगवान छह प्रकार की पूर्णताएं हैं- ज्ञान, शक्ति, बल, प्रभुत्व, पराक्रम और प्रतिभा।

व्यूह वे आकृतियाँ हैं जिन्हें सर्वोच्च ब्रह्म अपने भक्तों पर दया दिखाने के लिए धारण करते हैं। व्यूह रूप चतुर्विध है- वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध। व्यूह रूप में वासुदेव पर वासुदेव का रूपांतर है। वासुदेव व्यूह रूप में जीवात्माओं(संकर्षण), मनों(प्रद्युम्न) और अहंभाव (अनिरुद्ध) पर शासन करते हैं। विभव रूप भगवान के अवतार हैं। राम, कृष्ण आदि का अवतार भगवान का विभव रूप है। अन्तर्यामी रूप में वह सभी जीवों में स्थित है। वह योग और तप द्वारा ध्यान में आता है। भगवान प्रतिमादि रूप में अर्चारूप है और अपनी स्थिति का भान कराता है।

इस प्रकार रामानुज का भगवान व्यक्तित्वयुक्त, सगुण है। वह पापियों को दंड देता है और दीन दुखियों पर दया करता है। लोक उपकार उसका आवश्यक गुण है। सत्, चित्, आनंद भगवान का गुण है। भगवान ने करूणा से प्रेरित होकर जगत की रचना की और धार्मिक नियम बनायें। वह भक्तों के आराधना और उपासना का विषय है।

परतत्त्व या एकं सत्

सिख-धर्म में भगवान-विचार (Concept of God in sikha)- सिख धर्म एक ईश्वरवादी धर्म है तथा भगवान को परमतत्व के रूप में स्वीकार करता है। सिख धर्म में एकेश्वरवाद को प्रतिष्ठित किया गया है। यह अनेकेश्वरवाद का विरोधी है। गुरूनानक का कथन है, भगवान सिर्फ एक है जिसका नाम सत्य है, वह स्रष्टा, भय और शत्रु भावना से शून्य है। वह अमर, अजन्मा, महान् और दयालु है।" जिस प्रकार कुरान और उपनिषद में भगवान की एकता पर बल दिया गया है, उसी प्रकार सिख धर्म में भगवान की एकता पर बल दिया गया है। सिख धर्म निर्गुण और सगुण दोनों ही प्रकार के भगवान का समर्थन करता है परन्तु अवतारवाद का समर्थन नहीं करता। भगवान एक ऐसा तत्त्व है जिसे प्रेम, श्रद्धा और आत्मसमर्पण के द्वारा अपनाया जा सकता है। भगवान में विलीन होना मानवीय जीवन का लक्ष्य होना चाहिए।

सिख धर्म में भगवान को सर्वशक्तिमान और सर्वज्ञ माना गया है। भगवान सर्वव्यापी है। गुरूनानक का कथन है, "भगवान प्रत्येक वस्तु में व्याप्त है। वह प्रत्येक हृदय में निवास करता है। यद्यपि वह प्रत्येक वस्तु में व्याप्त है फिर भी वह प्रत्येक वस्तु से पृथक है। यद्यपि भगवान व्यकित्वपूर्ण है परन्तु उसे मानवीय प्रतिमा के रूप में नहीं जाना जा सकता है। गुरुदास ने भगवान की चर्चा करते हुए कहा है, "वह निरंकार अनूठा, अद्भुत और इन्द्रियातीत है। भगवान, अवर्णनीय और अपरिभाषेय है। गुरु नानक ने कहा है", उस एक के सम्बन्ध में विचार करो जो प्रत्येक वस्तु में है।" गुरू नानक ने एक भगवान व्याप्त के अनेक रूपों का समर्थन किया है। गुरू ग्रन्थ साहब में भगवान को अल्लाह, खुदा, ब्रह्म, परमब्रह्म, परमेश्वर, हरि, राम, गोविन्द और नारायण के नाम से सम्बोधित किया गया है। इस प्रकार का मत हिन्दू धर्म और इस्लाम के समन्वय का प्रयास है। गुरू नानक द्वारा जुप जी (जप जी) सबसे मुख्य भजन के रूप में प्रतिष्ठित किया गया है। इसे ही प्रतिदिन प्रातःकाल गाया जाता है और जिसे सिख धर्म का कुंजी भवन और ज्ञान समझा जाता है। इस कुंजी की प्रथम पंक्ति में ही भगवान के प्रत्यय को व्यक्त किया गया है। (एक) ओंकार सत्नाम करता पुरुष निरभव (निर्भय) निरवैर अकाल मूरत अजूनी (अजन्मा) सैभंग (स्वयंभू) गुरु प्रसाद।'

गुरू नानक कर्मवाद और पुर्नजन्म दोनों को ही स्वीकार करते हैं। बिना पूर्वजन्म के संस्कार के कुछ प्राप्त नहीं हो सकता है। गुरु नानक के अनुसार पुर्नजन्म और मुक्ति दोनों भगवान की इच्छा पर निर्भर करते हैं। इस प्रकार गीता की ही तरह सिख धर्म में भगवान को कर्म-नियम का संचालक भी माना गया है। गुरू ग्रंथ साहब में भगवान को निराकार, आदि पुरुष, अकालपुरुष, सत् पुरुष तथा कर्त्ता पुरुषं कहा गया है। वाहे गुरू, वाहे गुरू (भगवान) को आदि, मूल, शुद्ध, अनादि, अविनाशी कहा गया है। इसी प्रकार भगवान को सगुण मानते में कहा गया है : हुए उसे ब्रह्मा, विष्णु और शिव कहा गया है। **गुरू ग्रन्थ साहब मे कहा गया है :निर्गुण और सगुण एक।**

सरगुन (सगुण) निरगुन थापैनाओ,
दुह मिलि एकै कीनो थाओ (ग्र. साह. 347)

2.8 विश्व के विभिन्न धर्मों में भगवान

2.8.1 ईसाई धर्म मे भगवान

ईसाई धर्म में भगवान परमसत्ता है। भगवान एक, सर्वशक्तिमान और सर्वज्ञ है। भगवान व्यक्तित्वपूर्ण है। वह नैतिक दृष्टि से पूर्ण है। अनन्त दृष्टि, अनन्त ज्ञान, करुणा आदि ऐश्वर्यों से वह सम्पृक्त है। भगवान न्यायी, परोपकारी, परमपवित्र, स्वर्ग और पृथ्वी का स्वामी तथा विश्व का संचालक है। वह मनुष्य के कर्मों का निर्णायक है। भगवान विश्वातीत और विश्वव्यापी है। ईसाई धर्म में भगवान को प्रेममय माना गया है जो भक्तों और उपासकों से प्रेम की अपेक्षा करता है। भगवान अपने भक्तों को कृपा, अनुग्रह और अनुराग प्रदान करता है। भगवान अशुभ कार्य करने वाले तथा अविश्वासी लोगों को प्यार नहीं करता है। ईसाई धर्म अपने पड़ोसियों से प्रेम करने की शिक्षा देता है तथा आस्थावान व्यक्तियों से प्रेम करता है। ईसाई धर्म में भगवान को क्षमाशील माना गया है जो पापी व्यक्तियों का उद्धार करता है। जो पापी व्यक्ति अपने पाप का प्रायश्चित कर लेता है उसे भगवान क्षमा प्रदान करता है। ईसा ने शूली पर चढ़ते समय शान्त भाव से कहा, ‘‘भगवान इनको क्षमा करना, ये बेचारे नहीं जानते कि क्या कर रहे हैं।' ईसा की यह वाणी विश्व इतिहास में अपूर्व है।

ईसाई धर्म में भगवान को 'पिता' की संज्ञा दी गई है। भगवान उस पिता की तरह है जो अपने बालकों के अपराधों को क्षमा करने के लिए तत्पर रहता है।भगवान के लिए 'The Father', 'O Father', 'My Father', 'Your Father', 'Our Father' इत्यादि भिन्न-भिन्न रूप में व्यक्त किया गया है। भगवान को पिता के रूप में स्वीकार करके ईसाई धर्म में भ्रातृ भाव का विकास करने का प्रयास किया गया है। जो पिता को प्यार करता है वह उनके बालकों के प्रति भी अनुराग रखता है। भगवान के प्रति प्रेम अभिव्यक्त करके मनुष्य संसार के अन्य व्यक्तियों के प्रति भी प्रेम अभिव्यक्त करने को तत्पर हो जाता है।

भगवानत्व को प्राप्त करने वाले ईसा भगवान-प्रेमोन्मत्त थे तथा भगवान की सत्ता का सतत अनुभव करते थे। उन्हें अलौकिक अद्भुत शक्ति प्राप्त थी जिसका वे जनकल्याण के लिए प्रदर्शन करते थे। ईसा ने भगवान को उस रूप में प्रकाशित किया था जिस रूप में भगवान मानव के लिए अपेक्षित था। वे स्वयं को भगवान के पुत्र के रूप में सम्बोधित करते थे। ईसा मनुष्य जाति के उद्धारक थे तथा भगवान और मनुष्य के समन्वय के प्रतीक थे। सन्त पाल ने ईसा को अविनाशी जीव बताया है जो जन्म के पूर्व भी थे और मृत्योपरान्त भी जीवित थे। ईसा,उनके पिता अर्थात् परमेश्वर और उनकी पवित्र आत्मा (God the Father, God the son and God the Holy Spirit) एक ही है।ईसा भगवान के प्रबल प्रतीक हैं जो भगवान के स्वरूप पर प्रकाश डालते हैं और जब भक्त भगवान को क्षमाशील, उद्धारक और परिशोधक प्रेम के रूप में समझने लगता है तो उसमें अदम्य शक्ति आ जाती है। भगवान सर्वथा एक ही है और पवित्रात्मा वह शक्ति है जो साधक को इस प्रेममय भगवान के आस्वादन से प्राप्त होती है। ईसाई धर्म रहस्यवादी नहीं है क्योंकि यह भगवान और मनुष्य के एकाकार सम्बन्ध को नहीं स्वीकार करता।

2.8.2 इस्लाम में भगवान-विचार

इस्लाम शब्द का शाब्दिक अर्थ है 'भगवान के प्रति आत्म समर्पण (Allah) = (Submission to God) से ही इंगित होता है कि इस्लाम धर्म में 'भगवान' ही केन्द्र बिन्दु है। कुरान भगवान की सत्यता को सर्वाधिक प्राथमिकता देता है। **कुरान का यह वाक्य 'परमेश्वर सत्य है (31/3/11)** इस कथन की पुष्टि करता है। इस्लाम धर्म में भगवान को 'अल्लाह' कहा गया है। अल्लाह एक और पूर्ण है। 'अल्लाह' शब्द का अर्थ है "The God one and Only' अर्थात् एक मात्र भगवान। भगवान पूर्ण है, इसलिए एक से अधिक भगवान की सत्ता को स्वीकार करना भगवान की पूर्णता का खंडन करना है। इस प्रकार इस्लाम एकेश्वरवाद को स्वीकार करता है।

इस्लाम धर्म में अल्लाह को शाश्वत, अनादि, अनन्त, असीमित, अदृश्य, अभौतिक और व्यक्तित्वपूर्ण है। भगवान और मनुष्य में गुणों के आधार पर भेद है क्योंकि भगवान अनादि, अनन्त और असीमित है जबकि मनुष्य सीमित, सान्त और अल्पशक्तिमान है। भगवान और मनुष्य में स्वामी और दास का सम्बन्ध है। कुरान में भगवान को पिता नहीं माना गया है, कहा गया है कि 'वह न किसी से पैदा हुआ है और न उससे कोई पैदा हुआ है।' अधिकांश धर्मों के ही समान कुरान में 'भगवान को स्वर्ग और नरक का रचयिता माना गया है। **कुरान में कहा गया है : 'भगवान ने भूमि में जो कुछ है सबको तुम्हारे लिए बनाया है।' 2/4/9 'वह तुम्हारा भगवान सब चीजों को बनाने वाला है। उसके सिवा कोई पूज्य नहीं। 4/7/2**

इस्लाम में भगवान को सृष्टिकर्त्ता माना गया है परन्तु सृष्टि का उपादान कारण उसे नहीं माना गया है। भगवान को उपादान कारण मानने से भगवान का निर्विकार स्वरूप खंडित हो जाता है जबकि इस्लाम धर्म में भगवान के निर्विकार स्वरूप पर बल दिया गया है। | इस्लाम में असत् से सत् की उत्पत्ति को स्वीकार किया गया है, यद्यपि तार्किक दृष्टि से यह मान्यता विरोधाभासी लगती है क्योंकि शून्य से शून्य की ही उत्पत्ति होती है। इस्लाम में भगवान को सृष्टिकर्ता के साथ-साथ पालनकर्त्ता और विध्वंसकर्ता भी माना गया हैI कुरान में कहा गया है, 'परमेश्वर मारता भी है और जिलाता भी है। भगवान करुणामय एवं रक्षक है। वह न्यायी है तथा कयामत के दिन जीवों का उनके कर्मों के अनुसार फल प्रदान करता है। अल्लाह प्रेममय है तथा दूसरों का उपकार करने वाले व्यक्तियों को प्रेम करता है। इसी प्रकार वे व्यक्ति भगवान के प्रेम के पात्र हैं जो मुहम्मद साहब के अनुगामी हैं, अभिमान रहित हैं तथा नैतिकता के मार्ग पर चलते हैं। भगवान की इच्छा के समक्ष अपने को समर्पित करने वाला व्यक्ति भगवान के साथ आध्यात्मिक सम्बन्ध स्थापित कर सकता है।

इस्लाम धर्म में भगवान के सात शाश्वत धर्मों या गुणों का प्रतिपादन किया गया है- (1) जीवन (Life). (2) ज्ञान (Knowledge), (3) अनन्तशक्ति (Omnipotence), (4) संकल्प (will), (5) श्रवण (Hearing), (6) दृष्टि (Sight), (7) वचन (Speech) | भगवान सम्पूर्ण जीवन का आधार है तथा भगवान अपनी सत्ता का प्रकाशन स्वयं करता है। भगवान सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान, संकल्प युक्त और विश्व का संचालक है। भगवान अपने सेवकों और भक्तों की पुकार सुनता है। वह विश्वद्रष्टा है तथा सम्पूर्ण विश्व का नियंत्रण करता हैI

इस्लाम में भगवान और मनुष्य दोनों को ही व्यक्ति माना गया है फिर भी भगवान मानव से पूर्णतः भिन्न है क्योंकि भगवान की वैयक्तिक विशिष्टता अनूठी है। भगवान मानव के प्रति प्रेम और करुणा का भाव रखता है तथा मनुष्य भगवान के प्रति समर्पण भाव अभिव्यक्त कर भगवान की करुणा का पात्र बन सकता है। मानव को भगवान की प्राप्ति के लिए भगवान के

समक्ष पूर्णरूपेण अपने को समर्पित करके अपने व्यक्तित्व का त्याग करना होगा। 'नमाज' या प्रार्थना द्वारा भी मनुष्य भगवान के समक्ष पहुंच सकता है। भगवान की प्रार्थना केवल आध्यात्मिक होनी चाहिए। अल्लाह की पूजा में किसी प्रतीक अथवा माध्यम का उपयोग नहीं होना चाहिए। इस्लाम सभी प्रकार की मूर्ति पूजा का घोर विरोधी है। इमाम अथवा अन्य धर्माधिकारी जीव को भगवान से मिलाने वाले माध्यम नहीं है। इमाम मस्जिद में केवल नमाज का नेतृत्व करता है।

2.8.3 पारसी-धर्म में भगवान

पारसी धर्म में अहुर मजदा (Ahura Mazda) को भगवान माना गया है। भगवान सर्वशक्तिमान (Omnipotent), सर्वव्यापी (Omnipresent) और सर्वज्ञ (Onniscient) है। वह इस विश्व का स्रष्टा, पालनकर्ता और प्रलय कर्ता है। हिन्दू धर्म की भगवान विषयक धारणा भी उपरोक्त धारणा के समान है। पारसी धर्म में भगवान को न्यायी और दयालु माना गया है तथा भगवान के गुणों में प्रकाश (Light), शुभ मन (Good mind), उचित (Right), धर्मनिष्ठा (Piety), सम्पूर्णता (Well-being), प्रभुत्व (Dominion) और अमरत्व (Immortality) आदि सम्मिलित मानता है। अवेस्ता के प्रथम श्लोक में अहुरमजदा के गुणों की व्याख्या निम्न प्रकार से की गई है:अहुरमजदा, स्रष्टा, दीप्तिमान, तेजस्वी, महान और सर्वोत्तम है। वह सर्वाधिक सुन्दर, पूर्णतः अटल, बुद्धिमान और पूर्ण है। वह सर्वाधिक उदार आत्मा है।'

इसी प्रकार भगवान को सर्वद्रष्टा, सर्वाधिक शक्तिमान, न्यायप्रिय, दयालु एवं परोपकारी माना है। अहुरमजदा को नैतिकता का संस्थापक माना जाता है। वे शुभ कर्मों के लिए पुरस्कार और अशुभ कर्मों के लिए दण्ड प्रदान करते हैं। अहुरमजदा न तो विश्व में पूर्णतः व्याप्त है और न ही विश्व में पूर्णतः अव्याप्त है। भगवान के सृजनात्मक इच्छा और विचार का क्रियात्मक सिद्धान्त स्पेनतामेन्यु (Spenta Mainyu) एक पवित्र सत्ता है। यह अहरमजदा में ही निवास करता है। यद्यपि वह भगवान का अंग है फिर भी वह भगवान से भिन्न है। वह कोई व्यक्ति नहीं अपितु भगवान की सृजनात्मक शक्ति का द्योतक है। भगवान एक महान आध्यात्मिक व्यक्ति है।

2.8.4 कनफ्युशियस धर्म में भगवान की अवधारणा

कनफ्यूशियस इहलोकवाद का समर्थक या जिससे कि मानव जीवन में बेहतरी लायी जा सके। यही कारण है कि उन्होंने प्रत्यक्ष भगवान के सम्बन्ध में अपना दृष्टिकोण स्पष्ट नहीं किया है। एक समय एक शिष्य चीलू ने पूछा, "मैं भगवान की सेवा किस प्रकार कर सकता हूँ" ? इस प्रश्न के उत्तर में कनफ्युशियस ने कहा, 'जब तुम्हें यह ज्ञान नहीं है कि, मनुष्य की सेवा किस प्रकार की जाय तब देवों की सेवा में कैसे पूछ सकते हो। वे अपने शिष्यों को भगवान सम्बन्धी प्रश्नों को पूछने के लिए अनुत्साहित करते थे। परन्तु इससे यह निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता कि कनफ्युशियस अनीश्वरवादी थे। वस्तुतः उन्होंने भगवान के अस्तित्व का खंडन भी नहीं किया है। दूसरी और उनके कुछ सिद्धान्त ऐसे हैं जिनसे यह संकेत मिलता है कि उनका धर्म ईश्वरवादी है। कनफ्युशियस का मत है, "मनुष्य को नैतिक बनाये रखने का श्रेय भगवान को है। भगवान ने ही मानव में सद्गुण (virtue) का समावेश किया है।" कनफ्युशियस भगवान में विश्वास करते थे। उनका कथन है, "If my doctrines are to prevail it is so ordered of God, if they are to fail it is so ordered of God. "

कनफ्युशियस धर्म के विभिन्न धर्मग्रन्थों से यह पता चलता है कि भगवान को तीन नामों से

सम्बोधित किया गया है। भगवान को शन्ग टी (Shang Ti) कहा गया है जिसका तात्पर्य है 'महान शासक' (Supreme Ruler)। भगवान का दूसरा नाम टायेन (Tien) है जिसका अर्थ 'स्वर्ग' होता है। यह सम्बोधन भगवान के महान नैतिक नियम का प्रतिनिधित्व करता है। भगवान का तीसरा नाम 'मिन्ग' (Ming) है जो भाग्य तथा नियति का पर्याय है। इस धर्म में पृथ्वी, सूर्य, चन्द्रमा, पर्वत, नदी आदि देवी-देवताओं की उपासना का संकेत मिलता है।

2.8.5 यहुदी-धर्म में भगवान-विचार

यहूदी धर्म एकेश्वरवाद की स्थपना करता है. तथा भगवान को विश्व में व्याप्त नैतिक व्यवस्था का संचालक मानता है। यहूदी की स्थापना के पूर्व पहाड़, नदी, झरने आदि की उपासना की जाती थी तथा अनेकेश्वरवाद में विश्वास किया जाता थायहूदी धर्म में व्यक्तित्व पूर्ण भगवान की धारणा का समर्थन किया गया है तथा उसे मनुष्य की तरह ससीम न मानकर असीम माना गया है। मनुष्य भगवान के प्रेम और दयाभाव की अपेक्षा करता है यहूदी धर्म में भगवान को यहोवा (Jehovah) कहा गया है, भगवान ने स्वयं कहा है, 'I am Jehovah' यहोवा को छोड़कर किसी अन्य सत्ता की आराधना करना कल्पना के बिरुद्ध है। भगवान परमसत्ता है, वह अद्वितीय, असीम, सर्वज्ञ, विश्व का स्रष्टा और सर्वशक्तिमान है। भगवान विश्वपालक, संचालक, नित्य, देशकालातीत, विश्वातीत और पवित्र सत्ता है। वह स्वेच्छा से जो चाहता है, वही करता हैं। भगवान न्यायप्रिय, दयालु और शान्तिप्रिय तथा न्यायपरायण है। यहूदी धर्म में भगवान में कुछ अशोभनीय गुणों को स्वीकार करता है जैसे उसमें ईर्ष्या तथा कठोरता नामक गुण भी निहित हैं। यहूदी धर्म भगवान और मनुष्य के बीच पिता और पुत्र का सम्बन्ध माना गया है। पिता की तरह भगवान मनुष्यों के साथ न्याय करता है तथा क्षमा प्रदान करता हैं। यहूदी धर्म की इस धारणा के कारण आलोचकों ने मानवीयकरण (Anthroponmorphism) का आरोप लगाया है। कहा गया है कि भगवान मनुष्य की तरह अपूर्ण और ससीम नहीं हो सकता है। ससीम भगवान को भगवान कहना विरोधाभास है।

यहूदी धर्म भगवान के ईर्ष्या और कठोरता के गुणों के आधार पर अशुभ की समस्या का समाधान किया है। कहा गया है कि भगवान भूकम्प, तूफान आदि के द्वारा समस्त | मानव जाति को तबाह कर सकता है क्योंकि वह ईर्ष्यालु और कठोर स्वभाव से युक्त होता है। भगवान द्वारा उत्पन्न अशुभ तत्वों के कारण संसार के प्राणियों को कठिनाई होती है तथा उनका जीवन कष्टप्रद हो जाता है। यहूदी धर्म की प्रारंभिक अवस्था में अशुभ तत्वों से बचने के लिए बलिदान का प्रावधान था परन्तु कालान्तर में भगवान को प्रसन्न करने | के लिए हृदय की पवित्रता, दान, शिक्षा आदि कर्मों का सम्पादन आवश्यक है। व्यक्तिवादी धर्म होने के कारण यहूदी धर्म व्यक्ति की महत्ता पर बल देता है। प्रत्येक मनुष्य को अपने कर्मों का फल भोगना पड़ता है। अच्छे कर्मों के लिए उसे पुरस्कार दिया जाता है तथा अशुभ कर्मों के लिए उसे दण्ड का भागी होना पड़ता है। यहूदी धर्म कर्म के सिद्धान्त को महत्वपूर्ण सिद्धान्त मानता है। कर्म के साथ-साथ यहूदी धर्म पुर्नजन्म के सिद्धान्त को स्वीकार करता है। अपने कर्मों का फल भोगने के लिए आत्मा को एक जन्म से दूसरे जन्म में भटकना पड़ता है। मृत्यु जीवन का अन्त नहीं है। हिन्दू धर्म की ही तरह यहूदी धर्म भी आत्मा की अमरता, कर्म का सिद्धान्त और पुर्नजन्म के सिद्धान्त का समर्थन करता है।

2.9 सारांश

भगवान की अवधारणा एवं स्वरूप से संबंधित इस ईकाई का अध्ययन करने के बाद सारांश रूप में यह कहा जा सकता है कि विश्व के सभी धर्म और दर्शन में थोड़े बहुत अंतर के साथ भगवान का स्वरूप एक जैसा है।भगवान अर्थात जिसका ज्ञान कभी नष्ट नहीं होता,वह कभी मृत्यु को प्राप्त नहीं होता, उसमें दुख का लेशमात्र भी नहीं है। वह परम आनंद रूप है। हिन्दू धर्म एवं दर्शन में इसीलिए उसे सच्चिदानंद भी कहते हैं।वह सृष्टि के कण-कण में व्याप्त है और वह इस सृष्टि से परे भी है।

भगवान शब्द से एक ऐसे अस्तित्व की कल्पना की जाती है जिसने इस विश्व की उत्पत्ति की है।वही भगवान इस विश्व के सभी प्राणियों का पालन करता है तथा प्रलय भी उस भगवान की इच्छा से ही होता है।

वह निराकार और साकार दोनों रूप है।वह प्राणियों पर दया करने वाला दयालु है।सभी प्राणियों के कर्मों के अनुसार उन्हें फल देता है।न्यायाधीश है।अपने भक्तों के लिए तथा सज्जनों के उद्धार एवं दुष्टों को दंड देने के लिए वह इस धरती पर अवतार भी लेता है। जैसा कि गीता में भगवान श्रीकृष्ण कहते हैं-

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्। धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे॥

गीता, अध्याय-4,श्लोक-8

अर्थात् सत्पुरुषों की रक्षा करने के लिए दुष्कर्म करने वालों दुष्टों के विनाश के लिए और धर्म की पुनः स्थापना करने के लिए मैं (श्री कृष्ण) प्रत्येक युग में जन्म लेता हूँ।

2.10 पारिभाषिक शब्दावली

अदृष्ट : अनदेखा

अनादि : आदिरहित/ नित्य/ अनादिकाल से

चित् : चेतना/जानना

चित्त : मन/ बुद्धि/ अंत:करण

तत्वमीमांसा : मूल तत्व या प्रकृति से संबंधित

दिक् : दिशा

प्रत्यय : विचार/ भाव/ अनुभव

ब्रह्म : बृह धातु से बना। जिसका अर्थ है जो निरंतर बढ़ता रहे। संसार का सर्वोच्च तत्व।

विश्वातीत : विश्व से परे

शाश्वत : सनातन/ चिरस्थायी/ सदा के लिए

श्रुति : वाणी (ऋषियों के मुख से वेदों के मंत्र उच्चारित हुए थे तथा गुर-शिष्य परंपरा द्वारा वाणी से सुनकर ही वेदों के ज्ञान का प्रचार-प्रसार किया जाता था।इसलिए वेदों को श्रुति ग्रंथ भी कहा जाता है।

2.11 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. शिवमहापुराण
2. श्रीमद्भागवत पुराण
3. महर्षि बाल्मीकि,रामायण
4. तुलसीदास,रामचरितमानस
5. वेदव्यास,महाभारत
6. कल्याण- हिन्दू संस्कृति अंक, संवत् 2077 (चौबीसवें अंक का विशेषांक),गीताप्रेस गोरखपुर।
7. महर्षि पतंजलि, योगदर्शन(व्यासभाष्य सहित)
8. महर्षि गौतम, न्यायदर्शन (वात्स्यायन भाष्य सहित)
9. महर्षि कणाद,वैशेषिक दर्शन
10. प्रशस्तपाद,पदार्थधर्मसंग्रह
11. ब्रह्मसूत्रशांकरभाष्य,(सत्यानन्दी टीका सहित), चौखम्बा विद्याभवन, चौक, वाराणसी, संस्करण-2007
12. ऋषिकांत पाण्डेय, धर्मदर्शन, पियर्सन इंडिया एजुकेशन सर्विसेज प्राइवेट लिमिटेड, नोएडा, उत्तर प्रदेश, प्रथम संस्करणसंस्करण-2006

2.12 बोध प्रश्न

1. हिन्दू परम्परा में भगवान के सम्प्रत्यय का विश्लेषण कीजिए।
2. भगवान तथा God की अवधारणा का तुलनात्मक विवेचन कीजिए।
3. हिन्दू धार्मिक व्यवस्था में भगवान की अवधारणा के वैशिष्ट्य का प्रतिपादन कीजिए।
4. किन अर्थों में भगवान का सम्प्रत्यय God या अल्लाह से सम्प्रत्यय से भिन्न है, स्पष्ट कीजिए।

इकाई 3 परमात्मा, परमशिव

इकाई की रूपरेखा

3.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्यापन का उद्देश्य अध्ययनरत विद्यार्थियों को परमात्मा तथा परमशिव विषयक भारतीय अवधारणा से परिचित कराना है। इस इकाई के अध्ययन से विद्यार्थी परमात्मा एवं परमशिव इन तत्त्वों के व्युत्पत्ति लभ्य अर्थ, उनके स्वरूप, सामर्थ्य, चराचरात्मक सृष्टि में उनकी उपस्थिति के विषय में परिचित हो सकेगा। इस अध्याय के अनुशीलन से अध्येता इन दोनों तत्त्वों के विषय में भारतीय पारम्परिक ग्रन्थों विशेषकर उपनिषद् ग्रन्थों तथा विभिन्न आस्तिक दर्शन सम्प्रदायों में प्रतिपादित सिद्धान्तों से परिचित हो सकेंगे।

इन दोनों ही तत्त्वों को भारतीय जनमानस में प्रत्येक स्तर पर उपस्थित स्वीकार किया गया है। अतः इनके परम्परा में उपस्थित स्वरूप से परिचित होना अत्यन्त उपादेय है। परमात्मा सृष्टिकर्ता हैं तो परमशिव उसके प्रति कल्याण का भाव रखने वाली चराचर में व्याप्त अपूर्व शक्ति है। इन दोनों की शक्तियां तथा उनके विभिन्न प्रकार के सृष्टिविषयक कार्य इस अध्याय में विवेचित हैं।

3.1 प्रस्तावना

परमात्मा उस तत्त्व को माना जाता है जो सम्पूर्ण सृष्टि का नियन्ता या नियामक है। त्रिविध सत्ताओं पारमार्थिक, व्यावहारिक और प्रातिभासिक में से पारमार्थिक सत्ता का परम नियामक है परमात्मा। उनको परमब्रह्म भी कहा जाता है। वे ही हैं सृष्टि के

उपादान और निमित्त कारण। सृष्टि में पायी जाने वाली एक नियमित व्यवस्था उनका प्रतीक है। समष्टि चैतन्य के रूप में उसको 'ब्रह्म' कहा जाता है। और व्यष्टि चैतन्य के रूप में 'जीव'। माया से आच्छादित होने के कारण जीव का सामर्थ्य परिसीमित हो जाता है। जबकि मायारहित होने के कारण परब्रह्म का सामर्थ्य अनादि और असीम माना जाता है। परम ब्रह्म अजन्मा है। अतः उसकी केवल कारणता बनती है। उसका कोई कारण नहीं होता।

परमशिव परमात्मा की अभिव्यक्ति है या दूसरे शब्दों में कहें उन्हीं की एक शक्ति है। सृष्टि में व्याप्त पंचमहाभूतों को परमशिव का ही स्वरूप माना गया है। इनके बिना चराचरात्मक जगत् का अस्तित्व सम्भव नहीं। शिव को सर्वविधकल्याणकारी सत्ता के रूप में परिकल्पित किया गया है। इनका सम्पूर्ण परिवेष और परिवार समाज के साथ जुड़ कर उनके कल्याण के लिए उपस्थित दिखाई देता है। सृष्टि में व्याप्त शक्तितत्त्व परमशिव से अभिन्न है। इनके अनेक नाम प्रचलित हैं, जो इनके विविध आयामों और उनके माध्यम से सृष्टि के नियमन में इनकी प्रवृत्ति के द्योतक हैं।

3.2 परमात्मा का शब्दार्थ

परमात्मा का शब्दार्थ– 'वाक्यार्थज्ञानं प्रति पदार्थज्ञानं कारणं' वाक्यार्थज्ञान के लिए पदार्थज्ञान कारण होता है, अतः परमात्मा इस पद का अर्थबोध, पद एवं पदार्थ के बोधपूर्वक सम्भव है।

परमात्मा शब्द दो पदों के योग से निष्पन्न हुआ है– 'परम+आत्मा (आत्मन्)। परम शब्द का व्युत्पत्तिलभ्यार्थ 'उत्कृष्ट' है– 'परं उत्कृष्टं मातीति परमः' (शब्दकल्पद्रुम)। 'आतोऽनुपसर्गे कः (अष्टाध्यायी 3/2/4) पाणिनीय सूत्र से 'क' प्रत्यय होकर 'परम' शब्द निष्पन्न हुआ है। इनको मेदिनीकोशकार ने 'उत्कृष्ट' अर्थ में स्वीकार किया है– 'परमः उत्कृष्ट इति मेदिनीकारः'।

आत्मा शब्द का व्युत्पत्तिलभ्यार्थ है जो जीव की 'जाग्रत्, स्वप्न एवं सुषुप्ति' इन तीनों अवस्थाओं में चलता रहे– 'अतति सन्ततभावेन जाग्रत्स्वप्नसुषुप्त्यवस्थासु'। अत सातत्यगमने से 'मनिन्' प्रत्यय के योग से आत्मा शब्द निष्पन्न हुआ है।

अमरकोष में आत्मा शब्द के विभिन्न अर्थ बतलाए गए है– **'यत्नः, धृतिः, बुद्धिः, स्वभावः, ब्रह्म, देह इत्यमरः'**।

इस प्रकार से 'परम' एवं 'आत्मा' शब्द में 'परमश्चासौ आत्मा इति परमात्मा' इस प्रकार से कर्मधारय समास करके दोनों में अभेद (तादात्म्य) का प्रतिपादन किया गया है। इस प्रकार से तात्पर्य है 'उत्कृष्ट–बुद्धिवाला, उत्कृष्ट–यत्नवाला, उत्कृष्ट–स्वभाववाला, उत्कृष्ट–शरीरवाला'। जगत् जिसका परिमाण है और इस चराचर जगत् का जो कर्त्ता है वह ही 'परमात्मा' शब्द का वाक्यार्थ है। उसी को परमात्मा कहा जाता है।

3.3 उपनिषद्ग्रन्थों में परमात्मा विषयक अवधारणा–

उपनिषदों में प्रमुख रूप से परमात्मा एवं आत्मा का निरूपण प्राप्त होता है। परमात्मा को जानने के लिए सर्वप्रथम परमात्मा से युक्त जो आत्मा है उसको भी जानना अति महत्त्वपूर्ण है। उस आत्मा के विषय में योगेश्वर श्रीकृष्ण श्रीमद्भगवद्गीतोपनिषद् में कहते हैं –

न जायते म्रियते वा कदाचित्, नायं भूत्वा भविता वा न भूयः।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो, न हन्यते हन्यमाने शरीरे।। गीता 2.20।।

यह आत्मा किसी काल में भी न तो जन्मता है और न मरता ही है, न यह उत्पन्न होकर फिर होने वाला है, क्योंकि यह अजन्मा, नित्य, सनातन, शाश्वत एवं पुरातन है। शरीर के मारे जाने पर भी यह नहीं मारा जाता।

इसी तथ्य को अन्य उदाहरणों के माध्यम से विषादग्रस्त अर्जुन को युद्धभूमि में श्रीकृष्ण इस प्रकार आगे समझाते हैं–

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय, नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि संयाति नवानि देही।।

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः।। गीता 2.22–23

जैसे मनुष्य पुराने वस्त्रों को त्यागकर दूसरे नये वस्त्रों को ग्रहण करता है, वैसे ही जीवात्मा पुराने शरीरों को त्यागकर दूसरे नये शरीरों को प्राप्त होता रहता है। इस आत्मा को शस्त्र नहीं काट सकते, इसको आग जला नहीं सकती, इसको जल गला नहीं सकता और वायु सुखा नहीं सकता।

ईशावास्योपनिषद् में परमात्मा को परमेश्वर कहा गया है–

अनेजदेकं मनसो जवीयो नैनद्देवा आप्नुवन् पूर्वमर्षत्।
तद्धावतोऽन्यानत्येति तिष्ठत्तस्मिन्नपो मातरिश्वा दधाति।। ई.उ. 1.4

वे परमपिता परमात्मा अचल और एक हैं। मन से भी अधिक वेग युक्त हैं। जहाँ तक मनकी गति है वे उससे भी कहीं आगे पहले से ही विद्यमान हैं। मन तो वहाँ तक पहुँच नहीं पाता। वे सबके आदि एवं ज्ञानस्वरूप हैं। अथवा सबके आदि होने के कारण सबको पहले से ही जानते हैं, पर उनको देवता तथा महर्षिगण भी पूर्णरूप से नहीं जान सकते हैं। जितने भी तीव्र वेगयुक्त तत्त्व हैं जैसे बुद्धि, मन और इन्द्रियाँ अथवा वायु आदि देवता हैं, अपनी शक्तिभर परमेश्वर के अनुसन्धान में सदा दौड़ लगाते रहते हैं। परमेश्वर नित्य अचल रहते हुए उन सबको पार करके आगे निकल जाते हैं। वे सब वहाँ तक पहुँच नहीं पाते। असीम की सीमा का पता ससीम को कैसे लग सकता है? बल्कि वायु आदि देवताओं में जो शक्ति है जिसके द्वारा वे जलवर्षण, प्रकाशन, प्राणिधारण आदि कर्म करने में समर्थ होते हैं, वह इन अचिन्त्यशक्ति परमेश्वर की शक्ति का एक अंशमात्र ही है। उनका सहयोग मिले बिना ये सब कुछ भी नहीं कर सकते–

तदेजति तन्नैजति तद् दूरे तद्वदन्तिके।
तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः।। ई.उ. 1.5।।

वे चलते हैं, वे नहीं भी चलते हैं (एक ही काल में परस्पर विरोधी भाव, गुण तथा क्रिया जिनमें रह सकती है, वे ही तो परमेश्वर परमात्मा हैं)। दूसरे प्रकार से यह भी कहा जा सकता है कि परमात्मा, जो अपने दिव्य परमधाम में और लीलाधाम में अपने प्रिय भक्तों को सुख पहुँचाने के लिए अप्राकृत सगुण–साकार रूप में प्रकट रहकर लीला किया करते हैं, यह ही उनका चलना है, और निर्गुणरूप से जो सदा सर्वथा अचल स्थित हैं, यह उनका न चलना है।

इसी प्रकार वे उनके प्रति श्रद्धा या प्रेम से रहित मनुष्यों को कभी दर्शन नहीं देते, अतः उनके लिए दूर से दूर हैं। दूसरी तरफ श्रद्धासम्पन्न भक्तों के प्रेम की पुकार सुनते ही

दौड़े चले आते हैं। इसीलिए उनके लिए वे समीप से समीपतर हैं। इसके अतिरिक्त वे सदा सर्वत्र परिपूर्ण हैं। इसलिए दूर से दूर भी वे ही हैं, समीप से समीप भी वे ही हैं, क्योंकि ऐसा कोई स्थान नहीं है, जहाँ वे व्याप्त नहीं हैं। सबके अन्तर्यामी होने के कारण भी वे अत्यन्त समीप हैं। पर जो अज्ञानी लोग हैं, उन्हें इस रूप में नहीं पहचानते। उनके लिए वे बहुत दूर हैं। वस्तुतः समस्त जगत् के वे परम आधार एवं परम कारण हैं। इसलिए बाहर भीतर सभी जगह सर्वत्र परमात्मा ही परिपूर्ण हैं।

केनोपनिषद् में परमात्मा समस्त जीव जगत् के इन्द्रियजन्य व्यवहार का आधार है –

श्रोत्रस्य श्रोत्रं मनसो मनो यद्वाचो ह वाच स प्राणस्य प्राणः।
चक्षुषश्चक्षुरतिमुच्य धीराः प्रेत्यास्मांल्लोकादमृता भवन्ति।। क.उ. 1.2।।

जो मन का भी मन (कारण), प्राणों का भी प्राण, वागेन्द्रियों का भी वाक्, श्रोत्रेन्द्रियों का भी श्रोत्र, चक्षुरिन्द्रियों का भी चक्षु, वह ही इन सबका प्रेरक परमात्मा है। ज्ञानीजन उसको जानकर, जीवन्मुक्त होकर इस लोक के जाने के बाद अमृतत्व (अमरत्व) को प्राप्त हो जाते हैं।

कठोपनिषद् में परमात्मा को ब्रह्म स्वरूप माना है ऋषि ने –

अणोरणीयान्महतो महीयानात्मास्य जन्तोर्निहितो गुहायाम्।
तमक्रतु पश्यति वीतशोको धातुप्रसादान्महिमानमात्मनः।।

जीवात्मा की हृदयरूपी गुफा में रहने वाले परमात्मा, सूक्ष्म से अतिसूक्ष्म एवं महान् से भी महान् (बड़ा से भी बड़े) हैं। उस परमेश्वर की महिमा को कोई विरला साधक ही कामनारहित चिन्तारहित होकर, सम्पूर्ण सृष्टि के आधार परब्रह्म परमेश्वर की कृपा से ही देख पाता है।

छान्दोग्योपनिषद् तथा माण्डूक्योपनिषद् में परमात्मा को प्रणवस्वरूप या उद्‌गीथ माना गया है। इसी प्रकार माण्डूक्योपनिषद् में 'ऊँकार' को ही परमात्मा कहा गया है–

ओमित्येतदक्षरमिदं सर्वं तस्योपाख्यानं भूतं भवद् भविष्यदिति सर्वमोंकार एव यच्चान्यत् त्रिकालातीतं तदप्योंकार एव।। मा.उ. 1।।

ऊँकार यह अक्षर (अविनाशी) परमात्मा है। यह सम्पूर्ण जगत् उसका ही व्याख्यान अर्थात् उसी की निकटम महिमा का ज्ञान कराने वाला है। भूत (जो हो चुका) वर्तमान (जो चल रहा है) और भविष्य (जो आने वाला है) यह सबका सब जगत् ऊँकार ही है। तथा जो तीनों कालों से अतीत है, वह भी कोई दूसरा तत्त्व नहीं है अपितु ऊँकार ही है।

ऊँ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावाशिष्यते।।

वे पमरपिता परमात्मा, सच्चिदानन्दघन परब्रह्म पुरुषोत्तम सब प्रकार से सदा–सर्वदा परिपूर्ण हैं। यह जगत् भी उस परब्रह्म से ही पूर्ण है, क्योंकि यह पूर्ण उस पूर्ण पुरुषोत्तम से ही उत्पन्न हुआ है। इस प्रकार परब्रह्म की पूर्णता से जगत् पूर्ण है इसलिए भी वह परिपूर्ण है। उस पूर्ण ब्रह्म में से पूर्ण को निकाल लेने पर भी वह पूर्ण ही शेष रहता है।

3.4 भारतीय दार्शनिक सम्प्रदायों में परमात्मा का स्वरूप

भारतीय दर्शन दो सम्प्रदायों में विभक्त है। प्रथम सम्प्रदाय में वे दर्शन आते हैं जो वेद की सत्ता को स्वीकार करते हैं। उन्हें आस्तिक दर्शन कहा जाता है। इसके अतिरिक्त दूसरे सम्प्रदाय वे हैं जो वेद की सत्ता को अस्वीकार करते हैं। वे नास्तिक दर्शन कहलाते हैं। इनका नियमन मनुस्मृति के वचनों के द्वारा किया जा सकता है– **'नास्तिको वेदनिन्दकः'** (मनुस्मृति 2.11) जो वेद की निन्दा करता है वह नास्तिक है।

आस्तिक दर्शन		नास्तिक दर्शन	
सांख्य	कपिल	बौद्ध	गौतम बुद्ध
योग	पतंजलि	जैन	महावीर स्वामी / 24 तीर्थंकर
न्याय	गौतम	चार्वाक	बृहस्पति
वैशेषिक	कणाद		
पूर्वमीमांसा	जैमिनी		
उत्तरमीमांसा	वेदव्यास		

परमात्मा एवं आत्मा को लेकर आस्तिक दर्शनों में मुख्यतः दो सिद्धान्त प्राप्त होते हैं। प्रथम सिद्धान्त है द्वैतवादी एवं द्वितीय सिद्धान्त है अद्वैतवादी। **'द्विधा विभजते इति द्वैतम्'** प्रथम सिद्धान्त में जीव/आत्मा और ईश्वर/परमात्मा भिन्न–भिन्न हैं। इनको द्वैतवादी कहा जाता है। इसका प्रतिपादन लगभग सभी आस्तिक दर्शनकारों के द्वारा किया गया है।

लेकिन द्वितीय सिद्धान्त का प्रतिपादन आदिगुरु शंकराचार्य ने महर्षि वेदव्यास बादरायण रचित ब्रह्मसूत्र के शारीरकभाष्य में किया है। इसको अद्वैतवादी दर्शन कहते हैं। अद्वैत का तात्पर्य है **'न द्वैत इति अद्वैतः द्वितीयरहितः'** अर्थात् जीव/आत्मा और ईश्वर/परमात्मा ये दोनों भिन्न–भिन्न नही हैं, अपितु दोनों में अभेद (तादात्म्य) है। इसका प्रतिपादन उत्तरमीमांसा या वेदान्त दर्शन करता है।

सांख्य दर्शन में परमात्मविषयक विचार

सांख्य दर्शन परमात्मा की सत्ता को स्वीकार नहीं किया गया है। इनके यहाँ **'व्यक्त अव्यक्त, ज्ञ'** नामक 25 तत्त्वों को स्वीकार किया गया है। इन 25 तत्त्वों में 23 व्यक्त तत्त्व हैं एवं एक अव्यक्त तत्त्व है, जिसको प्रधान या मूलप्रकृति के नाम से भी जाना जाता है। एक 'ज्ञ' तत्त्व है, जिसको पुरुष या चेतन भी कहा गया।

इनके मत में अव्यक्त तत्त्व ही व्यक्त के रूप में परिणति या परिणाम होता है। एवं द्वितीय है 'ज्ञ'। जो कि इन 24 (व्यक्ताव्यक्त) से भिन्न है। इस प्रकार से इसको भी द्वैतवादी दर्शन कहा जा सकता है।

योग दर्शन में परमात्मा का स्वरूप

योग दर्शन सांख्य के 25 तत्त्वों को स्वीकार करते हुए 26वां तत्त्व ईश्वर को मानता है। जिसको परमात्मा भी कह सकते हैं। वह पुरुषविशेष ही यदि 'क्लेश, कर्मविपाक एवं आशय' इन दोशों से रहित हो तो ईश्वर कहलाता है–

'क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः' ।। यो.सू. 1.24 ।।

अविद्यादि क्लेश हैं। पुण्य और पाप उत्पन्न करने वाले कर्म हैं। उनकी फलनिष्पत्ति विपाक है। इन तीनों के गुणवाले संचित संस्कार या वासना ही आशय हैं। मन इनका आश्रय है। इनका आरोप पुरुष पर होता है, क्योंकि वह ही इनके फल का भोक्ता है।

न्याय–वैशेशिक दर्शनों में परमात्मा का स्वरूप

न्यायदर्शन में सृष्टिविषयक 16 पदार्थों को स्वीकार किया गया है– 'प्रमाण–प्रमेय–संशय–प्रयोजन–दृष्टान्त–सिद्धान्त–अवयव–तर्क–निर्णय–वाद–जल्प–वितण्डा–हेत्वाभास –छल–जाति–निग्रहस्थानानां तत्वज्ञानन्निःश्रेयसाधिगमः') (न्यायसूत्र 1.1)। इन 16 पदार्थों में द्वितीय पदार्थ 'प्रमेय' है।

इन 12 प्रमेयों में गिने जाते हैं– आत्मा, शरीर, इन्द्रियार्थ, बुद्धि, मन, प्रवृत्ति, दोष, प्रेत्यभाव, फल, दुःख, अपवर्ग। इनमें प्रथम प्रमेय पदार्थ 'आत्मा' है। आत्मा दो प्रकार का है 'जीवात्मा परमात्मा च' जीवात्मा और परमात्मा। जीवात्मा प्रतिशरीर भिन्न–भिन्न है और परमात्मा है एक।

इसी प्रकार से वैशेषिक दर्शन में 'द्रव्य–गुण–कर्म–सामान्य–विशेष–समवाय–अभावाः सप्तपदार्थाः' 7 पदार्थों में से प्रथम पदार्थ द्रव्य माना गया है। द्रव्य पुनः 9 प्रकार का है– 'पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, काल, दिक्, आत्मा और मन'। इनमें 8वां द्रव्य आत्मा है। उसको पूर्ववत् दो प्रकार का माना है वैशेषिक ने– जीवत्मा और परमात्मा।

इस प्रकार से न्याय–वैशेषिक दर्शन परमात्मा की सत्ता को स्वीकार करते हैं और वह परमात्मा एक है, विभु है अर्थात् सर्वत्र व्याप्त है।

वेदान्त दर्शन में परमात्मा का स्वरूप

वेदान्तदर्शन में जीव एवं ब्रह्म, आत्मा एवं परमात्मा में अभेद का वर्णन किया गया है। 'ब्रह्मसत्यं जगन्मिथ्या जीवो ब्रह्मैव नापरः' (ब्र.सू.शा.भा. 1)– ब्रह्म ही सत्य है, जगत् मिथ्या है। जीव ब्रह्म से भिन्न नहीं है, अपितु ब्रह्म ही है। दूसरे शब्दों में कहा जाए तो परमात्मा का अंश ही आत्मा है। यहां उदाहरण दिया जाता है कि जैसे– व्यष्टिरूप प्रत्येक वृक्ष के समूह को वन कहते हैं, उसी व्यष्टि रूप प्रत्येक जीव की समष्टि को ही ईश्वर कहते हैं।

3.5 परमशिव का शब्दार्थ एवं अवधारणा

पूर्ववत् परमशिव शब्द भी दो शब्दों के योग से निष्पन्न हुआ है– परम+शिव। परम शब्द का व्युत्पत्यर्थ 'परमात्मा' शब्द के प्रसंग में इसी पाठ में पहले कर दिया गया है। यहाँ पर हम 'शिव' शब्द का व्युत्पत्तिलभ्यार्थ सीखेंगे।

'शिवं कल्याणं विद्यतेऽस्य इति शिवः, श्यति अशुभमिति वा, शेरतेऽवतिष्ठन्ते अणिमादयः अष्टौ गुणाः अस्मिन्निति वा शिवः'– इस पद में परमात्मा शब्द के समान पूर्ववत् कर्मधारय समास करके परम और शिव शब्दों में अभेद (तादात्म्य) का प्रतिपादन किया जाता है– परमश्चासौ शिवः परमशिवः– इस प्रकार से। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि जिसमें अणिमादि अष्ट सिद्धियाँ विद्यमान रहती हैं, जो सर्वदा कल्याणकारी है, जिसमें अशुभ समाप्त करने का सामर्थ्य होता है, वह ही परमशिव है।

परमशिव में आने वाले 'शिव' शब्द के प्रत्येक पद वर्ण को अर्थ शिवपुराण के अनुसार कुछ इस प्रकार से है–

> शं नित्यं मुखमानन्दमिकारः पुरुषः स्मृतः।।17.76।।
> वकारः शक्तिरमृतं मेलनं शिव उच्यते।
> तस्मादेव स्वमात्मानं शिवं कृत्वार्चयेच्छिवम्।।17.70।।

शिव पद में आने वाले 'शकार' का अर्थ हैं नित्य सुख एवं आनन्द, 'इकार' को पुरुष एवं 'वकार' को अमृतस्वरूपा शक्ति कहा जाता है। इन वर्णों का सम्मिलित रूप शिव है। इसलिए साधक को भगवान् शिव को अपनी आत्मा मानकर उसकी अर्चना करें।

सामाजिक शिवभक्त की चेतना ही है वस्तुतः परमशिव। सृष्टि में कल्याण के कारण शिवत्व ही प्रतिष्ठा सामाजिकों की चेतना में शान्ति की प्रतिष्ठा से सम्भव है। चेतना में शिवत्व का अभाव विध्वंस और विनाश का कारण बनता है। इसमें आधार बनता है वैयक्तिक अहंकार। इस भयानक अहंकार की संतुष्टि मनुष्य को अपनी आत्मा की आवाज भी नहीं सुनने देती। यदि प्रत्येक व्यक्ति आत्मा की आवाज को सुनकर व्यवहार करता है तो समाज में अशिवत्व का उन्मूलन आसान हो जाता है। यही है वस्तुतः शिवतत्त्व की उपासना जो मनुष्य की चेतना में प्रतिष्ठित है।

3.6 पुराणों एवं काव्यों में शिवतत्त्व

ऋषियों द्वारा स्कन्दपुराण में पुराणों को 'पंचम–वेद' के रूप में स्वीकार किया गया है। माना भी गया है कि जो पुराण के रहस्य को नहीं जानता वह कुछ भी नहीं जानता–

> पुराणं पंचमो वेद इति ब्रह्मानुशासनम्।
> यो न वेद पुराणं हि न स वेदान्न किंचन।। (स्कन्दपुराण)

महापुराणों की संख्या 18 मानी गयी है। 18 पुराणों को शैव, वैष्णव, ब्राह्म, आग्नेय तथा सावितृ के अन्तर्गत विभक्त किया जाता है। इनमें सर्वाधिक संख्या शैव पुराणों की है।

1.	शैवपुराण	10	शिव, भविष्य, मार्कण्डेय, लिंग, वराह, स्कन्द, मत्स्य, कूर्म, वामन, ब्रह्माण्ड
2.	वैष्णवपुराण	04	विष्णु, भागवत, नारदीय, गरुड
3.	ब्राह्मपुराण	02	ब्रह्म तथा पद्म
4.	आग्नेयपुराण	01	अग्निपुराण
5.	सावितृपुराण	01	ब्रह्मवैवर्तपुराण

इस विषय में प्रसिद्ध उक्ति है कि 18 पुराणों में से 10 पुराणों में भगवान् शंकर की स्तुति की गयी है, चार में सृष्टि के संचालक भगवान् विष्णु की तथा दो–दो में शक्तिस्वरूपा भगवती की और सृष्टिकर्ता ब्रह्मा जी की स्तुति की गयी है–

> अष्टादशपुराणेषु दशभिर्गीयते शिवः।
> चतुर्भिर्भगवान् विष्णुः द्वाभ्यां देवी तथा हरिः।।

शिवतत्त्व के स्वरूप का प्रतिपादन करने वाले महापुराणों में शिवपुराण अति महत्त्वपूर्ण है। शिवपुराण सात संहिताओं में विभक्त है जिनका नाम निम्नलिखित है–

विद्येश्वर संहिताद्या द्वितीया रूद्रसंहिता।
तृतीया शतरुद्राख्या कोटिरुद्रा चतुर्थिका।।

पंचम्युमासंहितोक्ता षष्ठी कैलाससंहिता।
सप्तमी वायवीयाख्या सप्तैव संहिता इह।। (विद्येश्वर संहिता 1.32–33)

विद्येश्वर, रुद्र, शतरुद्र, कोटिरुद्र, उमा, कैलास तथा वायवीय संहिता हैं शिवपुराण की क्रमशः सात संहिताएं।

जगत् सम्बन्धी शिवजी के पाँच कार्य नित्यसिद्ध हैं और अटलभाव से उनमें स्थित हैं– 'सृष्टि, स्थिति, संहार, तिरोभाव, और अनुग्रह।' इनमें प्रथम चार संसार के विस्तारक हैं तथा पाचवाँ अनुग्रह है मोक्षकारक। यह तथ्य शिव जी ने ब्रह्मा और विष्णु को स्वयं बताया था। सृष्टि के नियामक पंच महाभूतों में परमशिव के उपर्युक्त पाँच कार्य प्रत्यक्ष उपस्थित होते हैं। इनमें समस्त पदार्थों की भौतिक उपस्थिति का हेतुभूत भूतल है सृष्टिकारक, समस्त पदार्थों को रसमय बनाने वाला जल वृद्धिकारक होने से स्थिति का प्रतीक है, अग्नि पदार्थों को भस्मसात् करने से संहारक है तथा वायु एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाने से तिरोभाव का साधक है। सभी पदार्थों के अस्तित्व का आधारभूत आकाश सभी को अनुगृहीत करता है अतः मोक्षकारक है–

सृष्टिः स्थितिश्च संहारस्तिरोभावोप्यनुग्रहः।
पंचैव मे जगत्कृत्यं नित्यसिद्धमजाच्युतौ।। 10.2

तदिदं पंचभूतेषु दृश्यते मामकैर्जनैः।
सृष्टिर्भूमौ स्थितिस्तोये संहारः पावके तथा।।

तिरोभावोऽनिले तद्वदनुग्रह इहाम्बरे।
सृज्यते धरया सर्वमद्भिः सर्वं प्रवर्धते।।

अर्द्यते तेजसा सर्वं वायुना चापनीयते।
व्योम्नाऽनुगृह्यते सर्वं ज्ञेयमेवं हि सूरिभिः।।

पंचकृत्यमिदं वोढुं ममास्ति मुखपंचकम्।
चतुर्दिक्षु चतुर्वक्त्रं तन्मध्ये पंचमं मुखम्।। (शिवपुराण विद्येश्वरसंहिता 10.6–9)

तेज में सबका विनाश होता है। वायु में सब का लय होता है और आकाश द्वारा सब पर अनुग्रह होता है। इन पाँच कृत्यों को सम्पन्न करने में समर्थ परमशिव पंचमुखी हैं। चारों दिशाओं में चार मुख विराजमान हैं, शिव के और उनके बीच में विराजमान है उनका पांचवां मुख।

महाकवि कालिदास अभिज्ञानशाकुन्तल नाटक के मंगलाचरण में और अन्य दोनों नाटकों के मंगलपद्यों या नान्दीपद्यों में अष्टमूर्ति शिव का स्पष्ट उल्लेख करते हैं। अभिज्ञानशाकुन्तल के नान्दीपद्य के पढ़ने से सम्पूर्ण चराचरात्मक जगत् के शिवतत्त्व से व्याप्त होने का प्रत्यक्ष प्रमाण प्राप्त होता है–

या सृष्टिः स्रष्टुराद्या वहति विधिहुतं या हविर्या च होत्री,
ये द्वे कालं विधत्तः श्रुतिविषियगुणा या स्थिता व्याप्य विश्वम्।

यामाहुः सर्वबीजप्रकृतिरिति यया प्राणिनः प्राणवन्तः।
प्रत्यक्षाभिः प्रपन्नाँस्तनुभिरवतु वस्ताभिरष्टाभिरीशः।। (अभि.शा. 1.1)

परमशिव की प्रथम मूर्ति है जल जिसका परमपिता ब्रह्मा ने सर्वप्रथम निर्माण किया। यज्ञाग्नि में अर्पित हविष्य को देवताओं तक ले जाने वाली द्वितीय मूर्ति है अग्नि, यज्ञकर्ता यजमान है तृतीय मूर्ति, दिन और रात इन दो कालों की नियामक क्रमशः चौथी और पांचवीं मूर्तियाँ हैं सूर्य एवं चन्द्रमा, शब्द तन्मात्र का विश्वव्यापी आश्रय आकाश है शिव की छठी मूर्ति, सभी बीजों की जननी पृथ्वी है सातवीं मूर्ति और प्राणवान् को जीवित रखने वाली वायु है आठवीं मूर्ति। इन आठ प्रत्यक्ष अनुभूयमान तत्त्वों के रूप में प्रतिष्ठित है सम्पूर्ण चराचरात्मिका प्रकृति में शिवतत्त्व। महाकवि कालिदास की सभी दर्शनों के विपरीत घोषणा है कि परमशिव प्रत्यक्ष हैं, और प्रत्यक्ष हैं इन आठ–आठ मूर्तियों के रूप में सभी प्राणियों को।

विक्रमोर्वशीयम् के मंगलपद्य में भी महाकवि कालिदास ने अष्टमूर्ति शिव की स्तुति की है इस प्रकार –

वेदान्तेषु यमाहुरेकपुरुषं व्याप्य स्थितं रोदसी
यस्मिन्नीश्वर इत्यनन्यविषयः शब्दों यथार्थाक्षरः।

अन्तर्यश्च मुमुक्षुभिर्नियमितप्राणादिभिर्मृग्यते
स स्थाणुः स्थिरभक्तियोगसुलभो निःश्रेयसायास्तु वः।।1.1।।

परमशिव हैं समस्त उपनिषदों में सर्वसामर्थ्यसम्पन्न परमपुरुष। वे पृथ्वी और अन्तरिक्ष के मध्य कण कण में विराजमान हैं। सृष्टि के समस्त शक्तिमान तत्त्वों में उन्हीं को एकमात्र ईश्वर इस संज्ञा से विभूषित किया जा सकता है। मोक्ष की इच्छा रखने वाले अपनी प्राणादि वायु को नियमित करने के सामर्थ्य सम्पन्न योगीजन जिनका साक्षात्कार अपने अन्तःकरण में निरन्तर किया करते हैं। ऐसे निर्विकारी श्रद्धावान् भक्त को आसानी से उपलब्ध परमशिव सबसे कल्याण के साधक हों। परमशिव तुरीय पुरुषार्थ समस्त सांसारिक बन्धनों से मुक्तिस्वरूप मोक्ष प्रदान कर भक्तों का कल्याण करें।

मालविकाग्निमित्र नाटक का मंगलपद्य स्पष्ट रूप से अष्टमूर्ति शिव की स्तुति से परिपूर्ण है–

एकैश्वर्ये स्थितोपि प्रणतबहुफलो यः स्वयं कृत्तिवासाः
कान्तासम्मिश्रदेहोप्यविषयमनसां यः पुरस्तात् यतीनाम्।

अष्टाभिर्यस्य कृत्स्नं जगदपि तनुभिर्विभ्रतो नाभिमानः
सन्मार्गालोकनाय व्यपनयतु स वस्तामसीं वृत्तिमीशः।। 1.1।।

महाकवि कालिदास के अनुसार परमशिव सृष्टि के समस्त ऐश्वर्यों के स्वामी हैं परन्तु स्वयं परम वैराग्य सम्पन्न होकर मृगचर्म धारण करते हैं। उनके ऐश्वर्य से युक्त होने में प्रमाण है कि वे भक्तिपूर्वक प्रपन्न हुए श्रद्धावानों को प्रभूत मात्रा में इच्छित फल प्रदान करते हैं। परमशिव जितेन्द्रिय हैं। हैं तो वे साक्षात् भगवती के साथ अर्धनारीश्वर के रूप में स्थित, परन्तु स्वयं यतियों या जितेन्द्रियों में अग्रगण्य हैं। सम्पूर्ण विश्व को अपनी आठ आठ मूर्तियों से धारण करते हुए भी वे अत्यन्त निरभिमानी हैं। ऐसे परमशिव सन्मार्ग पर ले जाने के निमित्त समस्त भक्तों की तामसी वृत्ति का अपहरण कर उनका कल्याण करें।

इस मंगलपद्य में परमशिव के अष्टमूर्ति से युक्त होने का स्पष्ट उल्लेख करते हैं महाकवि कालिदास। इस अष्टमूर्ति में प्रतिष्ठित शान्ति ही वस्तुतः परमशिव का वास्तविक स्वरूप है और वही है समस्त सृष्टि के कल्याण का मूल मन्त्र।

रघुवंश महाकाव्य के मंगलपद्य में महाकवि कालिदास ने शिव का जगत्पिता एवं माता पार्वती का जगन्माता के रूप में स्मरण किया है—

वागर्थाविव सम्पृक्तौ वागर्थप्रतिपत्तये।
जगतः पितरौ वन्दे पार्वतीपरमेश्वरौ।। (रघु. 1.1)

जगत् के माता तथा पिता पार्वती तथा परमेश्वर वाणी तथा अर्थ के रूप में परस्पर अविभाज्य रूप से सम्पृक्त हैं (अर्थात् अभिन्न हैं)। ऐसे पार्वती और परमेश्वर शिव को प्रणाम करते हैं।

कुमारसम्भव के प्रथम—सर्ग के अन्त में महाकवि ने समाधिस्थ परमशिव का वृत्तान्त प्रस्तुत किया है सृष्टि के सभी अर्थों के प्रकाशक भगवान् शंकर हिमालय के शिखर पर समाधिस्थ हैं—

स कृत्तिवासास्तपसे यतात्मा गङ्गाप्रपातोक्षितदेवदारु।
प्रस्थं हिमाद्रेर्मृगनाभिगन्धि कि_चत्क्वणत्किन्नरमध्युवास।।

गणा नमेरुप्रसवावतंसा भूर्ज्जत्वचः स्पर्शवतीर्दधानाः।
मनःशिलाविच्छुरिता निषेदुः शैलेयनद्धेषु शिलातलेषु।

तुषारसंघातशिलाः खुराग्रैः समुल्लिखन् दर्पकलः ककुद्मान्।
दृष्टः कथ_चद् गवयैरविविग्नैरसह्यसिंहध्वनिरून्ननाद।।

तत्राग्निमाधाय समित्समिद्धं स्वमेव मूर्त्यन्तरमष्टमूर्त्तिः।
स्वयं विधाता तपसः फलानां केनापि कामेन तपश्चचार।। (कु.स. 1.54—57)

सती के योगविद्या से शरीरत्याग के अनन्तर शिवजी 'कृत्तिवास' मृगचर्म को धारण करने वाले हो गये थे। उन्होंने मन में पाँचों यमों अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह को जमा रखा था। गणों के साथ भगवान् शङ्कर गङ्गाजलप्रवाह से संसिक्त हिमाद्रि के शिखर पर समाधिस्थ हुए। उनका वाहन नन्दी भी हिमालय पर विचरण करने वाले सिंहों की ध्वनि को न सहता हुआ स्वयं रँभाता। शङ्कर जी ने अपनी ही मूर्ति अग्नि का आधान किया और तप आरम्भ किया। वे सृष्टि के समस्त प्राणियों के समस्त तप के फलप्रदाता होते हुए भी किसी कामना विशेष से तपःसमाधि में लीन प्रतीत हुए। अलब्ध की प्राप्ति की कामना से शिवजी यदि समाधिस्थ थे तो यहाँ अलब्ध थी केवल अर्धाङ्गिनी भगवती पार्वती।

अभिज्ञानशाकुन्तल के अन्तिम पद्य के रूप में प्रस्तुत भरतवाक्य भी नीललोहित शिव की स्तुति से युक्त है। इस नाटक के आदि और अन्त दोनों में महाकवि ने शिवतत्त्व का स्मरण किया है—

प्रवर्ततां प्रकृतिहिताय पार्थिवः सरस्वती श्रुतिमहती महीयताम्।
ममापि च क्षपयतु नीललोहितः पुनर्भवः परिगतशक्तिरात्मभूः।। (शा. 7.34)

महाकवि कालिदास कामना करते हैं कि पार्थिव प्रकृतिहित के लिए सचेष्ट रहें, श्रुतिमहती वैदिक शब्दराशि सरस्वती की समस्त जगत् में प्रतिष्ठा हो, शक्तियों से परिगत नीललोहित आत्मभू भगवान् परमशिव सब पर कृपालु रहें, और मेरा भी कृपापूर्वक पुनर्भव के चक्र से बन्धन पूर्णतः समाप्त करें।

महाकवि कालिदास ने राजा दिलीप के गोचारण वृत्तान्त के समय परमशिव की तीन संज्ञाओं का उल्लेख किया है 'अष्टमूर्ति' वृषभध्वज और शूलभृत्'।

कैलासगौरं वृषभारुरुक्षोः पादार्पणानुग्रहपूतपृष्ठम्।
अवेहि मां किङ्करमष्टमूर्त्तेः कुम्भोदरं नाम निकुम्भमित्रम्।।

अमुः पुरः पश्यसि देवदारूः पुत्रीकृतोऽसौ वृषभध्वजेन।
यो हेमकुम्भस्तननिः सृतानां स्कन्दस्य मातुः पयसां रसज्ञः।।

कण्डूयमानेन कटं कदाचिद् वनद्विपेनान्यथिता त्वगस्य।
अर्थेनमद्रेस्तनया शुशोच सेनान्यमालीठमिवासुरास्त्रैः।।

तदाप्रभृत्येव वनद्विपानां त्रासार्थभस्मिन्नहमद्रिकुक्षौ।
व्यापारितः शूलभृता विधाय सिंहत्वभङ्कागतसत्ववृत्ति।। रघु. 2.35–38

यहाँ पर परमशिव के लिए पुनः अष्टमूर्ति शब्द का प्रयोग उनको सम्पूर्ण प्रकृति के प्रतिनिधि तथा उसके संरक्षक के रूप में प्रतिपादित करने के लिए गृहीत है। यहाँ परमशिव जी प्रकृति की रक्षा के लिए अपने एक गण को नियुक्त करते हैं। कथा के इस अंश में सिंह शिवजी के प्रति अपने सेवक भाव का प्रदर्शन करता है। परमशिव की वृषभध्वज संज्ञा कथा के उस अंश में निहित है जहाँ शिव देवदारु को पुत्र के रूप में कल्पित करते हैं।

परमशिव की 'शूलभृत्' संज्ञा उस अवस्था में स्वीकार की गयी है जहाँ शिवजी देवदारु की रक्षा में कुम्भोदर नामक सिंह को नियुक्त करते हैं।

इस प्रकार से परमशिव के विषय में महाकवि कालिदास ने बृहद् रूप से उल्लेख करते हुए उनके समस्त सृष्टि के लिए कल्याणकारक अष्टमूर्ति स्वरूप का विशेष रूप से प्रतिपादन किया है।

महाकवि कालिदास की परमशिव को अष्टमूर्ति के रूप में स्थापित करने का आधार अपौरुषेय वैदिक वांगमय है। अथर्ववेद एवं शतपथ ब्राह्मण में परमशिव को सहस्राक्ष इस विशेषण पद से विभूतिषित किया गया है। ऋषि कहते हैं–

अस्रा नीलाशिखण्डेन सहस्राक्षेण वाजिना।
रूद्रेणार्कघातिना तेन मा समरामहि।। अ.वे. 11.27
रूद्रः सहस्राक्षः शतेपुधिरात्यधन्वा। श.व. 9.1.1.6

जल, पावक, क्षिति, गगन, समीर, सूर्य, चन्द्र (मन, पिण्ड) अर्थात् प्रकृति की संयुक्तता से परमशिव की अष्टमूर्ति का निर्माण होता है। वे जगत्स्रष्टा के रूप में पूजित हैं तथा उन्हें ही सृष्टि भी कहा गया। इस प्रकार से अष्टमूर्ति के आठरूप स्पष्ट हैं रूद्र, भव, शर्व, ईशान, पशुपति, भीम, उग्र और महादेव। विष्णु समस्त चराचरात्मिका सृष्टि के पालक माने जाते हैं और परमशिव संहारक कहे जाते हैं। शिव को ही देवों में श्रेष्ठ महादेव कहा गया है– देवेषु महान् देवो महादेवस्ततः स्मृतः (वायु.पु. 5.41)।

स्कन्दपुराण में पशुपति, सर्वज्ञ, ईश्वर, सब तत्त्वों के मूल तत्त्व तथा सनातन भगवान् रूद्र ने कहा कि सृष्टिकर्ता ब्रह्मा से पहले मैं ही एक अकेला ईश्वर था, वर्तमान में भी मैं ही ईश्वर हूँ और भविष्य में भी मैं ही ईश्वर रहूँगा। मेरे अतिरिक्त कोई दूसरा ईश्वर नहीं है–

सोऽब्रवीद् भगवान् रुद्र पशूनां पतिरीश्वरः।
सर्वज्ञः सर्वतत्त्वानां तत्त्वभूतः सनातनः।।

अहमेको जगद्धातुरास प्रथममीश्वरः।
वर्तामि च भविष्यामि न मत्तोऽन्योऽस्ति कश्चन।। (स्कन्दपुराण 1.2.7–8)

परमशिव की इस प्रतिष्ठा एवं महानता का कारण यह था कि उन्होंने अपने ऐश्वर्य से देवताओं को, शक्ति से असुरों को, ज्ञान से मुनियों को तथा योग से प्राणियों को पराजित किया था–

अत्येति तेजसा देवो महादेवस्ततः स्मृतः।
अत्येति देवानैश्वर्याद् बलेन च महासुरान्।।
ज्ञानेन च मुनीन् सर्वान् योगाद् भूतानि सर्वशः। (वायु.पु. 70.61–62)

दूसरे शब्दों में कहें तो परमशिव आवश्यकता पड़ने पर देवताओं को ऐश्वर्य प्रदान कर सृष्टि को धारण करने के उनके सामर्थ्य की वृद्धि करते हैं। विनाशकारक आसुरी शक्तियों से सृष्टि की रक्षा करते हैं अपनी सात्विक शक्तियों के प्रयोग से। मुनियों के मुक्ति के मार्ग को प्रशस्त करते हैं मिथ्या जगत् को धारण करने के अभिमान से मुक्त होने के ज्ञानप्रदाता होकर। कर्मयोग के साधक समस्त प्राणिसमूह को योगविद्या की सिद्धि में समर्थ बना कर्ममार्ग पर चलने के उनके सामर्थ्य को बढ़ाते हैं। बिना योग के सिद्धि सम्भव नहीं। और योगविद्या के सच्चे उपदेशक हैं परमशिव।

इन तथ्यों से प्रमाणित होता है किय परमशिव सम्पूर्ण चराचरात्मिका प्रकृति के धारण कर्ता हैं, संरक्षक हैं, उन्नतिकारक हैं और उसके आन्तरिक सामर्थ्य को पूर्णता तक पहुंचाने के लिए सर्वथा समर्पित रहते हैं। यही है परमशिव का सर्वकल्याणसाधक स्वरूप जिसकी उपासना प्रत्येक प्राणी को निरन्तर करनी चाहिए।

3.7 शैव सम्प्रदायों में परमशिव का स्वरूप

भारतीय परम्परा में भगवान् शिव तथा उनके अवतारों को मानने वालों और भगवान् शिव की आराधना करने वाले भक्तों को 'शैव' कहा जाता है। शैव में शाक्त, नाय, दशनामी, नाग आदि उप सम्प्रदाय भी पाए जाते हैं। ये भी सम्प्रदाय हैं जो भगवान् शिव की आराधना अलग–अलग रूपों में अलग अलग माध्यमों से करते है। इनमें शैव और पाशुपत सम्प्रदाय प्रसिद्ध हैं। पाशुपत सम्प्रदाय के अनुनयी तन्त्र पर बल देते हैं।

शैवागम में शैव सम्प्रदायों की संख्या चार बताई गई है– **1. शैव, 2. पाशुपत, 3. कापालिक, 4. कालामुख**। वामनपुराण में भी शैव मतावलम्बियों के इन्हीं चार सम्प्रदायों का उपदेश किया गया है (वामनपुराण अध्याय 6)

3.7.1 शैव सिद्धान्त

इस मत के अनुयायियों की दृष्टि में सृष्टि अथवा जगत् के तीन रत्न हैं **शिव, शक्ति** और **बिन्दु**। इनमें कर्त्ता शिव हैं, करण शक्ति हैं और उपादान बिन्दु हैं। शिव की दो

शक्तियाँ हैं समवायिनी और परिग्रहरूप। समवायिनी शक्ति निर्विकार और चिद्रूप है तथा परिग्रहरूपा शक्ति अचेतन और परिणामशालिनी है, जो बिन्दु कही जाती है।

इसी क्रम में बिन्दु भी दो प्रकार की है शुद्ध एवं अशुद्ध। शुद्ध बिन्दु महामाया है और अशुद्ध बिन्दु माया। दोनों भिन्न–भिन्न रूप वाले जगत् के उपादान कारण हैं। महामाया सात्त्विक जगत् की और माया प्राकृत जगत् की आधार मानी जाती है। इस मत के चारपाद एवं तीन पदार्थ हैं अर्थात् विद्या, क्रिया, योग और चर्चा चार पाद हैं तथा पति, पशु और पाश तीन पदार्थ हैं–

1. **पति**– पति का अर्थ शिव से लिया गया है जो स्वामी है। शिव सर्वज्ञ हैं। स्वतन्त्र हैं एवं ऐश्वर्य सम्पन्न हैं। अर्थज्ञान एवं क्रियाशक्ति का समन्वित रूप उनमें निहित है। उनका शरीर कर्मफल रूप न होकर शक्तिरूप (मन्त्ररूप) है। पंचमन्त्र में ईशान (मस्तक), तत्पुरुष (मुख), घोर (हृदय), कामदेव (गृह्य), सद्योजात (पाद) हैं। इनके पूर्व में वर्णित 5 कार्य हैं– सृष्टि, पालन, संहार, तिरोभाव और प्रसाद। इनकी दो अवस्थाएँ है लयावस्था और भोगावस्था।

   परमशिव की लयावस्था वह है जब शक्ति समस्त व्यापारों को समाप्त कर केवल स्वरूप में रहती है। तथा शिव की भोगावस्था वह है जब शक्ति के कारण बिन्दु कार्य उत्पादन करता और शिव के ज्ञान और क्रिया में योग प्रदान करता है। शिव के चार अङ्ग बताए गए हैं।

2. **पशु**– पशु शब्द का व्यवहार जीवात्मा का संकेत करने के लिए किया जाता है। जो अणु, सीमित शक्ति से समन्वित और परिच्छिन्न है, नित्य, अनिष्क्रिय और सर्वव्यापी है। पाश (बन्धन) के हट जाने पर वह शिवरूप होकर ज्ञान–शक्ति और क्रियाशक्ति से सम्पन्न हो जाता है। अतः मुक्त एवं बन्धन–हीन जीव शिव है। पशु तीन प्रकार का है– 1. विज्ञानकल, 2. प्रलयाकल, 3. सकल

3. **पाश**– पाश शब्द का अभिप्राय बन्धन से है जिसके द्वारा शिवरूप होने पर भी जीव को पशुत्व की प्राप्ति होती है। पाश के चार भेद निर्दिष्ट किए गए हैं– मल, कर्म, माया एवं रोध–शक्ति। जीव की प्राकृतिक ज्ञान–क्रिया शक्ति को तिरोहित करने वाला बन्धन 'मल' कहा गया। फल की इच्छा से किये जाने वाले धर्माधर्म कार्य को बन्धन 'कर्म' के नाम से कहा गया। प्रलयकाल में जीवों को अपने में लीन करने वाली शक्ति और सृष्टि काल में उन्हें उद्भूत करने वाली शक्ति को 'माया' की संज्ञा दी गई है। शिव की शक्ति को, जो जीवों के स्वरूप का तिरोधान करती है 'रोध' के नाम से अभिहित किया गया।

3.7.2 पाशुपत सम्प्रदाय

पाशुपत मत का उल्लेख बादरायण महर्षि वेदव्यास द्वारा रचित महाभारत के शान्तिपर्व में मिलता है इस प्रकार–

> सांख्यं योगः पांचरात्रं वेदाः पाशुपतं तथा।
> ज्ञानान्येतानि राजर्षे विद्धि नानामतानि वै।। (महा.भा.शान्तिपर्व 349.64)

सांख्य, योग, पांचरात्र और पाशुपत अनके मत हैं। इनमें ज्ञान की प्राप्ति के मार्ग भिन्न–भिन्न है। पाशुपत मत का उपदेश ब्रह्मा के पुत्र भूतनाथ श्रीकण्ठ उमापति शिव ने शान्तचित्त होकर दिया था–

उमापतिर्भूतपतिः श्रीकण्ठो ब्रह्मणः सुतः।
उक्तवानिदमव्यग्रो ज्ञानं पाशुपतं शिवः।।

इतिहास में पाशुपत मत का प्रवर्तक नकुलीश या लकुलीश को माना जाता है।

पाशुपत मतानुयायी द्वैतवादी हैं। उन्होंने पाशुपत सिद्धान्त के अन्तर्गत पाँच पदार्थों को स्वीकार किया है– 1. कार्य, 2. कारण, 3. योग, 4. विधि, 5. दुःखान्त

1. कार्य– उसे कहते हैं जिसमें स्वातन्त्र्य शक्ति नहीं होती है। यह तीन प्रकार का माना गया– विद्या, अविद्या (कला) एवं पशु भेद से। कार्य के अन्तर्गत ही जीव और जड़ होते हैं। जीव (पशु) का गुण विद्या है जो दो प्रकार का है– बोध और अबोध। जीव के बोध स्वभाव वाली विद्या चित्त है तथा धर्म और अधर्म से मुक्त विद्या अबोध है। चेतन के अधीन होते हुए स्वयं अचेतन पदार्थ कला है, जिसके दो भेद होते हैं, कार्यरूपा और कारणरूपा (इन्द्रिय)। कार्ययुक्त कला में पृथ्वी आदि पाँच तत्त्व तथा गन्धादि पाँच गुण विद्यमान रहते हैं। कारण युक्त कला में तेरह इन्द्रियों (पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ, मन, बुद्धि, अहंकार) का अन्तर्भाव हो जाता है। पशु पाशों से आबद्ध है, इसलिए उसमें पशुत्व है। पशु के भी दो प्रकार हैं– सांजन एवं निरंजन। शरीर इन्द्रिय की कलाओं से सम्बन्ध होने के कारण सांजन है और इनसे मुक्त होने के कारण निर्मल जो प्रकार है, वह निरंजन है।

2. कारण– परमशिव का कारण तत्त्व वह है जो समस्त वस्तुओं की सृष्टि और संहार के साथ अनुग्रह प्रदान करता है। वही दूसरे शब्दों में परमात्मा है, परमेश्वर है जो अपना अपरिमित ज्ञान और प्रभुशक्ति जीवों को प्रत्यक्ष कराता है और उसका पोषण करता है। इसलिए उसे 'पति' संज्ञा दी गयी। पति के रूप में वह ज्ञान और क्रिया की शक्तियों से सम्पन्न होता है और पूर्णतः स्वतन्त्र होते हुए वह आद्यकर्त्ता और ऐश्वर्यवान् के रूप में रहता है। उसमें शक्ति और कर्तृत्व का तादात्म्य पाया जाता है। वह स्वतन्त्र कर्त्ता कहा जाता है।

3. योग– योग उसे कहते हैं जिसमें चित्त के माध्यम से 'आत्मा', 'जीवपशु' का परमात्मा से सम्बन्ध स्थापित होता है। योग के दो प्रकार होते हैं (1) क्रियात्मक (जप, तप, ध्यान आदि), (2) अक्रियात्मक (अनुभव और तत्त्वज्ञान)। प्रथम के साधक हैं जीव के बाह्यकरण और दूसरे के हैं उसका अन्तःकरण।

4. विधि– विधि वह साधक व्यापार है, जिससे जीव को महेश्वर की प्राप्ति होती है इसके दो भेद हैं– (1) मुख्य और (2) गौण।

   मुख्यविधि में धर्म का साक्षात् कारण है चर्या। मुख्यविधि के भी दो प्रकार हैं– व्रत एवं द्वार। भस्मस्नान, भस्मशयन, जप, उपहार और प्रोंक्षणिका नामक कार्य 'पंचविध' व्रत कहे जाते हैं। इनमें उपहार अथवा नियम की 'श्रेणियाँ निर्दिष्ट हैं। हसित, गीत, नृत्य, हुड्डुकार, नमस्कार एवं जप्य जिसमें साधक क्रमशः हंसता, गाता, नाचता, बैल के समान शब्द करता, नमस्कार एवं जप करता है।

   द्वार के 'प्रकार हैं (1) ग्राथन– असुप्त व्यक्ति का सुप्त मनुष्य की तरह चेष्टा करना, (2) स्पन्द– निःशक्त के रूप में अङ्गों का कम्पन, (3) मन्दन– लँगड़ाते हुए चलना, (4) श्रृंगारण– किसी कामिनी को देखकर कामुक जैसी चेष्टा करना, (5) अवितत्करण– विवेकहीन होकर निन्दित कार्य करना, (6) अवितद्भाषण– अज्ञान या व्यर्थ की बातें करना।

गौण विधि में अनुस्नान– पूजा के उपरान्त भस्म स्नान, भैक्ष्य, उच्छिष्ट, निर्माल्य एवं लिङ्ग धारण किया जाता है।

5. दुःखान्त– दुःखान्त का अभिप्राय है दुःख का अन्त अर्थात् दुःखों से अत्यन्त निवृत्तिरूपा मुक्ति। दोष के कारण जीव बन्धन में रहता है जो पाँच प्रकार के हैं– (1) मिथ्याज्ञान, (2) अधर्म, (3) सक्ति हेतु– सांसारिक विषयोपभोगों के प्रति आसक्ति एवं उनसे निरन्तर सम्पर्क की कामना, (4) च्युति– रुद्रत्व से चित्त का च्युत हो जाना, (5) पशुत्व– अल्पज्ञता आदि पशुत्व के उत्पादक धर्म माने जाते हैं।

   दुःखान्त के दो भेद है–

   1. अनात्मक– दुःखों की मात्र निवृत्ति।
   2. सात्मक– ज्ञान एवं कर्म की शक्ति से परमैश्वर्य की प्राप्ति।

   ज्ञानशक्ति के 5 भेद हैं– (1) दर्शन– सूक्ष्म, व्यवहित और विप्रकृष्ट वस्तुओं का ज्ञान, (2) मनन– समस्त चिन्तित विषयों का ज्ञान, (3) श्रवण– भलीभाँति शब्दों का ज्ञान,

   क्रियाशक्ति के तीन प्रकार हैं– (1) मनोजवित्य– मन का क्षटिति सक्रिय होकर तीव्र गति से कार्य सम्पन्न करना, (2) कामरूपित्व– इच्छानुसार विविध रूप धारण करना, (3) विकरणधर्मित्व– इन्द्रिय व्यापार के विषयों के प्रति सर्वथा अवरुद्ध हो जाने पर भी ऐश्वर्यशाली बने रहना।

3.7.3 कापालिक सम्प्रदाय

कापालिकों के इष्टदेव 'भैरव' माने जाते हैं। भैरव शंकर का ही एक अवतार माने जाते हैं। इस सम्प्रदाय के अनुयायी 'भैरव' को ही सृष्टि का सर्जन एवं संहारक मानते हैं।

कूर्मपुराण में उल्लिखित है कि शैव मत के अन्तर्गत कापालिक सम्प्रदाय मुख्य सम्प्रदाय है–

> कापालं लाकुलं वाम भैरवं पूर्वपश्चिमम्।
> पाचरात्रं पाशुपतं तत्रान्यानि सहस्रशः।। कूर्मपु. 16

इसके अतिरिक्त भी 'कालामुख, काश्मीरी शैव सिद्धान्त अथवा त्रिक् दर्शन, नाथ सम्प्रदाय अथवा योगिनी कौल मार्ग' इत्यादि शैव सम्प्रदाय के प्रमुख अंग परम्परा में पाये जाते हैं। इनका भी विवेचन शैवदर्शन में प्राप्त होता है। इनमें भेद परमशिव की उपस्थिति के स्वरूप भेद से है। अन्यथा तात्विक दृष्टि से सभी समान हैं। उपासना विधि और सृष्टि के नियामक तत्त्वों के प्रति भेदबुद्धि इनको अलग करती है।

3.7.4 कालामुख सम्प्रदाय

कालामुख सम्प्रदाय को पाशुपत सम्प्रदाय की शाखा माना जाता है। काल और आमुख दो शब्दों से निष्पन्न है कालामुख पद। इसका अर्थ है समय या काल का सामना करने वाला सम्प्रदाय। दूसरे शब्दों में काल का अर्थ मृत्यु भी लिया जाता है। अतः मृत्यु का सामना करने वाले सम्प्रदाय को कालामुख कहा जाता है।

इनकी उपस्थिति दक्कन के पठार के मध्यवर्ती क्षेत्र में मानी जाती थी। इनको पेशेवर भिक्षु कहा जाता था। इनके प्रारम्भिक आवास सुदूर दक्षिण में मैसूर के समीप प्राप्त

होते हैं। इनकी व्याप्ति समाज में थी। इनका विश्वास सामाजिक और धार्मिक विकृतियों को समाप्त कर समाज सुधार करने में था। इसीलिए श्मशान में पाए जाने वाले अघोरपंथी कापालिक इत्यादि सम्प्रदायों के अनुनायियों से पृथक् इनकी उपस्थिति समाज में पायी जाती थी।

3.8 सारांश

उपर्युक्त सम्पूर्ण पाठ्यसामग्री के अध्ययन से भारतीय परम्परा में उपस्थित परमात्मा और परमशिव विषयक मान्यताओं का परिचय प्राप्त होता है। दोनों ही तत्त्वों को भारतीय ज्ञानपरम्परा में विभिन्न पर्यायों से स्वीकार कर अनेक दार्शनिक एवं धार्मिक सम्प्रदायों का उदय हुआ। परमात्मा सर्वव्यापी तत्त्व है तो परमशिव सृष्टि में प्रवेश कर उसका सर्वविध कल्याणकारक तत्त्व है। परमात्मा के रूप में हमारे अन्दर विद्यमान ईश्वर का नित्य और शाश्वत स्वरूप सन्मार्ग पर प्रवृत्त होने की प्रेरणा देता है। परमात्मा सर्वसमर्थ है। वह चेतना की समष्टि का प्रतीक है। उसी की व्यष्टि है जीवजगत्। अज्ञान से आवृत होने के कारण परमात्मा का ही प्रतिनिधिभूत जीव अपने अपरिमित स्वरूप को नहीं देख सकता।

परमशिव सृष्टि के प्रत्येक कण में विराजमान सात्विक शक्ति का प्रतीक हैं। वे सम्पूर्ण सृष्टि के उपादान कारण हैं। पंचमहाभूतों के रूप में सृष्टि में प्रतिष्ठित हैं। परमशिव समस्त ऐश्वर्यों के प्रदाता हैं, परन्तु प्रपत्तियोगपूर्वक उपस्थित हुए शरणागत भक्तों को ही यह सामर्थ्य प्रदान करते हैं। सृष्टि में व्याप्त सात्विक शक्ति परमशिव की प्रतीक है। शैव सम्प्रदाय में इनका अनेक रूपों में स्मरण किया जाता है। वे नियामक और अनुग्रह कर्ता हैं तो संहारक और प्रलयकर्ता भी हैं। निर्भर करता है उनके स्वरूप के अनुग्रह का पात्र बनना, भक्त के अपने सामर्थ्य पर।

3.9 परिभाषिक शब्दावली

व्युत्पत्ति– किसी पद का व्याकरण सम्मत अर्थ।

अचिन्त्य– विचार के परे।

उद्गीथ– प्रणव या ओंकार।

अद्वैतवादी– जीव और ब्रह्म में तादात्म्य मानने वाला दार्शनिक सम्प्रदाय।

उत्तरमीमांसा– ब्रह्मत्व का अनुभव कराने वाला शास्त्र। वेदान्त दर्शन।

अव्यक्त– चर्मचक्षुओं से न दिखने वाला।

अमृतस्वरूपा शक्ति– कभी न समाप्त होने वाली शक्ति।

भस्मसात् करने– जला कर राख कर देना।

मंगलपद्य– प्रारम्भिक मंगलाचरण का सम्पादक पद्य।

निर्विकारी– कामादि अन्तःकरण के छः दोषों से रहित।

श्रद्धावान्– शरणागत। अहंकार का सर्वथा त्यागकर देने वाला व्यक्ति।

ब्रह्मचर्य– शरीर की धातुओं की रक्षा द्वारा इन्द्रियों के सामर्थ्य का संरक्षक व्रत।–

अपरिग्रह– जरूरत से ज्यादा का संग्रह न करना।

समवायिनी शक्ति– पदार्थों के स्वरूप की नियामक शक्ति।

परिच्छिन्न– चारों ओर से घिरा हुआ।

तिरोधान– आंखों से ओझल हो जाना या समाप्त हो जाना।

प्रवर्तक– किसी सिद्धान्त या मान्यता को प्रारम्भ करने वाले आचार्य।

द्वैतवादी– जीव और ब्रह्म में भेदबुद्धि स्वीकार करने वाला सम्प्रदाय।

तादात्म्य– दो पदार्थों का स्वरूप से एकाकार हो जाना।

बाह्यकरण– बाह्य इन्द्रियां। कर्मेन्द्रियां तथा ज्ञानेन्द्रियां।

3.10 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. श्रीमद्भगवदगीता, गीता प्रेस, गोरखपुर।
2. ईशावास्योपनिषद् गीता प्रेस, गोरखपुर।
3. कठोपनिषद्, गीता प्रेस, गोरखपुर।
4. माण्डूक्योपनिषद्, गीता प्रेस, गोरखपुर।
5. मनुस्मृति, पं. हरगोविन्द शास्त्री, चौखम्बा कृष्णदास अकादमी, वाराणसी, 2007।
6. योगसूत्र/दर्शन हिन्दी व्याख्या सहित, गीता प्रेस, गोरखपुर।
7. न्यायसूत्र, गौतम या अक्षपाद।
8. स्कन्दपुराण, गीताप्रेस, गोरखपुर।
9. शिवपुराण, गीताप्रेस, गोरखपुर।
10. अभिज्ञानशाकुन्तलम्, महामहोपाध्याय श्री रेवाप्रसाद द्विवेदी, कालिदासग्रन्थावली, कालिदास संस्कृत अकादमी उज्जैन, मध्यप्रदेश, 2007।
11. कालिदासग्रन्थावली, सम्पादक तथा हिन्दी अनुवादक महामहोपाध्याय रेवाप्रसाद द्विवेदी, सहायक सम्पादक प्रो0 सदाशिव कुमार द्विवेदी, प्रकाशक कालिदास संस्कृत अकादमी उज्जैन, मध्यप्रदेश, 2007।
12. शतपथब्राह्मण
13. वायुपुराण
14. महाभारत, भण्डारकर ओरियण्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट, पुणे। ,
15. कुर्मपुराण
16. प्राचीन भारत का सामाजिक इतिहास, लेखक जयशंकर मिश्र, प्रकशक बिहार हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, पटना।

3.11 बोध प्रश्न

1. परमात्मा शब्द का अर्थ निरूपित करते हुए उसके स्वरू‌‌प को प्रतिपादन कीजिएं
2. भारतीय दार्शनिक सम्प्रदायों में परमात्माविषयक मतों का विवेचन किजिए।
3. परमशिव शब्द का क्या अर्थ है? परमशिव के स्वरूप प्रतिपादन कीजिए।
4. पुराणों में निरूपित परमशिव के स्वरूप विवेचन कीजिए।
5. महाकवि कालिदास ने परमशिव को अष्टमूर्ति माना है। इस तथ्य को स्पष्ट कीजिए।

6. शैव सम्प्रदाय पर एक टिप्पणी लिखिए।
7. पाशुपत और कापालिक सम्प्रदायों की विशेषताओं पर प्रकाश डालिएं।
8. योगदर्शन में निरूपित परमात्मा के स्वरूप का विवेचन कजिए।
9. परमात्मा और परमशिव प्रकृति के नियामक हैं और उसमें व्याप्त हैं– कैसे? स्पष्ट कीजिए।
10. परमात्मा और परमशिव भारतीय धार्मिक आस्था के आधार हैं। स्पष्ट कीजिए।
11. परमशिव की शक्तियों का विवेचन कीजिए।

खण्ड 3
जगत

तृतीय खण्ड का परिचय

एम. ए. हिन्दू अध्ययन कार्यक्रम प्रथम वर्ष के चतुर्थ पाठ्यक्रम के तृतीय खण्ड में आपका स्वागत है।माया के वरुण के साथ तृतीय खण्ड का प्रारंभ हुआ है। प्रथम इकाई में प्रकृति शक्तिऔर माया का वर्णन प्रस्तुत किया गया है। प्रकृति के गुणों से ही सृष्टि में गुण का आधार माना गया है। दूसरी इकाई में काल तत्व का निरूपण किया गया है। संस्कृत साहित्य के विशाल आकार प्रकार में जिस प्रकार सृष्टि के लिए सभी पक्षों का अध्ययनहुआ है, इस प्रकार काल तत्व का वर्णन भी अनेक ग्रन्थों में प्रस्तुत किया गया है। ज्योतिषशास्त्र में भी काल का अध्ययन है। इस खण्ड की इकाइयों का अध्ययन करते समय आपको वैदिक सनातन हिंदू की दृष्टि का सहज ही पता चल जाएगा। पदार्थ विज्ञान भी भारतीय आचार्य का विशेष अध्ययन काविषय है। पंचमहाभूतों का योगदान ही हमें शरीर का अध्ययन करने में सहायता करता है। इसकी एक वैज्ञानिकदृष्टि भी है। अध्यात्म की दृष्टि से पंचमहाभूत की उपयोगिता सनातन संस्कृति का बहुत बड़ा अंगहै। इस खण्ड की अन्तिम इकाई में आप पांच महाभूतों का ही अध्ययनकरेंगे। इस खण्ड में कुल चार इकाइयों केमाध्यम से जगत का वर्णन प्रस्तुत किया गया है।

इकाई 1 माया, प्रकृति और शक्ति

इकाई की रूपरेखा

1.0 उद्देश्य

प्रिय विद्यार्थी! आप प्रस्तुत इकाई तृतीय खंड जगत् की प्रथम इकाई में भारतीय दर्शन में प्रतिपादित माया, प्रकृति,शक्ति का अध्ययन करने जा रहे हैं।

आइए अब हम मुख्यत तीन दर्शनों में प्रतिपादित **जगत** की व्याख्या का अध्ययन करें इसके अंतरगत सर्वप्रथम हम अद्वैत वेदांत में प्रतिपादित जगत संबंधित विचार जिसे माया के नाम से जानते हैं, चर्चा करेंगे।

1.1 प्रस्तावना

जगत् को भारतीय चिन्तनधारा में ब्रह्माण्ड भी कहा गया है जिसका शाब्दिक अर्थ होता है ब्रह्मा का अण्ड (Ege of Brahma) अर्थात् इस जगत् का प्रादुर्भाव ब्रह्मा से हुआ है जो ईश्वर की ही व्यक्तित्वपूर्ण सर्जनात्मक शक्ति है। जगत् या ब्रह्माण्ड का सामान्य अर्थ एक ऐसे विश्व से है जो सात लोकों या क्षेत्रों में फैला हुआ है। वे सात लोक हैं-1. भूलोक या पृथ्वी भुवलौक यः अन्तरिक्ष लोक, इसी को आकाश भी कहते हैं। 3. सुरलोक या महेन्द्र लोक, इसी को प्रथम स्वर्ग कहते हैं - जो आकाश के ऊपर है। 4. महलोंक या प्रजापति लोक, इसी को द्वितीय स्वर्ग कहते हैं। 5. ज्ञानलोक, इसको तृतीय स्वर्ग कहते हैं। 6. सपलोक या चतुर्थ स्वर्ग 7. सत्यलोक या पंचम स्वर्ग लोक। पृथ्वी या धूलोक में सात तल हैं 1. जतन 2. वितल 3 सुतल 4 रसातल 5. तलातल 6. महातल 7.

जगत की सृष्टि निरुद्देश्य नहीं हुई है, जैसा कि भौतिकवादी मानते हैं। बल्कि जागतिक व्यवस्था मूल रूप में कर्म के भौतिक नियम के द्वारा संचालित होते हैं जिनके अनुसार सभी जीवात्माओं को अपने पूर्व जीवन में किए गये या इस जीवन में संपादित कर्मों का फल भोगना पड़ता है। जीवात्मा अपने शुभाशुभ कर्मों के आलोक में सुख और दुःख भोग सकें इसके लिए भी ईश्वर के द्वारा इस संसार की सृष्टि की जाती है, इसका पालन किया जाता है और इसका नाश किया जाता है! इस प्रकार विश्व की सृष्टि से ईश्वरीय नैतिक उद्देश्य की प्राप्ति होती है।

1.2 माया

अद्वेत वेदांत का जगत्- विचार - शंकर के दर्शन में विश्व की व्याख्या करते हुए बताया गया है कि यह मिथ्या है। शंकराचार्य के अनुसार केवल ब्रह्म ही सत्य है। शेष सभी वस्तुएं (ईश्वर, जीव, जगत) प्रपंच हैं। शंकराचार्य के अर्द्धत वेदांत का मत है

"**ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या,** ब्रह्म ही मात्र सत्य है। जगत् मिथ्या है।

अद्वैत वेदांत ने जगत को रस्सी में दिखाई देनेवाले साँप के समान माना है। जिस प्रकार रस्सी में दिखाई देनेवाले साँप का आधार रस्सी हैं- उसी तरह विश्व का आधार ब्रह्म हैं। यतः ब्रह्म विश्व का अधिष्ठान है। जैसे साँप रस्सी के वास्तविक स्वरूप पर आवरण डाल देता है, उसी प्रकार जगत् ब्रह्म के वास्तविक स्वरूप पर आवरण डाल देता है और ब्रह्म के रूप का विक्षेप जगत यथार्थं प्रतीत होने लगता है। सम्पूर्ण जगत को अद्वैत वेदांत ब्रह्म का विव मात्र मानता है। जिस प्रकार सांप रस्सी का विवर्त हैं उसी प्रकार विश्व भी ब्रह्म का विवर्त है। देखने में ऐसा मालूम

होता है कि विश्व ब्रह्म का रूपान्तरित रूप है, परन्तु यह केवल प्रनीति मात्र है। ब्रह्म सत्य है ओर विश्व असत्य है।

अद्वैत वेदान्त माया ही एक ऐसी शक्ति मानी गई है जो जगत् की वस्तुओं और जीवों के नानात्व की उत्पत्ति के लिए उत्तरदायी हो सकती है। शंकराचार्य के पूर्व भी संहिताओं, उपनिषदों में माया की बात कही गई है, परन्तु उनका स्वरूप प्रतिष्ठित एवं परिमार्जित नहीं है। ऋग्वेद में 'माया' का प्रयोग इन्द्रजाल या छद्म के अर्थ में किया गया है। उपनिषदों में जगत् की रचना करने वाली ईश्वरी शक्ति बन गई है। ऋग्वेद का प्रसिद्ध वाक्य है-

'इन्द्रो मायाभिः पुरुरुप ईयते[1]

अर्थात् इन्द्र माया शक्ति से अनेक रूप धारण कर लेता है। यहाँ माया के साथ शुभ और अशुभ दोनों भाव जुड़े हैं।

उपनिषदों में ब्रह्म से संसार की उत्पत्ति बताई गई है तथा माया शब्द का प्रयोग उसी सृष्टि के हेतु किया गया है। श्वेताश्वतर उपनिषद् में मायावाद का कुछ विकसित रूप देखा जाता है।

'मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम् तस्यावयवभूतैस्तु व्याप्तं सर्वमिदं जगत्।[2]

इसमें ईश्वर की सृजन शक्ति को माया और परमेश्वर को मायावी कहा गया है। यहाँ इस बात का भी संकेत मिलता है कि माया अवयवभूत है। यह लक्षण उसके स्वामी महेश्वर में नहीं है।

माया का स्वरूप चित्रण करते हुए वशिष्ठ ने कहा है कि हे राम यह माया नष्ट होने पर हर्षप्रद होती है। ज्ञान के द्वारा विचारित होने पर यह स्वयं नष्ट हो जाती है।

'ईदृशीराम मायेयं या स्वपनाशेप्ना हर्षदा न लक्ष्यते स्वभावोऽस्याः प्रेक्ष्यमाणैवनश्यति ।

1.2.1 माया शब्द की व्युत्पत्ति

माया संस्कृत का एक सारगर्भित शब्द है। विश्व की किसी दूसरी भाषा में इसका पर्याय नहीं है। माया शब्द मा धातु से बना है। मीयते या सा माया, नापा जाता है वह माया है अथवा मीयते अनया सा माया अर्थात् जिससे नापा जाता है वह माया । इस प्रकार माया एक मानदण्ड है, एक माप है। आधुनिक विज्ञान ने माना है कि जो माप योग्य (measurable) है वही वास्तविक (real) है और जो वास्तविक (माया) है वह माप योग्य (measurable) है। स मत का आदि रूप मायावाद देता है जो कहता है कि जो कुछ मेय (ज्ञेय विषय) है वह वास्तविक माया) है और जो वास्तविक (माया) है वह मेय है। माया को मेय या ज्ञेय कैसे कहा जा सकता है क्योंकि वह दुर्जेय और अचिंत्य मानी जाती है? इसका उत्तर इस संदर्भ में यह कह कर दिया जा सकता है कि माया को दुर्ज्ञेय या अचिंत्य इसलिए कहा जाता है कि उसका वर्णन इदमित्थम् यह ऐसा ही है) में नहीं किया जा सकता। कुछ भी हो, जो मेय या ज्ञेय है वह वास्तविक (माया) है। एक प्रकार का नापना, जाँच-पड़ताल करना है। अनेक प्रकार से विषयों को जाना जा सकता । इन प्रकारों में से कोई एक प्रकार ही अन्तिम रूप से निर्णायक सत्य नहीं है और न इन प्रकारों की कोई इयत्ता है। इसलिए मायिक विषयों को दुर्ज्ञेय या अचिंत्य कहा जाता है। वास्तविकता (माया) रमार्थ सत्य नहीं है, वह परमार्थ सत्य का एक आभास मात्र है।

---

[1] ऋग्वेद 6-47-48

[2] श्वेताश्वतर उपनिषद् 4.10 42. प्रश्नोपनिषद् 1.16

दूसरे, माया को व्युत्पत्ति मा और या इन दो शब्दों के योग से की जाती है। मा का अर्थ नहीं या है। या का अर्थ जो कुछ या यत् किंचित्। इस व्युत्पत्ति के अनुसार माया का अर्थ न-सत् या नो-सत् प्लेटो ने ग्रीक भाषा में जिसको मी-आन (me-on) कहा है यह माया शब्द से ध्वनि-साम्य और अर्थ-साम्य रखता है। 'मी' का अर्थ नञ् या न है और 'आन' का अर्थ सत् है। प्लेटो नान बीइंग को सी-आन कहते हैं। इसको हम यदि असत् कहें तो यह माया का वाचक न होगा। किन्तु इसे यदि हम -सत् या नो-सत् कहें और इसे असत् से वैसे ही भिन्न करें जैसे हम सत् से भिन्न करते हैं तो निश्चय की मी आन शब्द का वाचक है।

मा याति, इति माया अर्थात् जो निषेध को प्राप्त हो जाता है, वह माया है। विषय-ज्ञान निषिद्ध होता रहता है, अतएव वह माया है।

माया की व्युत्पत्ति करते हुए शैवदर्शन में कहा गया कि मा धातु और आड़ उपसर्ग तथा या धातु और घञ् प्रत्यय के योग से माया शब्द बनता है।

माया = मा+आ+या+घञ्। जो मा है और आया है यह माया है।

माध्य वेदान्त में माया की व्युत्पत्ति **मय** शब्द से की गई है। मय शब्द में अर्थ प्रकृष्ट होता है। मय शब्द में स्वार्थ में अणू प्रत्यय लगने से माय बनता है। माय का अर्थ मय ही है। फिर माय शब्द में टापू प्रत्यय लगने से माया बनता है। अर्थात् माय शब्द का ही रूप स्त्रीलिंग में माया है। इस प्रकार मय शब्द के ही अर्थ में माया का प्रयोग होता है।

माया तो ईश्वर की इच्छा मात्र है। अद्वैत वेदान्त के अनुसार परमतत्व तो ब्रह्म ही है। वही एकमात्र सत् है। उससे भिन्न जगत की सारी वस्तुएं मिथ्या हैं। "माया" इस प्रपंचात्मक जगत की जननी है। वेदान्त में ब्रह्म की शक्ति, अविद्या अज्ञान, अध्यास, विवर्त्त के लिए माया का प्रत्यय प्रस्तुत किया जाता है।

"मायाबिम्बो वशीकृत्य तां स्यात् सर्वज्ञ
ईश्वर: अविद्यावशगस्त्वन्यस्तवैचित्यादनेकघा[3]

विद्यारण्य के अनुसार, माया में प्रतिबिम्बित होने वाला ब्रह्म माया को वशवर्ती बना कर ही ईश्वर बन जाता है और अविद्याजन्य परतन्त्रता के कारण ही जीव का जीवत्व होता है। यह सारा खेल माया का ही है, यथा-

गौड़पाद दर्शन के अनुसार, माया आत्मा या ब्रह्म की शक्ति है जो अद्वैत का आभास उत्पन्न करती है। उससे एक ओर जगत का विस्तार होता है और दूसरी ओर जीव उसी के कारण जगत को सत् समझ कर परम सत् को भूल जाता है, उसी से पृथक सा हो जाता है।

गौड़पाद अपनी 'मांडूक्यकारिका' में माया को स्वप्न और गन्धर्वनगर के मानते हैं।

शंकराचार्य को 'माया' सम्बन्धी अपनी अवधारणा निर्मित करने में उपनिषद् ता और 'मांडूक्यकारिका' की पृष्ठभूमि उपलब्ध थी।

प्रो० रानाडे के अनुसार, शंकराचार्य ने उपनिषदों एवं गौड़पाद के सिद्धान्तों आधार पर ही अपने मायावाद के सिद्धान्त का विकास किया है।

---

[3] पंचदशी 1.17

1.2.2 माया का आश्रय

माया का आश्रय तथा विषय ब्रह्म ही है, किन्तु माया के प्रभाव से ब्रह्म अस्पर्श है, जैसे जादूगर अपने जादू कार्यों से अछूता रहता है अथवा जैसे मृगतृष्णा के जल से भूमि सिंचित नहीं है। माया अनादि है। ब्रह्म के अनादिता से माया की अनादिता भी सिद्ध होती है। यह किसी काल विशेष में ब्रह्म से उत्पन्न नहीं होती है। माया अव्यक्त भी है, क्योंकि प्रलय काल में केवल ब्रह्म ही विद्यमान रहता है तथा माया उसी में अव्यक्त भाव में रहती है। माया का अव्यक्त नाम इस बात का भी सूचक है कि वह व्यक्त होकर जगत का विस्तार कर सकती है। माया 'अघटनघटनापटीयसी' है। ब्रह्म जैसे अरुष्ठ, एकरस, अनन्त तत्व से कुछ भी उत्पन्न होना तर्क से नहीं सिद्ध होता है उसकी माया शक्ति इस अघटनीय कार्य को घटित करने में समर्थ है। किन्तु सांख्य की प्रकृति की भांति न तो यह स्वतन्त्र है तथा न ही सत् माया व्यवहार में सत् प्रतीत होती है और परमार्थ में इसका बोध हो जाता है। यह ब्रह्म का विवर्त है। नामरूपात्मक होकर माया नानात्व का विस्तार करती है। इसलिए नामरूप भी माया कहलाते हैं।

माया न तो ब्रह्म की तरह यथार्थ है और न भाकविशाण की तरह अयथार्थ है। माया परमेश्वर की बीजशक्ति है। माया परमेश्वर की आश्रित सुप्तिरूपिणी है।

'अविद्यात्मिका हि बीजशक्तिरव्यक्तशब्दनिर्देश्या परमेश्वराश्रया मायामयी महासुप्तिः यस्यां स्वरुपप्रतिबोधरहिताः शेरते संसारिणो जीवाः ।[4]

माया सृष्टि के हेतु बीजशक्ति है। इसके बिना निर्गुण, निष्क्रिय, परमेश्वर सष्टा सिद्ध नहीं हो सकता, कारण कि शक्ति रहित परमेश्वर में प्रवृत्ति उत्पन्न नहीं हो सकती है।

माया के अव्यक्त होने का कारण बताते हुए शंकराचार्य लिखते हैं-

'अव्यक्ता हि सा माया तत्वान्यत्वनिरुपणस्याशक्यत्वात् ।[5]

अर्थात् वह माया अव्यक्त ही है क्योंकि वह सद्रूप है या उससे पृथक रूप है. यह निरूपण नहीं किया जा सकता है।

शंकराचार्य के अनुसार, माया के कारण मायोपाधिक होकर ही निर्गुण ब्रह्म, सगुण ब्रह्म या समस्त सृष्टि का स्रष्टा बन जाता है। शंकराचार्य के दर्शन में 'माया' का इतना अधिक वर्णन

1.2.3 माया की शक्तियां

है कि कुछ समीक्षकों ने शंकर को मायावादी कहना भी प्रारम्भ कर दिया था। परन्तु, वस्तुतः शंकराचार्य ब्रह्मवादी हैं, मायावादी नहीं।

शंकराचार्य के अनुसार माया का ज्ञान हमें उसके कार्यों द्वारा ही होता है। प्रपंचात्मक अखिल ब्रह्माण्ड की सृष्टि माया करती है। कबीर के शब्दों में, 'माया महाठगिनी हम जानी। आप्तकाम ब्रह्म की स्वाभाविक लीला 'माया' है। शंकर के अनुसार माया की लिखित विशेषताएं हैं। माया की दो प्रमुख शक्तियां हैं। किन्तु न तो माया वास्तविक है और न ये उसकी दोनों शक्तियां ही पारमार्थिक दृष्टि से यथार्थ हैं।

---

[4] शां०भा० 1.43

[5] ब्रह्मसूत्र, शां०भा० 1.4.3, पृ०सं० 288

1. **आवरण**

माया ईश्वर की अनादि शक्ति है। इस अनादि माया की दो शक्तियां हैं- आवरण तथा विक्षेप। आवरण का कोशगत अर्थ है-आच्छादन। वस्तु के यथार्थ रूप को ढक लेना ही आवरण कहलाता है। जैसे-सघन बादल का एक टुकड़ा दर्शकों की दृष्टि को ढक लेने के कारण अनेक योजन विस्तृत सूर्यमण्डल को ढक लेता है, उसी प्रकार आवरण शक्ति से युक्त माया परिछिन्न अर्थात् परिमित होने पर भी प्रमाता की बुद्धि को ढक लेती है। इसी आवरण के कारण जीव विशुद्ध आत्मस्वरूप को पहचान पाने में असमर्थ हो जाता है। इसे हस्तामलकस्त्रोत में एक रूपक के द्वारा स्पष्ट किया गया है-

धनच्छत्रदृष्टिघनिच्छत्रमार्क यथां निष्प्रभं मन्यते जातिमूढः
तथा बद्धवद्राति यो मूढ़दृष्टेः स नित्योवलब्धिस्वरुपोऽमात्मा [6]

माया प्रभु की एक ऐसी शक्ति है, जो अपनी ही आवरण शक्ति के द्वारा आत्मा के शुद्ध सत् चित् और आनन्दमय स्वरूप को भी ढक लेती है।

'सच्चिदानन्दस्वरूपमावृणोतीत्यावरणशक्तिः

माया की इस आवरण शक्ति के बिना माया परमात्मा भी निष्क्रिय है।

2. **विक्षेप**

विक्षेप शब्द का कोशगत अर्थ है- मिथ्या आरोप अर्थात् किसी वस्तु के यथार्थ स्वरूप पर किसी अन्य वस्तु के अयथार्थ स्वरूप के आरोप को विक्षेप कहा गया है। अज्ञान से आच्छादित 'रज्जु' में अज्ञान जिस प्रकार अपनी शक्ति से सर्प की उद्भावना कर देता है, उसी प्रकार माया भी अपने से आच्छादित आत्मा में विक्षेप शक्ति के द्वारा आकाश इत्यादि

जगत प्रपंच को उत्पन्न करती है। यह विक्षेप शक्ति ब्रह्म से लेकर स्थावर प्रपंच समस्त नामरूपात्मक जगत की जल में 'बुलबुले' की तरह सृष्टि कर देती है-

'ब्रह्मदिस्थारान्तं जगत् जलबुदबुद्वत्
नामरुपात्मकं विक्षिपति सृजतीति विक्षेपशक्तिः ।

माया की विक्षेप शक्ति ब्रह्ममाण्डादि जगत् का निर्माण करती है। विक्षेप शक्ति द्वारा 'असत्' रूप में जगत् प्रतिभासित होता है। माया का भाव पक्ष 'विक्षेप' है।

ब्रह्म माया का आश्रय तथा विषय है। माया को ज्ञाननिरस्या भी कहा गया है। कहने का आश्रय यह है कि आश्रय स्थल का सही ज्ञान हो जाने पर स्वतः माया का निरसन अर्थात् बोध हो जाता है। उसी प्रकार जैसे-रस्सी में सर्प की प्रतीति होती है तथा ज्ञान की प्राप्ति होने पर सर्प का स्वतः बोध हो जाता है।

1.2.4 माया की अनिर्वचनीयता

माया को न तो सत् कह सकते हैं और न ही असत् । सत् या असत् कहकर माया का निर्वचन नहीं किया जा सकता है। यदि माया को सत् कहा जाए तो चिदात्मा के समान उसका बोध कभी नहीं होना चाहिए। परन्तु तत्व ज्ञान से माया का बोध होता हुआ कहा जाता है। अतः माया सत्

[6] हस्तामलकस्तोत्र - 10

नहीं है।

यदि माया को असत् कहा जाए तो बन्ध्यापुत्र के समान उसका कभी भान नहीं होना चाहिए, परन्तु संसार के बन्धन में जकड़े हुए प्रत्येक व्यक्ति को 'मैं अज्ञ हूँ' इस प्रकार का स्पष्ट भान होता है। अतः माया 'असत्' भी नहीं है।

यदि यह कहा जाए कि माया को न सत् कहा जा सकता है और न असत्, अतः उसे "सद्सद्रूप" कहना चाहिए तो सद्रूपता और असद्रूपता के परस्पर विरुद्ध होने से यह कहना भी असंगत है, इसलिए युक्तिदृष्टि से विचार करने पर माया की 'अनिर्वचनीयता' ही सिद्ध होती है।

'माया' का निरूपण करते हुए शंकराचार्य उसकी अनिरूपणीयता का ही प्रतिपादन करते हैं-

इस कारण से ही माया का निरूपण करना कठिन कार्य है।

'तुच्छानिर्वचनीय च वास्तवी चेत्यसौत्रिधा
ज्ञेया मायात्रिबोधैः श्रौतयौक्तिकलौकिकः ।[7]

माया को सदरूप, असदरूप से निरूपण करना असम्भव है, इसलिए हम उसको 'यत्किंचित्' ही कह सकते हैं। यद्यपि माया के यथार्थ स्वरूप को समझना असम्भव है, तथापि उसके अस्तित्व में अनुभव, और श्रुति दोनों प्रमाण हैं। सत्य को खोजने के लिए हम प्रयास करते हैं, इसी से ज्ञात हो जाता है कि हम सत्य के विषय में अज्ञानी हैं। यह अज्ञान हमारे अनुभव का विषय है, इसलिए शास्त्रों में इसे 'साक्षिभाष्य' कहा गया है। 'श्वेताश्वतरोपनिषद्' में कहा गया है कि ब्रह्मज्ञानियों ने ध्यान योग के द्वारा समाहित होकर अपने गुणों से ढकी हुई उन परमात्म देव की आत्मभूता माया शक्ति का साक्षात्कार किया जो पूर्वोक्त काल से लेकर आत्मापर्यन्त समस्त कारणों का भी एकमात्र अधिष्ठान है। इससे स्पष्ट होता है कि माया परमात्मा की आत्मभूता शक्ति है, इसलिए द्वैत की सम्भावना भी समाप्त हो जाती है, क्योंकि शक्ति और शक्तिमान में अभेद है। आत्मा के यथार्थ स्वरूप का बोध प्राप्त करने के लिए **'श्रोत्तयोमन्तन्यो निदियानिव्य** आदि वाक्यों से जो श्रवणादि का विधान किया गया है। वह तभी संगत हो सकता है, जब आत्मस्वरूप को आवृत्ति करने वाला अज्ञान विद्यमान हो, एक श्रुतार्थपत्ति हो, जो अज्ञान के अस्तित्व को प्रमाणित करती है। वेदान्त शास्त्र में अज्ञान के समष्टि के लिए 'माया' और अज्ञान व्यष्टि के लिए 'अविद्या' शब्द का व्यवहार किया गया है। माया में विशुद्ध सत्वगुण की प्रधानता होती है।

शंकराचार्य जगत के नानात्व का कारण ईश्वर की शक्तिभूता माया को मानते हैं। प्रश्न यह उपस्थित होता है कि माया और अविद्या की अवधारणाएँ परस्पर पृथक हैं या नहीं? गौड़पाद ने 'माया' शब्द का प्रयोग अविद्या के अर्थ में किया है।

गौडपाद के अनुसार, दृश्यमान जगत, गन्धर्व नगर के समान मिथ्या है। केवल माया के ही कारण भेद, प्रभेद दृष्टिगोचर होते हैं अन्यथा तो अद्वैत ब्रह्म ही सत्य है ।

माया' के द्वारा ही सत् प्रतीत होने वाले जगत की व्याख्या हो सकती है। शंकराचार्य ने भी 'माया' का प्रयोग बहुधा मिथ्यात्व के प्रतिपादक इन्द्रजाल के अर्थ में किया है। शंकराचार्य ने परमेश्वर को मायावी तथा जगत को माया कहा है।

7

विद्यारण्य **विवरण प्रमेयसंग्रह** में 'माया' और अविद्या के भेद पर विचार करते हैं। पूर्वपक्षी की ओर से आक्षेप होता है- प्रतिभासिक जगत को मायामय कहना उचित नहीं है, क्योंकि माया तो अपने आश्रय ऐन्द्रजालिक आदि भ्रम नहीं करती और उसकी इच्छा के अनुसार रहती है। शक्ति रजत में ऐसा नहीं देखा गया है कि भ्रम किसी पुरुष की इच्छा का अनुवर्तन करें। माया तथा विद्या में लक्षण तथा प्रसिद्धि में भेद है। इसके उत्तर में विद्यारण्य कहते हैं-

'अनिर्वचनीयत्वे सतितत्वावभासक प्रतिबन्धविपर्ययावभास योहर्तेत्वं लक्षणं तच्चोभयोरविशिष्टम् ।[8]

अर्थात् अनिर्वचनीय होकर तत्वाभास के प्रतिबन्ध का कारण और विपर्य (मिथ्या अवभास का कारण) यह लक्षण अविद्या और माया दोनों में एकरूप है।

विद्यारण्य मानते हैं कि ऐसा कोई नियम नहीं है कि माया अपने आश्रय को व्यामोहित नहीं करती, क्योंकि विष्णु अपनी माया से ही रामावतार में मोहित हुए थे। ऐसा भी नियम नहीं है कि अविद्या अपने आश्रय को व्यामोहित करती है, क्योंकि सरोवर तीरस्थ व्यक्ति को जल में ऊर्ध्वमुख वृक्ष देखकर जरा भी व्यामोह नहीं होता है। जगत में भी सम्यक् ज्ञान से निवृत्त होने वाली अविद्या के लिए माया शब्द का प्रयोग देखा गया है, जैसे-

'भूयाश्चान्ते विश्वमायानिवृत्तिः ।

इसलिए विद्यारण्य ने 'तत्वस्य सुखबोधाय' रचना करने पर पंचदशी में 'माया' और 'अविद्या' में भेद माना है।

'मायाबिम्बो वशीकृत्य तां स्यात् सर्वज्ञ ईश्वरः
अविद्यातपरास्ववन्यस्तदैचितयादनेकधा।[9]

अर्थात् माया में प्रतिबिम्बित ब्रह्म माया को अपने वश में रखता हुआ सर्वज्ञ ईश्वर होता है और दूसरा अविद्या में प्रतिबिम्बित होकर और उसके वश में रहकर जीव कहलाता है। इस विवेचन में माया और अविद्या में नाम भेद ही नहीं वरन् गुणकृत भेद भी दिखाया गया है और उसके कारण ही ईश्वर की स्वतन्त्रता तथा जीव की परतन्त्रता मानी गई है।

यह माया यौक्तिक और लौकिक पुरुषों को क्रमशः तुच्छ, अनिर्वचनीय और सत् तीन प्रकार से दिखाई देती है। संसारी व्यक्ति को मायिक जगत सत् प्रतीत होता है। तर्क से परीक्षा करने पर माया अनिर्वचनीय ज्ञात होती है। श्रुति की दृष्टि से माया तुच्छ दिखाई देती है।

शंकराचार्य भी माया और अविद्या को मूल में एक मानते हुए भी उनका भेद स्वीकार करते हैं।

शंकराचार्य के अनुसार, अविद्या और माया पर्यायवाची नहीं हैं "पारमार्थिक दृष्टिकोण से शंकराचार्य ने जगत् को अविद्यात्मक कहा है, किन्तु व्यावहारिक दृष्टिकोण से यह जगत् सर्वशक्तिमान् ईश्वर की रहस्यमयी माया शक्ति की सृष्टि है।

शंकराचार्य ने मायावाद के आधार पर जगत के रहस्य को सुलझाया है। माया ब्रह्म की शक्ति है, अतः भावात्मक है। अविद्या केवल विद्या का अभाव है।

---

[8] विवरण प्रमेय संग्रह 1.1, पृ० 133

[9] पंचदशी 1.17, पृ० 11

1.2.5 माया के स्वरूप

माया की अवधारणा में (1) तुच्छ अर्थात् अलीकता या नितान्त असत्, (2) अनिर्वचनीयता या सद्-असद से विलक्षणत्त्व और (3) वास्तविकता ये तीन प्रत्यय संपुटित हैं। पारमार्थिक दृष्टि से जगत् असत् है क्योंकि परमार्थतः एक मात्र ब्रह्म ही सत् है। व्यावहारिक दृष्टि से जगत् सत् है और जगत् का अस्तित्त्व भ्रम या स्वप्न के समान नहीं है। संक्षेपतः अद्वैत वेदान्त में तीन प्रकार के सत् की विवेचना है - (1) प्रातिभासिक सत्, (2) व्यावहारिक सत्, और (3) पारमार्थिक सत् । प्रातिभासिक सत् वह है जो भासित होता है किन्तु जो परवर्ती अनुभव से गलत सिद्ध हो जाता है। स्वप्न लोक तथा भ्रम के विषय प्रातिभासिक सत् हैं क्योंकि वे भासित होते हैं और फिर अन्य अनुभवों से गलत सिद्ध हो जाते हैं। जगत् की वस्तुओं जैसे घट, पट आदि का अस्तित्व व्यावहारिक है। वे केवल प्रतीयमान नहीं हैं, उनमें एक नियम और सातत्य है। कम से कम उनमें कार्यकारण सम्बन्ध है। परन्तु, उनका अस्तित्त्व अविनाशी और नित्य नहीं है। वे सब उत्पन्न होती हैं, और नष्ट होती हैं। उनके मूल में एक सत्ता है जो उत्पत्ति और विनाश से रहित है। यही सत्ता ब्रह्म है। ब्रह्म का अस्तित्त्व नित्य और एकरस है। उसके सन्दर्भ में जगत् की वस्तुओं का अस्तित्त्व अनित्य और असत् है । इस कारण यदि ब्रह्म सत् है तो जगत् मिथ्या है। इस दृष्टि से परमार्थतः केवल ब्रह्म को ही सत् माना जाता है और ब्रह्म से भिन्न जो कुछ है वह सब मिथ्या माना जाता है। यहाँ मिथ्या का अर्थ करते हुए अद्वैत वेदान्तियों ने पाँच अर्थों को स्पष्ट किया है :-

1. मिथ्या का अर्थ सद् से भिन्नत्त्व है।
2. मिथ्या का अर्थ ज्ञान से निवर्त्यत्त्व है।
3. मिथ्या का अर्थ सद्-असद् से विलक्षणत्त्व है।
4. मिथ्या का अर्थ कुछ उपाधियों के रहते त्रैकालिक निषेध का प्रतियोगित्त्व है।
5. मिथ्या का अर्थ स्वाश्रयनिष्ठ अत्यन्ताभाव का प्रतियोगित्त्व है।

इस प्रकार मिथ्यात्त्व के पाँच लक्षण किये गये हैं और मिथ्यात्व एक पारिभाषिक शब्द हो गया है। वह असत् या असत्य का पर्यायवाची नहीं है। वास्तव में मिथ्यात्व माया का पर्यायवाची है। जगत् मिथ्या है, इस कथन का अर्थ यह नहीं है कि जगत् भ्रम है या जगत् असत् है। इसका अर्थ केवल निम्नलिखित है

1. ब्रह्म की अपेक्षा जगत् असत्
2. ब्रह्म-ज्ञान होन पर जगत् का ज्ञान निवृत्त हो जाता है
3. तर्कतः हम जगत् को न तो सत् कह सकते हैं, और न तो असत। वह इनसे विलक्षण है।
4. जगत् की सत्ता त्रैकालिक निषेध का प्रतियोगी है।
5. जगत् की सत्ता स्वाश्रयनिष्ठ अत्यन्ताभाव का प्रतियोगी है।

वास्तव में जो दृश्य है वह मिथ्या है, जैसे रस्सी में सर्प का अनुभव मिथ्या है और जगत् वैसे ही है। यह तर्क अद्वैत वेदान्तियों ने जगत् के मिध्यात्त्व को सिद्ध करने के लिए दिया है। इस पर वेदान्त के आलोचकों का कहना है कि अद्वैत वेदान्त में जगत् का अस्तित्त्व भ्रमवत् है, परन्तु उनका यह कथन समीचीन नहीं है। कारण (1) जगत् का अस्तित्त्व व्यावहारिक है और रस्सी में सर्प का अनुभव प्रातिभासिक है। व्यावहारिक और प्रातिभासिक सत्ता में भेद करने वाले अद्वैत

वेदान्ती जगत् और सर्प के अस्तित्त्व को एक जैसा नहीं कहते हैं। (2) दृश्यत्त्व जगत् और रस्सी के सर्प दोनों का विधेय है। दृश्यत्त्व वास्तव में अनुभव का विषय है। परन्तु वह सदा वर्तमान नहीं रहता है और रहता है, अर्थात दृश्यत्त्व आगन्तुक है।

किसी वस्तु की उत्पत्ति तत्वतः नहीं होती। फिर भी हमें वस्तु की उत्पत्ति दीख पड़ती है। इसलिए यह उत्पत्ति एक ऐसा तथ्य है जो सत् और असत् से विलक्षण है। यह प्रतीयमान है किन्तु सत्य नहीं है। इस कारण इसकी व्याख्या के लिए गौड़पाद ने अजातवाद या मायावाद को प्रस्तावित किया। सत् से माया द्वारा इस जगत् की उत्पत्तिं होती है। आगे चलकर शंकराचार्य ने केवल उत्पत्ति को ही नहीं किन्तु समस्त विषयों को माया मात्र कहा है, क्योंकि ये विषय अनुभव में आते हैं परन्तु सत्य नहीं हैं। इस प्रकार मायावाद जगत् की व्याख्या है, विषयानुभव की व्याख्या है।

1.2.6 नामरूपात्मिका माया

नाम और रूप माया है और वे जिसके नाम और रूप हैं, वह सत् है। वह है (अस्ति) प्रकाशित होता है (भाति) और आनन्द है, (प्रियम्) यह ब्रह्म का लक्षण है। इसी को सत्यं ज्ञानम् अनन्तम् ब्रह्म कहा जाता है। इसी का वर्णन अनेक नामों और रूपों में होता है। नाम और रूप परिच्छेद है और ब्रह्म अपरिच्छिन्न है। देश काल और वस्तु से अपरिच्छिन्न होने के कारण उसे अनन्तम् कहा जाता है।

वास्तव में व्यवहार के सभी विषयों को कोई नाम होता है और कोई रूप होता है। इन नामरूपों में जगत का आभास होता है। इन्हीं नामरूपों का विश्लेषण देश-काल निमित्त आदि के द्वारा और स्पष्ट किया जाता है। स्पष्टीकरण की इन सभी विधाओं को मायावाद मानता है और इन सब के अन्त में वह कारण कार्य भाव को रखता है। फिर कार्य को वह कारण का संस्थान मात्र मानता है। इसलिए वह कारण को सत् और कार्य को उसका मात्र विवर्त मानता है। कारण कार्य की मीमांसा करने पर परम कारण अन्ततोगत्त्वा ब्रह्म सिद्ध होता है जो अज, अजर और अमर है और सभी कार्य उसके संस्थान मात्र होने के कारण केवल विवर्त सिद्ध होते हैं। इस प्रकार मायावाद ब्रह्म विवर्तवाद है।

मात्यस्यां शक्त्यात्मना प्रलये सर्व जगत्सृष्टो व्यक्तिमायातीति माया-अर्थात् प्रलय दशा में जिसमें समस्त जगत् शक्ति रूप में नापा जाता है और सृष्टि दशा में जो अभिव्यक्ति होती है वह माया है। इस प्रकार माया का अर्थ जगत् की मूल प्रकृति है ।

1.4 प्रकृति

भारतीय दर्शन के सिद्धान्तों में सांख्य दर्शन का इतिहास अत्यन्त प्राचीन है । इसकी प्राचीनता इसी से सिद्ध है कि मनुस्मृति, महाभारत, रामायण आदि प्रन्थों में इसका वर्णन मिलता है। महर्षि कपिल सांख्य दर्शन के प्रवर्तक अर्थात् गुरु माने जाते हैं।

1.3.1 'सांख्य' का अर्थ

'सांख्य' शब्द ज्ञानवाची है जिसका प्रयोग ख्यानम् (सम्यक्-विचार) के अर्थ में होता है। सांख्य के इस 'सम्यक् ज्ञान' अर्थ को लेकर ही गीता में 'सांख्य' शब्द का प्रयोग किया गया है।

इस व्युत्पत्ति के आधार पर जीव का त्रिगुणात्मिका प्रकृति से भेद, दिखलाकर उसके वास्तविक स्वरूप का ज्ञान दिखलाने के कारण इस शास्त्र को सांख्य कहा गया है। जीव एवं प्रकृति के इस प्रथक्करण को 'विवेक ख्याति' अथवा 'सत्यपुरुषान्यता- ख्याति' भी कहा गया है।

सांख्य शास्त्र में कार्य की कारणात्मक माना गया है जिसके कारण 'कारण' का जो लक्षण हो वही कार्य का भी वही लक्षण होना अनिवार्य है, जिस प्रकार 'यव' (जौ) से, 'यव' की, धान से धान की ही उत्पत्ति हो सकती है। ऐसी स्थिति में यदि कारण 'सत्' है तो उसका कार्य भी कारण व्यापार के पूर्व सत् होना चाहिए।

सत्कार्यवाद में उत्पत्ति एवं विनाश का अर्थ-इन पाँच हेतुओं के आधार पर सांख्य दर्शन में 'सत्कार्यवाद' का प्रतिपादन किया है जिससे 'कार्य' का स्वोत्पत्ति से पूर्वं कारण में विद्यमान होना सिद्ध होता है। लेकिन इसका यह तात्पर्य नहीं कि 'कार्य' अपने 'कार्यरूप' में ही कारण में विद्यमान रहता है। सांख्यमत से कार्य-कारण में अव्यक्त रूप से रहता है। जैसा कि ऊपर कहा गया है, अव्यक्त की अभिव्यक्ति ही कार्य की उत्पत्ति है तथा व्यक्त का पुनः अव्यक्त होना ही 'नाश' है। सांख्य, में न किसी की 'उत्पत्ति' और न किसी का नाश होता है। वस्तुतः 'उत्पत्ति' और 'नाश' दोनों ही एक धर्म को छोड़कर दूसरे धर्म को ग्रहण करते हैं।

1.3.2 परिणामवाद

कारण से कार्य की इस प्रकार उत्पत्ति की जिसमें कार्य व्यक्त होकर दूसरा रूप अथवा धर्म ग्रहण कर लेता है परिणामवाद कहा जाता है। परिणामवाद की यह विशेषता है कि इसमें 'कार्य' अपने 'कारण' के समान ही सत होता है।

परिणामवाद के आधार पर सांख्य दार्शनिक जगत के मूल कारण प्रकृति पर पहुँचते हैं। सांख्य दर्शन द्वैतवादी (Dualist) है। वह प्रकृति और पुरुष नाम दो ओं (Realities) को स्वीकार करता है। प्रकृति अचेतन (Unconscious) न्तु क्रियाशील है। अपनी क्रियाशीलता (Activeness) के बल पर वह विश्व की चना करती है और विश्व आदि कारण हैं। प्रकृति वह अचेतन तत्व है जिसमें तीनों गुण--सत्व, रजत और तमस साम्यावस्था (State of equilibrium) को प्राप्त होते हैं। (गुणानां साम्यावस्था प्रकृति) जिस प्रकार बौद्धों के अनुसार विश्व (भवचक) का कारण अविद्या है, वैशेषिकों के अनुसार विश्व कारण परमाणु है; वैसे ही सांख्य के अनुसार जगत् का आदि कारण "प्रकृति" है।

"प्रकृति इति उच्यते विकारोत्पादकत्वात, अविद्या ज्ञान विरोधित्वात, माया विचित्र सृष्टि करत्वात।"

1.3.3 प्रकृति का अर्थ (The Meaning of Prakriti)

"प्रकृति" शब्द प्र + कृति से बना है। "प्र" का अर्थ है पूर्व (Before), "कृति" का अर्थ है सृष्टि के पूर्व (Before creation)। सृष्टि के पहले जो सत्ता विद्यमान हो उसे "प्रकृति" कहते हैं।

1.3.4 प्रकृति के अनेक नाम (Several Names of Prakriti)

सांख्य दर्शन आदि और मूलकारण को "प्रकृति" कहता है। "श्वेताश्वर उपनिषद" में "प्रकृति" को उत्पत्ति रहित अर्थात् अजा (Beyond Production), "एक" (One) "त्रिगुणात्मिका"

(Having three attributes), "सरूपा" (Figured) और समस्त वस्तुओं को पैदा करने वाली (बबी प्रजा) कहा गया है। वह "प्रधान" (Principal), "अव्यक्त" (Implicit) और 'शाश्वत' (Eternal) कही गई है। लोकाचार्य के अनुसार वह समस्त विकारों को पैदा करने के कारण "प्रकृति" कही जाती है। वह ज्ञान का विरोध (Contradict) करती है अतः उसे "अविधा' (Ignorance) कहते हैं, और विचित्र सुष्टि की रचना करती है इसलिए "माया' **(मोयते अनया इति माया)** कहलाती है। "प्रकृति इत्युच्यते विकारोपादकत्वात अविद्या थान विरोधित्वात, माया विचित्र सृष्टि करत्वात" वह अत्यन्त सूक्ष्म और अगोचर है। इसकी रचनाओं (Creations) के आधार पर ही इसका अनुमान लगाया जा ता है, अतः इसका नाम "अनुमा" भी है। अचेतन तत्व के कारण उसे जड़ कहते है। प्रतिशील और क्रियाशील होने के कारण वह शक्ति (Energy) कहलाती है।

वह स्वयं अजन्मा है, अतः उसका कोई कारण नहीं है, अन्यथा अनवस्था दोष आयेगा। सृष्टि का आदि कारण होने से इसे मूलप्रकृति कहा जाता है। यह समस्त विश्व का कारणभूत प्रथम मौलिक तत्त्व है अत: इसे प्रधान भी कहा जाता है। इसमें समस्त कार्यजात अव्यक्त रूप से विद्यमान रहते हैं, अत: यह अव्यक्त कहलाती है। अतीन्द्रिय होने से प्रकृति का प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं होता, उसके कार्यों से ही उसका कारणरूप में अनुमान किया जाता है। अतः प्रकृति की संज्ञा अनुमान भी है। यह जड़ और अचेतन है। यह विवेकशून्य है। स्वतन्त्र है। नित्य है। एक है। व्यापक है। सामान्य या अनेकपुरुषभोग्य है। विषय है अर्थात् पुरूष द्वारा ज्ञेय हैं। त्रिगुणात्मक है अर्थात् तत्त्व, रजस् और तमस् नामक तीन गुणों से बनी है और इसीलिये सुखदुःखमोहात्मक है, किन्तु अचेतन होने से सुखदुःखमोह का अनुभव नहीं कर सकती। प्रसवधर्मिणी है। प्रसव के दो अर्थ हैं, उत्पत्ति और परिणाम। प्रकृति समस्त जड़ जगत् की जननी है, समस्त जगत् उसी से प्रसूत है। इसलिये प्रसवधर्मिणी है, बहुविध पदार्थों की सर्जिका है। प्रकृति निरन्तर परिणामशालिनी है। उसमें विरूप या सरूप परिणाम होता रहता है; इस अर्थ में भी वह प्रसवधर्मिणी है।' सर्ग के समय जड़ जगत् प्रकृति के गर्भ से कार्यरूप में अभिव्यक्त होता है, तथा प्रलय के समय पुनः प्रकृति के गर्भ में विलीन हो जाता है। सांख्य के अनुसार चेतन, ब्रह्म, आत्मा या पुरुष जड़ जगत् का कारण नहीं हो सकता, अन्यथा जगत् जड़ न होकर चेतन हो जायेगा। अचेतन परमाणु भी जगत्कारण नहीं हो सकते क्योंकि उनसे बुद्धि, अहंकार और मन आदि सूक्ष्म तत्त्वों की, जो चैतन्य को प्रतिबिम्बित करते हैं, उत्पत्ति नहीं हो सकती, तथा वे अनेक हैं और जगत् में अनुस्यूत एकता केवल एक ही कारण की ओर इङ्गित करती है। अतः प्रकृति ही इस जगत् का एकमात्र कारण सिद्ध होती है।

1.3.5 प्रकृति की स्वतन्त्र सत्ता

सांख्य ने प्रकृति की स्वतन्त्र सत्ता सिद्ध करने के लिये निम्नलिखित पाँच युक्तियाँ दी हैं-

> **भेदानां परिमाणात् समन्वयात् शक्तितः प्रवृत्तेश्च**
> **कारणकार्यविभागादविभागाद् वैश्वरूप्यस्य**[10]

1) **भेदानां परिमाणात्-** महत्, अहंकार, पंचमहाभूत आदि कार्य परिमित या सीमित हैं। वाचस्पति के शब्दों में वे अव्यापी हैं। प्रत्येक कार्य अपने कारण की तुलना में परिमित या सीमित होता है और ऐसे कारण की ओर संकेत करता है। जिसमें वह अव्यक्त रूप में

---

[10] सांख्यकारिका, १५

वर्तमान है। इसीलिए बुद्धि (महत्), अहंकार आदि परिमित या सीमित कार्य अपने से अधिक व्यापक अव्यक्त कारण की ओर संकेत करते हैं। यह कारण अव्यक्त या प्रकृति है। चूंकि परिमित या सीमित पदार्थ सबके सब कार्य होते हैं इसलिए अहंकार, महत् आदि को विश्व का चरम कारण नहीं माना जा सकता । चरम कारण प्रकृति ही है।

2) **समन्वयात् --**संसार के सब पदार्थ त्रिगुणमय हैं, उनमें यह एकता या समानता सर्वत्र पायी जाती है। सत्त्व, रजस् या तमस्, इन तीन गुणों के समान रूप से समन्वित होने के कारण सब पदार्थ प्रीति, अप्रीति एवं विवाद उत्पन्न करने में समर्थ हैं । अतः उनकी इस समानता का मूल किसी एक मूल कारण में होना चाहिए। वह कारण प्रकृति है ।

3) **शक्तितः प्रवृत्तेश्च-** शक्तियुक्त कारण से ही कार्य की उत्पत्ति होती है । प्रत्येक कार्य का उद्गम एक कारण से होता है जिसमें उसे उत्पन्न करने की शक्ति निहित होती है। यहाँ शक्ति का अर्थ यही है कि कार्य कारण में अनभिव्यक्त रूप में वर्तमान होता है। विश्व के त्रिगुणात्मक पदार्थों का एक चरम कारण होना चाहिए; वह कारण प्रकृति है ।

4) **कारण कार्य विभागाद्-** -कारण और कार्य का विभाग होने से पहले कहा जा चुका है कि उत्पत्ति से पहले कार्य का सत् होता है और अपने कारण में अनभिव्यक्त रूप में वर्तमान रहता है। इस प्रकार विद्यमान कार्य ही कारण से आविर्भूत होकर विभक्त रूप में (कारण से भिन्न रूप में) प्रतीत होते हैं। यहाँ वाचस्पति मिश्र ने कछुए का उदाहरण दिया है। उसके भीतर समेटे हुए हैं) बाद में अलग अलग निकले हुए विभिन्न कार्य कारण से विभक्त होकर अलग प्रतीत होते हैं। कार्यों में अव्यक्त कारण की कल्पना होती है ।

5) **अविभागाद् वैश्वरूप्यस्य** --विश्व के कार्य पदार्थ संहार-काल में अविभक्त हो जाते हैं अर्थात् अपने कारण में लय होकर अव्यक्त बन जाते हैं। अव्यक्तावस्था में कार्य और कारण में अविभाग या अभेद है। जिसमें विश्व के समस्त पदार्थ प्रलय में पुनः लीन होकर कारण से अविभक्त (अभित्र) बन जाते हैं, वह मूल कारण प्रकृति है। अपि च, इस जगत् के समस्त पदार्थों में स्वरूपगत एकता है, वैश्वरूप्य है, सामञ्जस्य है, और यह एकता मूलकारण प्रकृति से आती है। इससे सिद्ध होता है कि उनका अव्यक्त कारण है । यह कारण प्रकृति है ।

चौथी युक्ति में यह कहा गया है. कि उत्पत्ति के समय कार्य का कारण से आविर्भाव होता है अर्थात् पहले से कारण में मौजूद कार्य अभिव्यक्ति पाता है। पाँचवीं युक्ति में कहा गया है कि अपने विनाश के समय कार्य का कारण में तिरोभाव हो जाता है। इन दोनों युक्तियों का आधार सत्कार्यवाद का सिद्धान्त है।

1.3.6 प्रकृति और गुण

प्रकृति त्रिगुणात्मक है।

त्रिगुणामनिनेकि निषयः सामान्यमचेतनं प्रसवधर्मि[11]

प्रकृति को तीनों गुणों की साम्यावस्था बताया है। ये तीन गुण हैं—सत्त्व, रज और तमस्। ये गुण सूक्ष्म और अतीन्द्रिय हैं, इसलिये प्रकृति के समान इनका भी प्रत्यक्ष नहीं होता तथा इनके

---

[11] सांख्यकारिका, 11

कार्यों से इनका अनुमान किया जाता है।' ये गुण क्या हैं? प्रकृति और तीनों गुणों में क्या सम्बन्ध है? क्या इनमें द्रव्यं-गुण-सम्बन्ध (Substance- attribute-relation) है? सामान्यतः 'गुण' शब्द का जो अर्थ किया जाता है उस अर्थ में सत्त्व, रजस् और तमस् गुण नहीं है। वस्तुतः ये प्रकृति के गुण नहीं हैं, अपितु उसके संघटक तत्त्व (Constituent element) हैं। उल्लेखनीय है कि सांख्य दर्शन प्रकृति और उसके गुणों में द्रव्य-गुण-भेद नहीं स्वीकार करता है। यहाँ सांख्य दर्शन की मान्यता न्याय-वैशेषिक दर्शन की उस विचारधारा के विपरीत है जिसमें पदार्थ में द्रव्य-गुण-भेद स्वीकार किया जाता है। तात्पर्य यह है कि सत्त्व, रज और तमस् द्रव्य-रूप हैं। ये इसलिए भी द्रव्य हैं, क्योंकि सांख्य दर्शन में इनके भी गुणों का विवेचन प्राप्त होता है। सांख्यप्रवचनभाष्य के अनुसार सत्त्व, रजस् और तमस् इस अर्थ में गुण हैं कि ये रस्सी के तीनों गुणों (रशों) के समान पुरुष को बाँधने का काम करते हैं। चूँकि ये पुरुष के उद्देश्य-साधन में गौण रूप से सहायक हैं, इसलिए भी उन्हें 'गुण' कहा जाता है। एक अन्य व्याख्या के अनुसार पुरुष की अपेक्षा गौण होने के कारण भी इन्हें गुण कहते हैं।

प्रकृति के इन गुणों की सत्ता के लिए क्या आधार है? सांख्य दर्शन के अनुसार गुणों की सत्ता प्रत्यक्ष प्रमाण से नहीं सिद्ध होती है। इनका ज्ञान अनुमान से होता है। इनके कार्यों से इनकी सत्ता का अनुमान किया जाता है। संसार के सभी सूक्ष्मातिसूक्ष्म और स्थूल विषय सुख, दुःख अथवा मोह उत्पन्न करते हैं। सांख्यकारिका के टीकाकार इस प्रसंग में अनेक उदाहरण देते हैं। उनका कथन है कि एक ही वस्तु से किसी व्यक्ति को सुख मिलता है तो किसी अन्य व्यक्ति को दुःख प्राप्त होता है, जबकि अन्य असम्बद्ध व्यक्तियों को उससे न सुख प्राप्त होता है और न दुःख। जैसे, ग्रीष्म ऋतु की भीषण गर्मी के उपरान्त नवागन्तुक मेघ कृषकों को सुख देता है, विरह-पीड़ित कामी जनों को पीड़ित करता है और जलचर जीव उससे न तो सुखी होते हैं और न दुःखी। इसी प्रकार संगीत से रसिक व्यक्ति को सुख, बुखार से पीड़ित व्यक्ति को कष्ट प्राप्त होता है तथा संगीत के प्रति तटस्थ व्यक्ति को उससे न तो सुख प्राप्त होता है और न दुःख। चूँकि कार्य के गुण कारण में अव्यक्त रूप से विद्यमान रहते हैं, अतः वस्तुओं के मूल कारण में भी सुख, दुःख और मोह के तत्त्व विद्यमान होने चाहिए। आगे इस तथ्य का विवेचन किया जायेगा कि प्रकृति के संघटक तत्त्व सत्त्व, रज और तमस् क्रमशः सुख, दुःख और मोह (उदासीनता) उत्पन्न करते हैं। इस प्रकार सुख, दुःख और उदासीनता को उत्पन्न करने वाले तत्त्व के रूप में सत्त्व, रजस् और तमस् की सत्ता का अनुमान किया जाता है।

1.3.7 गुणों का स्वरूप और रंग

ईश्वरकृष्ण सांख्यकारिका में तीनों गुणों का स्वरूप और रंग भी बताते हैं। सांख्यकारिका के अनुसार सत्त्व गुण लघु, प्रकाशक और आनन्ददायक होता है, रजोगुण दुःखदायी और गतिशील होता है तथा तमोगुण भारी (गुरु) और अवरोधक होता है। जिस प्रकार दीपक में तेल, बत्ती और ज्वाला परस्पर विरोधी होते हुए भी सहयोग करके प्रकाश उत्पन्न करते हैं उसी प्रकार ये तीनों गुण परस्पर विरोधी होते हुए भी पारस्परिक सहयोग से सांसारिक विषयों को उत्पन्न करते हैं-

सत्त्वं लघु प्रकाशकमिष्टमुपष्टम्भकं चलं च रजः
गुरु वरणकमेव तमः प्रदीपवच्चार्थतो वृत्तिः ॥ [12]

[12] सांख्यकारिका, 13

सांख्य दर्शन के अनुसार सत्त्व गुण लघु, प्रकाशक और आनन्ददायक होता है। सत्त्व गुण प्रकाश का प्रतीक है। यह स्वतः प्रकाशित है और अन्य विषयों को भी प्रकाशित करता है। इन्द्रियों में अपने-अपने विषयों को ग्रहण करने की शक्ति सत्त्व गुण से आती है। सत्त्वगुण कारण ही सूर्य द्वारा संसार को प्रकाशित करने और दर्पण में प्रतिबिम्ब ग्रहण करने की शक्ति आती है। सत्त्व गुण लघुता (हल्कापन) का प्रतीक है। अतः हल्केपन के कारण ऊर्ध्वगमन सत्त्वगुण का ही कार्य है। जैसे, मन की उन्नति, अग्निज्वाला का ऊपर उठना, आदि सत्त्वगुण के कारण ही सम्भव है। यह आनन्ददायक है, सुख का कारण है। सभी प्रकार की सुखात्मक अनुभूतियाँ-हर्ष, उल्लास, प्रीति, श्रद्धा, सरलता, आदि-सत्त्व गुण के कारण सम्भव होती हैं।

रजोगुण दुःखदायक और गतिशील है। यह स्वयं गतिशील है और अन्य वस्तुओं को भी गतिशील बनाता है। इस प्रकार यह क्रिया का प्रवर्तक है। हवा का बहना, मन का चंचल होना, इन्द्रियों में अपने विषयों की ओर प्रवृत्ति रजस् के ही कारण है। उल्लेखनीय है कि सत्त्व और तमस् गुण स्वतः निष्क्रिय हैं। रजस् ही उन्हें सक्रिय करता है। यह दुःखालक हैं, दुःख का कारण है। सभी प्रकार की दुःखात्मक अनुभूतियाँ-क्रोध, द्वेष, विषाद, असन्तोष, अतृप्ति, मान, मद, मत्सर आदि-रजस् के कारण उत्पन्न होती हैं।

तमस् गुरु एवं अवरोधक है। यह अज्ञान एवं अन्धकार का प्रतीक है। यह सत्त्व गुण के विपरीत है। यह रजोगुण की क्रिया का अवरोधक है। यह जड़ता एवं निष्क्रियता का प्रतीक है। यह भारीपन के कारण अधोगामी है। इससे मोह एवं उदासीनता उत्पन्न होती है। सभी प्रकार की उदासीनता की वृत्तियाँ-प्रमाद, आलस्य, निद्रा, तन्द्रा, आदि-तमस् के कारण उत्पन्न होती हैं।

ईश्वरकृष्ण तीनों गुणों के रंग का भी उल्लेख करते हैं। उनके अनुसार सत्त्व गुण का रंग सफेद, रजस् का रंग लाल और तम का रंग काला है। सत्त्व, रजस् और तमस् के उपरोक्त स्वरूप-विवेचन से उनमें परस्पर विरोध दिखाई देता है। सांख्य दर्शन की यह मान्यता है कि यद्यपि उनका स्वभाव परस्पर विरोधी है, तथापि उनमें पारस्परिक सहयोग भी है, क्योंकि सहयोग के अभाव में सांसारिक वस्तुओं की उत्पत्ति असम्भव है। सांख्य दर्शन एक उपमा की सहायता से इसकी व्याख्या करता है। उसके अनुसार सत्त्व, रजस् एवं तमस् में उसी प्रकार सहयोग होता है जिस प्रकार दीपक की बाती, तेल और अग्नि में होता है। जैसे तेल, बाती और अग्नि पारस्परिक सहयोग से प्रकाश उत्पन्न करते हैं वैसे सत्त्व, रजस् एवं तमस् विरुद्धधर्मी होकर भी सांसारिक वस्तुओं को उत्पन्न करते हैं।

उल्लेखनीय है कि सत्त्व, रज और तमस् केवल अव्यक्त प्रकृति के ही गुण नहीं हैं। ये प्रकृति से उत्पन्न सभी वस्तुओं (व्यक्त) में भी पाये जाते हैं। सभी वस्तुओं में समान मात्रा में नहीं पाये जाते हैं। और अन्य दोनों गुण गौण होते हैं। प्रत्येक वस्तु के आधार पर होता है। जिस वस्तु में सत्त्व गुण की प्रधानता होती है और रजस् तथा तमस् गौण होते हैं उन्हें सात्त्विक कहा जाता है। इसी प्रकार रजस् और तमस् की प्रधानता होने पर तथा अन्य दोनों गुणों के गौण होने पर वस्तुओं को क्रमशः राजसिक एवं तामसिक कहा जाता है। तात्पर्य यह है कि वस्तुओं को सात्त्विक, राजसिक एवं तानसिक कहने का आधार उनमें क्रमशः सत्त्व, रजस् एवं तमस् की प्रधानता है।

सांख्य दर्शन के अनुसार सत्त्व, रजस् एवं तमस् तीनों गुण सदैव परिवर्तनशील हैं। यहाँ तक कि ये गुण साम्यावस्था की स्थिति में भी निरन्तर परिवर्तनशील हैं। ये एक क्षण के लिए भी अपरिवर्तनशील नहीं रह सकते, क्योंकि यदि उनमें एक क्षण के लिए भी परिवर्तन रुक जाए तो

यह पुनः प्रारम्भ ही नहीं हो सकता। गुणों में दो प्रकार का परिवर्तन या परिणाम दिखाई देता है - सरूप परिणाम और विरूप परिणाम। सरूप परिणाम प्रलयावस्था में होता है। प्रलयावस्था गुणों की साम्यावस्था है। इसमें प्रत्येक गुण अन्य गुणों से पृथक् होकर स्वतः अपने में परिणत हो जाता है। अर्थात् सत्त्व सत्त्व में, रजस् रजस् में और तमस् तमस् में परिणत हो जाता है। सरूप परिणाम में गुणों से कोई कार्य (वस्तु) नहीं उत्पन्न होता है, क्योंकि कोई गुण अकेले परिणमित होकर भी किसी वस्तु को उत्पन्न नहीं कर सकता। विरूप परिणान सृष्टि की अवस्था में होता है। इसमें सांसारिक विषयों का आविर्भाव होता है। विरूप परिणाम तब प्रारम्भ होता है जब पुरुष के संयोग से प्रकृति की साम्यावस्था में क्षोभ (गुण-क्षोभ) उत्पन्न होता है। ये गुण 'गुण-क्षोभ' उत्पन्न होता है। ये गुण 'गुण-क्षोभ' की स्थिति में परस्पर क्रिया-प्रतिक्रिया करते हैं जिससे सृष्टि का विकास प्रारम्भ होता है।

1.3.8 प्रधानकारणवाद

सांख्य दर्शन का विकासवाद सृष्टि के उद्भव और विकास का सिद्धान्त है। इसके विकासवाद की पृष्ठभूमि में इसका सत्कार्यवाद का सिद्धान्त निहित है जिसके अनुसार कार्य उत्पत्ति के पूर्व अपने उपादान कारण में अव्यक्त रूप में विद्यमान रहता है। सृष्टि का उपादान कारण प्रकृति है। सम्पूर्ण सृष्टि उत्पत्ति के पूर्व प्रकृति में विद्यमान थी। उल्लेखनीय है कि सांख्य दर्शन के अनुसार सृष्टि कोई नवीन उत्पत्ति नहीं है और प्रलय सृष्टि का विनाश नहीं है। प्रकृति में अव्यक्त है उसी का व्यक्त होना सृष्टि है। इसी प्रकार प्रलय सांसारिक पदार्थों का तरोभावमात्र है। सृष्टि प्रकृति का विकार या परिणाम है। सांख्य दर्शन का यह सिद्धान्त कृतिपरिणामवाद कहलाता है। उल्लेखनीय है कि प्रकृति सत्त्व, रज और तमस् तीनों गुणों की साम्यावस्था है। गुणों की साम्यावस्था प्रलयकालीन अवस्था है। इसमें तीनों गुण एक दूसरे बिल्कुल पृथक् हो जाते हैं। साम्यावस्था में सत्त्व सत्त्व में, रजस् रजस् में और तमस् तमस् में नवस्थित हो जाता है है। सांख्य दर्शन प्रकृति को नित्य परिणमनशील मानता क्योंकि यदि प्रकृति की गति एक बार भी अवरुद्ध हो जाय तो उसका पुनः प्रारम्भ होना म्भव नहीं है। प्रकृति में सर्ग (creation) की स्थिति में तो परिणाम होता ही है, उसमें प्रलय की स्थिति में भी परिणाम होता है जब तीनों गुण साम्यावस्था में रहते हैं। साम्यावस्था में प्रकृति सरूप परिणाम होता है। इसमें सत्त्व गुण का सत्त्व में, रजस् का रजस् में और तमस् का तमम परिणाम होता है। यह रजस् के कारण सम्भव होता है, क्योंकि वह स्वभाव से ही चंचल(गतिशील) है। विरूप परिणाम का प्रारम्भ गुणों की साम्यावस्था भंग होने पर होता है। विरूप परिणाम प्रारम्भ होने पर महत् आदि सांसारिक पदार्थों की उत्पत्ति प्रारम्भ होती है।

1.3.9 प्रकृति-पुरुष-सम्बन्ध

यहाँ प्रश्न है कि प्रकृति की साम्यावस्था कैसे भंग होती है? प्रकृति में विरूप परिणाम कैसे होता है? सृष्टि क्यों होती है? सांख्य दर्शन के अनुसार प्रकृति और पुरुष के सम्बन्ध से प्रकृति की साम्यावस्था भंग होती है। सांख्य दर्शन प्रकृति और पुरुष के सम्बन्ध को 'संयोग' कहता है। अर्थात् पुरुष के संयोग से प्रकृति की साम्यावस्था भंग होने पर पहले रजोगुण गतिशील होता है, क्योंकि वह स्वभावतः गतिशील और क्रियात्मक है। रजोगुण के गतिशील होने पर सत्त्व और तमस् में भी स्पन्दन उत्पन्न होता है। तमोगुण रजोगुण की गति में अवरोध उत्पन्न करता है, क्योंकि वह स्वभावतः अवरोधक है। इसके परिणामस्वरूप तीनों गुणों में भीषण आन्दोलन उत्पन्न होता है। सांख्य दर्शन इसे 'गुणक्षोम' कहता है। गुणक्षोभ के कारण विरूप परिणाम

प्रारम्भ होता है और सांसारिक पदार्थों का आविर्भाव होता है।

पुरुष और प्रकृति परस्पर विरुद्धधर्मी हैं। चेतनस्वरूप, निष्क्रिय, त्रिगुणातीत अनेक पुरुषों के विपरीत प्रकृति जड़, सक्रिय, त्रिगुणात्मिका और एक है। प्रश्न है कि इन दोनों विरुद्धधर्मी तत्त्वों में कैसे संयोग होता है। प्रकृति और पुरुष का सम्बन्ध सांख्य दर्शन के लिए एक गम्भीर समस्या है। इसका कथन है कि पुरुष को प्रकृति का आवश्यकता है और प्रकृति को पुरुष की। इस प्रकार, यद्यपि दोनों विरुद्धधर्मी हैं, तथापि दोनों की आवश्यकताओं में एकता के कारण दोनों का संयोग होता है। सांख्य दर्शन एक उपमा के द्वारा दोनों के संयोग की व्याख्या करने का प्रयास करता है। जिस प्रकार एक अन्धा और लँगड़ा परस्पर सहयोग करके जंगल पार कर लेते हैं (अपने गन्तव्य स्थल तक पहुँच जाते हैं) उसी प्रकार प्रकृति और पुरुष विरुद्धधर्मी होकर भी अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए परस्पर सहयोग करते हैं। प्रकृति ज्ञेय है। वह ज्ञात होने के लिए पुरुष की अपेक्षा करती है। पुरुष दुःखत्रय से मुक्त होने के लिए, कैवल्य के लिए (कैवल्यार्थ) प्रकृति की अपेक्षा करता है। दोनों की ये अपेक्षाएँ उनके संयोग को सम्भव बनाती हैं-

पुरुषस्य दर्शनार्थं कैवल्यार्थं तथाप्रधानस्य ।
पंग्बन्धबदुभयोरपि संयोगस्तत्कृतः सर्गः[13]

1.3.10 विकास का सिद्धान्त

(२५वाँ तत्त्व पुरुष है जो सृष्टि-व्यापार से अलिप्त है।)
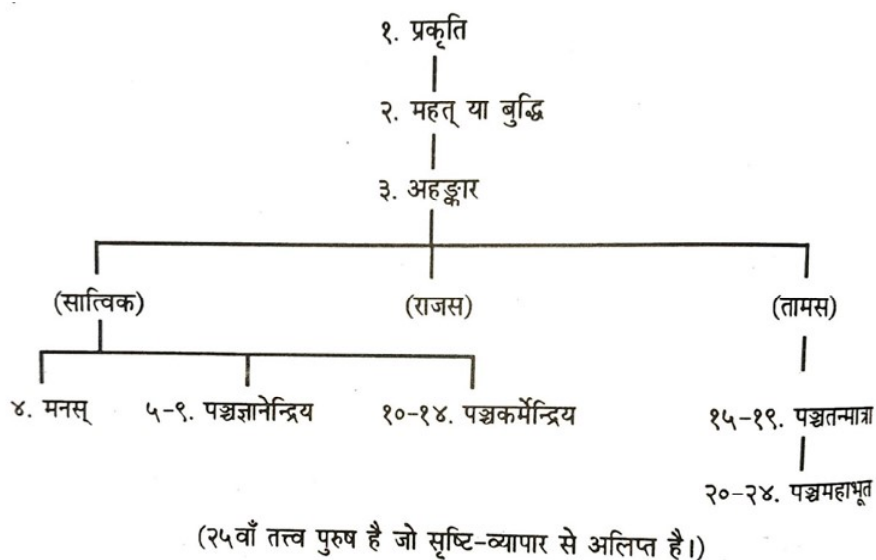
सांख्य दर्शन के अनुसार विकास की प्रक्रिया में प्रकृति से उत्पन्न होने वाला प्रथम तत्त्व 'महत्' या 'बुद्धि' है। चूँकि यह विराट् बाह्य जगत् इसमें बीजरूप में निहित है, अतः इसे 'महत्' कहते हैं। इसे '*बुद्धि*' भी कहते हैं जो सभी जीवों में विद्यमान होती है। यद्यपि प्रकृति का विकार होने के कारण इसमें सत्त्व, रजस् और तमस् तीनों गुण विद्यमान होते हैं, तथापि इसमें सत्त्व गुण की प्रधानता होती है। बुद्धि के दो कार्य हैं—निश्चय और अवधारण। 'यह मेज है'- इस प्रकार के निर्णायक ज्ञान इसी से उत्पन्न होते हैं। बुद्धि का स्वाभाविक धर्म है कि वह अपने को भी प्रकाशित करती है और अपने विषयों को भी। बुद्धि ही ज्ञाता और ज्ञेय पदार्थों में भेद करती है।

[13]सांख्यकारिका, 21

चूँकि बुद्धि जड़ प्रकृति का विकार है, अतः वह भी प्रकृति के समान जड़ है। इस प्रकार बुद्धि चैतन्यस्वरूप पुरुष से भिन्न है। इसमें सत्त्व गुण की प्रधानता के कारण पुरुष का चैतन्य प्रतिबिम्बित होता है। इससे अचेतन बुद्धि चैतन्यवत् प्रतीत होती है और उसमें ज्ञानादिक व्यापार उत्पन्न होते हैं। जिस समय बुद्धि में सत्त्व गुण की प्रधानता होती है उसमें धर्म, ज्ञान, वैराग्य एवं ऐश्वर्य धर्मों की उत्पत्ति होती है। जब उसमें तमोगुण का आधिपत्य होता है तब उसमें अधर्म, अज्ञान, अवैराग्य और अनैश्वर्य धर्मों की उत्पत्ति होती है।

प्रकृति का दूसरा विकार **'अहंकार'** है। यह महत् तत्त्व का परिणाम है। अहंकार का लक्षण अभिमान या अहंभावना है। जीवों की बुद्धि में 'मैं' और 'मेरा' की भावना अहंकार है। जीव अहंभावना के कारण ही भ्रम में पड़कर अपने शाश्वत स्वरूप को भूल जाता है तथा अपने को विषयों का कर्ता, स्वामी और कामी समझने लगता है। अहंकार ही जीव के सभी सांसारिक व्यवहारों का मूल है। अहंकार के द्वारा ही 'मुझे यह करना है'- इस प्रकार के अध्यवसाय बुद्धि में उत्पन्न होते हैं। सांख्यकारिका में अहंकार के तीन भेद प्राप्त होते हैं—वैकारिक (सात्त्विक) तैजस (राजसिक) और भूतादि (तामस)। वैकारिक अहंकार में रजूस एवं तमस् की अपेक्षा सत्त्व की प्रधानता होती है। तैजस अहंकार में सत्त्व एवं तमस् की अपेक्षा रजस् की प्रबलता होती है। इसी प्रकार भूतादि अहंकार में सत्त्व एवं रजस् की अपेक्षा तमस् की प्रधानता होती है। अहंकार से एकादश इन्द्रियों एवं पंच तन्मात्राओं की उत्पत्ति होती है। सांख्यकारिका में अहंकार से इन तत्त्वों की उत्पत्ति का निम्नलिखित क्रम प्राप्त होता है 22 वैकारिक अहंकार से एकादश इन्द्रियों (मन+पंच ज्ञानेन्द्रिय+पंच कर्मेन्द्रिय) की उत्पत्ति होती है। भूतादि अहंकार से पंचतन्मात्राएं उत्पन्न होती हैं । तैजस अहंकार से किसी तत्त्व की उत्पत्ति नहीं होती है। यह कारिक और भूतादि अहंकारों को शक्ति देता है जिससे वे अपने-अपने विकारों को उत्पन्न कर कें। वाचस्पति मिश्र भी अहंकार से उपरोक्त तत्त्वों की उत्पत्ति के इस क्रम को स्वीकार करते । किन्तु विज्ञानभिक्षु अहंकारजन्य तत्त्वों की उत्पत्ति के इस क्रम को अस्वीकार करते हैं। निके अनुसार वैकारिक अहंकार से केवल मन उत्पन्न होता है। पंचज्ञानेन्द्रियाँ एवं चकर्मेन्द्रियाँ (दश इन्द्रियाँ) तैजस अहंकार से उत्पन्न होती हैं। भूतादि अहंकार पंच तन्मात्राओं को उत्पन्न करता है।

एकादश इन्द्रियों में पंच कर्मेन्द्रियाँ, पंचज्ञानेन्द्रियाँ और मन आते हैं। कर्मेन्द्रिय वह है जो को कर्म करने में समर्थ बनाती है। इनकी संख्या भी पाँच है—वाक्, पाणि, पाद, पायु और उपस्थ। इनसे क्रमशः बोलना, ग्रहण करना, विचरण, मल निःसरण और प्रजनन के कार्य म्पादित होते हैं। ज्ञानेन्द्रिय ज्ञान प्राप्त कराने वाली इन्द्रिय है। इनकी भी संख्या पाँच -आँख, कान, नाक, जिह्वा और त्वचा। इनसे क्रमशः रूप, शब्द, गन्ध, रस और स्पर्श षयों का ज्ञान होता है।

उपर्युक्त दश बाह्येन्द्रियों के विपरीत मन एक आन्तरिक इन्द्रिय है। सांख्य दर्शन के अनुसार इसका कार्य है, 'संकल्प करना'। ईश्वरकृष्ण इसे 'उभयात्मक' इन्द्रिय" कहते हैं। ह कर्मेन्द्रिय एवं ज्ञानेन्द्रिय दोनों से सम्बद्ध रहता है। मन के सहयोग के अभाव में ज्ञानेन्द्रियाँ वं कर्मेन्द्रियाँ अपने विषयों को ग्रहण करने में असमर्थ होती हैं। सांख्य दर्शन मन को सूक्ष्म. न्द्रिय मानने के साथ 'सावयव' भी मानता है। वह इस कारण भिन्न-भिन्न इन्द्रियों के साथ गपत् भी सम्बद्ध हो सकता है और क्रमशः भी। सांख्य दर्शन मन अहंकार और बुद्धि को अन्तःकरण' कहता है। पंचज्ञानेन्द्रिय और पंचकर्मेन्द्रिय (दश इन्द्रियाँ) 'बाह्यकरण' हैं। न्तिःकरण और बाह्यकरण मिलकर 'त्रयोदश करण' कहलाते हैं। बाह्यकरण का सम्बन्ध बल वर्तमान कालीन विषयों से होता है। इसके विपरीत, अन्तःकरण का सम्बन्ध भूत, र्तमान एवं भविष्य, तीनों कालों के विषयों से होता है। मन बाह्येन्द्रियों से प्रभावित होता है। न बाह्येन्द्रियों द्वारा उपलब्ध निर्विकल्प

प्रत्यक्ष को सविकल्प बनाता है। अहंकार पुरुष की ध्यसिद्धि में उपयोगी विषयों से राग और प्रतिकूल विषयों से द्वेष रखता है। बुद्धि इन विषयों ग्रहण करने या त्यागने का निश्चय करती है। मन के स्वरूप और अन्य इन्द्रियों के साथ उसके म्बन्ध के विषय में सांख्य दर्शन के अनुसार मन न तो अणुरूप है और न नित्य त्त्व है। वह सावयव है और वह एक साथ कई इन्द्रियों के साथ संयुक्त हो सकता है। गाय-वैशेषिक दर्शन केवल मन और पंच ज्ञानेन्द्रियों को ही इन्द्रिय कहता है और ज्ञानेन्द्रियों को हाभूतों से उत्पन्न मानता है। इसके विपरीत सांख्य दर्शन एकादश इन्द्रियों में विश्वास करता है और उन्हें अहंकार से उत्पन्न दिखाता है।

भूतादि अहंकार से पंचतन्मात्राएं उत्पन्न होती हैं। इन्हें तन्मात्र इसलिए कहते हैं, क्योंकि ये शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध के सूक्ष्म तत्त्व हैं। ये पाँच तन्मात्र हैं-शब्दतन्मात्र, पर्शतन्मात्र, रूपतन्मात्र, रसतन्मात्र और गन्धतन्मात्र। ये तन्मात्र अत्यन्त सूक्ष्म होने के कारण त्यक्ष द्वारा नहीं जाने जा सकते। हमें इनका ज्ञान केवल अनुमान से होता है। सांख्य दर्शन के अनुसार पंचतन्मात्राओं से पंचमहाभूत उत्पन्न होते हैं। पंचतन्मात्राओं से पंचमहाभूतों की उत्पत्ति के विषय में सांख्य दर्शन के भाष्यकारों में दो मत पाये जाते हैं। सांख्यकारिका के भाष्यकार गौडपाद के अनुसार शब्दतन्मात्र से आकाश महाभूत की उत्पत्ति होती है जिसका गुण शब्द है। स्पर्शतन्मात्र से वायु महाभूत उत्पन्न होता है और इसका गुण स्पर्श है। रूपतन्मात्र से तेज महाभूत का आविर्भाव होता है जिसमें रूप गुण पाया जाता है। रसतन्मात्र से जल महाभूत और गन्धतन्मात्र से पृथ्वी महाभूत उत्पन्न होते हैं जिनमें क्रमशः रस और गन्ध गुण उत्पन्न होते हैं। किन्तु वाचस्पति मिश्र गौड़पाद के दृष्टिकोण को अस्वीकार करते हैं। उनके अनुसार शब्दतन्मात्र से आकाश महाभूत उत्पन्न होता है जिसका गुण शब्द है। स्पर्शतन्मात्र + शब्दतन्मात्र से वायु महाभूत उत्पन्न होता है जिसमें शब्द और स्पर्श गुण होता है। रूपतन्मात्र + शब्द-स्पर्श तन्मात्राओं से तेज महाभूत का आविर्भाव होता है जिसमें रूप, स्पर्श और शब्द गुण होते हैं। रसतन्मात्र + शब्द-स्पर्श-रूप तन्मात्राओं से जल महाभूत की उत्पत्ति होती है जिसमें रस, शब्द, स्पर्श और रूप गुण आते हैं। इसी प्रकार गन्ध तन्मात्र + शब्द-स्पर्श- रूप-रस-तन्मात्राओं से पृथ्वी महाभूत की उत्पत्ति होती है जिसमें गन्ध, शब्द, स्पर्श, रूप और रस गुण होते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि वाचस्पति मिश्र न्यायवैशेषिक दर्शन के विचारों से प्रभावित हैं जिसमें परमाणुओं में गुणात्मक भेद स्वीकार किया जाता है। ये पाँचों महाभूत स्थूल पदार्थ हैं।

प्रकृति से महाभूतों की उत्पत्ति तक विकास के दो रूप दिखाई देते हैं-- प्रत्यय सर्ग या बुद्धि सर्ग और तन्मात्र सर्ग या भौतिक सर्ग। प्रत्यय सर्ग में बुद्धि, अहंकार और एकादश इन्द्रियों का आविर्भाव होता है। भौतिक सर्ग में पंच तन्मात्राओं और पंच महाभूतों का विकास सम्मिलित है। इनमें तन्मात्राएं अप्रत्यक्ष होने के कारण 'अविशेष' हैं और महाभूत तथा उनके विकार-रूप भौतिक द्रव्य विशेष धर्मो से युक्त होने के कारण 'विशेष' हैं। पुनः, विशेष द्रव्य भी तीन प्रकार के हैं—महाभूत, स्थूल शरीर और सूक्ष्म शरीर । स्थूल शरीर महाभूतों से निर्मित होता है। बुद्धि, अहंकार, एकादश इन्द्रिय और पंचतन्मात्राओं के समूह को 'सूक्ष्म शरीर' कहते हैं। सूक्ष्म शरीर स्थूल शरीर पर आश्रित है, क्योंकि स्थूल शरीर के अभाव में सूक्ष्म शरीर की अभिव्यक्ति नहीं हो सकती। विज्ञानभिक्षु स्थूल शरीर और सूक्ष्म शरीर के अतिरिक्त 'अधिष्ठान शरीर' को भी मानते हैं, क्योंकि एक स्थूल शरीर से दूसरे स्थूल शरीर में सूक्ष्म शरीर का संक्रमण होने में अधिष्ठान शरीर ही अवलम्बन होता है।

प्रकृति से लेकर पंचमहाभूतों तक की श्रृंखला में चौबीस तत्त्व हैं। प्रकृति से उद्भूत तेईस तत्त्व कार्य हैं, क्योंकि वे प्रकृति और पुरुष से भिन्न हैं, परिमित परिमाण वाले हैं और उनमें प्रकृति के

सभी गुण रहते हैं। सृष्टि इन्हीं चौबीस तत्त्वों का खेल है। संसार की सभी वस्तुएं प्रकृति की विकृतियाँ हैं। पुरुष तांख्य दर्शन का पचीसवाँ तत्त्व है। सांख्य द्वारा स्वीकृत इन पचीस तत्त्वों में पुरुष कार्यकारणभाव से सर्वथा परे है। वह न प्रकृति (कारण) है और न विकृति (कार्य) । मूल प्रकृति केवल प्रकृति (कारण) है, विकृति (कार्य) नहीं। महत्, अहंकार और तन्मात्राएं प्रकृति-विकृति (कारण-कार्य) दोनों हैं।

> **"अव्यक्तनाम्नी परमेशशक्ति रनाविद्या त्रिगुणात्मिका परा कार्यानुमेया सुधियैव माया यया जगत् सर्वमिदं प्रसूयते सन्नाप्यसन्नाप्युभयात्मिकानो भिन्नाप्यभिन्नाप्युभयात्मिकानो। सा.गाप्यन ङ्गाप्युभयात्मिका नो मद्बहाद्भूतानिर्वचनीय रुपा।**

अर्थात् जो अव्यक्त नाम वाली त्रिगुणात्मिका अनादि अविद्या परमेश्वर की परा शक्ति है, वही माया है, जिससे यह सारा जगत् उत्पन्न हुआ है। वह न सत् है, न असत् और न सदसत् अभयरूप है, न भिन्न है, न अभिन्न है और न भिन्नाभिन्न उभयरूप है, न अंगरहित है, और न अंगसहित है और न सांगानंग उभयात्मिका ही है, किन्तु अत्यन्त अद्भूत और अनिर्वचनीयरूपा है।

1.4 'शक्ति'

स्त्री, बुद्धि-सामर्थ्य, अर्थबोध, अस्त्रभेद, शब्दनिष्ठ शक्ति आदि हैं " पर इनमें से सामर्थ्य रूप अभिप्राय विशेषतः इस शब्द से जुड़ा हुआ है क्योंकि अन्य सभी अर्थों में यह 'सामर्थ्य' रूप अभिप्राय ही मूलतः अन्तर्निहित है।

1.4.1 शक्ति का अर्थ

शक्ति शब्द: हर जगह सामर्थ्य के अर्थ में ही प्राप्त होता है। सांख्य दार्शनिकों ने भी **'शक्तस्य शक्यकरणात्'** कहकर इसी अभिप्राय को स्वीकृति दी है। अद्वैतवेदान्त ब्रह्म को सारी गतियों से मुक्त रखकर समस्त क्रिया- सामर्थ्य माया नामक शक्ति को सौंपता है पर यह शक्ति यहाँ अनिर्वचनीय है जिसके विषय में कुछ नहीं कहा जा सकता और न ही ब्रह्म से उसके संबंध का निरूपण किया जा सकता है। यही अविद्या रूप में यथार्थ तत्त्व पर आवरण का पर्दा डालती है और विक्षेप रूप में नाना पदार्थों की कल्पना करती है। ब्रह्म का यहाँ किसी कार्य में कोई कर्तृत्व नहीं है। जबकि शिवाद्वयवादी दृष्टि में शक्ति शिव का स्वभाव बनकर सारे कर्तृत्व का भागीदार शिव को भी बना देती है। व्याकरण सम्प्रदाय में शक्ति के इसी सामर्थ्य रूप अभिप्राय को स्वीकारा गया है। वहाँ इसे योग्यता कहा गया है और अपने अधिष्ठान शब्दब्रह्म में सारी शक्तियों को योग्यता रूप में स्थित स्वीकारा गया है। इसी दृष्टि से शब्दब्रह्म यहाँ सर्वबीज है। यही योग्यता कालान्तर में विविध पदार्थों के रूप में अभिव्यक्त होती है।

'शक्ति' शब्द व्याकरण की दृष्टि से स्त्रीलिंग 'देवी', 'भगवती', 'परमेश्वरी' 'परा' आदि स्त्रीलिंग । शिव-शक्ति सम्बन्ध को बताने के लिए 'शंकर-पार्वती' श्वर' के प्रतीक प्रयोग किए जाते हैं। ये प्रतीक शिव- वक्त नहीं कर पाते। पति-पत्नी के प्रतीक से यह समझा और एक साथ अथवा एक सूत्र में रहते हैं, किन्तु शिव- क हैं। अर्द्धनारीश्वर के प्रतीक से यह समझा जा सकता का तथा आधा शक्ति का है । किन्तु शिव-शक्ति को (सम्पूर्ण) ही शक्ति है और शक्ति परम तत्त्व के स्वरूप के विषय में तन्त्र दर्शन की एक अति महत्त्वपूर्ण अवधारणा परमशिव को शिव-शक्ति

का सामरस्य अथवा शक्ति रूप ही मानना । शिव और शक्ति में तादात्म्य सम्बन्ध है । शक्ति शिव का स्वरूप ही है । शक्ति किसी भी प्रकार शिव से भिन्न या पृथक् नहीं है। परम तत्व न तो शिव और न शक्ति के प्राधान्य का स्तर है। यह पूर्ण समन्वय अथवा सामरस्य का स्तर है, जहाँ शिव और शक्ति का भेद नहीं किया जा सकता । शिव तथा शक्ति मूलतः एक ही हैं। जो परम शिव है, वही परम शक्ति है। दोनों ही चिद्रूप होने के कारण स्वरूपतः अभिन्न हैं ।

चैतन्य तत्त्व (शिव) क्रियाशील (Dynamic) है और उसकी क्रियाशीलता (Dynamism) को हो शक्ति कहते हैं। वस्तुतः तांत्रिक दर्शन के अनुसार चैतन्य केवल वस्तु (entity) ही नहीं है वरन् शक्ति (force or energy) भी है । 'शक्ति' शब्द व्याकरण की दृष्टि से स्त्रीलिंग है, इसलिए उसे 'चिति', 'संवित्' 'देवी', 'भगवती', 'परमेश्वरी' 'परा' आदि स्त्रीलिंग शब्दों से अभिहित किया जाता है। शिव-शक्ति सम्बन्ध को बताने के लिए 'शंकर-पार्वती' या 'पति-पत्नी' अथवा 'अर्द्धनारीश्वर' के प्रतीक प्रयोग किए जाते हैं । ये प्रतीक शिव- शक्ति सम्बन्ध को पूर्णरूपेण व्यक्त नहीं कर पाते । पति-पत्नी के प्रतीक से यह समझा जा सकता है कि दोनों दो हैं और एक साथ अथवा एक सूत्र में रहते हैं, किन्तु शिव- शक्ति दो नहीं हैं, वे तस्वनः एक हैं। अर्द्धनारीश्वर के प्रतीक से यह समझा जा सकता है कि शिव का आधा भाग शिव का तथा आधा शक्ति का है। किन्तु शिव-शक्ति को इस प्रकार नहीं समझा जा सकता क्योंकि शिव (सम्पूर्ण) ही शक्ति है और शक्ति (सम्पूर्ण) ही शिव है। वास्तव में उनमें वाच्य वस्तु का अन्तर (denotative difference) नहीं किया जा सकता । केवल विवेचना की दृष्टि से उनमें भेद किया जाता है । शिव और शक्ति पर अलग-अलग विचार करने पर शिव चेतना का शुद्ध प्रकाश है तथा शक्ति चेतना को शक्ति या स्वातन्त्र्य है । तन्त्र दर्शन में शक्ति के लिये अनेक नाम प्रचलित हैं । उसे स्वातन्त्र्य, शक्ति, अहंता, स्फुरत्ता, विमर्श तथा स्पन्द कहा जाता है। शाक्त मत में परमेश्वर को स्त्री रूप में माना गया है और उसी को शक्ति या पराशक्ति कहा गया है। उस पराशक्ति के लिए आनन्द-भैरवी, महाभैरवी, त्रिपुर-सुन्दरी, ललिता आदि नाम प्रयुक्त किये गये हैं । साधना के क्षेत्र में महाशक्ति की कल्पना भवानी, काली, दुर्गा आदि रूपों में की गई है। वह परमेश्वर की ही शक्ति है जो भोग में भवानी, योग में कुण्डलिनी, कोप में काली और समर में दुर्गा है। काश्मीर शैव दर्शन के अनुसार समस्त सृष्टि के मूल में एक ही शक्ति तत्त्व है और उसके अभिव्यक्त होने के अनेक रूप हैं। सृष्टि, स्थिति और संहार में शिव शक्ति के लिये प्रयुक्त विभिन्न नाम शिव की क्रियारूपता को ही व्यक्त करते हैं।

1.4.2 वाक्शक्ति

शक्ति को वाक्शक्ति भी कहा जाता है, जिसके परा, पश्यन्ती, मध्यमा तथा वैखरी, ये चार स्तर हैं। इन स्तरों से ही वाक् सृष्टि की व्याख्या की जाती है। ये स्तर शक्ति की अभिव्यक्ति के स्तर हैं । परा अवस्था चित्-आनन्द की अवस्था है, पश्यन्ती इच्छा -अवस्था है, मध्यमा ज्ञान की अवस्था है तथा वैखरी क्रिया की अवस्था है। ये अवस्थाएँ शिव तत्व (शुद्ध अध्वा) में स्थित शक्ति की अभिव्यक्ति की अवस्थाएँ हैं । पराशिवशक्तिको अवस्था है, पश्यन्ती सदाशिव की अवस्था है, मध्यमा ईश्वर की तथा वैखरी सद्विद्या की अवस्था है। परा अवस्था शुद्ध एकता (Pure Unity) अथवा अभेद की अवस्था है। यहां शुद्ध तादात्म्य है क्योंकि सृष्टि नहीं है । यहाँ केवल 'अहम् विमर्श' है। पश्यन्ती भेदाभेद अवस्था (Unity-in-difference) है जिसमें अहमिदम् विमर्श है । मध्यमा भी भेदाभेद की अवस्था है, किन्तु यहाँ इदमहम् विमर्श है; यहाँ पश्यन्ती की तुलना में भेद अधिक प्रकटित है। वैखरी में एकता और भेद दोनों हैं, जिसमें **अहम् च इदंच** विमर्श है। इसमें भेद पूर्णतया प्रकाशित है, वैखरी अवस्था में शिव का स्पन्द क्रिया

रूप में स्पष्टतः प्रकाशित हो जाता है। शक्ति को कुण्डलिनी भी कहा जाता है जो शरीर के मूलाधार में रहती है। कुण्डलिनी के तीन स्तर-बोध कुण्डलिनी, नाद कुण्डलिनी तथा प्राण कुण्डलिनी हैं। कुण्डलिनी के ये तीन रूप चितिशक्ति के ही तीन स्तरों आध्यात्मिक (Spiritual), मानसिक (mental) तथा शारीरिक (physical) में प्रकटीकरण के तीन स्तर है। बोध कुण्डलिनी आध्यात्मिक स्तर पर अभेद ज्ञान के रूप में प्रकटित होता है । नाद कुण्डलिनी मानसिक स्तर पर मानसिक क्रियाओं के रूप में प्रकटित होती है। प्राण कुण्डलिनी शारीरिक स्तर पर प्राण (life) के रूप में शरीर में संचरित होती है।

1.4.3 शक्ति के पाँच विभेद

'शिव' में पूर्ण जो अकृत्रिम अहंभाव है उसी को 'विमर्श' शक्ति कहते हैं।' यदि शिव में 'विमर्श'-शक्ति न हो, तो वह अनीश्वर' तथा 'जड़' हो जायेंगे। चित्, चैतन्य, परा वाक्, परमात्मा का मुख्य ऐश्वर्य, कर्तृत्व, स्फुरता, आदि शब्दों से आगमों में 'विमर्श' का ही वर्णन किया जाता है।

इस शक्ति में अनन्त स्वरूप हैं, किन्तु इनमें पाँच स्वरूप बहुत ही महत्त्व के हैं-

तन्त्र दर्शन में सामान्यतः शक्ति के पाँच विभेद (प्रकार) किये जाते हैं-चित्दाक्ति, आनन्द शक्ति, इच्छा शक्ति, ज्ञान शक्ति तथा क्रियाशक्ति । चित् शक्ति और आनन्द शक्ति को शिव की स्वरूप शक्ति कहा जा सकता है। इन शक्तियों के कारण ही शिव विमर्शमय तथा आनन्द रूप है। इच्छा, ज्ञान और क्रिया शक्तियों को शिव की स्वातन्त्र्य शक्ति कहा जा सकता है जिन्हें वह सृष्टि को अभिव्यक्ति के रूप में प्रकट करता है।

1) **प्रकाशरूपता चिच्छक्तिः**[14]

   चिदात्मा को प्रकाश रूपना हो उसकी चित् शक्ति है। चेतना का स्वरूप ही शक्ति रूप है, इसलिये इसे चित् शक्ति कहा जाता है ।"

2) **स एवं परानपेक्षः परमार्थतः आनन्दः**[15]

   शिव पूर्ण है। पर निरखेन, आत्म- पूर्णता की प्रतीति हो आनन्द शक्ति है।

3) **तच्चमत्कार इच्छा शक्तिः ।**[16]

   शिव में सर्जनात्मक इच्छा का स्फुरण ही इच्छा शक्ति है। इसके द्वारा ही शिव अपने आनन्द के प्रकाशन की इच्छा करता है।

4) **परतस्तस्मिन् विश्वलक्षणे कार्ये यज्ज्ञात,तत्प्रकाशन शक्तिरूपता सा ज्ञान-शक्तिः** ।[17]

   परमशिव को इच्छा शक्ति जब ज्ञेयता धारण करती है अथवा कार्योन्मुखी होती है तो उनकी प्रकाशन शक्ति ज्ञान शक्ति से अभिहित होती है ।

5) **भावना च क्रियाशक्तिरिति शास्त्रेषु कथ्यते ।**[18]**-**

   इच्छा शक्ति हो जब क्रिया रूप में बाह्य प्रकट हो जाती है तो क्रिया शक्ति कहो जाती है।

---

[14] तन्त्रसार, पृ० 6 1

[15] 1, ई० प्र० वि० भा०-1, पृ० 207

[16] तन्त्रसार, पृ० 6 1

[17] शिवदृष्टि, पृ० 18 |

[18] मालिनीविजय वार्तिक, 1/90

शक्ति के इन पांचों स्वरूपों से सम्पन्न शिव अपने आप समस्त विश्व की अभि- व्यक्ति करते हैं। वस्तुतः यह जगत् 'शिव' की शक्ति का ही विस्तृत रूप है, जिसे परम शिव ने अपने में (स्वभित्तौ) स्वेच्छा से अभिव्यक्त किया है। परन्तु इसे ध्यान में रखना है कि बिना 'शक्ति' के 'शिव' एक प्रकार से जड़वत ही हैं। इसी 'शक्ति' के सहारे 'शिव' अपने में 'अहं' का बोध प्राप्त करते हैं। इसी लिए शंकराचार्य ने भी कहा है-

"शिवः शक्त्या युक्तो यदि भवति शक्तः प्रभवितुम्, न चैवेयं देवो न खलु कुशलः स्पन्दितुमपि। "[19]

1.4.4 सृष्टि-प्रक्रिया

तन्त्र-दर्शन में जगत् को परमतत्त्व की ही अभिव्यक्ति माना गया है। सृष्टि उनी का आत्म प्रसार है। उससे ही सभी पदार्थ आविर्भूत होते हैं तथा फिर उसी में विलीन हो जाते हैं। सृष्टि शिव का उन्मीलन मात्र है जो उसको इच्छा शक्ति का ही प्रकटी- करण है।

शुद्ध तत्त्वं परमशिवाख्यं तत्र यदा विश्वमनुसन्धते तन्मयमेव तत्[20]

काश्मीर शैव दर्शन के अनुमार शिव स्वयं को जगत् रूप में अभिव्यक्त करता है। अपनी व्यक्तावस्था में भी जगत् शिव से भिन्न नहीं होता, इसकी प्रतीति मात्र भिन्न होती है। जगत् सदैव शिवमय बना रहता है। परमतत्त्व अपनी स्वतन्त्रेच्छा से सृष्टि करता है और स्वयं सृष्टि दशा में अवतीर्ण होता है। असीम होकर भी वह अपने को ससीम (बद्ध) रूप में अभिव्यक्त करता है। सृष्टि करने में उसका कोई प्रयोजन निहित नहीं है। यह उसका स्वभाव (स्वातन्त्र्य) है।

अपनी लीला के लिए परमशिव सृष्टि करता है और स्वयं को बन्धन में डालता है। पर वास्तव में वह बन्धन में या सीमित दशा में भी असीम और परमतत्व ही रहता है। उसके स्वरूप में कोई भी वास्तविक परिवर्तन नहीं होता। सारे परिवर्तन प्रतीति मात्र होते हैं। सारी सृष्टि परमशिव की लीला ही है। अपने को अभिव्यक्त करना परमशिव का स्वभाव (स्वातंत्र्य) है।

आचार्य अभिनवगुप्त कहते हैं कि यदि परमशिव सृष्टि न करता और अकेले में ही पड़ा रहता तो यह 'परमतत्व' न होकर घट, पट जैसा कुछ होता। अपने स्वभाव के कारण ही वह विश्व का आभास करने में पूर्णतः निरपेक्ष हैं।"[21] परमशिव का यह स्वतन्त्र स्वभाव ही उसकी पंचकृत्यकारी क्रीड़ा है, जिसका उद्देश्य उसके स्वात्म उल्लास के अतिरिक्त और कुछ नहीं हो सकता है।

1.4.5 छत्तीस तत्त्व

काश्मीर शैव दर्शन में सृष्टि के छत्तीस तत्वों का निरूपण किया गया है। इन तत्त्वों की अभिव्यक्ति के रूप में ही जगत् की सृष्टि होती है। सृष्टि रूप में अभिव्यक्त होने पर भी इन तत्त्वों का तादात्म्य परमतत्त्व से बना रहता है। ये न तो शिव से ही अलग हैं और न एक-दूसरे से ही पृथक् होते हैं। प्रत्येक तत्व मूलतः शिव ही है,

---

[19] आनन्दलहरी, १।

[20] शिवसूत्रविमर्शिनी पृ० 35

[21] -तंत्रालोक, टीका, भा० 3, पृ० 131

सृष्टि के छतीस तत्वों का वर्गीकरण शुद्ध सख्या तथा अशुद्ध अभया के अन्तर्गत दो प्रकार से किया गया है। शिव तत्व से लेकर शुद्ध विद्या तत्त्व तक के पाँच तत्व शुद्ध अब्बा के अन्तर्गत आते हैं, इसे शुद्ध सृष्टि कहा जाता है। शेष तत्व अशुद्ध अभ्या के अन्तर्गत आते हैं, जिसे अशुद्ध सृष्टि कहा जाता है।

शुद्ध सृष्टि तक परमशिव से अनुभूति बनी रहती है। इस अध्या के पाँच तत्वों तक की सृष्टि प्रभाव नहीं रहता है। अशुद्ध अध्या में माया का प्राधान्य रहता है। माया के मलों का समावेश हो जाने के कारण ही इस अध्या को अशुद्ध अध्या अथवा अशुद्ध सृष्टि कहते हैं। माया का प्राधान्य होने के कारण अशुद्ध अध्या में भेद-ज्ञान का प्राधान्य रहता है। माया के प्रभाव से आत्मा अपने वास्तविक स्वरूप को भूलब र सीमित (बद्ध) हो जाता है। अपनी सर्वज्ञता और सर्वशक्तिमत्ता को भूलकर आत्मा को चिद्रूप न समझ कर शरीर को आत्मा समझने लगता है । उसे अपने सर्वव्यापी स्वरूप का स्मरण नहीं रहता। अपने को सबसे पृथक और सबको अपने से पृथक् अनुभव करने लगता है।

1.4.6 सृष्टि-क्रम

'शिव' तत्व

सृष्टि-क्रम का पहला तत्त्व 'शिव' तत्व है। शिव तत्त्व परम-शिव का सृष्टि रूप में प्रथम सन्द है। इसमें चित् शक्ति का प्राधान्य रहता है।

चित्प्राधान्ये शिवतत्त्वम्[22]

'तंत्रसार' के अनुसार पंच- शक्ति स्वभाव परमशिव में चित् शक्ति का प्राधान्य होने पर वह शिव तत्व कहलाता है। यह शुद्ध 'अहम्' के अनुभव की अवस्था है। इस अवस्था में प्रमेय (इदम्) का सर्वथा अभाव रहता है। यही तत्त्व परा संवित्, शिव या परमशिव से अभिहित होता है। सम्पूर्ण संसार अव्यक्त (potential) रूप में इस तत्व में वर्तमान है। यह देश और काल से अतीत है फिर भी सभी देशों और कालों में एक रूप में वर्तमान है। यह विश्वमय और विश्वातीत दोनों है।

'शक्ति' तत्व

सृष्टिक्रम का दूसरा तत्व 'शक्ति' तत्व है। यह परमशिव को अभिव्यक्ति का दूसरा तत्व है जो शिव का अभिन्न स्वरूप है।

तस्य (परमशिवस्य) बहिरोन्मुख्येन व्यापारः शक्तितत्त्वम्।[23]

'तंत्रालोक' के अनुसार बाह्योन्मुख परमशिव को उन्मुखतारूप क्रिया ही शक्ति तत्त्व है। वास्तव में चिद्रूपता के उन्मेष का अर्थ अन्तर्मुख होता है और उसका निमेव ही बहिर्मुख होता हैं। शिव और शक्ति वास्तव में अभिन्न हैं, शक्ति दूसरा (Second) तत्त्व है, किन्तु वास्तव में शिव-शक्ति दोनों एक ही स्तर पर हैं जो सृष्टि से पहले का स्तर है, जैसे गर्भाधान के पहले स्त्री की निर्गर्भ स्थिति होती है। एक स्तर पर एक ही तत्व न गिनाकर दो तत्व (शिव और शक्ति) गिनाये गये हैं, क्योंकि ये एक ही तत्व के दो रूप हैं।

---

[22] 1, तंत्रसार, पृ० 741

[23] - तंत्रालोक भा० 6, पृ० 50-511

सदाशिव'

सृष्टिक्रम का तृतीय तत्त्व 'सदाशिव' है। इसकी अभिव्यक्ति शिव की इच्छा शक्ति से होती है। जब शिव (या शिव-शक्ति) में सृष्टि करने की इच्छा उठतो हैं तो वह सदाशिव हो जाता है। सदाशिव अवस्था स्त्री के गर्भाधान होने जैसी अवस्था है। यह शक्ति तत्त्व का प्रथम और स्थूल उन्मेष हैं। इस स्तर पर इच्छा शक्ति का प्राधान्य हो जाता है। इस अवस्था में अनुभव का प्रत्यय 'अहम्', 'इदम्' होता है।

सृष्टिक्रमोपदेशादौ प्रथममुचितं तत्सदाख्यं तस्यम्।[24]

'अहम्' शिव का परिचायक हैं और 'इदम्' विश्व का। इस अवस्था में 'इदम्' अंश अस्पष्ट रहता है और अहम् अंश का प्राधान्य होने से वह 'इदम्' अंश को आच्छादित किये रहता है। इसलिये यहाँ जगत् का अव्यक्त रूप में भान होता है।

'ईश्वर'

सृष्टि-क्रम का चौथा तन्त्र 'ईश्वर' है। जब शिव चैतन्य में सृष्टि का सम्पूर्ण चत्र मानसिक रूप से आ जाता है, किन्तु अभी बहिर्गत नहीं हुआ रहता, तो वह ईश्वर कहलाता है। मदाशिव अवस्था में केवल सृष्टि की इच्छा उठती है,

ज्ञानशक्ति प्राधान्ये ईश्वर तत्त्वम्।[25]

ईश्वर अवस्था में सृष्टि का पूरा खाका मन में ही तैयार हो जाता है। इस अवस्था में सृष्टि चूँकि मानसिक प्रत्यय (idea) के रूप में ही रहती है अतः इसे 'ज्ञान' कहा जाता है।

'शुद्ध विद्या'

सृष्टि क्रम का पाँचवां तत्त्व 'शुद्ध विद्या' है। इस अवस्था और 'इदम्' दोनों रूप स्पष्ट रूप से भासित होने लगते हैं। इस स्तर पर क्रिया शक्ति की प्रधानता रहती है।

यद्यपि परमशिवस्यैवेदमेकघनमैश्वर्यं तथापि तस्य यथा बहिरोन्मुख्येन व्यापार;
तत्वं तथा सदाशिवेश्वरयोरपि विद्या तत्त्वम्।[26]

जिस प्रकार परमशिव का बहिः औन्मुख्य शक्ति तत्त्व कहलाता है उसी प्रकार सदाशिव और ईश्वर का बाह्य औन्मुख्य शुद्ध विद्या तत्त्व कहा जाता है। *

'माया'

छठीं तत्त्व 'माया' है। इस स्तर पर सार्वभौम आत्मा सीमित आत्मा के रूप में प्रकट होता है।

परमेश्वरस्य भेदावभासने स्वातन्त्र्यं तदेवाव्यतिरेकिणी अपूर्णता प्रथनेन मीनाति
ऽहिनास्ति इति माया शक्तिः उच्यते।[27]

---

[24] ई० प्र० वि० भा० 2,पृ० 191

[25] तन्त्रसार, आ० 8, पृ० 74

[26] -तंत्रालोक, टीका, भा० 6, पृ० 50-51

[27]तंत्रालोक, टीका, भा० 3, पृ० 383

परमेश्वर अपने प्रकाशस्वरूप के आच्छादन की क्रीड़ा करते हुए इस माया तत्त्व का अवभासन करते हैं। भेद का अवभासन करने के कारण ही यह माया शक्ति कहलाती है। भेदावभासन निमित्त परमशिव की स्वातन्त्र्य शक्ति पशुत्व से संलग्न होने के कारण माया नाम से अभिहित होती है।

मायास्वरूपगोपनात्मिका पारमेश्वरी इच्छाशक्तिः ।[28]

इसे परमेश्वर को स्वरूपगोपनात्मिका इच्छा शक्ति भी कहा गया है। माया का स्वरूप तिरोधानकारी है।

यह शुद्ध प्रमाता के प्रकाश स्वरूप का तिरोधान करके उसे परिच्छिन्न रूप बना देती है । जो अपनी पूर्णता में शिव था, वह माया के प्रभाव के कारण जीव बन जाता है । उसकी अभेद दृष्टि सर्वथा छिप जाती है, तथा उसमें भेद दृष्टि का उदय हो जाता है। काश्मीर शैव दर्शन में माया का स्वरूप तोन प्रकार से वर्णित है— जड़, व्यापक तथा सूक्ष्म । व्यावहारिक जगत् में चिदात्मा से पृथक् होने के कारण यह अचेतन है तथा इसके कार्य भी अचेतन है ।

सा जड़ा भेदरूपत्वात्[29]

भेद रूप सृष्टि करने के कारण माया को जड़ कहा गया है, क्योंकि माया में भेद रूप से पदार्थों का प्रकाशन होता है।

काश्मीर शैव दर्शन के अनुसार ज्ञान की परिच्छिन्नता ही जड़ता का लक्षण हैं। संसार का कारण होने के कारण माया व्यापिनी तथा कार्यों की कल्पना करने के कारण सूक्ष्म कही जाती है। परमेश्वर की शक्ति होने के कारण यह नित्य है तथा विश्व का कारण हैं। पृथ्वी पर्यन्त समस्त तत्त्व इसमें निहित हैं। माया शिव द्वारा स्वेच्छया गृहीत रूप हैं। जिस प्रकार एक अभिनेता जानबूझ कर नाना प्रकार का अभिनय करता है, उसी प्रकार परमशिव भी अपनी इच्छा मात्र से अनेक प्रकार की भूमिका ग्रहण करता है।

माया से क्रमशः कला, विद्या, राग, काल तथा नियति का प्रादुर्भाव माना गया हैं । ये माया के पंचकंचुक कहे जाते हैं तथा सृष्टि क्रम में ये क्रमशः सातवें, आठवें, नवें, दसवें तथा ग्यारहवें तत्त्व हैं। ये माया की संकोचकारी (तिरोधान- कारी) शक्तियाँ हैं । माया जनित ये तत्त्व जीव के पूर्ण स्वरूप को आवृत्त किये रहते हैं । इन संकुचित शक्तियों से अपूर्णता में आबद्ध होने के कारण इन कंचुकों को जीव का बन्धन या पाश भी कहा जाता है ।

पुरुष'

सृष्टि-क्रम का बारहवाँ तत्त्व 'पुरुष' है । जब परम तत्त्व माया और इसके कन्चुकों के प्रभाव से सीमित विषयी का रूप ग्रहण कर संसारी हो जाता है तो इसे पुरुष कहा जाता है । इस अवस्था में आत्मा सीमित हो जाता है

जाता है। पुरुष तत्त्वतः शिव ही है, किन्तु माया के तिरोधानकारी प्रभाव से अपने मूलस्वरूप को भूल कर परिमित जीव बन जाता है ।

---

[28] -तंत्रालोक टीका, भा० 3, पृ० 283

[29] तंत्रालोक, भा० 6, 9/151

स्वशक्त्यभिव्यक्ता मोक्षः।[30]

इस प्रकार अज्ञानवश अपने को बन्धन में डाल देता है। जब तक उसे शिव भाव के स्वातन्त्र्य का बोध नहीं होता तब तक वह अनेकानेक जीव योनियों में संचरण करता हुआ अपने कर्मों के अनुसार सुख-दुख आदि को भोगता रहता है।

'प्रकृति' सृष्टि-क्रम का तेरहवां तत्त्व 'प्रकृति' है। परमशिव के भेदमय दृष्टि से अवभासित होता हुआ उसका जो वेद्यरूप विश्व का अभिव्यक्त सामान्य रूप है उसे प्रकृति तत्त्व कहा जाता है। यह सत्व, रज और तमस् की साम्यावस्था है। महत् तत्त्व से लेकर पृथ्वी तत्त्व पर्यन्त सभी तत्त्वों का मूल कारण प्रकृति तत्त्व है। पुरुष भोक्ता है और प्रकृति उसकी भोग्या है। परन्तु वास्तव में दोनों एक ही हैं। दोनों को अभिव्यक्ति एक साथ होती है। जिस प्रकार पुरुष जगत् - उन्मेष रूपी क्रीड़ा करने वाले परमेश्वर की आत्म कल्पना है उसी प्रकार प्रकृति उसकी वेद्य कल्पना है।

इदमेव हि परं स्वातन्त्र्यं यतस्व स्वरूपं वेदकमेवसत् वेद्यत्वेन अवभासयति।[31]

सांख्य दर्शन में असंख्य पुरुषों की प्रकृति एक है किन्तु काश्मीर शैव दर्शन में प्रकृति भी अनेक है। प्रत्येक पुरुष के लिए पृथक्- पृथक् प्रकृति है। प्रकृति तत्त्व से ही शेष तत्वों की सृष्टि होती है। इनमें तीन अन्तःकरण-मन, बुद्धि तथा अहंकार, पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ, पाँच तन्मात्रायें तथा पाँच महाभूत तत्त्व आते हैं।

अन्तःकरण

बुद्धितत्त्व—'यह ऐसा है', इस प्रकार निश्चय करने वाली शक्ति 'बुद्धि' तत्त्व है। ह सत्त्वप्रधान होने के कारण 'स्वच्छ' है। इस तत्त्व में ही चैतन्य के प्रतिबिम्ब को हण करने की 'योग्यता' है।

अहंकारतत्त्व - 'यह मेरा है', 'यह मेरा नहीं हैं, इस प्रकार अभिमान का घन 'अहंकार' तत्त्व है।

मनस्तत्त्व'- करूँ या न करूँ', इस प्रकार संकल्प और विकल्प का कारण न' है। ये तीनों 'अन्तःकरण'-रूप तत्त्व है।

पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ शब्द, स्पर्श, रूप, रस तथा गन्ध को ग्रहण करने वाली, मशः श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, जिह्वा तथा घ्राण, ये पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ हैं। अन्तःकरण के नन्तर इनकी अभिव्यक्ति होती है।

पांच कर्मेन्द्रिय-वचन, आदान, विहरण (चलना-फिरना), विसगं (मल त्याग), (लौकिक) आनन्द के साधन क्रमशः वाक्, पाणि, पाद, पायु तथा उपस्थ, ये पाँच कर्मेन्द्रियाँ हैं।

पाँच तन्मात्राएँ — शब्द, स्पर्श, रूप, रस तथा गन्ध,ये पाँच समान रूप के हैं। प्रत्येक में, अपने को छोड़कर, अन्य कुछ भी नहीं रहता। इसीलिए इन्हें तन्मात्राएँ कहते हैं।

पंचभूत--अवकाश देने वाला 'आकाश', संजीवन वायु', दाहक और पाचक 'अग्नि', पिघलनेवाला, भिगोनेवाला 'जल' तथा धारण करने वाली 'पृथिवों', ये पांच भूततत्त्व हैं।

इन तत्वों की स्वरूप विषयक अवधारणा सांख्य दर्शन के समान ही है। दोनों दर्शनों में मूलभूत अन्तर केवल इतना ही है कि सांख्य के अनुसार ये तत्त्व प्रकृति के विकास हैं किन्तु काश्मीर

---

[30] परमार्थसार, का० 60

[31] तंत्रालोक विवेक, भा० 1, पृ० 209

शैव दर्शन के अनुसार ये तत्त्व प्रकृति के विकास होते हुए भी अन्ततः परमशिव की ही अभिव्यक्तियाँ है। सांख्य में प्रकृति आदि तत्व है किन्तु काश्मीर शैव दर्शन में प्रकृति स्वयं सृष्टि विकास का एक तत्त्व है। काश्मीर शैव दर्शन के अनुसार सृष्टि के सभी तत्त्व परमशिव की विभिन्न अवस्थाओं के विभिन्न रूप ही हैं। इनका अलग से अपना कोई अस्तित्व नहीं होता।

'पृथिवीतत्त्व' से लेकर 'प्रकृतितत्त्व' पर्यन्त तो सांख्य के समान ही तत्त्वों का विचार है। यही 'प्रकृति' विशुद्ध होकर 'मायातत्त्व' में लीन हो जाती है। 'माया' के 'पाँच कञ्चुक' परम शिव के सभी गुणों को संकुचित कर देते हैं। इसीलिए 'पुरुष- तत्त्व' में आकर परमशिव की शक्ति संकुचित हो जाती है।

जिस प्रकार वट-बीज में, शक्तिरूप में, बड़ा वटवृक्ष विद्यमान रहता है, उसी प्रकार ये सभी तत्त्व अर्थात् चराचर समस्त विश्व, परम शिव के हृदयरूपी बीज के अन्दर 'शक्ति', रूप में वर्तमान रहते हैं।

1.4.7 आत्मा

अद्वैत वेदान्त की भांति काश्मीर शैव दर्शन के अनुसार भी आत्मा की सत्ता स्वयं सिद्ध है। आत्मा स्वयं प्रकाश है। ज्ञान की हर प्रक्रिया में ज्ञाता पूर्वसिद्ध है। जिस प्रकार क्रिया कर्ता के बिना नहीं हो सकती, उसी प्रकार ज्ञान ज्ञाता के बिना नहीं हो सकता। यह ज्ञाता ही आत्मा है। काश्मीर शैव दार्शनिक यह कहते हैं कि आत्मा का निषेध भी आत्मा के अस्तित्व को सिद्ध करता है। सभी प्रमाणों का आधार होने से आत्मा को स्वयं प्रमाणों की अपेक्षा नहीं होती। प्रमाणों को भी स्वयं आत्मा ही प्रकाशित करता है।

परमेश्वर की पंच शक्तियों को उनके पाँच 'मुखों' के रूप में भी कल्पित किया गया है और उन पाँच मुखों में पाँच स्रोतों की कल्पना कर उनसे पाँच प्रकार के शास्त्रों के उद्गमन का उल्लेख किया गया है। इससे इसी मान्यता को बल मिलता है कि यहाँ यह शक्ति की धारणा अपने समष्टिपरक अभिप्राय में सभी प्रकार की संभावनाओं को अपने अन्दर समेट लेती है। उस अद्वय के विषय में या उससे अतिरिक्त किसी भी तरह का उल्लेख इस शक्तितत्त्व को मूल में लेकर ही संभव होता है। 'शक्तिपात' की धारणा तो इस शक्ति के प्रत्यय से ही जीवन प्राप्त करती है। साथ ही उपाय परम्परा में एक उपाय को विशेषतः 'शाक्तोपाय' कहा गया है, इससे यह ध्वनित है कि वहाँ शक्ति ही शिव तक पहुँचने का मुख्य साधन बनती है। यों तो शक्ति की उपायता सारे उपायों में साधारण है पर भेद मात्र स्थूलता और सूक्ष्मता का है। वही शक्ति 'आणव', 'मायीय' व 'कार्ममल' के भेद से भिद्यमानता को प्राप्त कर 'शांभव', 'शाक्त' व 'आणव' रूपता को प्राप्त होकर त्रिविध उपायों के रूप में अभिव्यक्त होती है। परन्तु शाक्तोपाय में इस शक्ति की उल्वणता कुछ ज्यादा है। इस उपाय में सारे भावजात को आत्मतत्त्व की शक्ति रूप से अनुभव किये जाने की चेष्टा रहती है इसीलिये इसकी संज्ञा शाक्तोपाय है।

वीरशैवसिद्धान्त में शिव और शक्ति में अविनाभाव सम्बन्ध (समवाय सम्बन्ध) कहा गया है। जो सम्बन्ध पृथक् नहीं किया जा सकता, उसे समवाय- सम्बन्ध कहते हैं, जैसे सूर्य में प्रभा का और चन्द्र में चन्द्रिका का। इसीलिए इस मत में ब्रह्म का शक्ति से नित्य सम्बन्ध माना गया है। परब्रह्मस्थित विमर्शशक्ति ही सूक्ष्म चिदचिदात्मिका शक्ति कही जाती है। जो परब्रह्मनिष्ठ विच्छक्ति है, वह सर्वज्ञतारूप है और जो सूक्ष्म अचिच्छक्ति है, यह सर्वकर्तृत्व- रूप है।

विद्यार्थियों इस प्रकार से हमने तृतीय खंड जगत् के अंतरगत माया, प्रकृति तथा शक्ति पर अपना अध्ययन पूर्ण कर लिया है।

1.5 सारांश

जागतिक व्यवस्था मूल रूप में कर्म के भौतिक नियम के द्वारा संचालित होते हैं जिनके अनुसार सभी जीवात्माओं को अपने पूर्व जीवन में किए गये या इस जीवन में संपादित कर्मों का फल भोगना पड़ता है। जीवात्मा अपने शुभाशुभ कर्मों के आलोक में सुख और दुःख भोग सकें इसके लिए भी ईश्वर के द्वारा इस संसार की सृष्टि की जाती है,

माया

अद्वेत वेदांत का जगत्- विचार - शंकर के दर्शन में विश्व की व्याख्या करते हुए बताया गया है कि यह मिथ्या है। शंकराचार्य के अनुसार केवल ब्रह्म ही सत्य है। शेष सभी वस्तुएं (ईश्वर, जीव, जगत) प्रपंच हैं।

अद्वैत वेदान्त माया ही एक ऐसी शक्ति मानी गई है जो जगत् की वस्तुओं और जीवों के नानात्व की उत्पत्ति के लिए उत्तरदायी हो सकती है। शंकराचार्य के पूर्व भी संहिताओं, उपनिषदों में माया की बात कही गई है, परन्तु उनका स्वरूप प्रतिष्ठित एवं परिमार्जित नहीं है। ऋग्वेद में 'माया' का प्रयोग इन्द्रजाल या छद्म के अर्थ में किया गया है। उपनिषदों में जगत् की रचना करने वाली ईश्वरी शक्ति बन गई है। ऋग्वेद का प्रसिद्ध वाक्य है-

'इन्द्रो मायाभिः पुरुरुप ईयते[32]

माया ईश्वर की अनादि शक्ति है। इस अनादि माया की दो शक्तियां हैं- आवरण तथा विक्षेप। आवरण का कोशगत अर्थ है-आच्छादन। वस्तु के यथार्थ रूप को ढक लेना ही आवरण कहलाता है। जैसे-सघन बादल का एक टुकड़ा दर्शकों की दृष्टि को ढक लेने के कारण अनेक योजन विस्तृत सूर्यमण्डल को ढक लेता है, उसी प्रकार आवरण शक्ति से युक्त माया परिछिन्न अर्थात् परिमित होने पर भी प्रमाता की बुद्धि को ढक लेती है। इसी आवरण के कारण जीव विशुद्ध आत्मस्वरूप को पहचान पाने में असमर्थ हो जाता है।

माया को न तो सत् कह सकते हैं और न ही असत् । सत् या असत् कहकर माया का निर्वचन नहीं किया जा सकता है। यदि माया को सत् कहा जाए तो चिदात्मा के समान उसका बोध कभी नहीं होना चाहिए। परन्तु तत्व ज्ञान से माया का बोध होता हुआ कहा जाता है। अतः माया सत् नहीं है।

यदि माया को असत् कहा जाए तो बन्ध्यापुत्र के समान उसका कभी भान नहीं होना चाहिए, परन्तु संसार के बन्धन में जकड़े हुए प्रत्येक व्यक्ति को 'मैं अज्ञ हूँ' इस प्रकार का स्पष्ट भान होता है। अतः माया 'असत्' भी नहीं है।

प्रकृति

सांख्य दर्शन द्वैतवादी (Dualist) है । वह प्रकृति और पुरुष नाम दो ओं (Realities) को स्वीकार करता है। प्रकृति अचेतन (Unconscious) न्तु क्रियाशील है । अपनी क्रियाशीलता (Activeness) के बल पर वह विश्व की चना करती है और विश्व आदि कारण हैं । प्रकृति वह अचेतन तत्व है जिसमें तीनों गुण--सत्व, रजत और तमस साम्यावस्था (State of

[32] ऋग्वेद 6-47-48

equilibrium) को प्राप्त होते हैं। (गुणानां साम्यावस्था प्रकृति) जिस प्रकार बौद्धों के अनुसार विश्व (भवचक) का कारण अविद्या है, वैशेषिकों के अनुसार विश्व कारण परमाणु है; वैसे ही सांख्य के अनुसार जगत् का आदि कारण "प्रकृति" है।

"प्रकृति इति उच्यते विकारोत्पादकत्वात, अविद्या ज्ञान विरोधित्वात, माया विचित्र सृष्टि करत्वात।"

सांख्य दर्शन आदि और मूलकारण को "प्रकृति" कहता है। "श्वेताश्वर उपनिषद" में "प्रकृति" को उत्पत्ति रहित अर्थात् अजा (Beyond Production), "एक" (One) "त्रिगुणात्मिका" (Having three attributes), "सरूपा" (Figured) और समस्त वस्तुओं को पैदा करने वाली (बबी प्रजा) कहा गया है। वह "प्रधान' (Principal), "अव्यक्त" (Implicit) और 'शाश्वत' (Eternal) कही गई है। लोकाचार्य के अनुसार वह समस्त विकारों को पैदा करने के कारण "प्रकृति" कही जाती है। वह ज्ञान का विरोध (Contradict) करती है अतः उसे "अविधा' (Ignorance) कहते हैं, और विचित्र सुष्टि की रचना करती है इसलिए ‘‘माया' (**मोयते अनया इति माया)** कहलाती है। ‘‘प्रकृति इत्युच्यते विकारोपादकत्वात अविद्या थान विरोधित्वात, माया विचित्र सृष्टि करत्वात" वह अत्यन्त सूक्ष्म और अगोचर है। इसकी रचनाओं (Creations) के आधार पर ही इसका अनुमान लगाया जा ता है, अतः इसका नाम "अनुमा" भी है। अचेतन तत्व के कारण उसे जड़ कहते है। प्रतिशील और क्रियाशील होने के कारण वह शक्ति (Energy) कहलाती है।

शक्तिः

'शक्ति' शब्द व्याकरण की दृष्टि से स्त्रीलिंग 'देवी', 'भगवती', 'परमेश्वरी' 'परा' आदि स्त्रीलिंग। शिव-शक्ति सम्बन्ध को बताने के लिए 'शंकर-पार्वती' श्वर' के प्रतीक प्रयोग किए जाते हैं। ये प्रतीक शिव- वक्त नहीं कर पाते। पति-पत्नी के प्रतीक से यह समझा और एक साथ अथवा एक सूत्र में रहते हैं, किन्तु शिव- क हैं। अर्द्धनारीश्वर के प्रतीक से यह समझा जा सकता का तथा आधा शक्ति का है। किन्तु शिव-शक्ति को (सम्पूर्ण) ही शक्ति है और शक्ति परम तत्त्व के स्वरूप के विषय में तन्त्र दर्शन की एक अति महत्त्वपूर्ण अवधारणा परमशिव को शिव-शक्ति का सामरस्य अथवा शक्ति रूप ही मानना। शिव और शक्ति में तादात्म्य सम्बन्ध है। शक्ति शिव का स्वरूप ही है। शक्ति किसी भी प्रकार शिव से भिन्न या पृथक् नहीं है। परम तत्व न तो शिव और न शक्ति के प्राधान्य का स्तर है। यह पूर्ण समन्वय अथवा सामरस्य का स्तर है, जहाँ शिव और शक्ति का भेद नहीं किया जा सकता। शिव तथा शक्ति मूलतः एक ही हैं। जो परम शिव है,

1.6 पारिभाषिक शब्दावली

मिथ्या - सद्-असद् से विलक्षणत्त्व

अनिर्वचनीय- न तो सत् और न ही असत्

सर्ग- सृष्टि-क्रम विकास

आवरण- वस्तु के यथार्थ रूप को ढक लेना

विक्षेप - वस्तु के यथार्थ स्वरूप पर किसी अन्य वस्तु के अयथार्थ स्वरूप के आरोप

1. बोध प्रश्न

1) माया क्या है तथा माया की शक्तियाँ कौन-कौन सी हैं
2) माया की अनिर्वचननियतासिद्ध करें
3) प्रकृति तत्व की व्याख्या करें प्रकृति के कितने गुण हैं समझे
4) प्रकृति और पुरुष संबंध की व्याख्या करें
5) सांख्य दर्शन के द्वार प्रकृति की सिद्धि के कितने प्रमाण दिए गए हैं व्याख्या करें
6) शक्ति तत्व की व्याख्या करें
7) शिव की पंच शक्तियाँ कौन सी हैं
8) काश्मीर शैव दर्शन के अनुसार सृष्टि-क्रम की व्याख्या करें

1.8 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1) अद्वैत वेदांत की तर्किक भूमिका, जगदीश सहाय श्रीवास्तव, किताब महल इलाहाबाद, 2003
2) अद्वैत वेदांत में ज्ञान एवं भक्ति दर्शनिक विमर्श, सत्य काम मिश्र, मोतीलाल बनारसीदास, 2022
3) भारतीय दर्शन, डॉ० नन्द किशोर देवराज, उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ ,2002
4) भारतीय दर्शन, चन्द्रधर शर्मा,भारतीय दर्शन आलोचन औरअनुशीलन , मोतीलाल बनारसीदास, 1995,
5) भारतीय दर्शन डॉ. उमेश मिश्र,उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान 2003
6) भारतीय दर्शन, पारसनाथ द्विवेदी, श्रीराम मेहरा कंपनी आगरा,1973
7) भारतीय दर्शन का इतिहास भाग 4 एवं भाग 5 एस एन दास गुप्ता राजस्थान हिन्दी ग्रंथ अकादमी जयपुर 1989

इकाई 2 कालतत्त्व का निरूपण

इकाई की रूपरेखा

2.0 उद्देश्य

इकाई में भारतीय दर्शन में प्रतिपादित काल तत्त्व का अध्ययन करने जा रहे हैं। जिसके अध्ययन से आप -

- काल क्या है काल का अर्थ समझ पायेंगे।
- मानव जीवन में कालतत्त्व का महत्व समझ पायेंगे।
- काल के लक्षण तथा काल तत्त्व को सिद्ध को समझ पायेंगें
- काल के भेद, तथा कालमान का विस्तृत वर्णन को समझ पायेंगे।

2.1 प्रस्तावना

काल का प्रत्यय मानवीय बोध के साथ ही जन्म ले चुका था. उसको उतना ही पुराना माना गया. नासदीय सूक्त के अनुसार आरंभ में न दिन था न रात. इसलिए समय का बोध कराने वाले भूत–भविष्य आदि का भी लोप था. इस तरह महाशून्य अवस्था से दिन–रात से भरपूर ब्रह्मांड में आने के बीच जो लाखों, करोड़ों वर्ष बीते, उनसे काल की उपस्थिति स्वतःसिद्ध है.

भारतीय दर्शन में 'काल' एक विशिष्ट अवधारणा है। आधुनिक युग के भौतिक विज्ञान विद् भी काल के महत्त्व को विभिन्न दृष्टिकोण से प्रतिपादित कर रहे हैं। आयुर्वेद में काल को कारण द्रव्यों में स्वीकार किया गया है अर्थात् किसी कार्य द्रव्य की उत्पत्ति में काल एक आवश्यक उत्पादक भाव है।

पुराणों में काल की उत्पत्ति ब्रह्मा द्वारा बतलाई गई है, वास्तव में काल तो नित्य, निरन्तर है। सृष्टि उत्पत्ति क्रम में होने वाले विभिन्न परिवर्तनों तथा उत्पन्न सृष्टि में होने वाले विभिन्न परिवर्तनों का कारण काल ही है। यह सूक्ष्मातिसूक्ष्म क्षण के लिए भी रुकता नहीं है। जितने समय में कोई परिवर्तन होता है उस समयावधि को उपाधि दे दी गई है। यथा सूर्योदय से सूर्यास्त तक जो परिवर्तन होता है, उसे दिन, प्रातः, दोपहर, सायं आदि उपाधियाँ दे दी गई हैं। जब सृष्टि की उत्पत्ति हुई तो उसमें होने वाले विभिन्न परिवर्तनों के समयावधि की उपाधि क्षण मुर्हत में दे दी गई। सृष्टिकर्त्ता को भी वहाँ कोटि कहा गया है, अतः सृष्टिगत होने वाले परिवर्तनों के समयावधि को दी गई उपाधि को ही कालोत्पत्ति कहा गया है। वास्तव काल 'परिणमनकारी भाव' है।

2.2 काल शब्द की उत्पत्ति

'कलाशब्दस्य ककाराकारौ ली धातोश्च लकारमादाय कालशब्दस्य निष्पत्तिः'।

अर्थात् कला शब्द का 'ककार' और 'आकार' तथा 'ली' धातु का 'लकार' लेकर काल शब्द की उत्पत्ति होती है।

अर्थ एवं पर्याय-'काल' शब्द की निष्पत्ति कल धातु से होती है जिसका अर्थ

'गिनना' होता है, अर्थात् समय का वह निश्चित भाग विशेष जिसका हम गणना के लिए व्यवहार करते हैं, काल कहा जाता है।' सभी भूतों को कवलित करने के कारण भी इसे काल कहते हैं कलाओं का इसमें संयोग होता है अतः इसे काल कहते हैं।

येन मूर्तीनामुपचयश्चापचयाश्च लक्ष्यन्ते तं कालमाहुः

जिससे मूर्तियों का उपचय (वृद्धि) एवं अपचय (ह्रास) द्योतित हो उसे काल कहते हैं ।[1] काल की सर्वाधिक पूर्ण परिभाषा सुश्रुत में आई है, "जहाँ इसे आदि, मध्य एवं अन्त से रहित, मधुरसादि छह रसों की विकृति- संपत्ति का कारण, अपनी सूक्ष्म कला तक भी न ठहरनेवाला कहा गया है। प्राणियों को सुख-दुःख के साथ संयोग-वियोग कराने अथवा प्राणियों का संहार करने के कारण उसे काल कहते हैं। दिष्ट, अनेहा और समय इसके पर्याय कहे गए हैं।' समय-

[1] - पाणिनि २।२।५ पर महाभाष्य वार्तिक।

बोध के लिए प्रयुक्त एक अभिधान के रूप में सर्वप्रथम इसका उल्लेख ऋग्वेद में एकबार हुआ है।

कृतमिव श्वधनी विचिनोति काले [2]—

समय-सूचक अर्थ में काल शतपथ ब्राह्मण आदि परिवर्ती ग्रन्थों में अनेकशः उल्लिखित है।[3]

"काल इति कल्पते" काल संख्याने शब्वे च, कालयति सर्वं इति वा ।[4]

2.3 काल शब्द का लक्षण

कलनात् सर्वभूतानां स कालः परिकीर्तितः ।[5]

अर्थात् समस्त प्राणधारियों या प्राणियों का संकलन करता है, इसलिये इसे काल कहा जाता है।

सङ्कलयति कालयति वा भूतानिति कालः ।[6]

अर्थात् सृष्टि के सम्पूर्ण प्राणियों का संकलन करता है या कालयति अर्थात् संक्षिप्त कर देता है, अतः इसे काल कहा जाता है।

स सूक्ष्मामपि कलां न लीयत इति कालः ।[7]

अर्थात् जो सूक्ष्मातिसूक्ष्म कला में भी लीन नहीं होता है या विलीन नहीं होता है, उसे काल कहते हैं। यहाँ सूक्ष्मातिसूक्ष्म कला में लीन न होने का तात्पर्य यह है कि यह सूक्ष्म से सूक्ष्म क्षण के लिये रुकता नहीं है। सदैव गतिशील रहता हैं, अतः इसे काल कहा जाता है।

सङ्कलयति संहरणादेकराशी करोति भूतानीति वा।[8]

इस सृष्टि के समस्त प्राणियों का संहार कर देता है तथा संहार कर 'एकराशी' अर्थात् एक राशि में या एक ही रूप में संग्रहीत कर देता है, अतः इसे काल कहा जाता है।

सङ्कलयति सुखदुःखाभ्यां भूतानीति योजयतीति वा कालः।[9]

अर्थात् इस सृष्टि के समस्त प्राणियों को सुख व दुःख से युक्त कर देता है, अतः इसे काल कहा जाता है।

'कालयति संक्षिपयतीति वा कालः ।[10]

यहाँ काल का अर्थ संक्षिप्त करना ग्रहण किया गया है। अर्थात् आयु आदि को संक्षिप्त करने के कारण इसे काल कहते हैं। यहाँ लोक व्यवहार में प्रचलित काल का अर्थ ग्रहण किया गया है।

---

[2] ऋ० १०।४२।९ ।

[3] श० ब्रा० ११७/३३, २२४१२२४, ३८३।३६, शांखायन ७।२० वैदिक इण्डेक्स, हिन्दी अनु०, पृ० १६८।

[4] वाचस्पत्यम्, पृ० १९८२

[5] डल्हण

[6] सु. सू. ६।८

[7] सु. सू. ६।८

[8] डल्हण

[9] डल्हण

[10] **डल्हण**

समय-पूर्व या अल्पायु में मृत्यु को प्राप्त प्राणियों के लिये कहा जाता है कि इसकी मृत्यु इतने कम समय में काल के आने के कारण हो गयी है, अतः आचार्य ने यहाँ लोक-व्यवहत अर्थ को ग्रहण कर कहा है कि आयु आदि को संक्षिप्त करने के कारण इसे काल कहा जाता है।

'कालयति मृत्युसमीपं नयतीति वा कालः'[11]

मृत्यु के समीप प्राणियों को ले जाने के कारण इसे काल कहा जाता है।

कालो बलीयान् बलिनां भगवानीश्वरोऽव्ययः ।
प्रजाः कालयते क्रीडन् पशुपालो यथा पशुन्।[12]

अर्थात् काल बलवानों से भी बलवान्, भगवान्, ईश्वर और अविनाशी है। यह समस्त प्रजा को क्रीड़ा करते हुए नष्ट कर देता है। जिस प्रकार पशुपालक पशुओं को देखते हुए उन्हें अनुशासित रखता है।

'संहारणादे राशीकरोति भूतानीति वा कालः सुखदुःखाभ्यां भूतानि योजयति इति काल:'- सभी प्राणियों का संहार कर एक राशि करने के कारण या प्राणियों को सुख-दुःख से युक्त करने के कारण इसे काल कहते हैं।

उपर्युक्त काल शब्द के लक्षण प्रायः लोक में व्यवहत होते हैं। लोक में काल के लिये व्यवहत समस्त अर्थो को ग्रहण कर यहाँ काल शब्द का लक्षण कहा गया है। जैसे—यदि कोई व्यक्ति किसी कारणवश दुःखी होता है या उसके धन आदि का नाश होता है, तो लोक में कहा जाता है कि उसका काल अच्छा नहीं है या उसका बुरा समय आ गया है, इसी प्रकार उस व्यक्ति को आश्वासन दिया जाता है कि अच्छा समय आने पर सब ठीक हो जायेगा। इस प्रकार लोक व्यवहार में सुखी व दुखी होने के कारण रूप में 'काल' को स्वीकार किया जाता है। अल्पायु में या पूर्णायु में मृत्यु प्राप्त व्यक्ति के लिये कहा जाता है कि इसका समय या काल आ गया था। यह सदैव गतिशील होता है, अतः लोक व्यवहार में इसे कालचक्र कहा जाता है।

2.4 काल का लक्षण

अपरिस्मन्नपरं युगपच्चिरं क्षिप्रमिति काललिंगानि ॥[13]

अर्थात् अपर में अपर-ज्ञान तथा पर में पर का ज्ञान, दोनों व अपर का एक साथ युगपत् ज्ञान, चिरज्ञान या क्षिप्रज्ञान ये सब काल के अनुमापक लक्षण हैं।

वहाँ' 'पर' का तात्पर्य ज्येष्ठ अपर का कनिष्ठ, चिर का विलम्ब वा क्षिप्र का शीघ्र है। यहाँ काल के लक्षण में कहा गया है कि पर में पर का ज्ञान अर्थात् जो ज्येष्ठ है, उसका ज्येष्ठ के रूप में ज्ञान या अपर ज्ञान, कनिष्ठ में कनिष्ठ का ज्ञान ही काल का ज्येष्ठ, कनिष्ठ या दोनों अथवा विलम्ब, शीघ्र आदि का जो ज्ञान होता है, उसे काल कहा जाता है। यहाँ जो काल का लक्षण कहा गया है, उसे अनुमापक लक्षण कहना ही उचित है; क्योंकि इसमें सापेक्ष अनुमापन कर्म होता है। अनुमापन का अर्थ यह है कि किसी निश्चित बिन्दु से ही इसके लक्षण का ज्ञान होता है तथा उस

[11] **डल्हण**

[12] **श्रीमद्भागवतपुराण**

[13] वै.द. २६

निश्चित बिंदु से ज्ञेय विषय तक का जो ज्ञान होता है, उसे अनुमापक लक्षण कहा जाता है। काल का यह लक्षण अनुमापक लक्षण ही है। जबतक निश्चित बिन्दु को मानक नहीं माना जाय तब तक काल का ज्ञान नहीं हो पाता। अतः काल के अनुमापन में सापेक्षता अनिवार्य हो जाती है। जैसे—यह ज्येष्ठ है इसका ज्ञान जब तक किसी वस्तु या व्यक्ति से सापेक्ष नहीं होगा तब तक ज्येष्ठता का ज्ञान नहीं होगा क्योंकि 'ज्येष्ठ' का अर्थ होता है-किसी न किसी व्यक्ति से उसकी तुलना की गयी है। अर्थात् उस व्यक्ति की अपेक्षा यह व्यक्ति अधिक सूर्य-भ्रमण क्रिया को देखा है, अत: यह ज्येष्ठ है। भारतीय विज्ञान में काल का मानक **सूर्य-भ्रमण क्रिया** को माना गया है। यहाँ सूर्य-भ्रमण क्रिया का लोक-व्यवहार में दिन-रात अर्थ ग्रहण किया जाता है; क्योंकि सूर्यक्रिया सृष्टि में निरन्तर गतिशील है तथा काल एक क्षण भी लीन नहीं होता है, अत: काल-ज्ञान हेतु मानक (Standard) या सापेक्ष-बिन्दु सूर्यक्रिया को माना गया है। जो व्यक्ति किसी अन्य व्यक्ति की अपेक्षा अधिक सूर्यक्रिया में विद्यमान रहता है, उसे ज्येष्ठ तथा जो व्यक्ति या वस्तु सापेक्ष रूप में किसी वस्तु या व्यक्ति से कम सूर्यक्रिया में विद्यमान रहता है, उसे कनिष्ठ या अपर कहा जाता है। इसी प्रकार पर व अपर दोनों का ज्ञान होता है। यथा यह कहा जाय कि राम मोहन से ज्येष्ठ है; परन्तु रमेश से कनिष्ठ है। इस प्रकार यहाँ पर व अपर दोनों ज्ञान एक साथ हो जाता है। इसी प्रकार अधिक सूर्यक्रिया में विद्यमानता को विलम्ब तथा अपेक्षाकृत कम सूर्यक्रिया से सम्बन्धित होने को शीघ्र कहा जाता है। इसमें सापेक्षता के आधार पर विलम्ब या शीघ्र का ज्ञान होता है; क्योंकि शीघ्र व विलम्ब का ज्ञान मानक-बिन्दु पर आधारित न होकर लोक-व्यवहार में सापेक्ष रूप में होता है। जैसे-अधिक सूर्यक्रिया से सम्बन्धित होकर कार्य करने में विलम्ब का ज्ञान होता है; परन्तु यह एक निश्चित बिन्दु मानकर ही ज्ञात किया जाता है। जैसे-विद्यार्थियों को कहा गया कि कल सूर्यक्रिया प्रारम्भ होते ही (यहाँ सूर्य क्रियारम्भ का तात्पर्य सूर्य के उदय से है) सभी विद्यार्थियों को आना है। जो विद्यार्थी कुछ सूर्यक्रिया व्यतीत होने पर आते हैं, तो उनके आने व निर्धारित बिन्दु (सूर्योदय) के बीच का अनुमापन कर कहा जाता है कि आप इतने विलम्ब हैं अथवा जो व्यक्ति सूर्यादय से पूर्व आ जाता है, तो उसके आने व सूर्योदय तक का अनुमापन कर कहा जाता है कि आप आने में इतनी शीघ्रता किये हैं। इस प्रकार किसी निश्चित बिन्दु (सूर्यक्रिया) को मानक मानकर सापेक्ष रूप से जो ज्येष्ठत्व, कनिष्ठत्व, विलम्बत्व, शीघ्रत्व आदि का अनुमापक ज्ञान होता है, उसे काल कहा जाता है।

जन्यानां जनकः कालो जगतामाश्रयो मतः ।
परापरत्वधीर्हेतुः क्षणादिः स्यादपाधितः॥ ॥[14]

अर्थात उत्पन्न होने वाले पदार्थों का जनक जगत् का आश्रय तथा परत्व व अपरत्व बुद्धि का हेतु काल ही है। यह काल एक होने पर भी उपाधिमेद से अनेक नाम वाला है।

यहाँ काल को सम्पूर्ण पदार्थों का जनक इसलिये कहा गया है कि किसी पदार्थ की उत्पत्ति का तात्पर्य या गति या क्रिया से है। जब कोई क्रिया या गति होती है, तो एक निश्चित मात्रा में क्रिया करने के बाद उसका परिणाम होता है या किसी पदार्थ की उत्पत्ति होती है। काल गतिशील होता है। क्रियारम्भ से पदार्थोत्पत्ति तक का अनुमापक काल है। जैसे—शुक्रशोणित संयोग से मनुष्य की उत्पत्ति होनी है, तो शुक्रशोणित संयोग से शिशु के जन्म लेने तक की क्रियायें सुनिश्चित हैं। इन क्रियाओं का अर्थात् शुक्रशोणित संयोग से शिशु के जन्म लेने तक की क्रियाओं का अनुपामन कर कहा जाता है कि दो सौ सत्तर से दो सौ अस्सी दिनों में शिशु की

[14] मुक्तावली

उत्पत्ति हो जाएगी। यहाँ शिशु की उत्पत्ति के लिये नौ मास का काल आवश्यक या अपेक्षित है। यदि हम चाहें कि शुक्रशोणित का संयोग कराकर दो-चार घंटे या दो-चार दिनों में शिशु उत्पन्न कर दें तो यह सम्भव नहीं है; क्योंकि प्रत्येक क्रियाओं की मात्रा का अनुमापन कर दिया गया है तथा उस काल-मात्रा में क्रिया का होना आवश्यक है। जिस काल-मात्रा में जिस प्रकार से क्रिया होती है, उसका अनुमापक लक्षण काल होता है, अतः कहा जाता है कि चार सप्ताह में भ्रूण का यह विकास होगा, दसवें में यह होगा, छः मास में यह होगा आदि। इस प्रकार प्रत्येक वस्तु या पदार्थ के उत्पन्न होने में काल अपेक्षित होता है, अतः काल को सभी वस्तुओं या पदार्थों का जनक कहा गया है।

काल को यहाँ एक और संज्ञा औषाधिक अर्थात् उपाधियुक्त से भी अभिहित किया गया है, इसका तात्पर्य यह है कि काल तो एक ही है, जो निरन्तर गतिशील है; परन्तु अवधि अनुमापन बोध हेतु इसके नाम अलग-अलग होते हैं। यथा शीघ्रतम या सूक्ष्मतम क्रियाविधि को क्षणादि या कलादि से सम्बोधित किया जाता है अथवा अत्यधिक क्रियाओं (सूर्यक्रिया से अधिक सम्बन्ध रखने वाले) का अनुमापन कर युग, महायुगादि से सम्बोधित किया जाता है। लोक-व्यवहार में भी काल के औपाधिकत्व के आधार पर ही सूर्य क्रिया को मानक-बिन्दु मानकर कम सूर्यक्रिया से सम्बन्धित व्यक्ति को बालक, उसी व्यक्ति को पुनः युवा (जैसे सूर्यक्रिया को दोपहर या मध्य दिन कहते हैं), पुनः उसी व्यक्ति को वृद्ध कहा जाता है। इस तरह यहाँ जिस प्रकार से एक ही व्यक्ति को बालक, युवा, प्रौढ़, वृद्धादि के द्वारा सम्बोधित किया जाता है, उसी प्रकार काल एक ही है; परन्तु उपाधियुक्त होने से उसे अनेक संज्ञाओं द्वारा सम्बोधित किया जाता है।

शीतोष्णवर्षलक्षणाः पुनर्हेमन्तग्रीष्मवर्षासंवत्सरः स कालः । [15]

अर्थात् शीत, उष्ण एवं वर्षा लक्षण वाला तथा पुनः हेमन्त, ग्रीष्म, वर्षा, शिशिर, वसन्त, शरद आदि षड्ऋतु स्वरूप वाला जो संवत्सर होता है, उसे काल कहा जाता है।

कालः परिणाम उच्यते। कालस्य परिणामेन [16]
जरामृत्युनिमित्तजाः ।
रोगाः स्वाभाविका दृष्टाः स्वभावो निष्प्रतिक्रियः॥[17]

अर्थात् काल परिणाम को कहा जाता है। परिणाम की व्याख्या करते हुए आचार्य गङ्गाधर ने कहा है कि—परिणमयति भूतानीति परिणामः, परिणामहेतुत्वात् परिणाम उच्यते। अर्थात् समस्त प्राणियों का परिणमन करने के कारण काल को परिणाम कहते हैं या समस्त परिणामों का कारण काल होता है, अतः इसे परिणाम कहा जाता है। पुनः आचार्य कहते हैं-एष हि कालः सर्वाणि शुभाशुभानि कर्माणि परिणतस्य धर्माधर्मरूपेण परिणामसंज्ञ एव भवति। अर्थात् यह काल सम्पूर्ण धर्म- अधर्म रूप शुभ व अशुभ कर्म को काल परिणाम से परिणत कर भूतों, प्राणियों को किसी विशेष स्थिति में परिणत कर देता है। परिणाम को यहाँ दो अर्थ में ग्रहण कर समझा जा सकता है। प्रथम यह कि प्रत्येक क्रियाओं या शुभाशुभ कर्मों के परिणाम अर्थात् फल के द्वारा प्राणियों का परिणमन करता है। लोक-व्यवहार में क्रियाओं के फल को भी परिणाम

[15] **च. सू. ११/४२**
[16] च. सू. ११/४२
[17] च. शा. १।११५

कहा जाता है। प्रत्येक क्रियाओं का फल विशेष कालावधि में होता है। मुक्तावली में काल को समस्त पदार्थों का जनक कहा गया है। जब भी कोई क्रिया होती है, तो उसका फल अवश्य होता है। पदार्थजनन की क्रियाओं का ही परिणाम है, अतः गंगाधर ने 'परिणामहेतुत्वात् परिणामः' कहा है। अर्थात् यह प्राणियों के धर्म व अधर्मजन्य कर्मों का शुभ व अशुभ फल देने वाला होता है, इसलिये इसे परिणाम कहा जाता है। आचार्य गंगाधर के 'परिणमयति भूतानां' का तात्पर्य यह है कि यह प्राणियों में परिवर्तन लाने वाला होता है, अतः इसे परिणाम कहा जाता है। यहाँ परिणमन का अर्थ परिवर्तन होता है, जैसा कि चरकोक्त शारीरस्थान के श्लोक से स्पष्ट होता है कि- 'कालस्य परिणामेन जरामृत्युनिमित्तजाः' अर्थात् काल प्राणियों में परिवर्तन लाने वाला होता है। यथा जन्मकाल का नवजात कालक्रम से बालक, युवा, वृद्ध आदि रूपों में परिवर्तित होता है। इसी अर्थ में यहाँ कहा गया है कि काल के परिणाम से अर्थात् परिवर्तन किये जाने से बुढ़ापा, मृत्यु आदि होती है। इसे ही स्वभाव कहा जाता है, जिसमें किसी प्रकार से किसी क्रिया का प्रभाव नहीं होता है, अतः काल के द्वारा आये प्राणियों के परिवर्तन में किसी प्रकार की क्रिया नहीं की जा सकती है, वह अवश्यम्भावी होती है। इस प्रकार यहाँ काल की महानता का भी बोध होता है,

तस्य संवत्सरात्मनो भगवानादित्यो गतिविशेषेण निमेषकाष्ठाकलामुहूर्त्ताहोरात्र-पक्षमासर्त्वयनसंवत्सरयुगप्रविभागं करोति ।[18]

अर्थात् काल ही भगवान् है या ऐश्वर्ययुक्त है। यह काल किसी के द्वारा उत्पन्न नहीं होता है। इस काल का आरम्भ, मध्य या अन्त कब होगा, इसका ज्ञान किसी को भी नहीं है, अतः इसे भगवान् तथा 'स्वयम्भू' कहा गया है। यहाँ आचार्य सुश्रुत ने कहा है कि द्रव्यों में रसों का सम्यक् रूपेण रहना या उत्पन्न होना या विकृत रूप में उत्पन्न होना यह काल के अधीन होता है, इसी प्रकार प्राणियों का जीवन व मृत्यु भी काल के ही अधीन होता है।

भगवान् सूर्य अपनी गतिविशेष से उस संवत्सरात्मक काल का निमेष, काष्ठा, कला, मुहूर्त, अहोरात्र पक्ष, मास, ऋतु, अयन, वर्ष और युग-इस प्रकार का प्रविभाग करते हैं। यहाँ काल-ज्ञान हेतु मानक रूप में सूर्य को स्वीकार किया गया है।

अतीतादि के व्यवहार का जो कारण होता है, उसे काल कहा जाता है। अर्थात् इस सृष्टि के समस्त व्यवहार भूत, वर्तमान व भविष्यत् काल के आधार पर होते हैं, अतः इसे यहाँ अतीतादि समस्त व्यवहारों का कारण कहा गया है।

2.5 काल की सिद्धि

अधिक कालावधि के कारण पर अर्थात् ज्येष्ठत्व का व्यवहार तथा पर की अपेक्षा अल्पकालावधि के कारण अपर या कनिष्ठत्व के व्यवहार का कारण काल कहा जाता है, जो व्यक्ति सूर्यक्रिया से उत्पन्न दिन, पक्ष, मास, अयन, वर्ष, युग आदि का जितना ही अधिक उपभोग किये रहता है, उसे पर या ज्येष्ठा कहा जाता है और इसके विपरीत अल्पभोग किये हुए को अपर या कनिष्ठ कहा जाता है। इसका ज्ञान शरीरगत आये हस्त पादावयवों में या शरीरोपचय में आये परिवर्तनों या शैथिल्यादि द्वारा होता है।

[18] सु. सू. ६।३

इस प्रकार परत्वजनक बहुतर- रविक्रियाविशिष्ट- शरीरज्ञान-परम्परा सम्बन्ध- घटक 'सापेक्ष' ही होता है। वर्षादि की उत्पत्ति के मूल कारण सूर्य से संयुक्त काल के शरीर से होने वाले संयोग को परम्परा-सम्बन्ध कहा जाता है। इस प्रकार शरीर से सम्बन्धित घटल काल की सिद्धि होती है-

'परत्वजनकं बहुतररविक्रियाविशिष्टशरीरज्ञानमिदं परम्परासम्बन्धघटक- सापेक्षं, साक्षात्सम्बन्धाभावे सति विशिष्टज्ञानत्वात् लोहित स्फटिक इति प्रत्ययवत्। परम्परासम्बन्धश्च स्वसमवायिसंयुक्त संयोगः (स्वः रविक्रिया तत्समवायी रविः, तत्संयुक्तः कालः तत्संयोगः शरीरेणेति) तेन सम्बन्धघटकः 'काल' सिद्धयति।

इस प्रकार उपर्युक्त तथ्यों के आधार पर काल की सिद्धि होती है; क्योंकि काल प्रत्यक्षगम्य नहीं है, अतः इसकी विद्यमानता या इसके 'सत्तात्मक' पक्ष की सिद्धि अनुमान द्वारा होती है।

काल का औपाधिक रूपकाल को नित्य एवं एक माना गया है; परन्तु इसको औपाधिक कहा गया है। यहाँ औपाधिक का तात्पर्य यह है कि एक होते हुए भी अनेक उपाधियों से युक्त होता है। आचार्य सुश्रुत ने इसके औपाधिक स्वरूप में क्षण, कलादि, वर्ष, अयन आदि उपाधियों का समावेश होना कहा है। जिस प्रकार एक ही स्फटिक मणि में नीलादि उपाधियों के संसर्ग से नील स्फटिक, पीत स्फटिक आदि का व्यवहार किया जाता है, उसी प्रकार एक ही काल में विलक्षण क्रियाओं के कारण क्षण, लव, निमेषादि का व्यवहार किया जाता है। यहाँ जो स्फटिक मणि का उदाहरण काल के औपाधिकत्व प्रदर्शित करने के लिये दिया गया है, इस उदाहरण अर्थात् स्फटिक में और काल में किञ्चित अन्तर होता है।

सर्वकार्याणामारम्भक्रियाभिर्निर्वृत्तिस्थितिनिरोध उपाधिभेदान् मणिवत् पाचकपाठकबद्धा नानात्वोपचार इति।

“वह अन्तर यह है कि स्फटिक मणि का नीलत्व, पीतत्त्व आदि उपाधि का सम्बन्ध वास्तविक नहीं होता है; परन्तु काल की उपाधि में क्रियाओं का वास्तविक सम्बन्ध होता है।[19]

अर्थात् कार्यद्रव्यों में परत्वादि ज्ञान समान पाये जाने से तथा वास्तविक भेद के कारण के उपलब्ध न होने से 'सत्ता' की तरह यानि सत्तावान् रूप में काल एक होता है। कार्यद्रव्यादि के आरम्भादि क्रियारूप उपाधियों के भेद के द्वारा एक ही काल में आरम्भकाल, उत्पत्तिकाल, विनाशकाल आदि का भेद किया जाता है; परन्तु यह वास्तविक भेद नहीं होता, यह काल की उपाधि होती है। जैसे-किसी पुस्तक पढ़ने की क्रिया में संलग्न व्यक्ति को क्रियासम्बन्ध से पाठक की या किसी भोजन पकाने वाले व्यक्ति की भोजन-पाक की क्रिया से सम्बन्धित होने के कारण उसकी पाचक उपाधि होती है। वास्तव में व्यक्ति तो एक ही है। जैसे—एक ही व्यक्ति जब पठन या अध्ययन क्रिया से सम्बन्धित है, तो अध्यापक, जब घर आकर भोजन पकाता है, तो पाचक, जब आतुर की चिकित्सा करता है, तो वैद्य आदि उपाधियों से युक्त होता है, उसी प्रकार एक ही काल जब विभिन्न क्रिया या क्रिया के भिन्न-भिन्न अवस्थाओं से सम्बन्धित होता है, तो आरम्भकाल, उत्पत्तिकाल या विनाशकाल आदि उसकी उपाधि होती है।

2.6 काल का स्वरूप

भारतीय वाङ्मय में काल के दो स्वरूपों का उल्लेख प्राप्त होता है।

[19] प्रशस्तपादभाष्य

लोकानामन्तकृत् कालः कालोऽन्यः कलनात्मकः[20]

प्रथम इसका देवी या दार्शनिक रूप जिसे लोक-संहारक कहा गया है, एवं दूसरा जिसका लोक में गणना के लिए प्रयोग होता है।

इसे ही मैत्रायणी उपनिषद् में मूर्त एवं अमूर्त काल भी कहा गया है।[21] लोक- संहारक अथवा अमूर्तकाल का विशद विवेचन अथर्ववेद के प्रसिद्ध काल- सूक्त में आया है, जहाँ इसे एक अश्व के रूप में प्रतिपादित करते हुए विश्व का नियामक कहा गया है।[22]

कालो अश्वो बहति सप्तरश्मिः सहस्राक्षो अजरो भूरिरेताः । तमारोहन्ति कवयो विपश्चितस्तस्य चक्रा भुवनानि विश्वा ॥ सप्तचक्रान् वहति काल एष सप्तास्य नाभीरमृतं न्वक्षः । स इमा विश्वा भुवनान्यंजत् कालः स ईयते प्रथमो नु देवः ॥ पूर्णः कुम्भोऽधि काल आहितस्तं वै पश्यामो बहुधा नु सन्तः । स इमा विश्वा भुवनानि प्रत्यङ्कालं तमाहुः परमे व्योमन् ॥ स एव सं भुवनान्याभरत्स एव सं भुवनानि पर्येत् । पिता सन्नभवत्पुत्र एषां तस्माद्वै नान्यत्परमस्ति तेजः ॥ कालोऽमूं दिवमजनयत् काल इमाः पृथिवीरुत । काले ह भूतं भव्यं चेषितं हवि तिष्ठते ॥ कालो भूतिमसृजत काले तपति सूर्यः । काले ह विश्वा भूतानि काले चक्षुविपश्यति ॥ काले मनः काले प्राणः काले नाम समाहितम् । कालेन सर्वा नन्दन्त्यागतेन प्रजा इमाः ॥ काले तपः काले ज्येष्ठं काले ब्रह्म समाहितम् । कालो ह सर्वस्येश्वरो यः पितासीत् प्रजापतेः ॥ तेनेषितं तेन जातं तदु तस्मिन् प्रतिष्ठितम् । कालो ह ब्रह्मा भूत्वा विर्भात परमेष्ठिनम् ॥ कालः प्रजा असृजत कालो अग्रे प्रजापतिम् ।

स्वयंभूः कश्यपः कालात्तपः कालादजायत ।[23]
कालादापः समभवन् कालाद्ब्रह्म तपो दिशः ।
कालेनोदेति सूर्यः काले नि विशते पुनः ॥
कालेन वातः पवते कालेन पृथिवी मही ।
द्यौर्मही काल आहिता ॥

काल अश्व रूप है जो सप्तरश्मियों से युक्त, सहस्राक्ष, अजर एवं प्रचुर रेतस वाला है। इस पर कुशल विपश्चित् चढ़े हैं (जैसे कोई रथ पर चढ़ता हो) जिसके सभी भुवन चक्र हैं। यह सप्त चक्रों वाला एवं सप्त नाभिवाला कहा गया है, उसी ने यह भुवन बनाया है, वही सम्पूर्ण विश्व के चारों ओर घूमता है, वही पिता है, वही पुत्र बनाना है, उससे बढ़ कर कोई तेज नहीं। इसी से द्युलोक और इस पृथ्वी की उत्पत्ति हुई है। इसी में भूत, भविष्य और वर्तमान समाहित हैं । काल से ही सूर्य तपता है, चक्षु देखती है। इसी में मन, प्राण एवं नाम समाहित हैं। यही सब का ईश्वर और प्रजापति है। यही ब्रह्मा बनकर प्रजापति को धारण करता है। इस काल ने प्रजाओं का सृजन किया, प्रारम्भ में इसने प्रजापति को बनाया । स्वयंभू कश्यप और तपस् उससे उत्पन्न हुए। काल में ही आपः, तपस, दिशाएं, सूर्य का उदय-अस्त, वायु, पृथ्वी, द्यौस्, ऋक्, यजुष्, यज्ञ, अप्सरस्, गन्धवं एवं लोक आदि प्रतिष्ठित हैं। काल में ही यम, अङ्गिरा एवं देव अथर्वन् प्रतिष्ठित हैं। इस लोक परलोक, पुण्यलोक, एवं सभी लोकों को जीतकर यह काल परम देवत्व

---

[20] सूर्य सि० १।१० । ६

[21] मै० उप०, ६।१४

[22]

[23] अथर्व० १९।५३।१-१०।

को प्राप्त कर रहा है।"

श्वेताश्वतर उपनिषद् में काल को जगत् का कारण बताया गया है।[24]

कालः सृजति भूतानि कालः संहरते प्रजाः । संहरन्तं प्रजाः कालं कालः शमयते पुनः ॥ कालो हि कुरुते भावान् सर्वलोके शुभाशुभान् ।

कालः संक्षिपते सर्वाः प्रजा विसृजते पुनःकालः सुप्तेषु जार्गात कालो हि दुरतिक्रमः ॥[25];

काल के संहारक स्वरूप का संकेत महाभारत में मिलता है, जहाँ इसे प्रजाओं को उत्पन्न करने वाला, संहार करने वाला, सभी शुभाशुभ भावों का कर्ता, सदा सुप्तों में भी जागने वाला एवं दुरति- क्रम कहा गया है। मनुस्मृति में काल एवं कालविभागों को परमात्मा द्वारा उत्पन्न बताया गया है'।[26] गीता में भगवान् श्रीकृष्ण ने अपने को लोकों का क्षय करने वाला काल बताया है।[27] "पुराणों में काल के इस रूप का अनेकशः वर्णन प्राप्त होता है। वायु में इसे चतुर्मूर्ति, चार मुख एवं चार दंष्ट्रा वाला कहा गया है, जो लोकसंरक्षणार्थं सबका अतिक्रमण करता है। इसके लिए कोई वस्तु असाध्य नहीं। वहीं भूतों को उत्पन्न करता है एवं वही इनका संहार करता है। सभी भूत काल के वशीभूत हैं। काल किसी वश में नहीं है।इसलिए सभी भूतों को काल कदलित करता है ।

कूर्म एवं विष्णुधर्मोत्तर पुराणों में काल-रूपी परमात्मा को अनादि, अनन्त, अजर और अमर कहा गया है, जो सर्वस्वतन्त्र एवं महेश्वर है।[28]

इसके अतिरिक्त दार्शनिक ग्रन्थों जैसे वैशेषिकसूत्र, योगसूत्र, न्यायसूत्र, न्यायमंजरी, में भी काल-विवेचन पाया जाता है,

दार्शनिक दृष्टि से बौद्धों और जैनों ने भी काल के स्वरूप पर विचार किया है। बौद्धों के विचार से काल की स्वतन्त्र सत्ता नहीं है, क्योंकि यदि काल आदि-अन्त से रहित है तो उसमें निकट और दूर इत्यादि का भेद संभव नहीं। इस प्रकार समय कोई वस्तु नहीं अपितु केवल विचार है

जैन दर्शन में 'काल को एकमात्र अनस्तिकाय द्रव्य माना गया है। काल की सत्ता अनुमान के आधार पर स्वीकार की जाती है। वर्तना (स्थिति की निरन्तरता), परिणाम (परिवर्तन), क्रिया तथा परत्व और अपरत्व अर्थात् पूर्व और अपर, तब और अब, प्राचीन और नवीन, ज्येष्ठ और कनिष्ठ आदि व्यवहार काल की सत्ता के कारण सम्भव हैं। काल के दो भेद माने गये हैं— व्यावहारिक काल जो घटी, पल, दिन, मास, वर्ष आदि अवयवों की कल्पना से युक्त है तथा द्रव्यों के परिणाम, क्रिया, परत्व और अपरत्व का कारण है; तथा पारमार्थिक काल को नित्य, निरवयव और अखण्ड है तथा जो वर्तना अर्थात् स्थिति की निरन्तरता का कारण है।' [29]

"आकाश के समान काल भी यह रूप या स्पर्श आदि गुणों से वैशेषिक दर्शन का एक नित्य

---

[24] श्वे० उ० १।१ २ ।

[25] महा० अदि० १।२४८-२५०, स्त्री पर्व २।२४, शान्ति पर्व २२१।४१, २०६।१३ ।

[26] मनु० १।२४ ।

[27] गीता ११।३२

[28] कूर्म० ११५।२३; विष्णु ० ११२।२६ ।

[29] चन्द्रधर शर्मा,भारतीय दर्शन आलोचन औरअनुशीलन ,मोतीलालबनारसीदास, 1995, पृ०40

तथा व्यापक सम्पन्न न होने के कारण हमारे प्रत्य विषय नहीं हो पाता। इसलिए काल की सत्ता को सिद्ध करने के लिए अनुमान प्रमाण की आवश्यकता है। अनुमापक हेतुओं के रूप में वैशेषिक दर्शन में परत्व और अपरत्य (Priority and Posteriority) की, योगपद्य पौर्वापर्य (Succession) की, शीघ्रता - क्षिप्रत्व और विलम्ब - चिरत्व को धारणाओं को प्रस्तुत किया गया है। दिन, रात्रि, मास, ऋतु आदि के व्यवहारों को भी काल का अनुमापक माना गया है।[30]

2.7 काल के भेद

काल एक होता है; परन्तु औपाधिक रूप से इसके अनेक भेद होते हैं। इस काल में-तस्य गुणाः संख्यापरिमाण-पृथक्तव-संयोग-विभागाः (प्रशस्तपाद) गुण होते हैं। अतः एक होते हुए अनेक विभागों या भेदों से उपाधित किया जाता है। आचार्य सुश्रुत ने काल के औपाधिक भेद के कारण 'सूर्य' को स्वीकार किया है। उनका कहना है कि-

> **'तस्य संवत्सरात्मनो भगवानादित्यो गतिविशेषेण काष्ठाकलामुहूर्त्ता-होरात्रपक्षमासर्त्वयनसंवत्सरयुगप्रविभागं करोति।**

अर्थात् भगवान् सूर्य इस काल में अपनी गतिविशेष के द्वारा १. काष्ठा २. कला ३. मुहूर्त ४. अहोरात्र ५. पक्ष ६. मास ७. ऋतु ८. अयन ९. वर्ष १०. युग-आदि विभाग करते हैं। इस प्रकार उदाहरणार्थ आचार्य सुश्रुत ने यहाँ सूर्य की गतिविशेष के आधार पर काल का दस भेद किया है। इसका तात्पर्य यह नहीं है कि औपाधिक रूप से काल के इतने ही भेद या प्रविभाग हैं। यहाँ उपर्युक्त प्रविभाग उदाहरणार्थ प्रस्तुत किया गया है, जिसका लोक में व्यवहार किया जाता है। आचार्य चरक ने भी कहा है कि-

> **कालः पुनः संवत्सरश्चातुरावस्था च। तत्र संवत्सरो द्विधा त्रिधा षोढा द्वादशधा भूयश्चाप्यतः प्रविभज्यते तत्तत्कार्यमभिसमीक्ष्य।**[31]

अर्थात् काल संवत्सर और आतुरावस्था इस भेद से दो प्रकार का होता है। इसमें संवत्सर अयन भेद से दो प्रकार का, शीत, उष्ण तथा वर्षा भेद से तीन प्रकार का, ग्रीष्मादि ऋतु भेद से छः प्रकार का, पक्ष भेद से चौबीस प्रकार का तथा प्रहरादि भेद से अनेक प्रकार का होता है। आतुरों में यह पुनः काल, अकाल भेद से दो प्रकार का होता है। जैसे— कहा जाता है कि इस अवस्था में आतुर के लिये यह औषध काल है, तो यह आतुर के लिये काल कहा जाता है तथा जब कहा जाता है कि यह काल नहीं है, तो उसे अकाल कहा जाता है। चरकानुसार कालभेद

2.8 कलनात्मक या मूर्त काल

द्वे बाव ब्रह्मणो रूपे कालश्चाकालश्चाथ यः प्रागादित्यात्सोऽकालो य आदित्याथः स कालः।[32]

मैत्रायणी उपनिषद् में ब्रह्म के दो रूप बताए गए हैं, (१) अकाल और (२) काल। जो सूर्य से परे है उसे अकाल एवं सूर्य से जो संबन्धित हैं, उसे काल कहा गया है'। इस काल से ही लोक

---

[30] डॉ० नन्द किशोर देवराज, भारतीय दर्शन, उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ

[31] च. वि. ८।१२५

[32] मै० उ० ६।१४-१५।

व्यवहार चलता है।

स द्विधा स्थूलसूक्ष्मत्वान् मूर्तश्चामूर्त उच्यते ।[33]

यह मूर्तकाल भी व्यवहार भेद से स्थूल एवं सूक्ष्म अथवा मूर्त एवं अमूर्त होता है। यही भेद तैत्तिरीय आरण्यक में अणु एवं महत् नाम से पठित है।[34]

एवं कालोऽप्यनुमितः सौक्ष्म्ये स्थौल्ये च सत्तम ।
संस्थानभुक्त्या भगवान् अव्यक्तो व्यक्तभुग् विभुः

ठीक यही विभाग श्रीमद्भागवत में भी आया है ।[35] काल के प्राण आदि विभाग जिनका लोक में व्यवहार होता है मूर्त या स्थूल हैं, एवं त्रुटि आदि जो अव्यवहार्य हैं वे अमूर्त काल कहे गये हैं'।

जैन ग्रन्थ जम्बूदीव-पण्णत्ति में काल के व्यवहार और परमार्थ दो भेद बताए गये हैं। व्यवहार-काल मनुष्य-लोक में और परमार्थकाल सर्वलोक में पाया जाता है। दूसरा भेद संख्येय और असंख्येय या अनन्त रूप में मिलता है।[36] गणना के योग्य काल को संख्येय और गणना से रहित असंख्येय काल होता है। यह संख्येय और असंख्येय नामक दोनों विभाग उक्त मूर्त और अमूर्त काल के समान ही हैं।

उक्त दोनों प्रकार के काल की उत्पत्ति सूर्य से बतायी गई।[37] काल- मान ग्रह-गति के अनुसार है एवं नक्षत्र, ग्रह तथा चन्द्रमा की प्रतिष्ठा एवं योनि सूर्य ही है।

क्षणामुहूर्ता दिवसा निशा पक्षाश्च कृत्स्नशः ।
मासाः संवत्सराश्चैव ऋतवोऽब्द युगानि च ॥
तदादित्यादृते तेषां कालसंख्या न विद्यते ॥[38]

अतः सूर्य के अभाव में क्षण, मुहूर्त, दिवस, निशा, पक्ष, मास, संवत्सर, ऋतु एवं युगादि काल संख्याओं का अस्तित्व ही संभव नहीं है । सूर्य की गति विशेष से ही निमेष, काष्ठा, कला, युग आदि, विभाग होता है। संख्येय और असंख्येय काल कर्म-भूमि में सूर्य की गति से देखा जाता है।

2.9 कालमान

यद्यपि कालमानों का विकास-स्तर भिन्न-भिन्न कालों में विभिन्न रूपों में हुआ है, पुराणों के काल तक इस व्यावहारिक काल की सूक्ष्मतम एवं बृहत्तम सीमाएँ अणु, परमाणु एवं निमेष से लेकर द्विपरार्ध तक पहुँच गयीं थीं, जिसे परम और महान् काल भी कहा गया है।" निमेष से वत्सर पर्यन्त, यह काल की एक ईकाई थी, जिसका मुख्य रूप से वर्णन वैदिक काल से लेकर कौटिल्य के काल पर्यन्त तक मिलता है। युगों की इकाई भी इस काल तक पल्लवित हो चुकी

---

[33] सूर्य सि० १।१० ।
[34] तै० आ० १।१२
[35] भाग०, ३।११।३;
[36] जं० प० १३०१-३
[37] मे० उ० ६।१४ ।
[38] वायु० ५३।३८-३९ ।

थी किन्तु इसका सुनिश्चित मान सर्वत्र एक समान नहीं था । "निमेष" नामक काल मान वाजसनेयि संहिता में पठित है । “बृहदारण्यक में निमेष, मुहूर्त, अहोरात्र, अर्धमास, मास, ऋतु, एवं संवत्सर नामक काल मान उल्लिखित हैं।[39] क्षण, लव, मुहूर्त, दिवस, रात्रि, अर्धमास, मास, ऋतु, संवत्सर और युग तक का विभाग महाभारत में भी मिलता है।[40]

त्रुटो लबो निमेषः काष्ठा कला नाडिका मुहूर्तः पूर्वापरभागौ
दिवसो रात्रिः पक्षो मासऋतुरयनं संवत्सरो युगमिति कालाः[41]

कौटिल्य ने कालाक्यत्रों को त्रुट, लव, निमेष, काष्ठा, कला, नाडिका, मुहूर्त, दिवस (पूर्वापर), रात्रि, पक्ष, मास, ऋतु, अयन, संवत्सर एवं युग में विभक्त किया है।

पुराणों में ब्रह्मा द्वारा लव, काष्ठा कला, मुहुर्त, रात-दिन, सन्धि, अर्धमास, मास, अयन, अब्द और युगोंवाली युगव्यवस्था के निर्माण किए जाने का उल्लेख प्राप्त होता है।

तत्र ग्रहगणिते पौलिशरोमकवासिष्ठसौरपैतामहेषु पंच स्वेतेषु सिद्धान्तेषु युगवर्षा- यनर्तुमासपक्षाहोरात्रयाममुहूर्त नाडीप्राणत्रुटित्र्युट् याद्यवयवादिकस्य क्षेत्रस्य च वेत्ता ।[42] ।

कालगणना की दूसरी बृहत्तम इकाई पुराणों और ज्योतिष सिद्धान्त ग्रन्थों में, बृहत्संहिता एवं वैशेषिक सूत्र के प्रशस्त पाद भाष्य में युग, मन्वन्तर, कल्प एवं प्रलय आदि रूपों में उल्लिखित है ।[43]

जैन ग्रन्थ 'जम्बूदीव पण्णत्ति' में “काल के समय, अवली, उच्छवास, स्तोक, लव, नाली, मुहूर्त, दिवस, मास, ऋतु, अयन, वर्ष और युगतक विभाग मिलता है।“ [44]

पौराणिक युग में काल के सूक्ष्म और स्थूल दोनों भेदों लव, काष्ठा, कला, मुहूर्त, सन्धि, रात्रि, दिन अर्धमास, मास, अयन, युग आदि' का पूर्ण संग्रह अधिकांश पुराणों में प्राप्त होता है।" बायु और भागवत पुराण में काल के पूर्ण अवयवों का चित्रण दो विशिष्ट परंपराओं में प्राप्त होता है। वायु पुराण के अनुसार निमेष काल का सबसे छोटा अथव है, जिसे एक लघु अक्षर के उच्चारण-काल तुल्य बताया गया है।

निष से भी सूक्ष्म कल के लव, वेध, त्रुटि, त्रसरेणु, अणु और परमाणु आदि विभाग भागवत पुराण' में पठित हैं। इनमें अणु और परमाणु तो अदृश्य हैं किन्तु त्रसरेणु के बाद के विभाग दृश्य हैं। सामान्यतया १५ निमेष=काष्ठा, ३० काष्ठा = कला, ३० कला = मुहूर्त और ३० मुहूर्त का एक अहोरात्र पठित है। दिव्यावदान में दो अक्षिनिमेषलव, ८ लव = काष्ठा, १६ काष्ठा = कला कला, ३० कला= नाडिका, २ नाडिका = मुहूर्त एवं ३० मुहूर्त का अहोरात्र कहा गया है।[45]

---

[39] वृ० उ० ३१८१९

[40] महा०, सभापर्व ११।३७-३८

[41] अर्थशास्त्र २/२०१४१

[42] वृ० सं० २।३

[43] प्रशस्तपादभाष्य, वैशेषिक सू० २।२।२६

[44] जं० प० १३।५-१५।

[45] दिव्यावदान (३३) शार्दूलकर्णावदान, पृ० ३३७, वैद्यसंस्करण।

2.9.1 पितृसंवत्सर

मानव काल गणना का एक मास पितरों का एक अहोरात्र होता है । कृष्णपक्ष इनका दिन एवं शुक्ल पक्ष रात्रि होती है। तीस मानव मातों का एक पितृमास एवं ३६० मानव मासों का एक पितृसंवत्सर होता है।[46] मनुष्यों के एक सौ वर्ष पितरों के ३३ वर्ष के तुल्य होता है।

2.9.2 दिव्य संवत्सर

लौकिक मान से मनुष्यों का एक वर्ष दिव्य अहोरात्र, अर्थात् देवताओं का एक दिन-रात कहा गया है। उत्तरायण देवों का दिन और दक्षिणायन उनकी रात्रि होती है। तीस मानव वर्षों का एक दिव्यमास एवं सौ मानव वर्षों के ३३ दिव्यमास होते हैं। ३६० मानव वर्षों का दिव्य- संवत्सर (देव वर्ष) होता है' [47]

2.9.3 सप्तर्षिवत्सर

त्रीणि वर्षसहस्राणि मानुषेण प्रमाणतः ।त्रिंशद्यानि तु वर्षाणि मतसप्तर्षिवत्सरः ।

मानव-वर्ष प्रमाण से तीन हजार तीस वर्षों का एक सप्तर्षिवत्सर कहा गया है।[48]

2.9.4 क्रौंचवत्सर

नव यानि सहस्राणि वर्षाणां मानुषाणि तु ।
अन्यानि नवतिश्चैव क्रौंचः संवत्सरः स्मृतः ॥

नौ हजार नब्वे (९०९०) मानव वर्षों का एक क्रौंचवत्सर कहा गया है । लिङ्ग, ब्रह्माण्ड और मत्स्य पुराण में इसे धौव संवत्सर कहा गया है ।[49]

इसके पश्चात् छत्तीसहजार (३६०००) मानववर्षों का एक शत दिव्य- वर्ष एवं तीन लाख साठ हजार (३,६००००) मानव वर्षों का एक सहस्र दिव्यवर्ष होता है। ये सब दिव्य गणना के अङ्गभूत कालमान हैं।

2.9.5 युग

भारत वर्ष में कृत, त्रेता, द्वापर और कलि नामक चार युग बताये गये हैं'। इनके वर्ष-परिमाण दिव्य और मानव दोनों मानों में पठित हैं। इस प्रकार १२००० दिव्यवर्षी या ४३२०००० मानवर्षो का एक चतुर्युग बताया गया है-

दिव्यवर्ष

चत्वारि भारतेवर्षे युगानि ऋषयो विदुः ।
पूर्व कृतयुगं नाम ततस्त्रेता विधीयते ।।
द्वापरश्च कलिश्चैव युगान्येतान्यकल्पयत् ॥ [50]

---

[46] . वायु० ५७।१०-११।
[47] वायु० ५७।१२-१६; तु० लिग० ४।१४-१९।
[48] वायु० ५७।१७
[49] वायु० ५७। १८; ब्रह्माण्ड ०
[50] वायु० ५७।२२, ब्रह्माण्ड० २।२९।२३-२४।

१- कृतयुग = ४८००

२- त्रेता युग = ३६००

३- द्वापरयुग=२४००

४- कलियुग=१२००

योग = १२०००

मानववर्ष

४८ × ३६० = १७२८०००

३६०० x ३६० = १२९६०००

२४०० x ३६०८६४०००

१२०० ४३६० = ४३२०००

४३२००००

युगों का यह मान संध्या और संध्यांश-युक्त है।

मन्वन्तर

यह पौराणिक एवं स्मृति ग्रन्थों में उल्लिखित कालगणना प्रणाली में काल की एक इकाई है, जिसका मान ७१ चतुर्युगों के बराबर कहा गया है । चौदह मन्वन्तरों का एक कल्प होता है' । विष्णु पुराण में इन चौदह मनुओं के नाम इस प्रकार पठित हैं-स्वायंभुव, स्वारोचिष, उत्तम, तामस, रैवत, और चाक्षुष-ये छः मनु व्यतीत हो चुके हैं। सातवाँ वैवस्वत मनु चल रहा है। सार्वाणक, दक्षसार्वाणिक, ब्रह्मसार्वाण, रुचि एवं भौम नामक मनु भविष्य में होंगे।[51] इनमें होने वाले सप्तर्षियों, इन्द्रादि देवता एवं मनु-पुत्रों का भी उल्लेख मिलता है। मन्वन्तर सम्बन्धी यह वर्णन अन्यत्र पुराणों में भी देखा जा सकता है।

एक ब्राह्मकल्प में १४ मन्वन्तर होते हैं अर्थात् एक मन्वन्तर में सामा चतुर्युग x १००० न्यत: - चतुर्युग x ७१ = ४३२०००० X ७१ = ३०६७२००० मानववर्ष या (१२००० x ७१) = ८५२०००० दिव्यवर्ष होते हैं। इसके अति- रिक्त अन्य पुराणों में विभिन्न प्रकार के मान पठित हैं जो काल के विविध प्रचलित रूपों के मान के कारण वर्णित हैं। मत्स्य पुराण में ३११०३२८८०, १/२ मानववर्ष तथा दिव्य प्रमाण से १४०००० वर्ष, अर्थात् १४०००० x ३६० = ५०४,००,००० मानववर्ष इसका मान पठित है' । वायु पुराण के अनुसार यह संख्या कई प्रकार की दी गई है--प्रथम (१) २८००००००० वर्षो का एक मन्वन्तर कहा गया है तथा १४ मन्वन्तरों का काल ३९२०७०८००० वर्ष दिये गये हैं किन्तु यदि इसे १४ से विभक्त करें तो लब्धि २८००५०५७१+३/७ आती है, जिसके अनुसार पहले दिए हुए मान से ५०५७१+३/७ वर्षों का का अन्तर आता है । दूसरे उद्धरण के अनुसार तीन प्रकार के मान पठित हैं :- (१) कल्पार्ध = ७ मन्वन्तर= २८६२७००००००० वर्ष, अतः एक मन्वन्तर = २८६२७०००००००।७ = ४०८९५७१४२८४/७ वर्ष, (२) सात मन्वन्तर = १७८९२००००० अतः मन्वन्तर = १७८९२०००००। ७ = २५५६००००० वर्ष, आगामी सप्त मन्वन्तर = ६६४८००० जो दिव्य वर्ष प्रतीत होते हैं और यदि ये दिव्य हैं तो मन्वन्तर = ६६४८०००। ७ = ९४९७१४, २/

51 -विष्णु० ३।१।६-७, ३।२।१-४४॥

७३६०= ३४१८९१०२ ९ वर्ष के बराबर होता है। [52]

2.9.6 कल्प

कालमान की इस इकाई का सामान्यतया व्यवहार महाभारत, पुराणों एवं बाद के ज्योतिष के सिद्धान्त ग्रन्थों में हुआ है। कल्प शब्द की प्रारम्भिक छाया ऋग्वेद में पाई जाती है, जहाँ (ब्रह्मा) सृष्टिकर्ता प्रजापति द्वारा सूर्य, चन्द्र, पृथिवी एवं अन्तरिक्ष को पूर्व की ही भाँति बनाए जाने का उल्लेख है।[53] अभिलेखीय साक्ष्यों के सन्दर्भ में 'कल्प' का सर्वप्रथम उल्लेख अशोक के चतुर्थ (गिरनार एवं काल सी) एवं पंचम (शहबाजगढ़ी एवं मानसेरा) शिलालेखों में प्राप्त होता है। उक्त शिलालेखों में कल्प का प्रयोग प्रतिसर्ग के अर्थ में किया गया है जब सर्वनाशक अग्नि संवत प्रकट होगी। अमर कोष में संवर्त, प्रलय, कल्प, क्षय और कल्पान्त एक दूसरे के पर्याय कहे गये हैं।[54] महाभारत और मनुस्मृति में युगों के मान हैं। महाभारत में तो केवल १२००० वर्षों की एक युगाख्या कही है, जिसका सहस्रगुना ब्रह्मा का दिन कहा गया है। यहाँ कल्प शब्द का प्रयोग नहीं है।

यहाँ द्वादश सहस्र देवयुगों का ७१ गुना एक मन्वन्तर एवं सहस्रगुना ब्रह्मा का दिन होता है, इससे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि कल्पादि बड़े-बड़े मान ई० पू० ३ शताब्दी के पहले उद्भूत हो चुके थे। बौद्धों में भी कल्प का सिद्धान्त स्वीकृत हो चुका था जैसा महापरिनिर्वाण सुत्त, २/५३ से स्पष्ट है। "धर्मसंग्रह नाम बौद्ध ग्रंथ में अन्तर- कल्प, महाकल्प, शून्यकल्प, सारकल्प, संवर्तकल्प एवं निवर्तकल्पों का उल्लेख है।"[55]

कल्पावधि

इस बात का उल्लेख है कि वर्तमान कल्प के पूर्व का कल्प मन्वन्तरों सहित चार सहस्रयुग वर्षो का था। इससे कल्प की अवधि एक सहस्र चतुर्युग ज्ञात होता है। सूर्य-सिद्धान्त में कल्प को ब्रह्मा का दिन कहा गया है, जो सहस्रयुगों (महायुगों = चतुर्युग) परिमाणवाला और भूत-संहारक होता है। इतनी ही बड़ी ब्रह्मा की रात्रि भी होती है। ठीक यही परिभाषा पुराणों में भी पठित है। वायु पुराण एवं लिंग पुराण में कल्पार्ध में २८६२ करोड़ ७० नियुत (२८६२७०००००००) वर्ष बताये गये हैं।

सामान्यतया एक सहस्र कल्पों का ब्रह्मा का एक वर्ष होता है' ।चतुर्युगों का एक मन्वन्तएवंचौदह मन्वन्तरों का काल कल्प होता है।[56]

एक सहस्र चतुर्युगों का एक कल्प होता है। एक हजार युगाख्य (जिसमें सभी मन्वन्तर सम्मिलित हैं) के दो बार व्यतीत होने पर कल निःशेष हो जाता है। इस प्रकार यहाँ पर दो हजार युगाख्याओं क एक कल्प कहा गया है। पर यह कल्प ब्रह्मा का दिन और रात दोन ज्ञात होता है, क्योंकि एक सहस्र युगाख्या= ४३२००००×१०००= ४३२००००००० वर्षों की होती है, और दो सहस्र युगाख्या ४३२०००, × २०००=८६४००००००० वर्षों के होगी, जो ब्रह्मा के दिन और रा का मान है

[52] वायु० २१।१४-२१

[53] ऋ० १०।१९०१३

[54] अमरकोष, कालवर्ग ४१२२, निर्णयसागर संस्करण, १९४४ ई०।

[55] बुद्धिष्ट हाइब्रिड संस्कृत डिक्शनरी, पृ० १७२; हि० धर्म०, जि० ५, भाग १, पृ० ६८५।

[56] मत्स्य० १४१; ३५-३६ तु०

शतानां च सहस्राणि दशद्विगुणितानि च। नवतिश्च सहस्राणि तथैवान्यानि यानि तु॥ कोटी शतानि चत्वारि वर्षाणि मानुषाणि तु। द्वात्रिंशच्च तथा कोट्यः संख्याता संख्यया द्विजैः।[57]

ब्राह्म दिन का मान ४३२०००००००० वर्ष बताया गया है'। पुराणों में कल्पों के विषय में सामान्यतया इसी तरह का वर्णन प्राप्त होता है !कल्प के मान का उल्लेख करते हुए अलबेरूनी ने कहा है कि इसमें १५,७७९,१६,४५०,००० सावनदिन या ४,३२०,०००,००० सौर वर्ष, या ४,४५२, ७७५,००० चान्द्रवर्ष होते हैं। सावनवर्ष प्रमाण से इसमें ४३८३१०१२५० वर्ष या १२०००,००० दिव्य वर्ष होते हैं। उसने आर्यभट प्रथम और पुलिश के भी मत का उल्लेख किया है, जो कल्प में १००८ चतुर्युग एवं मन्वन्तर में ७२ चतुर्गुग मानते हैं, जिसमें संध्या और सध्यांश नहीं होते।[58] इसलिए इनके मत से एक कल्प में १२०९६००० दिव्य वर्ष या ४३५४५६०००० मानव वर्ष होते हैं। आर्यभट के अनुसार एक चतुयुंग में १,५७७,९१७,५०० दिन, जो पुलिश के मत की अपेक्षा ३०० दिन कम हैं एव एक कल्प में १,५९०,८४०,००० दिन होते हैं। पुलिश और आर्यभट के अनुसार चतुर्युग और कल्प का आरम्भ आधी रात से होता है। पुलिश के ग्रन्थ लिखने के समय तक ब्रह्मा के एक नये कल्प के ८ वर्ष, ५ मास एवं चार दिन व्यतीत हो चुके थे। उन्होंने ब्रह्मा के ६०६८ कल्पों का उल्लेख किया है। चूंकि उनके मत से एक कल्प में १००८ चतुर्युग होते हैं अतः इससे गुणित करने पर ६०६८ × १००८=६, ११६,५४४ चतुर्युग होते हैं। चार से गुणित कर युगों की संख्या २४,४६६, १७६ प्राप्त होती है। पुनश्च, एक युग में १०८०,००० वर्ष होते हैं अतः इससे गुणा करने पर २६,४२३,४७०,०८०,००० वर्ष ब्रह्मा के इस वर्तमान कल्प के पूर्व व्यतीत हो चुके हैं। कुसुमपुर के आर्यभट जो आर्यभट प्रथम के संप्रदाय के हैं, वे भी १००८ चतुर्युगों का ब्रह्मा का एक दिन मानते हैं। वे इस दिन के प्रथम अर्ध, अर्थात् ५०४ चतुर्युगों के काल को उत्सर्पिणी जब सूर्य का उत्कर्ष होता है एवं द्वितीय अर्ध को अवसर्पिणी जब सूर्य नीचे उतरता है नामक काल से अभिहित करते हैं।[59]

वायु पुराण में ब्रह्मा के बीते हुए २८ कल्पों के वर्णन करने की प्रतिज्ञा की गई है। उनके नाम इस प्रकार हैं-

भव, भुव, तपस् भव, रम्भ, ऋतुकल्प, ऋतु, वह्नि, हव्यवाहन, सावित्र्य, भुव, उशिक, कुशिक, गन्धर्व, ऋषभ, षडूज, मार्जालोय, मध्यम, वैराजक, निषाद, पंचम, मेघवाहन, चिन्तक, आकूति, विज्ञाति, मनस्, भाव और बृहत्।[60] इनके अतिरिक्त श्वेतलोहित, रक्त, पीतवाससु, सित और विश्वरूप नामक कल्पों के नाम भी पठित हैं। श्वेतवाराहकल्प, जो अब चल रहा है और इसके पूर्व के पद्म नामक कल्प का अन्यत्र उल्लेख प्राप्त होता है। ब्रह्मवैवर्त में ब्राह्म, वाराह, और पाद्म नामक तीन कल्पों का उल्लेख है। कल्पों के नामों की कुछ भिन्न सूची मत्स्य पुराण में भी पाई जाती है, जहां इनकी संख्या ३१ गिनाई गई है।[61] ब्रह्माण्ड पुराण में कल्पों की

---

[57] वायु० १००।२३१-३२

[58] अल्बेरुनीज इण्डिया, जि० १, पृ० ३६८।

[59] . वही, पृ० ३७०-७१

[60] गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी, पुराण परिशीलन, पृ० २०९-२१७

[61] मत्स्य० २९०।२-१२

संख्या ३५ बताई गई है, न न्यून न अधिक, पर यहाँ नाम निर्देश नहीं है।[62]

पर एवं परार्ध

ब्रह्मा की आयु दो परार्ध की कही गई है। प्रतिसर्ग काल के प्राप्त होने पर ब्रह्मा का उपशमन हो जाता है'। परार्ध की संख्या का निरूपण करते हुए ब्रह्माण्ड पुराण में एक से परार्ध पर्यन्त की संख्याएँ इस प्रकार दी गई हैं--एक, दश, शत, सहस्र, अयुत (दशसहस्र), नियुत (एकशतसहस्र), प्रयुत (दशशतसहस्र), कोटि (दशसहस्र अयुत), अर्बुद (दशकोटि), अब्ज (एक सौ कोटि), खवं (एक सहस्रकोटि), निखर्व (दशकोटि सहस्र), शङ्क (एक सहस्रकोटि), पद्म (सहस्र सहस्र कोटि), समुद्र (सहस्र सहस्र दश- कोटि), अन्त्य (कोटिसहस्र नियुत), मध्य (कोटिसहस्र प्रयुत), परार्ध (कोटिसहस्र कोटि), एवं परार्ध का दुगुना पर कहा गया है'। परार्ध तक की यह संख्या यजुर्वेद में भी है।

2.9.7 नौ प्रकार के कालमान

ज्योतिष संहिताओं एवं सिद्धान्तग्रन्थों में मानव के व्यवहारार्थं नौ प्रकार के कालमान बताये गये हैं

ब्राह्मं देवं मानुषं च पित्र्यं सौरं च सावनम् । चान्द्रमाक्षं गुरोर्मानमिति मानानि वे नव ॥[63] ब्राह्म, देव, पित्र्य, प्राजापत्य, गौरव, सौर, सावन, चान्द्र और नाक्षत्र किन्तु व्यवहारतः सौर, चान्द्र, सावन और नाक्षत्र चार प्रकार के ही मान प्रचलित बताये गये हैं। कहीं पाँच मानों के प्रयोग का भी उल्लेख है। पुराणों में केवल उक्त चार मानों का ही संकेत मिलता है'। भास्कराचार्य ने भी मुख्यतया इन चारों का ही संकेत किया है।

ब्राह्ममान

ब्रह्मा से संबन्धित कालमान को ब्राह्ममान कहा जाता है। ब्रह्मा का एक दिन कल्प कहा जाता है ।[64]

देवमान

मानव मान से बारह मासों का एक देव दिन होता है ।[65]

पित्र्यमान

तोस तिथियों का एक चान्द्रमास होता है, जो पितरों का एक दिन होता है। इसमें कृष्ण पक्ष इनका दिन भाग एवं शुक्ल पक्ष रात्रि भाग होता है ।[66]

प्राजापत्यमान

मन्वन्तर व्यवस्था संबन्धो कालमान ही प्राजापत्य है, जो चारों युगों का ७१ गुना कहा गया है। इसमें दिन-रात का विभाग नहीं व्यवहृत होता ।[67]

---

[62] ब्रह्माण्ड० २।३१।११९

[63] नारद सं० ३।१; तु० सूर्य सि० १४।१ ।

[64] सूर्य सि० १२० ।

[65] सूर्य सि० ११३ ।

[66] वही, १४।१४

[67] वही, १४।२१

गौरवमान

मध्यमगति से एक राशि पर भोग करने में गुरु को जितना समय लगता है वह गोरववर्ष कहा जाता है। [68]

सौरमान

सूर्य द्वारा एक राशि से दूसरी राशि में प्रवेश-काल को एक सौरमास कहा जाता है।[69] यह सामान्यतया तोन सो पैंसठ दिन का होता है।[70] इस प्रकार सौर मान से दिन-रात्रि का मान, अयन, विषुव, एवं संक्रान्ति का पुण्य- काल ६, शीतातप, एवं वृष्टि का विचार होता है।

सावनमान

उदयानुदयं भानोः सावनं तत् प्रकीर्तितम् ।

दो सूर्योदय के बीच का अन्तर सावन दिन कहलाता है। तीस दिन का एक सावन मास होता है ।[71] दिन, मास, एवं वर्षो के अधिपति का विचार, ग्रहों की मध्यमा भुक्ति आदि का साधन अतिभाग व्यवस्था, प्रायश्चित क्रिया, मन्त्रोपासना कार्य, शिशु का अन्न-प्राशन, राजा द्वारा करग्रहण, यज्ञादि दिनसंख्या की गणना वृक्षों की फलनिष्पति, सस्यों की निष्पति, अग्निष्टोम आदि यज्ञों का निर्णय, उत्साह एवं विवाह[72] आदि सावन मान से निर्णीत होते हैं।

चान्द्रमान

शुक्ल प्रतिपद से कृष्ण अमावास्या तक चान्द्रमास होता है । यह सौरमान से ग्यारह दिन कम होता है। एक अमावास्या से दूसरी अमावास्या तक चान्द्रमास होता है ।[73]

तिथिः करणमुद्वाहः क्षौरं सर्वक्रियास्तथा । व्रतोपवासयात्राणां क्रिया चान्द्रेण गृह्यते ।[74]

चान्द्रमान से तिथि, करण, उद्वाह्, क्षौर-क्रिया, व्रतोपवास एवं यात्रा' तथा कुसीद इत्यादि वृत्तियों का व्यवहार, श्राद्ध-तिथियों, व्रत, वार्षिकइष्टियों, यज्ञ-काल, विधिविचार, सूतकादि-निर्णय, आदि का निर्णय किया जाता है। नाक्षत्र मान से ग्रहादिकों का साधन, कराधान आदि कर्म करना चाहिए। इसका व्यवहार सर्वसाधारण में कम होता है।

नाक्षत्रमान

प्रवह नामक वायु के कारण नक्षत्रमण्डल प्रतिदिन एक प्रदक्षिणा जितनी देर में करता है, उसे नाक्षत्र दिन कहते हैं अथवा एक नक्षत्र क्षितिज पर उदित होकर जितनी देर में दूसरे दिन पुनः उदित होता है उसे एक नाक्षत्रदिन कहते हैं। साठ नाड़ी का एक नाक्षत्र अहोरात्र कहा गया है।[75] संहितोक्त मनुष्यमान को श्री भास्कराचार्य ने विमिश्रमान कहा है, मानों के सम्बन्ध में संक्षेप में भास्कराचार्य ने कहा है कि वर्ष, अयन, ऋतु, युग आदि का साधन सौर से, मास एवं तिथियों का साधन चान्द्रमान से; कृच्छ, सूतक, चिकित्सा और वासर आदि का विचार सावन मान से

---

[68] सि० शि० १।३०

[69] सूर्य सि० १११३ ।

[70] भविष्य० म० प० २२६।३ ।

[71] सूर्य सि० १४।१८

[72] स्कन्द० ६।२७३।१२-१३

[73] वायु० ५०।१८७-८८,

[74] सूर्य सि० १४।१३ । २.

[75] वही, १११२

और दिनों का घटिकादिक मान नाक्षत्र मान से करना चाहिए।[76]

इस प्रकार उक्त नव प्रकार के मानों में भी मुख्यतया सौर, सावन, चान्द्र और नाक्षत्र इन चार प्रकार के मानों का ही आरम्भ में व्यवहार मिलता है। वेदाङ्ग ज्योतिष में भी चार प्रकार के मानों का संकेत मिलता है, जहाँ कहा गया है कि पाँच वर्षों के एक युग में ६९ सावन महीने, ६२ चान्द्र मास एवं ६७ नाक्षत्र मास होते हैं।

इन चार मानों का भिन्न-भिन्न कर्मों के लिए प्रयोग ज्योतिष संहिताओं, धर्मशास्त्र एवं पुराण आदि ग्रन्थों में उल्लिखित हुआ है। किन्तु व्यवहार में विशेषतः सावन मास का ही प्रयोग होता रहा है। कौटिल्य ने भी इन मानों का उल्लेख किया है। काम करने वाले भृत्यों के लिए३० दिन-रात का मास होता है।

2.10 सारांश

कला शब्द का 'ककार' और 'आकार' तथा 'ली' धातु का लकार लेकर काल शब्द की उत्पत्ति होती है।

काल शब्द का लक्षण- समस्त प्राणधारियों या प्राणियों का संकलन करता है, इसलिये इसे काल कहा जाता है।

जो सूक्ष्मातिसूक्ष्म कला में भी लीन नहीं होता है या विलीन नहीं होता है, उसे काल कहते हैं। यहाँ सूक्ष्मातिसूक्ष्म कला में लीन न होने का तात्पर्य यह है कि यह सूक्ष्म से सूक्ष्म क्षण के लिये रुकता नहीं है। सदैव गतिशील रहता हैं, अतः इसे काल कहा जाता है।

सङ्कलयति संहरणादेकराशी करोति भूतानीति वा।

काल का अर्थ संक्षिप्त करना ग्रहण किया गया है। अर्थात् आयु आदि को संक्षिप्त करने के कारण इसे काल कहते हैं। यहाँ लोक व्यवहार में प्रचलित काल का अर्थ ग्रहण किया गया है। समय-पूर्व या अल्पायु में मृत्यु को प्राप्त प्राणियों के लिये कहा जाता है कि इसकी मृत्यु इतने कम समय में काल के आने के कारण हो गयी है, अतः आचार्य ने यहाँ लोक-व्यवहत अर्थ को ग्रहण कर कहा है कि आयु आदि को संक्षिप्त करने के कारण इसे काल कहा जाता है।

अपर में अपर-ज्ञान तथा पर में पर का ज्ञान, दोनों पर व अपर का एक साथ युगपत् ज्ञान, चिरज्ञान या क्षिप्रज्ञान ये सब काल के अनुमापक लक्षण हैं। काल प्रत्यक्षगम्य नहीं है, अतः इसकी विद्यमानता या इसके 'सत्तात्मक' पक्ष की सिद्धि अनुमान द्वारा होती है।

काल एक होता है; परन्तु औपाधिक रूप से इसके अनेक भेद होते हैं। इस काल में-तस्य गुणाः संख्यापरिमाण-पृथक्तव-संयोग-विभागाः **गुण होते हैं। अतः एक होते हुए अनेक विभागों या भेदों से उपाधित किया जाता है।**

जैन दर्शन में 'काल को एकमात्र अनस्तिकाय द्रव्य माना गया है। काल की सत्ता अनुमान के आधार पर स्वीकार की जाती है। वर्तना (स्थिति की निरन्तरता), परिणाम (परिवर्तन), क्रिया तथा परत्व और अपरत्व अर्थात् पूर्व और अपर, तब और अब, प्राचीन और नवीन, ज्येष्ठ और कनिष्ठ आदि व्यवहार काल की सत्ता के कारण सम्भव हैं। काल के दो भेद माने गये हैं— व्यावहारिक काल जो घटी, पल, दिन, मास, वर्ष आदि अवयवों की कल्पना से युक्त है तथा

[76] वही, १।३१

द्रव्यों के परिणाम, क्रिया, परत्व और अपरत्व का कारण है; तथा पारमार्थिक काल को नित्य, निरवयव और अखण्ड है तथा जो वर्तना अर्थात् स्थिति की निरन्तरता का कारण है।'

ज्योतिष संहिताओं एवं सिद्धान्तग्रन्थों में मानव के व्यवहारार्थं ब्राह्म, देव, पित्र्य, प्राजापत्य, गौरव, सौर, सावन, चान्द्र और नाक्षत्र नामक नौ प्रकार के कालमान पठित हैं । किन्तु व्यवहारतः सौर, चान्द्र, सावन और नाक्षत्र चार प्रकार के ही मान प्रचलित बताये गये हैं।

2.11 पारिभाषिक शब्दावली

काल - जिससे भूत वर्तमान तथा भविष्य के समय का ज्ञान होता है, उसे काल कहते है द्रव्यों की बर्त्तना, परिणाम क्रिया नवीनता, या प्राचीनता काल कारण ही सम्भव है। काल नित्य है, अगोचर के कारण उसका अस्तित्व अनुमान से ही सिद्ध होता है।

कालमान – अवधियों के अनुसार समय **निर्धारण करने वाले मापन को काल**मान **कहते हैं** जैसे दिन, सप्ताह या मास वर्ष इत्यादि चान्द्रमान, सौर मान, नक्षत्रमान इत्यादि **।**

अहोरात्र - देवताओं के एक दिन-रात्रि के मान **को** अहोरात्र कहते हैं .

संवत्सर- सम + वत्सर अर्थात एक पूर्ण वर्ष. बारह महीने का कालविशेष। शास्त्रों के अनुसार ब्रह्माजी ने चैत्र शुक्ल प्रतिपदा **तिथि** को इस सृष्टि का सृजन किया था। **इसी दिन भगवान विष्णु का मत्स्यावतार भी हुआ था।**

कल्प- ब्रह्माजी के एक दिन को कल्प कहते हैं।कल्प की अवधि सहस्र चतुर्युग के बराबर होता है।

2.13 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1) प्राचीन भारतीय काल गणना एवं पारम्परिक संवत्सर,डॉ. रामजी पाण्डेय, भारती प्रकाशन 1980
2) पर्दार्थ विज्ञान, डॉ. बी. के. द्विवेदी चौखम्मा कृष्णदास अकादमी, वाराणसी, 2022
3) पाशचात्य दर्शन की दार्शनिक प्रवृत्तियां, जगदीश सहाय श्रीवास्तव, अभिव्यक्ति प्रकाशन प्रयागराज, 2002
4) भारतीय दर्शन

2.12 बोध प्रश्न

1) काल का स्वरूप स्पष्ट करें ?
2) काल मान की व्याख्या करें ?
3) काल तत्त्व किस प्रकार सिद्धि है ? व्याख्या करें ?
4) सावन मान चन्द्र मान ,नक्षत्रमान सौर मान इनके बीच अंतर स्पष्ट करे?
5) मानव जीवन में कालतत्त्व का महत्व, व्याख्या करें ?

इकाई 3 पदार्थ की अवधारणा एवं प्रकार

इकाई की रूपरेखा

3.0 उद्देश्य

इकाई में भारतीय दर्शन में प्रतिपादित **पदार्थ की अवधारणा एवं प्रकार** का अध्ययन करने जा रहे हैं। जिसके अध्ययन से आप –

- इसके अध्ययन से आप यह जान सकते हैं कि पदार्थ क्या है पदार्थ किसे कहते हैं दर्शन शास्त्र के अंत

- अंतरगत कितने प्रकार के पदार्थ स्वीकार किए गए हैं
- सभी सात पदारथो की पृथक पृथक व्याख्य वैशेषिक दर्शन में किस प्रकार से की गई है
- इन सात पदारथो से जगत की व्याख्या कैसे हो गई हैं
- ये सात पदार्थ ही हमारे चिकित्सा विज्ञान आयुर्वेद का मुख्य आधार हैं
- वैशेषिक दर्शन के सात पदार्थ के अध्ययन के बिना आयुर्वेद का अध्ययन नहीं किया जा सकता।
- आइये हम मिल कर पदार्थ पर चर्चा करते हैं

3.1 प्रस्तावना

पदों के द्वारा जिस विषय का बोध होता है, उसे पदार्थ कहते हैं। पदार्थ में अभिधेयत्व, ज्ञेयत्व, अस्तित्व, प्रमेयत्व होना कहा गया है।

3.2 पदस्य अर्थः पदार्थ

'पद' के अर्थ को पदार्थ कहते हैं[1]। पदार्थ एक ऐसा विषय है जिसके विषय में विचार किया जा सकता है तथा जिसको नाम दिया जा सकता है। इन्द्रियों द्वारा ग्राह्य विषय को पदार्थ कहते हैं। विश्व के सभी विषय घट, पट आदि इन्द्रियग्राह्य हैं। अतः ये पदार्थ हैं। सिद्धान्तचन्द्रोदय में पदार्थ का लक्षण ज्ञेयत्व प्राप्त होता है (पदार्थत्वं ज्ञेयत्वम्) । **प्रमितिविषयाः पदार्थाः**[2] सप्त पदार्थों के अनुसार प्रमा के विषय पदार्थ हैं । **अभिधेयत्वं पदार्थसामान्यलक्षणम्** पदार्थ का लक्षण 'अभिधेयत्व' प्राप्त होता है[3] । प्रशस्तपाद 'पदार्थ-धर्मसंग्रह' में उपर्युक्त सभी लक्षणों को एक साथ रखकर पदार्थ का लक्षण करते हैं,

षण्णानामपि पदार्थानामस्तित्त्वमभिधेयत्व-ज्ञेयत्वानि'[4]

'सब वस्तुएं, जिनका अस्तित्व है, जिनका बोध हो सकता है तथा जिन्हें कोई नाम दिया जा सकता है, पदार्थ हैं' । तात्पर्य यह है कि केवल भौतिक जगत् की वस्तुएं ही पदार्थ नहीं हैं, अपितु अनुभव में आने वाले सभी विषय पदार्थ हैं। पदार्थ की उपर्युक्त परिभाषा में 'अस्तित्त्व' वस्तु की वास्तविक स्थिति, स्वरूप और सत्ता का परिचायक है। वैशेषिक दर्शन 'ज्ञेयत्व' से अज्ञेयवाद का खण्डन करता है तथा अभिधेयत्व से ज्ञान की सार्वभौमिकता का कथन करता है। कि वैशेषिक दर्शन के पदार्थ तार्किक ही नहीं हैं, अपितु तात्त्विक (Ontological) भी हैं। पाश्चात्य दर्शन में अरस्तू के पदार्थ केवल विधेयों के तार्किक वर्गीकरण हैं, सभी विचारणीय विषयों के आध्यात्मिक वर्गीकरण नहीं हैं। इसी प्रकार कान्ट के पदार्थ केवल तार्किक हैं, क्योंकि वे शुद्ध बुद्धि की देन हैं। वैशेषिक दर्शन के पदार्थ तत्त्व के निर्णायक भी हैं। छः भाव पदार्थों में सम्पूर्ण विश्व की सत्ता समाहित है।

---

[1] च. सि. 12/41
[2] सप्तपदार्थी
[3] तर्कदीपिका
[4] 'पदार्थ-धर्मसंग्रह' , पृ०161

वैशेषिक दर्शन एक वस्तुवादी दर्शन (Realistic Philosophy) है और इसका वस्तुवाद बहुत्ववादी वस्तुवाद (Pluralistic Realism) कहलाता है। यह भारतीय दर्शन में अपनी प्रमेयमीमांसा के लिए आख्यात है।

धर्मविशेषप्रसूताद् द्रव्यगुणकर्मसामान्य- विशेषसमवायानां पदार्थानां साधर्म्यवैधर्म्याभ्यां तत्वज्ञानान्निःश्रेयसम्[5]

महर्षि कणाद के अनुसार पदार्थों का सम्यक् ज्ञान होने से निःश्रेयस (मोक्ष) की प्राप्ति होती है। वैशेषिक दर्शन संसार के सभी विषयों को 'पदार्थ' कहता है।

3.3 'पद' व 'अर्थ'

अब हम 'पदार्थ' के दो पदों 'पद' व 'अर्थ' को शब्दतः समझने का प्रयत्न करेंगे।

पद व अर्थ

सुबन्तं तिङन्तं च पदसंज्ञं स्यात्।

अर्थात् सुबन्त व तिङन्त को पद कहा जाता है। यथा-मोहन, सोहन, रमेश आदि सुबन्त हैं तथा गच्छति, पठति, भवति आदि तिङन्त हैं। इन्हें **पद** कहा जाता है।,

अर्थयुक्त एकाक्षर या अक्षर-समूह को पद कहते हैं। जैसे एकाक्षर 'ड' कहा जाए तो इसका कोई विषय नहीं है, इससे कोई अर्थ प्रकट नहीं होता है, अतः इसे पद नहीं कहा जा सकता; परन्तु यदि एकाक्षर 'ख' कहा जाता है, तो इसका अर्थ आकाश होता है, अतः 'ख' यहाँ पद है। इसी प्रकार यदि 'अक' 'कग' अक्षर समूह कहा जाए तो इसका अर्थ नहीं निकलता है, अतः ये अक्षर-समूह होते हुए भी पद नहीं है; परन्तु 'घर' कहने पर एक दीवारों व छप्पर से युक्त वासस्थान का बोध होता है, अतः इसे पद कहा जाता है।

पदशक्तिः पदशक्ति पद और उसके अर्थ में जो वाच्य-वाचक-भाव संबंध है, वही 'पदशक्ति' है। गोपद से गो-अर्थं का ज्ञान जिससे हो, वही 'पदशक्ति' है

शक्तं पदम्, अस्मात पदाद् अयमर्थो बोद्धव्य इतीश्वरसंङ्केतः शक्तिः।

अर्थात् शक्तिः विशिष्ट युक्त को पद कहते हैं। अमुक पद से अमुक अर्थ का ग्रहण होना चाहिये, इस ईश्वर-प्रदत्त संकेत को शक्ति कहते हैं।

पद का तात्पर्य उस वस्तु (वर्णयुक्त, अक्षरसंयोग) से है, जो शक्तियुक्त हो अर्थात् उसका कोई अपना विशिष्ट विषय हो। इस प्रकार वर्णो के समूह या एकाक्षर; जो किसी विशिष्ट अर्थ को प्रकट करते हैं; उन्हें पद कहा जाता है।

अर्थ- आयुर्वेद में पाँचों ज्ञानेन्द्रियों के विषय - शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध को अर्थ कहा गया है- **'अर्थाः शब्दादयो ज्ञेया गोचराः विषया गुणाः।**[6]

'चक्रपाणिदत्त ने अर्थ शब्द की व्याख्या करते हुए कहा है कि-अर्थशब्देन तु शब्दादयोऽभिधीयन्ते ते स्थूलखादिरूपा एव ज्ञेयाः। यहाँ शब्दादि को अर्थ कहकर यह स्पष्ट कर

---

[5] वैशेषिक सूत्र १/१/४

[6] च. शा. १।३१

दिया गया है कि 'एव ज्ञेया' अर्थात् जो जानने योग्य हो वह ज्ञेय है। इस प्रकार 'ज्ञेय' या जो जानने योग्य हो उसे अर्थ कहते हैं।' [7]

अर्थ का प्रयोग अभिधेय अर्थ में है, इसे वस्तु की प्रवृत्ति तथा निवृत्ति अर्थ में प्रयुक्त होना कहते हैं। इससे 'अर्थ' का अभिप्राय स्पष्ट नहीं होता है। चरकोक्त 'अर्थ' का लक्षण बोधगम्य है।

अर्थ शब्द की उत्पत्ति **'ऋच्छ' गतौ अर्थ वाले या ऋ गतौ अर्थ वाले धातु से होती है**। इस प्रकार 'ऋच्छन्ति इन्द्रियाणि इति अर्थः अर्थात् इन्द्रियाँ जिसे प्राप्त करती हैं, वह अर्थ कहा जाता है। इस प्रकार भारतीय वाङ्मय में अर्थ से शब्दादि का ग्रहण किया जाता है। 'पदार्थ' के परिप्रेक्ष्य में चरकोक्त लक्षण 'ज्ञेयागोचराः' बोधगम्य और स्पष्ट है। अर्थात्-जो जानने योग्य हो (ज्ञेय हो) अथवा जिससे गोचराः अर्थात् पद स्पष्ट होता हो या पद प्रकाशित होता हो उसे अर्थ कहते हैं।'

भौतिकी के अनुसार' पदार्थ 'को भौतिक राशि (PHYSICAL QUANTITY) के समतुल्य माना जा सकता है ,जब कि वैशेषिक मान्यतानुसार पदार्थ में' भूत (ATTERM ASICB) 'और आधिभौतिक) आत्मा और मन (से सम्बन्धित राशियाँ सम्मिलित होती हैं ,जहाँ' भूत 'भौतिक इन्द्रियों द्वारा ग्राह्य है।

भूत विशिष्ट ज्ञान को भौतिक पदार्थ कहते हैं।' विशिष्ट ज्ञान 'का अर्थ है -इसका आधार ,इसका सहगामी कारक से संयोग और इसका आधार) आश्रय (के अतिरिक्त अन्य से सम्बन्ध। इस हेतु ठोस ,द्रव ,ऊर्जा ,गैस और प्लाज्मा' भूत 'हैं अथवा भिन्न-भिन्न अवस्थाओं के पदार्थ हैं , क्योंकि ये बहिरिन्द्रियों जैसे नाक ,रसना ,आँख ,त्वचा और कान के द्वारा प्रत्यक्ष ग्राह्य हैं। अथवा यह कह सकते हैं कि इन्द्रियों से ग्राह्य विशेष गुणवान् पदार्थ भौतिक पदार्थ हैं।

3.4 पदार्थ के लक्षण

अस्तित्व, अभिधेयत्व और ज्ञेयत्व ये पदार्थ के सामान्य लक्षण हैं।" शिवादित्य के अनुसार जो कुछ ज्ञान के विषय हो सकते हैं वे सभी 'पदार्थ' कहे जाते हैं। इस लक्षण के अनुसार संसार के सभी ज्ञेय तत्त्व पदार्थ कहे जा सकते हैं; चाहे उनकी सत्ता हो या न हो । प्रशस्तपादाचार्य के अनुसार केवल भावपदार्थ ही यथार्थ कहे जाते हैं, किन्तु शिवादित्य के अनुसार 'अभाव' भी पदार्थ के अन्तर्गत आ जाता है ।

आचार्य सुश्रुत ने पदार्थ की संख्या पर अपना विचार प्रकट करते हुए कहा है कि-

अपरिमिताश्च पदार्थाः ।[8]

अर्थात् पदार्थ अपरिमित हैं। इनके संख्या की गणना नहीं की जा सकती है। अर्थात् असंख्येय हैं। यहाँ आचार्य सुश्रुत ने अपने द्वारा दिये गये पदार्थ के लक्षण के आधार पर पदार्थ को अपरिमित कहा है।

---

[7] पर्दार्थ विज्ञान, डॉ. बी. के. द्विवेदी, चौखम्मा कृष्णदास अकादमी, वाराणसी, 2022, पृ० 41

[8] सुश्रुत संहिता, उत्तरस्थान, अ. ६२

3.5 विभाजन एवं उसकी संख्या

प्रत्येक दर्शन या शास्त्र के प्रतिपाद्य विषय अलग-अलग हैं तथा उनकी संख्या के सम्बन्ध में भी मतभिन्नता है। जिस प्रकार 'पदार्थ' शब्द अपने आप में विस्तृत हैं, उसी प्रकार शास्त्रानुसार इसकी संख्या भी विस्तृत हो सकती है। जो दर्शन, जिस प्रकार से अपने सिद्धान्तानुसार सृष्टि को देखते हैं, उसी के अनुरूप वे अपने प्रतिपाद्य विषय अर्थात् पदार्थ को विभाजित करते हैं।

विभिन्न आस्तिक दर्शनों के अनुसार पदार्थ-विभाजन व पदार्थ-संख्या विनिश्चय का प्रयत्न किया जा रहा है-

पदार्थों की संख्या

वेदान्तदर्शन में पदार्थ-वेदान्त दर्शन में पदार्थ-विभाजन दो रूपों में किया गया है-आत्मतत्त्व तथा अनात्मतत्त्व। अद्वैतवेदान्ती शंकराचार्य सम्प्रदाय एक ही पदार्थ 'ब्रह्म' स्वीकार करते हैं। उनके अनुसार एक ही पदार्थ ब्रह्म, जिसकी अपनी ही शक्ति अनिर्वचनीयमाया या अविद्या है। माया ब्रह्म से अलग कोई पदार्थ नहीं है, वह ब्रह्म की ही सत्ता है।

विशिष्टाद्वैतवादी रामानुजाचार्य के अनुसार पदार्थ तीन हैं- (१) चित्त अर्थात् जीव (२) अचित् अर्थात् भौतिक शरीरेन्द्रिय व भौतिक जगत् तथा (३) ब्रह्म।

मीमांसा दर्शन के अनुसार पदार्थ-

मीमांसकों के अनुसार पदार्थ- विभाजन व पदार्थ संख्या के सम्बन्ध में मतभेद है। मीमांसा के व्याख्याकारों ने पदार्थों की संख्या स्वमतानुसार मानी है। यथा—

पंचपदार्थ – ब्रह्म, धर्मि, धर्म, आधार व प्रदेश। -मुरारिमिश्र

पंचपदार्थ– द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, अभाव। - कुमारिलभट्ट

अष्टपदार्थ- द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, परतंत्रता, शक्ति, सादृश्य व संख्या- प्रभाकर

सांख्य दर्शन के अनुसार पदार्थ –

सांख्य दर्शन के अनुसार पचीस तत्त्व है, जो सांख्य के प्रतिपाद्य विषय होने से पदार्थ हैं-

मूलप्रकृतिरविकृतिर्महदाद्याः प्रकृतिविकृतयः सप्त।
षोडशकस्तु विकारो न प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुषः।। [9]()

१) प्रकृतिमूल

२) न प्रकृति न विकृति

३) प्रकृति व विकृति

४) विकृति

- १- प्रकृति १-पुरुष - ७- महान्, अहंकार व पाँच शब्दादि तन्मात्रा - १६-पाँच महाभूत व ग्यारह इन्द्रियाँ (4 ज्ञानेन्द्रियाँ, ५ कर्मेन्द्रियाँ व उभयेन्द्रिय मन) कुल २५ चरकोक्त राशि पुरुष के अनुसार २४ तत्त्व इसमें प्रकृति व पुरुष को अलग न मानकर अव्यक्त नाम से माना गया है) पर

[9] सा. का. ३

सांख्य के उपलब्ध ग्रन्थों में २५ पदार्थों का ही उल्लेख किया गया है, अतः सांख्य के अनुसार २५ पदार्थ मानना चाहिये।

योगदर्शन में पदार्थ - योगदर्शन में पदार्थ के अनुसार पदार्थ दो माने जा सकते हैं। (१) चित्त (२) आत्मा या परमात्मा। इनके बीच की एक अवस्था (३) प्रज्ञा या ऋतम्भरा प्रज्ञा का ग्रहण किया जा सकता है। योगदर्शन में सांख्योक्त पचीस पदार्थ भी मान्य हैं अथवा इनके पञ्चवृतियों को पंचपदार्थ के रूप में ग्रहण किया जा सकता है।'

न्यायदर्शन के अनुसार पदार्थ –न्याय दर्शन के अनुसार पदार्थों की संख्या सोलह है—-

प्रमाणप्रमेयसंशयप्रयोजनदृष्टान्तसिद्धान्तावयवतर्कनिर्णयवादजल्पवितण्डाहेत्वाभास च्छलजातिनिग्रहस्थानानां तत्त्वज्ञानात्रिः श्रेयसाधिगमः।[10]

(१) प्रमाण, (२) प्रमेय, (३) संशय, (४) प्रयोजन, (५) दृष्टान्त, (६) सिद्धान्त, (७) अवयव, (८) तर्क, (९) निर्णय, (१०) वाद, (११) जल्प, (१२) वितण्डा, (१३) हेत्वाभास, (१४) छल (१५) जाति, (१६) निग्रह स्थान, ये सोलह पदार्थ हैं।

वैशेषिक दर्शन के अनुसार पदार्थ- वैशेषिक दर्शन के अनुसार छः पदार्थ हैं— **धर्मविशेषप्रसूताद् द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषसमवायानां पदार्थानां साधर्म्यवैधर्म्याभ्यां तत्त्वज्ञानान्निःश्रेयसम्॥**[11]

अर्थात् (१) द्रव्य, (२) गुण, (३) कर्म, (४) सामान्य, (५) विशेष, (६) समवाय—ये षड्पदार्थ हैं, जिनके ज्ञान से मोक्ष होता है।

सिद्धान्तमुक्तावली के अनुसार पदार्थ ७ हैं।

द्रव्यं गुणस्तथा कर्म सामान्यं सविशेषकम्। समवायस्तथाऽभावः पदार्थाः सप्तकीर्तिताः ॥

अर्थात् (१) द्रव्य, (२) गुण, (३) कर्म, (४) सामान्य, (५) विशेष, (६) समवाय तथा (७) अभाव-ये सात पदार्थ होते हैं।

चरकानुसार-आचार्य चरक के अनुार पदार्थों की संख्या छः है।

महर्षयस्ते ददृशुर्यथावत् ज्ञानचक्षुषा । सामान्यं च विशेषं च गुणान् द्रव्याणि कर्म च॥ समवायं च तज्ज्ञात्वा तन्त्रोक्तं विधिमास्थिता । लेभिरे परमं शर्म जीवितं चाप्यनश्वरम्॥[12]

(१) सामान्य, (२) विशेष, (३) गुण, (४) द्रव्य, (५) कर्म तथा (६) समवाय-ये षड्पदार्थ हैं।

आधुनिक काल में इन छः पदार्थों का ग्रहण आयुर्वेदीय पदार्थ के रूप में किया जाता है।

महर्षियों ने जब ज्ञानचक्षु से आयुर्वेद के ज्ञेय विषयों को देखा तो उन्हें सामान्य, विशेष आदि षड्पदार्थ को देखा, जो कि दर्शनोक्त पदार्थ हैं।

---

[10] न्या. द. ११

[11] वै. द. ११४)

[12] च. सू. १।२७-२८

अर्थात् पदार्थों का दो वर्गों में विभाजन किया जाता है- (१) भाव पदार्थ — जो संख्या में छः हैं तथा (२) अभाव पदार्थ जो चार हैं।

भावपदार्थ - द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष व समवाय-ये छ: भाव-पदार्थ कहे गये हैं।

अभाव पदार्थ - प्राग्भाव, प्रध्वंसाभाव, अत्यन्ताभाव तथा अन्योन्याभाव- ये चार अभाव पदार्थ हैं।

3.6 पदार्थों के साधर्म्य-वैधर्म्य

समान धर्म को समानता या साधर्म्य कहते हैं तथा असमान धर्म को असमानता या वैधर्म्य कहा जाता है। षड्भाव पदार्थों में कतिपय लक्षण या भाव ऐसे होते हैं, जो सभी पदार्थों में समान रूप में विद्यमान होते हैं अर्थात् वे लक्षण प्रत्येक पदार्थ में पाये जाते हैं; परन्तु कतिपय लक्षण या धर्म ऐसे होते हैं, जो सभी पदार्थों में समान न होकर, विशिष्ट पदार्थों में होते हैं। अथवा प्रत्येक पदार्थों के कतिपय अपने लक्षण इस प्रकार के विशिष्ट धर्म या लक्षण होते हैं, जो दूसरे पदार्थ में नहीं होते हैं। इस प्रकार के धर्म या लक्षण को वैधर्म्य कहते हैं।

3.6.1 पदार्थों का साधर्म्य या पदार्थगत सामान्य लक्षण

१) प्रत्येक पदार्थों में अस्तित्व अर्थात् स्वरूपत्व समान रूप में होता है।

२) सभी पदार्थों में अभिधेयत्व (नाम धारण करना) समान रूप में होता है।

३) सभी पदार्थों में ज्ञेयत्व समान रूप में होता है।

४) द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष—इन पाँच पदार्थों में समवायित्व समान रूप में रहता है।

५) द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष में अनेकत्व समान रूप से होता है। अनेकत्व का तात्पर्य यह है कि ये पाँचों अनेक भेद वाले होते हैं।

६) द्रव्य, गुण व कर्म इन तीनों में सामान्यत्व, विशेषत्व समान रूप से होता है। अर्थात् इन तीनों में द्रव्य-सामान्य, गुण-सामान्य, कर्म-सामान्य के कारण सामान्यत्व समान रूप में होता है। इसी प्रकार विशेषत्व भी समान रूप में द्रव्य- विशेष, गुण-विशेष, कर्म-विशेष होता है।

७) इन तीनों-द्रव्य, गुण, कर्म में स्वसमवायार्थशब्दाभिधेयत्व तथा धर्माधर्म कर्तृत्व समान रूप में होता है।

८) इन तीनों-द्रव्य, गुण, कर्म में कारणत्व समान रूप से रहता है।

९) सामान्य, विशेष व समवाय इन-तीन पदार्थों में अपनी स्वतः सत्ता समान रूप में होती है।

१०) सामान्य, विशेष व समवाय में बुद्धिलक्षणत्व समान रूप में होता है।

११) सामान्य विशेष व समवाय में अकार्यत्व (यह किसी का कार्य नहीं है), अकारणत्व (ये किसी के समवायि असमवायि कारण नहीं है), असामान्य- विशेषत्व (अर्थात् इनके अंदर सामान्य विशेष नामक पदार्थ नहीं है) समान रूप में होता है।

१२) सामान्य विशेष व समवाय में नित्यत्व, अर्थशब्दानभिधेयत्व (अर्थात् अर्थ शब्द इनके लिये प्रयोग नहीं होता है) समान रूप में रहता है।

3.6.2 पदार्थों का वैधर्म्य

१) गुण एवं कर्म द्रव्याश्रित होते हैं; परन्तु द्रव्य, गुण या कर्माश्रित नहीं होता है।

२) सामान्य विशेष के तीन, कर्म के पाँच, द्रव्य के नौ तथा गुण के इक्तालीस भेद होते हैं; अतः यह पदार्थों का वैधर्म्य है।

३) सामान्यादि पाँच पदार्थ भेदयुक्त है, पर समवाय का भेद नहीं होता है।

४) सामान्य एकत्वकारी, वृद्धिकर होता है, विशेष ह्रासकर व पृथक्कारी होता है। इसी आधार पर द्रव्य, गुण और कर्म बुद्धिकर व ह्रासकर होते हैं।

५) द्रव्याश्रित होते हुए भी कर्म चेष्टायुक्त तथा गुण निश्चेष्ट होता है।

कणाद और प्रशस्तपादाचार्य ने छः पदार्थों का निर्देश किया है— द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय और अभाव । परवर्ती न्याय-वैशेषिक के आचार्य श्रीधर, उदयन और शिवादित्य 'अभाव' नामक सातवां पदार्थ भी स्वीकार करते हैं। शिवादित्य ने अपने ग्रन्थ का नाम भी 'सप्तपदार्थी' रखा है । उदयन पदार्थों को पहले दो वर्गों में विभाजित करते हैं-भाव और अभाव। फिर भावपदार्थ के छः भेद मानते हैं— द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष और समवाय । सातवा पदार्थ 'अभाव' को मानते हैं । इस प्रकार न्याय-वैशेषिकदर्शन में सात पदार्थ माने जाने लगे । तर्कसंग्रह में भी इन्हीं सात पदार्थों को स्वीकार किया गया है-

द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषसमवायाभावाः सप्तपदार्थाः ।

सात पदार्थ सत्ता-पदार्थ हैं। जो तत्त्वमीमांसा के विषय हैं, न कि ज्ञान- मीमांसा के । अतः अलग-अलग दृष्टिकोण होने के कारण उनके पदार्थ विवेचन में संख्या-व्यतिक्रम है। वस्तुतः न्याय-वैशेषिक दोनों में सात ही पदार्थ स्वीकार है । यही कारण है कि न्याय-वैशेषिक ग्रन्थों में सात पदार्थों का ही विवेचन मिलता है। अन्य भारतीय दर्शनों के समान वैशेषिक दर्शन का उद्देश्य भी मोक्ष या अपवर्ग- प्राप्ति के मार्ग का निर्देश है । कणाद के अनुसार द्रव्य आदि पदार्थों के तत्त्वज्ञान से मोक्ष की प्राप्ति संभव है । आगे हम इन पदार्थों का क्रमबद्ध वर्णन करेंगे ।

3.7 द्रव्य (Substance)

द्रव्यपद या द्रव्य शब्द का अर्थ-द्रव्य शब्द की उत्पत्ति 'गति' अर्थ वाले 'द्रु' धातु से होती है। 'द्रु' धातु में यत् प्रत्यय लगाने से द्रव्य शब्द बनता है, जिसका अर्थ गति होता है; जो ज्ञान, गमन, प्राप्ति के रूप में प्रयुक्त होता है।

इसकी निरूक्ति निम्न रूप में की गयी है-

'द्रवति गच्छति परिणाममभीक्ष्णमिति द्रव्यम्।'

अर्थात् जो सदैव परिणाम को प्राप्त करते हैं या जिनसे परिणाम का ज्ञान होता है, उसे द्रव्य कहा जाता है। अथवा—-

द्रवति गच्छति संयोगविभागादिगुणानिति वा द्रव्यम् ।

अर्थात् जो संयोग विभाग को प्राप्त होते हैं, उसे द्रव्य कहा जाता है।

3.7.1 द्रव्य लक्षण

यत्राश्रिताः कर्मगुणाः कारणं समवायि यत् तद् द्रव्यम्।[13]

अर्थात् जिसमें गुण व कर्म समवाय (अपृथक्भाव) सम्बन्ध से आश्रित हो, उसे द्रव्य कहा जाता है।

क्रियागुणवत् समवायिकारणमिति द्रव्यलक्षणम्।[14]

अर्थात् जो क्रियायुक्त, गुणयुक्त तथा समवायिकारण हो उसे द्रव्य कहा जाता है

द्रव्यत्वजातिमत्वं गुणवत्वं समवायिकारणत्वं वा द्रव्यसामान्यलक्षणम्।[15]

अर्थात् जो द्रव्यत्व अर्थात् द्रव्य जातिवाला हो, गुणत्व युक्त अर्थात् गुणवाला हो अथवा समवायि कारण वाला हो उसे द्रव्य कहते हैं।

3.7.2 द्रव्यों का साधर्म्य-वैधर्म्य

१. द्रव्यों में द्रव्यत्व (गुण, कर्म व समवायिकारण होना) समान रूप से होता है।

२. समस्त द्रव्यों में स्वसमवेतकार्यजनकत्व समान रूप में होता है।

३. सभी द्रव्यों में गुणवत्त्व, कार्यकारणविरोधत्व और अन्त्यविशेषत्व समान रूप में रहता है।

४. अवयव वाले (Compound) द्रव्यों को छोड़कर अनाश्रित्य व नित्यत्व समान रूप में रहता है। यहाँ अनाश्रित्व का तात्पर्य द्रव्य के स्वतंत्र होने से है।

५. आकाश, वायु, तेज, जल, पृथ्वी व मन-इन छ: द्रव्यों में अनेकत्व और अपरजातिमत्व ये समान रूप से रहते हैं।

६. आकाश को छोड़कर चार महाभूतों और मन-इन पाँच द्रव्यों में क्रियावत्त्व, मूर्त्तत्व, परापरत्त्व (पर, अपरादि गुणों का होना) वेगवत्त्व-ये लक्षण समान रूप से रहते हैं।

७. आकाश, काल, दिशा और आत्मा-इन चारों में सर्वगतत्व समान रूप में होता है।

८. पञ्चमहाभूतों में भूत्तत्व, इन्द्रियोपादानत्व (इन्द्रियों का उपादान कारण होना) बाह्येकैकेन्द्रियग्राह्यविशेषगुणवत्त्व (इन्द्रियों द्वारा नियत बाह्य विषयों का, प्रत्येक इन्द्रिय द्वारा एक-एक विषय का ग्रहण करना; क्योंकि इन भूतों के गुण ही इन्द्रियों के विषय होते हैं) लक्षण समान रूप में रहते हैं।

3.7.3 द्रव्यों का वैधर्म्य

१. मूर्त द्रव्यों में निश्चित आयतन, क्रिया एवं संस्कार वेगाख्य संस्कार (गतिशीलता व क्रियाकारिता) होती है; परन्तु भौतिक द्रव्य अकेला या अन्य से मिलकर संसार के पदार्थों का भौतिक कारण बनता है।

२. मन किसी का उत्पादन नहीं करता है; परन्तु आकाश विभु होते भी शब्द-गुण का उत्पादक है।

---

[13] च. स. १।२३

[14] वै. द. १।१५

[15] तर्कसंग्रह

३. पृथ्वी, जल, तेज व वायु—ये चार मूर्त व उत्पादक दोनों हैं, अतः इनमें द्रव्यारम्भकत्त्व और स्पर्शवत्त्व लक्षण होता है, अन्य द्रव्यों के साथ ऐसे लक्षण नहीं है।

४. पृथ्वी, जल व तेज में प्रत्यक्षत्व, रूपवत्व और द्रवत्व है, अन्य में नहीं।

५. पृथ्वी और अप् में गुरुत्त्व व रसत्त्व समान है; परन्तु अन्य द्रव्यों में

६. पृथ्वी, जल, तेज, वायु-इन चारों में अनित्यत्व व नित्यत्व दोनों है; शेष अन्य पाँच द्रव्यों में नित्यत्व होता है।

द्रव्य के अन्य भेद

उपर्युक्त द्रव्यों की नौ संख्या कही गयी है, वे कारण-द्रव्य हैं, उनके द्वारा कार्य द्रव्यों की उत्पत्ति होती है। १. यहाँ 'द्रव्य के अन्य भेद' शीर्षक के अन्तर्गत कार्य-द्रव्यों के भेद का वर्णन किया जाएगा। चरकसंहिता में जहाँ इन नौ कारण- द्रव्यों का उल्लेख किया गया है, वहाँ इसके बाद ही कार्य द्रव्यों के भेदों का संकेत दिया गया है।

चेतनाचेतन भेद

आयुर्वेद में कारण-द्रव्यों के उल्लेख करने के साथ ही कार्य-द्रव्यों का भेद करते हुए सर्वप्रथम कार्य-द्रव्यों के चेतना चेतन भेद का उल्लेख किया गया है। खादीन्यात्मा मनः कालो दिशश्च द्रव्यसंग्रहः ।

सेन्द्रियं चेतनं द्रव्यं निरिन्द्रियमचेतनम्।।[16]

अर्थात् ख आदि नौ कारण-द्रव्य है। इनके द्वारा जिन कार्य-द्रव्यों की उत्पत्ति होती है, उन्हें दो वर्गों में वर्गीकृत किया गया है—

१. चेतन द्रव्य (Living) तथा २. अचेतन (Non-Living)

१. **चेतन द्रव्य**-चेतन द्रव्यों के लक्षण के सम्बन्ध में कहा गया है कि- सेन्द्रियं चेतनं द्रव्यम्। अर्थात् इन्द्रिय युक्त द्रव्यों को चेतन द्रव्य कहा जाता है।

अचेतन द्रव्य-निरिन्द्रियमचेतनम्-अर्थात् इन्द्रिय रहित द्रव्यों को अचेतन द्रव्य कया जाता है ।

3.7.4 द्रव्य की संख्या

खादीन्यात्मा मनः कालो दिशश्च द्रव्यसंग्रहः । [17]

इस प्रकार आचार्य चरक के अनुसार- आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी, आत्मा, मन, काल और दिशा ये नौ द्रव्य होते हैं।

पृथिव्यापस्तेजो वायुराकाशं कालो दिगात्मा मन इति द्रव्याणि ।[18]

वैशेषिक दर्शन के अनुसार-पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, काल, दिशा, आत्मा व मन ये नौ द्रव्य हैं।

---

[16] च. सू. ११४८

[17] च.सू. १

[18] वै.द. ५

इस प्रकार द्रव्य की संख्या नौ बतलाई गयी हैं; परन्तु आयुर्वेद व वैशेषिक दर्शन के द्रव्योल्लेख के क्रम में कुछ अन्तर है। दोनों में पञ्चभूतों का उल्लेख प्रथमतः किया गया है; परन्तु जहाँ आयुर्वेद में आकाश से शुरु किया गया है, वहीं वैशेषिक में पृथ्वी से प्रारम्भ किया गया है।

चरक द्वारा प्रस्तुत द्रव्यों का क्रम अनागतवेक्षण से कहा गया है। अर्थात् आत्मादि का उल्लेख चरकसंहिता में द्रव्योल्लेख से पूर्व किया जा चुका है, अतः यहाँ अनागत अर्थात् जिनका उल्लेख नहीं किया गया है, वैशेषिक दर्शनानुसार द्रव्य क्रम-वैशेषिक दर्शन में द्रव्यों का क्रम आयुर्वेद से भिन्न है। यद्यपि वैशेषिक दर्शन में भी सर्वप्रथम पाँच भूतों का ही उल्लेख किया गया है; परन्तु उनका क्रम पृथिवी, जल, तेज, वायु व आकाश है। इसके बाद काल, दिशा का तथा अन्त में आत्मा व मन का उल्लेख किया गया है। वैशेषिक दर्शन में इन द्रव्यों का क्रम नित्यानित्य के आधार पर प्रस्तुत किया गया है। इन नौ द्रव्यों में पृथिवी, जल, तेज व वायु—ये चार भूत जब कार्यरूप में अर्थात् महाभूत रूप में होते हैं, तो अनित्य होते हैं; क्योंकि कोई भी अन्य कारण से उत्पन्न द्रव्य नित्य नहीं होता है तथा ये चार महाभूत परमाणु रूप में अर्थात् कारण रूप में नित्य होते हैं। अत: प्रथमतः नित्य व अनित्य इन चार भूतों का उल्लेख किया गया है। शेष पाँच द्रव्य-आकाश, काल, दिशा, आत्मा, मन-नित्य होते हैं। आत्मा के भी दो रूप माने जाते हैं, एक जीवात्मा, जो जीवधारियों को धारण करता तथा दूसरा परमात्मा, जो सृष्टि का कारण है। पृथ्वी आदि महाभूतों की प्रकृति, जीवात्मा ये तीनों नित्य माने जाते हैं। यहाँ आकाश, काल, दिशा तथा मन-इन चारों को भी नित्य कहा गया है। इसका तात्पर्य यह है कि आकाशादि ये चार चिरस्थायी अर्थात् अन्य द्रव्यों की अपेक्षा बहुत दिनों तक या बहुत लम्बे अन्तराल तक स्थायी होते हैं, अत: व्यावहारिक दृष्टि से इन्हें भी यहाँ नित्य कहा गया है। कतिपय विद्वान् आकाश, काल, दिशा, मन—इन चार द्रव्यों को नित्य मानते हैं तथा आत्मा सहित इन पाँचों को व्यावहारिक दृष्टि से अनित्य कहकर नित्य मानते. हैं और पृथ्वी आदि चार स्थूलभूतों को अनित्य मानते हैं।

3.7.5 पृथ्वी

गन्ध के समवायि कारण को अथवा पृथिवीत्व जाति से सम्पन्न द्रव्य को पृथिवी कहते हैं।**रूपरसगन्धस्पर्शवती पृथ्वी**[19] इसमें चौदह गुण-रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, संख्या, परिमाण (Dimension), पृथक्त्व (Separateness), संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, गुरुत्व, द्रवत्व (Liquidity) और संस्कार - उपलब्ध होते हैं। पृथिवी के रूप के सात प्रकार हैं-शुक्ल, नील, पीला, लाल, हरा, कपिश (Brown) और चित्र अथवा मिश्रित। इसमें छह प्रकार के रस पाये जाते हैं-मधुर आम्ल (Sour), लवण (Saline), कटु (Pungent), कषाय (Astringent) और तिक्त। पृथिवी की गन्ध को दो भाँगों में बाँटा गया है-सुगन्धि (सुरभि) और असुगन्धि (असुरभि)। असुगन्धि के अन्दर दुर्गन्ध और वह गन्ध भी आ जाती है जो न सुगन्धि हो और न दुर्गन्ध हो।' पृथिवी के नित्य तथा अनित्य दो भेद हैं। नित्य भेद के अन्तर्गत पार्थिव परमाणु आते हैं जो पृथिवी के सूक्ष्मतम अविभाज्य तथा शाश्वत स्वरूप हैं। अनित्य पृथिवी के अन्तर्गत द्वयणुक (Diad) से लेकर समस्त पार्थिव तत्त्व तक आ जाते हैं

3.7.6 जल

पृथिवी की भाँति जल के भी नित्य और अनित्य दो भेद हैं। हमारी रसनेन्द्रिय, जो जीभ के

[19]**वैशेषिकसूत्र २/१/१**

अग्रभाग में रहती है, मुख्यतः जल से बनी है।जिसमें रूप, रस, स्पर्श, द्रवत्व और स्निग्धत्व हो वह 'जल' द्रव्य है। **रूपरसस्पर्शवत्य आपो द्रवाः स्निग्धाः** ।[20] तर्कसंग्रह में बताया गया है कि जल वह है जिसमें शीतल स्पर्श हैं। संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, गुरुत्व, द्रवत्व, संस्कार ये जल के सामान्य गुण हैं। जल दो प्रकार का होता है-नित्य और अनित्य । नित्य जल परमाणु रूप है और अनित्य जल कार्यरूप है । कार्यरूपी जल के भी तीन प्रकार होते हैं

3.7.7 अग्नि

स्वाभाविक उष्ण स्पर्श से युक्त द्रव्य तेज या अग्नि है।**तेजोरूपस्पर्शवत्**[21]इनमें भास्वर शुक्ल रूप रहता है । चक्षु या आँख तेज से उत्पन्न इन्द्रिय मानी जाती है। वैशेषिक के अनुयायी सुवर्ण या सोने का तैजस द्रव्य मानते हैं।

3.7.8 वायु

जिसमें केवल स्पर्ण गुण विद्यमान हो, उसे 'वायु' द्रव्य कहते हैं**स्पर्शवान् वायुः**[22] रूपरहित होने से वायु को देखा नहीं जा सकता । केवल स्पर्श के द्वारा ही उसे जाना जाता है।रूप- हीन किन्तु स्पर्श-युक्त द्रव्य वायु है । त्वक् या त्वचा वायु से उत्पन्न इन्द्रिय है; उसी से (नव्य नैयायिकों के अनुसार) वायु का प्रत्यक्ष होता है।

3.7.9 आकाश

शब्द गुणवाला द्रव्य आकाश है ।**शब्दगुणकमाकाशम् । तच्चैकं विभुं नित्यं च**[23] शब्द गुण का आश्रय दूसरा कोई द्रव्य नहीं हो सकता, इसलिए परिशेषानुमान से यह सिद्ध होता है कि शब्द आकाश का गुण शब्द आकाश का अनुमापक (अनुमान करनेवाला) भी है। आकाश विभु है, क्यों शब्द सर्वत्र उपलब्ध होता है। आकाश एक और नित्य है ।

3.7.10 काल

आकाश के समान काल भी वैशेषिक दर्शन का एक नित्य तथा व्यापक द्रव्य है।**अतीतादिव्यवहारहेतुः कालः, स चंको विभुनित्यश्च**[24] यह रूप या स्पर्श आदि गुणों से सम्पन्न न होने के कारण हमारे प्रत्यक्ष का विषय नहीं हो पाता। इसलिए काल की सत्ता को सिद्ध करने के लिए अनुमान प्रमाण की आवश्यकता है। अनुमापक हेतुओं के रूप में वैशेषिक दर्शन में परत्व और अपरत्व (Priority and Posteriority) को, योगपद्य (Simultaneity) की, अयोगपद्य - पौर्वापर्य (Succession) की, शीघ्रता- क्षिप्रत्व और विलम्ब चिरत्व की धारणाओं को प्रस्तुत किया गया है। दिन, रात्रि, मास, ऋतु आदि के व्यवहारों को भी काल का अनुमापक माना गया है।

---

[20] वही २/१/१२

[21] वैशेषिकसूत्र २/१/३

[22] वैशेषिकसूत्र २/१/४

[23] तर्कसंग्रह

[24] तर्कसंग्रह, १४

3.7.11दिक्

इस जगत् के मूर्त्त द्रव्यों की आपेक्षिक स्थिति (Relative Position) की व्याख्या के लिए एक दिक् (Space) नाम का द्रव्य भी वैशेषिक दर्शन में माना गया हैं। **प्राच्यादिव्यवहारहेतुद्रिक सा चेका नित्या विम्बी च ।**[25] पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण आदि के व्यवहार का हेतु द्रव्य 'दिक्' है। काल के समान दिक् भी एक, नित्य एवं विभु है। संख्या, परिमाण, संयोग, विभाग और पृथक्त्वये पाँच उसके गुण हैं । दिक् वस्तुतः एक एवं नित्य है किन्तु उपाधि-भेद से पूर्व, पश्चिम आदि कई प्रकार के मालूम पड़ते हैं । दिक् काल की तरह निरवयव है। काल और दिक् दोनों ही निराकार, निरवयव और नित्य एवं सर्वव्यापक हैं। किन्तु दिक् काल से अलग पदार्थ है। दिक् दैशिक परत्व (दूरी) और अपरत्व (निकटता) का कारण है।

यह भी काल के समान अप्रत्यक्ष है । अतः इसकी सत्ता का अनुमान करना पड़ता है। वैशेषिक दर्शन में दूरी और समीपता की व्याख्या के लिए इसकी सत्ता मानी गई है ।

3.7.12 आत्मा

ज्ञान के अधिकरण को आत्मा कहते हैं (ज्ञानाधिकरणमात्मा) । आत्मा का विशेष गुण 'चैतन्य' है । प्राण, अपान, निमेष, उन्मेष, जीवन, मनोगति, इन्द्रियान्तरविकार, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, चैतन्य (आत्मा) के सूचक चिह्न हैं। आत्मा नित्य द्रव्य है । बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, भावना, धर्म और अथमं ये आत्मा के विशेष गुण हैं । संख्या, परिमाण, संयोग, विभाग, पृथक्त्व ये पाँच आत्मा के सामान्य गुण हैं। बुद्धि आदि गुणों का आधार होने से आत्मा द्रव्य है और निरवयव होने से नित्य है । न्याय-वैशेषिकदर्शन में आत्मा के दो रूप बताये गये हैं- परमात्मा और जीवात्मा ।

प्राणपाननिमेषोन्मेष जीवन मनोगतीन्द्रियान्तरविकाराः सुखदुःखेच्छाद्वेषप्रयत्नाश्चात्मनो लिङ्गानि ।[26]

आत्मा को सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, सर्वव्यापक और एक बताया गया है। जीवात्मा क हैं। प्रत्येक शरीर में रहने वाला जीवात्मा नित्य और विभु है।" प्रत्येक वात्मा में एक विशेष होता है जो दूसरी आत्माओं से उसे पृथक् करता है। न्याय- अधिक के अनुसार जीवात्मा कर्ता, भोक्ता तथा व्यापक है। अद्वैतवाद के अनुसार त्मा एक है किन्तु वैशेषिकमत में जीवात्मा का अनेकत्व सिद्ध होता है। "व्यव तो नाना" इस वैशेषिकसूत्र से भी आत्मा का अनेकस्य व्यवस्थापित है। जैसे- ई सुखी है, कोई दुःखी है, कोई धनी, कोई निर्धन है, कोई विद्वान है और कोई मूर्ख । प्रकार जीवात्मा के विभिन्न अवस्थाओं को देखने से ज्ञात होता है कि जीवात्मा तक है। और विभु होने से यह परिमाणयुक्त है।

3.7.13 मनस्

न्याय-वैशेषिक के अनुसार 'मन' अणु और नित्य है । सुख, दुःख आदि ज्ञान के साधक इन्द्रिय को 'मन' कहा जाता है ।' शिवादित्य के अनुसार मन शून्य और क्रियाधिकरण है । मन एक है, वह अणु के रूप में प्रत्येक शरीर में प्रमान रहता हैं

---

[25] **तर्कसंग्रह, १५**

[26] वैशेषिकसूत्र ३।२/४

अयोगपद्यात् ज्ञानानां तस्याणुत्वमिहोच्यते ।[27]

मीमांसक मन को मु मानते हैं, किन्तु न्याय-वैशेषिक मत में उसे व्यापक नहीं माना जा सकता। कि आत्मा समस्त शरीर में व्यापक है। यदि मन को भी व्यापक माना जाय तो मा को एक ही साथ समस्त वस्तुओं का ज्ञान हो जायेगा। किन्तु आत्मा के ज्ञान पौर्वापर्य देखा जाता है । अतः मनु विभु नहींबल्कि अणु परिमाण है । मन त्य है न वह उत्पन्न होता है और न उसका विनाश होता है । प्रतिशरीर में मन रहता है, किन्तु शरीर भेद से अनेक प्रतिभासित होता है। प्रत्येक मन में एक शेष रहता है जो अपने को दूसरे मन से पृथक् करता है। मन अचेतन है । मन कोई विशेष गुण नहीं हैं। संख्या, परिमाण, संयोग, विभाग, पृथक्त्व, परत्व, अपरत्व र संस्कार ये मन के सामान्य गुण है ।

3.8 गुण (Quality)

वैशेषिक का दूसरा पदार्थ गुण है । द्रव्यों में आश्रित, गुणरहित और संयोग एवं विभाग का निरपेक्ष कारण न होनेवाला अपितु सापेक्ष कारण होनेवाला पदार्थ गुण है -[28] यह कणाद की परिभाषा है।

3.8.1 गुण की निरुक्ति

"गुण आमंत्रणे' धातु से गुण शब्द निष्पन्न होता है—गुण्यते आमंत्र्यते लोक अनेन इति गुणः - अर्थात् जिसके कारण लोक या लोकगत लोग द्रव्य की ओर आकृष्ट होते हैं, उसे गुण कहा जाता है। “**गुण्यते बध्यते अनेन इति गुण**:"। अर्थात् जिसके द्वारा बाँधा जाए, वह गुण है।

१. समबायी तु निश्चेष्टः कारणं गुणः[29] ।

२. द्रव्याश्रय्यगुणवान् संयोगविभागेष्वकारणमनपेक्ष इति गुणलक्षणम्[30]

३. अथ द्रव्याश्रिता ज्ञेयाः निर्गुणा निष्क्रिया गुणाः[31]-

आचार्य चरक ने गुण के लक्षण के सम्बन्ध में कहा कि जो समवाय सम्बन्ध से द्रव्य में आश्रित हो, कर्मरहित हो, गुण-रहित हो तथा कार्य के प्रति जो असमवायि कारण हो, उसे गुण कहा जाता है। वैशेषिक दर्शन में इससे मिलता-जुलता ही लक्षण दिया गया है। यथा— जो द्रव्याश्रित, गुण से रहित तथा संयोग-विभाग में अकारण तथा अनपेक्ष हो उसे गुण कहा जाता है। यहाँ संयोग- विभाग का तात्पर्य कर्म से हैं। अर्थात् जो कर्म में अकारण तथा अनपेक्षित हो।

3.8.2 विविध कर्मों के सम्पादन में द्रव्य का प्रयोग

साधन के रूप में होता है; परन्तु द्रव्य इन कर्मों में तभी समर्थ होता है, जब उसमें उचित गुणाधान होता है। द्रव्यों के कर्म तदाश्रित गुणों के कारण होते हैं। इस प्रकार जहाँ कर्म का स्वभाव है, वहीं गुण का महत्वपूर्ण स्थान है तथा वे इसके लक्षण में कहते हैं कि- जिसके कारण

[27] भाषापरिच्छेद ८५

[28] . बै० सू०, 1/1/16

[29] च. सू. १

[30] (वै. द. १|१|१६)।

[31] कारिकावली

लोग द्रव्य की ओर आकृष्ट होते हैं, उसे गुण कहा जाता है। यथा—गुर्वादि गुण, जो कि रस्सी के समान बन्धनकारक होता है। इस प्रकार इन लक्षणों के आधार पर गुण का लक्षण इस रूप में प्रकट होता है कि-जो द्रव्य में आश्रय करके रहने वाला हो। अर्थात् द्रव्याश्रयी हो, गुणरहित हो, जो कर्मरहित हो या कर्म से भिन्न हो और जो स्वसमान गुणों की उत्पत्ति में असमवायि-कारण हो, उसे गुण कहते हैं। जो दूसरे का आश्रय रहता है, वह कर्त्ता होता है। कर्त्ता होने के कारण आश्रय प्रधान होता है तथा जो अन्य पर आश्रित रहता है एवं साधन होता है, वह अप्रधान या गौण होता है, अतः अन्य अर्थात् द्रव्य के आश्रय से रहने के कारण तथा उपकरण मात्र होकर गौण रहने के कारण इसे गुण कहा जाता है। गुण द्रव्य में समवाय-सम्बन्ध से रहता है। इसे द्रव्य से अलग नहीं किया जा सकता। यदि किसी द्रव्य का गुण उससे पृथक् कर दिया जाए तो उस द्रव्य का अस्तित्व ही नहीं रह जायेगा। इस प्रकार उपर्युक्त तथ्यों के आलोक में गुण के निम्न लक्षण होते हैं-

क) जो समवाय-सम्बन्ध से द्रव्याश्रयी हो अर्थात् समवाय रूप में द्रव्य में रहता हो।

ख) जो चेष्टा या कर्मरहित हो या कर्म से भिन्न हो।

ग) जो किन्हीं अन्य गुणों से रहित अर्थात् निर्गुण हो।

घ) जो स्वसमान गुणोत्पत्ति में अथवा कार्योत्पत्ति में असमवायि कारण हो।

इस प्रकार उपर्युक्त सभी लक्षण अर्थात् द्रव्याश्रयी होना, चेष्टारहित होना, निर्गुण होना तथा स्वसमान कार्योत्पत्ति में असमवायि कारण होना—ये चारों लक्षण एक साथ जिसमें विद्यमान हों, उसे गुण कहा जाता है।

नागार्जुन रसवैशेषिककार ने गुण का पाँचवाँ लक्षण भी दिया है कि- 'विश्वलक्षणा गुणाः' अर्थात् जिसका लक्षण विश्व अर्थात् भिन्न-भिन्न हो उसे गुण कहा जाता है।

भदन्त नागार्जुन का लक्षण विशेषकर कार्यद्रव्यों के लिये लक्षण रूप में प्रकाशक है; क्योंकि कार्यद्रव्यों में गुण के अतिरिक्त आश्रय से कर्म भी रहता है—**'यत्राश्रिताः कर्मगुणा समवायि यत् तद्द्रव्यम्'।** इस प्रकार यह लक्षण गुण व कर्म दोनों के होते हैं

अर्थात् जो समवाय रूप में द्रव्य के आश्रय से रहने वाला हो, जो अगुणवान् हो तथा जो निष्क्रिय या चेष्टारहित हो, उसे गुण कहते हैं। इस लक्षण से गुण का स्पष्ट बोध हो जाता है। इस प्रकार गुण के लिये अब कहा गया है कि- **'द्रव्यकर्मभिन्नत्वे सति सामान्यवान् गुणः'** अर्थात् जो द्रव्य व कर्म से भिन्न हो उस जाति वाले का नाम गुण हैं, अतः प्रशस्तपादभाष्य में कहा गया है कि- 'गुणत्वजातिमत्त्वं गुणत्वम्'। अर्थात् गुण जातिवाले को गुण कहा जाता है।

पाश्चात्य दार्शनिकों ने भी गुण पर विचार किया है। लॉक के अनुसार-गुण बाह्य वस्तुओं में होता है, जो प्रत्यय का प्रयोजक होता है। यहाँ प्रत्यय का तात्पर्य ज्ञान या बोध है। जब मन द्वारा विषय- ज्ञान (रूप स्पर्शादि) होता है, उसे प्रत्यय कहा जाता है तथा इसका प्रयोजक अर्थात् जिसका ग्रहण मन द्वारा होता है, उसे गण कहते हैं। इसके दो भेद हैं-Primary Qualities जो नैयायिकों का द्वीन्द्रियग्राह्य तथा Secondary qualities जो नैयायिकों का एकेन्द्रिय ग्राह्य विषय कहा जा सकता है।

बर्कले के अनुसार-द्रव्यों का ज्ञान गुणों से होता है। किसी भी द्रव्य का आकर्षण गुण के कारण होता है। जैसे-यदि खड़िया से उसकी सफेदी, आकार, विस्तार, गुरुता आदि निकाल दिया जाए

तो फिर उस द्रव्य का अस्तित्व ही समाप्त हो जाता है। इनके अनुसार ज्ञान में आना ही वस्तु की सत्ता है तथा सत्ता ही ज्ञान (Esset pericipi) है। इस प्रकार बर्कले का विचार गुण के सम्बन्ध में भारतीय दर्शन के विचार से मिलता-जुलता है। यहाँ सत्भाव का गुण से सम्बन्ध स्थापित किया गया है।

3.8.3 गुणों की संख्या

"रूपरसगन्धस्पर्शसंख्यापरिमाणपृथक्त्व संयोगविभागपरत्वापरत्वगुरुत्वद्रवत्वस्नेह-दबुद्धि सुखदुःखेच्छाद्वेषप्रयत्नधर्माधर्मसंस्काराश्चतुविशतिगुणाः ।[32]

वैशेषिक दर्शन में चौबीस प्रकार के गुण माने गये हैं। ये गुण है-रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, संख्या, परिमाण (Dimension) पृथक्त्व (Separateness), संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, गुरुत्व, द्रवत्व (Liquidity), स्नेह (Viscidity), शब्द, बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म और संस्कार।

वैशेषिक गुण-आचार्य चरक ने इसे 'सार्थाः' से सम्बोधित किया है। वैशेषिक गुण से यहाँ विषयरूप गुणों का ग्रहण किया जाता है। शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध- इन पाँच गुणों को वैशेषिक गुण कहा जाता है। इन्हें वैशेषिक गुण क्यों कहा जाता है? इसका संकेत आचार्य चक्रपाणिदत्त ने दिया है कि—एते च वैशेषिकाः, यतः आकाशस्यैव शब्दः प्राधान्येन, वायोरेव स्पर्शः प्राधान्येन एवमग्न्यादिषु रूपादयः। अर्थात् प्रत्येक महाभूत में एक-एक गुण विशेष रूप में रहता है। जैसे-आकाश में विशेषरूप से शब्द गुण की प्रधानता होती है। वायु में विशेषरूप से स्पर्श गुण की प्रधानता होती है। अग्नि आदि अन्य महाभूतों में एक-एक गुण रूप आदि की विशेष रूप से प्रधानता होती है। इस प्रकार प्रत्येक महाभूतों में एक-एक गुणविशेष को विशिष्ट रूप में रहने के कारण इन्हें वैशेषिक गुण कहा जाता है अथवा प्रत्येक भूतों के ये विशिष्ट गुण होते हैं, अत: इन्हें **वैशेषिक गुण** कहा जाता है

इन पाँच वैशेषिक गुणों का उल्लेख प्रायः सभी दर्शनों में (आस्तिक दर्शनों में जो पंचमहाभूतवाद को स्वीकार करते हैं) किया गया है। वैशेषिक दर्शन के सत्रह गुण व न्याय के चौबीस गुणों में भी इन पाँच वैशेषिक गुणों का प्रथमतः उल्लेख किया गया है।

3.8.4 वैशेषिक गुणों का साधर्म्य व वैधर्म्य

'रूपादीनां गुणानां सर्वेषां गुणत्वाभिसम्बन्धो द्रव्याश्रितत्वं निर्गुणत्वं निष्क्रियत्वं च' (प्रशस्तपाद)। अर्थात् शब्द, स्पर्श, रूप, रस व गन्ध-इन पाँचों गुणों में द्रव्याश्रियत्व (द्रव्यों में आश्रित होकर रहना) निर्गुणत्व (गुणरहित होना) तथा निष्क्रियत्व (क्रियाहीन होना) समान लक्षण होते हैं, अतः ये इनके साधर्म्य हैं। रूप, रस, गन्ध व स्पर्श-इन चारों गुणों में मूर्त्तत्व समान रूप से रहते हैं, अतः ये इन चारों के साधर्म्य हैं। ये पाँचों गुण बाह्य गुण होते हैं, अतः यह इनका साधर्म्य है। ये पाँचों गुण एक-एक इन्द्रिय से ग्राह्य हैं, अतः इनमें एकेन्द्रियग्राह्यता समान रूप से रहती है, यह इनका साधर्म्य या समान रूप से पाये जाना वाला लक्षण है।

शब्द पाँचों महाभूतों में, स्पर्श चार महाभूतों में, रूप तीन महाभूतों में, रस दो महाभूतों में तथा गन्ध केवल पृथ्वी में आश्रित होता है; यह इनका वैधर्म्य है। रूपत्व केवल तीन- अग्नि, जल व

[32] **तर्कसंग्रह,**

पृथ्वी में होता है तथा आकाश, वायु में नहीं, यह वैधर्म्य है। गन्धत्व विशिष्ट रूप से पृथ्वी के आश्रित रहने वाला गुण है। यह अन्य गुणों ये इसका वैधर्म्य है।

आध्यात्मिक गुण-इन्हें आत्मगुण भी कहा जाता है; क्योंकि आत्मा के लक्षण रूप में जो गुण होते हैं, उन्हें ही आध्यात्मिक गुण कहा जाता है। चरकसंहिता में 'मनो मनोऽर्थो बुद्धिरात्मा चेत्यध्यात्मद्रव्यगुणसंग्रहः' कहा गया है। अर्थात् मन एव आत्मा अध्यात्म द्रव्य कहे गये हैं तथा इसके गुणों को आध्यात्मिक गुण कहा जाता है।

इच्छाद्वेषः सुखं दुःखं प्रयत्नश्चेतना धृतिः । बुद्धिस्मृत्यहंकारोलिंगानि परमात्मनः ।। [33]

आध्यात्मिक गुणों की संख्या छः मानी जाती है, जो आत्म गुण हैं अर्थात् आत्मा के लक्षण से सम्बन्धित गुण हैं। ये छः गुण हैं- १. इच्छा, २. द्वेष, ३.सुख, ४.दुःख, ५. प्रयत्न, ६. बुद्धि। वैशेषिक व न्याय दर्शन में भी इन छः आध्यात्मिक गुणों का उल्लेख किया गया है।

गुर्वादि सामान्य गुण-आचार्य चक्रपाणिदत्त ने सामान्य गुण के अन्तर्गत गुर्वादि एवं परादि दोनों प्रकार के गुणों को ग्रहण किया है। इन गुर्वादि गुणों को शारीर गुण भी कहा जाता है। गुर्वादि गुणों एवं परादि गुणों को पृथ्वी आदि पंचमहाभूतों में सामान्य रूप से पाये जाने के कारण सामान्य गुण कहा जाता है। 'एते च सामान्यगुणाः पृथिव्यादीनां साधारणात्वात्'। (चक्र.) शरीर की रचना पाँच महाभूतों से होती है। शरीर के दोषों व धातुओं के गुण गुर्वादि गुण होते हैं, अतः इन्हें शारीर गुण कहा जाता है। आयुर्वेदीय चिकित्सा इन्हीं गुणों पर आधारित होती है; क्योंकि ये गुण शरीर के आश्रित व द्रव्य के आश्रित होते हैं। इन गुणों की संख्या बीस होती है, जो दस युग्मों में होते हैं। प्रत्येक युग्म में एक गुण दूसरे गुण के विपरीत होते हैं।

गुण-शीतोष्णस्निग्धरुक्षविशदपिच्छिल- गुरुलघुमृदुतीक्ष्णगुणाः कर्मण्याः।[34]

गुरु-लघु, मन्द-तीक्ष्ण, हिम-उष्ण, स्निग्ध-रुक्ष, श्लक्ष्ण-खर, सान्द्र-द्रव, मृदु-कठिन, स्थिर- सर, सूक्ष्म- स्थूल तथा विशद-पिच्छिल-ये बीस गुर्वादि गुण होते हैं। नागार्जुन ने इनमें से दस गुणों को ही कर्मण्य गुण कहा है।

गुणों का साधर्म्य

1. सभी गुणों में गुणत्व जाति समान रूप से लक्षण रूप में होती है।
2. सभी गुणों में द्रव्याश्रितत्त्व अर्थात् द्रव्यों के आश्रय में रहना समान रूप से रहता है।
3. सभी गुणों में निर्गुणत्व समान रूप से रहता है। अर्थात् समस्त गुण, गुणों से रहित होते हैं।
4. समस्त गुणों में निष्क्रियत्व अर्थात् किसी प्रकार की क्रिया से रहित होना समान रूप में होता है।
5. समस्त गुणों में गौणत्व या अप्रधानता समान रूप से होती है।

गुणों का वैधर्म्य-

1. रूप-रस-गन्ध-स्पर्श-परत्व-अपरत्व-गुरुत्व-द्रवत्व-स्नेहत्व और वेग- ये दस गुण मूर्त्तगुण होते हैं। अर्थात् इनका स्वरूप स्थूल होता है अथवा ये स्थूल द्रव्यों में आश्रित होते हैं,

---

[33] च. शा. १)

[34] र. वै. ३।१११

अतः अन्य गुणों से इन गुणों का मूर्त्तत्व वैधर्म्य है।

2. बुद्धि-सुख-दुःख-इच्छा-द्वेष-प्रयत्न-धर्म-अधर्म-भावना और शब्द-ये दस गुण अमूर्त गुण कहे जाते हैं। अर्थात् इनका स्थूल स्वरूप नहीं होता है अथवा ये उन्हीं द्रव्यों के आश्रित होते हैं, जिनका स्थूल रूप नहीं होता है। यथा-आकाश व आत्मा के गुण।

3. संख्या-परिमाण पृथक्तव-संयोग-विभाग- ये पाँच गुण उभयात्मक होते हैं अर्थात् इनमें मूर्त्तत्व व अमूर्तत्व दोनों होता है। अथवा ये पाँच गुण मूर्त व अमूर्त दोनों प्रकार के द्रव्यों के आश्रित होकर रहते हैं। ये गुण प्रायः सभी प्रकार के द्रव्यों में पाये जाते हैं।

4. संयोग-विभाग कभी भी एक द्रव्य में नहीं पाये जाते हैं। संख्या कभी एक द्रव्य में कभी अनेक द्रव्यों में पाई जाती है।

5. शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गंध-बुद्धि-सुख-दुःख-इच्छा-द्वेष-प्रयत्न-धर्म-अधर्म-

   संस्कार व गुर्वादि बीस गुणों को विशेष गुण कहा जाता है; क्योंकि इन गुणों के आधार पर ही एक वस्तु को दूसरे वस्तु से अलग समझा जाता है; क्योंकि विशेष गुण पृथक् करने वाला होता है।

6. संख्या परिमाण-पृथक्त्व-संयोग-विभाग-परत्व-अपरत्व-व द्रवत्व- ये सामान्य गुण होते हैं। अर्थात् ये अनेक द्रव्यों में पाये जाते हैं। इनके द्वारा एक वस्तु से दूसरे वस्तु को अलग नहीं किया जा सकता है, बल्कि ये वस्तुओं में एकत्व करने वाले होते हैं।

7. संयोग-विभाग और वेग कर्म से उत्पन्न होने वाले गुण हैं।

8. शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गंध-ये बाह्य गुण हैं। इनका ग्रहण एक-एक इन्द्रियों द्वारा होता है, जबकि संख्या-पृथक्तव-परिमाण संयोग-विभाग-परत्व-अपरत्व- द्रवत्व-स्नेह और वेग-दो इन्द्रियों द्वारा ग्राह्य है।

9. बुद्धि-सुख-दुःख-इच्छा-द्वेष व प्रयत्न - इनका ग्रहण मन द्वारा होता है।

10. गुरुत्व, धर्म, अधर्म व भावना-ये अतीन्द्रिय है।

11. संयोग, विभाग, संख्या, गुरुत्व, द्रवत्व, उष्ण, स्पर्श-ज्ञान, धर्म, अधर्म संस्कार ये सामान्य व विशेष दोनों प्रकार के गुण उत्पन्न करते हैं।

12. बुद्धि-सुख-दुःख-इच्छा-द्वेष भावना और शब्द अपने आश्रय में समवाय सम्बन्ध से रहते हैं, अतः ये समवेतारम्भ अर्थात् आश्रय ये गुण को उत्पन्न करते हैं तथा रूप रस, गन्ध अनुष्ण स्पर्श, संख्या परिमाण एकत्व पृथक्त्व स्नेह शब्द-इन गुणों में असमवायि कारण होता है।

3.8.5 वैशेषिक गुणों का निरूपण

भूतों के विशिष्ट गुणों तथा इन्द्रियों के विशिष्ट विषयों को वैशेषिक गुण कहा जाता है- 'अर्था शब्दादयो ज्ञेया गोचरा विषया गुणा:'- अर्थात् इन्द्रियों द्वारा जिन शब्दादि विषयों का ग्रहण किया जाता है, उसे विशेष गुण कहा जाता है।

अर्थात् विशेष पृथक् करने वाला होता है। ये विषय पृथक्-पृथक् इन्द्रियों द्वारा पृथक् रूप में ग्रहण किये जाते हैं, अत: इन्हें विशेष गुण कहा जाता है, तथा विशेष होने से इन्हें वैशेषिक गुण कहा जाता है। ये पाँच होते हैं- १. शब्द, २. स्पर्श, ३. रूप, ४. रस व ५. गन्ध। इनमें शब्द

आकाश का गुण तथा श्रोत्रेन्द्रिय का विषय होता है। स्पर्श वायु महाभूत का गुण तथा स्पर्शनेन्द्रिय का विषय होता है। रूप तेज महाभूत का गुण तथा चक्षुरीन्द्रिय का विषय होता है। रस जल महाभूत का गुण तथा रसनेन्द्रिय का विषय है। इसी प्रकार गन्ध पृथ्वी महाभूत का गुण व घ्राणेन्द्रिय का विषय है।

3.8.6 शब्द की उत्पत्ति तथा भेद

श्रोत्रोपलब्धिर्बुद्धिर्निर्ब्रह्म प्रयोगेणाभिज्वलित आकाशदेशशब्दः।[35] अर्थात् शब्द आकाश का गुण है। यह श्रोत्रेन्द्रिय द्वारा ग्रहण किया जाता है। इसकी उत्पत्ति संयोग व विभाग से होती है। प्रशस्तपाद भाष्य में इसकी उत्पत्ति का कारण संयोग-विभाग व शब्द माना गया है। महाभाष्य के अनुसार जो विषय श्रोत्रेन्द्रिय के द्वारा ग्रहण किया जाता है, उसे शब्द कहते हैं। इसके बाद वे शब्द के लक्षण में कहते हैं कि जो वाणी द्वारा बोलने से जाना जाए तथा जिसका स्थान या आश्रय आकाश हो उसे शब्द कहा जाता है।

शब्द दो प्रकार का होता है-

१. वर्णलक्षणात्मक शब्द तथा २. ध्वनिलक्षणात्मक शब्द ।

वर्णलक्षणात्मक शब्द- 'तत्र वर्णलक्षणस्योत्पतिःआत्ममनससंयोगात् स्मृत्यपेक्षाद्वर्णोच्चारणेच्छा,तदनन्तरंप्रयत्नस्तमपेक्षमाणादात्मवायुसंयोगाद्वायौ कर्म जायते, स चोर्ध्वं गच्छन् कण्ठादीनभिहन्ति, ततः स्थानवायुसंयोगापेक्षमाणात् स्थानाकाशसंयोगात् वर्णोत्पत्तिः'।[36]

अर्थात् अकारादि वर्ण वाले शब्द को वर्णलक्षणात्मक शब्द कहा जाता है। अर्थात् जिन शब्दों द्वारा अ, क, ट आदि वर्ण स्पष्ट होते हैं, उन शब्दों को वर्णलक्षणात्मक शब्द कहा जाता है। हमलोग जो वार्तालाप करते हैं या जो कुछ बोलते हैं, वे सब वर्णलक्षणात्मक शब्द कहे जाते हैं।

ध्वनिलक्षणात्मक शब्द- ध्वनि लक्षणात्मक शब्द या अवर्णलक्षणात्मक शब्द भी संयोग-विभाग से उत्पन्न होता हैं। यह शब्द भेरी (ढोलक, नगाड़ा आदि वाद्ययंत्र) तथा दण्ड के संयोग से एवं भेरीगत आकाश के संयोग से उत्पन्न होता है। वेणु पर्व के विभाग से तथा वेणु आकाश के विभाग से शब्द की उत्पत्ति होती है। यहाँ वेणु बांस को कहा गया है। जब बाँस को काटकर उसका विभाग किया जाता है, तो जहाँ बांस (Bamboo) की गाँठ होती है, वहाँ विभाग करने पर अर्थात् उसके छिद्र करने पर शब्द की उत्पत्ति होती है, उसी प्रकार आकाश के विभाग से शब्द की उत्पत्ति होती है, ऐसा यहाँ कहा गया है। यहाँ वाद्ययंत्र भेरी व दण्ड के संयोग से तथा वेणुपर्व के विभाग से शब्दोत्पत्ति का उदाहरण देकर बतलाया गया है कि इसी प्रकार आकाश के संयोग व विभाग से शब्द की उत्पत्ति होती है।

3.8.7 स्पर्श

स्पर्शस्त्वगिन्द्रियग्राह्यः । क्षित्युदकज्वलनपवनवृत्तिः। त्वक् सहकारी, रूपानु- विधायी, शीतोष्णानुष्णाशीतभेदात्-त्रिविधः । अस्यापि नित्यानित्यत्वनिष्पत्तयः पूर्ववत्।[37]

---

[35] महाभाष्य

[36] प्रशस्तपादभाष्य

[37] प्रशस्तपाद भाष्य

तत्र शीतो जले, उष्णस्तेजसि, अनुष्णशीतः पृथिवीवाय्वोः ।

स्पर्शनेन्द्रियसंस्पर्शो, स्पर्शो मानस एव च।। [38]गुण का ग्रहण केवल स्पर्शनेन्द्रिय द्वारा किया जाता है, उसे स्पर्श कहते हैं। इस गुण का स्पर्शनेन्द्रिय के अतिरिक्त अन्य किसी भी इन्द्रिय से ग्रहण नहीं किया जाता है। यह स्पर्श, वायु, अग्नि, जल व पृथ्वी– इन चारों महाभूत में अनुप्रवेश के आधार पर व्याप्त रहता है। इस गुण का सहकारी त्वचा होता है। यह परमाणु रूप में नित्य होता है। यह स्पर्श तीन प्रकार का होता है- १. शीत स्पर्श, २. उष्ण स्पर्श तथा ३. अनुष्णशीत स्पर्श। इनमें से शीतस्पर्श जल महाभूत में रहता है। उष्ण स्पर्श अग्नि महाभूत में तथा अनुष्णशीत स्पर्श वायु व पृथ्वी इन दो महाभूतों में होता है।

स्पर्श गुण या स्पर्श से ही इन्द्रियाँ अपने विषयों का ग्रहण करती है। आचार्य चरक ने स्पर्श की विद्यमानता मन के साथ भी कहा है। मन का संयोग जब विषयों के साथ होता है, तो उसे मानस-स्पर्श या मनोस्पर्श कहा जाता है। इस गुण के आश्रय स्पर्शनेन्द्रिय से मन का समवाय-सम्बन्ध रहता है, अतः स्पर्श का सम्बन्ध मन के साथ होता है। स्पर्शनेन्द्रिय सभी इन्द्रियों में व्याप्त रहती हैं तथा मन से समवाय रूप से सम्बन्धित होने के कारण अन्य इन्द्रियों के ज्ञान के विषयों का ज्ञान स्पर्श के माध्यम से कराती है। शरीर में चूँकि बाह्य जगत् के विभिन्न उत्तेजनाओं का विषय रूप में स्पर्शनेन्द्रिय से सम्पर्क होता है, अतः स्पर्शेन्द्रिय ग्राह्य कहा गया है। स्पर्श गुण से ही स्पर्शेन्द्रिय की व्यापकता दर्शायी गयी है अथवा जिस स्थान विशेष पर स्पर्श या संयोग होता है, उसे स्पर्शनेन्द्रिय माना जाता है तथा कहा जाता है कि यह स्पर्शनेन्द्रिय है। स्पर्शनेन्द्रिय का तात्पर्य सम्पर्क स्थल या साइट आफ कान्टेक्ट (Site of contect) समझना चाहिये तथा स्पर्श का तात्पर्य सम्पर्क या कान्टेक्ट समझना चाहिये। यदि स्पर्शनेन्द्रिय का अर्थ केवल त्वचा (Skin) ग्रहण किया जाए तो अन्य इन्द्रियों में अव्याप्ति हो जाएगी; क्योंकि त्वचा तो मात्र शरीर का बाह्यावरण है। यदि स्पर्श का अर्थ सम्पर्क और स्पर्शनेन्द्रिय का अर्थ सम्पर्क स्थल (Site of contect) ग्रहण किया जाता है, तो इसका समाधान हो जाता है। जैसे-घ्राणेन्द्रिय में यह सम्पर्क कला के माध्यम से (Mucous membrane) व श्रवणेन्द्रिय में (Tympanic membrane) (टिम्पेनिक मेम्ब्रेन द्वारा) द्वारा होता है। ये दोनों स्पर्शनेन्द्रिय हैं तथा विषय का संयोग जहाँ भी उस इन्द्रिय से होता है, वह स्पर्श है।

3.8.8 रूप-निरूपण

चक्षुरीन्द्रिय से ग्रहण किये जाने वाले विषय को रूप कहते हैं।**चक्षुर्मात्रग्राह्यो गुणो रूपम्।**[39]रूपग्रहण किसी अन्य इन्द्रिय से नहीं होता है, केवल चक्षुरीन्द्रिय से ही होता है, अतः इस आधार पर कतिपय विद्वान् रूप का लक्षण प्रस्तुत करते हुए कहते हैं कि- 'चक्षुर्मात्रग्राह्यत्वं विशिष्टगुणवत्त्वं रूपस्य लक्षणम्। अर्थात् चक्षुरीन्द्रिय से भिन्न किसी अन्य इन्द्रियों से प्रत्यक्ष न होने वाले केवल चक्षुरीन्द्रिय से ही प्रत्यक्ष होने वाले विषय को रूप कहा जाता है। इसमें गुण पद इसलिये लगाया गया है कि यहाँ रूप का तातपर्य रूप गुण से है।

यह रूप पृथ्वी, जल व अग्नि-इन तीन महाभूतों में रहता है। इन महाभूतों में इसकी विद्यमानता अनुप्रवेश व उत्तरोत्तर प्रवेशविधि से होती हैं। यह रूप अग्नि महाभूत का अपना गुण होता है

---

[38] च. शा.1।33)

[39] प्रशस्तपाद

तथा जल व पृथ्वी ये दोनों उत्तर-महाभूत होते हैं, अतः उनमें यह अनुप्रविष्ट होकर व्याप्त रहता है। अर्थात् जिस द्रव्य के आश्रय में यह रहता है, उस द्रव्यगत गुण, कर्म व जाति का उद्बोधक होता है। इस रूप का ज्ञान नेत्र की सहायता से होता है। इस रूप के अनेक प्रकार होते हैं। यथा- नील, लोहित, हरित, कपिश, चित्र आदि भेद से रूप के अनेक भेद होते हैं। जल के परमाणुओं में यह नित्य होता है। जल और पृथ्वी के परमाणुओं में अग्नि संयोग का विरोधी है। सभी कार्यद्रव्यों में गुण कारण- रूप में विद्यमान रहता है।

गुण वाली रूपत्व जाति वाले को रूप कहते हैं। जल तथा अग्नि में रहने वाला परमाणु का रूप नित्य होता है तथा पृथ्वी के परमाणुओं में रहने वाला रूप अनित्य होता है।

3.8.9 रस-निरूपण

रसनार्थो रसस्तस्य द्रव्यमापः क्षितिस्तथा ।निर्वृत्तौ च विशेषे च प्रत्ययाः खादयस्त्रयः। [40]

रसनेन्द्रिय से जिस गुण का ग्रहण किया जाता है, उसे रस कहते हैं। इसकी निरूक्ति में कहा गया है कि- 'रस्यते आस्वाद्यते इति रसः' अर्थात् जिसका रसनेन्द्रिय द्वारा आस्वादन होता है, उसे रस कहा जाता है। आचार्य चरक ने रस के लक्षण में 'रसनार्थो रसः' कहा है। अर्थात् रसनेन्द्रिय के विषय को रस कहा जाता है। रस का यही लक्षण प्रायशः प्रचलित भी है। इसका द्रव्य अर्थात् इसका आश्रय जल और पृथ्वी माना गया है। प्रशस्तपाद भाष्य में भी 'पृथिव्युदकवृत्ति' कहकर पृथ्वी और जल को रस का आश्रय स्वीकार किया गया है। प्रशस्तपाद के अनुसार यह रस जीवन, पुष्टि, बल और आरोग्य को देने वाला होता है। इसका ज्ञान जिह्वा की सहायता से होता है।

रस का आश्रय या द्रव्य जल व पृथ्वी महाभूत है; परन्तु विभिन्न प्रकार के मधुराम्लादि रसों की अभिव्यक्ति में शेष तीन महाभूत-वायु, अग्नि व आकाश प्रत्ययभूत अर्थात् कारण होते हैं। अर्थात् इन तीनों महाभूतों के कारण रसों में भित्रता होती है। यहाँ चरकोक्त पंक्ति में 'विशेषे च प्रत्ययाः' का तात्पर्य यह है कि खादि तीन (आकाश, वायु एवं अग्नि) विशेष पृथक करने वाले होते हैं, अतः जो रसों का विशेष ज्ञान यानि पृथक्-पृथक् अम्ल, कटु, तिक्त आदि का ज्ञान होता है, वह वायु, अग्नि व आकाश महाभूत के संयोग के कारण होता है।

जल अंतरिक्ष से पृथ्वी पर गिरते हुए तथा गिरने के पश्चात् पञ्चमहाभूतों के गुणों से समन्वित होकर इस सृष्टि के समस्त जड़ चेतन मूर्त्त द्रव्यों का पोषण करता है तथा इस जल में अन्य महाभूत के मिलने से विभिन्न प्रकार के छः रसों की अभिव्यक्ति होती है। यथा-

रसास्तावत् षड्- मधुराम्ललवणकटुतिक्तकषायाः ।[41]

अर्थात् १. मधुर, २. अम्ल, ३. लवण, ४. कटु, ५. तिक्त और ६. कषाय। ये छ: रस होते हैं।

इन रसों का भौतिक संगठन निम्न रूप में होता है।

1. मधुर रस = जल + पृथ्वी।
2. अम्ल रस = पृथ्वी + अग्नि।

---

[40] च. सू. 1।63

[41] च. वि. अ. 1

3. लवण रस = जल + अग्नि।
4. कटु रस = वायु + अग्नि।
5. तिक्त रस = वायु+ आकाश
6. कषाय रस = वायु + पृथ्वी।

3.8.10 गन्ध-निरूपण

गन्धो घ्राणग्राह्यः।पृथिवी वृत्तिः । घ्राणसहकारी सुरभिरसुरभिश्च। अस्यापि पूर्ववदुत्पत्त्यादयो व्याख्याताः ।[42]

घ्राणेन्द्रिय द्वारा ग्रहण किये जाने वाले गुण को गन्ध कहते हैं। यह पृथ्वी महाभूत का गुण है तथा इसका ग्रहण नासिका की सहायता से होता है। इसके दो भेद किये गये हैं- (१) सुरभि (२) असुरभि।

गन्धत्व जाति में अतिव्याप्ति न हो— 'अतः कतिपय विद्वान् विशेष्यरूप गुण पद लगाकर 'घ्राणग्राह्यो गुणो गन्धः' अर्थात् घ्राणेन्द्रिय द्वारा ग्रहण किये जाने वाले गुण-विशेष को गन्ध कहते हैं। रूपादि गुणों में अतिव्याप्ति के निराकरण के लिये 'घ्राणग्राह्यो' कहा गया है। अर्थात् जो घ्राणेन्द्रिय द्वारा ग्राह्य हो, उसे गन्ध कहते हैं। वायु में प्रतीत होने वाला गन्ध भी पृथ्वी के कारण ही होता है, न कि वायु से । कतिपय विद्वान् गन्ध के सम्बन्ध में यह शंका करते हैं कि- यदि पृथ्वी के ही गन्ध की वायु में प्रतीति होती है, तो अन्य स्थान में रहने वाले पुष्प गन्ध का दूसरे स्थान से सम्बन्ध नहीं होने के कारण ज्ञान नहीं होना चाहिये। वायु के द्वारा यदि उस स्थान से गन्ध अणु का वहन करके गन्ध-ज्ञान कराया जाता है, तो यह सम्भव नहीं है; क्योंकि ऐसा होने पर पुष्प में छिद्र हो जाना चाहिये, किन्तु यहाँ गन्ध-ज्ञान करने वाले के अदृष्ट की विशेषता के कारण उन पदार्थों में पूर्ववत् त्रसरेणु आदि की उत्पत्ति होती रहती है, अतः गन्ध का ज्ञान भी होता है तथा द्रव्य का ह्रास भी नहीं होता।

3.9 कर्म

वैशेषिक दर्शन का तीसरा पदार्थ कर्म है । यह द्रव्य तथा गुण आदि पदार्थों से भिन्न तत्त्व है । न्यायभूषणाकार भासर्वज्ञ इसे गुण से पृथक नहीं मानते', किन्तु नैयायिक-वैशेषिक दार्शनिक इस पक्ष को नहीं स्वीकार करते । गुण द्रव्य में अधिक देर तक भी रहता है किन्तु कर्म थोड़ी देर तक ही । कर्म शब्द क्रिया का पर्याय है। कर्म की विशेषताएँ ये हैं । एक कर्म एक ही द्रव्य के साथ सम्बद्ध होता है; यह शीघ्र ही विनष्ट हो जाता है; यह मूर्त द्रव्य में ही हो सकता है; यह संयोग, विभाग, गुरुत्व और द्रवत्व में से किसी से भी उत्पन्न हो सकता है।

कर्म व गुण द्रव्याश्रित रहते हैं तथा द्रव्य में समवाय-सम्बन्ध से रहते हैं।

3.9.1 कर्म का लक्षण

1. क्रियालक्षणं कर्म।
2. यत् कुर्वन्ति तत् कर्म।

---

[42] **प्रशस्तपाद**

कर्मनिरुक्ति- 'क्रि विक्षेपे' धातु में मनिन् प्रत्यय लगाने से कर्मन् शब्द बनता है, जिसके प्रथम वचन का रूप कर्म होता है (क्रि मनिन् क्रियायाम्)। इस प्रकार कर्म शब्द क्रिया अर्थपरक होता है।

लक्षण-जैसा कि निरुक्ति से कर्म का अर्थ 'क्रिया' स्पष्ट हो जाता है। रसवैशेषिककार ने कर्म का यही लक्षण स्वीकार करते हुए कहा है कि- 'क्रियालक्षणं कर्म' अर्थात् कर्म का लक्षण क्रिया है। **जो किया जाता है, वह कर्म है।**[43] में कर्म के लक्षण में कहा है कि- **'प्रयत्नादि कर्मचेष्टितमुच्यते'**[44] अर्थात् प्रयत्नपूर्वक की गयी क्रिया, जिसमें चेष्टा हो, उसे कर्म कहा जाता है तथा आयासपूर्वक किया गया प्रयत्न कर्म है। हालांकि चेष्टा प्राणियों का कार्य कहा जाता है, फिर भी यहाँ चेष्टा शब्द क्रिया का बोधक है। संयोग तथा विभाग में जो एक साथ ही कारण हो तथा जो द्रव्य के आश्रयभूत हो ब्रह कर्म कहा जाता है। कर्त्ता द्वारा कर्तव्य की क्रिया ही कर्म है। उत्पन्न हुआ कर्म अन्य किसी कारण की अपेक्षा नहीं करता है। अर्थात् एक बार प्रारम्भ हुआ कर्म जबतक प्रवर्तमान रहता है तबतक उसे कारण या कारणान्तर की अपेक्षा नहीं रहती है। वैशेषिक -दर्शन में भी इसी प्रकार के कर्म का लक्षण दिया गया है। जिसका अभिप्राय यह है कि- किसी द्रव्य या वस्तु का किसी द्रव्य या वस्तु से संयोग अथवा वियोग बिना कर्म के नहीं हो सकता है। इस प्रकार किसी द्रव्य के संयोग व वियोग का कारण कर्म ही होता है। गुण की तरह यह भी समवाय-सम्बन्ध से द्रव्याश्रित होता है। बिना द्रव्याधार के कर्म की कोई स्वतंत्र सत्ता नहीं होती है। करने योग्य जो भी क्रियायें होती हैं, वह कर्म है। वैशेषिक दर्शन में जो 'एकद्रव्य' शब्द प्रयुक्त हुआ है, उसका तात्पर्य यह है कि—जो संयोग तथा विभाग की भांति दो द्रव्यों में आश्रित न होकर एक ही द्रव्य में आश्रित होता है, उसे एकद्रव्य कहा जाता है। अर्थात् संयोग-विभाग दो सापेक्ष गुण हैं। संयोग-विभाग की क्रिया द्रव्य में ही होती है, अतः द्रव्य इस संयोग-विभाग का समवायिकारण होता है; क्योंकि बिना द्रव्य के संयोग-विभाग नहीं हो सकता। जब संयोग-विभाग होगा, द्रव्य में ही होगा तथा इस संयोग-विभाग का निमित्तकारण कर्म होता है। यह कर्म संयोग-विभाग में किसी की सहायता नहीं लेता है, अतः यह किसी भी कारण की अपेक्षा नहीं करता है। कर्म गुण से भिन्न होता है। प्रायः लोकव्यवहार में गुण-कर्म में भेद नहीं ज्ञात हो पाता है; परन्तु गुण व कर्म भिन्न- भिन्न पदार्थ हैं। गुण द्रव्य में अपने स्वरूप में स्थित होता है, जबकि कर्म अपने सिद्धि की अवस्था में अर्थात् अपने सिद्धि की प्रक्रिया में रहने वाला पदार्थ है। इसके स्वरूप का निश्चयात्मक निर्धारण अभी नहीं हुआ रहता है। कर्म संयोग-विभाग का स्वतंत्र कारण होता है तथा इसकी वृत्ति जब भी होगी मूर्त द्रव्यों में ही होगी। अमूर्त द्रव्यों में कर्म-व्यापार नहीं होता है, अतः आकाश को छोड़कर शेष चार महाभूतों में तथा मन में कर्म की वृत्ति होती है। अर्थात् इनमें ही कर्म-व्यापार होता है। गुण-कर्म दोनों एक द्रव्य में रहते हुए भी गुण निश्चेष्ट होता है, जबकि कर्म चेष्टावान् होता है। गुण व कर्म का प्रमुख अन्तर यही है।

3.9.2 कर्म के भेद

प्रथमतः कर्म के दो भेद किये गये हैं- (१) लौकिक कर्म तथा (२) आध्यात्मिक कर्म। लौकिक कर्म के उत्क्षेपणादि व सत्प्रत्ययादि दो प्रकार होते हैं।

१) **लौकिक कर्म-**लौकिक कर्म द्रव्याश्रित तथा संयोग-विभाग में अनपेक्ष कारण वाला होता है। पाँच कर्मों को लौकिक कर्म कहा गया है। यथा— उत्क्षेपण (Upward motion)

---

[43] च. सू. 26

[44] आचार्य चरक सूत्रस्थान, अ. 1

अपक्षेपण (Down- ward motion), आकुंचन (Contraction), प्रसारण (Expansion) और गमन (Movement in general)।वैशेषिक दार्शनिक भ्रमण (Roaming), रेचन (Flowing) स्यन्दन (Dripping), ऊर्ध्वज्वलन (Blazing Upward) और वक्र- गमन (Zigzag motion) को स्वतन्त्र प्रकार के कर्म न मानकर गमन के ही विभिन्न रूप मानते हैं।

२) **आध्यात्मिक कर्म-**मंगल, स्वस्त्ययन आदि धार्मिक अनुष्ठान से सम्बन्धित कर्मों को आध्यात्मिक कर्म कहा जाता है।

उत्क्षेपण–उत्क्षेपण का तात्पर्य ऊपर की ओर गति करने से है, क्योंकि उत्क्षेपण का अर्थ ऊपर गति करना होता है। इस क्रिया या कर्म में निम्न प्रदेश से विभाग तथा ऊर्ध्व प्रदेश से संयोग होता है। शरीरावयवों व उसके सम्बन्ध में ऊपर के प्रदेशों से संयोग के कारण तथा निम्नप्रदेश से विभाग के कारणरूप जो कर्मोत्पत्ति या क्रिया होती है, उसे उत्क्षेपण कर्म है।

अपक्षेपण - अपक्षेपण का अर्थ नीचे या निम्न प्रदेश में गति करना होता है। यह कर्म उत्क्षेपण के विपरीत कर्म होता है। इस प्रकार ऊर्ध्व प्रदेश अर्थात् ऊपर के क्षेत्र से विभाग तथा निम्न प्रदेश से संयोग का जो कारण होता है, उसे अपक्षेपण कर्म कहा जाता है।

आकुंचन कर्म — इसे लोकभाषा में सिकुड़ना कहा जाता है। इसमें गति अग्रभाग से मूलभाग की ओर होती है। इसमें अग्रभाग से विभाग तथा मूलभाग से संयोग होता है। इस प्रकार अग्रभाग का विभाग व मूलभाग से संयोग के कारणरूप कर्म को आकुंचन कर्म कहते हैं।

प्रसारण- यह आकुंचन के विपरीत होता है। इसे लोकभाषा में फैलना या फैलाना कहा जाता है। इसमें मूल प्रदेश से अग्र प्रदेश की ओर गति होती है। मूल प्रदेश से विभाग और अग्रप्रदेश से संयोग होने से जिस कर्म की उत्पत्ति होती है, उसे प्रसारण कर्म कहा जाता है।

गमन – जिस कर्म के द्वारा एक स्थान से विभाग और दूसरे स्थान से संयोग होता है उसे 'गमन' कहते हैं। गमन का अर्थ है गति (क्रिया) । भ्रमण, रेचन, स्पन्दन, ऊर्ध्वज्वलन, तिर्यग्गमन आदि गमन के अवान्तर भेद हैं।

3.10 सामान्य

सामान्य को जाति भी कहते हैं। सामान्य को नित्य, एक और अनेकानगत माना गया है।' अनेकानुगत का अर्थ है कि किसी वर्ग के सभी व्यक्तियों में अनुगत रहना अर्थात् समवाय सम्बन्ध से विद्यमान रहना। अलग-अलग मनुष्य व्यक्ति हैं, किन्तु सभी मनुष्यों में अनुगत रहने वाला 'मनुष्यत्व' सामान्य है। वैशेषिक कट्टर वस्तुवाद है अतः वह सामान्य की वस्तुगत सत्ता स्वीकार करता है।

सामान्य किसी वर्ग के सभी व्यक्तियों में पाये जाने वाले सामान्य धर्मों की कल्पनामात्र नहीं है; यह मानस धर्म नहीं है, अपितु इसकी वस्तुतः सत्ता है। सामान्य के कारण ही एक व्यक्ति अपनी जाति का सदस्य बनता है। मनुष्यत्व ही।

मनुष्य को मनुष्य जाति का सदस्य बनाता है। सबसे बड़ा सामान्य या पर-सामान्य सत्ता-सामान्य है क्योंकि यह सबसे अधिक व्यक्तियों में रहने वाली जाति है। सामान्य एक है, यद्यपि जिन व्यक्तियों में यह रहता है वे अनेक हैं। सामान्य नित्य है, यद्यपि जिन व्यक्तियों में यह रहता है वे अनित्य तथा उत्पादविनाशशील हैं। एक वर्ग के व्यक्तियों में एक ही सामान्य रहता है।

3.10.1 निरूपण व लक्षण

१. अनुवृत्तिप्रत्ययहेतु एकमनेकसमवेतं च सामान्यम् । तदेकत्त्वकरं वृद्धिसाश्यं च।। [45]

आचार्य चरक के अनुसार-सदा सभी भावों की वृद्धि करने वाला सामान्य कहा जाता हैं। भाव का तात्पर्य 'सत्तामनुभवन्तीति भावाः' अर्थात् जो सत्तावान् हो उसे भाव कहा जाता है। इस प्रकार सत्तावान् वस्तुओं या सत्तावान् पदार्थों की सदैव वृद्धि करने वाले पदार्थ को सामान्य कहा जाता है। एकत्व बुद्धि करने वाले को सामान्य कहा जाता है। इसकी व्याख्या करते हुए आचार्य चक्रपाणिदत्त का कहना है कि- भिन्न-भिन्न देश और समय में अनेक गवादि व्यक्तियों में 'यह गौ है, या अश्व है' इस प्रकार की एकता बुद्धि को उत्पन्न करने वाला जो पदार्थ होता है, उसे सामान्य कहा जाता है। यह सामान्य अनेक द्रव्यों में रहने वाला नित्य पदार्थ हैं। इसके आधार पर ही कहा गया है कि **'सर्वदा सर्वभावानां सामान्यं वृद्धिकारणम्'।**[46] यहाँ 'सर्वदा' शब्द इस सामान्य के नित्यता को प्रदर्शित करता है।

इसे नित्य इसलिये कहा गया है कि सामान्य द्वारा ज्ञेय या सामान्य द्वारा उत्पन्न भावों का विनाश नहीं होता। जैसे—मधुर वर्ग। इसका तात्पर्य यह है कि जिन- जिन द्रव्यों में मधुर रस है, वह द्रव्य विनष्ट हो जायेगा; परन्तु मधुरता का नाश नहीं होगा।

अनुगत बुद्धि-द्रव्य, गुण एवं कर्म-इन तीनों पदार्थों में द्रव्य, गुण, कर्म की प्रतीति होती है। इस प्रकार की प्रतीति करने वाली बुद्धि को। अर्थात् यह द्रव्य है, यह गुण है, यह कर्म है-इस प्रकार का अनुभव या प्रतीति कराने वाली बुद्धि को अनुगत बुद्धि या अनुवृत्ति प्रत्यय कहा जाता है, जिसका उल्लेख सप्तपदार्थी लक्षण में किया गया है। यह अनुगत बुद्धि या अनुगत प्रत्यय जिस कारण से उत्पन्न होता है, उस कारण को सामान्य कहा जाता है। इसे साधारण व सरल भाषा में कहा जा सकता है कि-विभिन्न द्रव्यों या पदार्थों में जो समान प्रकार की बुद्धि होती है, उस बुद्धि को अनुगत बुद्धि कहा जाता है। जैसे—द्रव्य, गुण व कर्म अलग-अलग पदार्थ हैं; परन्तु इनमें जब यह ज्ञान होता है कि- 'द्रव्यगतः गुणः सत्' अर्थात् द्रव्यगत गुण सत् है या सत्ता में है या "**द्रव्यगतः कर्म सत्**" द्रव्यगत कर्म सत् है- इस प्रकार की समानरूपता का ज्ञान कराने वाली बुद्धि अनुगत बुद्धि है। जो बुद्धि का सत्तारूप कारण सिद्ध होता है, उस कारण को सामान्य कहा जाता है। इस प्रकार सप्तपदार्थी में सामान्य का लक्षण अनुवृत्ति बुद्धि द्वारा स्पष्ट किया गया है।

3.10.2 सामान्य का आश्रय-

सामान्य के आश्रय द्रव्य, गुण और कर्म-ये तीन पदार्थ कहे गये हैं। अन्य पदार्थों को सामान्य का आश्रय नहीं कहा गया है। विशेष, समवाय और अभाव-इन पदार्थों के आश्रय से सामान्य नहीं रहता है। सामान्य दूसरे सामान्य में भी नहीं रह सकता है। वृक्षत्व और घटत्व ये सामान्य हैं, अतः इनमें दूसरा सामान्य नहीं हो सकता है। यदि इनमें सामान्य का आश्रित होना स्वीकार

---

[45] **सप्तपदार्थी**

[46] **च. सू. १**

किया जाता है, तो अनवस्था दोष उत्पन्न हो जाता है। अतएव इन पदार्थों को सामान्य का आश्रय स्वीकार नहीं किया जा सकता। अतः सामान्य के तीन पदार्थ ही आश्रय होते हैं- द्रव्य, गुण तथा कर्म।

3.10.3 सामान्य के भेद

सामान्य का अनेक प्रकार से भेद किया गया है। कतिपय विद्वान् प्रत्यक्ष-सामान्य व अप्रत्यक्ष-सामान्य के भेद से इसे दो प्रकार का बताते हैं। प्रत्यक्षगम्य पदार्थों में रहने वाले सामान्य को प्रत्यक्ष-सामान्य कहा गया है तथा अप्रत्यक्षगम्य पदार्थों में अर्थात् अतीन्द्रियगम्य पदार्थों में रहने वाले सामान्य को अप्रत्यक्ष-सामान्य कहते हैं।

सामान्यं द्विविधं प्रोक्तं परञ्चापरमेव च।[47]

अर्थात् व्यापकता की दृष्टि से सामान्य दो प्रकार का होता है-(१) पर सामान्य तथा (२) अपर सामान्य।

पर-सामान्य-द्रव्यादि अर्थात् द्रव्य, गुण, कर्म में रहने वाले सामान्य को पर-सामान्य कहा जाता है। सामान्य की व्यापकता से पर-सामान्य होता है। व्यापक उसको कहा जाता है, जो अधिक देशों में रहने वाला होता है, अतः कहा जाता है कि 'परत्वञ्चाधिकदेशवृत्तित्वम्' अर्थात् जो वृत्ति अधिक देश में विद्यमान होती है, उस वृत्ति को पर-सामान्य कहा जाता है।

अपर सामान्य-पर-सामान्य से भिन्न जाति को अपर-सामान्य कहा जाता है। इसे व्याप्य होने से अपर-सामान्य कहा जाता है। व्याप्य का तात्पर्य 'अपरं न्यूनदेशवृत्तिः'-कम देशों में रहने से है, अतः कहा जाता है कि जिस सामान्य की वृत्ति कम स्थानों में होती है, उसे अपर-सामान्य कहते हैं।

इन दोनों केबीच की अवस्था को या बीच में रहने वाली जाति को भी सामान्य माना गया है, जो तीसरे सामान्य के रूप में मान्य होता है।

(२) **परापर-सामान्य**–पर और अपर सामान्य के बीच के सामान्य को परापर सामान्य कहा जाता है।

3.11 विशेष

विशेष सामान्य का सापेक्ष पदार्थ है तथा यह सामान्य के विपरीत लक्षणवाला है। विशेष का लक्षण पृथक्त्व है। अर्थात् एक पदार्थ का दूसरे पदार्थ से, एक द्रव्य का दूसरे द्रव्य से जो भेद होता है; उस भेद का कारण-विशेष है। इस विशेष का उल्लेख विशिष्ट रूप में करने के कारण ही कणादकृत दर्शन का नाम वैशेषिक दर्शन है।

3.11.1 विशेष निरूपण व लक्षण

विशेष को ह्रास का कारण कहा गया है।

१. **ह्रासहेतुविशेषश्च।**[48]

---

[47] **कारिकावली ११८४**

व्यावृत्तिप्रत्ययहेतुरनेकः प्रतिद्रव्यसमवेतो विशेषः स ह्रासहेतुः पृथक्त्वकृत् वैसादृश्यञ्च।[49]

सप्तपदार्थों में विशेष के लक्षण में कहा गया है कि-व्यावृत्ति प्रत्यय का कारण प्रति द्रव्य में समवायसम्बन्ध से स्थित ह्रास का हेतु, पृथक्त्व करने वाला तथा वैसादृश्य उत्पन्न करने वाला होता है। यह स्वयं भी नित्य होता है तथा नित्य द्रव्यों में होता है। चरकोक्त तीनों लक्षणों का वर्णन सप्तपदार्थों में एक साथ कर दिया गया है। इस प्रकार विशेष के लक्षण के सम्बन्ध में कहा जा सकता है कि-

१. किसी भी भावपदार्थ के ह्रास का कारण या किसी भी भावपदार्थ का ह्रास होना विशेष का लक्षण है।

२. एक द्रव्य का दूसरे से या एक परमाणु का दूसरे परमाणु से भेद करना विशेष का लक्षण है।

३. किन्हीं दो वस्तुओं या दो पदार्थों में तुलनात्मक रूप में वैधर्म्य स्थापित कर देना विशेष का लक्षण है।

इस प्रकार विशेष विश्लेषणात्मक (Analytic) पदार्थ हैं। यह सामान्य के ठीक विपरीत है। सामान्य जहाँ समष्टिकारक है, वहीं विशेष व्यष्टिकारक है। यह एक ही जाति के विभिन्न प्राणियों में, एक ही जाति के विभिन्न द्रव्यों में भेद उत्पन्न करने वाला होता है। इस सृष्टि में स्थूल से स्थूल व सूक्ष्म से सूक्ष्म पदार्थों में भेद करने के लिये इस विशेष नामक पदार्थ की स्थापना की गयी है। इस विशेश के आश्रय नौ कारण-द्रव्य अर्थात् नित्य-द्रव्य कहे गये हैं— यथा— पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन, आत्मा, काल और दिशा। यदि विशेष की मान्यता स्थिर न की जाए तो सृष्टिगत समस्त पदार्थों में एकत्व-भाव हो जायेगा फिर सृष्टि-संचालन ही सम्भव नहीं हो पायेगा। यदि शरीर में प्रत्येक अवयवों में पृथकता न हो, तो इसका परिणाम एक चिकित्साशास्त्री भलीभाँति जानता है।

वैशेषिक दर्शन में सामान्य व विशेष को बुद्ध्यपेक्ष पदार्थ कहा गया है- **'सामान्य-विशेषं इति बुद्ध्यपेक्ष्यम्।**[50]

अर्थात् सामान्य तथा विशेष इन दोनों में वृद्धि की अपेक्षा होती है। अर्थात् इसका ज्ञान सापेक्ष बुद्धि के आधार पर होता है। इसका तात्पर्य यह है कि विशेष- ज्ञान सामान्य के सापेक्ष बुद्धि द्वारा तथा सामान्य-ज्ञान विशेष के सापेक्ष बुद्धि या सापेक्ष ज्ञान के आधार पर होता है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि जो आधार या पद्धति सामान्य के ज्ञान हेतु अपनाई जाती है, वही पद्धति विशेष का ज्ञान कराने वाली भी होती है। यदि अनुगत बुद्धि द्वारा द्रव्यत्व, गुणत्व व कर्मत्व की सामान्य- सत्ता की सिद्धि होती है, तो व्यावृत्ति बुद्धि से द्रव्यत्व, गुणत्व तथा कर्मत्व रूप की भी सिद्धि होती है। जैसे—सामान्य के लिये कहा गया है कि यह वृद्धिकाकर है, तो यह ज्ञान जो उत्पन्न हुआ उसे अनुगत बुद्धि कहा गया है। इस प्रकार यहाँ अनुगत बुद्धि द्वारा वृद्धिकारित्वता से सामान्य-सत्ता सिद्ध हुई तो व्यावृत्ति बुद्धि से 'ह्रासकारित्व' के द्वारा विशेष की सिद्धि होती है। इसी प्रकार अनुगत बुद्धि से एकत्वकारिता व तुल्यार्थता के द्वारा सामान्य सिद्धि होती है, तो व्यावृत्ति बुद्धि से पृथक्त्व व वैसादृश्य के द्वारा विशेष की भी सिद्धि हो जाती है।

---

[48] च.सू. १

[49] सप्तपदार्थी

[50] वै. द. १/२/३

3.11.2 विशेष के भेद

सामान्य की ही तरह विशेष के भी तीन भेद अधुना आयुर्वेद में प्रचलित हैं- (१) द्रव्यविशेष (२) गुणविशेष तथा (३) कर्मविशेष।

१) **द्रव्यविशेष-** आयुर्वेद व अन्य दर्शनों में ह्रास का कारण विशेष को कहा गया है। एक द्रव्य का ह्रास उसके विपरीत द्रव्य द्वारा होता है। एक द्रव्य का ह्रास उसके विपरीत द्रव्य द्वारा होता है। जैसे—गवेधुक (एक तृणविशेष) को मांस के प्रति विशेष कहा गया है, अतः इस गवेधुक के सेवन करने से मांस का अपचय होता है। मांस में गवेधुकत्व नहीं होता है, अतः मांस के प्रति विशेष द्रव्य गवेधुक है, जिसके कारण मांस का ह्रास होता है। इसी प्रकार क्षार प्रयोग से शरीरस्थ धातुओं का हास होता है; क्योंकि किसी धातु-विशेष में क्षरणत्व नहीं होता। अतः क्षार-प्रयोग से धातुओं का ह्रास होता है। पंचभूतों के आधार पर धातु-विशेष का ह्रास द्रव्य-विशेष के आधार पर ही किया जाता है।

२) **गुणविशेष** – आयुर्वेदीय चिकित्सा में धातुओं या दोषों का क्षय करने लिये सर्वाधिक प्रचलित आधार गुणविशेष ही हैं। इसका प्रयोग आहार-चिकित्सा या औषध-चिकित्सा दोनों में होता है। आयुर्वेद का सिद्धान्त है कि-

'विपरीतगुणाः परीतगुणभूयिष्ठा वा शमनन्त्यभ्यस्यमाना इति' ।[51]

अर्थात् धातुओं के विपरीत गुणवाले द्रव्यों का अभ्यास करने से उनके रन्तर सेवन करने से धातुओं का शमन अर्थात् क्षय होता है। आयुर्वेदीय चिकित्सा आधार यह गुणविशेष ही हैं; क्योंकि 'दोषों की विषमता ही रोग है तथा दोषों गुणविशेष के आधार पर ही शान्त किया जाताहै।

"रूक्ष, शीत, लघु, सूक्ष्म, चल, विशद् तथा खर—ये बात के हैं। जब वातदोष कुपित होता है, तो इन गुणों के विपरीत गुण के सेवन से अर्थात् विपरीत गुण वाले द्रव्यों के सेवन से शान्त होता है। किंचित् स्नेह, उष्ण, तीक्ष्ण, द्रव, अम्ल, सर व कटु—ये पित्त दोष के गुण हैं। यदि पित्तदोष कुपित होता है, तो विपरीत गुण वाले द्रव्यों से शांत होता है। इसी प्रकार गुरु, शीत, मृदु, स्निग्ध, मधुर, स्थिर व पिच्छिल-ये कफ के गुण होते हैं। जब कफ कुपित होता है, तो इन गुणों के विपरीत गुणवाले द्रव्यों से कफ का शमन होता है।"[52] इस प्रकार आयुर्वेद की चिकित्सा गुणविशेष पर आधारित है। आयुर्वेद में औषधियों को वीर्यप्रधान कहा गया है। वीर्य कोई अन्य पदार्थ नहीं बल्कि उत्कृष्ट गुणविशेष ही है। यथा स्थूल व्यक्ति का रूक्ष, लघु आदि गुणवाले द्रव्यों से तथा कृश की चिकित्सा स्निग्ध, गुरु आदि द्रव्यों से की जाती है। आयुर्वेद में षड्विधोपक्रम की स्थापना द्वारा गुणविशेष की सिद्धि की गयी है।

३) **कर्मविशेष**—धातुओं या दोषों को क्षीण करनेवाला कर्म कर्मविशेष कहा जाता है। यथा—स्थूल व्यक्तियों के लिये धावन-कर्म कराना। श्रमजन्य क्षीणता

आस्यासुख (सुखपूर्वक रहना), निद्रा आदि कर्मविशेष के उदाहण हैं।

जिस प्रकार सामान्य के विविध भेद किये गये हैं, उसी प्रकार उन भेदों के आधार पर विशेष के भेद भी समझना चाहिये। अन्तर इतना है कि सामान्य में जहाँ वृद्धिकारित्व होता

---

[51]च. वि. १/७

[52] च. सू. ११५९-६१

है, वहीं विशेष में ह्रासकारित्व समझना चाहिये। सामान्य में जहाँ एकत्वकारित्व है, वहीं या उन भेदों में विशेष को पृथक्तवकारी समझना चाहिये। इसी प्रकार सामान्य में जहाँ या जिसके भेद में तुल्यार्थता कही गयी है, वहीं विशेष में वैसादृश्य समझना चाहिये।

विशेष सामान्य सापेक्ष पदार्थ है, अतः सामान्य के भेदोपभेद के अनुसार ही विशेष के भी भेदोपभेद समझने चाहिये। यथा— उभयवृत्ति-विशेष व एकवृत्ति- विशेष या पर-विशेष, अपर-विशेष, परापर-विशेष या व्यापक-विशेष व्याप्य-विशेष, व्यापक-व्याप्य-विशेषादि।

3.11.3 सामान्य व विशेष की प्रवृत्ति

चरकसंहिता में जहाँ सामान्य व विशेष के वृद्धि व ह्रासात्मक लक्षण का उल्लेख किया गया है, वहीं कहा गया है कि- "प्रवृत्तिरुभयस्य तु" (च. सू. ११४४) अर्थात् उभयस्य — दोनों की प्रवृत्ति होती है। यहाँ उभय का तात्पर्य सामान्य और विशेष दोनों से है। अर्थात् सामान्य और विशेष दोनों की प्रवृत्ति एक जैसी होती है। उपर्युक्त तथ्य का तात्पर्य यह है कि समान भावों के सेवन से समान भावों की वृद्धि तथा विशेष भावों से विशेष भावों की वृद्धि अथवा क्षय होता है। फलितार्थ यह हुआ कि समान से वृद्धि तथा विशेष-सेवन से क्षय की प्रवृत्ति होती है। सामान्य और विशेष दोनों का सम्बन्ध शरीर से होता है, अतः इन सामान्य व विशेष की प्रवृत्ति शरीर के सम्बन्ध से होती है। शरीर से असम्बद्ध होने पर सामान्य और विशेष वृद्धि व ह्रास के कारण नहीं होते हैं। सामान्य व विशेष की यह प्रवृत्ति यदि उचित होती है, तो धातुएँ सम होती हैं। यदि केवल सामान्य द्रव्य, गुण या कर्म का सेवन किया जाए तो धातु की वृद्धि होने से धातु-वैषम्य हो जाता है, जो कि विभिन्न प्रकार के व्याधियों का जनक होता है। इसी प्रकार यदि केवल विशेष का सेवन किया जाए तो धातुक्षय से भी धातु-वैषम्य हो जाता है, जो कि अनेक व्याधियों का उत्पादक होता है। इस प्रकार शरीर से सम्बन्धित होकर उभय की अर्थात् सामान्यविशेष की प्रवृत्ति होती है।

3.11.4 विपर्यय-विशेष का व्यवहार

जहाँ भी वैधर्म्य प्रदर्शित किया गया है, वह विपर्यय-विशेष का व्यावहारिक स्वरूप है। पुरुष से प्रकृति का विपर्यय, परमात्मा से जीवात्मा का विपर्यय-ये सब विपर्यय-विशेष के ही व्यावहारिक स्वरूप हैं। गुण कर्म का विपर्यय – यथा, गुण को 'निश्चेष्ट' कहना विपर्यय-विशेष का व्यावहारिक स्वरूप ही है। कर्मों में उत्पक्षेपण का अवक्षेपण, आकुंचन का प्रसारण, गुणों की द्वन्द्वता, यथा-गुरु का विपर्यय लघु, शीत का उष्ण, रूक्ष का स्निग्ध,विशद का पिच्छिल आदि विपर्यय-विशेष का व्यावहारिक स्वरूप है। जिस प्रकार तुल्यार्थकारी सामान्य पर सम्पूर्ण सिद्धान्त आधारित है वैसे ही विपर्ययविशेष पर चिकित्सा आधारित है।

3.12 समवाय

समवाय नित्य एवं अपृथक् सम्बन्ध है। संयोग अनित्य तथा पृथक्करणीय सम्बन्ध है। अतः समवाय को पदार्थ और संयोग का गुण माना गया है। समवाय नामक नित्य सम्बन्ध दो अयुतसिद्ध वस्तुओं में होता है। अयुतसिद्ध वस्तुयुगलमें एक को दूसरी से पृथक् नहीं किया जा सकता तथा उनमें एक वस्तु आधार या आश्रय होती है

3.12.1 समवाय का लक्षण

१. इहेदमिति यत: कार्यकारणयोः स समवाय।[53]

आधार्य या आश्रित द्रव्य और गुण में, द्रव्य और कर्म में, सामान्य और व्यक्ति में, नित्य द्रव्य और विशेष में, तथा अवयव और अवयवी में, इस अयुतसिद्ध युगलपञ्चक में, समवाय सम्बन्ध होता है।

अयुतसिद्धानामाधार्याधारभूतानां यः सम्बन्ध इह प्रत्ययहेतुः स समवायः।[54]

अयुत सिद्ध भावों का आधाराधेय का, जो सम्बन्ध इह प्रत्यय का हेतु है, उसे समवाय कहा जाता है। वैशेषिक दर्शन के अनुसार- 'इसमें यह हैं' इस प्रकार की बुद्धि जिसके कारण अवयव व अवयवी में होती है, उसे समवाय कहा जाता है। इस दर्शन में कार्यकारण द्वारा समवाय को व्यक्त किया गया है। यहाँ कार्यकारण से अवयव- अवयवी, जाति-व्यक्ति, गुण-गुणी, क्रिया-क्रियावान् एवं नित्य-द्रव्य तथा विशेष का बोध होता है। अवयव-अयववी (अवयववाला) आदि में जिस सम्बन्ध के कारण अवयव में अवयवी, प्राणियों में जाति, गुणी में गुण, क्रियावान् या कर्त्ता में क्रिया तथा नित्य द्रव्यों में विशेष पदार्थ है, इसका ज्ञान जिस कारण के होने से होता है या जिस सम्बन्ध के कारण होता है, उसे समवाय कहा जाता है।

पाँच पदार्थों द्रव्य-गुण-कर्म-सामान्य-विशेष से भिन्न पदार्थ हैं; क्योंकि इसमें सत्ता क समान ही भेद करनेवाला लक्षण होता है। इसका तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार द्रव्य आदि में सत्ता रहने पर भी अपने आश्रय से भिन्न होता है, उसी प्रकार समवाय भी अपने आश्रय से इह प्रत्यय का (इसमें यह है) यह कारण बनकर भिन्न होता है। यह समवाय द्रव्य, गुण, कर्म आदि से इस कारण भी भिन्न होता है कि द्रव्यादि की अपेक्षा समवाय विलक्षण ज्ञान का भी कारण होता है।

3.12.2 समवाय एक है

-समवाय एक होता है। अर्थात् इसके भेद नहीं होते हैं—

न च संयोगवन्नानात्वं भावलिङ्गाविशेषात् विशेषलिंङ्गाभावाच्च, तस्माद्, भाववत्सर्वत्रैकः समवाय इति ।[55]

अर्थात् संयोग के समान समवाय अनेक नहीं होता है; क्योंकि यह भाव के समान लक्षणों वाला ही होता है और इसमें विशेष के लक्षण नहीं होते हैं। अत: भाव के समान ही समवाय सर्वत्र एक ही होता है।

3.12.3 संयोग व समवाय में अन्तर

समवाय निम्न पाच युग्मों में होता है- 1. द्रव 2. द्रव्य-कर्म 3. अवयव, 4. व्यक्ति-जाति तथा 5. अन्त्यनित्य- द्रव्य विशेष। 3. समवाय नित्य होता है। 4. जिस प्रकार भाव अपने आश्रय के नष्ट होने पर भी नष्ट नहीं होता है, उसी प्रकार समवाय भी नष्ट नहीं होता है।

---

[53] वै. द. ७।२।२४

[54] प्रशस्तपाद

[55] प्रशस्तपाद

संयोग

1. संयोग अनेक होता है। 2. संयोग की संख्या निश्चित होती है।3. संयोग अनित्य होता है। 4. संयोग आश्रय के नष्ट होने से नष्ट हो जाता है। 5. सत्ता की तरह अकारण होने से नित्य, सहेतुक होने से अनित्य होता है।

सम्बन्ध्यनित्यत्त्वेऽपि भाववदकरणत्त्वात् न संयोगवदनित्यत्त्वं

इस प्रकार समवाय और संयोग ये दोनों भिन्न पदार्थ हैं। समवाय की विशेषता इसकी नित्यता ही है, जबकि संयोग क्षणिक होता है।

3.12.4 निःशेष दुःखनिवृत्ति में समवाय की भूमिका

निःशेष दुःखनिवृत्ति अर्थात् मोक्ष में समवायसम्बन्ध की महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है; क्योंकि कहा गया है कि-

। द्रव्य-नाश से गुण-कर्म समवायसम्बन्ध के कारण स्वयं नष्ट हो जाते हैं। आश्रय मर्म-नाश से आश्रित वायु, अग्नि आदि नष्ट हो जाते हैं। यहाँ मोक्ष में आश्रित नाश से मोक्ष होता है। आत्मा अर्थात् जीवात्मा से राग-द्वेष या रज-तम का समवाय सम्बन्ध कहा गया है। जब रज व तम या राग-द्वेष को आश्रय से अलग कर दिया जाता है, तो आश्रय की सत्ता या अस्तित्व समाप्त हो जाता है, जिसे मोक्ष कहते हैं। तथा यह भी कहा गया है कि आत्मा का कोई चिह्न या लक्षण भी नहीं रह जाता है। **निःसृतः सर्वभावेभ्यश्चिह्नं यस्य न विद्यते ।।**[56]

3.13 अभाव

वैशेषिक- -सूत्र और भाष्य में छह भावात्मक पदार्थों का वर्णन उपलब्ध है। स्वयं कणाद ने अभाव का वर्णन किया है, किन्तु उसे पदार्थ नहीं माना। बाद के वैशेषिकों ने उसे पदार्थ के रूप में मान्यता दी।

3.13.1 अभाव का लक्षण

नव्यनैयायिक भाव और अभाव भेद से दो प्रकार के पदार्थ मानते हैं। आयुर्वेद में आचार्य चरक ने सम्पूर्ण सृष्टि को सत् व असत् दो वर्गों में विभाजित किया है। चरकसंहिता के टीकाकार सत् से भाव तथा असत् से अभाव का ग्रहण करते हैं। अभाव के लक्षण के सम्बन्ध में कहा गया है कि-

१. अभावत्वमखण्डोपाधिधर्मविशेष इति।

भावभिन्नत्वमभावत्वमित्यपरे।

अर्थात् भावपदार्थों से जो भिन्न है, या भाव से भिनत्व को ही अभाव कहा

असत् अभावरूपम् — असत् ही अभाव का लक्षण है। (चरकोपस्कार) जो वस्तु

सत्ता में नहीं है या जिसकी विद्यमानता नहीं है, वह अभाव है।

---

[56] च. शा. १।१५५

3.13.2 अभाव के भेद

अभावो द्विविधः – संसर्गाभावोऽन्योन्याभावश्च। अर्थात् अभाव के दो भेद होते हैं- (१) संसर्गाभाव, (२) अन्योन्याभाव। संसर्गाभाव के पुनः तीन भेद होते हैं- (१) प्रागभाव, (२) प्रध्वंसाभाव तथा (३) अत्यन्ताभाव। - कतिपय लोग प्रत्यक्ष व अतीन्द्रिय भेद से पुनः इसके दो भेद करते हैं।

१) **'योग्यानुपलब्ध्याऽभावः प्रत्यक्षः '** -अर्थात् जिन वस्तुओं का प्रत्यक्ष किया जा सकता है; परन्तु वह वस्तु उपलब्ध नहीं है, तो इस अभाव को प्रत्यक्षाभाव कहा जाता है। जैसे— छुट्टी के बाद कक्षा में विद्यार्थियों का.

२) **अतीन्द्रियाभाव-** अन्य स्थलों में जो अतीन्द्रिय होता है। अर्थात् इस प्रकार का अभाव, जिसे इन्द्रियादि द्वारा ग्रहण नहीं किया जा सकता है।

परन्तु प्रचलित रूप में संसंर्गाभाव व अन्योन्याभाव ये दो अभाव ही हैं, अतः इन्हीं पर विचार करना अपेक्षित है।

(१) **प्रागभाव 'अनादि सान्तः प्रागभावः** । अथवा प्रागभावो विनाशी अजन्य, उत्पत्तेः पूर्व कार्यस्य योऽभावः स प्रागभावः।'

अर्थात् जिस अभाव का आदि न हो परन्तु अन्त हो, उसे प्रागभाव कहा जाता है। प्रागभाव का तात्पर्य प्रारम्भ का अभाव होना है।

प्रध्वंसाभाव- किसी कार्य या कार्यद्रव्य की उत्पत्ति के बाद जो उसका अभाव होता है, उसे प्रध्वंसाभाव कहते हैं। यह अभाव आदि सहित व अनन्त होता है। अर्थात् इस अभाव का प्रारम्भ या आदि है; परन्तु इस अभाव का अन्त नहीं होता है। कार्य की उत्पत्ति के बाद उसकी वृत्ति स्वप्रतियोगी समवायी कारण में होती है। यह अविनाशी और जन्य होता है। जैसे कोई कार्यद्रव्य उत्पन्न हुआ; परन्तु ध्वंस से उस कार्यद्रव्य का अभाव हो गया। ध्वंस के बाद जो उस द्रव्य का अभाव हुआ, इससे यह तो पता चलता है कि उस द्रव्य का अभाव कब प्रारम्भ हुआ; परन्तु उस द्रव्य का अभाव कबतक बना रहेगा, इसका पता नहीं चल पाता है। अतः कहा गया कि इस अभाव के आदि का तो ज्ञान रहता है; परन्तु भविष्य में इस अभाव का अन्त कब होगा, यह पता नहीं रहता, अतः इसे अनन्त कहा गया है।

अत्यन्ताभाव—'त्रैकालिकसंसर्गावच्छिन्नप्रतियोगिताकोऽत्यन्ताभाव: '। जिस अभाव में प्रतियोगिता संसर्ग से अवच्छिन्न होती है और भूत, भविष्य व वर्तमान तीनों काल में रहती है, उसको अत्यन्ताभाव कहा जाता है। यह अभाव अजन्य और अविनाशी होता है।

अन्योन्याभाव–'तादात्म्यसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकोऽन्योन्याभावः ।

अर्थात् जिस अभाव की प्रतियोगिता तादात्म्य सम्बन्ध से अवच्छिन्न हो उसको अन्योन्य भाव कहा जाता है। जैसे घट पट नहीं है।

इस प्रकार से हमने जगत त्खंड के अंतरगत पदारथ की अवधारण नमक इकाई का पार्याप्त अध्ययन कर लिया है।

पृथिवी, जल, तेज, वायु और आकाश पञ्चमहाभूत हैं। इन पंचमहाभूतों पर विस्तार से अध्ययन हम अगली इकाइ में करेंगे ।

3.14 सारांश

पदार्थ - पद (शब्द) के अर्थ को पदार्थ कहते हैं। प्रशस्तपादाचार्य के अनुसार पदार्थ उसे कहते हैं जो अभिधेय हो, अर्थात् जिसका नाम दिया जा सके, जो ज्ञेय हो अर्थात् जिसे जाना जा सके और जिसका अस्तित्व (सत्ता) हो। इस प्रकार अस्तित्व, अभिधेयत्व और ज्ञेयत्व ये पदार्थ के सामान्य लक्षण हैं।"

कणाद और प्रशस्तपादाचार्य ने छः पदार्थों का निर्देश किया है— द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय और अभाव । परवर्ती न्याय-वैशेषिक के आचार्य श्रीधर, उदयन और शिवादित्य 'अभाव' नामक सातवां पदार्थ भी स्वीकार करते हैं। शिवादित्य ने अपने ग्रन्थ का नाम भी 'सप्तपदार्थी' रखा है। उदयन पदार्थों को पहले दो वर्गों में विभाजित करते हैं-भाव और अभाव। फिर भावपदार्थ के छः भेद मानते हैं— द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष और समवाय। सातवा पदार्थ 'अभाव' को मानते हैं। इस प्रकार न्याय-वैशेषिकदर्शन में सात पदार्थ माने जाने लगे। तर्कसंग्रह में भी इन्हीं सात पदार्थों को स्वीकार किया गया है-

द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषसमवायाभावाः सप्तपदार्थाः ।

1. **द्रव्यपद** या द्रव्य शब्द का अर्थ-द्रव्य शब्द की उत्पत्ति 'गति' अर्थ वाले 'द्रु' धातु से होती है। 'द्रु' धातु में यत् प्रत्यय लगाने से द्रव्य शब्द बनता है, जिसका अर्थ गति होता है; जो ज्ञान, गमन, प्राप्ति के रूप में प्रयुक्त होता है।

   इसकी निरूक्ति निम्न रूप में की गयी है-

   'द्रवति गच्छति परिणाममभीक्ष्णमिति द्रव्यम्।'

   अर्थात् जो सदैव परिणाम को प्राप्त करते हैं या जिनसे परिणाम का ज्ञान होता है, उसे द्रव्य कहा जाता है।

2. **गुण (Quality**-वैशेषिक का दूसरा पदार्थ गुण है। द्रव्यों में आश्रित, गुणरहित और संयोग एवं विभाग का निरपेक्ष कारण न होनेवाला अपितु सापेक्ष कारण होनेवाला पदार्थ गुण है - यह कणाद की परिभाषा है। कर्म से भिन्न, सामान्य युक्त एवं गुण-शून्य पदार्थ गुण हैं—इस प्रकार की परिभाषाएँ भी मिलती हैं। कर्म (क्रिया) तथा गुण द्रव्य में रहते हैं। इसलिए गुण में कोई क्रिया या कोई गुण नहीं रहता।" यह सर्वदा द्रव्य में ही उपलब्ध होता है, अन्य किसी भी पदार्थ में नहीं।

   वैशेषिक दर्शन में चौबीस प्रकार के गुण माने गये हैं। ये गुण है-रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, संख्या, परिमाण (Dimension) पृथक्त्व (Separateness), संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, गुरुत्व, द्रवत्व (Liquidity), स्नेह (Viscidity), शब्द, बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म और संस्कार।

3. **कर्म(Activity)-** वैशेषिक दर्शन का तीसरा पदार्थ कर्म है। यह द्रव्य तथा गुण आदि पदार्थों से भिन्न तत्त्व है। न्यायभूषणाकार भासर्वज्ञ इसे गुण से पृथक नहीं मानते', किन्तु नैयायिक-वैशेषिक दार्शनिक इस पक्ष को नहीं स्वीकार करते। गुण द्रव्य में अधिक देर तक भी रहता है किन्तु कर्म थोड़ी देर तक ही। कर्म शब्द क्रिया का पर्याय है। कर्म की विशेषताएँ ये हैं। एक कर्म एक ही द्रव्य के साथ सम्बद्ध होता है; यह शीघ्र ही विनष्ट हो जाता है; यह मूर्त द्रव्य में ही हो सकता है; यह संयोग, विभाग, गुरुत्व और द्रवत्व में से

किसी से भी उत्पन्न हो सकता है; इसमें गुण की सत्ता नहीं होती है; स्व-कर्म से ही उत्पन्न, होनेवाले संयोग, से नष्ट हो जाता है,

संयोग और विभाग को अन्य किसी कारण की अपेक्षा किए बिना ही उत्पन्न करता है

4. **सामान्य(Universe)-**सामान्य वैशेषिक दर्शन का एक महत्वपूर्ण पदार्थ है। हम दस पुस्तकें पढ़ते हैं। प्रत्येक पुस्तक में कुछ न कुछ विशेषता अवश्य है। इस विशेषता के कारण एक पुस्तक दूसरी पुस्तक से, व्यक्तिगत रूप में, सर्वथा भिन्न है। किन्तु इस वैयक्तिक भिन्नता के बावजूद हम सभी को पुस्तक कहते हैं। इससे यह सिद्ध है कि जहाँ एक ओर सभी पुस्तकों में परस्पर भिन्नता है, वहीं दूसरी ओर सबमें पारस्परिक अभिन्नता भी है। तभी तो सबको हम 'पुस्तक' कहते हैं। इसे ही 'अनुवृत्ति प्रत्यय' कहा जाता है। जिसके आधार पर हमें यह अनुवृत्ति प्रत्यय होता है वही 'सामान्य' है।' इसे हो जाति, सत्ता, भाव आदि भी कहते हैं।

   सामान्य के दो भेद माने गये हैं—पर सामान्य और अपर सामान्य।

5. **विशेष-**जगत् के जितने भी दृश्य पदार्थ हैं चाहे भौतिक हों या चेतन, वे सब संघात रूप हैं। इन अलग-अलग पदार्थों को 'व्यक्ति' कहा जाता है। ये 'विशेष' नहीं हैं। यह ध्यान देने की बात है कि वैशेषिक दर्शन में 'विशेष' नामक पदार्थ एक विशेष अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। जागतिक पदार्थों में भेद उनके अवयव-संस्थान के भेद से, उनके गुण-भेद से और कर्म-भेद स्पष्ट प्रतीत होता है। किन्तु जिन नित्य द्रव्यों में किसी प्रकार भेद करना सम्भव नहीं हो उन द्रव्यों में भेद करने के लिये 'विशेष' नामक पदार्थ की कल्पना की गई है। पृथिवी, जल, तेज और वायु के परमाणुओं में परस्पर भेद उनके गुण-भेद के आधार पर किया जा सकता किन्तु पृथिवी का एक परमाणु पृथिवी के ही दूसरे परमाणु से किस प्रकार भिन्न है? इसी प्रकार जल, तेज और वायु का परमाणु उसी द्रव्य के अन्य परमाणु से किस प्रकार भिन्न है?

6. **समवाय-**समवाय नित्य एवं अपृथक् सम्बन्ध है। संयोग अनित्य तथा पृथक्करणीय सम्बन्ध है। अतः समवाय को पदार्थ और संयोग का गुण माना गया है। समवाय नामक नित्य सम्बन्ध दो अयुतसिद्ध वस्तुओं में होता है। अयुतसिद्ध वस्तुयुगल में एक को दूसरी से पृथक् नहीं किया जा सकता तथा उनमें एक वस्तु आधार या आश्रय होती है एवं दूसरी आधार्य या आश्रित द्रव्य और गुण में, द्रव्य और कर्म में, सामान्य और व्यक्ति में, नित्य द्रव्य और विशेष में, तथा अवयव और अवयवी में, इस अयुतसिद्ध युगलपञ्चक में, समवाय सम्बन्ध होता है।

7 **अभाव-**वैशेषिक- -सूत्र और भाष्य में छह भावात्मक पदार्थों का वर्णन उपलब्ध है। स्वयं कणाद ने अभाव का वर्णन किया है, किन्तु उसे पदार्थ नहीं माना। बाद के वैशेषिकों ने उसे पदार्थ के रूप में मान्यता दी। अभाव दो प्रकार का होता है—संसर्गाभाव (जिसमें दो वस्तुओं के सम्बन्ध का निषेध किया जाता है, जैसे क ख में नहीं है) और अन्योन्याभाव (दो वस्तुओं का परस्पर भेद, जैसे क ख नहीं है)। संसर्गाभाव तीन प्रकार का होता है—प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव और अत्यन्ताभाव। अन्योन्याभाव एक ही प्रकार का होता है।

3.15 पारिभाषिक शब्दावली

पदार्थ- अभिधेय वस्तु अर्थात् किसी नाम को धारण करने वाली वस्तु या विषय को पदार्थ कहा जाता है।

द्रव्य- द्रव्य कहने से पञ्चमहाभूत, काल, दिक्, मन, आत्मादि-द्रव्यों का ग्रहण होता है,

गुन - गुण वह पदार्थ है जो द्रव्याश्रित हैं और जो स्वयं एवं निष्क्रिय है

सामान्य – Universality जो सब में अनिवर्य रूप से विधमान है

विशेष - Particilarity किसी वस्तु की विशेष

समवाय - वायु के परमाणु वायुत्व विशेष रहता है। अतः इनका सम्बन्ध 'समवाय' है।

अभाव – भाव का निषेध ही अभाव है

3.17 सन्दर्भ ग्रन्थ

1) पर्दार्थ विज्ञान, डॉ. बी. के. द्विवेदी, चौखम्मा कृष्णदास अकादमी, वाराणसी, 2022
2) भारतीय दर्शन, डॉ० नन्द किशोर देवराज, उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ ,2002
3) भारतीय दर्शन, चन्द्रधर शर्मा,भारतीय दर्शन आलोचन और अनुशीलन , मोतीलाल बनारसीदास, 1995,
4) भारतीय दर्शन डॉ. उमेश मिश्र,उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान 2003
5) Padartha Vijñāna, Dr. K.V.L.Narasimhacharyulu, CHOWKHAMBA KRISHNADAS ACADEMY VARANASI, 2022

3.16 बोध प्रश्न

1) पदार्थ किसे कहते हैं ?
2) पद का अर्थ एवं शक्ति कहने लगा क्या तात्पर्य है ?
3) द्रव्य पदार्थ की चर्चा करें ? द्रव्य पदार्थ के कितने प्रकार हैं ?
4) गुण पदार्थ की चर्चा करें ? गुण पदार्थ के कितने प्रकार हैं ?
5) कर्म पदार्थ के विषय में बताएं?
6) समवाय संबंध किसे कहते हैं?
7) विशेष पदार्थ किसे कहते हैं? यह सामान्य पदार्थ से किस प्रकार भिन्न होता है ?
8) अभाव पदार्थ की व्याख्या करें तथा उसके प्रकार भी बताएं?

इकाई 4 पंचमहाभूत की अवधारणा

इकाई की रूपरेखा

4.0 उद्देश्य

प्रिय विद्यार्थी! आप प्रस्तुत इकाई तृतीय खंड की तृतीय इकाई में भारतीय दर्शन में प्रतिपादित पंचमहाभूत की अवधारणा का अध्ययन करने जा रहे हैं। इसके अध्ययन से आप यह जान सकते हैं कि पंचमहाभूत क्या है भारतीय परमाणुवाद का सिद्धांत क्या है पंच महाभूतों का अध्ययन कर पाएंगे इसमें पृथ्वी तत्व जल तत्व अग्नि तत्व वायु तत्व आकाश तत्व की व्युत्पत्ति तथा उनके लक्षण और भेद आप समझेंगे।

वायु तत्व तथा आकाश तत्व की सिद्धि हम कैसे कर सकते हैं आप यह भी समझेंगे।

4.1 प्रस्तावना

पञ्चमहाभूत सिद्धान्त भारतीय दर्शनों का एक सर्वदर्शन सम्मत अविरुद्ध सिद्धांत हैं, जो द्रव्यों के विभिन्न गुण, कर्म, स्वभाव एवं अवस्था आदि को देखकर सृष्टिविकास की स्वभावसिद्ध परम्परा का सतत निरीक्षण कर लोकानुमत सूक्ष्म भूतों के विविध कार्यों का अवलोकन कर सूक्ष्मस्तर पर व्याख्यायित पञ्चपञ्चक के युक्तिसंगत तर्क-बल द्वारा भारत के पुराकालीन मनीषियों ने प्रतिपादित किया है। आधुनिक तत्त्ववाद, परमाणुवाद, द्रव्यों के विविध अवस्थावाद तथा सृष्टिविकास के निहारिकावाद आदि से इस सिद्धान्त का कोई विरोध नहीं है। अपितु इनके साथ सर्वथा सामञ्जस्य रखने की इसमें क्षमता ही ज्ञात होती है। आयुर्वेद के गर्भविकासवाद, देह संघटन, त्रिदोषवाद, इन्द्रियों की नियतार्थ ग्रहणशीलता, द्रव्यों का रसवाद, गुण कर्मवाद, द्रव्यों की विविधता तथा उनका वर्गीकरण आदि विषयों का तो यह सिद्धान्त आधारभूमि बनाता है।[1]।

संसार के विविध पदार्थ पञ्चमहाभूत से ही निर्मित होते हैं चाहे वह चेतन हो, अथवा अचेतन हो। इन पदार्थों के स्थूलतम या सूक्ष्मतम रचनाओं का कलेवर पञ्चभूतों की समष्टि या एक-दूसरे में प्रविष्ट पांच भूतों का अथवा उनके ही विकारों का बना होता है। जहाँ पर आत्म सम्बन्ध से इन्द्रिय व्यापार दृष्टिगोचर होता है, उसे चेतन पदार्थ या चेतन द्रव्य कहा जाता है तथा जहाँ इन्द्रिय-व्यापार दृष्टिगोचर नहीं होता है, उसे जड़ पदार्थ कहा जाता है। आचार्य चरक ने चेतनाचेतन समस्त द्रव्यों की पांचभौतिकता को निम्न शब्दों द्वारा व्यक्त किया है-

सर्वं द्रव्यं पांचभौतिकमस्मिन्नर्थे तच्चेतनावदचेतनं च।
तस्य गुणाः शब्दादयो गुर्वादयश्च द्रवान्ताः॥ [2]

'पञ्चमहाभूत जो कि समुदाय रूप में भौतिक सृष्टि के आधारभूत तत्त्व हैं, न्याय, वैशेषिक दर्शन के अनुसार परमाणु रूप में नित्य एवं द्वयणुक, त्रसरेणु आदि सूक्ष्म व स्थूल कार्य के रूप में अवयव युक्त एवं दूसरे से उत्पन्न होने के कारण अनित्य कारणभूत द्रव्य हैं।

[1]आयुर्वेद के मूलसिद्धान्त, डा० लक्ष्मीधर जी द्विवेदी, पेज 115

[2] च. सू. २७/१०

4.2 परमाणुवाद

वैशेषिक के अनुसार जगत् के सभी कार्य द्रव्य, पृथ्वी, जल, तेज और वायु इन चार तरह के परमाणुओं (Atoms) से बनते हैं। इसलिए सृष्टि सम्बन्धी वैशेषिक मत परमाणुवाद (Atomism) कहलाता है। परमाणुवाद जगत् के अनित्य द्रव्यों की ही सृष्टि और प्रलय का क्रम बतलाता है । आकाश, द्रिव्य, काल, मन, आत्मा और भौतिक परमाणु, जगत् के इन नित्य पदार्थों की न तो सृष्टि होती है और न विनाश ही होता है।

परमाणुओं के संयोग में ईश्वर की इच्छा या 'अदृष्ट' क्रियाशील होता है । वैशेषिकों के अनुसार पहले सामान्य परमाणुओं में विच्छेद (Disintegration) होता है, फिर आणुविक गुणों (Atomic qualities) में परिवर्तन होता है और फिर ऊष्मा (heat) के कारण अन्तिम संयोग होता है । इस सिद्धान्त को 'पोलपाक सिद्धान्त' (Doctrine of Pilupaka or heating of atoms) कहते हैं। न्याय के अनुसार तैजस परमाणु (Heat-corpuscles) वस्तु की छिद्रयुक्त काया (Porous body) में प्रवेश कर जाते हैं और वस्तु के रूप (Colour) में परिवर्तन उत्पन्न करते हैं । सम्पूर्ण पदार्थ न तो परमाणुओं में विभक्त (Disintegrated) होता है और न पुनर्गठित (Reconstituted) ही होता है, क्योंकि ऐसा व्यावहारिक जगत् में अनुभव नहीं किया जाता है । इस सिद्धान्त को 'पिथरपाक' (Heating of molecules) कहते हैं ।

आकाश, वायु, अग्नि, जल व पृथ्वी-इन पाँचों को पञ्चभूत या पञ्चमहाभूत कहते हैं। इनकी दो अवस्थायें होती हैं-प्रथम परमाणु रूप या कारण रूप तथा द्वितीय कार्य रूप स्थूल अवस्था।

परमाणुरूप भूत नित्य व स्थूलरूप भूत अनित्य होते हैं।

परमाणु चार प्रकार के हैं, जिनका संयुक्त रूप पृथ्वी, जल, तेज और वायु

है। इन परमाणुओं में परिमाण (Mass), संख्या (Number), गुरुत्व (Weight), द्रवत्व (Fluidity), स्थिरत्व (Viscosity), गति (Velocity), रूप (Colour), रस (Taste), गन्ध (Smell), स्पर्श (Touch) आदि पाये जाते हैं। ये स्वाभाविक हैं। आकाश रूपहीन और निरवयव है। यह शब्द का आधार रूप है । परमाणुओं का संयोग (Atomic combination) केवल चार प्रकार के परमाणुओं तक ही सीमित है। सृष्टि के समय परमाणु अलग-अलग नहीं रह सकते और इन परमाणुओं के पृथकत्व का ही आशय है प्रलय । परमाणु वह सूक्ष्मतम रूप है, जिसका पुनविभाजन (Re-division) नहीं किया जा सकता ।

परमाणुवाद की चर्चा उपनिषदों में भी की गयी है परन्तु ऋषिकणाद ने अपने वैशेषिक दर्शन में 'परमाणुवाद' की व्याख्या तत्व-विज्ञान के रूप में की।

तत्वरूप भूतों का पृथ्वी आदि नामकरण लोक में इन नामों से विख्यात पदार्थों के उपर, जो कि संगठन की दृष्टि से स्वयं भौतिक हैं, सुविधा के लिये किया गया है। स्थूल जगत् में भौतिक कार्यों के प्रति इन लोकभूतों की कारणता भी सर्वदा देखी जाती है। इसलिये यदि तत्त्व शब्द का पारिभाषिक अर्थ न लेकर कारणभूत यौगिक द्रव्यों को भी सामान्य लोक व्यवहार में तत्त्व कह दिया जाता है, अतः लोक व्यवहार में यदि महाभूतों को (स्थूल) पञ्च तत्त्व कहा जाता है, तो लोक-व्यावहारिक दृष्टि से आपत्ति नहीं होनी चाहिये। जो पदार्थ सभी कार्य द्रव्यों में व्याप्त होते हैं, उन्हें तत्त्व कहते हैं—**'तनोति सर्वान् व्याप्य आस्ते इति तत्त्वम्'** अर्थात् सभी पदार्थों को व्याप्त कर जो अवस्थित हो वह तत्व है।

आधुनिक तत्त्वसंज्ञक द्रव्य एलिमेंट भी अनेक इन्द्रियों के द्वारा ग्राह्य होने के कारण तथा अनेक गुणों के आश्रय होने के कारण पञ्चमहाभूतों के विकार ही कहे जा सकते हैं अर्थात् पञ्चमहाभूतों द्वारा उत्पन्न कार्य द्रव्य हैं। प्रत्येक तत्त्व की तत्त्व विनिश्चयता तो आज भी नहीं है। वे पूर्णतः संभावना व्यक्त करते हैं कि - कुछ तत्त्व आगे चलकर विभिन्न पदार्थों में टूटकर यौगिक सिद्ध हो सकते हैं, जो विजातीय पदार्थों के योग से निर्मित न हो ऐसे विशुद्धतम पदार्थ को तत्त्व कहा जाता है। यदि भारतीय दर्शनानुसार एक इन्द्रिय ग्राह्यता को इकाई मान लिया जाए तो जिन्हें आधुनिक विज्ञान तत्त्व कहता है, वे भारतीय दर्शनानुसार पञ्चमहाभूतों के विकार रूप यौगिक द्रव्य है। जैसे एक इन्द्रिय से ग्राह्य गुण को विशिष्ट गुण कहा जाता है, उसी तरह एकेन्द्रियार्थाश्रय को ही विशिष्ट द्रव्य कहना चाहिये।

'प्राचीन काल के तत्त्वदर्शियों ने समस्त कार्यद्रव्यों को पांचभौतिक कहा है। आज के विज्ञान में मान्य परमाणु भी सूक्ष्म कणिकाओं का समूह माना जाता है, जिनके गुण व कार्य पृथक्-पृथक् हैं। अतः आधुनिक परमाणु सावयव होने से परमाणु नहीं माने जा सकते हैं। आधुनिक परमाणु के घटक, इलेक्ट्रान, प्रोटान, पोजिट्रान आदि को स्थूल महाभूतों की श्रेणी में रखकर परमाणु को पाञ्चभौतिक परमाणु ही या जा सकता है। यदि परमाण के प्राचीन परिभाषा के परिप्रेक्ष्य में देखा जाए तो परमाणुओं के घटकों को विभिन्न गुण धर्म वाले कण विशेष ही परमाणु कहे जा सकते हैं तथा उन्हें पार्थिवादि चतुष्टय में वर्गीकृत किया जा सकता है।

महाभूत संज्ञा का कारण-कतिपय लोगों का कथन है कि महदर्थकारी या सर्वविकार व्यापी होने के कारण भूतों को ही महाभूत कहा जाता है। इससे जन्तुवाचक भूत से पृथक्ता भी हो जाती है।

कुछ लोगों का कहना है कि सृष्टि के पूर्व जब अनित्य द्रव्यों का अभाव था तो परमाणु रूप में नित्य व पृथक्-पृथक् रूप में भूत विद्यमान थे, जिन्हें भूत या सूक्ष्मभूत कहा जाता है। जब सर्गारम्भ में इनका उत्तरोत्तरानु प्रवेश हुआ तो गुण वृद्धि वाले पांच महाभूत या स्थूलभूत बन जाते हैं। भूतावस्था में ये अव्यक्त द्रव्य महाभूतावस्था में व्यक्त हो जाते हैं। इसी आधार पर सांख्य दर्शन में भूतों को अविशेष तथा महाभूतों को विशेष कहा गया है। इसके बाद महाभूत परस्पर मिश्रित या अन्योन्यानुप्रविष्ट होकर पञ्चीकृत होते हैं, तत्पश्चात् असंख्य कार्य-द्रव्यों की उत्पत्ति होती है।

4.2.1 सृष्टि और ईश्वर (Creation and God)

वैशेषिकों का परमाणुवाद भौतिकवादी (Materialistic) नहीं है, क्योंकि उनके परमाणु आध्यात्मिक हैं। वे स्वयं निष्क्रिय (Inactive) हैं। उनमें क्रिया का संचार अदृष्ट या ईश्वर के कारण होता है । विश्व की रचना और प्रलय का कारण ईश्वर की इच्छा है । ईश्वर ही विश्व का कर्ता (Creator), पालक (Sustainer) और संहारक (Destroyer) है। इससे यह नहीं समझना चाहिए कि परमाणु कुछ करते ही नहीं । परमाणु विश्व के उपादान कारण (Meterial cause) हैं। रचना और विनाश का चक्र (Circle) सदैव चला करता है । इस प्रकार सृष्टि का निमित्त कारण ईश्वर है और उपादान कारण परमाणु हैं ।

4.2.2 सृष्टि और परमाणुवाद (Creation and Atomism)

विश्व की रचना परमाणुओं के संयोग से होती है। दो परमाणुओं के संयोग से एक द्वयणुक (Abinary molecule) बनता है। दो द्वयणुकों के संयोग से श्रयणुक, तीन द्ववणुकों के संयोग से चतुणंक आदि बनते हैं। परमाणुओं के संयोग का यह दृष्टिकोण बहुत ही प्रचलित था लेकिन

इसके अतिरिक्त भी एक दृष्टिकोण प्रकाश में आया, जिसकी विवेचना डॉ० बी० ० एन० सील (Seal) ने इस प्रकार की है-

"Atoms have also an inherent tendency to unite," and that they do so in twos, threes or fours, "either by the atoms falling into groups of threes, fours etc, directly, or by the successive addition of one atom to each preceding aggregate." [3]

4.3 भूत की निरुक्ति व परिभाषा या लक्षण

भू सतायां धातु में 'क्त' प्रत्यय लगाने से (भू + क्त = भूत) भूत शब्द बनता है, जिसका अर्थ सत्तावान् होना, विद्यमान होना होता है ये किसी के द्वारा उत्पन्न नहीं होते बल्कि महाभूतों के कारण होते हैं।'

इस प्रकार भूत शब्द का अर्थ यह हुआ कि जो सत्तावान् हो या जो विद्यमान हो तथा किसी द्वारा उत्पन्न न हो; परन्तु महाभूतों का उत्पादक-कारण हो उसे 'भूत' कहते हैं।

4.4 भूत के लक्षण

'बहिरिन्द्रियग्राह्यविशेषगुणत्वम् भूतत्वम्।

अर्थात् बाह्येन्द्रियों, पाँच ज्ञानेन्द्रियों के द्वारा ग्रहण किये जा सकने वाले रूपादि विशेष गुण जिनमें विद्यमान हों, उन्हें भूत कहा जाता है। चूँकि बाह्य जगत् के ज्ञान के लिये केवल पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ हैं, जिनसे मनुष्य को समस्त पदार्थों का यथाविधि ज्ञान होता है। ये इन्द्रियाँ एक-एक नियत विषय का ही ग्रहण करती हैं। यथा— श्रोत्रेन्द्रिय शब्द गुण का, स्पर्शमेन्द्रिय स्पर्श गुण का, चक्षुरीन्द्रिय रूप गुण का, रसनेन्द्रिय रस गुण का तथा घ्राणेन्द्रिय गन्ध गुण का ग्रहण करती है, अतः शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध—इन पाँच विशेष गुणों के आश्रयभूत द्रव्य पाँच ही हैं, जिन्हें भूत कहा जाता है। यहाँ 'वहिरिन्द्रिय' से यह स्पष्ट कर दिया गया है कि इन पाँच ज्ञानेन्द्रियों का सम्बन्ध बाह्य जगत् से होता है या बाह्य जगत् से या लोक पुरुष का अन्तर्सम्बन्ध स्थापित करने का साधन (Tools) इन्द्रयाँ हैं। इस प्रकार बाह्य

जगत् से इन्द्रियाँ जिन-जिन गुणों को ग्रहण करती है, उन-उन गुण वाले गुणी की ही सत्ता इस जगत् में विद्यमान है, अतः उन्हें भूत कहा जाता है। हमारे पास बाह्य उत्तेजनाओं या गुणों को ग्रहण करने का साधन पाँच हैं, अतः हम इनके आधार पर ही सम्पूर्ण जगत् में पाँच की सत्ता स्वीकार करते हैं, जिनकी सत्ता होने से इन्हें भूत कहा जाता है। में इसको स्पष्ट किया गया है कि-

महाभूतानि खं वायुरग्निरापः क्षितिस्तथा।
शब्दः स्पर्शश्च रूपं च रसोगन्धश्च तद्गुणाः।[4]

अर्थात् आकाश, वायु, अग्नि, जल तथा पृथ्वी-ये पाँच महाभूत हैं तथा शब्द, स्पर्श, रूप, रस तथा गन्ध-ये क्रमशः इनके गुण हैं। इन गुणों के आधार पर ही इन भूतों के लक्षण निर्दिष्ट हैं। यथा—

[3] Positive Science of the Ancient Hindus

[4] च. शा. १।२७

शब्दगुणकमाकाशम् — शब्द गुण वाला आकाश कहा जाता है।

स्पर्शवान् वायुः - स्पर्श गुणवाला वायु कहा जाता है।

रूपस्तेजः - रूपवान् को तेज कहते हैं।

रसवत्यं आपः - रसवान् को अप कहते हैं तथा गन्धवती पृथ्वी- गन्ध गुण वाली को पृथ्वी कहते हैं।।

पञ्चमहाभूतों के असाधारण लक्षण–पञ्चमहाभूतों के असाधारण या भौतिक गुणों का निर्देश देते हुए कहा गया है कि-

खरद्रवचलोष्णत्वं भूजलानिलतेजसाम्।
आकाशस्याप्रतिघातो द्रष्टं लिङ्गं यथाक्रमम्।।[5]

अर्थात् खरत्व, द्रवत्व, चलत्व, उष्णत्व-ये लक्षण पृथ्वी, जल, अग्नि व वायु के होते हैं। खरत्व पृथ्वी का, द्रवत्व जल का, चलत्व वायु का तथा उष्णत्व अग्नि का लक्षण है। आकाश का लक्षण अप्रतिघात होता है। प्रतिघाताभाव या प्रतिघात का न होना ही अप्रतिघात कहा जाता है। प्रतिघात स्पर्श के द्वारा होता है, अतः अप्रतिघात का अर्थ यहाँ स्पर्शाभाव ग्रहण करना चाहिये।

4.5 महाभूतों के गुण

महाभूतानि खं वायुरग्निरापः क्षितिस्तथा। शब्दः स्पर्शश्च रुपं च रसो गन्धश्च तद्गुणाः ।। तेषामेकगुणः पूर्वो गुणवृद्धि परे परे। पूर्वः पूर्वगुणश्चैव क्रमशो गुणिषु स्मृतः ।।[6]

अर्थात् आकाश, वायु, अग्नि, जल व पृथ्वी के क्रमशः शब्द, स्पर्श, रूप, रस व गंध गुण होते हैं। इनमें पूर्व-पूर्व गुण उत्तर-उत्तर महाभूतों में अनुप्रवेशित होते हैं। अर्थात् आकाश में एकमात्र शब्द गुण होता है। वायु में स्पर्श के साथ- साथ पूर्व महाभूत आकाश का शब्द गुण भी होता है। इसी प्रकार अग्नि में रूप के साथ-साथ आकाश व वायु के शब्द व स्पर्श भी होते हैं। इस प्रकार अग्नि में रूप, स्पर्श व शब्द - तीन गुण होते हैं। जल में रस गुण के साथ-साथ पूर्वगुण रूप, स्पर्श व शब्द भी होते हैं। इस प्रकार जल में रस, रूप, स्पर्श व शब्द- ये चार गुण होते हैं। पृथ्वी महाभूत का अपना गुण गन्ध है; परन्तु गन्ध गुण के साथ-साथ पूर्व के महाभूतों के गुण, रस, रूप, स्पर्श व शब्द भी होते हैं। इस प्रकार पृथ्वी महाभूत में गन्ध, रस, रूप, स्पर्श व शब्द-ये पाँच गुण होते हैं।। पंच महाभूतों में त्रिगुण (सत्त्व, रज, तम); है- आचार्य सुश्रुत के अनुसार

तत्र सत्त्वबहुलमाकाशं, रजोबहुलो वायुः, सत्त्वरजोबहुलोऽग्निः सत्त्वतमोबहुला आपः तमोबहुला पृथ्वीति।

अर्थात् आकाश महाभूत सत्त्वबहुल होता है। वायु महाभूत में रजोगुण की बहुलता होती है। सत्त्व व रजोगुण बहुल अग्नि होती है। जल महाभूत में सत्त्व व तमोगुण होता है एवं पृथ्वी महाभूत में तमोगुण की बहुलता होती है।

---

[5] च. शा. १।२९

[6] च. शा. १।२७-२८

4.6 पृथ्वी

4.6.1 पृथ्वी के लक्षण

१. तमो बहुला पृथिवी— सुश्रुत।

तमो गुण बहुल पृथ्वी होती है।

१२. तत्र गन्धवती पृथिवी — तर्कसंग्रह।

गन्ध वाली पृथ्वी है। अर्थात् गन्धवान् होना पृथ्वी का लक्षण है। यहाँ पृथ्वी

लक्ष्य व पृथिवीत्व उसका अन्य द्रव्यों से अलग करने वाला लक्षण है। जिस द्रव्य

में गन्ध समवायसम्बन्ध से रहे, उसे पृथ्वी कहा जाता है ।।

अद्भ्यो गन्धगुणाः भूमिः।[7]

जल से गन्ध गुण वाली पृथ्वी उत्पन्न हुई।

रूप रसगन्धस्पर्शवती पृथिवी ।

अर्थात् रूप, रस, गन्ध व स्पर्श गुणयुक्त द्रव्य को पृथ्वी कहा जाता है। इसमें गन्ध पृथ्वी का अपना गुण है तथा रस, रूप व स्पर्श क्रमशः पूर्व महाभूत जल, तेज व वायु के हैं, जो अनुप्रवेश द्वारा पृथ्वी में प्रविष्ट हैं। यहाँ वैशेषिक दर्शन में पृथ्वी को चार गुणों वाली ही कहा गया है। आकाश महाभूत के गुण शब्द का यहाँ उल्लेख नहीं किया गया है। यद्यपि वैशेषिक दर्शनकार ने आकाश को द्रव्य स्वीकार किया है; परन्तु उत्तर महाभूत पृथ्वी में उसको अनुप्रविष्ट नहीं माना है। वस्तुस्थिति यह है कि बिना आकाश महाभूत के किसी द्रव्य की स्थिति नहीं हो सकती है, अतः आकाश के गुण-शब्द का भी उत्तर महाभूतों में अनुप्रवेश स्वीकार करना चाहिये।

तत्र क्षितिर्गन्धहेतुर्नाना रूपवती मता। षड्विधस्तुरसस्तत्र

गन्धस्तु द्विविधो मतः।

स्पर्शस्तस्यास्तु विज्ञेयो ह्यनुष्णाशीतपाकजः ।

नित्यानित्या च सा द्वेधा नित्या स्यादणुलक्षणा ।।[8]

रूप-रस-गन्ध-स्पर्श संख्या-परिमाण पृथक्तव-संयोग-विभाग-परत्वापरत्व- गुरुत्व- द्रवत्व- संस्कारवती पृथिवी । एते च गुणविनिवेशाधिकारे रूपादयों गुणविशेषाः सिद्धाः चाक्षुषवचनात् सप्तसंख्यादयः । पतनोपदेशात् गुरुत्वम्। अद्भिः सामान्यवचनात् द्रवत्वम्। उत्तरकर्मवचनात् संस्कारः प्रशस्तपाद। १

अद्भ्यः पृथिवी—तैत्ति ।

अर्थात् जल से पृथ्वी की उत्पत्ति हुई। पृथ्वी की उत्पत्ति के लिये अप् तत्त्व की सूक्ष्मावस्था रस तन्मात्रा की सहायता आवश्यक होती है। मनुस्मृति में कहा गया है कि जल तत्त्व से गन्ध गुण वाली पृथ्वी उत्पन्न हुई। बृहदारण्यकोपनिषद् में कहा गया है कि जल का जो फेन भाग था वही कठिन होकर पृथ्वी उत्पन्न हुई (तद्यदपां सरः आसीत् तत् समहन्यत सा पृथिवी अभवत्)।

---

[7] मनुस्मृति

[8] सिद्धान्तमुक्तावली

सिद्धान्तमुक्तावली में अनेक प्रकार के गन्धों के कारण रूप में पृथ्वी को प्रदर्शित किया गया है तथा कहा गया है कि पृथ्वी छः रसों से युक्त अर्थात् छः रसों वाली है और इसमें दो प्रकार का गन्ध होता है। इनमें अनुष्णाशीत पाकज स्पर्श भी होता है।

रूप-रस आदि गुण, षड्रस युक्त पृथ्वी आदि कार्य रूप पृथ्वी में समझना चाहिए। यदि नित्यानित्य भेद से देखा जाय तो ये गुण अनित्य या कार्य रूप पृथ्वी में हो सकते हैं। नित्य पृथ्वी परमाणु रूप में ही हो सकती है, जो कि निरवयव होती है।

पृथ्वी में रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, संख्या, परिमाण, पृथक्तव, संयोग, विभाग, परत्वापरत्व, गुरुत्व, द्रवत्व और संस्कार—ये चौदह गुण होते हैं। ये गुण पृथ्वी महाभूत में समवायसम्बन्ध से रहते हैं। इन उपर्युक्त चौदह गुणों में से रूप, रस, गन्ध व स्पर्श गुण विशेष रूप से रहते हैं ; क्योंकि ये गुण पृथ्वी के पूर्व के महाभूतों के भी हैं, जो अनुप्रविष्ट हैं। पृथ्वी शुक्ल, नील, हरित, लाल, पीला, खाकी व चित्र भेद से सात रूपों वाली होती है। इसमें मधुराम्ललवण कटु तिक्त कषाय- ये छः रस और सुरभि व असुरभि ये दो गन्ध होते हैं। इसमें अनुष्णाशीत स्पर्श भी होता है।

उपर्युक्त गुणों में से (चौदह गुणों में से) संख्यादि सात गुण १. संख्या २. परिमाण ३. पृथक्तव ४. संयोग ५. विभाग, ६. परत्व, ७. अपरत्व व कर्म भी चाक्षुण प्रत्यक्ष होने वाले विषय होने के कारण पृथ्वी में विद्यमान रहते हैं।

चाक्षुषवचनात् सप्तसंख्यादयः[9] - अर्थात् संख्यादि सात गुण चाक्षुषप्रत्यक्षगम्य विषय हैं, जो पृथ्वी में विद्यमान रहते हैं।

पृथ्वी के लक्षण हेतु वैशेषिक दर्शन में **'रूपरसगन्धस्पर्शवती** पृथ्वी' कहा गया है। यदि केवल स्पर्शवती पृथ्वी कहा जाए तो वायु का गुण है, अतः स्पर्शवान् जो होगा वह वायु होगा। यदि स्पर्श के साथ रूपवती पृथ्वी कहा जाए तो यह तो सही है कि पृथ्वी में शुक्ल, नीलादि रूप है; परन्तु केवल रूप कहने से इसके आश्रय अग्नि का बोध होगा; क्योंकि रूप अग्नि का विशिष्ट गुण है। इसी प्रकार यदि 'स्पर्शरूपरसवती पृथ्वी' कहा जाएगा तो रस से जल का बोध होगा; क्योंकि रस जल का विशिष्ट गुण है। हालांकि पृथ्वी में मधुरादि रस होता है; परन्तु रसवान् पृथ्वी का लक्षण नहीं है। यदि रसवान् होना ही पृथ्वी का लक्षण मान लिया जाए कि पृथ्वी में तो रस है, तो यह लक्षण दो-दो महाभूतों जल व पृथ्वी दोनों के हो जाएंगें अतः पृथ्वी के विशिष्ट गुण गन्ध के साथ लक्षण दिया गया कि - 'रूप रसगन्धस्पर्शवती पृथ्वी। क्योंकि ये चारों गुण पृथ्वी में विद्यमान रहते हैं। इन चारों गुणों में स्पर्श, वायु, अग्नि व जल में भी है, रूप, अग्नि व जल दोनों में, रस, जल व पृथ्वी दोनों में है; परन्तु गन्ध गुण केवल पृथ्वी में ही है, अतः बिना गन्ध गुण के कहे पृथ्वी का बोध नहीं हो पाता है, इसीलिये कहा गया है कि-'रूपरसगन्धवती पृथिवी'। अब यहाँ यह स्पष्ट करना आवश्यक समझा जा रहा है कि 'गन्धवती' में 'वती' क्यों लगाया जाता है। 'वती' से सामान्यतया 'बाली' या युक्त अर्थ ग्रहण किया जाता है। अर्थात् गन्धयुक्त पृथ्वी है या गन्ध वाली पृथ्वी है; परन्तु 'वती' शब्द 'मतुप्' प्रत्यय से उत्पन्न है, जिसका अर्थ 'सामान्य सम्बन्ध' होता है, जिसका तात्पर्य समवाय सम्बन्ध रूप में ग्रहण होता है। इस प्रकार 'गन्धवती पृथिवी' का तात्पर्य 'समवायेन गन्धवत्त्वं पृथ्वीत्वम्'होता है। अर्थात् जिसमें गन्ध समवायरूप से सम्बन्धित हो उसे पृथ्वी कहा जाता है। जब पृथ्वी महाभूत द्वारा किसी कार्य-द्रव्य की उत्पत्ति होती है, तो पृथ्वी के साथ गन्ध युक्त रहता है। ऐसी बात नहीं है कि गन्ध पृथक् रूप से कार्य-

[9] प्रशस्तपाद

द्रव्य उत्पन्न करता है, जहाँ पृथ्वी महाभूत है, वहाँ गन्ध है अथवा जहाँ गन्ध है, वह पृथ्वी है; क्योंकि गन्ध पृथ्वी के अतिरिक्त अन्यत्र रहता ही नहीं है- गन्धगुणात्यन्ताभावानधिकरणत्वं गन्धवत्वम्॥

पृथ्वी में गुरुत्व है व गन्ध उसका विशिष्ट गुण है। सामान्य नियम है कि जैसे-जैसे परमाणुभार में वृद्धि होती है वैसे-वैसे गन्ध की तीव्रता बढ़ जाती जिस द्रव्य के परमाणु बहुत ही कम हैं, वे प्रायः गन्धविहीन होते हैं।

वाष्पीय पदार्थों का परमाणु भार बहुत अधिक होने पर वे निर्गन्ध हो जाते हैं। थोड़े से रासायनिक परिवर्तन से रासायनिक द्रव्यों के गन्ध में उल्लेखनीय परिवर्तन हो जाता है।

4.6.2 पृथ्वी के भेद

या दिविधा नित्याऽनित्या च नित्या परमाणरूपा। अनित्या

पृथ्वी के दो भेद वैशेषिक न्यायोक्त हैं। सांख्य के अनुसार पृथ्वी की उत्पत्ति गन्ध, तन्मात्रा से अन्य पूर्व के तन्मात्राओं की सहायता से होता है। कोई भी उत्पन्न वस्तु नित्य नहीं होती है। अतः सांख्य के अनुसार भेद नहीं है। वैशेषिक दर्शन के अनुसार पृथ्वी का परमाणु नित्य होता है, उसका नाश नहीं होता है तथा इसे विकसित होने वाले विभिन्न परमाणुओं के सहयोग से उत्पन्न पृथ्वी जिसे शरीर संज्ञक अर्थात् आकारादि (Shape & size) पृथ्वी कहते हैं। वह पृथ्वी अनित्य है। इसके अतिरिक्त विषय संज्ञक पृथ्वी भी अनित्य है। अन्य दर्शन सांख्यादिमें इस प्रकार की अवधारणा (Concept) नहीं है। अर्थात् पृथ्वी के दो प्रकार होते हैं- (१) नित्या (२) अनित्या। ।

नित्या—जो परमाणु रूप में पृथ्वी रहती है, वह नित्य होती है, अतः इसे नित्या पृथ्वी कहा जाता है।

अनित्या—जो रूप स्थूल पृथ्वी होती है, वह अनित्य होती है, इसलिये उसे अनित्या पृथ्वी कहते हैं। इससे विभिन्न कार्य-द्रव्यों की उत्पत्ति होती है। इसके पुनः तीन भेद होते हैं- (१) शरीर संज्ञक (२) इन्द्रिय संज्ञक तथा (३) विषय संज्ञक ।

शारीर संज्ञक—शरीर को पंचमहाभूतों के विकारों का समुदाय माना गया है-तत्र **शरीरं नाम चेतनाधिष्ठानभूतं पंचमहाभूतविकारसमुदायात्मकं**।[10] •

इस प्रकार कार्यरूप पाँचों महाभूतों के विकार का समूह शरीर है। इसमें जो पृथ्वी महाभूत का विकार सहभागी होता है, उसे शारीर संज्ञक पृथ्वी कहा जाता है। इसके पुनः दो भेद किये गये हैं— (क) योनिज (ख) अयोनिज।

योनिज-शुक्र-शोणित संयोग से जिस शरीर की उत्पत्ति होती है, उसे योनिज कहा जाता है। यह दो प्रकार का है—(अ) जरायुज (ख) अण्डज। जो जरायु द्वारा शरीर उत्पन्न होता है, उसे जरायुज कहा जाता है यथा-मनुष्य, गौ आदि तथा जिस प्रकार शरीर की उत्पत्ति अण्डे द्वारा होती है, उसे अण्डज कहा जाता है। यथा— सर्पादि।

अयोनिज-जिन शरीरधारियों की उत्पत्ति बिना शुक्र-शोणितं संयोग के होती है, उसे अयोनिज

[10] च. शा. ७

शरीर कहा जाता है। यथा—देव, ऋषि, कीटादि। इनके दो प्रकार हैं- (अ) धर्मविशिष्ट जो धर्म विशिष्ट अणुओं के संयोग से उत्पन्न होते हैं—यथा— देव, ऋषि तथा (ब) अधर्म विशिष्ट-जो अधर्म विशिष्ट अणुओं के संयोग से उत्पन्न होते हैं—यथा—यूका आदि।

इन्द्रिय संज्ञक – जिससे पृथ्वी के गुण-गन्ध का ग्रहण होता उसे इन्द्रिय संज्ञक पृथ्वी कहा जाता है। नासा के अग्र भाग में रहने वाली इन्द्रिय घ्राणइन्द्रिय कहलाती है।

विषय संज्ञक पृथ्वी -द्वयणुकादि क्रम से उत्पन्न कार्य रूप पृथ्वी को विषय संज्ञक पृथ्वी कहा जाता है। इसके तीन प्रकार हैं—(क) मृत्-भू प्रदेश, इष्टिकादि। (ख) पाषाण-उपल, मणि, वज्रादि। (ग) स्थावर-तृण, लता, वृक्षादि।

अब पृथ्वी महाभूत के भेदोपभेद का सरल रेखाकंन बोद्धगम्यता की दृष्टि से प्रस्तुत किया जा रहा है-

Diagram---

4.7 जल

4.7.1 जल का लक्षण व भेद

विभिन्न दर्शनों में जल का लक्षण निम्न रूप में उल्लिखित है-

ज्योतिषश्च विकुर्वाणादपो रस गुणाः स्मृताः । [11]
रूपरसस्पर्शवत्य आपोः द्रवाः स्निग्धाः ।[12]

अग्नेरापः[13]

तैत्तिरीयोपनिषद् के अनुसार अग्नि से जल की उत्पत्ति हुई। आचार्य मनु के अनुसार- अग्नि से रस गुण वाले जल की उत्पत्ति हुई। आचार्य सुश्रुत ने जल को सत्त्व व तमोबहुल कहा है। वैशेषिक दर्शन में रूप-रस-स्पर्श गुणयुक्त स्निग्ध व द्रवरूपीय द्रव्य को जल कहा गया है। वैशेषिक दर्शन में जल का जो लक्षण कहा गया है, उस लक्षण को कार्य रूप जल का लक्षण समझना चाहिए; क्योंकि परमाणु के निरवयव होने से परमाणु रूप जल निरवयव होता है, अत: उसमें रूप, स्पर्शादि गुण नहीं होते हैं। अतः ये लक्षण कार्य रूप जल के हैं।

क्रमानुसार जल की उत्पत्ति अग्नि से होती है। गुणों के उत्तर अनुप्रवेशानुसार अग्नि (रूपतन्मात्रा) की सहायता से जल की उत्पत्ति होती है।

अग्नि की उष्णता से द्रवीभूत होकर शीत जल की उत्पत्ति हुई। प्रकृति में उष्णता से द्रवता की उत्पत्ति होती है, इस प्रकार द्रवता के लिये अग्नि की सहायता या विद्यमानता आवश्यक होती है। किसी वस्तु को द्रव रूप में विद्यमान रखने के लिये यथोचित अग्नि का विद्यमान रहना आवश्यक होता है। यहाँ यथोचित का तात्पर्य सम्यक् रूप में या सम्यक् मात्रा में रहना आवश्यक है। जैसे—यदि किसी द्रव पदार्थ की स्थिति से अग्नि की उष्णता समाप्त कर दी जाती

[11] मनुस्मृति
[12] वै. द. २१/२
[13] तैत्तिरीयोपनिषद्

है, तो वह ठोस हो जाती है। इसी प्रकार यदि अग्नि की अधिकता कर दी जाए तो वह द्रव द्रव्य वाष्प में बदल जाएगा तथा उसकी द्रवता समाप्त हो जाएगी। इस प्रकार लोक व्यवहार में जल या द्रवता की स्थिति बनाये रखने एवं अग्नि से द्रवरूप जलोत्पत्ति की सिद्धि होती है; परन्तु हमारे मत से यह लक्षण कार्यरूप जल के हो सकते हैं, कारणरूप जल के नहीं। अग्नि की स्थिति के अनुसार जल का ठोस बनना या वाष्प बनना, जल की स्थिति में अग्नि की अनिवार्यता सिद्ध करती है। जलोत्पत्ति में किसी वस्तु का द्रवीभूत होना विलीनता का द्योतक है न कि उत्पादकता का; क्योंकि द्रवीभूत होने वाला द्रव्य पांचभौतिक होगा अन्यथा अग्नि किस द्रव्य को द्रवीभूत करती है? अतः उपर्युक्त लक्षण कार्यरूप जल के हैं न कि कारण रूप जल के हो सकते हैं। संभव है कि-अल्पबुद्धि के कारण मेरे विचार गलत सिद्ध हो सकते हैं; परन्तु आयुर्वेद या भारतीय दर्शनों में, जैसा कि आगे हम लोग जानेगें, जल कार्यरूप व कारणरूप दोनों होता है, अतः उपर्युक्त लक्षण कार्यरूप जलतत्त्व के हो सकते हैं या इन्हें कार्यरूप जल का लक्षण जानना चाहिये। अब इसी परिप्रेक्ष्य में कारण रूप जल के लक्षण को समझने का प्रयत्न किया जाएगा। वैशेषिक दर्शन में कहा गया है कि-'रूप, रस, स्पर्शवत्य, आपोद्रबा स्निग्धा:' अर्थात् जल रूप, रस, स्पर्शविशिष्ट गुण व द्रव, स्निग्ध, भौतिक या गुर्वादि गुणयुक्त है। इसमें द्रवता जिसकी चर्चा ऊपर की गयी है, कार्यरूप जल के हैं, जब भूतों का पञ्चीकरण हो जाता है तथा स्पर्श, रूप, रस, गुण कार्य व कारणरूप दोनों में होते हैं। स्पर्श व रूप की सहायता रूप में किये गये संयोग से रसात्मक जल की उत्पत्ति होती है। स्पर्श वायु का गुण है तथा रूप अग्नि का गुण है। इस प्रकार वायु व अग्नि मिलकर जल की उत्पत्ति करते हैं। वायु में गति व क्रियाकर्तृत्व होता है, अग्नि में ज्वलनशीलता है। जब कर्त्ता (वायु) तथा करण या साधन (अग्नि) का संयोग होता है, तो क्रिया होती है। किसी क्रिया का परिणाम अवश्य होता है, अतः जब वायु (जलने में सहायक, उत्तेजक, क्रियाकारक तथा ज्वलनशील) अग्नि का संयोग होता है, तो इस क्रिया के परिणाम स्वरूपं जल की उत्पत्ति होती है। अग्नि में उष्णता है तथा जल में शैत्य है। जब दोनों का संयोग होता है, तो क्रियाकारक वायु अग्नि की उष्णता कम कर देता है। अग्नि में रूपत्व गुण होता है, ज्यों ही प्रकृतिगत उष्णता कम होती है, तो द्रव रूप में शीत गुण वाले जल की उत्पत्ति होती है। इस प्रकार एक जलाने वाले तथा एक जलने वाले दो तत्त्वों का सम्मिश्रण होता है, तो जल की उत्पत्ति होती है। यदि अग्नि महाभूत की अधिकता होती है, तो जल की द्रवता समाप्त हो जाती है। वह वाष्पीकृत हो जाता है तथा जब वायु महाभूत क्रियाशील होता है, तो उसके शीतता से जलोत्पत्ति होती है। **'सत्त्व तमोबहुला आप**:'। प्रकृति में सत्व, रज, तम में तीन गुण हैं। इसमें क्रियात्मक गुण रज है जहाँ भी क्रिया होती है, वह रजोगुण का लक्षण है। इसका लोक में प्रतिनिधि वायु है। जब तम व सत्त्व का संयोग होता है, तो सत्त्व का आग्नेयांश या ज्योति तम के गुरुत्व या आवरक भाव को द्रवीभूत कर देता है, जिससे जल की उत्पत्ति होती है।

वर्णः शुक्लो रसस्पर्शो जले मधुरशीतलौ। स्तेहस्तत्र द्रवत्वं तु सांसिद्धिकमुदाहृतम्।।[14]

अर्थात् जल का वर्ण शुक्ल होता है। रस, मधुर तथा शीत स्पर्श होता है। स्नेह व द्रवत्त्व इसके सांसिद्धिक गुण हैं। जल के लिये कहा गया है कि- 'रूपरसस्पर्शवत्य आपो'। यहाँ जल के लक्षणों को स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि जल का रूप शुक्ल है, रस-मधुर है तथा स्पर्श शीत है। स्नेहत्व व द्रवत्व को जल का **सांसिद्धिक लक्षण** कहा गया है।

---

[14] मुक्तावली

रूप-रस-स्पर्श- द्रवत्व-स्नेह संख्या- पमाण-पृथक्तव-संयोग-विभाग- परत्वायरत्व-गुरूत्व-संस्कारवत्यः । पूर्ववदेषां सिद्धिः । शुक्ल-मधुर-शीत एव रूप-रस-स्पर्शाः।स्नेहोऽम्भस्येव सांसिद्धिकं च द्रवत्वम्। [15]

अर्थात् जल में १. रूप २. रस ३. स्पर्श ४. द्रवत्व ५. स्नेह ६. संख्या ७. परिमाण ८. पृथकत्व ९. पर १०. अपर ११. गुरुत्व १२. संयोग १३. विभाग १४. संस्कार—ये चौदह गुण होते हैं। पूर्ववदेषां सिद्धिः - अर्थात् पृथ्वी की तरह ही इसकी सिद्धि होती है। यथा-रूप, रस, स्पर्श, गुण, गुणविनिवेशानुसार सिद्ध है। संख्यादि सात गुण अर्थात् संख्या, परिमाण, पृथक्तव, परत्व, अपरत्व, संयोग, विभाग- ये चाक्षुष प्रत्यक्ष जल में रहते हैं। पतनोपदेशात् गुरुत्व-पतनोपदेश से गुरुत्व की सिद्धि होती है। जल का रूप शुक्ल, रस, मधुर तथा स्पर्श शीत है। द्रवत्व व स्नेह जल के सांसिद्धिक लक्षण हैं।

4.7.2 जल के भेद

पृथ्वी की तरह जल के भेद का भी वर्णन वैशेषिक न्यायानुसार है जिसका उल्लेख तर्कसंग्रह में मुक्तावली में विस्तृतरूपेण किया गया है। जिसे प्राथमिक स्तर पर जल के नित्यानित्य भेद से दो भेद किये गये हैं। परमाणु रूप जल नित्य होता तथा कार्य रूप जल अनित्य होता है, जिसके भेदोपभेद होते हैं।

नित्यतादि पूर्ववत्तु किन्तु देहमयोनिजम्। इन्द्रियं रसनं सिन्धुहिंमादिर्विषयो मतः ॥[16]

अर्थात् जल के दो प्रकार होते हैं- (1) नित्य व (2) अनित्य।

नित्य जल-जो परमाणु रूप जल होता है, वह नित्य होता है।

अनित्य- कार्य रूप जल को अनित्य कहा जाता है। इसके पुनः तीन भेद होते हैं- (1) शरीरसंज्ञक (2) इन्द्रियसंज्ञक (3) विषयसंज्ञक।

शरीरसंज्ञक-जलीय शरीर वरुणलोक में होता है। यह पञ्चतत्त्वात्मक होता है एवं सुख-दुःख का साक्षात्कार करता है। इस शरीर में जलतत्त्व की प्रधानता होती है।

इन्द्रियसंज्ञक - 'इन्द्रियं रसग्राहकं रसनं जिह्वाग्रवर्ति' अर्थात् जिह्वाग्रवर्ती रसनेन्द्रिय जलीय इन्द्रिय है। रसनेन्द्रिय जलीय होने के कारण केवल रस का ज्ञान कराती है।

विषयसंज्ञक-विषयसंज्ञक जलतत्त्व सरित्, समुद्र, हिम आदि हैं। विषयः सरित्समुद्रादिः। यथा चरके-आदिना तडागहिमकरकादीनां संग्रहः। द्रव- स्निग्धशीतमन्दमृदुपिच्छिल आप्यानि।

4.7.3 जल की अवस्थायें

जल की चार अवस्थायें होती हैं- १. अम्भ २. मरीचि ३. मर तथा ४.

अम्भ - सूर्यमण्डल के ऊपर आकाश के ऊपरी भाग में जो जल स्थित होता है, उसकी अम्भसंज्ञा होती है। अर्थात् उसे अम्भ कहते है। इसे सोमरूप कहा गया है तथा इसे अमृत माना जाता है। जहाँ अम्भ जल की प्रथम अवस्था है, वहीं परमात्मा का निवास कहा गया है। सबसे ऊपर स्थित होने वाले इसकी अवस्था सूक्ष्मतम होती है। अर्थात् अतिसूक्ष्म परमाण रूप में होता

[15] प्रशस्तपाद

[16] मुक्तावली

है अतः हमे जल की प्रारम्भिक या प्राथमिक अवस्था कहा जाता है। यह अम्भ-जल सूर्य की राशिमयों से जलने वाला होता है, जिससे इसे प्रकाशजनक माना जाता है।'

मरीचि -सूर्य की किरणों का प्रभाव जहाँ तक विद्यमान रहता है, उस सूर्यमण्डल और पृथ्वी के बीच अन्तरिक्ष में जो जल स्थित होता है, उसे मरीचि अप् कहा जाता है। इसका नामकरण 'मरीचि' इसलिये किया गया है कि मरीचिमाली की मरीचिमाला से प्रभावित यह जल है। मरीचि सूर्य को कहते हैं। मरीचिमाली का तात्पर्य माला पहने सूर्य से है। यह जल सूर्यमण्डल व पृथ्वी के बीच में सूर्यमण्डल के चारों तरफ माला की तरह व्याप्त रहता है, अतः यहाँ इस अप को मरीचिमाला कहा गया है तथा सूर्यण्डल को चारों तरफ से माला की तरह व्याप्त करने के कारण इसे मरीचि कहा गया है। यह जल आग्नेय होता है, अतः इसे पवमान कहा जाता है। यह अप् या जल अग्नि को धारण करता है। यह जल जहाँ स्थित होता है, वहीं से सूर्यमण्डल, ग्रह, नक्षत्रादि की सृष्टि होती है। दिन का प्रकाश वहीं

मर—जो जल पृथ्वी पर स्थित है, उसे *मर* कहा जाता है। अम्भ व मरीचि के संयोग से मर की उत्पत्ति होती है; क्योंकि मरीचि आग्नेय होता है। इस मर अप् से ही पृथ्वी की उत्पत्ति होती है।

अप्– पृथ्वी के नीचे जो जल स्थित होता है, उसे अप् कहा जाता है।

अनेक प्रकार के कार्यरूप जल का उल्लेख किया गया है, जिसमें अम्भ व मरीचि दोनों के लिये अन्तरिक्ष जल कहा गया है। मर का वर्णन पृथ्वी के सरिता, तालाब, नदी आदि के जल के रूप में किया गया है तथा अप् जल का वर्णन कूप-जल आदि के रूप में किया गया है। इन सभी प्रकार के जलों की व्यावहारिक उपादेयता व इसका स्वरूप-वर्णन आयुर्वेदीय संहिताओं में किया गया है।

इनमें अन्तरिक्ष जल को ही सर्वोत्तम जल कहा गया है। यह जल अमृतस्वरूप, अव्यक्त रस वाला, जीवनरूप कहा गया है। इसका विशेष विवरण आयुर्वेदीय संहिताओं के जलवर्ग में वर्णित किया गया है।

वायु व अग्नि की सहायता से जलोत्पत्ति मानी जाती है। मरीचि आग्नेय है। वायु अपनी गति द्वारा मेघ की उत्पत्ति करता है तथा वर्षा का कारण है। वायु ही संयोग विभाग का कारण है, अतः वह अम्भ मरीचि या अपने गुण, स्पर्श व आग्नेय जल मरीचि, जो प्रकाशोत्पादन के कारण रूपत्व-गुणयुक्त है, उसकी सहायता से जलोत्पत्ति करता है।

4.8 तेज

4.8.1 तेज का लक्षण

३. वायोरपि विकुर्वाणाद्विरोचिष्णुतमोनुदम् ।
ज्योतिरुत्पद्यते भास्वत्तद्रूपगुणमुच्यते॥[17]

४. तेजो रूपस्पर्शवत्।[18]

[17] मनुस्मृति
[18] वै. द. २|३|१

अर्थात वायु से अग्नि की उत्पत्ति होती है। मनु ने कहा है कि तम का नाश करने वाले तथा भास्वररूप गुण वाले तेज की उत्पत्ति वायु से होती है। इस तेज में सत्त्व व रजोगुण की बहुलता होती है। इस प्रकार यह तेज सत्त्व व रज- बहुल होने से तम का नाश करने वाला होता है। इसमें रूपत्व व स्पर्शत्व होता है। अर्थात् तेज का लक्षण रूपत्व होना तथा स्पर्शत्व होना है। इसका ज्ञान चक्षुरीन्द्रिय से तथा स्पर्शनेन्द्रिय के द्वारा उष्ण स्पर्श होने पर होता है।

उष्णस्पर्शवत्तेजः।[19]

अर्थात् उष्ण स्पर्श का अनुभव होने के साथ ही अग्नि की विद्यमानता का ज्ञान होता है।।

'अग्नि या तेज की उत्पत्ति वायु से कही गयी है। वायु का अर्थ गति होता है, जहाँ गति होती है, वही अग्नि की उत्पत्ति होती है। वायु का गुण स्पर्श होता है। गत्यात्मक वायु का स्पर्श गुण होने से इससे संघर्ष होता है; क्योंकि जहाँ स्पर्ष होगा वहाँ दो के बीच संघर्ष होगा। इस प्रकार गति से स्पर्श के कारण हुए संघर्ष के परिणामस्वरूप अग्नि की उत्पत्ति होती है। भारतीय शास्त्र या विज्ञान में अग्नि, विद्युत् व प्रकाश आदि को एक ही तत्त्व के भिन्न-भिन्न परिणाम का विभिन्न रूप माना गया है। यथा-

श्रान्तस्य तप्तस्य तेजो रसो न्यवर्तत अग्निः । स त्रेधा आत्मानं व्याकुरुत आदित्यं द्वितीयं वायुं तृतीयमग्निः ।[20]

यहाँ एक ही आत्म को (१) अग्नि (२) आदित्य व (३) वायु के रूप में प्रस्तुत किया गया है।

इस सृष्टि में जिन पदार्थों में रूपत्व है उनमें अग्नि विद्यमान रहती है तथा इस अग्नि को प्रविष्ट होने के कारण ही उन पदार्थों में विशेष प्रकार के रूप दृष्टिगोचर होते हैं।

रूपस्पर्शसंख्यापरिमाणपृथक्तवसंयोगविभागपरत्वापरत्वद्रवत्वसंस्कारवत् पूर्ववदेषां सिद्धिः । तत्र शुक्लं भास्वरं च रूपम्। उष्ण एव स्पर्शः ।[21] '

अर्थात तेज उष्ण स्पर्श वाला तथा भास्वर शुक्ल रूप वाला होता है।

द्रव्यत्व उसका नैमित्तिक गुण हैं

तेज में १. रूप २. स्पर्श ३ संख्या ४. परिमाण ५. पृथक्त्व ६. संयोग, ७. विभाग ८. परत्व ९. अपरत्व १०. द्रवत्व तथा ११. संस्कार—ये ग्यारह गुण होते हैं। तेज का रूप भास्वर शुक्ल तथा स्पर्श उष्ण होता है।

4.8.2 तेज या अग्नि के भेद

तेज का भेद भी पृथ्वी व जल की तरह वैशेषिक न्यायानुसार है। पूर्ववत् कहकर स्पष्ट कर दिया गया है कि जिस प्रकार पृथ्वी व जल के पूर्व में भेद किये गये हैं, उसी प्रकार तेज के भेद किये गये हैं।

.. नित्यतादि च पूर्ववत्।
इन्द्रियं नयनं वह्निः स्वर्णादिविषयो मतः ।[22]

---

[19] तर्कसंग्रह

[20] बृहदारण्यकोप. ११२

[21] प्रशस्तपाद

तच्च द्विविधं – नित्यमनित्यं च नित्यं परमाणुरूपं अनित्यं कार्यरूपम्।[23]

अर्थात् अग्नि या तेज के दो भेद होते हैं- (१) नित्य तथा (२) अनित्य।

नित्य — 'नित्यं परमाणुरूपं' अर्थात् जो परमाणुरूप तेज होता है, उसे नित्य तेज कहा जाता है।

अनित्य-अनित्यं कार्यरूपम् —जो तेज कार्यरूप होता है, वह अनित्य होता है। इस अनित्य तेज के भी पुनः तीन भेद होते है– (१) शरीरसंज्ञक (२) इन्द्रियसंज्ञक तथा (३) विषयसंज्ञक।

शरीरसंज्ञक तेज-शरीरमादित्यलोके प्रसिद्धम्। तर्कसंग्रह।। आदित्य लोक में शरीरसंज्ञक तेज होता है। स्वयं आदित्य अर्थात् सूर्य एवं अन्य ग्रहादि तैजस शरीरयुक्त है।

इन्द्रियसंज्ञक तेज- अर्थात चक्षु के अन्दर कृष्ण तारामण्डल के अग्रभाग में रहने वाला तथा रूप का ग्रहण करने वाला चक्षुरीन्द्रिय तैजस इन्द्रिय कहा जाता है।।

स्वर्णादि में उपस्थित तेज विषयसंज्ञक तेज कहा जाता है। इसके पुनः चार भेद होते हैं—(क) भौम (ख) दिव्य (ग) उदर्य (घ) आकरज। '

(क) भौम विषयसंज्ञक तेज–भौमं वह्न्यादिकम्[24] । भूमि से उत्पन्न होने वाली अग्नि को भौम विषयसंज्ञक तेज कहा जाता है। यहाँ आदि पद से भूमिगत ज्वालामुखी आदि का ग्रहण किया जाता है- 'आदिपदेन खद्योतगततेजः प्रभृते-परिग्रहः।

दिव्यविषयसंज्ञक तेज अर्थात् जल से उत्पन्न होने वाली विद्युत् आदि तेज को दिव्य कहा जाता है।

उदर्य तेज – भुक्तस्य परिणामहेतुरुदर्यम्[25]

अर्थात् जो तेज या अग्नि उदरस्थ होती है, उसे उदर्य तेज कहा जाता है।

यह अग्नि विभिन्न प्रकार के ग्रहण किये गये अशित, पीत, लीढ व खादित आहारों का सम्यक् रूपेण पाचन करती है। पुनः इसके ख, वायु, अग्नि, जल व पृथ्वी भेद से पांच प्रकार होते हैं।

आकरज तेज-आकरजं सुवर्णादिः[26] खनिजों से उत्पन्न होने वाले स्वर्णादि धातुओं में जो तेज होता है, उसे आकरज तेज कहा जाता है।

4.8.3 विद्युत्

'द्युत्' धातु में 'वि' उपसर्ग तथा 'क्विप्' प्रत्यय लगाने से विद्युत् शब्द बनता है। वि+द्युत्-क्विप्। **विशिष्टा द्युत् दीप्तिः';** अर्थात् जिसकी विशेष दीप्ति हो, उसे विद्युत् कहा जाता है— यथा **'हस्काराद् विद्युतस्पर्शतो'**[27] पर सायण ने-**हस्तकाराद् दीप्तिकाराद् विद्युतो विशेषेण**

---

[22] मुक्तावली
[23] तर्कसंग्रह
[24] तर्कसंग्रह
[25] तर्कसंग्रह
[26] तर्कसंग्रह
[27] ऋ. वे. १।२३।१२।

दीप्यमानात्'कहा है, जिसका अर्थ-विशेष रूप से दीप्यमान होना-होता है। इसका पर्याय अमरकोषानुसार - तडित, सौदामिनी, विद्युत्, चंचला, चपला आदि है। तडित शब्द का तात्पर्य 'ताडयतीति सतः' ताडयतीति 'ताडितो' अर्थात् जो वृक्षादि का ताडन करे वह तडित है। यहाँ ताडन का अर्थ आघात करना होता है। तडित विद्युत् की व्याख्या करते हुए संस्कृत के विद्वानों ने कहा है कि- यदा विद्युत्, वृक्षादीन् ताडयति तदा सा तडित् इति उच्यते, यदा सा विद्योतते तदा सा विद्युत् इति उच्यते-अर्थात् जब विद्युत् वृक्षादि पर आघात करती है, तो आघात (ताडन) करने के कारण उसे तडित कहते हैं तथा जब यह दीप्तिमान् होती है। अर्थात् चमकती है तब इसे विद्युत् कहा जाता है। इसकी चंचलता से इसे चंचला या चपला कहते हैं।

4.9 वायु-निरूपण

4.9.1 वायु का लक्षण

वा गतिगन्धनयोः।[28]

आकाशाद्वायुः।[29]. आकाशस्तु विकुर्वाणात्सर्वगन्धवहः शुचिः [30]

आकाशस्तु विकुर्वाणः स्पर्शमात्रं ससर्ज ह।

वायुरुत्पद्यते तस्मात् तस्य स्पर्शो गुणो मतः।।[31]

अर्थात् आकाश से वायु की उत्पत्ति होती है। वायु या वात शब्द का अर्थ **गति** होता है। इसका अर्थ है कि आकाश से गतिपरक रजोगुण बहुल वायु की उत्पत्ति होती है। इस संदर्भ में विष्णुपुराण में कहा गया है कि-आकाश की उत्पत्ति के बाद शब्द-तन्मात्रा की उत्पत्ति हुई, जिससे स्पर्श गुणवाला वायु उत्पन्न हुआ।

सत्त्व, रज व तम —इनकी क्रियाशीलता से सृष्टि रचना प्रारम्भ होती है। जब सृष्टिरचना

प्रारम्भ हुई तो सत्त्वबहुल आकाश उत्पन्न हुआ। सत्त्वबहुल आकाश में मत्त्वस्वरूप परमात्मा के ही लक्षण विद्यमान थे अर्थात् वह आकाश सूक्ष्मतम रूप में होने के कारण व्यापक रूप से विद्यमान हो गया। इसकी व्यापकता के कारण इसमें स्थिरता थी तथा निर्विक्तता थी। जिस प्रकार सत्त्वस्वरूप परमात्मा निष्क्रिय व व्यापक होता है, उसी प्रकार सत्त्वबहुल आकाश भी व्यापक व स्थिर था। इसमें कोई क्रिया नहीं थी। अब इस निष्क्रिय, व्यापक, सुषिर (रिक्त) सृष्टि में तीनों गुण मात्र ही थे। जब गुरुत्व गुणयुक्त तम भी था, उस तम की जहाँ भी स्थिति थी वहाँ स्पर्श उत्पन्न हुआ। स्पर्श की उत्पत्ति के पूर्व वहाँ कोई मूर्तवस्तु नहीं थी जिसके कारण उसमें गति उत्पन्न हुई। यह गति रजोगुण की थी। इस प्रकार इस गति का नाम 'वा गतिगन्धनयो' के अनुसार वायु रखा गया। इस प्रकार आकाश की स्थिरता या व्यापकता की अपेक्षा वायु में गति प्रारम्भ हुई। इस गति को क्रिया या वायु कहा जाता है। इस प्रकार निष्क्रियता से सक्रियता या स्थिरता से गतिशीलता की स्थिति को वात कहा गया है। इसका लक्षण स्पर्श माना गया। समझने के लिये इसे इस तरह समझा जा सकता है कि-किसी रिक्त स्थान में यदि किसी कण आदि या किसी वस्तु की स्थिति हो, तो उस कण या वस्तु के चारों ओर से किसी न किसी

---

[28] सुश्रुतसंहिता

[29] तैत्तिरीयोपनिषद्

[30] मनु.

[31] विष्णुपुराण

पदार्थ का सम्पर्क होगा। किसी वस्तु को रिक्त स्थान में लटकाया जाता है, तो उस वस्तु पर प्रथम क्रिया स्पर्श की होगी अर्थात् वस्तु चारों तरफ रिक्त दिखाई देने वाले 'रिक्ति' में ही वह स्थित होगी, उस रिक्ति व वस्तु के सम्पर्क को ही स्पर्श कहा गया तथा इस स्पर्श से गति की उत्पत्ति हुई जिसे वायु कहा गया और इसी को क्रिया या कर्म कहा जाता है।।

अपाकजोऽनुष्णाशीतस्पर्शस्तु पवने मतः। तिर्यग्गमनवानेष ज्ञेयः स्पर्शादिलिङ्गकः ।। [32]

अर्थात् अपाकज तथा अनुष्णशीत स्पर्श गुण वायु में होता है। यह वायु स्पर्श लक्षण वाला होता है तथा तिर्यक् गमन करने वाला होता है। तेज अर्थात् अग्नि के संयोग विशेष को पाक कहा जाता है तथा इस पाक के द्वारा जो उत्पन्न होता हैं, उसे पाकज कहा जाता है। यथा-पृथ्वी, जो द्रव्य बिना अग्निसंयोग के उत्पन्न होते हैं। उन्हें अपाकज कहा जाता है। वायु की उत्पत्ति में अग्निसंयोग नहीं होता है, अतः यहाँ इसका लक्षण अपाकज कहा गया है। अपाकज कहने का यहाँ तात्पर्य है वायु के स्वलक्षण स्पर्श को स्पष्ट करना; क्योंकि स्पर्श में दो प्रकार की सृष्टि के कारण या तो शीत-स्पर्श का ज्ञान होता है या उष्ण-स्पर्श का ज्ञान होता है। इसी को यहाँ स्पष्ट किया गया है '**अपाकजोऽनुष्णशीतस्पर्श'** अर्थात् यह आपाकज है जो शीत उष्ण स्पर्शानुभव किया जाता है, वह वायु का लक्षण नहीं है। वायु का स्पर्श अनुष्ण शीत होता है। अर्थात् केवल स्पर्शमात्र का होना ही वायु का लक्षण है। शीत व उष्ण स्पर्श क्रमशः जल व अग्नि के हैं। आयुर्वेद में इसको और भी स्पष्ट किया गया है कि—वायु योगवाही होता है, सूर्य की उष्णता से युक्त होने के कारण इसका स्पर्श उष्ण तथा चन्द्रमा की शीतलता के कारण इसका स्पर्श शीत होता है। यह गतिपरक होता है। जब प्रकृतिगत वायु अग्नि व जल में गति प्रदान कर शरीर से संयोग कराता है, तो शीत-उष्ण का अनुभव होता है। इसका लक्षण तो स्पर्शमात्र है। वायु में- १. स्पर्श, २. संख्या, ३. परिमाण, ४. पृथक्तव, ५. संयोग, ६. विभाग, ७. परत्व, ८. अपरत्व तथा ९. संस्कार-ये नौ गुण होते हैं। इसमें रूपत्व गुण नहीं होता है, अतः इसका चाक्षुष प्रत्यक्ष नहीं किया जा सकता है।'

4.9.2 वायु के भेद'

पूर्व की तरह वायु का भी नित्यानित्य भेद वैशेषिक न्याय का है।

स द्विविधः - नित्योऽनित्यश्च। नित्यः परमाणुरूपः। अनित्यः कार्यरूपः ।[33]

अर्थात् वायु दो प्रकार का होता है- १. नित्य तथा २. अनित्य।

परमाणुरूप वायु नित्य होता है तथा कार्यरूप वायु अनित्य होता है। अनित्य वायु भेद होते हैं- १. शरीरसंज्ञक २. इन्द्रियसंज्ञक तथा ३ विषयसंज्ञक।

शरीरसंज्ञक वायु—शरीरं वायुलोके। वायुलोक में वायव्य शरीर होता है।

इन्द्रियसंज्ञक- स्पर्श का बोध कराने वाली इन्द्रिय को इन्द्रियसंज्ञक कहा जाता है। स्पर्श का बोध कराने वाली त्वगिन्द्रिय है, जो सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त रहती है। विभिन्न प्रकार के शीत, उष्णादि का स्पर्शज्ञान त्वगिन्द्रिय द्वारा ही होता है।

विषयसंज्ञक-वृक्षादि में कम्पन उत्पन्न करने वाला तथा शरीर के अन्दर प्राणादि का संचार करने वाला वायु विषयसंज्ञक कहा जाता है। चरकसंहिता के आधार पर इसे लोकगत व

---

[32] मुक्तावली

[33] तर्कसंग्रह

शरीरगत-दो भागों में विभक्त किया जा सकता है। इन दोनों वायुओं का आयुर्वेद में व्यावहारिकता की दृष्टि से विवेचन किया जा रहा है।

इस प्रकार शरीरस्थ वायु विषय संज्ञक वायु है। तर्कसंग्रह में भी विषय संज्ञक वायु के लोक व शरीरगत भेद से दो कहे गये हैं। यह लोक जीवित शरीर का सम्बन्ध वायु द्वारा अक्षुणशः बना रहता है; क्योंकि लोकगत वायु संचरित होकर शरीर में जाता है तथा पुनः शरीरगत निर्गत वायु लोक में जाता है। इस प्रकार लोक व शरीर से वायु सम्बन्ध बनाये रखता है।

लोकगत वायु—लोकगत वायु के प्राकृत कर्मों के सम्बन्ध में कहा गया है कि

१. पृथ्वी को धारण करता है। २. अग्नि को जलाता है। ३. सूर्य, चन्द्रमा, ग्रह, नक्षत्रादि को अपनी-अपनी गतियों में बनाये रखता है। ४. बादलों को उत्पन्न करता है! ५. जल बरसाता है। ६. नदी व तालाबों के जल में उचित गति प्रदान करता है। ७. पुष्प व फलों को यथाकाल उत्पन्न करता है। ८. पृथ्वी को फोड़कर निकलने वाले वृक्षों को निकालता है। ९. ऋतुओं का अलग-अलग विभाग करता है। १०. स्वर्ण-रजतादि धातुओं को विभक्त किया जाता है। ११. धातुओं के आकृति व मान को स्पष्ट करता है। १२. बीजों में गुणों का अभिसंस्कार करता है। १३. धान्यों को बढ़ाता है, सड़ने से बचाता है तथा उनके गीलेपन का शोषण कर उन्हें शुष्क करता है तथा १४. अन्य अवैकारिक कार्यों को करता है।[34]

लोकगत विकृत वायु के लक्षण-लोकगत प्राकृत वायु के कर्म व लक्षणों के साथ-साथ लोकगत विकृत वायु से भी कर्मों या लक्षणों का उल्लेख किया गया है। यथा

प्रकुपितस्य खल्वस्य लोकेषु चरतः कर्माणीमानि भवन्ति-तद्यथा शिखरिशिख-रावमथनम्[35],

अर्थात विकृत वायु-१. पर्वत की चीटियों का तोड़-फोड़ करती है। २. वृक्षों को उखाड़ फेंकती है। ३. समुद्रों को उत्पीड़ित करती है। ४. तालाब नालों व नदी के जल को विपरीत दिशा में ले जाती है। ५. भूमि कम्पोत्पादक है। ६. मेघ गर्जनोत्पादक होती है। ७. बर्फ, बिना मेघ के शब्दोत्पत्ति; पांशु, शिकता मत्स्य, मेढकः सर्प, क्षार रक्त अश्म, बज्र आदि को गिराती है। ८. ऋतुओं को विकृत

करती है। ९. शस्यों को उचित रूप में उत्पन्न नहीं होने देती है। १०. लोकगत प्राणियों का विनाश करती है। ११. भावात्मक पदार्थों का अभाव करती है। ११. चारों युग का अन्त करने वाले भयंकर बादल, सूर्य, अग्नि व वायु को उत्पन्न करती है।

शरीरगत वायु-शरीरगत वायु के पांच प्रकार है-

प्राणवायु–

प्राणवायु मूर्धा, उरः प्रदेश, कण्ठ, जिह्वा, मुख, नासिका आदि में स्थित होता है। ष्ठीवन (थूकना) क्षवथु (छींकना) उद्गारोत्पत्ति, श्वास-प्रश्वास आहारादि का ग्रहण करना प्राणवायु का कर्म है। यह देह को धारण करता है, अन्न का प्रवेश कराता है, ज्ञानेन्द्रिय, मन व धमनियों का धारक है।[36]

उदानवायु—उदानस्य पुनः स्थानं नाभ्युरः कण्ठ एव च।[37]

---

[34] च. सू. १२-१

[35] च. सू. १२

[36] अ. सं. सू. २० हृदि प्राणो-अमरकोष।

[37] चि. चि. २८

अर्थात् उदान वायु का स्थान उरोगुहा, नाभि, कण्ठ तथा नासिका है। इसका कर्म वाक्प्रवृति, प्रयत्न, ऊर्जा, बल, वर्णोत्पत्ति, स्रोतः प्रीणन, बुद्धि, स्मृति आदि का संतुलन और मनोविबोध आदि कर्म है।।

समानवायु–समानोऽन्तरग्निसमीपस्थः पक्वामाशय-दोषमल- शुक्रार्त्तवाम्बुवहस्रोतोविचारी । तदवलम्बनावधारणं पाचनविवेचनकिट्टाधोनयनादि क्रियः।[38]

अर्थात् स्वेदवह, दोषवह, अम्बुवह स्रोतसों में, आमाशय, पक्वाशय में व कायाग्नि के पार्श्व में समानवायु रहता है। अग्नि सन्धुक्षण, आहार का परिपाक, दोष, धतु व मलविवेचन इसका कर्म है।

अपान वायु- वृषणौ वस्तिमेदं च नाभ्यूरू वंक्षणौ गुदम्। शुक्रमूत्रशकृन्ति च सृजत्यार्तवगर्भो च।[39]

अर्थात् पक्वाशय, अन्त्र, नाभि, वृषण, बस्ति, मेढ्र, गुद, वंक्षण, श्रोणि तथा उरु इसके स्थान है। मूत्र, पुरीष, शुक्र, आर्तव तथा गर्भ का उत्सर्जक है।

व्यानवायु- देहं व्याप्नोति सर्व तु व्यानः। गतिप्रसारणाक्षेपनिमेषादिक्रियः सदा।[40]

'हृदय में आश्रित व सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त वायु को व्यानवायु कहा जाता है। इसका कर्म रससंवहन, स्वेद व रक्तस्रावण, अवयवों में गति प्रसारण, संकोच, ऊपर की ओर उठना, नीचे की ओर गिरना, पलक खुलना, बन्द होना, अत्र का आस्वादन तथा स्रोतोविशोधन है। योनि में शुक्र का प्रतिपादन करना, अत्र में किट्ट से सार भाग को अलग करके उससे धातुओं का पोषण करता है।

4.9.3 वायु के कार्य

चरकसंहिता में शरीरगत वायु के कर्मो पर विस्तृत रूप से प्रकाश डाला गया है। यथा- **वायुस्तन्त्रयन्त्रधरः** - वायु शरीर व शरीरावयव को धारण करती है। वायु प्राणादि पंचवायुओं की आत्मा है। वायु मन का नियमन व प्रेरण करती है। वायु सभी इन्द्रियों को अपने-अपने विषयों का ग्रहण करने में प्रवृत्त कराती है।

सर्वेन्द्रियार्थानामभिवोठा- सभी इन्द्रियों के विषयों का स्वयं ग्रहण कर इन्द्रिय बुद्धियों तक ले जाती है।

शरीरस्थ सभी धातुओं को अपने-अपने स्थान पर एकत्रित करती है। शरीर का सन्धान करती है। अर्थात् शरीरस्थ जुड़ने वाले भावों को यथोचित् रूप में जोड़ती है।

प्रवर्तको वाचः-वाणी को प्रवृत्त कराती है।

शब्द और स्पर्श का कारण है। श्रोत्रेन्द्रिय व स्पर्शनेन्द्रिय का मूल है। -हर्ष व उत्साह की उत्पन्न करने वाली है। १३. यह जठराग्नि को तेज करती है।

दोषसंशोषणः-दोषों का संशोषण कार्य वायु द्वारा सम्पन्न होता है। शरीर से मल को बाहर निकालने वाली है। **कर्ता गर्भाकृतीनाम्-**गर्भ को आकृति प्रदान करना वायु का कर्म है। १८. आयु का अनुवर्तन करती है। अर्थात् अपने प्राकृत कर्मों द्वारा आयु की निरन्तरता बनाये रखती है।

---

[38] अ. सं. सू. २०

[39] च. चि. २८

[40] च. चि. २८

यह आशुकारी, शीघ्र कार्यकारी तथा बार-बार गति करने वाला है। आचार्य चरक ने वायु के लिये निम्न संज्ञाओं का उल्लेख किया है। स हि विश्वकर्मा विश्वरूपः सर्वणः सर्वतन्त्राणां विधाता **भावानां अणुः विभुः विष्णुः क्रान्ता लोकानाम्।**[41]

इस प्रकार आचार्य चरक ने भी वायु को विश्वकर्मा, विश्वरूप, सर्वंग, अणु, विभु, विष्णु, लोकक्रान्ता कहा है। इसके अतिरिक्त आचार्य ने इसे—संचार के उत्पत्ति का कारण, नाशरहित, प्राणियों का उत्पादक व विनाशक आदि कहा है। इसके पर्यायरूप में उपर्युक्त नाम विभु, विष्णु आदि के साथ-साथ मृत्यु, यम, नियन्ता, प्रजापति आदि संज्ञाओं से अभिहित किया है।

उपर्युक्त तथ्यों से अब यह स्पष्ट हो जाता है कि सृष्टि की उत्पत्ति, स्थिति एवं विनाश में धारक तथा विनाशक तत्त्व वायु ही हैं।

वायु को उत्पत्ति, स्थिति व विनाश का कारण माना गया है। किसी भी कार्यद्रव्य की उत्पत्ति के लिये क्रिया आवश्यक है। क्रिया का विद्यमान रहना स्थिति है तथा क्रिया का बन्द होना विनाश है। वायु समस्त क्रियाओं का मूल है, इससे वात के उत्पादक, स्थितिकारकत्व व विनाशकत्व की सिद्धि होती है। यथा- हृदयगति का उत्पादक कारण गतिपरक वोयु है, जबतक गति होती है। अर्थात् वायु की क्रिया कर्तृत्व है स्थिति होती है तथा क्रिया या गति बन्द हो जाती है, तो मृत्यु हो जाती है।

गर्भोत्पत्ति हेतु मूल कारण गति ही है। शुक्र (Sperm) की गति (Metility) तथा स्त्रीबीज हेतु डिम्ब प्रणाली के सिलिएटेड टिसू के सिलिया का कम्पन आवश्यक होता है तथा पुनः उनका संयोग (Ferlitize) होना तथा विभाग (Celldivision) वायु (गति) के कारण ही सम्भव है। इससे वायु की व इसके उत्पादकत्व क्रिया की सिद्धि होती है। मन का नियन्ता प्रणेता वायु को कहा गया है।

वायु के लिये 'अव्यक्तं व्यक्तकर्मा' कहा गया है। अर्थात् यह स्वयं तो अव्यक्त होता है; परन्तु अपने कर्मों द्वारा व्यक्त होता है, अतः इसके कर्मों के लक्षणों द्वारा ही इसका अस्तित्व सिद्ध होता है।

4.9.4 वायु की सिद्धि

वायु शब्द ही स्वयंसिद्ध है; परन्तु वायु महाभूत में रूपत्व नहीं है, अतः चक्षु से इसके लक्षणों को भी प्रत्यक्ष नहीं किया जा सकता है। आधुनिक काल में प्रत्येक द्रव्य का चाक्षुष प्रत्यक्ष होना आवश्यक समझा जा रहा है। इसे इस तरह भी कहा जा सकता है कि-चाक्षुष प्रत्यक्षीकृत् वस्तुओं को ही द्रव्य माना जाता है। इस सृष्टि में दो तरह के पदार्थ होते हैं। कुछ तो प्रत्यक्ष होते हैं तथा कुछ अप्रत्यक्ष होते हैं। इस प्रत्यक्ष में भी चाक्षुषप्रत्यक्ष तीन ही हैं-अग्नि, जल और पृथ्वी।

स्वातन्त्र्य रूप में नित्यभाव में रहने व सर्वगत होने से सर्वात्मना आत्मा ३. समस्त प्राणियों की स्थिति, उत्पत्ति व विनाश का कारण है।

यह अव्यक्त है, इसे देखा नहीं जा सकता है; परन्तु इसकी विद्यमानता इसके कर्मों के द्वारा परिलक्षित होती है।

इसमें रुक्ष, शीत, लघु, खर गुण होते हैं।

---

[41] च. सू. १२/३

यह तिर्यग्गामी, शब्द-स्पर्श दो गुण वाला तथा रजोबहुल होता है। ७. यह अचिन्त्य शक्ति वाला है। यह दोषों का नेतृत्व करने वाला तथा रोगसमूह का राजा है।

. वेदान्त में 'क्रम्पनात्'[42] के द्वारा समस्त भावों में कम्पन स्वीकार किया गया है। इस कम्पन का मूल कारण वायु ही होता है, अतः वेदान्त के उपर्युक्त वचन 'कम्पनात्' से वायु की सिद्धि होती है।

'वायुर्यथैको भुवनं प्रविष्टो रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव'[43] () अर्थात् जैसे एक ही वायु चतुर्दश लोक में प्रवेश करता हुआ प्रत्येक शरीर के अनुरूप हो जाता है। यदि वायु किसी बर्फयुक्त गृह में प्रविष्ट होती हैं, तो शीतल होती है तथा यदि अग्नियुक्त गृह में प्रविष्ट होती है, तो ऊष्ण हो जाती है। आधुनिक काल में वातानुकूलन क्रिया (Aircondition) इसी सिद्धान्त पर आधारित है, अतः इससे वायु के सर्वात्मरूप की सिद्धि होती है।

'वा' गतिगन्धनयोः से वात या वायु शब्द की उत्पत्ति होती है, जिसका अर्थ 'गति' है। विश्व में ऐसा कोई पदार्थ नहीं है, जो गतिशील न हो। इसी से इसका नाम जगत् या संसार है। 'गच्छतीति जगत्' अर्थात् जो गतिमान् हो, उसे जगत् कहते हैं तथा 'संसरति इति संसारः' अर्थात् जो सदैव संसरण करता है, उसे संसार कहा जाता है। इस प्रकार जगत् या संसार शब्द गतिपरक है, जो वायु का स्वलक्षण है। गन्धन का यहाँ अर्थ सूचना, उत्साह ग्रहण किया जाता है। उत्साह से प्रवृत्ति होती है। चरकसंहिता में सामान्य वायु का कर्म उत्साह कहा गया है। वायु के गति से क्रिया एवं गन्धन से क्रियारम्भक अर्थ ग्रहण करना उचित प्रतीत होता है। इससे वायु की सिद्धि होती है।

'यदिदं किञ्च जगत् सर्व प्राण एजति निःसृतम्' अर्थात् इस सृष्टि में जितने भी पदार्थ हैं, वे प्राणरूपी ब्रह्म से चलते हैं। जीवधारियों में तो गति प्रत्यक्षकृत् है, जिसे हम जड़ पदार्थ कहते हैं, उनके अन्दर भी द्रव्य के या परमाणु के मध्य में स्थित धनविद्युत् कणों के चारों तरफ ऋणविद्युत् पिण्ड गति करते रहते हैं। इस प्रकार इस सृष्टि के सम्पूर्ण पदार्थों में गति की क्रिया निरन्तर चलती रहती हैं, अतः इससे वायु की सिद्धि होती है।

4.10 आकाश-निरूपण

4.10.1 आकाश के लक्षण

तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः।[44]

२. सत्त्वबहुलमाकाशम्। [45]

३. त आकाशे न विद्यन्ते।[46]

. शब्दगुणकमाकाशम्। तच्चैकं विभु नित्यं च।[47]

निष्क्रमणं प्रवेशनमित्याकाशस्य लिङ्गम्।[48]

---

[42] 'क्रम्पनात्' १।३।३४

[43] कठो.

[44] तैत्तिरीयोपनिषद्

[45] सुश्रुत

[46] वै. द. २५

[47] तर्कसंग्रह

तैत्तिरीयोपनिषद् के अनुसार आकाश की उत्पत्ति आत्मा से हुई है। यहाँ आत्मा का तात्पर्य शुद्ध चेतन तत्त्व या परमात्मा से है। अन्य दर्शनों व शास्त्रों में इसकी उत्पत्ति शब्द से मानी गयी है। सांख्यानुसार अहंकार से शब्द तन्मात्रा की उत्पत्ति होती है तथा उस शब्द तन्मात्रा से आकाश की उत्पत्ति होती है।

परमात्मा या शुद्ध चेतन तत्त्व का स्वरूप भी शुद्ध या सत्त्वरूप है, अतः सत्त्वबहुल आकाश के उत्पत्ति का कारण सत्त्वरूप शुद्धतत्त्व आत्मा को कहा गया है। आकाश को भी व्यापक, नित्य तथा एक माना गया है। इसमें अत्मा के लिङ्ग व्याप्त हैं, अतः तैत्ति में आकाश की उत्पत्ति आत्मा से कही गयी है। मनुस्मृति में कहा गया है कि महाभूतों के उत्पत्तिक्रम में सर्वप्रथम शब्दलक्षण वाले शब्द-तन्मात्रा की सहायता से आकाश महाभूत की उत्पत्ति हुई। यहाँ आचार्य मनु ने आकाश के दो लक्षणों का उल्लेख किया है—प्रथम लक्षण 'शब्द'; जो आकाश का विषयसंज्ञक गुण है तथा दूसरा 'सुषिरता'; क्योंकि आचार्य ने कहा है कि शब्दतन्मात्रा से सुषिर आकाश की उत्पत्ति हुई। छान्दोग्योपनिषद् में भी सर्वप्रथम आकाशोत्पत्ति का उल्लेख प्राप्त होता है-

अस्य लोकस्य का गतिरिति ? यहाँ एक प्रश्न किया गया है कि इस लोक की गति क्या है? अर्थात् इस लोक का आश्रय क्या है? इसके उत्तर में आकाश को कहा गया है—**आकाश इति होवाच सर्वाणि ह वा इमानि भूतान्याकाशादेव समुत्पद्यन्ते, आकाशं प्रत्यस्तं यान्ति आकाशो ह्येवेभ्यो ज्यायानाकाशः परायणम्**[49] अर्थात् आकाश से ही सभी वस्तुयें जीव आदि उत्पन्न होते हैं तथा आकाश में ही लीन हो जाते हैं।

तत्राकाशस्य गुणाः शब्दसंख्यापरिमाणपृथक्त्वसंयोगविभागाः।[50] **।** आकाश में १. शब्द २. संख्या ३. परिमाण ४. पृथक्त्व ५. संयोग ६. विभाग—ये छः गुण होते हैं।

भेद-आकाश का भेद नहीं होता है; क्योंकि आकाश एक, नित्य व व्यापक होता है।।

4.10.2 आकाश की सिद्धि

भारतीय विज्ञान में भौतिक जगत् का प्रारम्भ आकाश महाभूत से माना जाता है। यहाँ आकाश से सृष्टि-प्रारम्भ का अर्थ यह है कि भौतिक जगत् का प्रारम्भिक भूत आकाश है। इससे चार और महाभूत क्रमिक रूप में उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार पाँच महाभूत सम्पूर्ण सृष्टि में व्याप्त रहते हैं। इनमें तेज महाभूत में रूपत्व होता है,

अतः तेज व तेज के बाद उत्पन्न महाभूतों में-अग्नि, जल व पृथ्वी में रूपत्व होने के कारण उनका चक्षुरीन्द्रिय द्वारा स्थूलरूप ग्राह्य होता है। यथा जल की द्रवता को, पृथ्वी की संहननता को प्रत्यक्षीकृत किया जा सकता है; परन्तु अग्नि के पूर्व के महाभूत आकाश व वायु के अन्दर रूपत्व नहीं होता है। आकाश में तो स्पर्श भी नहीं होता है, मात्र शब्दगुण रहता है। इसकी कोई आकृति नहीं होती है, अतः न यह प्राणेन्द्रिय प्रत्यक्षगम्य है, न रसनेन्द्रिय, न चाक्षुष, न स्पर्शन प्रत्यक्षगम्य है। इस स्थिति में आकाश महाभूत की सत्ता या विद्यमानता पर प्रश्नचिह्न चाक्षुष प्रत्यक्षवादियों द्वारा लगाया जाता हैं। चाक्षुष प्रत्यक्षवादी निराकार व्यापक आकाश की सत्ता स्वीकार, नहीं करते हैं। चार्वाक् न आकाश को महाभूत रूप में स्वीकार न कर चार ही महाभूत

---

[48] वै. द. २।१।२०

[49] छान्द. उ

[50] प्रशस्तपाद

को स्वीकार किया है। आकाश महाभूत को सिद्ध करने के लिये या आकाश महाभूत की सिद्धि के लिये इसको स्पष्ट कर देना ही प्रमाण है; क्योंकि आकाश महाभूत की अवधारणा समझ में आ जाने पर यह स्वतः सिद्ध हो जाता है।

आकाश व्यापक है। अनन्त है। क्या हम अनुमान कर सकते हैं कि आकाश की समाप्ति कहाँ होती है। जहाँ तक भी हमारी बुद्धि का क्षेत्र है, वहाँ तक मात्र आकाश है। जिसमें रूपत्व है; जिसमें अन्य वैशेषिक गुण हैं, उनमें व्यापकता नहीं है। यदि रूपत्व सूर्य तक है या हम उसके ऊपर तक देख सकते हैं; परन्तु उस रूपत्व की दूरी अपनी स्थिति से ज्ञात कर सकते हैं; परन्तु यह रिक्ति कहाँ तक है, इसकी नहीं। इसके अतिरिक्त यदि कोई रचना है, यथा मकान है। उसको नष्ट कर दिया गया। क्या बचा ? सुषिरता। एक स्थान की सुषिरता कहीं गति नहीं करती है बल्कि गतिशील वस्तु जहाँ भी पहुँचती है, वहाँ सुषिरता व्याप्त रहती है। इस प्रकार आकाश की व्यापकता व निराकारता की सिद्धि होती है।

इस प्रकार यहाँ आकाश की सत्ता के सिद्धि हेतु कतिपय संकेतमात्र दिया गया है। किसी वस्तु की क्रिया या गतिशीलता का ज्ञान स्थिरता से होता है। क्रियारम्भ स्थिरता से होती है तथा क्रिया हेतु

रिक्ति की आवश्यकता होती है, इसीलिये भारतीय विज्ञान में प्रथम सत्तावान् द्रव्य आकाश को माना गया तथा क्रियायोजना की प्रारम्भिक अवस्था हेतु नित्यता (Eternity) स्थिरता (Constant) व्यापकता (Universelity) व एकत्व (Sigularity) का सिद्धान्त अपनाया गया जिसे सुषिर व स्थिरता (Space & Constant) कहा जा सकता है, जो कि आकाश का लक्षण कहा गया है।।

4.10.3 आकाश शब्द की व्युत्पत्ति

आकाश शब्द की व्युत्पत्ति 'काशृ' धातु से दीप्ति अर्थ में होती है। यहाँ दीप्ति का अर्थ कांति या प्रकाश होता है। छान्दोग्योपनिषद् में **'भारूपः सत्यसंकल्प आकाशात्मा सर्वकर्मा सर्वकामः सर्वगन्धः सर्वरसः**[51] कहा गया है। यहाँ प्रकाशरूप सत्यसंकल्प को आकाशात्मा कहा गया है। जब शुद्ध चेतन तत्त्व में सत्य संकल्प हुआ, जो भास्वर था तो यह भास्वरता जहाँ व्याप्त हुई वह आकाश ही था अर्थात् भास्वरता की व्याप्ति कहाँ होगी? अतः भास्वरता की व्याप्ति हेतु जो रिक्ति थी अर्थात् यहाँ भास्वरता है, वह आकाश है। यहाँ दीप्ति, कान्ति या प्रकाश अर्थ में रखने वाला आकाश है। वैदिक साहित्य में सृष्टि उत्पत्ति के संदर्भ में कहा गया है कि जब असत् या तो कुछ नहीं था। जब असत् से सत् हुआ तो इस सत् ब्रह्म का प्रकाश चारों ओर फैलने लगा। प्रकाश फैलने के साथ-साथ रिक्तियाँ व्याप्त होती गई। यदि प्रकाश न हो, तो यह ज्ञात नहीं हो पायेगा कि यहाँ रिक्ति है या नहीं। अतः आकाश शब्द की व्युत्पत्ति 'काशृ' धातु से दीप्ति अर्थ में कहा गया है।।

जहाँ हम चाक्षुषप्रत्यक्ष कर रूपत्व ग्रहण करते हैं, उस रूपत्व की स्थिति कहाँ है ? जैसे हम चन्द्रमा या तारों को देखते हैं। चन्द्रमा के चारों तरफ क्या है ? चन्द्रमा की स्थिति कहाँ है ? तारों की स्थिति कहाँ है ? इस प्रकार जिस वस्तु का हम रूपत्व ग्रहण करते हैं वह वस्तु जहाँ स्थित होती है, वह आकाश है।। यदि कोई ठोस वस्तु ले जिसके अन्दर किसी प्रकार की सुषिरता न हो. तो क्या उसमें कोई वस्तु उत्पन्न हो सकती है। जैसे एक बीज डालकर ऊपर से पाषाणादि से

---

[51] छा. उ. ३।१४।२

इस तरह ढंक दिया जाए कि बीज की स्थिति तक वायु, पानी दोनों जाए परन्तु उसके अंकुरण स्थानविशेष पर की रिक्ति समाप्त कर दी जाए, तो बीज से शस्य की उत्पत्ति नहीं हो पाती है; क्योंकि किसी भी वस्तु की उत्पत्ति वहीं हो सकती है जहाँ आकाश है।

जहाँ कोई भी क्रिया होती है या किसी दो द्रव्यों का संयोग होता है, जहाँ सुषिरता आवश्यक होती है, यदि सुषिस्ता नहीं है, तो क्रिया या गति हो ही नहीं सकती है, अतः इस सृष्टि में जहाँ भी कोई गति या क्रिया हो रही है, उसका कारण आकाश है। जैसे—मनुष्य की उत्पत्ति में शुक्र शोणित संयोग की क्रिया है। संयोग की क्रिया वहीं होगी जहाँ रिक्त स्थान होगा; वही आकाश है।।

आधुनिक विज्ञान में भी ईथर की कल्पना की जाती है तथा कतिपय वैज्ञानिक सृष्टिगत तत्त्वों की उत्पत्ति का कारण इसे मानते हैं। यदि इनसे सम्बन्धित कणों को माना जाए जिसे इलेक्ट्रान, प्रोटान आदि कहा जाता है, तो इनकी उत्पत्ति कैसे ? तथा इनकी उत्पत्ति कहाँ है ? यदि ये उत्पन्न हैं, तो इनकी स्थिति कहाँ है ? इस प्रकार सूक्ष्मातिसूक्ष्म कणों की उत्पत्ति, स्थिति आदि का कारण सुषिर आकाश है।।

जो वस्तु बाहर से ठोस नजर आती है। यथा स्वर्णादि। उनके अन्दर परमाणु हैं। उन परमाणुओं में कणिकायें है, जो धनात्मक तथा ऋणात्मक हैं। उन कणिकाओं की स्थिति भी रिक्त स्थान या सुषिर भाग में है। यदि सुषिस्ता न हो, तो फिर उस तत्त्व की सत्ता भी नहीं रह जाएगी। इस प्रकार बाहर से ठोस दिखाई देने वाले वस्तुओं की स्थिति का कारण आकाश है।

इस शरीर में जितने भी छिद्रसमूह हैं, सुषिर प्रदेश हैं, सूक्ष्मातिसूक्ष्म कलाओं के अन्दर धनायन व ऋणायन के आवागमन के मार्ग हैं यदि उनकी सुषिरता समाप्त हो जाए तो शरीरभाव का अस्तित्व ही नहीं रहेगा। इस प्रकार शरीर में होने वाली विभिन्न क्रियाओं का कारण स्थान व मार्ग है। एक कोषा के अन्दर विभिन्न अवयवों (organels) की स्थिति का कारण आकाश है।

हृदय की रिक्तियों को समाप्त कर दिया जाए तो जीवनक्रिया समाप्त हो जाएगी। इस प्रकार किसी भी क्रिया का कारण आकाश है।।

4.11 पञ्चमहाभूतों का परस्पर अनुप्रवेश

यहाँ भूतों के उत्तरोत्तरानुप्रवेश का तात्पर्य यह है कि पूर्व-पूर्व के भूत उत्तर- उत्तर के भूतों में अनुप्रविष्ट हो जाते हैं। अर्थात् प्रवेश कर जाते हैं। इस प्रकार पूर्व- पूर्व महाभूतों के प्रवेश करने के कारण उत्तर-उत्तर महाभूतों में अपने वैशेषिक (नैसर्गिक, स्वाभाविक) गुणों के अतिरिक्त पूर्व-पूर्व महाभूतों के गुण भी आ जाते हैं। जैसे—वायु महाभूत का अपना स्वाभाविक गुण स्पर्श है; परन्तु वायु महाभूत में पूर्व में महाभूत आकाश के गुण शब्द के अनुप्रविष्ट हो जाने के कारण वायु महाभूत में अपने स्वाभाविक गुण स्पर्श के अतिरिक्त आकाश का नैसर्गिक गुण- शब्द भी आ जाता है, जिसके कारण वायु को द्विगुणात्मक अर्थात् स्पर्श व शब्द गुण वाला कहा जाता है। इसी प्रकार तेज महाभूत में पूर्व-पूर्व महाभूतों, वायु महाभूत व आकाश महाभूत के भी गुणों का अनुप्रवेश हो जाता है, जिससे तेज महाभूत में अपने नैसर्गिक गुण—रूप के साथ-साथ वायु व आकाश के नैसर्गिक गुण- स्पर्श व शब्द भी रहते हैं, जिसके कारण अग्नि महाभूत में तीन गुण-रूप, स्पर्श व शब्द होते हैं। जल महाभूत में पूर्व-पूर्व महाभूतों-अग्नि महाभूत, वायु महाभूत व आकाश महाभूत के गुणों का भी अनुप्रवेश हो जाता है, जिसके परिणामस्वरूप जल महाभूत में अपने स्वाभाविक गुण-रस के अतिरिक्त पूर्व-पूर्व महाभूतों अग्नि, वायु, आकाश के रूप,

स्पर्श व शब्द का भी अनुप्रवेश हो जाता है, जिससे जल महाभूत रस-रूप-स्पर्श-शब्द-इन चार गुणों से युक्त हो जाता है। इसी प्रकार पृथ्वी महाभूत में पूर्व-पूर्व महाभूत जल, अग्नि, वायु, आकाश - इनके गुण-रस-रूप- स्पर्श च शब्द क्रमश: अनुप्रविष्ट हो जाते हैं जिससे पृथ्वी महाभूत में अपने नैसर्गिक गुण- गन्ध के साथ-साथ पूर्व महाभूतों के गुण-रस-रूप-स्पर्श-शब्द भी रहते हैं, अतः पृथ्वी महाभूत में गन्ध, रस, रूप, स्पर्श व शब्द-ये पाँच गुण होते हैं।

तेषामेक गुणः पूर्वो गुणबुद्धिः परे परे।
पूर्वः पूर्वो गुणश्चैव क्रमशो गुणिषु स्मृतः ।[52]

'तेषां महाभूतानां खवाय्वग्न्यपृक्षितीनां पञ्चानां गुणाः तद्गुणाः, पञ्च क्रमात्-शब्दस्पर्शरूपरसगंधाश्चेति। नैसर्गिक गुणमुक्तवा, भूतान्तरानुप्रवेशकृतगुणमाह तेषामिति। तेषां खादीनां मध्ये पूर्व प्रथमं खं एक गुणं परे परे गुणवृद्धिः - तद्यथा वायु द्विगुणः। अग्निः त्रिगुणः । चतुर्गुणाः आपः । पञ्चगुणा क्षितिः - सा च गुणवृद्धिः यथा भवति तदाह - पूर्वः पूर्व इति । गुणिषु नैसर्गिकगुणस्तु नैसर्गिकगुणाः शब्दादयः । खादिषु क्रमशः पूर्वपूर्वगुणः स्मृतः। एवं च स्पर्शगुणो वायुः पूर्वभूतस्याकाशस्य गुणं शब्द आस्थाय द्विगुणः शब्दस्पर्श गुणो भवति। रूपगुणोऽग्निः पूर्वभूतयोः खवाय्वोः शब्दस्पर्शगुणयोः गुणो शब्दस्पर्शावादाय त्रिगुणः शब्दस्पर्शरूपगुणाः। रसगुणाः आपः पूर्वेषां खवाय्वग्नीनां गुणान् शब्दस्पर्शरूपाण्यादाय चतुर्गुणा गन्धगुणाः क्षितिः पूर्वभूतगुणैः शब्दस्पर्शरूपरसैः पञ्चगुणाः'।[53]

अर्थात् पूर्व-पूर्व के भूतों के गुण उत्तर-उत्तर भूत में अनुप्रविष्ट हो जाते हैं, जिससे पूर्व के भूत से उत्तर-उत्तर भूतों में एक-एक गुण की क्रमशः वृद्धि हो जाती हैं तथा उत्तर-उत्तर महाभूत पूर्व-पूर्व महाभूतों के गुणों से भी युक्त होते हैं। आचार्य योगीन्द्रनाथ सेन ने उपर्युक्त तथ्य का सविस्तार रूप से वर्णन किया है तथा यह स्पष्ट किया है कि भूतों के गुणों से उत्तरोत्तरानुप्रवेश से प्रत्येक उत्तर- उत्तर महाभूतों में एक- एक गुण की क्रमशः वृद्धि होती जाती है। यथा--आकाश प्रारम्भिक महाभूत होने के कारण एक गुण वाला होता है, वायु दो गुण वाली, अग्नि त्रिगुण, जल चतुर्गुण तथा पृथ्वी पंचगुण वाली होती है। इसके उपरान्त उन्होंने इस प्रक्रिया पर प्रकाश डाला है कि-किस प्रकार एक-एक गुण उत्तर-उत्तर महाभूत में प्रवेश करते हैं।

शब्दादि क्रमानुसार आकाशादि के नैसर्गिक गुण हैं। भूतों में गुणों की जो वृद्धि होती है यह अनुप्रविष्ट भूत के सम्बन्ध से होती है। भूतों के उत्तरोत्तर अनुप्रवेश से पृथ्वी में चार भूतों के प्रवेश से पाँच गुण होते हैं, इसी प्रकार अप् भूत में तीन भूतों के अनुप्रवेश के कारण चार गुण होते हैं।

4.12 भूतों का अन्योन्यानुप्रवेश--(पंचीकरण)

वेदान्त दर्शन में भूतों की इस अन्योन्यानुप्रवेश प्रक्रिया द्वारा परस्पर अनुग्रहादि से द्रव्योत्पत्ति को पंचीकरण कहा गया है। इस सिद्धांत की विशिष्टता यह है कि पांचों ही भूत पार्थिवादि भेद से भिन्न तत्तद् कार्यद्रव्यों के उपादान कारण या समवायि कारण बन जाते हैं। न्याय-वैशेषिक दर्शन के अनुसार कार्यद्रव्यों की भौतिकता इससे कुछ भिन्न स्वरूप में होती है। कार्यद्रव्यों के पार्थिव आदि भेदों में, तत्तद् महाभूत ही समवायि कारण माने जाते हैं। जैसे—पार्थिव द्रव्यों का

[52] च. शा. १।२८

[53] चरकोपस्कार टीका

समवायि कारण पृथ्वी महाभूत, इसी प्रकार आग्नेय द्रव्यों का समवायि कारण अग्नि महाभूत आदि तथा उन द्रव्यों में रहने वाले अन्य चार महाभूतों को निमित्त कारण अथवा सहायक कारण माना जाता है।

पञ्चमहाभूतों के परस्पर अनुप्रवेश या परस्पर प्रवेश में सभी महाभूत परस्पर एक-दूसरे से संयुक्त होकर विजातीयता को छोड़ देते हैं तथा बिना किसी प्रकार का विरोध किये ही एक-दूसरे के कार्यों में सहायता करते हैं, जिससे कार्यद्रव्यों के मूल कणों में एक प्रकार की एकात्मकता आ जाती है। जैसे—कोई आग्नेय द्रव्य है; यथा भिलावा। इसमें पांचों महाभूत विद्यमान रहते हैं। अपने स्वाभाविक गुणानुसार जल महाभूत को अग्नि की उष्णता का विरोध अपने शैत्य से करना चाहिये था। अग्नि की तीक्ष्णता का विरोध पृथ्वी को अपनी मंदता से करना चाहिये था; परन्तु ऐसा नहीं होता है, जब ये भूत परस्पर आपस में संयुक्त हो जाते हैं, तो एक-दूसरे का विरोध न करते हुए एक-दूसरे पर अनुग्रह करते है।

विद्यार्थियों इस प्रकार से हमने पञ्चमहाभूतों पर अपना अध्ययन पूर्ण कर लिया।

4.13 सारांश

संसार के विविध पदार्थ पञ्चमहाभूत से ही निर्मित होते हैं चाहे वह चेतन हो, अथवा अचेतन हो। इन पदार्थों के स्थूलतम या सूक्ष्मतम रचनाओं का कलेवर पञ्चभूतों की समष्टि या एक-दूसरे में प्रविष्ट पांच भूतों का अथवा उनके ही विकारों का बना होता है। जहाँ पर आत्म सम्बन्ध से इन्द्रिय व्यापार दृष्टिगोचर होता है, उसे चेतन पदार्थ या चेतन द्रव्य कहा जाता है तथा जहाँ इन्द्रिय-व्यापार दृष्टिगोचर नहीं होता है, उसे जड़ पदार्थ कहा जाता है।

वैशेषिक के अनुसार जगत् के सभी कार्य द्रव्य, पृथ्वी, जल, तेज और वायु इन चार तरह के परमाणुओं (Atoms) से बनते हैं। इसलिए सृष्टि सम्बन्धी वैशेषिक मत परमाणुवाद (Atomism) कहलाता है। परमाणुवाद जगत् के अनित्य द्रव्यों की ही सृष्टि और प्रलय का क्रम बतलाता है । आकाश, द्रिव्य, काल, मन, आत्मा और भौतिक परमाणु, जगत् के इन नित्य पदार्थों की न तो सृष्टि होती है और न विनाश ही होता है।

भू सतायां धातु में 'क्त' प्रत्यय लगाने से (भू + क्त = भूत) भूत शब्द बनता है, जिसका अर्थ सत्तावान् होना, विद्यमान होना होता है ये किसी के द्वारा उत्पन्न नहीं होते बल्कि महाभूतों के कारण होते हैं।'

इस प्रकार भूत शब्द का अर्थ यह हुआ कि जो सत्तावान् हो या जो विद्यमान हो

शब्दः स्पर्शश्च रूपं च रसोगन्धश्च तद्गुणाः।।

अर्थात् आकाश, वायु, अग्नि, जल तथा पृथ्वी-ये पाँच महाभूत हैं

पृथ्वी:रूप रसगन्धस्पर्शवती पृथिवी ।

अर्थात् रूप, रस, गन्ध व स्पर्श गुणयुक्त द्रव्य को पृथ्वी कहा जाता है। इसमें गन्ध पृथ्वी का अपना गुण है तथा रस, रूप व स्पर्श क्रमशः पूर्व महाभूत जल, तेज व वायु के हैं, जो अनुप्रवेश द्वारा पृथ्वी में प्रविष्ट हैं। यहाँ वैशेषिक दर्शन में पृथ्वी को चार गुणों वाली ही कहा गया है।

नित्या—जो परमाणु रूप में पृथ्वी रहती है, वह नित्य होती है, अतः इसे नित्या पृथ्वी कहा जाता है।

अनित्या—जो कार्यरूप स्थूल पृथ्वी होती है, वह अनित्य होती है, इसलिये उसे अनित्या पृथ्वी कहते हैं।

जल:वैशेषिक दर्शन में कहा गया है कि-'रूप, रस, स्पर्शवत्य, आपोद्रबा स्निग्धा:' अर्थात् जल रूप, रस, स्पर्शविशिष्ट गुण व द्रव, स्निग्ध, भौतिक या गुर्वादि गुणयुक्त है। इसमें द्रवता जिसकी चर्चा ऊपर की गयी है, कार्यरूप जल के हैं, जब भूतों का पञ्चीकरण हो जाता है तथा स्पर्श, रूप, रस, गुण कार्य व कारणरूप दोनों में होते हैं। स्पर्श व रूप की सहायता रूप में किये गये संयोग से रसात्मक जल की उत्पत्ति होती है।

जिसे प्राथमिक स्तर पर जल के नित्यानित्य भेद से दो भेद किये गये हैं। परमाणु रूप जल नित्य होता तथा कार्य रूप जल अनित्य होता है,

अग्नि:वायु से अग्नि की उत्पत्ति होती है। मनु ने कहा है कि तम का नाश करने वाले तथा भास्वररूप गुण वाले तेज की उत्पत्ति वायु से होती है।

अग्नि या तेज के दो भेद होते हैं- (१) नित्य तथा (२) अनित्य। (१) नित्य — 'नित्यं परमाणुरूपं' अर्थात् जो परमाणुरूप तेज होता है, उसे नित्य तेज कहा जाता है। जो तेज कार्यरूप होता है, वह अनित्य होता है।

वायु:आकाश से वायु की उत्पत्ति होती है। वायु या वात शब्द का अर्थ गति होता है। इसका अर्थ है कि आकाश से गतिपरक रजोगुण बहुल (सुश्रुत) वायु की उत्पत्ति होती है। इस संदर्भ में विष्णुपुराण में कहा गया है कि-आकाश की उत्पत्ति के बाद शब्द-तन्मात्रा की उत्पत्ति हुई, जिससे स्पर्श गुणवाला वायु उत्पन्न हुआ।

सत्त्व, रज व तम —इनकी क्रियाशीलता से सृष्टि रचना प्रारम्भ होती है।

वायु दो प्रकार का होता है- १. नित्य तथा २. अनित्य। परमाणुरूप वायु नित्य होता है तथा कार्यरूप वायु अनित्य होता है। अनित्य वायु भेद होते हैं- १. शरीरसंज्ञक २. इन्द्रियसंज्ञक तथा ३ विषयसंज्ञक

आकाश:तैत्तिरीयोपनिषद् के अनुसार आकाश की उत्पत्ति आत्मा से हुई है। यहाँ आत्मा का तात्पर्य शुद्ध चेतन तत्त्व या परमात्मा से है। अन्य दर्शनों व शास्त्रों में इसकी उत्पत्ति शब्द से मानी गयी है।आकाश से ही सभी वस्तुयें जीव आदि उत्पन्न होते हैं तथा आकाश में ही लीन हो जाते हैं।

तेज व तेज के बाद उत्पन्न महाभूतों में-अग्नि, जल व पृथ्वी में रूमत्व होने के कारण उनका चक्षुरीन्द्रिय द्वारा स्थूलरूप ग्राह्य होता है। यथा जल की द्रवता को, पृथ्वी की संहननता को प्रत्यक्षीकृत किया जा सकता है; परन्तु अग्नि के पूर्व के महाभूत आकाश व वायु के अन्दर रूपत्व नहीं होता है। आकाश में तो स्पर्श भी नहीं होता है, मात्र शब्दगुण रहता है। इसकी कोई आकृति नहीं होती है, अतः न यह प्राणेन्द्रिय प्रत्यक्षगम्य है, न रसनेन्द्रिय, न चाक्षुष, न स्पर्शन प्रत्यक्षगम्य है।

4.14 पारिभाषिक शब्दावली

पंचमहाभूत: आकाश, वायु, अग्नि, जल व पृथ्वी-इन पाँचों को पञ्चभूत या पञ्चमहाभूत कहते हैं। इनकी दो अवस्थायें होती हैं-प्रथम परमाणु रूप या कारण रूप तथा द्वितीय कार्य रूप स्थूल अवस्था। परमाणुरूप भूत नित्य व स्थूलरूप भूत अनित्य होते हैं।

आग्नेय: अग्नि

नैसर्गिक: प्रकृतिक

पाकज: अग्नि के संयोग विशेष को पाक कहा जाता है तथा इस पाक के द्वारा जो उत्पन्न होता हैं, उसे पाकज कहा जाता है।

पंचीकरण : पञ्चमहाभूतों के परस्पर अनुप्रवेश या परस्पर प्रवेश में सभी महाभूत परस्पर एक-दूसरे से संयुक्त होकर विजातीयता को छोड़ देते हैं तथा बिना किसी प्रकार का विरोध किये ही एक-दूसरे के कार्यों में सहायता करते हैं, इस क्रिया को पंचीकरण क्रिया कहते हैं।

4.16 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1) पर्दार्थ विज्ञान, डॉ. बी. के. द्विवेदी, चौखम्मा कृष्णदास अकादमी, वाराणसी, 2022
2) भारतीय दर्शन, डॉ० नन्द किशोर देवराज, उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ ,2002
3) भारतीय दर्शन, चन्द्रधर शर्मा,भारतीय दर्शन आलोचन और अनुशीलन , मोतीलाल बनारसीदास, 1995,
4) भारतीय दर्शन, डॉ. उमेश मिश्र,उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान, 2003
5) भारतीय दर्शन, पारसनाथ द्विवेदी, श्रीराम मेहरा कंपनी आगरा,1973

4.15 बोध प्रश्न

1) पंचमहाभूत क्या है? तथा इनके उत्पति किस प्रकार होती है?
2) वायु तत्व की उत्पत्ति किस प्रकार होती है तथा वायु तत्व का हमारे जीवन में क्या प्रभाव है?
3) आकाश महाभूत की सिद्धि किस प्रकार हो सकती है
4) पृथ्वी में भूत में कौन-कौन से गुण पाए जाते हैं तथा पृथ्वी का अपना गुण क्या है तथा हमारे शरीर में तथा वातवरण में क्या कार्य करता है ?
5) अग्नि तत्व की उत्पत्ति कार्य तथा इसके भिन्न भिन्न स्वरूपों का वर्णन करें?
6) महाभूतों के अनन्य अनुप्रवेश अर्थात् पंचीकरण की व्यख्या करें।?

खण्ड 4
व्यक्तित्त्व मीमांसा

चतुर्थ खण्ड का परिचय

एम. ए. हिन्दू अध्ययन कार्यक्रम प्रथम वर्ष के चतुर्थ पाठ्यक्रम के चतुर्थ खण्ड में आपका स्वागत है। चतुर्थ खण्ड में भी चार इकाइयां है। चारोंइकाइयों के माध्यम से व्यक्तित्व की अवधारणा का स्पष्ट वर्णन करनेका प्रयास विशेषज्ञों द्वारा किया गया है। प्रथम इकाई में वेदांत दर्शन के अनुसार आत्म तत्व का विवेचन प्रस्तुत है। न्यायवैशेषिक में आत्मा विषयक वर्णन किए गए हैं। यहां पर आप वेदांत और न्याय दोनों की दृष्टिमें आत्मतत्व का अध्ययन करेंगे। तीसरी इकाई में जैन परम्परा के अनुसार आत्माके विषय विचारकिए गए तथ्यों का वर्णन प्रस्तुत किया गया है। इस खण्ड की अन्तिम इकाई में आप बौद्ध मत से आत्मतत्व की जानकारी हासिल करेंगे । विशेषरूप से यहां आत्म तत्व वर्णन प्रस्तुत करने का तात्पर्य व्यक्तित्व को प्रकट करने से है। सूक्ष्म रूप में आत्मा के विषय में जानकारी देना ही इस खण्ड का एकमात्र उद्देश्य नहीं है। अपितु पूरे खण्ड के अध्ययन से आपको व्यक्तित्व के प्राकट्य की जानकारी भी हो, यही आशा है। इस खण्ड में भी चार इकाइयां हैं।

इकाई 1 वेदान्त में आत्मतत्त्व विवेचन

इकाई की रूपरेखा

1.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् आप:

- वेदान्त के वास्तविक तात्पर्य को समझ सकेंगे।
- वेदान्त के भाष्कारों से परिचित हो सकेंगे।
- शंकराचार्य के पूर्ववर्ती उनके गुरू के गुरू आचार्य गौड़पाद के आत्मा विसयक मत को समझ सकेंगे।
- शंकराचार्य की अद्वैत दृष्टि से आत्मा को जान सकेंगे।
- रामानुजाचार्य के विशिष्टाद्वैत मत से आत्मा के स्वरूप से परिचित होंगे।
- द्वैतवादी आचार्य मध्य के आत्मा विषयक विचार समझ सकेंगे।
- निम्वारूचियि के द्वैता द्वैत/भेदा भेद सिद्धान्त से आत्मा के प्रत्यय को जान सकेंगे।

1.1 प्रस्तावना

भारतीय दर्शन में वेदान्त दर्शन दार्शनिक प्रवृत्त्यिों एवं तार्किक विचारों का चूडान्त उत्कर्ष है। यूरोप के विद्वान तो काफी दिनों से वेदान्ता को ही भारतीय दर्शन समझते रहे। वेदान्त शब्द का प्रयोग प्रारम्भ में केवल उपनिषदों पर आधारित विचारों के लिए होता रहा किन्तु वाद में चलकर उपनिषदों के आधार पर जिन विचारों का विकास हुआ उन सभी के लिए वेदान्त का प्रयोग हुआ। उपनिषद वाक्यों मं आपातत: जो विरोध दिखाई पड़ता है उसे दूर करने एवं उपनिषदों में एक रूपता दर्शाने के लिए महर्षि वादरायण ने ब्रहम सूत्र की रचना की उपनिषद सूत्रक होने से गीता को भी उपनिषद् का दर्जा प्राप्त है। उपनिषदें गीता और ब्रहम सूत्र – ये तीन

वेदान्त के प्रस्थानतमी कहलाते हैं आचार्यों ने इन पर भाष्य लिखकर वेदान्त में मन्तव्य को प्रकट करने का प्रयास किया। जिन आचार्यों ने केवल गीता और ब्रहम सूत्र या केवल ब्रहम सूत्र पर माफ किया उन्होंने भी अपने मन के समर्थन में तीनों ग्रन्थों से प्रमाण दिया है।

वेदान्त के आचार्यों की एक लम्बी परम्परा है, उनके अपने-अपने सम्प्रदाय हैं जो अद्यावधि फल-फूल रहे हैं। इन सभी का अध्ययन एक छोटे से अध्याय में संभव नहीं है। आचार्यों में सर्वाधिक प्रतिष्ठा शंकर को प्राप्त है, इसके बाद रामानुज का स्थान है। शंकराचार्य के पूर्व गौड़ापादाचार्य ने माण्डूक्योपनिषद पर कारिका लिखी और 'अजतिवाद' का सिद्धान्त दिया। कुछ प्रतिनिधि आचार्यों – गौड़पाद, शंकराचार्य, रामानुजाचार्य, मध्वाचार्य एवं निम्वार्काचार्य के वेदान्त परम्परा में 'आत्मा' विषयक विचार की समीक्षा करने का प्रयास इस अध्याय में किया है।

1.2 वेदान्त का सामान्य परिचय

भारत में जिन दर्शनों का विकास हुआ है उसमें सबसे महत्वपूर्ण दर्शन वेदान्त को ही माना जाता है। भारतीय दार्शनिक प्रवृत्तियों तथा तार्किक विचारों का चूड़ाना उत्कर्ष वेदान्त में उपलब्ध होता है। इसकी महत्ता इस बात से भी समझी जा सकती है कि यूरोपीय विद्वान बहुत समय तक भारतीय दर्शन का अर्थ वेदान्त दर्शन ही समझते थे।

प्रारम्भ में वेदान्त शब्द से उपनिषदों का बोध होता था। अनेक उपनिषदों में भी वेदान्त शब्द प्रयुक्त है।[1] कालान्तर में उपनिषदों के आधार पर जिन विचारों का विकास हुआ उनके लिए भी इस शब्द का व्यवहार होने लगा। वेदान्त के सभी सम्प्रदाय अपने विचारों को उपनिषदों पर आधारित होने का दावा करते हैं। उनका दावा सत्य हो, न हो पर इतना निर्विवाद है कि – उनकी सामग्री का काफी बड़ा अंश उपनिषदों से लिया गया है। उपनिषदों को वेदान्त अनेक अर्थों में माना जाता है। उपनिषद् वैदिक युग के अन्तिम (वेद+अन्त = वेदान्त) साहित्य हैं। संहिता, ब्राहमण, आरण्यक एवं उपनिषद् क्रय में वैदिक काल को देखने वाले उत्तम अर्थ करते हैं। किन्तु ईशावार योपनिषद् यजुर्वेद में एक अध्याय के रूप में भी है। अस्तु यह मत पूर्ण संगत नहीं है। उपनिषदों को वेदान्त इस अर्थ में भी माना गया है कि अध्ययन क्रम में उपनिषदों की बारी अंत में आती थी। लोग सामान्यत: संहिता से शुरू करते थे। गृहस्थ आश्रय में प्रवेश करने पर गृहस्थो चित यज्ञादि कर्म करने के लिए ब्राहमण ग्रन्थों का प्रयोजन पड़ता था। वान प्रस्थ या संन्यास लेने पर आरण्य का अरण्य (जंगल) में एकाना जीवन विताते हुए लोग जगत का रहस्य और जीवन का उद्देश्य समझने की चेष्टा करते थे। उपनिषदों का विकास इसी आरण्यक साहित्य से हुआ।[2] उपनिषदों को वेदान्त इसलिए भी कहा जाता है कि – वेदों में जो विचार पाये जाते हैं उन्हीं का परिपक्व रूप उपनिषदों में पाये जाते हैं। छारोग्योयनिष्द में एक प्रसंग है कि वेद वेदान्त सहित अन्यान्य शास्त्रों का अध्ययन करने पर भी मनुष्य का ज्ञान तब तक पूर्ण नहीं होता जब तक कि वह उपनिषदों की शिक्षा आत्मा विद्या नहीं प्राप्त कर लेता।[3] इस प्रकार वैदिक ज्ञान की पराकाष्ठा (अन्त) होने से भी उपनिषदों की वेदान्त संज्ञा है।

---

[1] वेदान्त विज्ञान सुनिश्चितार्था: (मुण्डक 3/2/5), वेदान्ते परमं गुध्यम् (खेतारण 6/22 योवेदादो स्वर: प्रोत्मो वेदान्ते च प्रतिष्ठित (महानारायण उप 10/8)

[2] सतीश चन्द्र चट्टोपाध्याय एवं धीरेन मोहनदत्त: भारतीय दर्शन पृ 255

[3] सोडहं भगवो मन्त्र विदेवासस्यि ना डडत्यवित्। छा. 7/1/3। पूरा प्रकरण एवं उस पर रामानन्दकृत आनन्द भाष्य द्रपटक है।

कालान्तर में औपनिषद् सिद्धान्तों में आपातत: विरोधों के परिहार करने की तथा एक वाक्यता स्थापित करने की आवश्यकता प्रतीत होने लगी। इसी की पूर्ति करने के लिए वादरायण व्याप्त ने ब्रहम सूत्रों का निर्माण किया। यह लगभग साढ़े पांच सौ सूत्रों का स्वत्य करेवर ग्रन्थ समस्त वेदान्त सिद्धान्तों का आकर ग्रन्थ हैं।

ब्रहम सूत्र चार अध्यायों में वियत्तम है। प्रत्येक अध्याय में चार पाद हैं। प्रथम अध्याय समन्वयाध्याय है जिसमें वेदान्त वाक्यों का साक्षात् या परम्परा ब्रहम में तात्पर्य दिख लाया गया है। द्वितीय अध्याय अविरोधाध्याय है जिसमें स्मृति तर्क आदि के संभावित विरोध का परिहार का ब्रहम में अविरोध प्रदर्शित किया गया है। तृतीय अध्याय – साधनाध्याय है जो वेदान्त सम्मत साधनों का विधान करता है। चतुर्थ अध्याय फलाध्याय है जिसमें सगुण-निर्गुण विद्याओं के फलों का विवेचन है। ब्रहम सूत्रों पर अपने साम्प्रदायिक अर्थ के प्रति पादन के लिए अनेक आचार्यों ने भाष्य लिखे जिनका वर्णन अग्रलिखित है –

भाष्य	भाष्यकार	वाद
शरीकमाष्य	शंकराचार्य	निर्विशेषद्वैत
भास्कर भाष्य	भास्करचार्य	भेदाभेद
श्री भाष्य	रामानुजाचार्य	विशिष्टाद्वैत
पूर्ण प्रज्ञ भाष्य	मध्वाचार्य	द्वैत
वेदान्त परिजात	निम्बाकाचार्य	द्वैताद्वैत
शैव भाष्य	श्री कण्ठ	शैव विशिष्टाद्वैत
श्रीकर भाष्य	श्रीपति	वीरशैव विशिष्टाद्वैत
अणु भाष्य	बल्लभाचार्य	शुद्वाद्वैत
विज्ञानाभूत	विज्ञानभेक्षु	अविभागाद्वैत
गोविन्द भाष्य	बलदेव	अनित्यभेदमिद

सभी भावकारों ने अपने भाष्य को ही यथार्थ और श्रुति मूलक बताया है। शंकराचार्य एवं रामानुजाचार्य के सिद्धान्त साम्प्रदायिक रूप से अधिक व्यापक हैं।

श्रीमदभगवतगीता को भी वेदान्त ग्रन्थ के रूप में प्रतिठा प्राप्त है। गीता को उपनिषद और ब्रहम विद्या ही कहा जाता है।[4] इस प्रकार वेदान्त के कुल तीन प्रस्थान हैं – उपनिषद् ब्रहम सूत्र एवं गीता जिन्हें क्रमश: ऋुति, तर्क एवं स्मृति प्रस्थान कहा जाता है। इन तीनों को वेदान्त का प्रस्थान तभी कहा जाता है। शंकराचार्य ने वेदान्त के सभी प्रस्थानों प्रमुख – ग्यारह उपनिषदों, ब्रहम सूल एवं गीता पर भाष्य लिखा है। रामानुज ने गीता और ब्रहम सूत्र पर भाष्य लिखा है। अन्य आचार्यों ने भले ही तीनों पर भाष्य न लिखा हो पर अपने मत के समर्थन में इन तीनों को प्रमाण मानते है। ब्रहम सूत्रों की व्याख्या क्रम में गीता एवं उपनिषदों के मन्त्रों को उद्धत करते है।

[4] गीता के सभी अध्यायों के अन्त में 'श्रीमदगवतगीतासु उपनिषदत्सु ब्रहम विद्यायां योगशाते ....
सिरक रहता है।

वेदान्त के आचार्य

महर्षि वादरायण के ब्रहम सूत्र में जेमिनि[5], 'आश्मरथ[6], बादरि[7] औडुलोमि[8], काशंकृत्स्न[9] कार्ष्णाजनि[10] और आत्रेय[11] आदि पूर्वाचार्यो का उल्लेख मिलता है। इनमें जौमिति, आत्रेय एवं कार्ष्जाजनि पूर्व मीमांसक थे। द्रविद्राचार्य एवं काशकृतन अद्वैतवादी थे, इनका मानना है कि अविकृत परमात्मा ही जीव है, दूसरा नहीं है, तत्त्व एक ही है। आचार्य शंकर ने इनके मत को ऋुति अनुकूल मानकर सम्मान किया है। आश्मरथ्य एवं औडुलोमि भेदाभवादी थे, इनके अनुसार आत्मा और ब्रहम में भेदाभेद सम्बन्ध है। परवर्तीकाल में इनके मत को यादव प्रकाश ने परिवर्धित किया।

वेदान्त के आचार्यो में शंकराचार्य का नाम सर्वापरि है। इसके बाद रामानुजाचार्य का नाम आता है। इन दोनों आचार्यो ने अपने भाष्यों में पूर्ववर्ती आचार्यो का उल्लेख किया है। मर्तप्रपण्ज कठोपनिषद् एवं वृहदारण्यकोपनिषद् पर भाष्य किया किन्तु शंकराचार्य ने वृहदारण्यक भाष्य में इनके सिद्धान्तों का औपनिषद् मन्त्र कहकर उपहास किया। दार्शनिक दृष्टि से इनका मत द्वैताद्वैतवाद माना जाता है। मर्तृहरि का उल्लेख यामुनाचार्य के ग्रन्थ में मिलता है किन्तु इनका कोई दार्शनिक ग्रन्थ नहीं मिलता। इनका ग्रन्थ वाक्य पदीय है, इनका सिद्धान्त शब्द ब्रहमवाद है। शंकर भाष्य में उपवर्स का नाम प्राप्त होता है अस्त्रु में भी वेदान्त के आचार्य रहे होंगे। ब्रहमसूत्र पर बोधामन की बोधायन वृत्ति का भाष्य रामानुज ने किया है। ब्रहमनन्दी, टंक एवं भारूचि श्री सम्प्रदाय के बेदान्ती थे। द्रविडाचार्य ने छान्दोग्य उपनिषद् पर एक भाष्य लिखा था, इन्हें शंकर आगमवित् कहते हैं। सुन्दर पाण्ड्य और ब्रहमदत्त प्रसिद्ध वेदान्ती और अद्वैतवादी थे। सुन्दर पाण्ड्य के वार्तिक ग्रन्थ से शंकर ने कुछ श्लोक उद्धृत किये हैं। ब्रहमदत्त् के मत में उपनिषदों का तात्पर्य 'तत्त्वमसि' आदि महावाक्यों में नहीं अपितु' आत्मा का अरेद्रमव्य आदि वाक्यों में है।

शंकर पूर्व वेदान्तियों में उनके गुरू के गुरू गौड़पादाचार्य का नाम अत्यन्त महत्वपूर्ण है। माण्डूक्य उपनिषद् पर इन्होंने माण्डूक्य कारिका लिखी है। इसमें 215 कारिकायें है जो आगम, वैतथ्य, अद्वैत एवं अलातशान्ति प्रकरण में विभक्त हैं। इनके अनुसार आत्मा सुख-दु:ख आदि आकाओं से परे है, स्वत: असंगत है। आत्मा की उत्पत्ति नहीं होती। उत्पत्ति मानने पर उसे मरण धर्मा मानना पड़ेगा। इनका सिद्धान्त अजातिवाद है।

ब्रहमसूत्र के शंकराचार्य, रामानुजाचार्य आदि जो इस भाष्यकर हैं, वे अपने-अपने सम्प्रदाय प्रवर्तित किये और प्रत्येक सम्प्रदाय में अनेकनिक आचार्य अद्यावधि वेदान्त दर्शन को पल्लवित एवं पुष्पित करने में अपना योगदान देते रहे हैं। सभी का वर्णन करना अप्रासंगिक है। इन सभी सम्प्रदायों में शंकराचार्य का निर्विशेषाद्वैत एवं रामानुजाचार्य का श्री सम्प्रदाय को विशेष प्रतिष्ठा प्राप्त है।

1.3 वेदान्त का प्रतिपाद्य विषय

छान्दोयोपनिषद् के एक आख्यान में नारद सनत्कुमार के पास अध्ययन करने के लिए जाते हैं। विद्यार्थी के पूर्वज्ञान के आकलन के बाद नयी पाठ्ययोजना बनाना ठीक होता है इसलिए सनत्कुमार ने नारद से पूर्व पठित विद्या का विवरण जानना चाहा। नारद ने बताया कि भववन! मैंने ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद,

---

[5] जेमिनी का उल्लेख ब्रहमसूत्र में 11 बार है।

[6] ब्रहम सूत्र 1/2/29, 4/4/20।

[7] ब्रहमसूत्र 1/2/30, 3/1/11, 4/3/7, 4/4/10

[8] ब्रहमसूत्र 1/4/21, 3/4/41, 4/4/6,

[9] ब्रहमसूत्र 1/4/22

[10] ब्रहमसूत्र 3/1/19

[11] ब्रहमसूत्र 3/4/44

अथर्ववेद, पंचमवेद-इतिहास पुराण, ऋवेदादि मन्त्रों के प्रकृति प्रत्यादि ज्ञापक व्याकरण (वेदानांवेद), पितृ विद्या (तालकत्थ) राशि विद्या (गणित), दैव (उत्पातादि ज्ञापक) विद्या, निधि (पृथ्वी आदि में छिपे धन का ज्ञान देने वाली) विद्या, वाकोवाक्य (तर्कशास्त्र), एकापन शाखा (नीतिशास्त्र), देवोपासन विद्या, ब्रहमविद्या (वेदांग भूत कल्पादि शिक्षा) भूत (भूतादिवशीकरण) विद्या, क्षत्र विद्या (धनुर्वेदादिशास्त्र) नक्षत्र विद्या (ज्योम्रिषशास्त्र) सर्प विद्या (जिससे सर्प विष का उपचार हो ऐसी गारूड विद्या), देव विद्या (गान्धर्व शास्त्र) जन विद्या (सर्वोपकारिणी आयुर्वेद) आदि विद्याओं का अध्ययन किया है।[12]

उच्च सभी विद्याओं को जानने के बाद भी नारद से कहा कि मैं मन्त्र वित् तो हूं पर आत्मवित् नहीं हूं, अर्थात मुझे सारे लौकिक, पारलौकिक साधन विषयों का ज्ञान है[13] पर आत्मा का ज्ञान नहीं है और मैंने आप जैसे लोगों के मुख से सुना है आत्मनित् ही शोक को पार करता है।[14] इसलिए सब कुछ जानकर भी मैं शोक सागर में नियतन हूं। आप आत्मोपदेश देकर मुझे शोक सागर से तार दें।[15] सनत्कुमार ने कहा कि नगद जो भी ऋग्वेद आदि तुमने पढ़ा है वह नाम माल है।

इस आरकान से यह प्रमाणित होता है कि – सारे शास्त्रों के ज्ञान के बाद भी उपनिषदों (वेदान्त) के अध्ययन की आवश्यकता है और उसका प्रतिपाद्य विषय है – 'आत्मा' जिस पर आगे विस्तार से विचार किया जायेगा।

वेदान्त की एक दीर्घकालिक, सुदृढ़ एवं समृद परम्परा है जिसमें सैकड़ों ऋषियों, मुनियों, संतों एवं महात्माओं ने इस परम्परा का विस्तार दिया है। आपस में मतभेद भी हैं। फलस्वरूप दर्शानिक सम्प्रदाय बन गये। सबके आत्म-विषयक विचारों को इस पाठ्य इकाई में सम्मिलित करना न संभव है न ही सभी चीन। वेदान्त की परम्परा को हम तीन भागों में विभाजित कर सकते है – एक शंकर पूर्व वेदान्त, शंकर वेदान्त और शंकराचार्यन्तर वेदान्त। शंकराचार्य के पूर्व प्रतिनिधि के वगैर पर हम गौड़पादाचार्य को ले सकते हैं। शंकराचार्य के बाद रामानुज, मारकर, निम्वार्क मध्य आदि आचार्यों को आत्मा विषयक विचारों को हम सम्मने की कोशिश करेंगे।

गौड़पादाचार्य के मत में आत्मतत्त्व

आचार्य गौड़पाद के अनुसार परम तत्त्व ब्रहम या आत्मा है। यह नित्य विशुद्ध चैतन्य स्वरूप, नित्य विज्ञान स्वरूप एवं नित्य अखण्ड आनन्द स्वरूप है। यह अद्वितीय, बुद्धि विकासतीत या निर्विकल्च, अनिर्वचनीय, अवाड मनोगोचर अपरोक्षानुभूति रूप है यह भेद प्रपण्चातीत एवं निष्प्रपंच है। यह आविकारी, अपरिणामी और कूटस्थ नित्य है।[16] विश्व तैजस एवं प्राज्ञ आदि आत्मा के विभिन्न स्वरूप नहीं वरन् विभिन्न अभिव्यक्तियां हैं। आत्म एक अमात्र तुरीय एवं अद्वैत रूप है।

आत्मा समस्त प्रपण्च एवं समस्त ज्ञान का अधिष्ठान होने से स्वत: सिद्ध तथा रच प्रकाश है। यह मन, वाणी एवं बुद्धि का विषय नहीं है। नेति-नेति ही इसका सर्वोत्तम निर्वचन है। नेति-नेति आत्मा क्या नहीं है यह बताया जा सकता है, किन्तु आत्मा क्या है इसका प्रतिपादन नहीं किया जा सकता है क्योंकि ज्यों ही विशेषणों से इसे विशेषित करेंगे। यह विशेषज्ञों से सीमित हो जायेगा जबकि आत्मा असीम, विभु एवं व्यापक है। आत्मा का निषेध नहीं किया जा सकता क्योंकि यही समस्त ज्ञान एवं विधि निषेध का अधिष्ठान है। निषेध करने के लिए भी निषेध कर्ता की आवश्यकता है। सूर्य को दीपक से नहीं देखा जाता। आत्मा समस्त प्रमाणों का आधार है इसे कभी भी प्रमाणों से प्रमाणित नहीं किया जा सकता। श्रुति

---

[12] छान्दोग्योपनिषद् 7/1/1-2 एवं उस पर रामानन्द भाष्य।

[13] ऐच्छिक पारलौकिक साधन विषयक ज्ञानवानेव। छा. उ. रामानन्द भाष्य 7/1/3

[14] सोडहं भगवो मन्त्रविदेवास्मि नाडडत्मवित् ऋुत ध्येवं मे भगवद् दृशेम्यस्तरति शोक मात्मवित वही 7/1/2

[15] शोचामि तं मा भगवाण्छोकस्यपारं तारयतु 7/1/3

[16] चन्द्रघर शर्मा: भारतीय दर्शन: आलोचन एवं अनुशीलन पृ. 219

भी कहती है – दृष्टा के दृष्टि का कभी भी लोप नहीं होता।[17] वस्तुत: द्रष्टा शब्द में ही दृष्टि शब्द अन्तर्निहित है। आत्मा शब्द में ही आत्मा का प्रकाशत्व एवं स्वत: सिद्धत्व निश्चित है। नेति-नेति श्रुति आत्मा विषयक वर्णनों का निषेध कर के बुद्धि द्वारा अग्राहय रूप में आज आत्मा को प्रकाशित करती है।[18]

आत्मा शुद्ध सांक्षि चैतन्य है। आत्मा ही अपनी माया शक्ति से जगत् प्रपण्च तथा बद्ध जीवों के रूप में प्रतीत होता है। विषयी-विषय ज्ञाता श्रेय चेतन जीव एवं जड़ जगत् आत्मतत्त्व के ही मापा कत्चित आभास हैं। ये सब सदसदनिर्वचनीय और मिथ्या हैं। परमार्थ में प्रपण्चोपशम शिव अद्वैत आत्म तत्त्व ही सत् है।[19] आत्म तत्त्व अपनी माया शक्ति से विभिन्न पदार्थों एवं चेतन जीवों के रूप में भासित होता है। इनकी वास्तविक उत्पत्ति नहीं होती इसीलिए इस मत को अजातिवाद कहा जाता है। आत्मेतर् सब कुछ प्रतीत मात्र है और यह प्रतीति भान्ति है। किसी भी प्रकार का कहीं भी भेद (द्वैत) नहीं है। जगत् के बाहय पदार्थ और जीव स्वप्न पदार्थ एवं रज्जु सर्प की तरह मिथ्या हैं। माया के कारण भेद प्रतीत होता है। ज्ञान की प्राप्ति तथा अज्ञान की निवृत्ति होने पर अद्वैत-आत्म तत्त्व का बोध होता है और संपूर्ण जगत् की निवृत्ति हो जाती है। वास्तव में जगत् का ही नहीं, आभास का।

गौड़पाद वस्तुवाद को स्वीकार करते हैं। जीव एवं जड़ दोनों की भिन्न सत्ता है, जीव ज्ञाता है, जड़ ज्ञेय है। द्वैत व्यावहारिक है। जीव एवं जड़ व्यावहारिक स्तर पर मान्य हैं। द्वैत व्यवहार में है किन्तु परमार्थ अद्वैत है, यहां द्वैत को स्थान नहीं। द्वैतवादियों की आलोचना करते हैं कि द्वैतवादी परमार्थ तथा व्यवहार दोनों में द्वैत मानते हैं और द्वैत प्रपण्च में फंस रहते हैं और एक दूसरे से विवाद करते हैं। अद्वैती का किसी से विवाद नहीं है क्योंकि व्यवहार में मायाकास्थित द्वैत है कोई आपत्ति नहीं, परमार्थ में अद्वैत होने के कारण भेद, विकत्व एवं विवाद के लिए कोई स्थान नहीं है।[20] भेदवादियों के लिए पृथकवाद का कोई स्थान नहीं अत: वे कृपण एवं निम्न हैं।[21]

आचार्य आत्मा एवं जीव के सम्बन्ध में अवच्छेदवाद को स्वीकार करते हैं। एक ही आकाश भिन्न-भिन्न पदार्थों में बद्ध हो सीमित प्रतीत होता है जो आकाश घट के अन्दर है वही महके अन्दर है वही लोहे के अन्दर है, मात्र आवरण है। घर के नष्ट होते ही घटाकाश महाकाश में बदल जाता है। उसी प्रकार बद्धजीव संसार भिन्न-2 हैं पर वे सभी आत्मतत्त्व के आभास मात्र हैं, परमार्थ में नहीं हैं।

आत्मा जाग्रत स्वरप्नै एवं सुषुत्ति के अनुभवों से परे है पर इन अनुभवों का अधिकाश अवश्य् है। जाग्रत अवस्था में इन्द्रिय से बाहय पदार्थों का तथा मन से सुख दु:खादि आन्तपरिक भावों का अनुभव होता है। स्वाप्नांवस्थास में मन: कत्चित पदार्थ अनुभव के विषय करते बनते हैं। जाग्रत एवं स्वभप्नय दोनों अनुभवों में सत्य पदार्थ पर पर्दा होता है असत्यथ पदार्थ का दर्शन होता है जो माया के आवरण एवं विक्षेप शक्ति के परिणाम हैं। सुषुप्रावस्था निर्विषय होता है, वाहयमानस सभी अनुभव रस्म होता है फिर भी अज्ञान या आवरण की अवस्था है। इन तीनों ही अवस्थाओं में अधिपठान रूप आत्मा रहती है। तुरीय अवस्था शुद्ध आत्मा की अवस्था है। इसमें निद्रा, आवरण, रूझान स्वपन विक्षेप सब नष्ट हो जाते हैं। आनन्द एवं ज्ञान का प्रकाश होता है। स्वप्रकाश आत्म तत्त्व की अनुभूति होती है। यह आत्मा सब भावों का अद्वैत रूप है और विमु है – अद्वैत सर्वभावानाम् देवस्तुयो विभु:स्मृत: (माण्डूक्य कारिका 1/10)।

शंकराचार्य के मत में आत्म तत्त्व

शंकराचार्य के मत में आत्मा और ब्रह्म एक ही सत्ता के दो नाम हैं। आत्मा ही एकमात्र सत्य है। आत्मा की सत्ता पारमार्थिक है। अन्य सभी वस्तुएं प्रतीतिया व्यवहार में है परमार्थ में नहीं हैं। आत्मा स्वत: सिद्ध

---

[17] न हि द्रष्टु: 'हष्टेर्विपरिलोपो विद्यतें। वृहदारण्यक उपनिषद 4/3/23

[18] स एष नैति नैतिति कारकातं निहनुते यत: सर्वमग्राहय भावेन हेतुनाजं प्रकाशते।।

[19] चन्द्रघर शर्मा: भारतीय दर्शन आलोचन एवं अनुशीलन पृ. 219

[20] स्व सिद्धान्त व्यवस्यासु द्वैतिनो निश्चिता दृढ़म, परस्परं विरूध्यन्ते तैरयं विरूध्यते। कारिका 3/17

[21] भेद निम्ना: पृथग्वादास्तस्मति ते कृपणा: स्मृता:।। कारिका 4/94

तथा स्व प्रकाश है। उसकी सिद्धि के लिए किसी प्रमाण की अपेक्षा नहीं है। जो स्वत: सिद्ध न हो उसके लिए प्रमाण की आवश्यकता होती है। प्रमाण से तो प्रमेय की सत्ता सिद्ध होती है। आत्मा अप्रमेय होने से प्रमाण का विषय नहीं हो सकता।

आत्मा स्वत: सिद्ध है

शंकराचार्य भाष्य में लिखते हैं – आत्मा स्वत: सिद्ध है अपने में प्रमाण की अपेक्षा बताकर आत्मा सिद्ध नहीं होता। प्रत्यक्षदि प्रमाण अप्रसिद्ध प्रमेय की सिद्धि के लिए गृहीत होते हैं। आत्मा तो प्रमाण आदि व्यवहार का आश्रय होने से प्रमाण आदि व्यवहार से पूर्व ही सिद्ध है। ऐसे स्वयं सिद्ध आत्मा का निराकरण नहीं हो सकता। आगन्तुक वस्तु का ही निराकरण होता है, स्वरूप का निराकरण नहीं होता जो ही निराकर्त्ता है वही उसका स्वरूप है।[22] अग्नि की उष्णता (गर्मी) का अग्नि से निराकरण नहीं होता उसी प्रकार मैं ही इस वस्तु को वर्तमान समय में जानता हूँ, मैंने ही भूत और उसकी पूर्ण की वस्तु को जाना था, मैं ही भविष्य और उससे भी दूर भविष्य की वस्तुओं को जानूँगा इस प्रकार अतीत अनागत और वर्तमान रूप में ज्ञातव्य वस्तु के अन्यका भाव होने पर भी ज्ञाता का अन्यथा भाव नहीं होता क्योंकि वह सर्वदा वर्तमान स्वभाव है।[23] सत्यानन्द जी कहा कि – सत्ता स्फूर्ति ही आत्मा की स्वयं सिद्धि है। आत्मा की सिद्धि के लिए किसी प्रमाण की अपेक्षा नहीं है।[24] उन्होंने सुरेश्वराचार्य के वचन को उद्धृत किया – प्रमाता प्रमाण प्रमेय और प्रमिति जिसके प्रसाद से सिद्ध होते हैं उसकी सिद्धि में किसकी अपेक्षा है?[25] जिससे सारे प्रमाणों का सिद्धि होती है उसे प्रमाणों से कैसे सिद्ध किया जा सकता?[26]

पुनश्च जगत् अनुभूति पर अवलम्बित है। विसम के अनुभव के भीतर चेतन विसमी की सत्ता स्वत: सिद्ध है। आत्मा के ज्ञाता रूपेण उपलब्धि के अभाव में ज्ञान संभव नहीं है। प्रत्येक अनुभव की प्रक्रिया में अपनी सत्ता का अनुभव अवश्य होता है। आत्मा के आस्तित्व का अनुभव सबको होता है। मैं नहीं हूं ऐसा अनुभव किसी को नहीं होता। यदि आत्मा का अस्तित्व प्रसिद्ध नहीं होता तो सब लोग में नहीं हूं, ऐसा अनुभव करते।[27] कठोपनिषद् भाष्य में एक स्थल[28] पर आचार्य ने कहा कि – आत्मा सम्पूर्ण विकल्पों की गति से रहित है। याज्ञक्ल्य ने भी कहा जो सब किसी को जानने वाला है उसे हम किस प्रकार जान सकते हैं।[29] सूर्य के प्रकार में जगत् प्रकाशित होता है पर सूर्य क्योंकर प्रकाशित किया जा सकता है। प्रमाणों की सिद्धि का आधारभूत आत्मा किसी प्रमाण से कैसे सिद्ध किया जा सकता है?

आत्मन् शब्द की व्युत्पत्ति के सम्बन्ध में शंकराचार्य ने एक प्रसिद्ध श्लोक उद्धृत किया – यदाप्नोति यदादत्ते यच्चान्र्त विषयानिह।

यच्चास्य सत्तो भावस्तस्यादात्मेक्ति कीर्त्यत।।

अर्थात् आत्मा जगत् के सारे पदार्थों में व्याप्त रहता है (आप्नोति), सारे पदार्थों को अपने में ग्रहण कर लेता है (आदत्ते), सारे पदार्थों का अनुभव करता है (अत्ति) और इसकी सत्ता निरन्तर बनी रहती है इसीलिए इसे आत्मा कहा जाता है।

---

[22] न: हयात्मागन्तुक: कस्यचित् स्वयं सिद्धत्वात् नहि आत्मन: प्रमाण पेक्ष्य सिहयति। .... आत्मातु प्रमाणादि व्यवहार श्रयत्वात्य गेव प्रमाणादि व्यवहारात्सिद्धयति। ...... सर्वदा वर्तमान स्वयावत्वात्। ब्रह्मसूत्र शंकरभाष्य 2/3/00

[23] आत्मनश्च प्रत्याख्यतुिमशक्यत्वात, य एवं निराकर्त्ता तस्यैवात्मस्वात्। ब्रह्म शांकर भाष्य 1;1;4

[24] ब्रह्म सूत्र 2/3/7 पर टीका पृ. 430

[25] प्रमाताच प्रमाणं च प्रमेयं प्रमितिस्त्तया। यस्य प्रसादात्सिद्धपन्ति तत्सिद्धो किमपक्षते।।

[26] य तो सिद्धि: प्रमाणानाम् स कथं तै: प्रसिहचति।

[27] सर्वो हि आत्मास्त्विं प्रत्येति, न नाहमस्मीति। यदि हि नात्मत्व प्रसिद्धि: स्पात् सर्वो लोको नाहयस्मीति प्रतीयात्। ब्रहम सूत्र शांकरभाष्य 1/1/1

[28] सर्व विकल्प गति प्रत्यक्ष मितत्वादात्यन: । कठोपनिषद् शांकरभाष्य 2/1/8

[29] विज्ञातारमरे केन विणानीयत्।

आत्मा ज्ञान स्वरूप

आत्मा ज्ञान का विषय नहीं अपितु ज्ञान स्वरूप है। चैतन्य ही इसका एक मात्र स्वरूप है। वह ज्ञाता भी बनता है किन्तु जब ज्ञेप रूप में वस्तु उपस्थित होती है। ज्ञेय के रहने पर ही आत्मा के ज्ञाता रूप का उदय होता है परन्तु उसके अभाव में आत्मा की सर्वदा ज्ञान रूपेण स्थिति है। उपाधियों से रहित आत्मा जब एक है तब उसका जाना जा सकना (संवेद्यता) न स्वयं उसके अपने द्वारा संभव है और न दूसरे के द्वारा। ज्ञान (संवेदना) उसका स्वरूप् है अत: यह संभव नहीं है कि वह किसी अन्य ज्ञान की अपेक्षा करे जिस प्रकार प्रकाश के लिए दूसरे प्रकाश की अपेक्षा करना संभव नहीं है।[30]

ज्ञान नित्य एवं अनित्य रूप से दो प्रकार का है। अभित्य ज्ञान अन्त: करणावच्छित वृत्ति मात्र है जो विषय सानिध्य होने पर उत्पन्न होता है पर वस्तु के अभाव में अविद्यमान रहता है। दूसरा शुद्ध ज्ञान इससे नितान्त भिन्न है वह सर्वथा एवं सदा विद्यमान रहता है।

दो हापी होती है – (1) नेत्र की अनित्य दृष्टि और (2) आत्मा की नित्य दृष्टि।[31] लोक में तिमिर रोग की उत्पत्ति से नेत्र दृष्टि नष्ट हो गयी और रोग के विनाश से नेत्रदृष्टि उतल हो गयी। इस प्रकार उत्पत्ति विनाशसील होने से नेत्र की दृष्टि का अनित्यत्व प्रसिद्ध है।[32] पर आत्मा दृष्टि की नित्यतातो लोक में प्रसिद्ध है। जिसके नेत्र विकास लिए गये हैं, वह पुरूष ऐसा कहता ही है कि – 'आज स्वप्न में मैंने अपने भाई को देखा था' जिसका बहरापन सबको ज्ञात है वह भी मैंने स्वप्न में मत्र सुना' इत्यादि कहता ही है।[33] यदि आत्म दृष्टि अनित्य होती तो अन्धा और बहरा व्यक्ति उच्च संवेदन को व्यत्तम नहीं करता। इसीलिए श्रुति कहती हैं – 'दृष्टा की दृष्टि का लोप नहीं होता[34] वह नेत्र है जिसके द्वारा पुरूष स्वप्न में देखता है।[35] अस्तु आत्मा की नित्य दृष्टि बाहय अनित्य दृष्टि को ग्रहण करने वाली है।[36]

एक ही ज्ञान कर्त्ता तथा कर्म से सम्बद्ध होने पर भिन्न सा प्रतीत होता है पर वह वास्तव में एक ही अमिन्न पदार्थ है। आत्मा आत्मानं जानाति[37] में कर्त्ता रूप आत्मा और कर्म रूप आत्मा एक ही सत्ता है।

आत्मा एक है।

शंकराचाग्र ने आत्मा को एक माना है और उसे ही ब्रह्म भी कहा है। आत्मा या ब्रह्म की अद्वैत सत्ता सिद्ध करने के लिए आचार्य ने श्रुति एवं तर्क दोनों का सुन्दर प्रयोग किया है।

कार्य सत्ता में कारण सत्ता सदा और सर्वथा अनुस्यूत रहती है। कार्य रूप घर पर क्षण के लिए भी अपने कारण रूप मृत्तिका का परित्याग नहीं करता। श्रुति कहती है – पहले संत ही था।[38] सत् से सम्पूर्ण जगत् निर्मित हुआ है। अस्तु जगत् के सारे पदार्थ सत् मूलक हैं स्थिति काल में भी और विनाश काल में भी सत् मूलक रहेंगे क्योंकि सत्ता सदा उसमें अनुस्यूत है। वे सदा सत् ब्रहम के अधिष्ठान पर आश्रित हैं।[39] नामरूप की जिन-जिन अवस्थाओं में विकृति होती है उन सब अवस्थाओं में यह विकृति आत्मरूप का

---

[30] नतु निरूपाधिकस्यात्मन: एकत्वे एवं सवेद्यता पर संवेद्यता वा संभवति संवेदन स्वरूपत्वात) संवेदनात्तर न च संभवति यथा प्रकाशस्य प्रकाशान्तरापेक्षयानं संभव: तद्वत्। केन उ. मा. 1/4

[31] द्वे दृष्टी चक्षुषो उमित्या दृष्टि र्नित्या चात्मन:। ऐतरेय उप. शांकरभाष्य 2/1 प्रस्तावना पृ. 867

[32] लोकेडपि प्रसिदं चक्षुषस्तिभिरोगभागपाययोर्नष्टा दृष्टिर्जाता दृष्टिरिति

[33] आत्मदृष्म् दीनां न नित्यत्व प्रसिद्ध मेव लोके वदति हि उद्धृतचक्षु: स्वप्नेडय भया भ्राता दृष्ट इति। तथावगत बाधिर्य: स्वप्ने श्रुतो मन्त्रोडद्यत्यदि। ऐतरेय उप. शांकर 2/1, प्रस्तावना, पृ. 867

[34] न हि द्रष्टु र्दृष्टे: विपरिलोपा विद्यतेर (वृ. उ. 4/3/23)

[35] 'तच्चक्षु पुरूषों येन स्वप्ने पश्यतिं – भाष्य में उद्धृत पृ. 868

[36] नित्या आत्मनो दृष्टिर्बाध्यानित्य दृष्टेग्राहिका। ऐतटय उप. शां. भा. 2/1 प्रस्तावना पृ. 868

[37] आत्मा आत्मा को जानती है। प्रथम आत्मा शब्द कर्त्ता है और द्वितीय आकाशन कर्म है।

[38] सदेव सौम्येदमात उनासीटके मेवादि तीयम्। वृ. उ. 6/2/1

[39] प्रजा: न केवलं सन्मूला एवं दूदानिमपि स्थितिकाले सदा मतना: सदाग्रया एवं। छा. उ. 6/4

परित्याग नहीं करती क्योंकि कारण सत्ता कार्य में सदा अनुस्थूल रहती हैं। जगत् की कलाएं चैतन्य से अभिन्न रहकर ही सर्वदा उत्पन्न स्थिति तथा लीन होती हैं।[40] जो पदार्थ जिस प्रकार जाना जाता है उसके ज्ञान के प्रकार भेद का कारण तो उपाधि है परन्तु उसमें ज्ञानत्व उस अव्यमिचार चैतन्य का है जो सारी उपाधियों के ओर में उनके अधिष्ठान रूप में सर्वत्र अनुस्थूत है।[41]

जाग्रत, स्वप्न, सुश्रुति एवं तुरीय अवस्थाओं में आत्म चैतन्य सदा विद्यमान रहता है। जाग्रत अवस्था में इन्द्रियों का विषय से संपर्क होने पर आत्मा में ज्ञान होता है स्वप्न अवस्था में इन्द्रिय एवं विषय का संपर्क नहीं होता, एक काचनिक जगत् आत्मा का विषय बनता है। सुषुत्ति (सोने) अवस्था में न तो जाग्रत के विषय होते हैं और न ही काव्यनिक अपितु विषय शून्यता की स्थिति है। बाहय एवं मानस दोनों प्रकार के विषयों के अभाव में अन्त:करण अपने कारण अविद्या में लीन हो जाता है। अन्त:करण के अभाव में भी आतमा सुषुत्ति में बनी रहती है क्योंकि अविद्या अभीनष्ट नहीं हुयी है। सुषुत्ति के पूर्व एवं पश्चात् के अनुभवों में एकता बनी रहती है जिससे सिद्ध है कि आत्म चेतना का प्रवाह सदा रहता है। यहां के बल आत्म चैतन्य रहता है विषय नहीं रहते। श्रेय का अवमासक ज्ञान प्रकाश के समान श्रेय की अभिव्यक्ति का कारण है। अत: प्रकाश्य वस्तुओं के अभाव में भी जिस प्रकार प्रकाश का अभाव नहीं माना जाता उसी प्रकार सुषुत्ति में वस्तुओं की प्रतीति न होने से विज्ञान (चैतन्य) का अभाव मानना ठीक नहीं है। सुषुत्ति में ज्ञति का अस्तित्व माना गया है।[42] तुरीय अवस्था शुद्ध चैतन्य की अवस्था है जिसमें कोई भी विषय नहीं होता। इससे यह सिद्ध होता है कि चेतना सभी अवस्थाओं में विद्यमान है और एक है। चेतना ही आत्मा का स्वरूप है।

आत्मा देश-काल से भी परिच्छिना नहीं होती। यहां वहां का भेद देशज है, भूत-वर्तमान और भविष्य की कल्पना काल के उपर आश्रित है। देश काल आत्मा के अतिरिक्त नहीं है। पूर्व पश्चिम आदि विभागों में विभक्त दिक एक हैं, पूर्व पर में वियक्त काल भी एक है उसी प्रकार भिन्न-भिन्न पदार्थो की सत्ता होने पर भी आत्मा की एकता बनी रहती है। वस्तुत देश काल मं होने वाले भेद काल्पनिक एवं माया के कार्य हैं। संपूर्ण देश काल और पुरूष आदि अवस्थाओं में जलादि में प्रतिविधित हुए सूर्य आदि के समान एक ही ज्ञान अनेक प्रकार से भासित हो रहा है।[43] सम्पूर्ण वस्तुओं का ज्ञान एवं श्रेय के रूप में विभाग किया जा सकता है जबकि प्रकाशक ज्ञान तो ज्ञान ही रहता है।[44] उपाधि रूप बुद्धि की जो शब्दादि प्रतीतियां हैं वे आत्म ज्ञान की विषयभूत होकर ही उत्पन्न होती हैं और आत्म विज्ञान से व्याप्त ही उत्पन्न होती हैं। सब अवस्थाओं के बीच आत्मा ही परमार्थ एवं एक मात्र सत्ता है। इस विश्व के भीतर देश काल से नियत्म भूत वर्तमान एवं भविष्यत् कोई वस्तु ऐसी नहीं है जो आत्मा से पृथक एवं भिन्न हो।[45] यदि कोई नाम रूप से व्याकृत होता है तो भी वह आत्म स्वरूप का परित्याग नहीं करता।[46] एकत्व सत्य है, नानात्व मिथ्या है। जो नानात्व देवता है वह मृत्यु को प्राप्त होता है।[47]

आत्मा और ब्रहम

शंकराचार्य के दर्शन में आत्मा और ब्रहम एक ही सत्ता के दो नाम हैं। उनके कुछ भाष्य एवं टीकाकारों के वाक्य इस सम्बन्ध में उत्जेखतीय हैं – अन्तर बाहय भाव से रहित यह आत्मा सबक अनुभव करने वाला

---

[40] चैतन्य व्यति रेकेण हि कला जायमाना स्थितनय: प्रतीयमानाश्च सर्वदा लक्ष्यन्ते। प्रश्न उप. 6/2 शांकर भाष्य

[41] सत्यानन्द: पाद टिप्पणी पृ. उ. 6/2

[42] सुषुत्रे विज्ञान भावानुपपत्ते:। शांकरभाष्य प्रश्नोपनिषद् 6/2

[43] सर्वदेशकाल पुरूषाािधवस्थामेक मेव ज्ञान नानारू पाढ़ा ने को पाधिमेदात् सवित्तदि जलादि प्रतिबिम्बवत् अनेकधावमासत। प्रश्नोपनि 'शांकरभाष्य 6/2 पृ. 431-432

[44] यदाहि सर्व श्रेय कस्यचित्तदा तद् व्यतिरिच्य ज्ञानमज्ञानेमेवेति। वही 6/2 पृ. 430

[45] नहि आव्यनो उन्यत् तद् प्रवियन्य देशकाल भूत भवत् भविष्यत् वा वस्तुविद्यते।।

[46] यदा नाम रूप व्यक्रियते तथा नाम रूप् पे आत्म स्वरूप परित्यागेनैव। शांकरभाष्य

[47] नेह नानात्रि किण्चन मृत्यो: स मृत्यु माजोति थ: इह नानेव पश्पति।। वृ. उ. 4/4/19

ब्रहम हैं,[48] वह आत्मा को सर्वोकृष्ट ब्रहम स्वरूप ही हैं,[49] अपनी आत्मा से अन्य कुछ भी नहीं है जो विदित और अविदित से पृथक् हो, अत: आत्मा ही ब्रहम हैं,[50] निर्विशेष आत्मा को ब्रहम जान[51] सबकी आत्मा होने से ब्रहम का अस्तित्व प्रसिद्ध है, आत्मा के अस्तित्व का अनुभव सबको होता है, मैं नहीं हूं, ऐसा ज्ञान किसी को नहीं होता है, यदि आत्मा का अस्तित्व प्रसिद्ध नहीं होता तो सब लोग 'मैं नहीं हूं' ऐसा अनुभव करते आत्मा ही ब्रहम है,[52] तद्वैतन्न पश्च भऋट षिवामदेव: इत्यादि श्रुतियां ब्रहम दर्शन एवं सर्वात्म भाव के बीच कार्यान्तर का विराकरण करती हैं,[53] सत्यानन्द अपनी टीका में एक स्थल पर लिखते हैं – तंत्वमनिं इस वाक्य .... तंत् शब्द से ब्रहम के सामान्य रूप ज्ञात होने पर उसके विशेष रूप से जिज्ञासा होती है कि – र्त्वम् पदार्थ आत्मा से थी ब्रहम प्रसिद्ध है जैसे 'अप आत्मा ब्रहम'[54]। पुन: सत्यानन्द श्री मामती को उद्धृत करते हैं – बुद्धि का कारण और वृहत होने से आत्मा ही ब्रहम कहा जाता है।[55]

उत्म संदर्भ इस बात के पर्याप्त प्रमाण हैं कि – शंकराचार्य 'आत्मा' और ब्रहम को एक ही मानते हैं। श्रुतियों का यही मन्तव्य भी है।

आत्मा एवं जीवात्मा

व्यवहार में शरीर तथा इन्द्रिय समूह के अध्यक्ष और कर्म फल मोच्मा आत्मा को ही जीव कहा जाता है।[56] यह अन्त:करणावच्छिन्त चैतन्य है। परमार्थ में आत्मा और जीवात्मा में कोई भेद नहीं है – जीवो ब्रहमैव नायर:। जब जीव को आत्म तत्त्व (ब्रहम तत्त्व) का बोध हो जाता है तो अविद्या के साथ ही तज्जन्य कर्म जाल भी नष्ट हो जाता है – क्षीयन्ते तस्य कर्माणि ताविन दृष्टि परावरे।[57] जीवत्व, कर्तृव्य, मोक्तृत्व आदि की मिथ्या कल्पनायें भी विलीन हो जाते हैं। वह ब्रहम (आत्मा) हो जाता है यह कथन भी उपचार माल है क्योंकि जीव तो सदा ही ब्रहम है जीवत्व तो अविद्या जनित भ्रान्ति है।

प्रश्न यह है कि उपाधि विशिष्ट क्लेश कर्मदिको में बद्ध जीव और शुद्ध, बुद्ध युत्य स्वभाव ब्रहम या आत्मा की एकता कैसे सिद्ध हो सकती है। वेदान्त का विचार है कि जब गुरू शिष्य को तत्त्वमति[58] का उपदेश देता है और शिष्य उसे आतम सात् कर लेता है तो जीव का ब्रहम और जीव की एकता का बोध हो जाता है और वह कहता है – 'अहं ब्रहमस्मि'[59]। 'तंत्' एवं 'त्वं' की एकता जहत् अजहत् लक्षणा द्वारा होती है। तत् का अर्थ है – सर्वज्ञ चेतन ब्रहम और त्वम् का अर्थ है – अल्पज्ञ चेतन जीव। यहां अल्पज्ञा एवं सर्वज्ञता दो आपस में विरूद्ध धर्म हैं। इन विरूद्ध धर्मों को छोड़ (जहत्) तथा चैतन्य को लेकर (अजहत्) लक्षणा द्वारा दोनों का ऐक्य होता है। दोनों चेतन हैं। नृसिंह सरस्वती कहते हैं कि – सत्ता रूप से जीव एवं ब्रहम (आत्मा) का भेद नहीं हो सकता क्योंकि सत्ता पूर्ण एक अखण्डित एवं व्यापक पदार्थ है।[60]

---

[48] अन्नतर बाध्य (वृहद् 2/5/19, 3/8/8) अयमात्मा ब्रहम सर्वानुयू: इत्यनुशासनम्। शां. भा. ऐतरेय 1/1/1

[49] निरतिशय ब्रहम स्वरूपां ध्यात्मा। केन उप. शांकरभाष्य (सम्बन्ध भाष्य)

[50] न हचेस्य स्वात्यनो विदिताविदिताम्यामन्यत्वं वस्तुत: संमवतीत्यात्माब्रहम। शां. भा. केन. उ. 1/3 पृ. 98

[51] आत्मानमेव निर्विशेष ब्रहम विद्विती। केन. उ. शां. मा. 1/4

[52] सर्वोध्यात्मात्रित्वं प्रत्येति ननाहमस्मीति .... आत्मा च ब्रहम। ब्र. स. शां. भा. ◌1/1/1

[53] तद्वैतत्पश्यन्तषिर्वामदेव .... ब्रहम दर्शन सर्वात्मभाष्यो मध्ये कर्तव्यान्तर (बारणयोदहार्यम्) शांकरभाष्य ब्र. सू. 1/1/4 एवं सत्यनन्दी दीपिका

[54] ब्र. सू. 1/1/1 पर सत्यानन्दी टीका पृ. 30

[55] वृहत्वाद् वृंहणत्वाद्वात्मैव ब्रहमेति गीयते (गायत्री) वही पृष्ठ 30

[56] अस्ति आत्मा जीवाख्य: शरीरेन्द्रिय पण्जराध्यक्ष: कर्म फल सम्बन्धी। ब्र. सू. शांकरभाष्य 1/3/17

[57] मिद्यते हदय ग्रन्थि श्छिपन्तें सर्व संशया:। क्षीपनो चास्य कर्माणि तास्मिन दृष्टे परावरे। मु. उ. 2/2/8

[58] छा. उ. 6/8/7

[59] बृ. उ. 1/4/10, ब्रहमवेद ब्रहमेव भवति (मु. 3/2/19 – ब्रहम को जानने वाला ब्रहम हो जाता है।

[60] न जीव ब्रहम यो भर्दे: सत्ता रूपेण विद्यते। सत्ता में देन मानं स्यात् इति वेदान्त डिय:।।

'जीव एवं आत्मा (ब्रहम) के सम्बन्ध को लेकर वेदान्तियों ने तीन अवधारणाएं प्रस्तुत की है जिन्हें क्रमशः प्रतिबिम्बवाद, अवच्छेदवाद तथा आभा संवाद कहा जाता है। ब्रहम का अविद्या में प्रतिबिम्ब ही जीव है जैसे – चन्द्रमा का जल में अनेक प्रतिबिम्ब पड़ना एकधा बहुधा चैव दृश्यते जल चन्द्रवत्। जल के स्वच्छ और मलिन के तात्पर्य से प्रतिबिम्ब में मलिनता आ जाती है किन्तु प्रतिबिम्ब के कल्पित होने से चन्द्र के स्वरूप पर और दूसरे प्रतिबिम्ब पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता है वैसे ही एक जीव का कर्मफल के साथ सम्बन्ध होने पर दूसरे जीव का सम्बन्ध नहीं होता। पर समस्या यह है कि प्रतिबिम्ब सदा सरकार बिम्ब का पड़ता है, निराकार का नहीं जबकि ब्रहम निराकार है। इस कठिनाई से बचने के लिए अवच्देस्वाद का सिद्धान्त दिया गया। माया के द्वारा विक्षेपित अविद्या अथवा अन्तःकरणावच्छिन्त जीव है। आत्मा दिक्के समान एक है। अखण्ड दिक् में हम कृत्रिम रूप से खण्ड की कल्पना कर लेते हैं। इसी प्रकार एक ही आत्मा अनेक रूप से दीख पड़ता है, किन्तु माया या अविद्या ब्रहम को परिच्छिन्त नहीं कर सकती। फिर शंकराचार्य ने आमासवाद से इसकी व्याख्या की। ब्रहम या आत्मा का अविद्या या अन्तःकरण में आभास जीव है। माया के सदसद निर्वचनीय होने से आभास जीव भी सदसद निर्वचनीय है, मिथ्या है। शंकराचार्य ने प्रसंग -2 पर प्रतिबिम्ब एवं अवच्छेद का दृष्टान्त दिया है पर अन्तिम रूप से आभासवाद में ही दोनों के सम्बन्ध की व्याख्या किया है। माया भ्रान्ति है अतः उसके आभासयी मिथ्या हैं। आभास ब्रहम के विवर्त है (अवास्तविक परिवर्तन) हैं जैसे अंधेरे में रज्जु में सर्व की प्रतीति होना। प्रकाश से रज्जु में सर्वत्व की भ्रान्ति निवृत्त हो जाती है वैसे ही आत्म ज्ञान / ब्रहम ज्ञान से आभासी जीव बनकर जीवत्व नष्ट हो जाता है, वह आत्म स्वरूप हो जाता है, उसे जगत् के मिथ्यात्व का भी बोध हो जाता है।

रामानुजाचार्य के वेदान्त में आत्मा का स्वरूप

रामानुज के वेदान्त दर्शन में ईश्वर चित् अचित् से विशिष्ट अद्वैत सत्ता है। चित्-अचित् उसके अंश, विशेषण एवं शेष हैं। ईश्वर अंशी, विशेष्य और शैषी है। चित् शब्द ज्ञानाश्रय आत्मा का बोधक है।[61] प्रत्यकरण, चेतनत्व, आत्मात्व, कर्तृव्य रूप लक्षण ईश्वर एवं जीव में समान रूप से घटित होते हैं किन्तु वह लक्षणयो जीव का ईश्वर से मिल रूपेण ज्ञान करता है, उसका अल्प परिमाण और शेष होना है।[62] प्रकृति अचित् से विलक्षण उसका गुण ज्ञातृत्व है। इस प्रकार जीवात्मा का विशेष लक्षण अणुत्व, शेषत्व एवं ज्ञातृत्व है जो इसे ईश्वर एवं अचित् से व्याकृत करता है।

रामानुजाचार्य के अनुसार चित् और अचित् दो पृथक् द्रव्य है तथा आपस में स्वतन्त्र हैं इनकी सापेक्षता मात्र ईश्वर के सम्बन्ध से है। इन दोनों की पृथकता इस बात का प्रमाण है कि जीव (आत्मा) प्रकृति के विकारों-देह, इन्द्रिय, मन बुद्धि एवं प्राण से भिन्न है।[63] ये सब जीव के प्रयोजन एवं नियाम्य हैं। जीवात्मा की देहादि से मिलता का एक परिणाम यह है कि – देव, मनुष्य, निर्यक आदि भेद सत्य होते हुए भी आत्मवाची नहीं है। इनका भेद आत्मा के स्तर पर नहीं अपितु आत्म सम्बन्ध शरीर के स्तर पर है।[64] आत्मा अलिड़ग है। स्त्री, पुमान, नपुंसक का भेद भी शरीरकृत है।[65]

अद्वैत मत में ज्ञान विषयाश्रय शून्य है, स्थिर है और वही आत्मा है, पर रामानुज मत में ज्ञान और आत्मा

---

[61] चित् इति आत्मोच्यते। तत्त्व त्रय पृ. 7

[62] प्रत्यक चेतनत्वात्मत्व कर्तृत्वादीति ईश्वर जीव साधारण लक्षणनि। यतीन्द्र मत दोशिका अष्टम अवतार

[63] शरीरादेहर्थान्तर भूत म्. देहेन्द्रिय मनः प्राणाधिम्यो इन्दय सिद्धि त्रय पृ. 8, य. म. दी. पृ. 103 सच देहेन्द्रियादिम्यो विलक्षणतया मतपन्वेदान्त कारिकावली।

[64] आत्म स्वरूपंतु देवादि देहविलक्षण ज्ञानैकाकारं (वेदार्थ संग्रह पृ. 263 (गीता भाष्य 18/23, श्रीभाष्य 1/1/1 पृ. 134

[65] स्त्रीपुम् नपुंसकत्वादि कमापि तस्यता दृश शरीर सम्बन्धकृतय् न तु स्वाभाविकम्। रंगरामानुज भाष्य श्वे. उ. 5/10

की एकता संभव नहीं है। आत्मा ज्ञाता है ज्ञान उसका स्वाभाविक एवं प्रधान गुण है।[66] आत्मा ज्ञान का कर्त्ता तथा स्थिर है। आत्मा की स्थिरता 'यह वही पदार्थ है जिसकी मैंने पहले अनुभूति की थी' वाक्य से सिद्ध है। श्रुतियां एवं स्मृतियां आत्मा को ज्ञाता कहती हैं।[67] स्वयं वादरायण ने भी 'आत्मा श्रुते: सूत्र से 'ज्ञो द्वत एवं' सूत्र तक आत्मा के ज्ञातृत्व का वर्णन किया है। अस्तु आत्मा ज्ञाता है यह श्रुति सम्मत सिद्धान्त है।

आत्मा अणु परिमाण – जीवात्मा का शरीर नेत्र, मूर्धा एवं शरीर के अन्य स्थानों से निष्क्रमण,[68] इस लोक से प्रमाण के बाद चन्द्र लोक के गमन[69] तथा कर्म करने हेतु पुन: मृत्युलोक आगमन[70] आदि का श्रुतियों में प्रतिपादन होने से जीवात्मा अणु है क्योंकि विभुमानने पर उत्क्रान्ति आदि संभव नहीं है।[71] विमु आत्मा के सर्वव्यापक होने से गति अगति भी किसी तरह संभव नहीं है।[72] श्वेताश्वर उपनिषद में सौभागों में विमच्य किये बालका पुन: सौभाग किया जाय तो एक अति भाग के बराबर आत्मा का परिमाण बताया गया है।[73] एक अन्य मन्त्र में आरे की नोक के बराबर परिमाण बताया गया है।[74] वृहद् आरण्य उपनिषद् में आत्मा की छद देश में स्थित बतायी गयी है,[75] यही बात प्रश्नोपनिषद्[76] एवं गीता[77] में कही गयी है। इस सिद्ध होता है कि श्रुति स्मृति सम्स्त सिद्धान्त है कि आत्मा अधु परिमाण है। श्रुतियों में जो आत्मा के विभुत्व का वर्णन है उसका तात्पर्य परिशुद्ध जीवात्मा को ज्ञान दूसरे व्यापक बताना है।

आत्मा ईश्वर का अंश एवं शेष है – श्रुतियों में भेद और अभेद दोनों वाक्य प्राप्त होते है।

इसकी व्यावहारिकता की सिद्धि के लिए तथा शास्त्र मर्यादा हेतु जीव को ब्रहम का अंश स्वीकार करना होगा[78] 'पादोडस्य किरवामूतानि,[79] 'ममैवांशो श्री वल्नो के जीव भूत, सनातन:[80] आदि श्रुति स्मृति वचन जीव कोई ईश्वर का अंश बतला रहे है। जीव ईश्वर का अंश उस रूप में है जिस रूप में प्रकाश प्रकाशवान आदित्य का। दो पदार्थों में जहां विशेषक विशेषय भाव होता है वहां विशेषण अंश तथा विशेष्य अंशी कहा जाता है। जैसे सूर्य का प्रकाश शुद्धअशुद्ध सब - नों पर पड़ता है फिर भी सूर्य उससे निर्विदा नहीं होता उसी प्रकार जीवोंके कर्स्थाममल ईश्वर हिंसा नहीं होता। प्रभा से प्रभावान की भिन्नता की भांति अंश जीव भी परमात्मा से भिन्न है।[81] अभेद का अर्थ इस अर्थ में है कि प्रकाश प्रकाशवान से भिन्न नहीं, वैसे जीव भी परमात्मा से

---

[66] श्री भाष्य 2/3/29

[67] विज्ञातारमरे केन विजानीयात् (वृ. उ. 2/4/14, एतद् योवेत्ति तं प्राहु: क्षेत्रत्। गीता 3/2

[68] वृ. उ. 4/4/2,

[69] कौषित उप. 1/9, गीता 15/8

[70] वृ. उ. 4/4/16

[71] अणुश्चायं पूर्वबदुत्क्रान्त्यादि श्रवजात्। श्री भा. 2/4/12, गीता भाष्य 15/8, यतीनमतदीपिका पृ. 104, तत्त्वत्रय 31 पृ.

[72] श्री भाष्य 2/3/21

[73] वालाग्रशतभागस्य शतधा कच्तिय च। भागोजीव: सविज्ञेय: सचानन्ताय कल्यते। श्वतो. 5/9

[74] आरागत मात्रो हथपरोडपि दृष्ट:। श्वेताश्वतर उप. 5/8

[75] वृ. उ. 4/3/7,

[76] प्रश्नोपनिषद् 3/6

[77] गीता 18/61

[78] अत उभय व्यामदेशोयवन्तये जीवो दयं ब्रहमणे दश .श्री भा :2/3/42, वेदान्त दीप एवं वेदान्त सार 1/1/2

[79] ऋ .10/90/3 सम्पूर्ण विश्व पुरूष का एक पार मात्र है।

[80] जीव लोक मेरा ही अंश है गीता 15/3

[81] प्रकाशादिवत् तुनैवं परब्रगसूत्र :

भिन्न नहीं है। स्वतन्त्र रूप से असमर्थ विशेषणों की विशेष्य परतन्त्रता का द्योतक अभेद है।[82]

शरीर आत्मा का शेष है उससे पृथक रहकर क्षण भर भी अविकृत नहीं रह सकता[83] जीव भी परमात्मा का शेष है उसका अस्तित्व परमात्मा पर निर्भर है। शेष का अर्थ है अपने से भिन्न परमात्मा का अतिशय आधान होता।[84] लोकाचार्य नेन्वन्दन कुसुम ताम्बूलादि की तरह मयेष्ट विनियोग की योग्यता ही शेषत्व माना है।[85] जीव परमात्मा का लालोपकरण मात्र है इसलिए शेष है।[86]

आत्मा चक्षुरेन्द्रिय आदि ज्ञानेन्द्रियों का अविपय होने से अव्यक्त है।[87] वह अपने से इतर घटादि वस्तुओं से भिन्न स्वभाव है। अत न होनो से अचित्रय है। वह न योग्यभाविक रूप से चिन्तस्वा : व है।अवयव रहित अणु होने से निरव्य[88] रिवयव आत्मा प्रकृति से विसजातीय होने से निर्विकार है।[89] आत्मा की त्रैकालिक विद्यमानताही उसका नित्यत्व है।[90] आत्मा की नित्यता शास्त्र वर्णित है।[91] आत्मा जन्म मृत्यु से परे अविनाशी है।[92]

आत्मा की अनेकता

रामानुजाचार्य जीवात्मा की अनेकता में विश्वास करते हैं। प्रति शरीर भिन्न होने आत्मा अनेक है।[93] नित्यो त्यिानाम् एको बहूनां योविद घातिकामान्[94], नत्वे वाहं जातुनासं न त्वं नेमे जनधिया:[95] आदि श्रुति स्मृति वाक्य आत्मा की अनेकता प्रमाणित करते है। आत्मा के 3 बद्ध –प्रकार है , युक्त और नित्य।[96]

बद्ध जीव – निर्विकार, निकृष्ट गुणों से निर्लिप्त आत्मा जब कर्म रूपा अविद्या से वेष्टित हो प्रकृति संसार्र युक्त हो।[97] संसार में सं सरण करता है तो उसकी संज्ञा वह जीव होती है।[98] इस अवस्था में वह ब्रहमादि स्तम्ब पर्यन्त विविधविचित्र देहों में प्रविष्ट होकर उनके अनुरूप ज्ञान संकोच को प्राप्त कर आत्मा का अभिभाव करने लगता है।[99] वह संकुचित ज्ञान वाला संसारके तापत्रय रूपी कलेश कर्म विपाक करण वाला :तथा उसकी वासना से दूषित अन्त (परिणयम)

---

[82] श्रीभाष्य ।2

[83] श्रीभाष्य 7/1/3, गीता भाष्यम 4/6, मुण्डक उ .2/1/3

[84] वेदार्थ संग्रह पृ .2/8

[85] तत्त्वत्रय पृ .34

[86] पतिं विश्वस्यात्मेश्वरम्। महानारायण 340

[87] आचिन्यम् नाम सजातीयता चिन्तार्हत्वम्। तत्त्वत्रय या पृ.

[88] तत्त्वत्रय पृ .43

[89] गीता 2/ एवं रामानुजसाधम 25

[90] श्रीभाष्य 1/1/ .पृ 141

[91] श्वेताश्वर उप .6/3, गीता 2/20, रामानुज शास्त्र

[92] कर उ .1/2/13, श्ले .1/19 गीता 9/20,13 /19,2 /27,2 /19,2 /21,2 /18,2 / 12

[93] प्रति शरीर भिन्नस्वात्। श्रीभाष्य 2/3/48

[94] कठोपनिषद न .2/13

[95] गीता 2/12

[96] तस्मात् .... जिव्यात्त। वेदान्त दीप अवतार

[97] भागवत 1/9/5

[98] संसारिका बहा इत्युच्यन्ते। पृ .90

[99] वेदार्थ संग्रह

ख का अनुभव करता है।:रूप सुख दुबनकर अपने किये हुये कर्मो के परिणाम स्व[100]

बद्ध जीवों के संसार रहता है। चक्र का अनादि प्रवाह चसता :[101] जब तक कि वह ईश्वर की अनुकम्पा से मुक्त नहीं हो जाता।

बद्ध जीवों का भेद उनके कर्म द्वारा प्राप्त शरीर के आधार पर किया जाता है। रामानुज ने सुर, नर तीर्थक् एवं स्थावर रूप् से जीवों का चार प्रकार से शरीर ग्रहण बताया है।[102] उन्होंने मुमुक्ष के लिए ब्रहम आदि देवों को अनुपास्य बताया है। (नहींउपासना योग्य)[103] बद्ध जीवों के कई प्रकार अन्य भी अवान्तर भेद विशिष्टा द्वैत दर्शन में है।[104]

मुक्त जीव प्रकृति सम्बन्ध प्रध्वंसाभाव होने के फल स्वरूप अपदतपाप्यादि गुणों के आविर्भाव जिस जीवात्मा में हो जाता है उन्हें मुक्त जीव कहा जाता है।[105] मुक्त जीव वैकुण्ठ लोक में भगवत् जैसा शरीर धारणकर भगवान का साक्षात्कार करता है उसके आनन्दादिगुण पुनआविर्मूत होते हैं।:[106] वह अपहत् पाप्मा आदि से वर्णित अपने स्वरूप से प्रकाश मान होता है।[107] मुक्य जीव ईश्वर के समान भोग करता है केवल सृष्टि व्यापार उसके हाथ में नहीं होता, वह परमात्मा का ही कार्य है।[108]

नित्य युक्त जीव थी जीवों की सत्ता नित्य जीवोंके अतिरिक्तरामानुज बद्ध और मुक्त – कार करते हैं।स्वी[109] इनकी संख्या अनेक है। इनमें रोष, गरूड़, विश्वकसेन आदि प्रमुख है।[110] ये भगवान की सदा सेवा करते हैं और नित्य स्वभाव से रहते हैं। उनके ज्ञान में सदा पूर्णता रहती है। 'तद्विष्णों जन सदा देखा करते हैं के परम पद को नित्यउस विष्णु :न्ति सूरयपरम पद सदा पश्य :, यह श्रुत्ति वचन इस बात का प्रमाण है कि कुछ नित्यजन बैकुण्ठत्नोक में रहते हैं।[111]

मध्व वेदान्त में आत्मा

मध्याचार्य वायुके अवतार माने जाते हैं। इनके सम्प्रदाय का नाम ब्रहम सम्प्रदाय है। इन्होंने प्रस्थानमयी भाष्य सहित की रचना की है। इनका दार्शनिक मत द्वैतवाद कहलाता हैग्रन्थों 37। ये शंकराचार्य के अद्वैत मत के परम विरोधी हैं। अद्वैतवादियों को ये मामिरा नव कहते हैं जो अज्ञानान्धकार में उछल कूछ मचाते हैं पर तर्कागम युक्त द्वैत सूर्य के उदय होने पर भाग जाते हैं।[112] इनका द्वैतवाद उग्रद्वैतवाद है। इनके अनुसार)1र मेंजीव और ईश्व (,) 2(ईश्वर एवं जड़ में,) 3 में एंव जीवात्माजीवात्मा (,) 4) जड़ और जड़ में और (5 भेद हैष्टजीव एवं जड़ में स्प (,

---

100 अनीशय। शौचाति मुध्यमाण। श्वेता .4/7

101 कर्म प्रवाहं हेतुक चतुर्विध देव प्रवेशकृत। वेदार्थ संसार पृ .

102 कर्म प्रवाह हेतुक ब्रहमादि सुरनर तीर्थक्र स्थाव राज्यक चतुर्विध देव प्रवेश। वेदार्थ संग्रह पृ .7

103 गीता 7/रामानुजभाष्य 23

104 यतीन्द्रमतदीपिका पृ .111-116

105 नारायणोपनिषद् उस पर रंग रामानुज भाष्य

106 स्चेन रूपेणभिनिषद द्यन्ते। छा .8/12/2 रंग रामानुज भाष्य

107 स्वामाविरत्वे सर्वादा पलभ्य गुणा ...

108 सृष्टि व्यापार वर्ज्यम् भोगमात्र साम्पण्। ब्र .सू .

109 वेदान्तदीप – अवतरण

110 शेषरीषाशन प्रमुखनाना विद्यानानत्तपरिजना। शरणागत गद्य 5

111 वेदार्थ संग्रह पृ .234

112 पलायध्वंपलायछवं त्वरमामयिरानवा । सर्वज्ञोहरिरायाति तर्कागमदर्शान भ्रत:तत्त्व .ोयोत पृ245

द्वैत है।[113]

अध्वाकचार्य के अनुसार श्रुतियों का तात्पइर्य ईश्वषर एवं आत्माटके द्वैत में है। वे मुण्डैक उपनिषद् का उदाहरण देते हैं जिसमें कहा गया है – शरीर रूपी वृक्ष पर दो पक्षी संख्याम के रूप में रहते हैं। जीव रूप पक्षी शरीर वृक्ष के सुखाहु फल का भोग करता है और इस पर पक्षी ईश्व्र भोग नहीं करता के बल, देखता रहता है।[114] इस श्रुति से स्पिष्ट है कि जीव मोत्मा है, ईश्वतर द्रष्टाभ है। श्वेयतारवर उपनिषद् में भी जीवात्माद और उसके प्रेरक ईश्वर में स्पसष्टज भेद है।[115] जीवात्मा अज्ञान, मोह, दु होकर संसरणशील होता है। मुक्ति योग्यख मपादि से युक्त:, नित्य संसारी और तमोयोग्य भेद से जीव तीन प्रकार के हैं। देव, ऋषि, पितृ चक्रवर्तीसम्राट, तथा उत्तम मनुष्य ही मुक्ति योग्य होते हैं। नित्य संसारी जीव मध्यम कोटि के है[116] अपने कर्मानुसार उंच-नीच गित को प्राप्त कर भू लोक से रचित लोक तक विचरण करते हैं। ये कभी मुच्मि नहीं पाते। दैत्य, राक्षस, पिशाच और अधम मनुष्य तमो योग्य हैं। प्रत्येक जीवात्मा का अपना पृथक अस्तित्व होता है। यह पृथकता युक्तावास्था में भी विद्यमान रहती है।[117] मुक्त पुरूष आनन्द का अनुभव करता है पर उनमें ज्ञानादि गुणों की तरह आनन्द में भी तात्पय है।[118] युक्तावस्था में जीव परम साभ्य को प्राप्त कर लेता है।[119] यहां तारतम्य चैतर्न्याश को लेकर है। समस्त गुणों पर दृष्टिपात करने पर दोनों का पृथकत्व प्रमाण सिद्ध है।

द्वैतवारी मध्यम के लिए 'तत्त्व मति', 'अयमात्माज ब्रहम' एकमेवाद्वितीयम् आदि श्रुति वचनों का अर्थ अद्वैत में नहीं द्वैत में है। तत्त्वव मासिक वास्ताविक अर्थ है त्वंतदीम:आनि अर्थात हे जीव तुम उस परमात्माव के हो। 'अपमात्माव ब्रहम'का अर्थ है यह जो सर्वत्र व्यानप्त है, वह ब्रहम है। 'एकमेवाद्वितीयम् का अर्थ है – कि ब्रहम विश्वस व्याहपक है। मध्यै कमी भी द्वैत का परित्या ग नहीं करती। उनके मत में ईश्व र और जीव कर स्पकष्ट् भेद है।[120] जीव श्रद्धा यच्छि से ईश्वर की उपासना कर मोक्ष प्राप्त कर सकता है।

निम्वार्काचार्य के वेदान्त में आत्मा

निम्वाशर्क सम्प्र दाय को वैष्णभव मत का सनक सम्प्रैदाय कहा जाता है तथा निम्वा र्क को सुदर्शन का अवतार माना जाता है। रात्रि में नीप (निम्बव) के पेड़ पर सूर्य का दर्शन करा देने से इनका नाम निम्वार्क (अभि=सूर्य) पड़ा। ये तैत्नंरग ब्राह्मण थे। इनका दर्शन भेदाभेद या द्वैताद्वैत नाम से प्रसिद्ध है। निम्वार्क के अनुसार यदि विश्वू ईश्व र से सर्वथा भिन्नग होता तो वह जगत् ईश्वगर की सत्तात को सीमित कर देता और ईश्वरर से नियाम्प नहीं होता और यदि सर्वथा अभिन्नव होता तो ईश्व र में विश्वक की अपूर्णता अपरिहार्य हो जाती। अस्तु ब्रह्म भेद होते हुए भी अभेद स्ववरूप है। स्व्यं ब्रहम चित् एवं अचित् में परिणाम किया है। जिस प्रकार मकड़ी अपने में से जाला बनाती है उसके बाद भी उससे स्व तन्त्रा रहती है इसी तरह ब्रहम भी

---

113 जीवेशयोर्मिदा चैव जीवभेद जड़ श्रीवमिदा तथा।।रम्। जडेशर्माजर्डानाण्चपरस्प : महाभारत तात्पनि निर्णय 1/69-70

114 हासुपर्णा सभुजा सखाया समानं वृक्षेपरिषद् स्वजाते।

115 पृथगात्मानं प्रेरितांरच मत्वा र उपनिषद्ताश्वश्वे ....

116 मध्यमा मानुषाभेद स्मृति योग्या र्य निर्मतसदैव हि। भागवततात्प :

117 मानुसादि विभिण्चान्तं तारतम्यं विमुक्ति गय्। ईश्वरदृष्टा भाष्य

118 तारतम्येन ितपात्ति गुणैशनन्दपूर्व मै त भाष्य। गीता मध्य:

119 निरण्जन .उ .मुपैति। मुपरमं साम्य :3/1/3

120 मिन्ना जीवा .सू .। ब्र:परोभिन्न :2/3/9 मध्व भाष्य।

असंख्यी जीव एवं जड़ में परिणामित होकर भी अपनी पूर्णता एवं शुद्धता बनाये रखता है। जीव के सभी व्या पार एवं आस्तित्वक भी ब्रहम पर इस अर्थ में अवलम्बित है कि ब्रहम सभी का उपादान और निमित कारण है।[121]

रामानुज की तरह निम्बार्क यह तो मानते हैं कि चित्, अचित् एवं ईश्वर तीन तत्त्व हैं। पर चित् अचित् को ईश्वर का विशेषज्ञ मानने की जगह ईश्वर की शक्ति मानते हैं। विशेषण की उपयोगिता वहीं होती है जहां अन्य तत्त्व हों पर ईश्वर से मिल सजातीयएवं विजातीय तत्त्व के अभाव में चिदचिद् विशेषण ईश्वर को न तो किसी से मिल बता सकते हैं और न ही उसके स्वरूप को प्रकाशित कर सकते हैं। ईश्वर एवं चिदचिद् में शरीर शरीर सम्बन्ध भी नहीं है। शरीर मानने पर विश्व की अपूर्णता का दोष ईश्वर पर होगा। चिदचित् ईश्वर के न तो विशेषण हैं और न ही शरीर बल्कि शक्ति रूप अंश है।[122]

चित्, जीव या आत्मा एक साथ ज्ञान स्वरूप भी है और ज्ञान का आश्रय भी है। शुद्ध चैतन्य जीव का स्वरूप है। आज्ञा ज्ञाता, कर्त्ता और भोला है। वह नित्य चेतन द्रव्य है। नित्य होकर भी वह ईश्वर पर सर्वदा आश्रित और उससे नियाम्य है। आत्मा परिमाण में अणु और संख्या में अनेक है।[123]

अविद्या एवं कर्म के कारण जीवात्मा शरीर युक्त होकर जरा-मरण के चक्र में संसारण करता है। सांसारिक दशा में वह ईश्वरधीन है ही मोक्ष की दशा में भी वह ईश्वराधीन एवं तत् नियम्प है। ईश्वर निश्छल मत्मि से प्रसन्न रहते है। निश्छल यत्मि के फलस्वरूप ईश्वर अपनी कृपासे जीव को अपने स्वरूप का ज्ञान प्रदान करता है।

जीव के भेद – जीव दो प्रकार के हैं – बद्ध जीव और मुन्य जीव। जो सांसारिक वचनों में बंधे है जो बद्ध जीव है जो इनके मुन्यप है हमे स्व रूपका आनन्दय लेते हैं मुत्य जीव है। बद्ध जीव दो प्रकार के हैं बुभुक्षु और मुमुक्षा। वायुक्षु जीव विसमानन्दप में लिप्ते रहता है और उसी की कामना करता है। मुमुक्षु जीव मुक्ति की कामना करता है तथा उसके लिए प्रयास करता है। मुक्तप जीव दो प्रकार के हैं नित्युयुक्तन एवं युक्तल। नित्यु|मुरू जीव गर्भ, जन्मक, जरा, मरण आदि प्राकृत दु:खों के अनुभव से शून्यन होते हैं और नित्यह भगवान दर्शन करते हुए भजनानन्दु में मस्तऔ रहे हैं। विश्व, सेन तथा गरूड़ आदि भगवानके पार्षद आदि नित्युहमुक्तग हैं। ये कभी बन्धदन में पड़े ही नहीं। अविद्या से उत्पदन्नर दु:ख के अनुभव रहित जीव युत्मन जीव हैं।

1.4 सारांश

प्रारम्भ में वेदान्त शब्द से उपनिषदों का बोध होता था। कालान्तर में उपनिषदों के आधार पर जिन विचारों का विकास हुआ उनके लिए भी वेदान्त शब्द का प्रयोग होने लगा। उपनिषद् वाक्यों में एक रूपता लाने के लिए महर्षि वादरायण ने ब्रह्म सूत्र लिखा। गीता भी उपनिषद् जैसा महत्व रखती है, उपनिषद् गीता एवं ब्रह्म सूत्र वेदान्त के प्रस्थानतयी है। आचार्यों ने इन पर भाष्यकर अपने-अपने साम्प्रदायिक मतों को पुष्ट करने का काम किया है। कुछ आचार्यों तीनों

[121] ब्रहमसूत्र 1/1/ पारिजात पर्ककृत वेदान्तनिम्बा 142र श्री निवास कृत सौरम टीका।

[122] अंशो हि शक्ति रूपेण ग्राहया:

[123] ज्ञानस्वरूपं च हरेरधीनं शरीर संयोग वियोगयोग्यम्।

पर कुछ ने दो पर तो कुछ ने केवल ब्रहम सूत्र पर ही भाष्य किया है, किन्तु सभी का यह दावा है कि मेरा मत श्रुति उपनिषद मूलक है। –

ब्रह्म सूत्रकार दस्ता ...... आचार्यों ने भाष्य किया है। वादरायण ने भी अपने ब्रह्मसूत्र में अनेक आचार्यों का नामोल्लेख किया है। भाष्यकारों में शंकराचार्य का नाम सर्वोपीठ शंकराचार्य के पूर्व गौड़पाद ने माण्डूक्य कारिका लिखकर अजातिवाद का सिद्धान्त दिया। शंकराचार्य के बाद रामानुजाचार्य का सम्प्रदाय साहित्य एवं संस्कार की दृष्टि से अधिक समृद्ध है। कुछ प्रमुख आचार्यों के दृष्टि में आत्मतत्त्व का विवेचन इस इकाई का प्रतिपाद्य है।

गौड़पादाचार्य ने ब्रह्म और आत्मान को एक माना है, यह नित्यत, विशुद्ध, चैतन्यर स्व रूप है, नित्यो विज्ञान स्व्रूप और नित्य अखण्डक आनन्द् स्व्रूप है। यह अतोन्द्रिय, बुद्धि विकल्पानतीत या निर्षिकल्चव अनिर्वचनीय अवाड़्मनोगोचर और अपरो आनुभूति है। यह अधिकारी, अपरिमायी और कूटस्थच नित्यव है। आत्माऔ एक है, तुरीय है, अद्वैत रूप है। यह समस्तप ज्ञान का अधिष्ठान, स्वकत: सिद्ध तथा स्वभत: प्रकाश है। यह आत्मै तत्त्वर ही अपनी माया शक्ति से विभिन्न पदार्थो एवं चेतन जीवों में मासित होता है। इसकी वास्तऔविक उत्पात्ति नहीं होती। सब कुछ प्रतीति से मात्र है, भ्रान्ति है ज्ञान की प्राप्ति होने पर अद्वैत आत्मार तत्त्वह का बोध होता है और सम्पू र्ण जगत् की निवृत्ति हो जाती है।

शंकराचार्य के अनुसार 'आत्मा और ब्रहम एक सत्ता के दो नाम है। श्रुति एवं तर्क दोनों का निष्कर्ष यही है कि एक ही सत्ता है जिसे ब्रह्म या आत्मा कहा जाता है। इनके अनुसार आत्मा निर्षिकार, निखयव, निराकार, निरूपापिक सत्ता है जो स्वयं सिद्ध एवं स्व प्रकाश है। आत्मा ज्ञान विषय नहीं अपितु ज्ञानाप्रद है। उसके प्रकाश के लिए किसी अन्य ज्ञान की आवश्यकता नहीं है। सूर्य को दीपक से नहीं देख जाता। आत्मा उत्पत्ति विनाश रहित नित्य एवं विमु है। इसकी दृष्टि भी नित्य है। यह एक है। अनेकता अध्याय का फल है। जाग्रत स्वप्न एवं श्रुति इन तीनों का वहीं अधिष्ठान है। वह तुरीय है।

रामानुजाचार्य के मत में ईश्वकर एक है किन्तुत चित् अचित विशेषण विशिष्ट् है (विशिष्ट्ता)। चित अचित ईश्व र के विशेषण अंश एवं शेष हैं। इनकी सत्ताि वास्त विक में किन्तुं ये ईश्वशर से पृथक रहकर क्षण भर भी आतियन में नहीं रह सकते। आत्माइ किसी ज्ञानेन्द्रिय का विषय न होने से अव्यकक्त , इता घटादि वस्तुसओं से मिल स्विरूप होने से अचिच्जै है। वह नित्यप, निखयन एवं अणु परिमाण वाला है। प्रकृति से भिन्न होने से निर्विकार है। संस्कावर दृष्टि से अनेक है। वह, मुत्र एवं नित्यण आत्माक के प्रकार हैं। ईश्व र की रूपा से नव आत्माक के प्रकृति संबंध का प्रघ्व साभाव होने पर जीव के स्वातभाविक गुणोंका आविर्भाव होता है और वह भगवान् जैसा रूप धारणकर वैकुण्ठ में निवास करता है।

मध्वाचार्य अद्वैत के प्रबल विरोधी है। उनका मत द्वैतवाद है। वे मानते हैं कि आत्मा और परमात्मा तत्त्व से जीव नि हैं पर परमात्माभिन्न :यम्य है। मुक्तियों में, नित्यसंसारी और तमोयोग्यत भेद से जीव तीन प्रकार के हैं। ईश्वर राघना का जीव ईश्वर कृपा प्राप्त कर मुक्त होता है।

निम्वारकार्यचार्य द्वैताद्वैत यज्ञ के प्रवर्तक हैं। इनका मानना है कि – आत्मा् और ईश्वनरमें द्वैताद्वैत सम्बवन्धर ह। मकड़ी जाला बनाती है (स्वीयं से) उसके बाद भी उससे स्वतन्त्रक रहती है। इसी प्रकार ब्रह्म् भी असखं्य जीव एवं जड़ में परिमाणित होकर भी अपनी पूर्णता एवं शुद्धता बनाये

रखता है। निम्वाअर्क का मानना है कि – चित् (आत्माभ) और अचित् ईश्वतर के शरीर या विशेषण न हकर शक्ति रूप अंश हैं।

आत्मा ज्ञान स्वरूप है और ज्ञान का आश्रय भी। शुद्ध चेतन्य जीव का स्वरूप है। आत्मा ज्ञाता, कर्त्ता, मोच्मा और नित्य चेतन द्रव्य है। नित्य होकर भी वह सदा ईश्वर पर अस्तित्व उसके निपाम्य है। आत्मा परिमाण में अणु एवं संख्या में अनेक है। अचित एवं कर्म के कारण जीवात्मा शरीर युक्त होकर जरा मरण के चक्रमें संसरण करता है। सांसारिक दशा में वह ईश्वरधीन है, नियम्य है। ईश्वर निश्चित् भक्ति से प्रसन्न होकर अपनी कृपा से जीव को मोक्ष प्रदान करते हैं। जीव मोक्षावस्थामेयी ईश्वराधीन एवं तत् नियम्य है।

1.5 पारिभाषिक शब्दावली

सत्	-	त्रिकाल में अबाधित यन्त्र
अध्याय	-	की प्रतीति होना नहीं है उसमें उस वस्तुजिसमें जो वस्तु
विवर्तवाद	-	विक परिवर्तनअवास्त
परिणामवाद	-	विक परिवर्तनवास्त
निमित कारण	-	निर्मातावस्तु
उपादान कारण	-	निर्माणसामग्री
विश्वव्यापक	-	के कणविश्व-कण में व्याप्त
विश्वातीत	-	विश्व के परे रहना
विक्षेप	-	एं दिखाना में दूसरी वस्तुवस्तु
नियाम्य	-	नियन्त्रित होना
आश्रित	-	किसी के अधीन होना

1.6 सन्दर्भ ग्रन्थ

1. क्लासिकल इण्डियन फिलासॉफी ऑफ माइण्ड, किशोरकुमार चक्रवर्ती, मोतीलाल बनारसीदास
2. न्याय–दर्शन, फणिन्द्रनाथ तर्क वागीश, सम्पादक– अम्बिकादत्त शर्मा तथा प्रो. सच्चिदानन्द मिश्र
3. वैशेषिक दर्शन, डॉ. शशि प्रभा कुमार
4. भारतीय दर्शन, डा. राधाकृष्णन, राजपाल एण्ड सन्ज़, नई दिल्ली, 2016

1.7 बोध प्रश्नों के उत्तर

बृहद् उत्तकरीय प्रश्न

1) शंकराचार्य के दर्शन में आत्माव क्या् स्वंरूप है।
2) गौड़पादाचार्य के आत्मां सम्बन्धीर विचार की व्या ख्या कीजिए।

3) रामानुज के विशिष्टा् द्वैत सिद्धान्त् में चित् के स्वीरूप की व्याख्या कीजिए।

4) मध्वाचार्य के दर्शन में आत्मा और ईश्वचर के सम्बान्धव को स्पयष्टी कीजिए।

5) निम्वाजर्काचार्य के द्वैताद्वैतमें आत्मा की क्या स्थिति है?

लघु उत्तनरीय प्रश्ना

1) रामानुज वेदान्तर में चित् अचित् का ईश्वेर से क्या सम्बधन्धत है।

2) मध्याचार्य के मत से आत्मा की ईश्व र से स्वातन्त्रध स्थिति किस प्रकार है?

3) निम्वाजर्क के मत का द्वैताद्वैतवाद क्योंश कहा जाता है।

4) संक्षिप्ते टिप्प णी लिखिए:

   क) अजातिवाद

   ख) विवर्तवाद

   ग) परिणामवाद

   घ) अवच्छेवदवाद

   ङ) प्रतिबिम्बदवाद

   च) अध्या्य

इकाई 2 न्यायवैशेषिक में आत्म विषयक वर्णन

इकाई की रूपरेखा

2.0 उद्देश्य

प्रस्तुत ईकाई को पढ़ने के बाद आप–

- न्याय–वैशेषिक दर्शन में आत्म–विषयक मत को समझ सकेंगे।
- मनुष्य के व्यक्तित्त्व निर्माण सम्बन्धी मत को समझ सकेंगे।
- व्यक्तित्त्व निर्माण में आत्म की भूमिका को समझ सकेंगे।
- भारतीय दर्शन के अनुसार व्यक्तित्त्व निर्माण सम्बन्धी प्रश्नों का विश्लेषण लिख सकेंगे।

2.1 प्रस्तावना

जो अचेतन (जड़ पदार्थ) को जानता है, वह अचेतन है। हम सबमें कोई अपने अस्तित्त्व को स्वीकृति नही कर सकता। सभी व्यक्ति अपने अस्तित्त्व को मैं, मेरा शब्द से व्यवहार में लाते हैं। इस सन्दर्भ में यह विचारणीय हो जाता है कि वह तत्त्व जिसके लिये मैं शब्द का प्रयोग हो रहा है, वह क्या है? उसका स्वरूप किस प्रकार का है? हमारी सारी क्रियाओं का जो साक्षी है, वह सुख दुःख का अनुभवकर्त्ता है। सुख देने वाली पदार्थों की इच्छा करता है तथा दुःख देने वाले पदार्थों से द्वेष करता है, प्रतिकूलताओं से दूर हटने तथा अनुकूलताओं को प्राप्त करने का प्रयास करता है। जिससे हम यह अनुमान करते हैं कि कोई इस ज्ञान की इच्छा करने वाला है।

भारतीय दार्शनिक परम्परा में 'आत्म' सम्बन्धी कई प्रमुख दार्शनिक धाराएं विकसित हुई। जिनमें आध्यात्मिक धारा, वस्तुवादी धारा एवं भौतिक धारा प्रमुख है। वस्तुवादी धारा में प्रतिनिधि दार्शनिक न्याय–वैशेषिक है। इस मत की यह मान्यता है कि मनुष्य का आत्म एक द्रव्य तो है किन्तु उसमें ज्ञान वाह्य कारणों से उत्पन्न होता है। आत्म द्रव्य रूप में नित्य है तथा इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख प्रयत्न इत्यादि का अधिष्ठान है।

न्याय–वैशेषिक जितने व्यक्ति है उतने आत्म को मानते है। दूसरे शब्दों में कहें तो प्रत्येक व्यक्ति का पृथक् व्यक्तित्त्व स्वीकार करते है, जो जन्म–जन्मान्तर का कारण बनता है। ये आत्म को बौद्धों की तरह क्षणभंगवादी तथा पञ्चस्कन्धों का संघात नहीं मानते बल्कि आत्म के एक अवयवविहिन नित्य द्रव्य मानते हैं।

प्रस्तुत ईकाई में आप न्याय–वैशेषिक मत में 'आत्मविषयक' मत को पढ़ने जा रहे हैं। जिससे आपको भारतीय दर्शन में व्यक्तित्त्व सम्बन्धी धारणा को समझने में सहायता मिलेगी।

2.2 आत्म का अस्तित्त्व एवं नित्यता

यायदर्शन में धर्म और मोक्ष की सिद्धि का साधन इस शरीर को मानते हुए कहते कहा गया है।–**निःश्रेयसोपयोगो हि यः शरीरस्य दर्शितः।** (न्या मं0 भाग 2, पृ0 46)

महाकवि कालिदास ने शरीर को सभी प्रकार के कार्य व्यापार का साधन माना है।–**शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्।** (कुमारसम्भवम् 5/33)

यह शरीर पंच भौतिक तत्त्वों से बना है। पंच भौतिक तत्त्व तथा आत्मा नामक अभौतिक तत्त्व का संयोग है। किसी भी व्यक्ति के व्यक्तित्त्व का स्वरूप इन दोनों तत्त्वों द्वारा निर्धारित होता है। पंच भौतिक तत्त्वों के संगठन एवं संरचना हेतु भौतिक कारक उत्तरदायी है एवं प्रभावी है। किन्तु व्यक्ति का आन्तरिक व्यक्तित्त्व या दूसरे शब्दों में कहे ते व्यक्ति का चेतनात्मक स्वरूप उसके आत्म पर निर्भर है। आईये हम आपको न्यायवैशेषिक के अनुसार आत्मविषयक सिद्धान्त एवं विवेचना से परिचित करा दें।

न्याय–वैशेषिक के अनुसार विश्व में कुछ ऐसे तत्त्व है, जो भौतिक नहीं है। जैसे हमारी इच्छा, बौध, द्वेष, संकल्प और सुख–दुःख की संवेदनाएं। चैतन्य की ये सभी अवस्थाऐं परिवर्तनशील है। इन परिवर्तनशील अवस्थाओं का एक आधार होना चाहिए। वह आधार आत्मा है और इनके गुण है। इच्छा, द्वेष, संकल्प, सुख–दुःख तथा ज्ञान भिन्न–भिन्न बोधों में यह पहचान कि ये बोध मेरे है, किसी अस्थायी आत्मतत्त्व की ओर संकेत करता है। यह आत्मतत्त्व एक कर्ता है जो सभी प्रकार के भिन्न क्रियाओं का सामान्य आधार है।

आत्मा एक ऐसा नित्य तत्त्व है कि समय–समय पर इसका ऐसी एक देह से सम्बन्ध होता रहता है जो इसके अनुकूल होती है। देह मनुष्य को अपने कर्मों के अनुसार मिलती है, और सुख–दुःख का आधार देह ही है। देह की रचना नियति की अदृष्ट शक्ति से होती है और पूर्वकर्मों के फलों का परिणाम है। प्रत्येक मनुष्य को ऐसी देह मिलती है जो कि उन अनुभवों का, जो उसे भोगने हैं, माध्यम बन सके। प्राणी का जन्म केवल भौतिक प्रक्रिया नहीं है। उद्योतकर का कहना है कि माता–पिता का कर्म जिन्हें बच्चे की उत्पत्ति से होने वाले अनुभवों को भोगना है और उस व्यक्ति का अपना कर्म जिसे इस जगत् में अनुभवों को भोगना है– ये दोनों परस्पर मिलकर माता के गर्भ में देह की उत्पत्ति के कारण बनते है। देह के साथ आत्मा का सम्बन्ध उसका जन्म कहलाता है एवं उससे अलग हो जाने का नाम मृत्यु है। सृष्टि के प्रारम्भ में परमाणुओं में एक क्रिया चालू हो गई, जिससे वे संयुक्त होकर भौतिक पदार्थों की सृष्टि करते हैं। इसी प्रकार की एक क्रिया आत्माओं के मनों में भी होती है जो आत्माओं के अपने पिछले कर्मों के अनुसार कई अन्य गुणों को उत्पन्न करती है। प्रत्येक आत्मा के मूर्त इतिहास में अनेक जन्म अन्तर्निहित होते हैं। प्रत्येक क्षण में

इसकी ऐतिहासिक परम्परा अपनी जड़ें भूतकाल में रखती है और भविष्य की रूपरेखा लिए रहती है। प्रत्येक जन्म, ऐतिहासिक रूप में व्यवस्थित इस प्रकार की श्रृंखला की केवल एक कड़ी है।

2.3 न्यायवैशेषिक में सांसारिक व्यक्ति की अवधारणा

न्याय–वैशेषिक और मीमांसा दार्शनिक अद्वैत–वेदांत के दार्शनिकों से इस मायने में भिन्न हैं कि वे अलग–अलग कई अलग–अलग व्यक्तियों (जीव) की वास्तविकता पर जोर देते हैं। हालाँकि, वेदों के प्रति उनकी निष्ठा के कारण व्यक्तियों की अधिक स्पष्ट चर्चा नहीं होती है, ध्यान व्यक्तियों के सार (आत्मान) की खोज और सर्वोच्च भलाई, मुक्ति (मोक्ष) की खोज पर है। इन दार्शनिकों के अनुसार सामान्य व्यक्ति देहधारी आत्मा होते हैं। आत्मा (आत्मान) व्यक्ति का सार है; मन, शरीर और इंद्रियाँ केवल सहायक हैं। आत्मा एक विशिष्ट और स्वतंत्र पदार्थ है, जिसमें चेतना का गुण है। न्याय–वैशेषिक और मीमांसा परंपराओं से संबंधित दार्शनिकों ने, आध्यात्मिक दार्शनिकों के विपरीत, इस बात पर जोर दिया कि आत्मा केवल एक अनुभवकर्ता नहीं है, बल्कि अधिक महत्वपूर्ण रूप से एक एजेंट है – एक ज्ञाता, एक कर्ता और भोक्ता (कर्म परिणामों का)। लेकिन, कोई यह पूछ सकता है कि एक अशरीरी अलग आत्मा पदार्थ कर्ता, ज्ञाता और भोक्ता कैसे हो सकता है? हम इन विचारों की चर्चा में इस प्रश्न को नीचे लौटाते हैं।

न्याय–वैशेषिक का ध्यान व्यक्ति के बजाय स्वयं पर है। व्यक्तिगत स्व (जीव–आत्मा उनका पसंदीदा शब्द है) न्याय–वैशेषिक ऑन्टोलॉजी में एक केंद्रीय स्थान रखता है। स्वयं वास्तव में अलग–अलग व्यक्ति हैं और मुक्ति के समय एक अंतिम वास्तविकता में विलीन नहीं होते हैं। स्वयं के अस्तित्त्व, स्वयं को जानने के तरीकों, स्वयं की विशेषताओं और मुक्ति के साधनों के लिए न्याय तर्कों पर बहुत ध्यान दिया गया है। आइए न्याय–सूत्र 1.1.10 पर ध्यान देकर शुरुआत करें, जो प्रसिद्ध'स्वयं की विशेषताओं'के साथ–साथ स्वयं के अस्तित्त्व के लिए अनुमानित प्रमाण का आधार प्रदान करता हैः

इच्छा, घृणा, इच्छा (प्रयात्ना), सुख, दुख और अनुभूति स्वयं के लक्षण हैं। (एनएस 1.1. 10)

दस्ती लिखते हैं कि न्याय के लिए, एजेंसी स्वयं की विभिन्न क्षमताओं और संभावनाओं की एक विशेष अभिव्यक्ति है, जो सुसंगत रूप से इसकी सभी विशिष्ट विशेषताओं को एक साथ जोड़ती है (2013, 114)। दस्ती का इस बात पर जोर देना सही है कि न्याय स्वयं अनुभव के विषय से कहीं अधिक है, यह अधिक महत्वपूर्ण रूप से एक एजेंट है – एक कर्ता और एक ज्ञाता। लेकिन दास्ती और समकालीन साहित्य के अन्य लोग इस बात पर जोर देने में असफल रहे कि स्वयं के विशिष्ट गुण (विशेष), इच्छा, अनुभूति, दर्द आदि, क्षणभंगुर हैं और केवल तभी अस्तित्त्व में आते हैं जब स्वयं मन–इंद्रियों के संपर्क में होता है– शरीर जटिल. पदार्थ–गुणवत्ता भेद, जो न्याय ऑन्टोलॉजी की पहचान है, और एक महत्वपूर्ण उपकरण है जो स्वयं के विशिष्ट पदार्थ के रूप में न्याय धारणा द्वारा प्रदान की जाने वाली सभी वस्तुओं का हिसाब रखता है। जैसा कि दस्ती कहते हैंः

न्याय के व्यक्तित्व के विवरण में पदार्थ और गुण शामिल हैंः अपने उतार–चढ़ाव वाले, स्मृति, जागरूकता और इच्छाशक्ति जैसे विश्व–आकर्षक गुणों के साथ एक स्थायी

पर्याप्त आत्म पूर्ण व्यक्तित्व की अनुमति देता है। सांख्य की तरह, न्याय एक ऐसे आत्म की अनुमति देता है जो समय के साथ कायम रहता है, शारीरिक मृत्यु से बचता है, और परम मुक्ति में भाग लेता है। लेकिन बौद्धों की तरह, न्याय का व्यक्ति सीधे तौर पर दुनिया से जुड़ा हुआ है। अब हम यहां हैं (2013ः 135)।

दस्ती ने सही ढंग से व्यक्तित्व शब्द का उपयोग अपने गुणों के साथ स्वयं को दर्शाने के लिए किया है और व्यक्ति (स्वयं के बजाय) के बारे में दुनिया में सीधे तौर पर संलग्न होने की बात की है, लेकिन वह इस बात पर ध्यान देने में विफल रहे कि न्याय–वैशेषिक खाता समस्याओं से ग्रस्त है। समस्याएँ तब उत्पन्न होती हैं जब हम इस तथ्य पर ध्यान देते हैं कि न्याय दार्शनिकों के अनुसार, यद्यपि स्वयं एक पदार्थ है जो मन–इंद्रिय अंगों–शरीर परिसर से अलग है, स्वयं अपनी कार्यक्षमता के लिए इस परिसर पर पूरी तरह से निर्भर है। अनुभूति, इच्छा आदि को उत्पन्न करने के लिए मन–इंद्रिय अंगों–शरीर के संपर्क की आवश्यकता होती है, स्वयं अनुभूति को अस्तित्त्व में नहीं ला सकता है। चिंतन और स्मृति के लिए भी स्वयं का मन के संपर्क में होना आवश्यक है। यहां तक कि स्वयं का प्रयास भी मन–इंद्रिय–शरीर के संपर्क से प्रेरित होता है, इसलिए ऐसा लगता है कि स्वयं कोई भी गतिविधि शुरू नहीं कर सकता है। स्वयं अपने आप में कारणात्मक रूप से नपुंसक है (यह, वास्तव में, न्याय स्व के अस्तित्त्व के खिलाफ बिल्कुल बौद्ध तर्क है)। ऐसा प्रतीत होता है कि आत्मा स्वयं अपने विशिष्ट गुणों का वाहक मात्र है जो मन–इंद्रिय–शरीर के संपर्क से प्रेरित होती है। यह केवल गतिविधि का निष्क्रिय पर्यवेक्षक और कार्यों के मध्यस्थ (कर्म) परिणामों का दूरस्थ वाहक है। इसलिए, यह स्वयं स्वयं नहीं है बल्कि देहधारी स्वयं या व्यक्ति है जो सभी कार्यों का कर्ता, कर्ता और प्रवर्तक है और कार्य के परिणामों का भोक्ता है।

इसके अलावा, स्वयं के विशिष्ट गुण उसके आवश्यक गुण नहीं हैं। नींद और इसी तरह की अवस्थाओं के दौरान आत्मा अस्थायी रूप से अपने गुणों से रहित होती है और मुक्ति (मोक्ष) की स्थिति में इन गुणों को स्थायी रूप से खो देती है। मुक्ति की स्थिति में स्वयं में चेतना का पूरी तरह से अभाव है, द्रविड़ ने इसे'एक अचेतन पत्थर जैसी स्थिति'(1995, 1) के रूप में वर्णित किया है। स्वयं और उसके गुणों के बीच दृढ़ अलगाव का मतलब है कि भले ही गुण हमेशा बदलते रहते हैं, स्वयं इन परिवर्तनों से पूरी तरह अप्रभावित रहता है। बौद्धों का मानना है कि यदि स्वयं अपने गुणों में परिवर्तन से पूरी तरह अप्रभावित रहता है तो यह परिवर्तनों को दर्ज करने में सक्षम नहीं होगा, कहने का तात्पर्य यह है कि स्वयं उन परिवर्तनों को महसूस नहीं कर पाएगा (वाटसन, 2018, 337)। यह स्वयं को ज्ञाता (ज्ञान) के रूप में उसकी स्थिति से वंचित कर देता है; बल्कि यह मूर्त सांसारिक स्व या व्यक्ति हैं जो अनुभव करते हैं। तो, ऐसा लगता है कि न्याय स्वयं स्वयं एक अनुभवकर्ता भी नहीं हो सकता है। यह सुनिश्चित करने के लिए कि स्वयं वास्तव में एक एजेंट और अनुभवकर्ता के रूप में अपने कार्य विवरण पर खरा उतर सकता है, न्याय चर्चा को सन्निहित शाब्दिक स्वयं या व्यक्ति पर ध्यान केंद्रित किया जाना चाहिए जो कि एजेंट (कर्ता), भोक्ता (भोक्ता) और संज्ञानकर्ता (ज्ञानात्र) है। स्वयं की तुलना में–

अधिकांश न्याय दार्शनिकों का दावा है कि कर्ता स्वयं का अनुभव नहीं किया जा सकता है बल्कि केवल शरीर के कार्यों से इसका अनुमान लगाया जा सकता है। न्याय–वैशेषिक दार्शनिक एक रथ के चालक का अनुमान लगाने की उपमा पेश करते हैं जब आप उसे सड़क पर चलते हुए देखते हैं, गड्ढों और अन्य चलते वाहनों और व्यक्तियों से बचते हुए। यह सादृश्य हमें डेसकार्टेस की जहाज में नाविक की

सादृश्यता की याद दिला सकता है। लेकिन जैसा कि डेसकार्टेस ने छठे ध्यान में बताया कि स्वयं ('मैं'के संदर्भ के रूप में कल्पना की गई) और शरीर के बीच का संबंध जहाज में एक नाविक की तुलना में बहुत अधिक घनिष्ठ होना चाहिए, अन्यथा स्वयं को दर्द महसूस नहीं होगा। शरीर को चोट लगी थी, लेकिन उसे केवल क्षति का आभास होगा, जैसे एक नाविक को उसका जहाज टूट जाने पर देखकर पता चलता है (कोटिंघम, 1996, 56)। चालक की सीट पर न्याय–वैशेषिक स्व, स्वतंत्र और रथ (शरीर) से अलग, स्वयं और उसके शरीर के बीच के रिश्ते के साथ न्याय नहीं करता है।

इस बिंदु पर न्याय दार्शनिकों के पास दो विकल्प हैं। उन्हें अपने गुणों से अछूते एक अलग पदार्थ के रूप में स्वयं की धारणा को त्याग देना चाहिए। दूरस्थ स्व की बात को मूर्त स्व (या व्यक्तियों) से बदलने की आवश्यकता है। या, उन्हें स्वयं की कल्पना करने की आवश्यकता है जिस तरह से भट्ट मीमांसा अपने गुणों के साथ अधिक निकटता से जुड़ी हुई है, ताकि इसमें संशोधन हो सके। दूसरा विकल्प उपलब्ध है, लेकिन क्या यह पर्याप्त है? मीमांसा में निहित व्यक्ति की अवधारणा को समझने के बाद हम इस प्रश्न पर फिर से विचार करेंगे।

मीमांसा का घोषित लक्ष्य वेदों के कथनों की व्याख्या करना है, और इस प्रकार हिंदुओं को उनके द्वारा दिए गए अनुष्ठानों और बलिदानों को करने के लिए विशिष्ट मार्गदर्शन प्रदान करना है। मीमांसा दार्शनिक अन्य हिंदू विद्यालयों से सहमत हैं कि वास्तविक आत्म जिसे हम आत्म–पहचान में पहचानते हैं वह एक ऐसी चीज है जो समय के साथ समान रहती है और इस प्रकार इसे मन, शरीर और इंद्रियों के साथ पहचाना नहीं जा सकता है (मीमांसा के लिए टैबर 1992 देखें) स्वयं के लिए तर्क)। ग्रंथों में सीधे तौर पर किसी व्यक्ति के बारे में उनकी धारणा की अधिक चर्चा नहीं है। हालाँकि, कर्तव्य (धर्म) और धार्मिक अनुष्ठानों के प्रदर्शन के संदर्भ में सांसारिक व्यक्तियों की अंतर्निहित चर्चा है। मनुष्य वह है जो अनुष्ठान करता है और धर्म का पालन करता है, कर्मों का कर्ता है और कर्म सिद्धांत के अनुसार कर्मों के फल का भोक्ता है। मीमांसा दार्शनिकों के अनुसार, प्रत्येक धार्मिक अनुष्ठान या बलिदान का एक विशिष्ट परिणाम होता है और एक योग्य व्यक्ति (अधिकार) द्वारा इसकी विशेषता बताई जाती है (फ्रेस्ची, एट अल. 2019)। पात्रता उस व्यक्ति की पहचान करती है जिसे वेदों द्वारा धार्मिक अनुष्ठान या बलिदान करने का आदेश दिया गया है, उसके पास इसे करने का साधन है और वह प्रदर्शन के कारण अर्जित कर्म परिणाम का वाहक होगा। यह वैदिक बलिदानों के संदर्भ में विशेष रूप से प्रासंगिक है, क्योंकि उनमें हमेशा कई कलाकार शामिल होते हैं। एक योग्य व्यक्ति (अधिकारी) वह है जिसे वेदों द्वारा यज्ञ करने का आदेश दिया गया है और वह इसके फल का हकदार है; पूर्व का तात्पर्य है कि कोई व्यक्ति वैदिक आदेश को सुन या पढ़ सकता है और स्वयं को अभिभाषक के रूप में समझ सकता है, जिसका अर्थ यह है कि वह उन सामाजिक समूहों में से एक से संबंधित है जिनसे पारंपरिक रूप से वेदों का अध्ययन करने की अपेक्षा की जाती है। पात्र होने का तात्पर्य एक बलिदान के प्रदर्शन को व्यवस्थित करने के लिए शारीरिक क्षमता (एक्सजेगिक एफ़ोरिज़्म 6.1.42 देखें) और भौतिक संसाधन (एक्सजेगिक एफ़ोरिज़्म 6.7.18–20) होना है (फ्रेस्ची, एट अल 2019)। उत्तरार्द्ध, एक बलिदान के सफल प्रदर्शन के परिणाम की पात्रता कर्म के कानून द्वारा स्वचालित रूप से गारंटी दी जाती है। मीमांसा दार्शनिकों द्वारा निषेधाज्ञा की इस चर्चा में निहित व्यक्ति की यह धारणा बताती है कि व्यक्ति देहधारी प्राणी हैं, एक निश्चित सामाजिक वर्ग से संबंधित

हैं, भौतिक संपत्ति रखते हैं या अन्यथा, कर्म अवशेषों के वाहक और कर्म परिणामों के भोक्ता हैं ।

भट्ट मीमांसा, विशेष रूप से कुमारिल का तर्क है कि शाश्वत होने पर भी स्वयं परिवर्तन से गुजर सकता है। सुख, दुःख आदि स्वयं के गुण हैं, इन गुणों में परिवर्तन से स्वयं में परिवर्तन होता है, लेकिन यह केवल गुणात्मक परिवर्तन है। स्वयं को रूपांतरित किया जा सकता है लेकिन यह अपने गुणों में परिवर्तन के माध्यम से संख्यात्मक रूप से समान रहता है। स्वयं के कुछ पहलू स्थायी हैं, उदाहरण के लिए इसकी चेतना, अस्तित्त्व और पर्याप्तता, लेकिन अन्य पहलू जैसे सुख, दर्द आदि में परिवर्तन होता रहता है। कुमारिला कहते हैं, स्वयं की तुलना सोने के एक टुकड़े से की जा सकती है जिसे हार या झुमके या सोने के सिक्के में ढाला जा सकता है। जिस वस्तु से आत्मा बनी है वह शाश्वत सोने के परमाणुओं की तरह शाश्वत है। स्व बदल सकता है, लेकिन एक ही स्व के रूप में गिनने के लिए इसके सार में कोई बदलाव नहीं हो सकता है, इसे वही पदार्थ रहना चाहिए। इस अर्थ में, स्वयं भौतिकता से अछूता एक शुद्ध विषय बना हुआ है। वैदिक धारणा है कि स्वयं एक अलग आत्मा पदार्थ है, स्वयं की अवधारणा को जानने वाले, एजेंट और भोक्ता के रूप में समझना मुश्किल है। जो हिंदू दार्शनिक इस अवधारणा को बनाए रखना चाहते हैं उन्हें एक शाश्वत पृथक आत्मा पदार्थ की धारणा को अस्वीकार करना होगा। इसके विपरीत, एक देहधारी स्वयं या व्यक्ति, अधिक उपयुक्त उम्मीदवार है क्योंकि यह जानने वाला हो सकता है और एजेंसी तथा आनंद द्वारा चित्रित किया जा सकता है।

2.4 ऋग्वेद का पुरुष सूक्त

आत्मा इन्द्रियां नहीं है, बल्कि इन्द्रियों का नियंत्रण करने वाली है तथा इन्द्रियों द्वारा प्राप्त ज्ञान का संश्लेषण करने वाली है। यह जीवात्मा ही है जो भिन्न–भिन्न प्रकार के अनुभवों में एकत्व स्थापित करती है। आंख शब्दों को नहीं सुन सकती, न कान ही वस्तुओं को देख सकते हैं, और यह चेतना कि मैं जिस पदार्थ को अब देख रहा हूँ उसके विषय में मैंने सुना भी था, सम्भव नहीं हो सकती थी यदि आत्मा इन्द्रियों से भिन्न तथा उनसे परे न होती। इन्द्रियां साधनमात्र है और इसलिए उनका उपयोग करने के लिए किसी कर्ता की आवश्यकता है। इन्द्रियां केवल भौतिक प्रकृति से उत्पन्न हैं, अतः चेतना उसका गुण नहीं हो सकती। देखा हुआ पदार्थ और आंखे यदि दोनों नष्ट भी हो जाएं तो भी यह ज्ञान कि मैंने देखा था, रहता ही है और इसलिए यह ज्ञान इन्द्रियों या बाह्य पदार्थों का गुण नहीं हो सकता। आत्मा और मन को भी एक नहीं हो सकता, क्योंकि मन एक साधन–मात्र है जिसके द्वारा आत्मा मनन अथवा विचार करती है। क्योंकि मन परमाणुओं से बना है अतः यह भी देह की भांति ही, आत्मा नहीं हो सकता। यदि बुद्धि को मन का गुण मानें तो अनेकों वस्तुओं के एकसाथ ज्ञान की, जैसा कि योगियों को होता है, व्याख्या नहीं हो सकेगी। आत्मा का ऐक्य देह, इन्द्रियों या मन के साथ नहीं हो सकता, क्योंकि देह के नष्ट होने, इन्द्रियों के अलग हो जाने और मन के निश्चेष्ट हो जाने पर भी आत्मा बनी रहती है। उक्त सब प्रमेय पक्ष के पदार्थ हैं और प्रमाता नहीं बन सकते, जबकि आत्मा ही प्रमाता है।

शरीर–लक्षण : व्युत्पत्ति की दृष्टि से शरीर की परिभाषा है– 'शीर्यते इति शरीरम्' अर्थात् जो प्रतिक्षण क्षीयमाण देह है, उसी का नाम शरीर है। शास्त्रीय शब्दावली में कहा जाये तो नित्य आत्मा के भोग का आश्रय शरीर है अर्थात् बिना शरीर के आत्मा को विषयों का भोग नहीं हो सकता, इसलिए शरीर भोगायत है। तथा जिसमें

अवच्छिन्न होने पर आत्मा में भोग उत्पन्न होता है, हवी भोगायतन है। ध्यातव्य है कि केवल भोग का आयतन या चेष्टा का आश्रय होने से हाथ पैर आदि शरीर नहीं कहे जा सकते क्योंकि वे तो अवयवभूत हैं– अतः जो भोगायतन और अन्त्यावयवी है, वही शरीर है। समानतन्त्र न्यायदर्शन में शरीर सकल चेष्टाओं का आश्रय सभी इन्द्रियों का आधारस्थल और समस्त विषयभोगों का केन्द्रबिन्दु कहा गया है।

हित की प्राप्ति एवं अहित के परिहार के लिए होने वाली क्रिया को चेष्टा कहते है। अथवा प्रयत्न से प्रेरित आत्मा के व्यापार के चेष्टा कहते है तथा वह चेष्टा जिसमें होती है, वह शरीर कहलाता है। इन्द्रियों का आश्रय शरीर है, इसका अभिप्राय केवल बाह्य संयोग अथवा आधारधेयभाव नहीं, अपितु इन्द्रियों का अनुग्राहक होना है क्योंकि यह प्रत्यक्ष अनुभवसिद्ध सत्य है कि स्वस्थ सबल शरीर होने पर इन्द्रियाँ भी स्वस्थ सबल होती है तथा अशक्त शरीर वाले की इन्द्रियां भी अशक्त होती है। भोगों अथवा अर्थो का आश्रय कहने का आशय यह है कि आत्मा शरीर में रहकर ही सुख–दुःख का भोग कर सकता है, अतः सुखाश्रयत्व या दुःखाश्रयत्व भी शरीर का लक्षण होता है। धर्म–अधर्मरूप अदृष्टवश आत्मा या जीव, सुख–दुःख भोगने के लिए विवश है और यह भोग शरीर में रहकर ही सम्भव है क्योंकि शरीर के माध्यम से ही आत्मा का चैतन्य प्रकट होता है और जीवन स्पन्दित होता है, अतः शरीर भोग का अधिष्ठान है। स्वरूपतः आत्मा नित्य और व्यापक है, किन्तु शरीर से संयुक्त होने पर इसके ज्ञान, प्रयत्न और चिकीर्षा सीमित हो जाते हैं– शरीर से सम्पर्क छूट जाने पर आत्मा को विषय–ज्ञान होता ही नहीं। इसलिए आत्मारूप प्रथम एवं प्रमुख प्रमेय के भोगस्थान को शरीर नामक दूसरा प्रमेय कहा गया है। उक्त सभी लक्षणों के आधार पर कहा जा सकता है कि वैशेषिक दर्शन के अनुसार शरीर वह अन्त्यावयवी है जो चेष्टा, भोग एवं इन्द्रियों का आश्रय है।

शरीर– भेद

वैशेषिक दर्शन के अनुसार पृथिवी, जल तेज और वायु–ये चार द्रव्य सावयव कार्यो के रूप में अनित्य तथा परमाणुओं के रूप में नित्य, निरवयव माने गये है। कार्यद्रव्य के रूप में इन चारों का त्रिविध विभाजन किया गया है– शरीर, इन्द्रिय और विषय। अतः स्वरूप की दृष्टि से यहाँ शरीर चतुर्विध माने गये हैं– पार्थिव, जलीय, तैजस तथा वायव्य। –(तत्पुनः पृथिव्यादि कार्यद्रव्यं त्रिविधम् – शरीरेन्द्रियविषयसंज्ञकम वै0 सं 4/2/1)

2.5 वैशेषिक दर्शन में शरीर की अवधारणा

वैशेषिक दर्शन मूलतः पदार्थशास्त्र है। सूत्रकार कणाद के प्रथम सूत्र में ही अपने दर्शन का उद्देश्य निरूपित करते हुए कहा है कि 'धर्म' की विवेचना करना ही उनका प्रधान लक्ष्य है। यह धर्म क्या है, इसे स्पष्ट करते हुए अगले सूत्र में उनका कथन है कि जिससे लौकिक सुख एवं अलौकिक कल्याण की सिद्धि हो, वही धर्म है। अभ्युदयनिश्रेयस्साधक इस धर्म का प्रथम साधन निःसन्देह यह शरीर ही है।

वैशेषिक दर्शन परमाणुवाद को स्वीकार करता है। परमाणुवाद को स्वीकार करने के कारण इस दर्शन में यह बताया गया कि पाथिव शरीर पृथिवी–परमाणुओं में निर्मित हम मनुष्यादि और पशु–पक्षी के होते हैं जबकि जलीय, तैजस एवं वायव्य शरीर क्रमशः वरूणलोक आदित्यलोक एवं वायुलोक में माने गये हैं तथा इनकी भोगसाधना सिद्ध करने के लिए आगम प्रमाण का आश्रय लिया गया है। उल्लेखनीय है कि इन जलीय

तैजस एवं वायव्य शरीरों को अयोनिज तथा क्रमशः जल तेज तथा वायु के परमाणुरूप समवायिकारण से उत्पन्न माना गया है? यद्यपि यह भी कहा गया है कि पार्थिव परमाणुओं के सहयोग से निमित्तकारण रूप में ही इनमें उपभोगयोग्यता आती है।

यद्यपि आधुनिक वैज्ञानिक दृष्टि से देखने पर इन तीन प्रकार के शरीरों का कोई युक्तिसगंत आधार नहीं मिलता, तथापि पौराणिक प्रभाव से अथवा मात्र तार्किक समानता के लिए वैशेषिक दर्शन में इनकी मान्यता रही है और यह स्पष्ट किया गया है कि पार्थिव परमाणुओं के उपष्टम्भ से ये भी विशेष आकार के होते हैं, जलीय बुदबुद की तरह नहीं। इन्हें इस रूप में भी व्याख्यायित करने का प्रयास किया गया है जीवों के निम्न स्तर पर स्थित देहधारी पार्थिव शरीर धारण करते है तथा दिव्य शक्तियों के शरीर जलीय तैजस अथवा वायव्य होते है, यद्यपि इस व्याख्या का आधार पारम्परिक वैशेषिक ग्रन्थों में कही उपलब्ध नहीं है।

प्रश्न : परमाणुओं से निर्मित इस शरीर की उत्पत्ति किस प्रकार से होती है?

उत्तर : न्यायवैशेषिक दर्शन में आकाश, दिक्, काल, मन और आत्मा को नित्य द्रव्य माना गया है इनका नाश नहीं होता। जबकि वायु, तेज, जल तथा पृथिवी इन द्रव्यों का अन्तिम कारण परमाणु है ये परमाणु भी नित्य है। परमाणु उस जगत का समवायी कारण है तथा परमाणुओं का संयोग असमवायी कारण एवं ईश्वर निमित्त कारण है। न्याय वैशेषिक ने कार्य और उसके कर्त्ता के आधार पर 'आत्म' सिद्धान्त को स्थापित किया है। सामान्य व्यवहारिक कार्यों अन्वेषण में व्यवहारिक कर्त्ता के रूप में जीवात्मक तथा जहां हमारी बुद्धि और ठहर जाती है, वहां ईश्वर कर्त्ता के रूप में मान्य होता है।पार्थिव शरीरों को उत्पत्ति की दृष्टि से प्राणियों को दो वर्गीकरण मे विभक्त किया गया है—

पहला योनिज एवं दूसरा अयोनिज — वे प्राणी जो मादा शरीर से उत्पन्न होते हैं, उन्हें योगिज कहते हैं। इनमें से योनिज शरीर पुनः अरायुज एवं अण्डज दो प्रकार के तथा आयोनिज भी स्वेदज तथा उद्भिज्ज दो प्रकार के कहे गये है। इस प्रकार कुल चार प्रकार के पार्थिक शरीर माने गये हैं। मनुष्यों और चतुष्पदों के शरीर जरायुज है, पक्षिओं और सरीसृपों के अण्डज, कृमिकीटादि के स्वेदज तथा तृणगुल्मादि के शरीर उद्भिज्ज है। उल्लेख्य है कि प्रशस्तपाद ने वृक्षादि को उद्भिज्ज शरीर के अन्तर्गत न रखकर स्थावर विषय कहा है किन्तु वृद्धि, क्षत, मग्न—सरोहण, प्राणवायुसंयोग तथा आगम प्रमाण से यह स्पष्ट संकेतित होता है कि वृक्षादि भी भोगाधिष्ठान होने से शरीर के ही भेद है यद्यपि उनमें हिताहित—प्राप्ति तथा परिहार के अनुकूल चेष्टा तथा इन्द्रियाधारता स्पष्ट न होने से उनमें शरीरादि—व्यवहार नहीं होता इस संक्षिप्त विवेचन के आधार पर यह कहा जा सकता है कि शरीर—भेद का निरूपण करते हुए वैशेषिक आचार्यो की अन्तः प्रज्ञा ने वनस्पतिविज्ञान के इस आधारभूत सिद्धान्त का कि वृक्षादि में जीवन हैं साक्षात्कार उस परम प्राचीन काल में ही कर लिया था।

इस स्थल पर वैशेषिक दर्शन में यह शंका भी उठाई गई है कि अयोनिज शरीर होते हैं, इसमें क्या प्रमाण है? स्वयं सूत्रकार ने अयोनिज शरीर की सिद्धि के लिए चार सूत्रों में चार हेतु एवं पाँचवें निगमन—सूत्र में उसकी सत्ता प्रमाणित की है। प्रशस्तपाद ने स्पष्ट किया है कि देवर्षियों तथा नारकीय जन्तुओं के शरीर अयोनिज होते हैं। जब अयोनिज शरीर धर्मसहित पार्थिक अणुओं से उत्पन्न होते हैं तो देवों और ऋषियों के शरीर बनते हैं तथा जब अधर्मसहित परमाणु इसके उपादान बनते हैं तो क्षुद्र जन्तुओं के यातनाशरीर उत्पन्न नहीं होते, पार्थिक अणु उनके उपादान कराण होते हैं, उन

परमाणुओं का परस्पर संयोग असमवायिकारण होता है तथा अदृष्ट या धर्मा धर्म निमित्त कारण – अतः अयोनिज का अर्थ है कि ये शरीर शुक्रशोणितजन्य साधारण जीवों के पार्थिव शरीरों से भिन्न होते हैं, इसमें श्रुति भी प्रमाण है। कौण्डभट्ट का कथन है कि यद्यपि अयोनिज शरीर प्रायः जलीय तैजस तथा वायव्य ही होते हैं किन्तु उपर्युक्त प्रकार के अयोनिज शरीर (देवर्षियों तथा क्षुद्र जन्तुओं के) पार्थिव ही होते है और पार्थिव परमाणु ही उनके उपादान कारण होते है।

इस विषय में विभिन्न वैशेषित आचार्यों के मतों का अनुशीलन करने के उपरान्त कहा जा सकता है कि अयोनिज शरीर की उत्पत्ति में प्रत्यक्ष प्रमाण तो असम्भव है, अनुमान भी सन्दिग्ध है, अतः आगम प्रमाण का ही आश्रय लिया गया है क्योंकि हिरण्यगर्भादि के शरीर तो वेदविश्रुत है, शास्त्र में भी ब्रह्मा के मनु आदि मानस पुत्र सुने जाते है। इसलिए जिन कर्मो के फलभोग में गर्भवासादि दुःख का भोग भी करना होता है, उनके लिए योनिज शरीर की उतपत्ति होती है अन्यथा अयोनिज की–यही शरीर के द्विविधत्व का आधारभूत हेतु संगत है।

अयोनिज शरीरों को अदृष्टविशेषजन्य कहा गया है, इसी से न्याय–वैशेषिक दर्शनसम्मत शरीर की संकल्पना का एक अन्य महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त संकेतित होता है कि शरीर की उत्पत्ति केवल परमाणुओं से नहीं होती, अपितु पूर्वजन्म में कृत पाप और पुण्य कर्मो के अनुसार होती है। प्रत्येक को अपने कर्माशय के अनुरूप ही शरीरादि की प्राप्ति होती है अर्थात् जिसका धर्म उत्कृष्ट रहता है, उसे उत्कृष्ट शरीर मिलता है, जिसका धर्म उत्कृष्टतर होता है, उसे उससे भी अच्छा शरीर मिलता है तथा जिसका धर्म उत्कृष्टत्तम रहता है, उसे तदनुरूप ही शरीर भी उत्कृष्टतम मिलता है। अतः शरीर स्वरूपतः अनित्य एवं क्षयशील है, उसका कर्मफल अथवा अदृष्ट के अनुसार ही जन्म–मरण होता है, इसलिए शरीर अदृष्ट–निष्पाद्य है।

सामान्यतः हम शरीर और इन्द्रियों को अभिन्न समझते हैं किन्तु न्याय–वैशेषिक में शरीर को न केवल इन्द्रियों से भिन्न माना गया है, अपितु इन्द्रियों का अधिष्ठान कहा गया है। तदनुसार शरीर में अधिष्ठित आत्मा के इच्छा–द्वेष, सुख–दुखादि भोग के लिए ही श्रोत्र, घ्राण, चक्षु, त्वचा तथा रसना इन्द्रियाँ अपने अच्छे या बुरे विषयों में प्रवृत्त होती हैं, अतः शरीर इन्द्रियों का आश्रय है। इन्द्रियों का अनुग्रह (उत्तमता) तथा उपघात (विनाश) शरीर के अनुग्रह तथा उपघात पर ही निर्भर होता है तथा इन्द्रियों द्वारा ग्रहण किये जाने वाले सुख–दुःख का भोग शरीर एवं तद्द्वारा आत्मा को होता है। इस प्रकार शरीर इन्द्रियों से भिन्न ही है।

शरीर – स्वरूप :

न्याय–वैशेषिक दर्शन की एक अन्य मौलिक स्थापना यह है कि मानुषादि देह पार्थिक हैं, पाञ्भौतिक नहीं। सामान्य भारतीय दार्शनिक मान्यता यही है कि मानुषादि देह पृथ्वी जल, तेज, वायु एवं आकाश – इन पाँचों तत्त्वों का सम्मिश्रण है या पाञभौतिक है। उपनिषदों में शरीर संबंधी संकेत निम्नवत हैंपंचभूतात्मको देहः पंचमण्डलपूरितः। वराहोपनिषद् 5/1पंचमहाभूतेभ्योऽखिल जगत्। त्रिकाण्ड ब्राह्मण 1/1पंचभूतमयी तनुः। अमन उपनिषद् 1/17 किन्तु वैशेषिक दर्शन का सुनिश्चित सिद्धान्त है कि मानुषादि देह पंच भूतों से विनिर्मित नहीं, केवल पार्थिव परमाणुओं से (समवायिकारण के रूप में) बनी है। इसका आधार यह है कि प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष द्रव्यों का आरम्भक संयोग (जन्य कार्य) प्रत्यक्ष नहीं हो सकता और मानुषादि देह तो प्रत्यक्ष ही है। इसलिए

वैशेषिक सूत्रकार का स्पष्ट क्थन है कि द्रव्यों में पक्षात्मकत्व प्रतिषिद्ध है – शरीर को त्रैभोतिक या चातुर्भौतिक भी नहीं कहा जा सकता – वह पार्थिव ही है।

शरीर की पार्थिवत्व–सिद्धि के लिए वैशेषिक दर्शन में यह हेतु दिया गया है कि कार्य में गुणों की उत्पत्ति कारणगुणपूर्वक हुआ करती है और इस दृष्टि से शरीर में केवल पार्थिव गुण उपलब्ध होते है– इसलिए शरीर का आरम्भ पार्थिव अवयवों से ही माना जाना चाहिए, वह न तो पाँच भूतों के संयोग से सम्भव है और न तीन भूतों के। यदि शंका हो कि फिर शरीर में क्लेद, व्यूह, अवकाश, दान आदि अन्य भूतों के गुणों की उपलब्धि कैसे होती है, तो उसका समाधान न्याय–वैशेषिक दर्शन में यह कहकर दिया गया है कि जल, तेज वायु और आकाश की मानुषादि देह में उपलब्धि सहकारी या उपष्टम्भक रूप में ही मानी जानी चाहिए – वे शरीर के उपादान या समवायिकारण नहीं है– उनका शरीर के साथ संयाग है और वह भी केवल तभी तक है जब तक शरीर में आत्मा रहता है, शरीर से आत्मा के निकल जाने पर अन्य किसी भूत का संयाग नहीं रहता। शुष्क शरीर में केवल पृथ्वी के ग्रन्थ आदि गुण ही उपलब्ध होते है, अतः मानुषादि देह केवल पार्थिव ही हैं, पांचभौतिक नहीं, क्योंकि उसमें पृथ्वी के ही विशेष गुण उपलब्ध होते है। वस्तुतः वैशेषिक दर्शन के अनुसार पाँच भूतों का परस्पर द्रव्यारम्भक संयोग तो प्रतिषिद्ध है किन्तु विजातीय परमाणुओं का परस्पर अनारम्भक, सहयोगी संयोग निषिद्ध नहीं है। इसी तथ्य को स्पष्ट करते हुए न्यायभाष्यकार वात्स्यायन ने कहा है कि पार्थिव शरीर की संरचना में अन्य भूत भले ही समवायिकारण न हों, किन्तु उनका परस्पर सहकार अवश्य रहता है क्योंकि मानुषादि शरीर में पाँचों भूतों की विशेषताओं की उपलब्धि होती है। उल्लेखनीय है कि प्रशस्तपाद ने इस विषय की चर्चा अपने पदार्थधर्मसंग्रह में नहीं की वैशेषिक परम्परा में सूत्रकार के बाद व्योमशिवाचार्य ने यह प्रश्न उठाया है और यही सिद्धान्त स्थिर किया है कि मानुषादि देह पार्थिव है, पांचभौतिक नहीं। तात्पर्य यह है कि पृथिवी मानुषादि देह का समवायिकारण है– उनका उपष्टम्भ या सहयोग ही मनुष्यादि की देह में स्नेह, ऊष्मा आदि गुणों का हेतु बनता है। सारांशतः गन्धवत्त्व हेतु से मानुषादि शरीर की पृथिवीत्व–सिद्धि हो जाती है,[1] उसकी पांचभौतिकत्वप्रसिद्धि केवल पाँचों भूतों के सहयोग को ही संकेतित करती है, न कि पाँचों के समवायिकारणत्व को – वह तो असम्भव है।

सूक्ष्म शरीर

भारतीय दर्शन की सांख्य एवं वेदान्त शाखाओं में जिस लिंगशरीर या सूक्ष्मशरीर की संकल्पना पाई जाती है[2] न्याय–वैशेषिक दर्शन में उस प्रकार की अवधारणा का कोई संकेत नहं मिलता। यहाँ शरीर के विषय में जो भी चर्चा हुई है, वह मुख्यतः स्थूल शरीर के विषय में ही है। इसीलिए पाश्चात्य विद्वानों का विश्वास है कि वैशेषित दर्शन में लिंगशरीर का कहीं उल्लेख नहीं है, पहली बार व्योमश्विाचार्य ने ही सूक्ष्मशरीर अथवा अन्तराभावशरीर के रूप में उसका संकेत किया है। किन्तु सूक्ष्म अन्वीक्षण करने पर विदित होता है कि स्वयं प्रशस्तपाद ने अप्रत्यय कर्म का वर्णन करते हुए जिस आतिवाहिक शरीर का उल्लेख किया है – उसी का आधार लेकर व्योमवतीकार और न्यायकन्दलीकार ने इसका निरूपण किया है जो इस प्रकार है– मूत स्थल शरीर के ही समीप में एक अतिसूक्ष्म, उपलब्धि के सर्वथा अयोग्य आतिवाहिक शरीर की कल्पना

[1] व्योम, पृ0 200

[2] सांख्यकारिका, 40 तथा वेदातसार पृ0 47 (ज्वालाप्रसाद गौड़ सम्पादित)

करते हैं जिसकी उत्पत्ति सक्रिय परमाणुओं के द्वारा द्वयणुकादि क्रम से होती है। उन परमाणुओं में क्रिया की उत्पत्ति अदृष्ट से होती है। उस सूक्ष्म शरीर का अतिवाहिक शरीर यह अन्वर्थ नाम इसलिए है कि मन को उस मृतशरीर से छुड़ाकर स्वर्गादि देशों तक अतिवहन कर ले जाता है। वहाँ जाकर आशय के अनुरूप अर्थात् अपने कर्मो के अनुसार फलभोग के अनुरूप शरीर के साथ सम्बद्ध हो जाता है क्योंकि शरीर की उत्पत्ति स्वर्ग में हो या नरक में उसमें मन का सम्बन्ध रहना आवश्यक है, उसके बिना स्वर्गादि देशों में भी भोग नहीं हो सकता। इस वस्तुस्थिति के उपयुक्त यह अनुमान है कि शरीर से सम्बद्ध मन में ही क्रिया रहती है अतः अनुमान होता है कि मृत्यु के बाद और पुनः जन्म लेने से पहले मन में जो क्रिया उत्पन्न होती है, उस समय भी मन का किसी शरीर के साथ सम्बन्ध अवश्य रहता है क्योंकि मन की यह क्रिया भी महाप्रलयकालिक क्रिया से भिन्न मन की ही क्रिया है। इस सिद्धान्त को शास्त्ररूप शब्द प्रमाण का समर्थन भी प्राप्त है। इसीलिए कहा गया है **'तत्संयोगार्थ कर्मोपसर्पणमिति'** अर्थात् सद्यः उत्पन्न उस स्वर्गीय या नारकीय शरीर के साथ सम्बन्ध के लिए ही मन में उपसर्पण नाम की क्रिया मानी गई है।

इस प्रकार उक्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि वैशेषिक दर्शनाभिमत शरीर की अवधारणा प्रमुखतः स्थूल शरीर से ही सम्बद्ध है तथा यहाँ सांख्य एवं वेदान्त दर्शनों की भाँति लिंग शरीर का विस्तृत विवरण नहीं मिलता, तथापि यह कहना संगत नहीं कि वैशेषिक दर्शन में सूक्ष्म शरीर का संकेत सर्वथा अनुपलब्ध है। इसे इस रूप में कहना अधिक समीचीन होगा कि न्याय–वैशेषिक में स्थूल शरीर की अवधारणा अधिक स्पष्ट एवं सुनिश्चित है जबकि सूक्ष्म शरीर की सकंल्पना सूक्ष्म रूप में ही संकेतित है।

मृत शरीर :

उल्लेखनीय है कि 'शरीर' के अन्तर्गत मृत शरीर का भी समावेश होता है। यद्यपि मृत शरीर में चेष्टा का अभाव पाया जाता है तथापि मृत्यु से पूर्व तो उस शरीर में चेष्टा थी ही। इसलिए जैसे सुप्त अथवा अचेतन अवस्था के शरीर में चेष्टा के न होने पर भी एक विशेष प्रकार के प्रयत्न 'जीवनयोनि प्रयत्न' के रहने से श्वास–उच्छ्वास तथा भुक्त आहार का परिणमन पाया जाता है– उसी प्रकार मृत शरीर में भी चेष्टाश्रयत्व अथ्ज्ञवा भोगयोग्यता के कारण शरीरत्व का व्यवहार होता ह। शरीर सुख–दुःख के भोग का साधन तो है ही दुःखायतन होने के कारण न्यायदर्शन में उसे साक्षात् दुःख भी कहा गया है क्योंकि जो दुःख से युक्त है, वह भी दुःख है। इस लक्षण के अनुसार जीवों का सुख भी दुःख ही है और दुःख के कारणरूप शरीर आदि भी दुःखात्मक ही है। जीव का शरीर उसके सकल दुःखों का गृह है, शरीर में सभी दुःखो की निमित्तता या कारणता रहती है, अतएव दुःख से अनुविद्ध भी है। भाव यह है कि शरीरादि सुखपर्यन्त सभी पदार्थ गौणरूप में दुःख ही है– अतएव जो मुमुक्षु होगा वह शरीर आदि की तरह सुख को भी दुःख रूप में मानता है– क्योंकि वे दोनों सापेक्ष हैं। वस्तुतः महर्षि गौतम ने न्यायदर्शन में जो द्वादश प्रमेय गिनाये हैं, उनमें से शरीरादि दुःखपर्यन्त दश प्रमेय हेय हैं और प्रथम तथा चरम अर्थात् आत्मा और अपवर्ग उपादेय है किन्तु हेय तत्त्वों का हान और उपादेय तत्त्वों का उपादान करने से पूर्व उनका स्वरूपज्ञान अनिवार्य है, इसलिए यहाँ शरीर नामक द्वितीय प्रमेय के विषय में विस्तारपूर्वक विवेचन किया गया है जिसके आधार पर उक्त संकेत संगृहीत है।

2.6 ईश्वर का शरीर

वैशेषिक दर्शन के अनुसा शरीर–स्वरूप का निरूपण करते हुए यह संकेतित करना भी अप्रासंगिक न होगा कि प्रशस्तपाद तथा उनके टीकाकारों के अनुसार ईश्वर शरीरधारी नहीं है। ईश्वर जगत् का कर्ता है किन्तु शरीर का सम्बन्ध ही कर्तृत्व नहीं है, शरीर–व्यापार की अपेक्षा न रखते हुए भी केवल इच्छा और प्रयत्न की सहायता से ही चेतन में जड़–वस्तुओं को व्यापृत करने का सामर्थ्य देखा जाता है। यदि फिर भी ईश्वर के शरीरी होने का ही दुराग्रह किया जाएगा तो उसका शरीर भी जन्य होने से शरीरान्तर की अपेक्षा करेगा और इस प्रकार अनवस्था दोष होगा। अतः यही मान्यता समीचीन है कि ईश्वर शरीरी नहीं है अथवा परमाणु ही उसका शरीर हैं।

2.7 सारांश

इस भाँति वैशेषिक दर्शन में शरीर की अवधारणा से सम्बद्ध संकेतों का आकलन करने से स्पष्ट होता है कि यहाँ शरीर की उत्पत्ति एवं चय–अपचय के निरूपण में जीवविज्ञान एवं शरीरविज्ञान के कुछ आरम्भिक सूत्र सन्निहित है। योनिज शरीरों की वृद्धि–प्रक्रिया वस्तुतः परमाणुओं के सद्यटन–विद्यटन पर ही आधृत है। परमाणुओं में पाक अथवा जैविक ऊष्मा के द्वारा ही शरीर का जनम होता है, फिर अदृष्टवश शरीर का आत्मा से संयोग होता है और गर्भस्थ शिशु का देह माता द्वारा खाये गये अन्न के परिपाक से विकसित होता है और पूर्ण शरीर का रूप धारण करता है। अयोनिज शरीर भी परमाणुओं से ही जन्म लेते हैं, यद्यपि उनमें विशेष प्रकार का धर्म या अधर्म भी सहकारी कारण होता है। अतः शरीर की अवधारणा वैशेषिक दर्शन के मूल सिद्धान्तों–परमाणुवाद एवं अदृष्टवाद पर ही आधृत सिद्ध होता है।

2.8 पारिभाषिक षब्दावली

2.9 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. क्लासिकल इण्डियन फिलासॉफी ऑफ माइण्ड, किशोरकुमार चक्रवर्ती, मोतीलाल बनारसीदास
2. न्याय–दर्शन, फणिन्द्रनाथ तर्क वागीश, सम्पादक– अम्बिकादत्त शर्मा तथा प्रो. सच्चिदानन्द मिश्र
3. वैशेषिक दर्शन, डॉ. शशि प्रभा कुमार
4. भारतीय दर्शन, डा. राधाकृष्णन, राजपाल एण्ड सन्ज़, नई दिल्ली, 2016

2.10 बोध प्रश्न

1. न्याय–वैशेषिक में प्रतिपादित 'आत्म' सम्बन्धी मत की विवेचना कीजिए।
2. न्याय–वैशेषिक के 'आत्म' विषयक मत तथा बौद्ध मत की अनात्म सिद्धान्त का तुलनात्मक समीक्षा कीजिए।
3. वेदान्त के 'आत्म' तथा न्याय–वैशेषिक मत सम्बन्धी मान्यताओं को स्पष्ट कीजिए।

इकाई 3 जैन परम्परा में आत्मतत्त्व

इकाई की रूपरेखा

3.0 उद्‌देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप

- जैन संस्कृति में आत्मविषयक अवधारणा से परिचित हो सकेंगे।
- जैन दर्शन के आत्म की अनेकता सम्बन्धी मत को जान सकेंगे।
- जैन द्वारा प्रतिपादित आत्मा सम्बन्धी प्रश्नों का उत्तर दे सकेंगे।
- जैन दर्शन के व्यक्तित्व मीमांसा से जुड़ी प्रश्नों का उत्तर दे सकेंगे।

3.1 प्रस्तावना

जैन दर्शन भारतीय संस्कृति की दो चिन्तनधाराओं- वैदिक और श्रमण धारा में श्रमण धारा का प्रतिनिधि दर्शन है। समान्यतया जैन दर्शन को नास्तिक दर्शन की श्रेणी में परिगणित किया जाता है। भारतीय दर्शन को दो प्रमुख भागों में बांटा जा सकता है: (१) आस्तिक और (२) नास्तिक। सामान्यतया बोलचाल की भाषा में ईश्वर की सत्ता में विश्वास करने वाले को ''आस्तिक'' एवं विश्वास न करने वाले को ''नास्तिक'' कहा जाता है। परन्तु इस प्रचलित अर्थ में, आस्तिक व नास्तिक शब्द का अर्थ, दर्शन में नहीं किया जा सकता, क्योंकि यदि ईश्वर की सत्ता मानने वाले को आस्तिक कहा जायेगा तो 'पूर्वमीमांसा' व सांख्य दोनों दर्शन सम्प्रदायों की आस्तिक न मानकर नास्तिक मानना पड़ेगा, क्योंकि इन दर्शनों में भी ईश्वर की सत्ता का निषेध किया गया है। अत: यह मत असंगत है।

आत्मतत्व की समस्या भारतीय दर्शन की केन्द्रीभूत समस्या रही है। अनुक्षण जगत् में विषयों की विषयता से आक्रान्त, दु:खों से सन्तप्त मानव को किस प्रकार इन दु:खों से मुक्ति मिले, इसी समस्या को केन्द्र में रखकर भारतीय दर्शन आगे बढ़ता है। चूंकि दु:खों से आत्यंतिक निवृत्ति का सीधा सम्बन्ध आत्मा से है, इस लिये वेदों से लेकर आधुनिक युग के प्रमुख भारतीय दार्शनिकों ने मानव जीवन का मूल प्रयोजन आत्मज्ञान को मानते हुये, आत्मा को ही अपने चिंतन व मनन का प्रमुख विषय माना है। आत्मा से अनात्मा को पृथक् करना भारतीय

दार्शनिकों का प्रधान कार्य था, इसलिए ''आत्मानं विद्धि'' अर्थात् ''अपनी आत्मा को जानो'' का आदर्श उन्हें सदैव से प्रेरित करता रहा है। संक्षेप हम भारतीय दर्शन के अन्य सम्प्रदायों में आत्मा के स्वरूप पर विचार करेगे।

3.2 वैदिक परम्परा में आत्मसम्बन्धी सिद्धान्त

वेदों को भारत के सबसे प्राचीन साहित्य के रूप में माना जाता है। वेदों में तत्त्वमीमांसात्मक विचारणा एक अन्तरस्थ और सार्वभौम यथार्थ की धारणा के अतिरिक्त बहुत अधिक नहीं है। वैदिक ऋषि अपने चिन्तन की प्रारम्भिक अवस्था में बाह्य जगत् की आधारभूत शक्तियों की खोज में ही सन्नद्ध दिखाई देता है और अपने विचारों की सार्थकता में वह अनेक देवताओं की कल्पना कर डालता है। शनै: शनै: वैदिक ऋषि अनेकता की असन्तोषप्रद धारणा से ऊबकर निखिलविश्व के आदि कारण उस परम एक तत्त्व की खोज में तत्पर होता है जो सबका परम् मूल व सर्वनियन्ता है। इसी प्रक्रिया में, जब वह परमसत् को बाह्य जगत् में पाकर अपने ''स्व'' में ढूँढ़ना आरम्भ किया, तब आत्मतत्त्व की बीजवत् सम्भावनायें दिखाई दीं, जिनकी विस्तृत विवेचना आगे चलकर वेद के अन्तिम भाग उपनिषदों द्वारा की गयी है। वेदों में ''आत्मा'' शब्द का प्रयोग अनेक स्थलों पर अनेक अर्थों में हुआ है। ऋग्वेद में ''आत्मा'' व ''आत्मन्'' आदि शब्दों का प्रयोग प्रचुर मात्रा में हुआ है। जिससे स्पष्ट हो जाता है कि ''आत्मा'' के विषय में चिन्तन ऋग्वैदिक काल से ही आरम्भ हो गया था। ऋग्वेद में अनेक मन्त्र ऐसे हैं, जिनसे वैदिक ऋषियों की आत्म-जिज्ञासा का पता चलता है। यजुर्वेद सम्पूर्ण जगत् में श्रेष्ठ आत्मा को जानने का उद्घोष करता है। एक मन्त्र में कहा गया है कि ''मनुष्य! अपनी आत्मा को जानो, और परमात्मा को जानो, यदि मृत्यु से बचना चाहते हो। अथर्व्ववेद में ''आत्मा'' शब्द शरीर, ईश्वर व जीव तीनों के लिये प्रयुक्त हुआ है। ''हन्तिआत्मानमात्मना'' तथा ''तस्मिन्न् यद् यक्षमात्मन्वद''में आत्मा शरीर अर्थ में प्रयुक्त है।

उपिनषदों में आत्मा का स्वरूप:

उपनिषद् दर्शन मुख्य रूप से आत्मतत्त्व दर्शन है। उपनिषदों में सम्पूर्ण चिन्तन तथा समस्त अस्तित्वों का केन्द्र आत्मा ही है। उपनिषदों के अनुसार आत्मा 'आत्मा नित्य, अजन्मा, शाश्वत (अर्थात् न कभी उत्पन्न होता है, न मरता है) पुरातन तथा नित्य, अणु से भी अणुतर व महान् से भी महत्तर है। वह जीव की हृदयरूप गुहा में स्थित है।वह शरीरों रहित तथा अनित्यों में नित्यरहित है।वह शरीररूपी रथ का सारथी है,वह शरीर, बुद्धि, मन से अतिरिक्त व महान् है। आत्मा पंचकोशातीत है ये कोश हैं- अन्नमयकोश, प्राणमयकोश, मनोमयकोश, विज्ञानमयकोश, आनन्दमयकोश। आत्मा इनसे भिन्न है। आत्मा की तीन अवस्थाएँ हैं- जाग्रत, स्वप्न व सुषुप्ति। ये तीनों अवस्थाएँ, एक चौथी अवस्था में सम्मिलित हैं, जिसे तुरीयावस्था कहते हैं। आत्मा और ब्रह्म के ऐक्य को उपनिषदों ने बताया है। उपनिषदों में आत्मा को ब्रह्म के अलावा जीवात्मा या 'जीव' शब्द से भी व्याख्यायित किया गया है। जीवात्मा आत्मा है किन्तु सान्त, अज्ञानाच्छादित। सान्त आत्मा अथवा शरीरधारी आत्मा, वह आत्मा है जिसके साथ इन्द्रियों एवं मन का सम्बन्ध है। उपनिषदों में जीव का बन्धन अविद्याजन्य बतलाया गया है। आत्मज्ञान या ब्रह्मज्ञानरूप मोक्ष के लिये उपनिषदें साधनरूप में श्रवण, मनन व निदिध्यासन को बतलाती है।

भगवद्गीता में आत्मा का स्वरूप

भगवद्गीता में भी परमतत्त्व आत्मा या ब्रह्म का विशद विवेचन किया गया है। आत्मतत्त्व का विवेचन कृष्ण के उस उपदेश में निहित है, जो भगवान् कृष्ण, मोहमाया से ग्रसित, कर्तव्यों से विरत, शोकाकुल हुए, अर्जुन को युद्ध में प्रवृत्त होने के लिये दिये हैं। आत्मतत्त्व का वर्णन वैसे गीता में अन्य अध्यायों में भी है पर मुख्यरूप से दूसरे अध्याय में इसका विशद विवेचन मिलता है। क्षर, अक्षर, और पुरुषोत्तम ये गीता के तीन तत्त्व हैं। सभी भूत 'क्षर' हैं अर्थात् जो विनाशशील है, जिनमें परिवर्तन नहीं होता, जो कूटस्थ, नित्य, अविनाशी है, वही अक्षर, पुरुष या क्षेत्रज्ञ है। पुरुषोत्तम या परमात्मा के अन्दर ये क्षर और अक्षर दोनों समा जाते हैं, वस्तुत: यह पुरुषोत्तम 'क्षर', 'अक्षर' से अतीत व दोनों से उत्तम है। गीता के अनुसार आत्मा अजन्मा, नित्य, शाश्वत व पुरातन है। यह शरीरादि से भिन्न षट्विकारों से रहित है। न वह जन्मता है, न मरता है। यह जन्म और मृत्यु से परे हैं। इस नाशरहित अप्रमेय, नित्यस्वरूप आत्मा के ये सब शरीर नाशवान कहे गये हैं।गीता में आत्मा को क्षेत्रज्ञ भी कहा गया है। इच्छा, द्वेष, सुख, दु:ख और पंच महाभूतों का संघात यह शरीर 'क्षेत्र' है,अर्थात् इन्द्रियों सहित पंचमहाभूतों से बना यह शरीर 'क्षेत्र' है। इस 'क्षेत्र' का ज्ञाता अथवा इसका स्वामी क्षेत्रज्ञ या आत्मा है। गीता भी आत्मा और ब्रह्म की एकता का प्रतिपादन करती है। इस मर्त्य शरीर के पीछे 'आत्मा' है जो शरीरादि से भिन्न है और संसार के क्षणिक पदार्थों की पृष्ठभूमि में 'ब्रह्म' है, दोनों एक हैं क्योंकि दोनों एक स्वभाव वाले हैं, अर्थात् बाह्य सृष्टि के नामरूप से आच्छादित अविनाशी तत्त्व और अपने शरीर का वह आत्मतत्त्व दोनों एक ही है। ये दोनों अमर, अव्यय और एक स्वरूपी हैं।जब आत्मा प्रकृति में या शरीर में, गुणों या विषयों के कारणबद्ध रहता है, तो उसे जीवात्मा कहते हैं। जीव का बन्धन कर्मों के द्वारा होता है और ज्ञान द्वारा उसका उद्धार होता है। प्रत्येक कर्म चाहे वह भला हो या बुरा स्वाभाविक परिणाम उत्पन्न करता है। प्रत्येक कर्म, कर्त्ता के अन्दर अहंकार की भावना उत्पन्न करता है जो जीव के बन्धन का कारण बनता है, अत: कर्मों का त्याग कर देना चाहिये। कर्मो का त्याग ही मोक्ष है।

न्याय-वैशेषिक दर्शन में आत्मा का स्वरूप

न्याय-वैशेषिक दर्शन वस्तुवादी दर्शन है। इन्हें समानतन्त्र भी कहते हैं। न्याय दर्शन के प्रणेता अक्षपाद गौतम तथा वैशेषिक दर्शन के प्रवर्तक महर्षि कणाद् हैं।' आत्मा के विषय में न्याय-वैशेषिक का स्वतन्त्र सिद्धान्त है। न्याय दर्शन में आत्मा की गणना प्रमेय में और वैशेषिक में द्रव्य के अन्तर्गत की गयी है। न्याय दर्शन में निर्दिष्ट- (१) आत्मा, (२) शरीर, (३) इन्द्रिय, (४) अर्थ, (५) बुद्धि, (६) मन, (७) प्रवृत्ति, (८) दोष, (९) प्रेत्यभाव, (१०) फल, (११) दु:ख, (१२) अपवर्ग, ये बारह प्रमेय हैं, जिसमें आत्मा का स्थान सर्वप्रथम है। वैशेषिक दर्शन में आत्मा की गणना ''द्रव्य'' कोटि में की गयी है। वैशेषिक मत में आत्मा शरीरादि से भिन्न एवं चैतन्य गुण से सम्पन्न एक स्वतन्त्र तत्त्व है। न्याय के अनुसार आत्मा एक ऐसा द्रव्य है जिसमें बुद्धि, सुख, दु:ख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म, भावनाख्य संस्कार, संख्या, परिमाण, पृथकत्व, संयोग तथा विभाग ये चौदह गुण हैं। आत्मा प्रतिशरीर भिन्न अनादि, अनन्त नित्य व विभु है। आत्मा सबका द्रष्टा, भोक्ता व सर्वज्ञ है। जीवात्मा की सिद्धि में सर्वप्रथम ''अहं सुखी'', ''अहं दु:खी'' आदि प्रत्यक्ष ही प्रमाण है। ''मैं जानता हूँ'', ''मैं सोचता हूँ'', ''मैं सुखी हूँ'', ''मैं दुखी हूँ'', इस रूप में सबको आत्मा का मानसप्रत्यक्ष होता है। स्वात्मनिष्ठ प्रवृत्यादि के द्वारा परात्मा का अनुमान होता है। न्याय-वैशेषिक दर्शन में जीवात्मा की सिद्धि मुख्यत: अनुमान व आगम प्रमाण से की गयी है। आत्मा ज्ञान स्वरूप नहीं अपितु आत्मा उसका आगन्तुक स्वरूप है।

न्याय-वैशेषिक दर्शन में आत्मा के दो भेद हैं- (१) परमात्मा तथा (२) क्षेत्रज (जीवात्मा)। नैयायिक अनुमान प्रमाण से ईश्वर का अस्तित्व सिद्ध करते हैं। उदयन की न्यायकुसुमांजलि में ईश्वर साधक निम्नयुक्तियों का प्रतिपादन किया गया है:

कार्यायोजन - धृत्यादेः पदात् प्रत्ययतःश्रुतेः
वाक्यात् सांख्याविशेषाच्च साध्योविश्वविदव्ययः।।

वैशेषिक ईश्वर को नहीं मानता। न्याय-वैशेषिक के अनुसार जीव के बन्धन का मुख्य कारण मिथ्याज्ञान है। यह बन्धन जीवात्माओं का ही होता है, ईश्वर का नहीं। न्याय-वैशेषिक के अनुसार यह बन्धनस्वरूप मिथ्याज्ञान तत्त्वज्ञान से विनिष्ट होता है और फलतः जीव को मोक्ष की प्राप्ति होती है। इनके अनुसार आत्मा का अपने स्वाभाविक रूप में अनन्त काल के लिए अवस्थान ही मोक्ष है । मोक्ष की परिभाषा देते हुए नैयायिक कहता है कि ''दुःखों की आत्यन्तिक निवृत्ति का नाम ही मोक्ष है- अशेषविशेषगुणोच्छेदो मोक्षः।

तुलनाः न्याय-वैशेषिक दार्शनिक यह मानते हैं कि आत्मा अनेक गुणों और धर्मों का आश्रयरूप है। लेकिन दोनों में मौलिक अन्तर भी है। जैनाभिमत आत्मा अनन्त दर्शन, अनन्त ज्ञान, अनन्त वीर्य और अनन्त सुख रूप है, जब कि न्याय वैशेषिक ज्ञान, सुख, दुःख इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म और संस्कार को आत्मा के विशेष गुण मानता है। न्याय-वैशेषिक मत में इन गुणों का मोक्ष में विनाश हो जाता है क्योंकि उन्होंने जीवात्मा को अनित्य माना है । जैन मतानुसार आत्मा के स्वाभाविक गुणों का विनाश मोक्ष में नहीं होता है। न्याय-वैशेषिक ने जैन मुक्तात्मा की तरह ईश्वर के ज्ञान, इच्छा और प्रयत्न को नित्य मानते हैं । जैन दर्शन में आत्मा शरीर प्रमाण है और न्याय वैशेषिक दर्शन में व्यापक है। न्याय-वैशेषिक दार्शनिक आत्मा को अमूर्तिक मानते हैं, किंतु जैन दार्शनिक कर्मसम्बद्ध आत्मा को मूर्तिक मानते हैं।

सांख्य-योग दर्शन में आत्मा का स्वरूप :

सांख्य-योग दर्शन भारतवर्ष के प्राचीन महत्त्वपूर्ण दर्शनों में अन्यतम् है। सांख्य दर्शन के आदि प्रवर्तक के रूप में महर्षि कपिल प्रतिष्ठित हैं तथा योग के प्रवर्तक महर्षि पतंजलि हैं। सांख्य-योग में आत्म-तत्त्व 'पुरुष' शब्द से वाच्य है। सांख्य-योग के अनुसार आत्मा या पुरुष कूटस्थ, नित्य, चैतन्यस्वरूप, निरवयव, असंग,अपरिणामी, नित्य शुद्ध, नित्य बुद्ध, नित्यमुक्त व निरन्जनतथा अनेक है। वह सनातन ज्ञाता है, कभी ज्ञान का विषय नहीं होता। वह चैतन्य का आधाररूप द्रव्य नहीं, अपितु स्वयं चैतन्यस्वरूप है। प्रत्येक परिणामी अर्थ, संघात के रूप में अवस्थित रहता है, उसका और कोई रूप नहीं, परन्तु चेतन पुरुष असंग होने के कारण व परिणाम रूप धर्म से अयुक्त होने के कारण अपरिणामी है। इसीलिये पुरुष शुद्ध स्वभाव भी है। पुरुष नित्यबुद्ध या ज्ञानस्वरूप है। चैतन्य उसका गुण नहीं प्रत्युत स्वभाव है। वह मुक्त स्वभाव भी है; क्योंकि बन्धनादि प्रकृति के होते हैं, पुरुष के नहीं। पुरुष शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि, काल, देश व कार्य-कारण की शृंखला से परे हैं। वह न तो किसी के द्वारा उत्पन्न होता है और न ही किसी को उत्पन्न करता है। पुरुष या आत्मा की सत्ता की सिद्धि पंचविध हेतुओं के द्वारा की गयी है।

संघातपरार्थत्वात् त्रिगुणादिविपर्ययात् अधिष्ठानाच्चेति
पुरुषो अस्ति भोक्तृâभावात्वैâवल्यार्थप्रवृत्तेश्च ।

सांख्य योग में पुरुष को अनेक माना गया है। जन्म-मरण की व्यवस्था से पुरुष के अनेकता की सिद्धि होती है। सभी प्राणियों की एक साथ प्रवृत्ति नहीं होती, इससे भी सिद्ध होता है कि पुरुष अनेक हैं। सांख्य योग में पुरुष को अकता और भोक्ता माना गया है। सांख्य के अनुसार दु:ख तीन प्रकार के होते हैं- आध्यात्मिक, आधिभौतिक, और आधिदैविक।इन तीनों दु:खों की आत्यन्तिक निवृत्ति ही मोक्ष है। सांख्य-योग में बन्धन का कारण अविद्याबताया गया है। पुरुष व प्रकृति में भेद न कर पाना ही अविद्या है। दोनों की भेद वृत्ति ही विद्या है जो मोक्ष का कारण है।

तुलना: सांख्य दर्शन में आत्मा के लिए 'पुरुष' शब्द प्रसिद्ध है जब कि जैन दर्शन में जोव और आत्मा दोनों शब्दों का प्रयोग परिलक्षित होता है। दोनों दर्शनों में आत्मा की 'अजीव' या प्रकृति से भिन्न सत्ता स्वीकार की गयी है । दोनों दार्शनिक परम्पराएँ इस बात से सहमत हैं कि चैतन्य आत्मा का आगन्तुक गुण नहीं है जैसा कि न्याय वैशेषिक मानते हैं। चैतन्य आत्मा का वास्तविक गुण है और यह आत्मा की समस्त अवस्थाओं में मौजूद रहता है। सांख्य दर्शन का पुरुष अपरिणामी तथा अपरिवर्तनशील है, लेकिन जैन दर्शन आत्मा द्रव्य दृष्टि से अपरिणामी और पर्याय दृष्टि से परिणामी है । सांख्यों का पुरुष नित्य कूटस्थ है, लेकिन जैनों की आत्मा द्रव्य दृष्टि से नित्य और पर्याय की दृष्टि से अनित्य है । सांख्य और जैन दर्शन में महत्वपूर्ण अन्तर यह है कि सांख्य मत में ज्ञान पुरुष का गुण या स्वभाव नहीं माना गया है। ईश्वरकृष्ण ने ज्ञान को बुद्धि का, जो प्रकृति का परिणाम है, गुण कहा है। इसके विपरीत जैन दार्शनिक आत्मा को ज्ञानस्वरूप मानते है। सांख्य-दर्शन में आत्मा राग-द्वेष और सुख-दुःख से रहित माना गया है, लेकिन जैन दर्शन में संसारी आत्मा का रागी-द्वेषी और सुखी-दुःखी होने की परिकल्पना की गयी है और निश्चयनय की अपेक्षा सांख्य दर्शन की तरह रागद्वषादि से रहित माना गया है।

पूर्वमीमांसा में आत्मा का स्वरूप

मीमांसा शास्त्र के प्रणेता आचार्य जैमिनि हैं। जैमिनिरचित मीमांसा-सूत्र, वैदिक व्याख्या के एक सुदीर्घ इतिहास की पूर्वकल्पना करता है। इसके कुमारिल भट्ट और प्रभाकर मिश्र दो प्रमुख दार्शनिक हैं। कुमारिल भट्ट के अनुसार आत्मा, शरीर, इन्द्रिय, बुद्धि आदि से भिन्न नित्य, अविनाशी, कर्ता-भोक्ता, प्रतिशरीर भिन्न एवं विभु है। कुमारिलभट्ट ने अपने श्लोकवार्तिकके आत्मवाद में, आत्मतत्त्व की सिद्धि के लिये ''तत्स एष यज्ञायुधी यजमानोऽन्जसा स्वर्गलोकं याति''इस वेद वाक्य को उद्धृत किया है, अर्थात् वह यज्ञायुधी (यज्ञपात्रों से युक्त यजमान) सरलता से स्वर्ग को जाता है, यहाँ ''स एष'' के द्वारा प्रत्यक्ष शरीर को ही कहा गया है परन्तु शरीर तो मरणोपरान्त यही विनष्ट हो जाता है, पुन: स्वर्ग को कौन जाता है? अत: शरीर के सम्बन्ध से, जिसका वह शरीर है, वह यज्ञायुधी आत्मा रूप यजमान स्वर्ग को जाता है।'' आत्मा शरीर से भिन्न है, इसमें प्राणादि तथा सुखादि ही प्रमाण हैं। ज्ञान भी आत्मा का गुण नहीं हो सकता; क्योंकि यह भी यावतशरीर धर्म नहीं है अत: ज्ञान जिसका गुण है, वही आत्मा है।शबरस्वामी और कुमारिल भट्ट की तरह प्रभाकर मिश्र ने अपनी ''बृहती'' व्याख्या में 'स एष यज्ञायुधी यजमानोऽन्जसा स्वर्गलोकं याति, इस वेद वाक्य को आत्मा की सिद्धि के लिए आधार रूप में लिया है। प्रभाकर कहते है कि वस्तुत: आत्मा प्रत्यक्षरूप में उपलब्ध नहीं है, फिर भी अनुमान के द्वारा उसकी उपलब्धि करते हैं। कार्य को देखकर कारण का अनुमान करते है जैसे- प्राण, अपान आदि कार्य हैं जो भूतों के कार्य नहीं हो सकते। अर्थात् श्वास-प्रश्वास, रूप जो कार्य है या धर्म है, वह शरीर का धर्म नहीं हो सकता: क्योंकि यह यावतशरीभावी या जबतक शरीर रहती है तब तक नहीं रहता। अत: प्राण-अपानादि शरीर के धर्म न होकर किसी

अन्य के धर्म हैं, और जिसके धर्म हैं, वही आत्मा है। अर्थात् आत्मा, बुद्धि, इन्द्रिय, शरीरादि से भिन्न, नित्य, विभु एवं प्रतिशरीर भिन्न है, तथा प्रत्येक अर्थ (विषय) के ज्ञान में आत्मा का स्वत: भान होता है। प्रभाकर आत्मा को कर्त्तामानते हैं साथ ही साथ भोक्ता भी। आत्मा प्रतिशरीर भिन्न है जितने शरीर हैं उतनी आत्मा है। आत्मा का बन्धन प्रपन्च सम्बन्ध के कारण है।प्रपन्च सम्बन्ध से आत्मा शरीरावच्छिन्न बनकर इन्द्रियों की सहायता से बाह्य विषयों, जैसे सुख-दु:खादि का अनुभव करता है। यही बन्धन का कारण है। कुमारिल भट्ट के मत में प्रपन्च का त्रिविध बन्धन ही जीव को भव-बन्धन में बांधता है- यह है- भोगायतन (शरीर), भोग साधन (इन्द्रिय) और भोग्य विषय (रूप, रस शब्दादि)। प्रपन्च के सम्बन्ध का विलय ही मोक्ष है न कि प्रपन्च का जैसा कि आचार्य शंकर मानते हैं।

तुलना: प्रभाकर और कुमारिल भट्ट दोनों सम्प्रदाय जैन और सांख्य दार्शनिकों तरह आत्मा को चैतन्य स्वरूप नहीं मानते हैं। प्रभाकर और उसके मतानुवाद न्याय वैशेषिक की तरह आत्मा को जड़वत् मान कर चैतन्य को उस आगन्तुक गुण मानते हैं, जो मन और इन्द्रियों के साथ आत्मा का सम्पर्क होने उत्पन्न होता है। कुमारिल भट्ट न न्याय वैशेषिक और प्रभाकर की तरह जड़वत् मानता है और न जैन और सांख्यों की तरह चैतन्य स्वरूपहै बल्कि बोधाबोधात्मक स्वरूप मानता है। कुमारिल भट्ट जैन दार्शनिकों की तरह आत्मा को परिणामी और नित्य मानता है, जब कि प्रभाकर तथा उसके मतानुयायी आत्मा को अपरिणामी और नित्य मानते हैं। इसी प्रकार जैनों की तरह ज्ञान को आत्मा का परिणाम मानते हैं। कुमारिल भट्ट का आत्मा सम्बन्धी विचार जैन दर्शन सम्बन्धी आत्मा के विचार से इस बात में भी समानता रखता है कि आत्मा ज्ञाता और ज्ञेय है। मीमांसा दर्शन में जैन दर्शन की तरह आत्मा को कर्ता, भोक्ता, ज्ञाता कह कर अनेक आत्माओं को कल्पना की गयी है। इसी प्रकार दर्शनों में आत्मा अमर, स्वयं प्रकाशमान, आत्म-ज्योति रूप तथा उत्पत्ति विनाश रहित द्रव्य माना है। मीमांसा का आत्मा सम्बन्धी विचार जैन दर्शन के आत्मा सम्बन्धी विचार से इस बात में समानता रखता है कि मृत्यु के पश्चात् आत्मा अपने पुराने शरीर को छोड़ कर अपने कर्मों को भोगने के लिए परलोक गमन करती है। जैन दार्शनिकों की तरह मीमांसक दार्शनिक इस बात से सहमत हैं कि आत्मा को कर्मफल की प्राप्ति ईश्वर के द्वारा नहीं होती है। इसके लिए उन्होंने 'अपूर्व'' की कल्पना की है जब कि जैनों ने फल प्रदान करने की शक्ति कर्मों में ही मानी है। संक्षेप में कुमारिल भट्ट का आत्मा सम्बन्धी विचार जैनों के नजदीक है।

वेदान्त दर्शन में आत्मा का स्वरूप

''वेद'' एवं ''अन्त'' इन दो पदों से निष्पन्न `वेदान्त' शब्द वेद के अन्तिम भाग उपनिषद् का पारिभाषिक शब्द है। सामान्यत: वेदान्त (उत्तर मीमांसा) को वेद के अन्तिम भाग के रूप में माना जाता है वेदान्त दर्शन सूत्रों में उपलब्ध है। वेदान्त सूत्र ही ब्रह्मसूत्र या शारीरिक सूत्र नाम से प्रसिद्ध है। ब्रह्मसूत्रों के रचयिता आचार्य बादरायण माने जाते हैं। वेदान्त में गौडपादीय अद्वैत-वेदान्त, शंकराचार्य का अद्वेत वेदान्त, रामानुज का विशिष्टाद्वैत, मध्व का द्वैतवाद, निम्बार्क द्वैताद्वैत, बल्लभ का शुद्धाद्वैत तथा निम्बार्क का अचिन्त्यभेदाभेद परगिणित किये जाते हैं।

गौड़पाद के अनुसार आत्मा का स्वरूप

प्राचीन अद्वैतवाद का पूर्णतया विकसित स्वरूप गौड़पादाचार्य के दर्शन में उपलब्ध होता है। गौड़पादीय दार्शनिक सिद्धान्तों का प्रतिपादन, गौड़पादकारिका या माण्डूक्यकारिका में किया गया है। गौड़पाद का मूल सिद्धान्त 'अजतिवाद' के नाम से जाना जाता है। जगत् मिथ्या है अत:

परमार्थत: अनुत्पन्न है, तत्त्व सत् है, अत: अज है। जगत् आत्म तत्त्व का प्रतिभास है। किसी भी तरह का द्वैत माया है, अद्वैत परमार्थ है। कोई वस्तु उत्पन्न नहीं होती। जगत् जीव से भिन्न नहीं है, जीव आत्मा से भिन्न नहीं है, आत्मा, ब्रह्म से भिन्न नहीं है। कूटस्थ, नित्य, सच्चिदानन्द आत्मा पर इतना अधिक बल दिया है कि एक विद्वान ने उनके दर्शन को ही 'आत्माद्वैतवाद'' कह डाला है।गौड़पाद के अनुसार एकमात्र आत्मतत्त्व ही सत् है। वह नित्य शुद्ध-बुद्ध-मुक्त-स्वभाव एवं स्वयंप्रकाश है। आत्मा के लिये जन्म-मरण बन्धनादि कपोल कल्पित हैं, वह अमर, अजन्मा व असंग है। गौड़पाद आत्मा को चार पादों वाला बताते हैं- प्रथमपाद- जाग्रत अवस्था जिसकी अभिव्यक्ति का स्थान है, जो बहिस्प्रज्ञ है। आत्मा का द्वितीय पाद तैजस् है। स्वप्न इस तैजस् का स्थान है। तैजस अन्त:प्रज्ञ सात अंगों वाला उन्नीस मुखवाला और सूक्ष्मविषयों का भोक्ता है। आत्मा का तृतीय पाद ''प्राज्ञ'' है। सुषुप्ति, प्राज्ञ का स्थान है। आत्मा का चौथा पाद ''तुरीय'' है। ''तुरीय'' उपर्युक्त तीनों पादों से विलक्षण है।गौड़पाद के अनुसार आत्मा ही ब्रह्म है। दोनों में अभेद है। ब्रह्म सर्व व ज्ञप्ति रूप होने से सर्वज्ञ है।'' ब्रह्म सब प्रकार के वाग्व्यापार से रहित सब प्रकार के चिन्तन से ऊपर अर्थात् अन्त:करण से रहित है। वह अत्यन्त नित्यप्रकाश, समाधिस्वरूप, अचल और अविकारी होने के कारण अभय है। ''आत्मा या ब्रह्म बुद्धि की कोटियों से अग्राह्य है। बुद्धि सद्, असत, सद्सत् और सद्सद्भिन्न इन चार कोटियों में लिप्त रहती है। परन्तु आत्म तत्त्व अस्ति, नास्ति, उभय और नोभय आदि कोटि चतुष्टय से रहित है व स्वानुभूति का विषय है।वह नित्य, शुद्ध, बुद्ध और मुक्तस्वभाव है। वह अनिर्वचनीय है। गौड़पाद के अनुसार आत्मा व जीव में अभेद है। गौड़पाद के अनुसार जगत् मिथ्या है, अत: परमार्थत: अनुत्पन्न है, तत्त्व सत्य है, अत: अज है। इस सिद्धान्त को ''अजातिवाद'' कहते हैं।गौड़पाद के अनुसार अविद्या ही आत्मा के बन्धन का कारण है। इस अविद्या की विद्या के द्वारा निवृत्ति या जीवात्मा के अन्दर आत्मा का साक्षात्कार कर लेने का नाम ही मोक्ष है। जिस समय चित्त सुषुप्ति में लीन न हो, विक्षिप्त भी न हो तथा निश्चल और विषयाभास से रहित हो जाय उस समय वह ब्रह्ममय हो जाता है।

आचार्य शंकर के अनुसार आत्मा का स्वरूप:

अद्वैत वेदान्त का मूल मन्त्र है, परमार्थ सत्ता रूप ब्रह्म की एकता तथा अनेकात्मक जगत् की मायिकता। इस तथ्य की हृदयंगम करने के लिये कतिपय मौलिक सिद्धान्तों में से एक मौलिक सिद्धान्त जिसे समझ लेने पर अन्य तत्त्वों का अनुशीलन किया जा सकता है, वह है आत्मा का सिद्धान्त। शंकर के अनुसार आत्मा स्वयं सिद्ध है। उसकी सिद्धि के लिये किसी अनुमान या प्रमाण की कोई आवश्यकता नहीं।आत्मा के अस्तित्व का अनुभव ''मैं हूँ'' इस रूप में सबको होता है। ऐसा कोई अनुभव नहीं करता कि ''मैं नहीं हूँ''। यदि आत्मा का अस्तित्व प्रसिद्ध नहीं होता तो सब लोग ''मैं नहीं हूँ'' ऐसा अनुभव करते। आत्मा होने के कारण ही आत्मा का अपलाप नहीं हो सकता। अद्वैत वेदान्त के अनुसार ज्ञातृ, ज्ञान, ज्ञेय के सम्बन्ध में जागत् आत्मा अर्थात् ''अहं'' को आत्मा न मानकर, अध्यस्त एवं मिथ्या कहा गया है। शंकर कहते हैं कि ''अहं'' इस प्रतीति का विषय लोकसिद्धकर्ता, भोक्ता संसारी है, उसी को प्राय: सभी लोग आत्मा मानते हैं। परन्तु आत्मा तो अहंकारादि लोकप्रसिद्ध प्रतीति का साक्षी, सब भूतों में स्थित, एक, कूटस्थ, नित्य सबका आत्मा है। वह ज्ञान स्वरूप स्वयं प्रकाश मान है। आचार्य शंकर न्याय-वैशेषिक के इस मत का सर्वथा खण्डन करते हैं कि आत्मा बुद्धिसम्पन्न द्रव्य है, या आत्मा का चैतन्य के साथ धर्मी और धर्म का सम्बन्ध है।आत्मा सच्चिदानन्दस्वरूप है। विश्व की किसी भी शक्ति से अबाधित तीनों कालों में एकरूप से विद्यमान वस्तु को सत् कहते हैं,

आत्मा सत् है।आत्मा चित्स्वरूप या स्वयंप्रकाश है। आत्मा का यथार्थस्वरूप नित्य ज्ञान है।आत्मा आनन्दस्वरूप है। वह सम्पूर्ण दु:ख व आयास से रहित, सुखस्वरूप एवं अमृतमय, सर्वदा अपने अन्त:करण में ही विशेष रूप से भासित होता है।विमुक्तात्मा ने इष्टसिद्धि में आत्मसुख की अभिव्यक्ति व अनभिव्यक्ति को बताते हुए कहा है कि जिसकी छाया मात्र से अन्त:करण में आनन्दता आती है वह आत्मा ही वस्तुत: आनन्द है। आत्मा और ब्रह्म एक है। चार महावाक्य- अयमात्मा ब्रहम, सर्वं खल्विदं ब्रह्म, तत्वमसि तथा प्रज्ञानं ब्रह्म इसी की पुष्टि करते हैं। आचार्य शंकर के अनुसार शरीर और इन्द्रियरूपी पन्जर का स्वामी कर्मफल का सम्बन्धी ''जीव'' नामक आत्मा है। अत: आत्मा ही जीव है।शुद्ध चैतन्य अर्थात् आत्मा व अविद्योपहित चैतन्य अर्थात् जीव, के सम्बन्धों को अद्वैतवेदान्त में आभासवाद, प्रतिबिम्बवाद और अवच्छेदवाद के सिद्धान्त द्वारा समझाया गया है।जीव की चार अवस्थाएं हैं-(१) जाग्रत अवस्था, (२) स्वप्नावस्था, (३) सुषुप्तावस्था, (४) तुरीयावस्था।

शंकर की मान्यता है कि बन्धन का मूल कारण अविद्या है।''अनात्मवस्तुओं में ''अहं'' इस आत्मबुद्धि का होना जन्ममरणरूपी क्लेशों की प्राप्ति कराने वाला अज्ञान से प्राप्त हुआ बन्धन है। अविद्या के विनाश से ही मुक्ति सम्भव है। मोक्ष की परिभाषा देते हुए आचार्य शंकर ने कहा है कि 'आत्मा की अपने स्वरूप में अवस्थिति ही मोक्ष है'। मोक्ष के साधन के रुप में उन्होंने अद्वैतवेदान्त में मोक्ष के चार साधन बताये गये हैं, जिन्हें साधनचतुष्टयकहा जाता है। ये हैं-१- नित्यानित्यवस्तुविवेक, २- इहामुत्रार्थभोगविराग ३- शमदमादिसाधनसम्पत ४- मुमुक्षत्व।

तुलना: शंकराचार्य सांख्यों की तरह आत्मा को वास्तविक कर्ता और भोक्ता न मान कर उपाधियों के कारण कर्ता भोक्ता मानते हैं, लेकिन जैन दार्शनिक आत्मा को यथार्थ रूप से न्याय वैशेषिक और मीमांसकों की तरह कर्तामोक्ता मानताहै। शंकराचार्य, जैन आदि भारतीय दार्शनिकों की भांति आत्मा को अनेक न मान कर एक मानते हैं। जैन दार्शनिक शंकराचार्य के इस मत से सहमत नहीं हैं कि जैसे एक चन्द्रमा का प्रतिबिम्ब जल की विभिन्न सतहों में पड़ने से अनेक की प्रतीति होती है, उसी भांति अविद्या (शरीर और मनस् की उपाधियों) के कारण एक आत्मा अनेक दिखलाई पड़ते हैं। संक्षेप में शंकराचार्य ने आत्मा को एक और जीव को अनेक माना है, लेकिन जैन आत्मा को अनेक मानते हैं । अद्वैत वेदान्त मत में आत्मा निष्क्रिय है इसके विपरीत जैन दर्शन में आत्मा को सक्रिय माना गया है । जैन दार्शनिक आत्मा को सावयवी (प्रदेशी) और अव्यापक मानता है और अद्वैत वेदान्त आत्मा को निरवयवी तथा व्यापक मानता है । वेदान्तियों के जीव को ईश्वर कर्मों का फल प्रदान करता है लेकिन जैन दार्शनिक मत में आत्मा के कर्मों के फल प्राप्ति में ईश्वर जैसी सत्ता की कल्पना नहीं की गयी है । जैन दार्शनिक वेदान्तियोंकी तरह यह भी नहीं मानते हैं कि जीव का कोई (ईश्वर) शासक है ।

रामानुज के अनुसार आत्मा का स्वरूप: रामानुजाचार्य ने चित्-अचित्- विशिष्ट अद्वैत अर्थात् विशिष्टाद्वैत की स्थापना की है। रामानुज वेदान्त में चित् या आत्मतत्त्व ''देव, इन्द्रिय, मन, प्राण और बुद्धि से भिन्न, जड़ से भिन्न अर्थात् चेतन आनन्दस्वरूप, नित्य, अणु, अव्यक्त, निरवयव, निर्विकार एवं ज्ञानाश्रय है। साथ ही वह ईश्वर का नियाम्य, धार्य एवं शेष है।''वह सर्वोपरि ब्रह्म के ही एकरूप के द्वारा यथार्थ, अद्भुत, नित्य, बुद्धिसम्पन्न, आत्मचेतना से युक्त, अखण्ड, अपरिवर्तनशील, अदृश्य, शरीर-इन्द्रियों से भिन्न, ज्ञाता, कर्ता और भोक्ता है। रामानुज के अनुसार ब्रह्म समस्त दोषों से रहित, निरवधि, असंध्येय, कल्याणमय गुणों से युक्त है। ''ब्रह्म'' शब्द सर्वत्र ''बृहत्व'' गुण वाला कहा गया है। स्वरूपत: गुणानुसार असीमता और अतिशायिता ही ''बृहत्व'' का सही अर्थ है।

तुलना: रामानुज का जीवात्मा- विचार जैन दार्शनिकों के आत्म-विचार से भिन्न भी है। रामानुज जीवात्मा को ब्रह्म का अंग या गुण मान कर ईश्वर परतन्त्र मानता है। जैन दार्शनिकों की तरह रामानुज आत्मा की स्वतन्त्र सत्ता नहीं मानता है, किन्तु ब्रह्म या ईश्वर को जीव का मालिक और संचालक स्वीकार करता है । रामानुज ब्रह्म को जीवों के शुभ-अशुभ कर्मों का फलदाता मानता है लेकिन जैन चिन्तक कर्मों को ही कर्मफल प्रदान करने की शक्ति मानता है। इसी प्रकार रामानुज जीवात्मा को अणुरूप मानता है किन्तु जैन दार्शनिक उसे अणुरूप न मान कर शरीर प्रमाण मानता है। रामानुज जीवात्मा के तीन भेद - बद्ध जीव, मुक्त-जाव और नित्य-जीव मानते हैं। लेकिन जैन दार्शनिक संसारी और मुक्त – ये दो भेद मानते हैं।रामानुज जीवात्मा की विदेह मुक्ति मानते हैं, वह जैनों की तरह जीवन मुक्ति को नहीं मानते हैं। मोक्षावस्था में जीव ब्रह्म में लीन होकर ब्रह्म सदृश हो जाता है लेकिन जैन दार्शनिक किसी में लीन या सदृश होना जीव का मोक्ष नहीं मानता है। रामानुज आत्मा की मोक्षावस्था चैतन्य स्वरूप जैनों की तरह मानते हैं।

निम्बार्क के अनुसार आत्मा का स्वरूप

इस दर्शन में द्वैताद्वैत सिद्धान्त का प्रतिपादन हुआ है इसलिए इसे ''द्वैताद्वैत'' दर्शन कहते हैं। चूंकि निम्बार्क जीव-ईश्वर में, जीव जगत् में स्वभाविक भेदाभेद मानते हैं, इसलिए इनके दर्शन को स्वाभाविक भेदाभेदवाद भी कहा जाता है। निम्बार्क दो प्रकार की सत्ताएं मानते हैं- स्वतन्त्र और परतन्त्र। स्वतन्त्र तत्त्व परब्रह्म है, परतन्त्र चेतन और अचेतन या आत्मा व प्रकृति है। निम्बार्क के अनुसार आत्मा ज्ञानस्वरूप तथा कर्ता भोक्ता तथा अणु परिमाण वाला है।

मध्व के अनुसार आत्मा का स्वरूप

आचार्य मध्व जिन्हें पूर्णप्रज्ञ तथा आनन्दतीर्थ के नाम से भी जाना जाता है, ''द्वैतवाद'' नामक सिद्धान्त के प्रतिपादक हैं। मध्व के अनुसार स्वतन्त्र और परतन्त्र दो तत्त्व हैं- परमब्रह्म या ईश्वर स्वतन्त्र और प्रकृति तथा जीव परतन्त्र हैं। इस प्रकार स्वतन्त्र और परतन्त्र रूप से तीनों तत्त्वों के दो वर्ग हैं। इनमें से परतन्त्र तत्त्व अर्थात् जीव और जगत् स्वरूपत: भिन्न होते हुए भी ईश्वर पर आश्रित हैं।

वल्लभ के अनुसार आत्मा का स्वरूप

आचार्यवल्लभ का सिद्धान्त ''शुद्धाद्वैत'' के नाम से जाना जाता है।वल्लभ के अनुसार एकमात्र शुद्ध ब्रह्म ही है, उसी से जगत् की सत्ता स्थिर होती है। जीव-जगत् ब्रह्म के अंश हैं इसलिए ब्रह्म के समान ही जीव भी सच्चिदानन्द रूप है। वह नित्य, बुद्ध, अणुरूप है।

चैतन्य के अनुसार आत्मा का स्वरूप

चैतन्य महाप्रभु ''अचिन्त्यभेदाभेद'' सिद्धान्त के संस्थापक हैं। अन्य वैष्णव सम्प्रदाय की तरह ही, यह सम्प्रदाय भी जगत् को सत्य मानते हुए मायावाद का खण्डन करने, सगुणब्रह्म पर अधिक बल देने में वैष्णव परम्परा के अनुकूल ही है। महाप्रभु चैतन्य के अनुसार चित् व अचित् ब्रह्म की दो शक्तियां हैं, ये दोनों शक्तिमान ब्रह्म से सूक्ष्मावस्था में स्वरूपत: अभिन्न हैं या इनका ब्रह्म से अभेद सम्बन्ध है, किन्तु स्थूलावस्था में भेद भी है। यह भेद और अभेद अचिन्त्य है। इसी लिये उनके दर्शन को अचिन्त्य भेदाभेद कहते है।

3.3 वेदेतर परम्परा में आत्मा का स्वरूप

भारत में जैन, बौद्ध, चार्वाक को वेदेतर परम्परा माना जाता है। चार्वाक दर्शन आत्मा की उत्पत्ति जड़ पदार्थ से मानता है। बौद्ध दर्शन में आत्म तत्त्व का सिद्धान्त अनित्यवाद या क्षणिकवाद के सिद्धान्त पर आधारित है। बौद्ध दर्शन का मन्तव्य है कि परिवर्तन या ही यथार्थसत् है । क्षणिकवाद के सिद्धान्त का प्रतिपादन भी उन्होंने अपने प्रसिद्ध कारण-कार्य सिद्धान्त प्रतीत्यसमुत्पाद के द्वारा सिद्ध किया है। क्षणिकवाद सिद्धान्त के अनुसार प्रत्येक वस्तु का अस्तित्व क्षणिक है, कोई भी वस्तु दो क्षणों तक विद्यमान नहीं रहती है। अतः कोई भी वस्तु स्थायी नहीं है । क्षणिकवाद सिद्धान्त के आधार पर बौद्ध दर्शन में आत्मा अनित्य ही नहीं बल्कि क्षणिक माना गया है। इसलिए बौद्धों का आत्मवाद सिद्धान्त 'अनात्मवाद' के नाम से प्रसिद्ध है। बौद्ध इस प्रकार की आत्मा में विश्वास नहीं करते थे जो स्थायी हो। बुद्ध तत्त्वमीमांसीय प्रश्नोंयथा आत्मा नित्य है या अनित्य, लोक शश्वत है या अशाश्वत आदि का उत्तर नहीं दते। बौद्ध दर्शन में आत्मा सम्बन्धी व्याख्या दो प्रकार से की गयी है । (१) पंचस्कन्धों के आधार पर और (२) नाम-रूप के आधार पर।रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान इन पंचस्कन्धों को अनत्त सिद्ध किया गया है। उन्हें ऐसा मानने में तर्क दिया गया है कि वे अनित्य एवं दुःख रूप हैं। पंचस्कन्धों को अनत्त कह कर बतलाया गया है कि इन स्कन्धों से भिन्न कोई अन्य सूक्ष्म तत्त्व नहीं है जिसे आत्मा कहा जा सके। स्पष्ट है कि शाश्वतवाद में मान्य आत्मा की दृष्टि से बौद्ध दर्शन का चिन्तन अनात्मवाद के नाम से प्रसिद्ध हुआ जिसमें क्षणिक संवेदनाओं से पृथक् किसी नित्य आत्मा को मान्य नहीं किया गया है । दीघनिकाय में सीलक्खन्धवग्ग के ब्रजालसुत्त और मज्झिमनिकाय के मूलपण्णासकसुत्त का अभिप्राय यही है कि आत्मा स्कन्ध संघात से भिन्न नहीं है।

तुलना: जैन दर्शन में आत्मा को द्रव्य की अपेक्षा अपरिवर्तनशील और पर्याय की अपेक्षा परिवर्तनशील है। क्षणिक आत्मा का प्रतिपादन करके भी बौद्धदर्शन में जैन दर्शन की भांति कर्मवाद, पुनर्जन्मवाद ओर निर्वाण का विवेचन किया गया है।

3.4 जैनदर्शन में आत्मा

जैन दर्शन में आत्मा का विशद् विवेचन किया गया है। जैन साहित्य के भगवती, प्रज्ञापना, उत्तराध्ययन आदि आगमों में विस्तार शैली को अपनाया गया है। जैन दर्शन में कुछ छः द्रव्य और नौ तत्त्व माने गये हैं। छः द्रव्य हैं-१. जीव, २. अजीव, ३.आकाश, ४.पुद्गल और ६. काल। इसी प्रकारसात अथवा नौ तत्त्व माने गये हैजिनका क्रम इस प्रकार है - १. जीव तत्त्व, २. अजीव तत्त्व, ३.पुण्य तत्त्व, ४. पाप तत्त्व, ५. आश्रव तत्त्व, ६.संवर तत्त्व ७. निर्जरा तत्त्व ८. बन्ध तत्त्व, ९. मोक्ष तत्त्व। इन छः द्रव्यों तथा नौ तत्त्वों में जीव या आत्मा को माना गया है। इन तत्त्वों में जीव और अजीव तत्त्व ज्ञेय हैं। पाप, आश्रव और बन्ध तत्त्व हेय हैं। संवर, निर्जरा और मोक्ष तथा पुण्य तत्त्व हेय, ज्ञेय और उपादेय है। अहिंसा और संयम के साधकों के लिए जीव और अजीव का ज्ञान परमावश्यक है। क्योंकि जो जीव और अजीव के भेद को ही नहीं जानता है वह अहिंसा और संयम की परिपालना कैसे कर पाएगा ? पाप, आश्रव और बन्ध जीव को विभाव में ले जाते हैं जिससे जीव भारी बनकर संसार सागर में डूब जाता है। अतः इन तीनों का परिहार आवश्यक है। मोक्ष आत्मा का लक्ष्य है। संवर और निर्जरा मोक्ष के साधन हैं अतः ये तीनों उपादेय अर्थात् ग्रहण करने योग्य हैं।

जीवतत्त्व

प्रश्न उठता है कि जीव किसे कहते हैं ? इसका समाधान है - 'जीवनाज्जीव:' जो जीता है वह जीव है।आत्मा पुण्य-पाप का कर्ता है, सुख-दुख का भोक्ता है, चेतना सहित प्राणों का धर्त्ता है, ज्ञान और दर्शन जिसके निज गुण हैं, जो त्रिकाल अविनाशी तत्त्व है तथा जो किसी द्वारा निर्मित नहीं हुआ है ऐसे अजर, अमर अविनाशी तत्त्व को जीव कहा जाता है।'मै कौन हूँ?' इस प्रश्न को उठाने वाला स्वयं जीव है। अजीव में यह प्रश्न उत्पन्न ही नहीं होता है, क्योंकि उसमें चेतना का अभाव है। परन्तु इस प्रश्न को उठाने वाला जीव दृष्टिगोचर क्यों नहीं होता है? जबकि अजीव पदार्थ स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है। वस्तुतः जीव अरूपी तत्त्व है। उसे इन्द्रियों द्वारा ग्रहण नहीं किया जा सकता है। भगवान् महावीर ने कहा - आत्मा को आत्मा से देखो। आत्मदर्शन अर्थात् जीव को देखने की यही एक विधि है।

तत्वार्थसूत्र में आत्मा का लक्षण करते हुए उसे ''उपयोगोलक्षण्म्'' कहा गया है। उपयोग का तात्पर्य है- ज्ञान व दर्शन, अर्थात् जीव या आत्मा का साधारण गुण चैतन्य है, जिससे वह समस्त जड़ द्रव्यों से अपने को पृथक करता है। जब चैतन्य अपने से पृथक किसी ज्ञेय पदार्थ को जानता है, तब वह ज्ञान, एवं जब ''स्व'' में चैतन्यरूप ही रहता है तो दर्शन कहलाता है, दूसरे शब्दों में सामान्य विशेषतात्मक वाह्यार्थ का ग्रहण ज्ञान माना गया और तदात्मक आत्मा का ग्रहण दर्शन। यह ज्ञान व दर्शन निश्चय दृष्टि से अभिन्न तथापि व्यवहार दृष्टि से भिन्न हैं। जैन दार्शनिकों के अनुसार ''मैं सुखी हूँ'' ''मैं दु:खी हूँ'' आदि अनुभव से आत्मा के अस्तित्व का प्रत्यक्ष ज्ञान होता है।''संकल्प, स्मृति, सुख-दु:ख, संदेह, ज्ञान आदि धर्मों के आधार रूप में आत्मा का ज्ञान होता है।जिस प्रकार किसी मशीन का कोई न कोई चालक होता है, उसी प्रकार शरीररूपी मशीन का भी कोई न कोई चालक होगा, वह चालक ही आत्मा है।आत्मा शरीर से सर्वथा पृथक् है। शरीर उत्पत्ति में शरीर के अवयव उपादान कारण है, अत: इसका कोई न कोई निमित्त कारण भी होगा, वही आत्मा है। इसके अतिरिक्त जैन दर्शन में शरीरादि के भोक्ता के रूप में एवं इन्द्रियों के अधिष्ठाता के रूप में भी अनुमान व आत्मानुभूति के आधार पर आत्मतत्व की सिद्धि की गयी है।

उपयोग दो प्रकार का होता है - निराकार और साकार। वस्तु के सामान्य बोध को निराकार उपयोग तथा विशेष बोध को साकार उपयोग कहते हैं। इन्हें ही ज्ञान और दर्शन कहते हैं। अर्थात् ज्ञान और दर्शन जीव के निज स्वरूप हैं। परन्तु अनादिकाल से आत्मा के ये गुण आवृत हैं। ज्ञानावरणीय दर्शनावरणीय कर्मों ने आत्मा के स्वरूप को आच्छादित किया हुआ है। एकेन्द्रिय अवस्था में भी आत्मा में उपयोग बीज रूप में निहित रहता है। साधक साधना द्वारा उपयोग को सुनिर्मल बनाता है। इसकी परम शुद्धावस्था ही कैवल्य अवस्था है।

आत्मापुण्य-पाप का कर्त्ता, सुख-दुःख का भोक्ता - मूलतः जीव का स्वभाव अकर्त्ता और अभोक्ता है। परन्तु जीव अनादिकाल से विभावावस्था में है, वह सकर्मा है, इसलिए वह कर्त्ता और भोक्ता बना हुआ है। जीव ज्ञान और दर्शन स्वरूपी है इसलिए वह पुण्य कर्म भी करता है। अज्ञान और मिथ्यात्व जीव पर सघन बनते हैं इसलिए वह पाप करता है। पाप फल देता है तो जीव दुःखी बन जाता है और पुण्य फल देता है तो वह सुखी बन जाता है।

आनन्दरूप आत्मा - पुण्य और पाप के फलस्वरूप मिलने वाले सुख और दु:ख मिथ्या हैं। धूप और छाया की तरह ये दोनों जीव पर आते-जाते रहते हैं। जीव/आत्मा का स्वभाव है - आनन्द में विहरण करना। आनन्द पुद्गल जन्य नहीं होता। मनोज्ञ पुद्गल-प्राप्ति से वह प्रकट और

अमनोज्ञ पुद्गल-प्राप्ति से वह विलुप्त नहीं होता। त्रिकाल में जीव में सुख प्राप्त करने की जो गहनतम अभिप्सा बनी रहती है वह उसके आनन्दमय स्वरूप की सूचना है।

अजर-अमर-अविनाशीतत्त्व - जीव अजर-अमर और अविनाशी तत्त्व है। वह न जन्म लेता है और न मरता है। वह न जवान होता है और वृद्ध बनता है। आधि-व्याधि और उपाधि से वह अतीत होता है। ये सभी धर्म शरीर के हैं, आत्मा के नहीं। शरीर ही बनता, मिटता, गलता और सड़ता है। आत्मा सदाकाल अपरिवर्तनशील रहता है। श्रीमद्भगवद्ीता में भी यही सत्य उपदेशित हुआ है - आतमा न कभी जन्म लेता है तथा न कभी मरता है। वह न कभी जन्मा है, न जन्म लेता है और न जन्म लेगा। वह अजन्मा, नित्य, शाश्वत तथा पुरातन है। शरीर के मारे जाने पर वह मारा नहीं जाता है।

जीव अनादि और अनिधन है- अर्थात् जीव की कोई आदि नहीं है और न ही अन्त है। कुछ जैनेतर दर्शनों की मान्यता है कि जीव परब्रह्म का अंश है, वह उसी से प्रकट होता है और उसी में अन्ततः विलीन हो जाता है। जैन दर्शन ने इस बात को स्वीकार नहीं किया है। जैन दर्शन कहता है - आत्मा अनादि निधन है। वह सदाकाल से है। अनन्त अतीत में कोई ऐसा काल नहीं था जब जीव नहीं था और अनागत में कोई ऐसा काल नहीं होगा जब जीव नहीं होगा। जीव सदा से है और सदा रहेगा।

ज्ञान आत्मा से कथंचित् भिन्न और कथंचित् अभिन्न है

ऊपर ज्ञान दर्शन को आत्मा से कथंचित् भिन्न और कथंचित् अभिन्न कहा गया है। यह कथन विवेचनीय है। जैन दर्शन की मान्यता है कि ज्ञान आत्मा का गुण है। गुण अपने गुणी से न सर्वथा भिन्न होता है और न सर्वथा अभिन्न होता है बल्कि कथंचित् भिन्न और कथंचित् अभिन्न होता है। क्योंकि गुण से भिन्न गुणी और गुणी से भिन्न गुण की सत्ता असम्भव है। इसी सिद्धान्त के अनुसार ज्ञान अपने गुणी आत्मा से न सर्वथा भिन्न है और न सर्वथा अभिन्न है । ज्ञान आत्मा से कथंचित् अभिन्न है, क्योंकि ज्ञान आत्मा का स्वभाव है। निश्चय नय की दृष्टि से जो ज्ञान है वही आत्मा है और जो आत्मा है वही ज्ञान है । अतः दोनों को पृथक् नहीं किया जा सकता है। यदि आत्मा और ज्ञान कथंचित् अभिन्न न हों तो आत्मा का निश्चयात्मक स्वभाव न होने से आत्मा का अभाव सिद्ध हो जायेगा और ज्ञानादि निराश्रय होने से उनकी भी सत्ता नहीं रहेगी। क्योंकि ज्ञान से भिन्न आत्मा और आत्मा से भिन्न ज्ञान कहीं उपलब्ध नहीं होता है। अतः आत्मा और ज्ञान कथंचित् अभिन्न है ।

ज्ञान आत्मा का स्वभाव है- प्रकृति का परिणाम नहीं

जैन दर्शन ज्ञान और चेतना में कोई भेद नहीं मानता है इसलिए इस सिद्धांत में आत्मा जिस प्रकार चैतन्य स्वरूप माना गया है उसी प्रकार ज्ञान स्वरूप भी माना गया है। यद्यपि सांख्य दार्शनिक भी आत्मा को चैतन्य स्वभाव मानते हैं लेकिन उसे ज्ञान स्वरूप नहीं मानते हैं। इनके मत में ज्ञान प्रधान (प्रकृति) का परिणाम (अर्थात् बुद्धि को अचेतन मान कर ज्ञान को उसका धर्म) मानते हैं। प्रकृति और पुरुष के संसर्ग होने पर अचेतन बुद्धि में घट पटादि विषय का एवं दूसरी तरफ से चैतन्य का प्रतिबिम्ब पड़ने के कारण पुरुष अपने को ज्ञाता समझने लगता है, वास्तव में बुद्धि ही घटादि पदार्थों को जानती है। आत्मा (पुरुष) को ज्ञानस्वभाव न मानने का एक कारण यह भी है कि सुषुप्ति अवस्था में ज्ञान का अनुभव नहीं होता है ।

आत्मा का स्व पर प्रकाश

जैन दार्शनिक आत्मा को स्व-पर प्रत्यक्ष मानते हैं। इस विषय में इन दार्शनिकों का मत है कि आत्मा ज्ञानस्वरूप है और ज्ञान स्व पर प्रकाशक है इसलिए आत्मा भी स्व पर प्रकाशक है। इस दर्शन में कहा गया है कि जिस प्रकार सूर्य या दीपक अपने आपको प्रकाशित करता है और अन्य पदार्थों को भी प्रकाशित करता है उसी प्रकार आत्मा भी स्वयं तथा पर पदार्थों को प्रकाशित करता है। आचार्य कुन्दकुन्द प्रथम जैन आचार्य हैं जिसने ज्ञान को सर्वप्रथम स्व पर प्रकाशक मान कर इस चर्चा का जैन दर्शन में सूत्रपात किया है। बाद के आचार्यों ने इनके मन्तव्य का एक स्वर से अनुकरण किया।

पुण्य-पाप का कर्त्ता, सुख- दुःख का भोक्ता - मूलतः जीव का स्वभाव अकर्त्ता और अभोक्ता है। परन्तु जीव अनादिकाल से विभावावस्था में है, वह सकर्मा है, इसलिए वह कर्त्ता और भोक्ता बना हुआ है। जीव ज्ञान और दर्शन स्वरूपी है इसलिए वह पुण्य कर्म भी करता है। अज्ञान और मिथ्यात्व जीव पर सघन बनते हैं इसलिए वह पाप करता है। पाप फल देता है तो जीव दुःखी बन जाता है और पुण्य फल देता है तो वह सुखी बन जाता है।

जैनदार्शनिकों के अनुसार आत्मा संहरण एवं विसर्पणशील या संकोच-विकास शील है। आत्माएं असंख्य किन्तु समानरूप से नित्य हैं, आत्माएं, इन्द्रियों की संख्या रखने के आधार पर अनेक रूपों में विभक्त हैं। जन्म और मृत्यु इन जीवात्माओं के पर्याय हैं। उनका शरीर धारण करना कर्मिक प्रकृति की उपस्थिति का परिणाम है। इस प्रकार जैनदर्शन में विस्तृत ढंग से आत्मा के स्वरूप का विवेचन किया गया है।

दो प्रकार के जीव

जीव मूलतः दो प्रकार के हैं - बद्ध जीव और बुद्ध या मुक्त जीव। इसे संसारी जीव और सिद्ध जीव भी कहते हैं। कर्म जाल में बद्ध जीव संसारी जीव हैं और कर्म मुक्त जीव सिद्ध जीव हैं। संसारी जीव सदाकाल से संसारी जीव हैं। परंतु सिद्ध जीव सदा से सिद्ध नहीं हैं। किसी समय सिद्ध जीव भी संसारी जीव थे। कर्म मुक्त बनकर उन्होंने सिद्धत्व का वरण किया है। मौलिक योग्यता के धरातल पर समस्त जीव समकक्ष हैं। उनका, ज्ञान, दर्शन, सुख और वीर्य एक समान है। जैसे समस्त बीजों में महावृक्ष होने की समान योग्यता है, परन्तु वही बीज महावृक्ष हो पाते हैं जिन्हें समुचित वातावरण प्राप्त हो पाता है। ऐसे समस्त आतमाओं में परमात्मा होने की योग्यता है परन्तु वही आत्माएं उस अवस्था तक पहुंच पाती है। जिन्हें प्रथमत: उचित वातावरण प्राप्त होता है और अन्ततः जो अपनी शक्तियों का सम्यक् समायोजन करती है।

संसारी जीवों के भेद

संसारी जीवों को मुख्यतः दो विभागों में बांटा जा सकता है - १. स्थावर जीव और २. त्रस जीव। जो एक स्थान पर स्थिर रहते हैं उन्हें स्थावर कहते हैं। समस्त स्थावर जीव एकेन्द्रिय होते हैं। स्थावर जीव पांच प्रकार के हैं - १. पृथ्वीकाय २. अप्काय ३.तेजस्काय ४. वायुकाय और ५. वनस्पति काय।

स्थावर जीव दो प्रकार हैं - सूक्ष्म और बादर। सूक्ष्म स्थावर जीव समग्र लोक में व्याप्त हैं जो अत्यन्त सूक्ष्म होने से दृष्टिगोचर नहीं होते हैं। पृथ्वी, पानी, अग्नि और वायु को ही शरीर रूप में धारण करने वाले बादर स्थावर कहलाते हैं।

वनस्पति काय के तीन भेद हैं - १. सूक्ष्म २. प्रत्येक ३.साधारण।सूक्ष्म - समग्रलोक में सूक्ष्म-रूप से व्याप्त वनस्पति।प्रत्येक- मूल, फल, फूल, पत्तों आदि में प्रत्येक में स्वतन्त्र जीव का अस्तित्व होना।साधारण- एक ही शरीर में अनन्त जीवों का निवास होना।

त्रस जीवों के चार भेद हैं - १.द्वीन्द्रिय २.त्रीन्द्रिय ३. चतुःरिन्द्रिय और ४. पंचेन्द्रिय।

जिन जीवों के पास स्पर्श और रस - ये दो इन्द्रियां हैं वे द्वीन्द्रिय जीव कहलाते हैं। यथा - सीप, शंख, जोंक, आदि।जिन जीवों के पास स्पर्श, रस और घ्राण - ये तीन इन्द्रियां हैं वे त्रीन्द्रिय जीव कहलाते हैं। यथा- जूं, लीख, खटमल, कुन्थुआ आदि।जिन जीवों के पास स्पर्श, रस, घ्राण और चक्षु - ये चार इन्द्रियां हैं वे चतुःरिन्द्रिय जीव कहलाते हैं। यथा - मक्खी, मच्छर, भंवरा, पतंगा, डांस आदि।जिन जीवों के पास स्पर्श, रस, घ्राण, चक्षु और श्रुत - ये पांचों इन्द्रियां हैं, वे पंचेन्द्रिय जीव कहलाते हैं। ये चार प्रकार के हैं - १. तिर्यंच २. नारक ३. मनुष्य और ४. देव।

अध्यात्म की अपेक्षा से आत्मा के भेद

अध्यात्म की अपेक्षा से जैन दार्शनिकों ने आत्मा के तीन भेद माने हैं- १.बहिरात्मा, २. अन्तरात्मा और ३. परमात्मा।

१. **बहिरात्मा-** अज्ञान के कारण आत्मा के सच्चे स्वाभाविक स्वरूप भूलकर आत्मा से भिन्न शरीर, इन्द्रिय, मन पुरुष-स्त्री और धनादि में ममत्व रखने वाले को बहिरात्मा कहा है।

२. **अन्तरात्मा -** मिथ्यात्व के अभाव से जब जीव आत्मा और शरीर में भेद समझने लगता है और बाह्य पदार्थों से ममत्व बुद्धि को हटाकर आत्मा के सच्चे स्वरूप की ओर उन्मुख हो जाता है तब उसे अन्तरात्मा कहते हैं।

३. **परमात्मा-** कर्मो के लेप से रहित, शरीर विहीन, रागादि विकारों से रहित, कृतकृत्य, अविनाशी, सुखस्वरूप तथा निर्विकल्प शुद्ध आत्मा परमात्मा है।

बन्ध तत्त्व

संसारी आत्मा कर्मों से जकड़ी हुई होने के कारण परतन्त्र है। इसी परतन्त्रता का नाम बन्ध है।' भारतीय दर्शन का अनुशीलन करने से ज्ञात होता है कि समस्त भारतीय दार्शनिकों ने संसारी आत्मा के बन्ध की परिकल्पना की है। उमास्वाति ने तत्त्वार्थसूत्र के आठवें अध्याय में बन्ध-स्वरूप बतलाते हुए कहा है कि कषाययुक्त जीव के द्वारा कर्मयोग्य पुद्गलों का ग्रहण करना बन्ध हैं । जब आत्मा के प्रदेशों से पुद्गल द्रव्य के कर्मयोग्य परमाणु मिल जाते हैं तो आत्मा का अपना स्वरूप एवं शक्ति विकृत हो जाती है। अपनी शक्ति के अनुसार कार्य करने में वह स्वतन्त्र नहीं रहती है। यही उसका बन्ध कहलाता है।राग और द्वेष की स्निग्धता से आत्मा और कर्म परस्पर दुग्ध-जल की तरह एकमेक हो जाते हैं। विजातीय तत्त्व रूपी कर्म से आत्मा का स्वरूप आच्छादित्त बन जाता है जिससे वह विभिन्न दुर्गतियों में दुःख भोगता है। कर्मों की संख्या आठ है। यथा - १- ज्ञानावरणीय, २- दर्शनावरणीय, ३- वेदनीय, ४- मोहनीय, ५- आयु, ६- नाम, ७- गोत्र, और ८- अन्तराय।

एक अन्य दृष्टि से बन्ध दो प्रकार का है - १- शुभ बन्ध और २- अशुभ बन्ध। शुभ बन्ध पुण्य और अशुभ बन्ध पाप है। आत्म-प्रदेशों पर चिपके कर्म जब तक फल नहीं देते हैं तब तक वे बन्ध कहलाते हैं और जब फल देने लगते हैं तब पुण्य और पाप कहलाते हैं। योगों की चंचलता

एवं कषायों की तीव्रता कर्म बंधन के मूल कारण हैं। बन्ध दो प्रकार का है' – (१) द्रव्य-बन्ध और (२) भाव-बन्ध । आत्मा का कर्म के साथ बंध जान द्रव्य बन्ध तथा कषायादि परिणाम जिनके कारण आत्मा का बन्धन होता है भाव बन्ध है।

जैन दर्शन में कर्मबन्ध के कारण : जैनदार्शनिकों ने कर्म-बन्ध के कारणों की व्याख्या करते हुये मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग को बन्धन का कारण माना है।

मोक्ष तत्त्व: 'कृत्स्न कम वियोगलक्षणो मोक्षः' - अर्थात् सम्पूर्ण कर्मों का आत्मा से वियोग होना ही मोक्ष है।मोक्ष प्राप्ति जीवमात्र का चरम लक्ष्य है। समस्त कर्मों से परिमुक्त होकर जीव मोक्ष को उपलब्ध होता है। वस्तुतः आत्मा की विशुद्धावस्था का नाम ही मोक्ष है। मोक्ष को साधने के चार कारण हैं - १- सम्यग्ज्ञान, २- सम्यग्दर्शन, ३- सम्यग्चारित्र, और ५- सम्यग्तप।अथवा१.दान, २- शील, ३- तप, और ४- भावना।मोक्ष रूप प्रासाद में प्रवेश के ये चार प्रवेश-द्वार हैं। अनन्त-अनादि काल से अनन्तानन्त जीव इन्हीं द्वारों से मोक्ष प्रासाद में प्रविष्ट हुए हैं, हो रहे हैं और भविष्य में होंगे। आत्मा समस्त कर्म तन्त्र से स्वतंत्र बनकर लोकाकाश के अन्तिम छोर पर स्थित सिद्ध-शिला पर जा विराजता है।

3.5 सारांश

न्याय-वैशेषिक, सांख्य-योग और मीमांसा दर्शनों की भाँति जैन दर्शन में भी अनेक आत्माओं को कल्पना की गयी है। उमास्वामी के तत्त्वार्थ सूत्र में आये हुए 'जीवाश्च' सूत्र की व्याख्या करते हुए अकलंक देव ने कहा है कि जीव अनेक प्रकार के होते हैं। गति आदि चौदह मार्गणा, मिथ्यादृष्टि आदि चौदह गुणस्थानों के भेद से आत्मा अनेक पर्यायों को धारण करने के कारण अनेक हैं। इसी प्रकार मुक्त जीव भी अनेक हैं। जैन दार्शनिक अपरिमित और असीम आत्माओं को मान कर प्रत्येक शरीर में भिन्न-भिन्न आत्मा मानते हैं। पृथ्वीकायिक जीवों से लेकर सिद्धों पर्यन्त सभी की अलग-अलग आत्मा हैं । जैन दर्शन की यह मान्यता है कि एक शरीर में एक से अधिक आत्माएँ सकती हैं किन्तु एक आत्मा अनेक शरीरों में नहीं रह सकती है। आचा जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण' ने जीव की अनेकता सिद्ध करने के लिए अनेक दिये हैं। एक आत्मा मानने से सुख, दुःख, बन्ध और मोक्ष आदि की व्यवस्था नहीं हो सकती है। एक ही आत्मा एक ही समय में सुखी दुःखी, बद्ध मुक्त नहीं हो सकती है । अतः आत्मा एक नहीं, अनेक हैं।जीवों की संख्या अनन्तानन्त है। अनन्तकाल बीत जाने पर भी यह संख्या अनन्तानन्त ही रहेगी, क्योंकि अनन्त का कहीं अन्त नहीं होता है। प्रत्येक जीव अनन्त काल से इस संसार चक्कर में घूम रहा है। जीव को संसारी से सिद्ध होने के लिए अपने स्वरूप से परिचित होना होगा और स्वयं पर छाए अज्ञान, मिथ्यात्व, मोह और अन्तराय को ज्ञान-दर्शन और चारित्र से दूर करना होगा। इसी विधि से वह स्वयं में छिपे परमात्मा को प्रकट कर सकता है।

3.6 पारिभाषिक शब्दावली

द्रव्य: जो उत्पत्ति, विनाश को प्राप्त होकर भी ध्रौव्य या अपरिवर्तित रहे।

आस्तिक- जो वेद में आस्था रखता है?

नास्तिक- जो वेद में आस्था नहीं रखता।

आत्मानं विद्धि- आत्मा को जानो।

जीव- जो चेतना युक्त है चह जीव है।

मोक्ष- सभी प्रकार के बन्धनों से मुक्ति

स्थावर-जो एक स्थान पर स्थिर रहते हैं उन्हें स्थावर कहते हैं।

त्रस- जिसमें हलन-चलन हो।

3.7 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

१. जैन दर्शन : मनन और मीमांसा, देवेन्द्र मुनि शास्त्री

२. जैन दर्शन में आत्मा का स्वरूप, लालचन्द जैन, पार्श्वनाथ विद्यापीट, वाराणसी

३. गोम्मटसार (जीवकाण्ड)

४. सर्वार्थसिद्धि, पूज्पाद, भारतीय ज्ञानपीट, प्रकाशन, दिल्ली

५. न्यायसूत्र, अक्षपाद गौतम,

६. तत्त्वार्थसूत्र,उमास्वाति, पार्श्वनाथ विद्यापीट, वाराणसी

७. सूत्रकृतांग सूत्र,आगम प्रकाशन समिति, व्यावर, राजस्थान

८. स्याद्वादमंजरी, मल्लिषेण

९. आत्म-स्वरूप-विमर्श

इकाई 4 बौद्ध मत में अनत्ता का सिद्धान्त

इकाई की रूपरेखा

4.0 उद्देश्य

- इस इकाई में बौद्ध परम्परा में स्वीकृत अनत्ता (अनात्मा) के विचार से परिचय कराया जाएगा।
- इस इकाई के अध्ययन के उपरान्त विद्यार्थी से यह जानने की अपेक्षा है कि बौद्ध परम्परा में आत्मा को क्यों और किस अर्थ में नहीं माना गया है और अपने मत की पुष्टि में क्या-क्या तर्क दिये गए हैं। इसके अतिरिक्त यह भी समझ आएगी कि बौद्ध मत में अनात्म-विचार के साथ व्यक्ति के स्वरूप, पुनर्जन्म और निर्वाण की कैसे व्याख्या की गयी है।

4.1 प्रस्तावना

प्राचीन बौद्ध साहित्य पालि भाषा में उपलब्ध है। "आत्मा" को इस भाषा में "अत्ता" कहते हैं, इसी प्रकार "अनात्मा" को "अनत्ता"। "अत्ता" को बौद्ध ग्रन्थों में अनेक अर्थों में प्रयोग किया गया है: आत्मा, शरीर, व्यक्ति, प्राणी, अहम्, अस्मिता इत्यादि। यहाँ पर इस शब्द को आत्मा के अर्थ में लिया गया है। विभिन्न भारतीय दर्शनों में आत्मा के लिए जीव (वेदान्त, जैन), पुरुष (सांख्य-योग), जीवात्मा (न्याय), साक्षी (वेदान्त) आदि शब्दों का प्रयोग मिलता है। इन सबका आधार प्राय: उपनिषदों में प्राप्त नित्य एवं अपरिवर्तनशील आत्मा की अवधारणा माना जाता

है। औपनिषद आत्मवाद का प्रभाव आस्तिक और नास्तिक दोनों परम्पराओं पर देखा जाता है। यहाँ तक कि चार्वाक दर्शन में भी देहात्मवाद—देह ही आत्मा है—की संकल्पना की गयी है। वस्तुत: आत्मतत्त्व की स्वीकृति के पीछे कर्म-सिद्धान्त की धारणा रही है: आत्मा के अभाव में कर्मों के फलों का भोक्ता किसे माना जाय, यह एक विचारणीय प्रश्न रहा है। मीमांसक कुमारिल भट्ट कहते हैं कि यदि क्षणिक चेतना से भिन्न अपरिवर्तनशील आत्मा की सत्ता न मानें तो कर्तृत्व और भोक्तृत्व की व्यवस्था नहीं बन पाएगी, और शरीर से भिन्न नित्य आत्मा की सत्ता न मानने से स्वर्गकामनायुक्त वेद के समस्त विधि वाक्य व्यर्थ हो जाएंगे (भट्ट 1979, 840)। सर्वदर्शनसंग्रह में माधवाचार्य आर्हतदर्शन (जैन दर्शन) की भूमिका बनाते हुये कहते हैं कि "यद्यात्मा कश्चिन्नास्थीयेत स्थायी तदैहलौकिक-पारलौकिकफलसाधनसम्पादन विफलं भवेत्" अर्थात् यदि आत्मा की स्थायी या अपरिवर्तनशील सत्ता न माने तो इहलोक और परलोक संबंधी कर्मफल प्राप्ति के साधनों (व्रत, उपवास, पुण्य, नैतिक कर्म इत्यादि) की व्यवस्था विफल हो जायेगी, अर्थहीन हो जाएगी (माधवाचार्य 1964, 90)।

बौद्ध मत में कर्मफल, पुनर्जन्म और लोक-परलोक की अवधारणा बिना किसी स्थायी तत्त्व की स्वीकृति के ही की गयी है। यहाँ "अनत्ता" शब्द का अर्थ आत्मा जैसे किसी नित्य द्रव्य की सत्ता के अभाव के रूप में लिया जाता है। आत्मवादी दार्शनिक आत्मा शब्द का अर्थ वस्तुनिष्ठ नित्य द्रव्य मानते हैं, परंतु बौद्ध दर्शन में आत्मा शब्द को अनादि वासनाजनित विकल्प के रूप में लिया जाता है जिसका अर्थ या संवादी कोई बाह्यनिमित्तिक पदार्थ नहीं है। वैसे बौद्ध मत में यह बात शब्द-मात्र के विषय में उतना ही सही है जितना कि "आत्मा" शब्द के बारे में। इस परम्परा में भाषा और सत्ता के बीच कोई अनिवार्य सम्बन्ध नहीं माना जाता, यह संबंध उपचार-मात्र है, व्यावहारिक उपयोगिता के लिए है, इसका कोई तात्विक अधार नहीं है। भाषा-व्यापार की हमारे जीवन में एक उपयोगिता (सीमित भूमिका) है। परंतु इस विषय पर यहाँ इतना ही। इस इकाई में अनत्ता को एक तत्त्वमीमांसीय सिद्धान्त के रूप में विवेचित किया जाएगा। इसके लिए सर्वप्रथम बौद्ध मत की मौलिक बातों का उल्लेख स्थाने होगा।

4.2 बौद्ध मत के मूल सिद्धान्त

विश्व में बौद्ध मत के त्रिलक्षण (दु:ख , अनित्य-अनिच्चा, अनात्मा-अनत्ता) और चार आर्यसत्य (दु:ख , दु:ख समुदय, दु:ख निरोध, दु:ख निरोध मार्ग) सिद्धांतों को उसकी मौलिक पहचान के रूप में देखा जाता है। सांसारिक वस्तुओं का स्वरूप दु:खमय, निरंतर परिवर्तनशील एवं किसी नित्य आत्मा जैसी सत्ता से रहित है। अर्थात् इस संसार में सब कुछ दु:ख है—जन्म, बुढ़ापा, बीमारी, मृत्यु, अप्रिय से संयोग, प्रिय से वियोग, इष्ट की अप्राप्ति, अनिष्ट की प्राप्ति सब कुछ दु:खपूर्ण है। साधारण मनुष्य जिसे सुख समझता है वह भी दु:ख का कारण बनता है क्योंकि उसका वियोग निश्चित है। यह विचार महात्मा बुद्ध द्वारा उपदेशित चार आर्य सत्यों में प्रथम है। इसका व्याख्यान उन्होंने सारनाथ में अपने पहले उपदेश में ही किया था। मानव अस्तित्व के इस चित्रण के कारण बुद्ध पर निराशावादी होने का आरोप भी लगा। परन्तु इसका उपदेश सत्ता के परिवर्तनीय रूप के प्रति जागरूक रहकर व्यवहार करने की पृष्ठभूमि के रूप में जानना चाहिए। अनित्यता की अवधारणा किसी वस्तु की क्रियाशीलता को दर्शाने तथा उसके प्रति लोभ-मोह की प्रवृत्ति को दूर करने के लिए थी। इसी प्रकार नित्य-अपरिवर्तनशील आत्मा जैसी किसी सत्ता के अस्तित्व के प्रश्न पर बुद्ध का मौन बहुत प्रसिद्ध है जिसकी अनत्ता के सिद्धान्त के रूप में व्याख्या की जाती है। आत्मा की अवधारणा के विकल्प में यहाँ पञ्च-

स्कन्ध की अवधारणा मिलती है जिसमें रूप-वेदना-संज्ञा-संस्कार-विज्ञान आते हैं। बुद्ध कहते हैं कि जब भी सामान्य जन आत्मा की बात करते हैं तो वे इन्हीं में किसी या कुछ स्कंधों का संकेत कर रहे होते हैं। वे तीनों लक्षणों में घनिष्ठ संबंध मानते हैं: जो अनित्य है वही दु:ख है जो दु:ख है वही अनत्ता है (यद अनिच्चं तं दुखं यं दुखं तं अनत्ता)।

बुद्ध पर निराशावादी होने के आरोप का सीधा उत्तर है उनके दूसरे, तीसरे और चौथे आर्य सत्य। सांसारिक जीवन को दु:खमय कहकर छोड़ नहीं दिया बल्कि दु:ख के कारणों का तत्त्वमीमांसीय और मनोवैज्ञानिक विश्लेषण किया। अज्ञान पर आधारित आचरण ही मनुष्य को जन्म-मृत्यु के चक्र में डालता है। इस चक्र के विश्लेषण में प्रतीत्यसमुत्पाद या द्वादश निदान को प्रस्तुत किया गया है: अज्ञान से संस्कार (कर्म-संस्कार), संस्कार से विज्ञान (वैयक्तिक चेतना), विज्ञान से नामरूप (मनोभौतिक शरीर), नामरूप से षडायतन (आँख, कान, नाक, जीभ, त्वचा एवं मनस छः इंद्रियाँ), षडायतन से स्पर्श (विषयों से संयोग), स्पर्श से वेदना (सुख-दु:ख की अनुभूति), वेदना से तृष्णा (भोग विषयों के प्रति अतिशय अनुराग), तृष्णा से उपादान (भोग विषयों से चिपकना), उपादान से भव (जन्म लेने की प्रवृत्ति), भव से जाति (जन्म) और जाति से जरामरण (बुढ़ापा, मृत्यु आदि दु:ख)। दु:ख के मूल कारण के रूप में तृष्णा को बताया गया है जो वस्तुओं के परिवर्तनशील धर्म को न जानने के कारण होती है। मानव अस्तित्व के इस विश्लेषण के उपरांत तीसरे आर्यसत्य में दु:ख से छुटकारा पाने की संभावना की स्वीकृति है और चौथे आर्यसत्य में अष्टांगिक मार्ग के रूप में छुटकारे का रास्ता बताया गया है। अष्टांगिक मार्ग के आठ अवयव हैं: सम्यक ज्ञान/दृष्टि, सम्यक संकल्प, सम्यक वाक्, सम्यक कर्मांत, सम्यक आजीव/जीविका, सम्यक व्यायाम/प्रवृत्ति, सम्यक स्मृति, और सम्यक समाधि।

4.2.1 उच्छेदवाद एवं शाश्वतवाद

मानव अस्तित्व के विश्लेषण में अनत्ता के सिद्धान्त के रूप में बुद्ध ने माध्यम मार्ग का उपदेश किया। एक संवाद में वत्सगोत्र (वच्छगोत्त) नामक व्यक्ति बुद्ध से यह प्रश्न करता है कि क्या आत्मा है? इस प्रश्न पर बुद्ध कुछ उत्तर नहीं देते हैं। फिर वह प्रश्न करता है कि क्या आत्मा नहीं है? बुद्ध इस प्रश्न पर भी मौन रहते हैं। जब वह व्यक्ति चला जाता है तो बुद्ध के परम शिष्य आनंद उनके मौन का कारण पूछते हैं। इसके उत्तर में वे कहते हैं कि यदि मैं यह कहता कि आत्मा का अस्तित्व है तो यह शाश्वतवादियों का मत होता जिसके अनुसार नित्य और अपरिवर्तनशील आत्मा की सत्ता है। और यदि यह कहता कि आत्मा की सत्ता नहीं है तो यह उच्छेदवादियों का मत होता जिसके अनुसार आत्मा जैसी कोई नित्य या अपरिवर्तनशील सत्ता नहीं है और मृत्यु के बाद व्यक्ति का अस्तित्व का सर्वथा उन्मूलन हो जाता है। ये दोनों मत (शाश्वतवाद और उच्छेदवाद) अतिवादी हैं और व्यक्ति के स्वरूप को समझने-समझाने में असमर्थ हैं। इसके बाद बुद्ध आनंद से प्रश्नात्मक उत्तर देते हैं: यदि मैं यह कहता कि आत्मा का अस्तित्व है तो क्या यह मेरे उस उपदेश के विरुद्ध नहीं होता जिसमें मैंने सभी धर्मों के अनात्म होने की बात कही है? अर्थात् सभी धर्म (वस्तुएं) उत्पन्न होते हैं (प्रतीत्य समुत्पन्न हैं) और इनका कोई नित्य और अपरिवर्तनशील आधार नहीं है। फिर बुद्ध कहते हैं कि यदि मैं यह कहता कि आत्मा नहीं है तो क्या पहले से भ्रम में पड़ा वत्सगोत्र और भ्रमित नहीं होता और सोचता कि क्या जो 'मेरी आत्मा है उसका अस्तित्व नहीं है' अर्थात् वह इस विरोधाभास में पड़ता कि जो है वह नहीं है। बुद्ध के इस प्रकार के विश्लेषण के बावजूद विचारकों ने उनके मौन की व्याख्या अनेक प्रकार से की है।

4.2.2 आत्मा के प्रश्न पर बुद्ध का मौन

किसी महत्त्वपूर्ण प्रश्न पर मौन रहना अनेक आशंकाओं को जन्म देता है जैसे उपर्युक्त आख्यान में आनंद आशंका व्यक्त कर रहे हैं। आत्मा का प्रश्न बुद्ध के समय में दार्शनिक चर्चा का मुख्य बिन्दु हुआ करता था। आत्मा के स्वरूप एवं अस्तित्व की गहन मीमांसा उपनिषदों की दार्शनिक चर्चा के केंद्र में रही है जिनके संकलन का समय बुद्ध के कालखंड के आसपास ही माना जाता है। स्वाभाविक ही था कि आत्मा के प्रश्न पर उनके मौन के संभावित अर्थों का विश्लेषण हो। आत्मा के अस्तित्व के अतिरिक्त और भी कुछ प्रश्न थे जिनपर उनका मौन प्रसिद्ध है, जैसे क्या जगत नित्य है या अनित्य, परिमित है या अपरिमित?, क्या जीव शरीर है या शरीर से भिन्न?, क्या तथागत बुद्ध का अस्तित्व उनकी मृत्यु के बाद होगा या नहीं? इन प्रश्नों को बौद्ध साहित्य में 'अव्याकृत प्रश्न' कहा गया है, अर्थात् बुद्ध ने इनका 'हाँ' या 'न' में स्पष्ट उत्तर नहीं दिया है। बुद्ध की इस प्रविधि की व्याख्या के अनेक यत्न हुये, जैसे उन्हें प्रश्न का उत्तर ही नहीं मालूम था, उनके मन में इनके उत्तर के बारे में अनिश्चितता थी, वे इन प्रश्नों की अर्थवत्ता पर ही संदेह करते थे, वे इनके उत्तर देने की इच्छा नहीं रखते थे या इनका उत्तर देना महत्त्वपूर्ण नहीं समझते थे (तिवारी 2007, 69)।

बौद्ध मत में अनात्मवाद की स्वीकृति का आधार उसकी अनित्यता संबंधी अवधारणा है जिसके अनुसार जगत की समस्त वस्तुएं परिवर्तनशील हैं और किसी नित्य एवं अपरिवर्तनशील सत्ता को स्वीकार करने का कोई अनंतिम तार्किक आधार नहीं है। आत्मा के अस्तित्व पर बुद्ध के मौन का निषेधात्मक अर्थ निकालने के विषय में कीथ का विचार उल्लेखनीय है। उनके अनुसार अनेक मत-मतांतरों पर विचार करने के बाद बुद्ध प्रायः इस निष्कर्ष पर पहुंचे कि इस विषय में कोई विचार आशंकारहित नहीं है। और भी कि आत्मा के अस्तित्व पर इतना मंथन करना जीवन के मुख्य लक्ष्य (=दु:ख से पूर्ण निवृत्ति या निर्वाण के लिए तत्त्वबोध) से भटकने जैसा है। बुद्ध प्रायः वाद-विवाद से तत्त्वबोध की संभावना (वादे वादे जायते तत्त्वबोध:) पर आशंकापूर्ण थे। तार्किक चर्चा से न तो कोई असंदिग्ध निष्कर्ष निकलता है और न ही चित्त की शुद्धि होती है। आत्मा के प्रश्न पर उनके मौन को उनकी अज्ञानता मानना या उन्हें इस विषय में अनिश्चित मानना उचित नहीं प्रतीत होता। मिलिंदप्रश्न जैसे बौद्ध ग्रन्थों में बुद्ध की सर्वज्ञता की बात कही गयी है। उनकी सर्वज्ञता को उनके किसी विषयवस्तु के सकारण एवं समग्रता में बोध के रूप में जानना उचित है। जहाँ तक उनके अनिश्चय की बात है तो एक दृष्टांत उल्लेखनीय है जहाँ वे शिंशिपा वृक्ष की कुछ पत्तियों को हाथ में लेकर भिक्षुओं से पूछते हैं कि क्या जंगल में इतनी ही पत्तियाँ हैं। भिक्षुओं ने कहा नहीं और भी बहुत हैं। तब बुद्ध ने कहा कि इसी प्रकार उन्हें बहुत-सी बातों का बोध है लेकिन वे उन्हीं बातों को सबके समक्ष रखते हैं जो उपयोगी हैं। उनके अनुसार जिन बातों का दु:ख एवं अज्ञान के निवारण, ज्ञान की प्राप्ति, चित्त की शुद्धि एवं निर्वाण की प्राप्ति में कोई उपयोग नहीं उन्हें बताना आवश्यक नहीं (तिवारी 2007, 71)। इस उपयोगितावादी दृष्टिकोण के बावजूद बुद्ध ने उन युक्तियों का विश्लेषण एवं परीक्षण किया है जिन्हें आत्मवादी नित्य आत्मा के अस्तित्व के प्रमाण के रूप में प्रस्तुत करते हैं। यहाँ प्रतिपक्षी द्वारा प्रस्तुत आत्मा संबंधी कुछ विचारों का उल्लेख आवश्यक है जिसके परिप्रेक्ष्य में अनात्म सिद्धान्त को समझा जा सके।

4.3 आत्मा का स्वरूप आत्मवादियों की दृष्टि में

भारतीय दार्शनिक विचार परम्पराओं में अधिकतर आत्मा की सत्ता को स्पष्ट रूप में स्वीकार करते हैं। इसमें केवल चार्वाक और बौद्ध ही अपवाद हैं। जैन दर्शन आत्मा के लिए 'जीव' शब्द का प्रयोग करता है और इसे स्वाभाविक रूप से अनंत दर्शन, अनंत ज्ञान और अनंत वीर्य से सम्पन्न मानता है। कर्मों के संस्कार के कारण जीव का अजीव या जड़ द्रव्य (कर्म-पुद्गल) के साथ संयोग होता है और उसके स्वरूप का परिसीमन (आवरण) हो जाता है। सम्यक दर्शन, सम्यक ज्ञान और सम्यक चरित्र के द्वारा जीव अपने स्वरूप का बोध प्राप्त कर अजीव से मुक्त होता है। सांख्य-योग दर्शन में भी आत्मा को 'पुरुष' अभिधान से जाना जाता है जो नित्य, अपरिवर्तनशील एवं स्वरूपत: चेतन है जो अज्ञानवश अपने को देह, इंद्रिय एवं मन मानने लगता है। योग साधना द्वारा उसमें प्रकृति (जड़ तत्त्व) से भिन्न होने का विवेक जागृत होता है और उसे कैवल्य की अनुभूति होती है। न्याय-वैशेषिक दर्शन में भी नित्य द्रव्य आत्मा की स्वीकृति है। न्याय दर्शन की विशेषता है कि वह प्रत्येक द्रव्य के अस्तित्व को तर्कपूर्ण ढंग से प्रतिष्ठित करने का उपक्रम करता है। दशवीं सदी ईस्वी के नैयायिक उदयनाचार्य ने तो अपने प्रसिद्ध ग्रंथ *आत्मतत्त्वविवेक* में कहा है कि दु:ख निवृत्ति के लिए आत्मा को तत्त्वत: जानना अनिवार्य है, यहाँ तक कि आत्मा के अस्तित्व को नकारने में भी उसका स्वीकरण निहित है: प्रतियोगि-अनुयोगितया आत्मैव तत्त्वतो ज्ञेय:, अर्थात् जो आत्मा का अभाव मानते हैं उन्हें प्रतियोगी रूप में (यस्य अभाव: स प्रतियोगी) और जो उसे देहादि से भिन्न आत्मा की सत्ता मानते हैं उन्हें अनुयोगी रूप में आत्मा के वास्तविक स्वरूप को जानना ही होगा (उदयनाचार्य 1992, 2)। इसी प्रकार मीमांसा और वेदान्त दर्शन की अनेक परम्पराओं में नित्य एवं अपरिवर्तनशील आत्मा की स्वीकृति मिलती है। इसे जीवात्मा एवं साक्षी नाम से भी जाना गया है। इसके अस्तित्व के लिए विभिन्न दर्शनों में दिये गए कुछ तर्कों को नीचे संक्षेप में दिया जा रहा है।

1. न्याय दर्शन में आत्मा को ज्ञान का अधिकरण माना गया है, ज्ञानाधिकरण आत्मा – (अन्नंभट्ट 2010)। ज्ञान कोई भौतिक गुण नहीं है। इसके अतिरिक्त इच्छा, प्रयत्न, सुख, दु:ख, द्वेष आदि भी अभौतिक गुण हैं। जिस प्रकार भौतिक गुणों (रूप, रस, गंध इत्यादि) का आश्रय कोई भौतिक द्रव्य होता है, वैसे ही अभौतिक गुणों के आधार के रूप में किसी अभौतिक द्रव्य का होना आवश्यक है। यही द्रव्य आत्मा है। मीमांसा दर्शन में ज्ञान को आत्मा की क्रिया माना गया है, वेदान्त दर्शन आत्मा को ज्ञानस्वरूप मानता है। ज्ञान हमारा अनुभव है, इसका होना ज्ञाता आत्मा के होने का प्रमाण है। देह, इंद्रिय और मन ज्ञान का आधार हो नहीं सकते क्योंकि वे भौतिक द्रव्य हैं।

2. प्रत्यभिज्ञा को अपरिवर्तनशील आत्मा के प्रमाण के रूप में प्रस्तुत किया जाता है। जब हम कहते हैं कि 'यह वही देवदत्त है जिसे हमने 10 वर्ष पूर्व वाराणसी में देखा था', तो किसने 10 वर्ष पूर्व देवदत्त को देखा था और वही उसे आज भी देख रहा है? स्मृति अनुभव से उत्पन्न संस्कार से उत्पन्न होती है। अनुभवकर्ता और स्मरणकर्ता भिन्न नहीं हो सकते, किसी अन्य का अनुभव किसी अन्य की स्मृति का कारण नहीं बन सकता। अतः अनुभव और स्मृति का आधार एक ही ज्ञाता होगा जो कि आत्मा है, अन्यथा स्मृति और प्रत्यभिज्ञा संभव नहीं होंगे।

3. हम सभी को अपने होने का भाव है (अहमस्मि), और यह भाव आजीवन बना रहता है।

हमारी मानसिक और शारीरिक संरचना में बदलाव के बावजूद इस भाव में कोई परिवर्तन नहीं होता। इस भाव का धारक कोई अपरिवर्तित तत्त्व होना चाहिए, जोकि आत्मा है। इसके अतिरिक्त न्याय दर्शन कहता है कि हम सभी 'मैं' (अहम्) शब्द का प्रयोग करते हैं। इसका संकेतक कोई द्रव्य होना चाहिए। जैसे 'मैं सुखी हूँ', 'मैं दु:खी हूँ', या 'मैं वही हूँ जो दस वर्ष पूर्व था', इन अभिव्यक्तियों में 'मैं' कौन है? न्याय दर्शन कहता है कि इस स्वत्व-चेतना के आधार रूप में आत्मा ही है। मीमांसा दर्शन में भी कहा गया है कि 'मैं' शब्द का वाचक आत्मा है और इसका आधार अहम्-धी (अहम्-बुद्धि) है जो अपरोक्षानुभव में उपलब्ध होने के कारण असंदिग्ध है।

4. कर्म-सिद्धान्त एवं पुनर्जन्म की अवधारणा को भी नित्य एवं अपरिवर्तनशील आत्मा के प्रमाण के रूप में प्रस्तुत किया जाता है। कर्म-सिद्धान्त के अनुसार कर्मों का फल कर्ता को ही मिलता है। यदि अपरिवर्तनशील आत्मा का अस्तित्व न हो तो संपादित कर्म के फल न मिलने (कृत-प्रणाश) या किसी अन्य द्वारा संपादित कर्म का फल किसी अन्य को मिलने (अकृत-अभ्युपगम) जैसी अव्यवस्था उत्पन्न होगी। इसी प्रकार इस जीवनकाल में कोई ऐसा फल मिलता देखा जाता है जिसके लिए कर्म नहीं किया गया और कभी किए हुये का फल नहीं मिलते देखा जाता है। बुरे कर्म करने वाले सुखी देखे जाते हैं और अच्छे कर्म करने वालों को दु:ख सहते भी देखते हैं। इस विसंगति की व्याख्या के रूप में भी भारतीय परंपरा में पुनर्जन्म के सिद्धान्त को माना गया है। पूर्वजन्म में किए हुये कर्म का फल इस जन्म में मिल सकता है और इस जन्म में अफलित कर्म का परिणाम अगले जन्म में मिलता है। मीमांसा दर्शन के अनुसार पुनर्जन्म की घटना नित्य आत्मा की सत्ता के लिए प्रमाण है। जैन दर्शन भी कहता है कि कर्म-पुद्गलों का क्षय होने तक पुनर्जन्म होता रहता है। भगवद्गीता (2.22) में पुनर्जन्म को आत्मा का एक स्थूल शरीर से संबंध-विच्छेद और दूसरे स्थूल शरीर से संयोग के रूप में देखा गया है। जैसे कोई व्यक्ति पुराने वस्त्र त्याग कर नवीन वस्त्र धारण करता है वैसे ही आत्मा एक शरीर छोड़ दूसरा धारण करती है (प्रभुपाद 1972, 102)।

5. सांख्य दर्शन (सांख्यकारिका, 17) में जड़ प्रकृति से भिन्न नित्य चेतन आत्मा (पुरुष) के अस्तित्व के लिए अनेक तर्क दिये गए हैं। भौतिक वस्तुओं के संघात को सप्रयोजन माना गया है। कोई भी संघात स्वयं के लिए नहीं देखा जाता। ये सभी आत्मा के लिए हैं (संघात परार्थत्वात्)। जड़ जगत त्रिगुणात्मक है तो कोई निष्त्रिगुण सत्ता होनी चाहिए (त्रिगुणादिविपर्ययाद्)। जड़ तत्त्व के नियामक के रूप में भी आत्मा की सत्ता है (अधिष्ठानात्)। भोक्ता (भोक्तृभावात्) एवं जन्म-मरण से मुक्त होने की कामना (कैवल्यार्थ-प्रवृत्ति) के आश्रय के रूप में भी नित्य आत्मा की सत्ता स्वीकृत है (ईश्वरकृष्ण 1995, 55)।

4.3.1 व्यक्ति-आत्मा का सम्बन्ध

उपर्युक्त तर्कों के आधार पर नित्य, अपरिवर्तनशील एवं अभौतिक आत्मा की सत्ता को स्वीकार किया जाता है। सामान्य धारणा है कि भौतिक जगत के सभी प्राणी आत्मा और शरीर का संघात हैं। प्रत्येक व्यक्ति आत्मा, शरीर, इंद्रिय और मन का संयुक्त रूप है। व्यक्ति के कर्मों से उत्पन्न संस्कार से कारण शरीर का निर्माण होता है जो कि व्यक्ति के जन्म लेने का मूल कारण है। सांख्य दर्शन के अनुसार बुद्धि, अहंकार, पाँच ज्ञानेंद्रियाँ और पाँच कर्मेन्द्रियाँ मिलकर सूक्ष्म

शरीर का निर्माण करते हैं। कारण शरीर और सूक्ष्म शरीर की गुणवत्ता कर्मों से निर्धारित होती है। कर्मों का विपाक होने से उनका फल भोगने के लिए व्यक्ति का स्थूल शरीर से संयोग होता है। मानव शरीर प्राप्त होने कि दशा में कर्मों में परिष्कार भी संभव होता है क्योंकि इसी को कर्म-योनि कहा गया है। अन्य प्राणियों का स्थूल शरीर केवल कर्म-फल भोग का साधन बनता है, वे केवल भोग-योनि कहे जाते हैं। चार्वाक दर्शन आत्मा जैसे किसी अभौतिक तत्त्व को नहीं मानता है और वह कर्म सिद्धान्त को इस लौकिक जीवन तक ही सीमित रखता है। बौद्ध परंपरा अपरिवर्तनशील आत्मा की सत्ता अस्वीकार करते हुये भी कर्म सिद्धान्त एवं पुनर्जन्म को स्वीकार करती है। अन्य बातों पर चर्चा करने की पूर्वपीठिका के रूप में यह जानना आवश्यक है कि इस परंपरा में आत्मा की अपरिवर्तनशीलता और नित्यता को कैसे चुनौती दी गयी है।

4.4 आत्मा के अनस्तित्व हेतु तर्क

आत्मा के अस्तित्व को स्वीकार या अस्वीकार करने की एक लंबी दार्शनिक परंपरा रही है। उदाहरण के लिए, कठोपनिषद में नचिकेता यम से कहते हैं कि आत्मा के अस्तित्व पर संशय है क्योंकि कुछ लोग कहते हैं कि मृत्यु के उपरांत मनुष्य का अस्तित्व होता है और कुछ लोग कहते हैं कि नहीं होता है (येयम्प्रेते विचिकित्सा मनुष्ये-अस्ति-इति-एके नायमस्ति-इति-च-एके, 1.1.20) (वसु 1905, 41), तो वास्तविकता क्या है? इस प्रसंग में 'प्रेत' शब्द का प्रयोग है जिसका अर्थ 'मृत्यु के उपरांत मनुष्य का अस्तित्व' किया गया है, अर्थात् 'स्थूल-शरीर वियोग' या 'मुक्ति' के बाद क्या कुछ (आत्मा) बचता है? नचिकेता का संशय यह दर्शाता है कि भारतीय संस्कृति में आत्मा का अस्तित्व या अनस्तित्व प्राचीनकाल से चर्चा का विषय रहा है। चार्वाक दर्शन में जीवित देह को ही आत्मा माना जाता है (देहात्मवाद)। प्राणियों में जीवन पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु के विशेष संयोग का परिणाम है, और मृत्यु के उपरांत चारों भौतिक तत्त्व अपने मूल स्वरूप में मिल जाते हैं, व्यक्ति पूर्णतया नष्ट हो जाता है, पुनर्जन्म जैसी कोई संभावना नहीं बचती। बुद्ध ने अपने अनत्ता सिद्धान्त के द्वारा आत्मा के अनस्तित्व संबंधी चर्चा को एक व्यवस्थित रूप में प्रकट किया तथा किसी नित्य और अपरिवर्तनशील सत्ता के अभाव में भी कर्म सिद्धान्त और पुनर्जन्म की अवधारणा को स्वीकार किया। बौद्ध मत में मानसिक और भौतिक धर्मों (तत्त्वों) की धारा के आधार के रूप में किसी अन्य तत्त्व की स्वीकृति को ही आत्मवाद कहा गया है। इसी सिद्धान्त के निषेध को अनात्मवाद या अनत्ता का सिद्धान्त कहा गया है। इसका केंद्रीय बिन्दु किसी भी अपरिवर्तनशील तत्त्व की अस्वीकृति है, इसके लिए कुछ प्रमुख तर्क निम्नवत हैं।

1. बौद्ध मत धर्मता के सिद्धान्त का प्रतिपादन करता है जिसके अनुसार सभी धर्म अनित्य हैं। यह अनुभवसिद्ध है कि कुछ भी ऐंद्रिक जगत में नित्य एवं अपरिवर्तनशील नहीं मिलता है। वास्तव में, धर्म शब्द अनात्म या नैरात्म्य का ही एक नाम है। 'सब्बे धम्मा अनिच्चा' कहकर बौद्ध दार्शनिक सभी संस्कृत धर्मों को अनित्य बताते हैं और उन्हें स्कंधों में सम्मिलित किया गया है, क्योंकि वे सभी प्रतीत्यसमुत्पन्न—अपने कारण पर आधारित होकर उत्पन्न—हैं। कारण के अभाव से कार्य का अभाव होता है। यदि कारण का उन्मूलन कर दिया जाय तो कार्य नहीं होगा। धर्म अपने उत्पत्ति के क्षण में ही नष्ट होते हैं इसलिए कोई धर्म केवल एक क्षण ही रहता है। इसी प्रकार ज्यामिति के बिन्दु के समान उनका दैशिक विस्तार भी नहीं है। अत: बौद्ध मत में न तो किसी भौतिक और न ही किसी आध्यात्मिक द्रव्य को स्वीकार किया जा सकता है। किसी अपरिवर्तनशील आत्मा के

स्थान पर वे चित्त या विज्ञान की शृंखला ही मानते हैं। मनुष्य के व्यक्तित्व में ऐसा कुछ भी नहीं है जो बदल न रहा हो। यह पाँच स्कंधों—रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार, विज्ञान—का समुदाय है।

2. बौद्ध मत के अनुसार सत् होने का अर्थ है अर्थक्रियाकारी होना (अर्थक्रियाकारित्वं सत्वम्)। किसी वस्तु में अर्थक्रिया होने का अर्थ है कि वह किन्हीं कारणों पर निर्भर होकर उत्पन्न हुई है (प्रतीत्यसमुत्पन्न है) और अपने ही जैसी अन्य वस्तु को उत्पन्न करने की क्षमता से सम्पन्न है। जिसमें अर्थक्रिया नहीं है वह सत् पदार्थ नहीं है। अर्थक्रियाशील होने के लिए परिवर्तनशील होना आवश्यक है। कोई भी वस्तु जिसमें परिवर्तन नहीं होता किसी क्रिया का सम्पादन नहीं कर सकती। आत्मा को अपरिवर्तनशील माना जाता जाता है। अपरिवर्तनशील होने के कारण वह अर्थक्रियाकारी नहीं होगी, और इसी कारण से उसे सत् नहीं कहा जा सकता। इसीलिए 'यत्सत् तत्क्षणिकम्' कहा गया है।

3. आत्मवादियों के अनुसार हम एक ही वस्तु का भिन्न इंद्रियों से ज्ञान प्राप्त करते हैं, जैसे जिस घड़े को पहले देखा उसी को अब छूकर भी जान रहा हूँ। ऐसा तभी संभव है जब ज्ञाता भिन्न-भिन्न कालों में रहता हुआ एक ही वस्तु को भिन्न-भिन्न इंद्रियों से जाने। परंतु बौद्ध दार्शनिक कहते हैं कि इसमें ज्ञाता और वस्तु की भिन्न-भिन्न संतान हैं उनका कोई अपरिवर्तित अधिष्ठान नहीं है। पूर्व का चित्त क्षण वस्तु का अनुभव करके उत्तरवर्ती चित्त संतान पर अपना संस्कार स्थानांतरित कर देता है, इसी प्रक्रिया से प्रत्यभिज्ञा और स्मृति संभव होती है न कि किसी नित्य अपरिवर्तनशील आत्मा की अपेक्षा से। एक चित्तक्षण द्वारा अनुभूत वस्तु का स्मरण उसी चित्त-संतति में आने वाले परवर्ती चित्तक्षणों को होता है। इसी प्रकार यह भी ज्ञान होता है कि 'यह वही देवदत्त है जिसे 10 वर्ष पूर्व मैंने वाराणसी में देखा था'। वस्तुओं की संतान-परंपरा भी कारण-कार्य नियम के अंतर्गत है। किसी भी कार्य की उत्पत्ति कारण की अपेक्षापूर्वक है।

4. बौद्ध कहते हैं कि 'अहम्' पद से जिस नित्य आत्मा के संकेत की बात की जाती है वास्तव में उसका आधार व्यक्ति की वासना है। 'अहम्' की प्रतीति वासना से जन्य विकल्प के कारण है। बौद्ध त्रिपिटक में सुत्तपिटक के दीघनिकाय ग्रंथ में ब्रहमजालसुत्त में तथागत कहते हैं कि नित्य आत्मा कि अवधारणा उन सन्यासियों की कल्पना का परिणाम है जिन्होंने साधना द्वारा चित्त की कुछ निर्मलता प्राप्त कर ली और अपने अनेक पूर्वजन्मों का स्मरण कर पाये। परंतु वे वासना के प्रभाव में, अपने चित्त के संस्कारों की सघनता में चित्त की क्षणधर्मिता को नहीं देख पाये और नित्यता का उपदेश करने लगे (बोधि 2010)। वे कहते हैं कि क्षणिकता को देखना आसान नहीं है।

5. कर्म सिद्धान्त और पुनर्जन्म की व्याख्या के लिए भी बौद्ध विचारक नित्य आत्मा की सत्ता की स्वीकृति को अनावश्यक मानते हैं। इसकी व्याख्या इस लेख में आगे की जा रही है।

4.5 आत्मा-हीन व्यक्ति का विवेचन

उपर्युक्त विवरण में बौद्ध विचारक क्षणिकवाद के अनुसार उन बातों की व्याख्या करने का प्रयास करते हैं जिसके लिए आत्मवादी विचारक आत्मा की नित्यता को न केवल आवश्यक मानते हैं बल्कि उन्हें आत्मा की नित्यता के लिए तर्क के रूप में प्रस्तुत करते हैं। इन बातों में व्यक्ति के स्वरूप के विश्लेषण की चर्चा उल्लेखनीय है। व्यक्ति को सामान्यतया पालि साहित्य

में 'पुग्गल' या 'पुरिस' शब्द से जाना गया है जिसका संस्कृत रूप पुद्गल और पुरुष है। इन्हें अलग-अलग स्थानों पर अलग-अलग अर्थों में प्रयोग किया गया है: कभी एक प्राणी के अर्थ में, कभी एक मानसिक वस्तु के रूप में, कभी एक इकाई के रूप में, कभी अनुभव के आश्रय के रूप में, कभी सामान्य व्यक्ति के रूप में और कभी उस व्यक्ति के रूप में जो आध्यात्मिक उन्नति के उच्चतर सोपान पर है। यदि सभी प्रयोगों को ध्यान से देखें तो बौद्ध मत में व्यक्ति की दो अलग-अलग अवधारणायें मिलती हैं: एक अपचयी दृष्टिकोण है, जिसके अनुसार किसी व्यक्ति के होने का अर्थ एक मनोभौतिक समुदाय का होना ही है। यह अधिकतर बौद्ध विचारकों का मत प्रतीत होता है। दूसरा गैर-अपचयी दृष्टिकोण पुद्गलवादियों का है जिसके अनुसार किसी व्यक्ति का कालिक अस्तित्व स्वीकार्य है परंतु उसकी पहचान निश्चितरूप से मनोभौतिक समुच्चय पर निर्भर करती है। बौद्ध मत के दो संप्रदाय, वात्सीपुत्रीय और सम्मितीय, पुद्गलवादी माने जाते हैं। पुद्गलवाद एक गैर-अपचयी मत है जिसके अनुसार पुद्गल अर्थात् व्यक्ति की कालिक सत्ता होती है। इसका आधार पालि बौद्ध साहित्य में संयुक्त निकाय के भारसुत्त जैसे प्रसंग हैं जिसमें पञ्च-स्कंधों को भार (धर्म) और पुद्गल को भारहार (धारक-धर्मिन्) कहा गया है। इस शब्दावली का प्रयोग सप्रयोजन प्रतीत होता है जिसमें पञ्च-स्कंधों के अवयव, उनकी संरचना और उनसे मुक्ति के उपाय के बारे में कथन किया जाना है (भिक्खु 2001)।

पञ्च-स्कंधों को भार कहने के पीछे उनमें व्यक्ति के अनुराग को छुड़ाना प्रतीत होता है। इसमें रूप-स्कन्ध, वेदना-स्कन्ध, संज्ञा-स्कन्ध, संस्कार-स्कन्ध और विज्ञान-स्कन्ध आते हैं। संयुक्त निकाय के अनत्तालक्खनसुत्त में इन पाँचों स्कंधों को अनात्म कहा गया है। 'स्कन्ध' का अर्थ है 'संग्रह', अर्थात् प्रत्येक स्कन्ध में उन सबका समाहार किया गया है जो भूत, वर्तमान, भविष्य किसी काल में रहे हों, दैशिक रूप से बाह्य या आंतरिक हों, कालिक रूप से दूर या पास हों, स्थूल या सूक्ष्म, अनुत्तम या उत्तम किसी प्रकार के हों।

जिन आलंबनों से रूप, रस, गंध, शब्द, स्पर्श की चेतना उत्पन्न होती है उन्हें रूप-स्कन्ध में सम्मिलित किया जाता है। ये आलंबन ही व्यक्ति के भौतिक आयाम की संरचना में भागीदार होते हैं। चौथी सदी ईस्वी के बौद्ध चिंतक वसुबंधु अपने अभिधम्मकोशभाष्य में हीनयान परंपरा के वैभाषिक बौद्धों के मत को व्यक्त करते हुये कहते हैं कि रूप-स्कन्ध में तीन प्रकार के संघात आते हैं—जिनका विलय हो चुका है, जिनकी उत्पत्ति हो गयी है और जो अभी स्थित हैं तथा वे जिनकी उत्पत्ति भविष्य में होगी। जो रूप-स्कंध व्यक्ति की व्यक्तिगत शृंखला का भाग बनते हैं और जिन्हे 'मैं' कहकर संबोधित किया जाता है उन्हें आंतरिक रूप-स्कन्ध कहते हैं (जैसे इंद्रियाँ और देह), तथा इससे इतर को बाह्य रूप-स्कन्ध कहते हैं। इसी प्रकार जिन रूप-स्कंधों में प्रतिरोध की प्रवृत्ति होती है उन्हें स्थूल एवं जिनमें इसका अभाव होता है उसे सूक्ष्म कहते हैं। इसे इस तरह भी समझ सकते हैं कि जिन रूप-स्कंधों का अनुभव बाह्य इंद्रियों से होता है वे स्थूल हैं तथा जिनका अनुभव मानसिक होता है वे सूक्ष्म हैं। दोषपूर्ण रूप-स्कन्ध को अनुत्तम एवं शुद्ध रूप-स्कन्ध को उत्तम कहते हैं, पहला दु:ख का उत्पादक है और दूसरा सुख का। भूत-भविष्य के रूप-स्कंधों को दूर का एवं वर्तमान को पास वाला कहते हैं।

उपर्युक्त प्रारूप पर अन्य चार स्कंधों—वेदना, संज्ञा, संस्कार, एवं विज्ञान—को भी समझा जा सकता है। वेदना के आधार पर ही वांछनीय और त्याज्य का निर्णय किया जाता है। यह निर्णय ही संज्ञा है। सुखद संवेदना के कारण राग और विपरीत वेदना के कारण द्वेष होता है। वांछनीय के प्रति राग और त्याज्य के प्रति द्वेष होता है और इन्हीं से बार-बार जन्म (भव) का भाव आता है। अतः वेदना और संज्ञा को पुनर्जन्म मूल कारण कहा गया है। विपरीतसंज्ञा के प्रभाव में किए

गए कर्म चेतना पर बंधनकारी संस्कारों को उत्पन्न करते हैं और जन्म-मरण की शृंखला चलती रहती है। वसुबंधु केवल विज्ञान या चेतना के बारे में एक अतिरिक्त बात कहते हैं कि स्थूल चेतना का अर्थ बाह्य इंद्रियों द्वारा उत्पन्न चेतना है जैसे चक्षु-विज्ञान, श्रोत-विज्ञान, घ्राण-विज्ञान आदि, तथा सूक्ष्म चेतना मानसिक प्रत्यक्ष है (वसुबंधु 1988, 77-81)।

इन पाँचों को संयुक्त रूप से पुद्गल (व्यक्ति) से संबोधित किया जाता है—यह व्यक्ति इस नाम का है, इस वर्ग का है इत्यादि। व्यक्ति इन स्कंधों के धारक के रूप में भ्रमण करता है और तृष्णावश उसमें लोभ-मोह करता है, सुख देने वाली वस्तुओं को पाने और दु:ख देने वाली वस्तुओं से मुक्त होने का प्रयास करता है। यही प्रयास भार उठाना कहलाता है। चूंकि पञ्च-स्कंधों से साधारण व्यक्ति में चिपकने (पहचान समझने) की प्रवृत्ति होती है इसलिए इसे पञ्च-उपादान-स्कन्ध भी कहते हैं। तृष्णा से मुक्त होकर लोभ-मोह से मुक्ति पाना ही भार छोड़ना है, यही वास्तविक सुख है: भारा भवे पंचखन्धा भारहारो च पुग्गलो, भारादानं दुक्खं लोके भारनिक्खेपनं सुखं। ऐसा प्रतीत होता है कि पुद्गलवादी विचारक पुद्गल को अनित्य तो कहना चाह रहे हैं, परंतु उसे क्षणिक मानने के पक्ष में नहीं है। यह एक व्यावहारिक दृष्टिकोण हो सकता है। जैसे महात्मा बुद्ध अनेक प्राणियों की आयु की बात करते हैं तथा एक ही व्यक्ति के संदर्भ में अनेक जन्मों की बात करते हैं, तो इस एकत्व का तत्त्वमीमांसीय स्वरूप न सही, कोई ज्ञानमीमांसीय स्वरूप तो होना चाहिए। इसका आधार व्यक्ति का मनो-भौतिक परिवर्तन के बावजूद अपने होने में एकत्व का ज्ञान है—मैं वही हूँ जो पैदा हुआ था। इसी अनुभव के आधार पर सम्पूर्ण जगत-व्यवहार का ताना-बाना बुना जाता है। परंतु दार्शनिक प्रश्न का समाधान तार्किकता की अपेक्षा रखता है। इसीलिए स्कंधों को आयतन और धातु से जोड़कर ही समझा जा सकता है। आयतन इंद्रियाँ अर्थात् प्रवेश द्वार हैं जिससे चित्त में अनेक वस्तुओं के प्रति चेतना उत्पन्न होती है। इंद्रियों को आयतन कहने का अर्थ है कि उनके द्वारा चित्त का प्रसार अपने से भिन्न वस्तुओं तक होता है। धातु वस्तुओं के गोत्र/जाति, वर्ग और सम्बन्धों का सूचक है। छ: इंद्रियाँ, उनके छ: विषय और उनके द्वारा उत्पन्न छ: प्रकार के विज्ञान धातु कहलाते हैं। स्कन्ध, आयतन और धातु संस्कृत धर्मों को समझने हेतु विकल्प हैं। असंस्कृत धर्म कोई अतिरिक्त तत्त्व नहीं बल्कि संस्कृत धर्मों का अभाव है (वसुबंधु 1988, 82)। पञ्च-स्कंधों का स्थूल से सूक्ष्म की दिशा में क्रम है रूप->वेदना->संज्ञा->संस्कार->विज्ञान। स्थूलतम है रूप और सूक्ष्मतम है विज्ञान। एक पुद्गल/व्यक्ति इन्हीं स्कंधों का स्कन्ध है। क्या इसकी स्कंधों से स्वतंत्र सत्ता है? बौद्ध विचारक इसका निषेधात्मक उत्तर देते हैं। परंतु पुद्गलवादियों के उत्तर में व्यक्तित्व की निरंतरता में सीमित स्वतन्त्रता की झलक प्रतीत होती है जिसमें निर्वाण पाने तक व्यक्ति का व्यक्तित्व पञ्च-स्कंधों द्वारा निरंतर पोषित होता है। मनोवैज्ञानिक निरंतरता का आश्रय विज्ञान बनता है और पञ्च बाह्य इंद्रियों को उपलब्ध रूप-स्कन्ध स्थूल/भौतिक पहचान का आश्रय।

वसुबंधु ने अपने अभिधम्मकोशभाष्य के अंतिम अध्याय पुद्गलप्रतिषेधप्रकरण (आत्मवादप्रतिषेध) में पुद्गलवादियों के मत का खंडन करते हैं। वे कहते हैं कि पञ्च-स्कंधों से स्वतंत्र व्यक्ति की अवधारणा का कोई आधार नहीं है, प्रत्यक्ष में यह अनुपलब्ध है और अनुमान से इसकी सिद्धि संभव नहीं। यदि इसका कोई द्रव्यगत अस्तित्व होता तो इसकी बाह्य इंद्रियों या मनस को आलंबनरूप में प्राप्ति होती। यदि यह सूक्ष्म होता तो अनुमान से इसकी सिद्धि होती जैसे इंद्रियों आदि का अनुमान उनकी अर्थक्रिया के आधार पर किया जाता है। वात्सीपुत्रीयों और सम्मितीयों का मानना है कि पुद्गल का वास्तविक अस्तित्व होता है उसकी पहचान भले ही पञ्च-स्कंधों के आधार पर ही होती है। यदि इसके अस्तित्व का अभाव होता

तो ऐसी अनुभूति न होती कि व्यक्ति के मनोभौतिक परिवर्तन के बावजूद वह वही है। हाँ यह बात अवश्य है कि व्यक्ति का अपनी पूर्व दशा से न तो तादात्म्य है न ही भिन्नत्व। पुद्गल का अपना कोई स्वभाव न होने से इसकी अभिव्यक्ति सदैव पञ्च-स्कंधों के आधार पर होती है। वसुबंधु के अनुसार चूंकि पुद्गल की पहचानगत निर्भरता स्कंधों पर है इसलिए यह कहना उचित है कि इसकी सत्ता प्रज्ञप्ति में ही है, द्रव्यगत नहीं। यदि स्कंधों से भिन्न पुद्गल/व्यक्ति की पहचान असंभव है, तो इसे केवल एक विकल्प मानना उचित होगा जिसे भाषा-व्यवहार के लिए अपनाया गया है। वसुबंधु का पुद्गलवादियों के प्रति आग्रह इस बात के लिए है कि किसी वस्तु को उसके स्वभाव के रूप में पहचाना जाय। परंतु बौद्ध तत्व चिंतन में तर्कत: इसका अवकाश नहीं है इसीलिए माध्यमिकों ने स्वभावशून्यता की अवधारणा का प्रतिपादन किया। भाषा के माध्यम से वस्तुओं और व्यक्तियों का संकेत उपचार मात्र है जिससे संसार की परिवर्तनशीलता के साथ-साथ निर्वाण का भी उपदेश किया जा सके।

4.6 अनत्ता और पुनर्जन्म

पुनर्जन्म की अवधारणा व्यक्ति की मृत्यु के उपरांत जीवन की निरंतरता की अवधारणा है। भारतीय संस्कृति में उपजे अधिकांश दार्शनिक परम्पराओं में इसकी स्वीकृति है। वास्तव में चार्वाक दर्शन को छोड़ सभी इसे मानते हैं। इसके अनुसार जीव या आत्मा नित्य एवं अपरिवर्तनशील है, इसका न तो जन्म होता है न मरण। जीव या आत्मा का अनादिकाल से कर्मों से संबंध है। कामनापूर्ण कर्म बंधनकारी संस्कारों को जन्म देते हैं जिससे कारण-शरीर का निर्माण होता है। कारण-शरीर के आधार पर सूक्ष्म शरीर का निर्माण होता है और जीवात्मा इससे संयुक्त होती है। कर्म विपाक होने पर एक उपयुक्त स्थूल शरीर में इसी सूक्ष्म शरीर का प्रवेश होता है जिसे पुनर्जन्म कहते हैं। इस व्याख्या में आत्मा अपने संस्कारों के साथ जैसे इस प्रक्रिया का आधार बनती है। जैसा कि पहले संकेत किया गया है, पुनर्जन्म की प्रक्रिया को भगवद्गीता में चित्रात्मक ढंग से प्रस्तुत किया गया है: जैसे मनुष्य पुराने वस्त्र त्याग नूतन वस्त्र धारण करता है, वैसे ही आत्मा पुराने शरीर को त्याग नया शरीर धारण करती है। इस प्रक्रिया में आत्मा के आश्रय में सूक्ष्म शरीर का स्थानांतरण एक स्थूल शरीर से दूसरे स्थूल शरीर में होता है। एक व्याख्या के अनुसार सूक्ष्म शरीर के रूप में व्यक्ति की प्रवृत्तियों का पुनर्जन्म होता है, आत्मा इस निरंतरता का आधार बनती है। प्रश्न उठता है यदि आत्मा जैसा कोई नित्य अपरिवर्तनशील आधार स्वीकार्य नहीं है, तो पुनर्जन्म की व्याख्या कैसे की जा सकती है? बौद्ध मत में पुनर्जन्म की व्याख्या पञ्च-स्कंधों के आधार पर ही की जाती है। जातक कथाओं में बुद्ध के ही अनेक पूर्व जन्मों की कहानी है। कहा जाता है कि बोधि प्राप्ति की प्रक्रिया में बुद्ध को इन जन्मों का स्मरण हुआ। ब्रह्मजालसुत्त में आत्मा की नित्यता में विश्वास के पीछे की मनोवैज्ञानिक संरचना का उल्लेख करते हुये भी उन्होंने किसी व्यक्ति द्वारा अपने पूर्व जन्मों के स्मरण की संभावना को दर्शाया है। उनके अनुसार साधना द्वारा ऐसी क्षमता को प्राप्त किया जा सकता है।

बौद्ध मत में पुनर्जन्म की अवधारणा उनकी निरंतर परिवर्तनशील सत्ता की अवधारणा के अनुरूप है। व्यक्ति प्रतिक्षण परिवर्तनशील है। पञ्च-स्कंधों में निरंतर परिवर्तन होता है। वह न केवल मृत्यु के बाद पुनर्जन्म लेता है बल्कि प्रतिक्षण वह जन्मता और मरता है। पुराने मनोभौतिक स्कन्ध की जगह नए मनोभौतिक स्कन्ध लेते रहते हैं। परंतु दर्शन में पुनर्जन्म की चर्चा इस अर्थ में नहीं होती। यहाँ एक स्थूल शरीर से भिन्न दूसरे स्थूल शरीर में मानसिक

निरंतरता का प्रश्न है। अभिधर्मकोश के अनुसार पूर्व में कहा गया है कि पुनर्जन्म का मूल कारण वेदना और संज्ञा स्कन्ध हैं। अविद्यापूर्वक कर्म में लगे रहने से (कर्मभव) पञ्च-स्कंधों कि संतति प्रवाहित होती रहती है। एक मृत स्थूल शरीर को त्यागकर दूसरे स्थूल शरीर ग्रहण करने के बीच में भी स्कन्ध-संतति चलती रहती है जिसे 'अंतराभव' कहा गया है। अंतराभव के पहले की स्थिति को 'पूर्वकालभव' कहते हैं जिसमें पञ्च-स्कन्ध का प्रवाह मृत्यु के क्षण तक चलता रहता है। नए स्थूल शरीर की प्राप्ति के लिए गर्भ में प्रवेश की दशा वाले स्कन्ध संतान को 'उपपत्तिभव' कहते हैं। पूर्व जन्म के अंतिम चित्तक्षण को च्युतिचित्त नाम दिया गया है, नए जीवन के प्रथम चित्त को प्रतिसंधिचित्त नाम दिया गया है। इस प्रकार पञ्च-स्कन्ध की निरंतरता—पूर्वकालभव>अंतराभव>उपपत्तिभव—से जन्म-मरण का चक्र चलता रहता है। इसका तत्त्वमीमांसीय वर्णन प्रतीत्यसमुत्पाद के रूप में प्राप्त होता है जिसमें अविद्या से संस्कार, संस्कार से विज्ञान, विज्ञान से नाम-रूप, नाम-रूप से षडायतन, षडायतन से स्पर्श, स्पर्श से वेदना, वेदना से तृष्णा, तृष्णा से उपादान, उपादान से भव, भव से जाति, और जाति से जरा-मरण उत्पन्न होते रहते हैं। जरा-मरण ही दु:ख का दूसरा नाम है। दु:ख से पूर्ण निवृत्ति को निर्वाण कहते हैं।

4.7 अनत्ता और परम-पुरुषार्थ (निर्वाण)

बौद्ध मत में परम पुरुषार्थ को निर्वाण नाम से जाना जाता है, जिसका अर्थ है 'बुझ जाना', जन्म-मरण-चक्र से मुक्त हो जाना। जन्म-मरण के चक्र में पड़े हुये पंचस्कन्ध ही दु:ख हैं। छठी सदी ईस्वी के बौद्ध विद्वान धर्मकीर्ति ने अपने प्रमाणवार्त्तिक में कहा है: दु:खं संसारिण: स्कन्धा:, अर्थात् भव-चक्र में पड़े रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार, विज्ञान के संघात ही दु:ख हैं। अन्य भारतीय दर्शनों की भाँति बौद्ध दर्शन में भी दु:ख का मूल कारण अविद्या माना गया है। अविद्या या अज्ञान के प्रभाव में व्यक्ति ऐसे कर्म करता है जिससे उत्पन्न संस्कार बंधनकारी होते हैं। प्रतीत्यसमुत्पाद के वर्णन में यह दिखाया गया है कि कैसे एक की उपस्थिति से उसका कार्य उत्पन्न होता है और जन्म-मरण का चक्र चलता रहता है। महात्मा बुद्ध के अनुसार पञ्च-स्कंधों के उत्पाद इस शरीर में एकत्व की भावना, इसमें आत्मा जैसी नित्य तत्त्व की कल्पना, सुख-दु:ख का अनुभव एवं मेरा-तेरा का भाव ही अविद्या है। यही अविद्या परम्परया तृष्णा को जन्म देती है, इसी से अनात्म में आत्म देखने की प्रवृत्ति होती है, राग-द्वेष और क्लेश का जन्म होता है। प्राणी विरोध के भाव में जीता हुआ आवागमन के चक्र में फँसा रहता है। बौद्ध मत इससे मुक्ति के लिए अष्टांग मार्ग का प्रस्ताव करता है जिसके निरंतर अभ्यास से पञ्च-स्कन्ध का संगठन टूटता है और निर्वाण होता है।

बौद्ध दर्शन में निर्वाण को प्रायः अभाव-रूप ही माना जाता है। इसमें व्यक्ति के व्यक्तित्व का निर्माण करने वाले संस्कृत धर्मों का क्षरण होता है। निर्वाण प्राप्त व्यक्ति का क्या होता है, इस प्रश्न पर भी बुद्ध का मौन प्रसिद्ध है। वैभाषिक बौद्ध परंपरा में निर्वाण को दो रूपों में प्रस्तुत किया गया है: सोपाधिशेष और निरुपाधिशेष। सोपाधिशेष दशा की तुलना जीवन्मुक्ति दशा से की जाती है जिसमें ज्ञान प्राप्त व्यक्ति शरीर के प्राकृतिक रूप से क्षय होने तक लोक-संग्रह में लगा रहता है। निरुपाधिशेष निर्वाण शरीर स्कंधों के पूर्ण क्षय होने की दशा है जिसकी तुलना विदेहमुक्ति से की जाती है जिसमें अज्ञान की पूर्ण निवृत्ति के उपरांत प्रारब्ध कर्मों के भोग की समाप्ति पर स्थूल शरीर का सर्वदा के लिए त्याग हो जाता है (शर्मा 1999, 88)। आत्मवादी विचारक इसे जीव या आत्मा की शुद्ध अवस्था बताते हैं क्योंकि यहाँ उसका दु:ख-सुख के

आश्रय भौतिक शरीर न केवल संबंध-विच्छेद होता है बल्कि भविष्य में कभी पुनः संयुक्त होने की संभावना से भी मुक्ति होती है।

4.8 सारांश

बौद्ध मत का अनत्ता सिद्धान्त उसे भारतीय दार्शनिक परंपरा में विशिष्ट स्थान देता है। अनात्मवाद का प्रस्ताव करके भी वह कर्म-सिद्धान्त और पुनर्जन्म की व्याख्या करते हुये जन्म-मरण के चक्र से मुक्ति का मार्ग दिखाता है। यह विशिष्टता जहाँ एक ओर इसे चार्वाक जैसे कट्टर नास्तिकों से अलग करती है वहीं दूसरी ओर इसे आस्तिकों की परंपरा को भी चुनौती देने में सक्षम बनाती है। यही कारण रहा है कि बौद्ध मत भारतीय संस्कृति के परम पुरुषार्थ जैसे मूल्यों को अपनाते हुये आस्तिकों की रूढ़िवादिता का परीक्षण करता है। परंपरा और तर्कबुद्धि के प्रति यही निष्ठा ही उसे विश्व स्तर पर पहचान दिलाने में सफल हुई।

4.9 पारिभाषिक षब्दावली

4.10 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. माधवाचार्य. 1964. *सर्वदर्शनसंग्रह*. Translated by उमाशंकर शर्मा. वाराणसी : चौखम्बा विद्याभवन
2. तिवारी, अनिल कुमार. 2007. "आत्मस्थ बुद्ध आत्महीन?" *उन्मीलन* 21 (1): 67-79
3. https://www.accesstoinsight.org/tipitaka/dn/dn.01.0.bodh.html
4. माधवाचार्य. 1964. *सर्वदर्शनसंग्रह*. Translated by उमाशंकर शर्मा. वाराणसी : चौखम्बा विद्याभवन
5. वसुबंधु. 1988. *अभिधर्मकोशभाष्य*. Translated by लियो एम.प्रूडेन . Vol. 1. बर्कलीएशियन ह्यूमेनिटीज़ प्रेस :
6. शर्मा, राममूर्ति. 1999. *भारतीय दर्शन की चिंतनधारा*. दिल्लीमणिद्वीप :
7. राधाकृष्णन, स .1989 .भारतीय दर्शन .Vol. 1. नई दिल्लीऑक्सफोर्ड यूनिवरसिटि : प्रेस
8. अन्नभट्टं 2010. *तर्कसंग्रह*. Translated by वशिष्ठ नारायण झा. एर्णाकुलम: चिन्मय इंटरनेशनल फ़ाउंडेशन शोध संस्थान.
9. ईश्वरकृष्ण. 1995. *सांख्यकारिका*. Translated by स्वामी विरूपाक्षानंद. मद्रास: श्री रामकृष्ण मठ.
10. उदयनाचार्य. 1992. *आत्मतत्त्वविवेक*. Translated by केदार नाथ त्रिपाठी. वाराणसी: चौखम्बा विद्याभवन.
11. तिवारी, अनिल कुमार. 2007. "आत्मस्थ बुद्ध आत्महीन?" *उन्मीलन* 21 (1): 67-79.

12. प्रभुपाद, स्वामी. 1972. *भगवद्गीता ऐज़ इट इज़*. लंदन : कोलियर मैकमिलन पब्लिशर .

13. बोधि, भिक्खु. 2010. *ब्रहमजालसुत्त*. Accessed जनवरी 6, 2024. https://www.accesstoinsight.org/tipitaka/dn/dn.01.0.bodh.html.

14. भट्ट, कुमारिल. 1979. *मीमांसाश्लोकवार्त्तिक*. Translated by दुर्गाधर झा. दरभंगा: कामेश्वरसिंह दरभंगा संस्कृत महाविद्यालय.

15. भिक्खु, थानीसारो. 2001. *भारसुत्त*. Accessed जनवरी 6, 2024 . https://www.accesstoinsight.org/tipitaka/sn/sn22/sn22.022.than.html.

16. माधवाचार्य. 1964. *सर्वदर्शनसंग्रह*. Translated by उमाशंकर शर्मा. वाराणसी: चौखम्बा विद्याभवन.

17. वसु, श्रीश चन्द्र, trans. 1905. *कठोपनिषद*. vols. इलाहाबाद: भुवनेश्वरी आश्रम.

18. वसुबंधु. 1988. *अभिधर्मकोशभाष्य*. Translated by लियो एम. प्रूडेन. Vol. 1. बर्कली: एशियन ह्यूमेनिटीज़ प्रेस.

19. शर्मा, राममूर्ति. 1999. *भारतीय दर्शन की चिंतनधारा*. दिल्ली: मणिद्वीप.

4.11 बोध प्रश्न

1. बौद्धदर्शन के अनात्मवाद सिद्धान्त की विवेचना कीजिए।
2. आत्मा सम्बन्धी विषयों पर बुद्ध के मौन का आशय अपने शब्दों में कीजिए।
3. बौद्ध संस्कृति में किसी ऐसे नित्य आत्मा की मान्यता नहीं है, जो मरणोपरान्त स्वर्ग तथा नर्क में जाता है।

खण्ड 5
स्त्री–पुरुष की तात्त्विक एकता

पञ्चम खण्ड का परिचय

एम. ए. हिन्दू अध्ययन कार्यक्रम प्रथम वर्ष के चतुर्थ पाठ्यक्रम के पञ्चम खण्ड में आपका स्वागत है। इस पाठ्यक्रम के पांचवें खण्ड में स्त्री पुरुष को तात्विक एकता की दृष्टि से देखते हुए शास्त्र के वर्णन का सहारा लेकर विषय को स्पष्ट किया गया है। सनातन हिंदू दृष्टिकोण इसी प्रकार का रहा है। स्त्री और पुरुष संसार के संबंधमें केवल आकार मात्र होते हैं। वस्तुत जीव कोई स्त्री नहीं होता, न कोई जीव पुरुष होता है। इसी अवधारणा को स्पष्ट करने के लिए प्रस्तुत खण्ड में वेद का सहारा लेकर प्रथम इकाई में स्त्री तत्व का निरूपण किया गया है। दूसरी इकाई में भी अथर्ववेद से संदर्भ का प्रस्तुतीकरण हुआ है। इस खण्ड की तीसरी इकाई में शंकराचार्य रचित सौंदर्यलहरी के वर्णन से आपको स्त्री तत्व की अभिव्यक्ति की जानकारी देने का प्रयास किया गया है। प्रस्तुत खण्ड की चौथी इकाई में जैन,बौद्ध दर्शन में तथा गुरुग्रंथ साहब के मत से भी स्त्री तत्व को स्पष्ट किया गया है। शक्ति और प्रकृति के सिद्धान्त के निरूपण से इस खण्ड की अन्तिम इकाई द्वारा आपको स्त्रीतत्व का ज्ञान कराई जाने का प्रयास प्रस्तुत है। अतः इस खण्ड का अध्ययन कर लेने के पश्चात आप स्त्री पुरुष की तत्वों के रूप में एकता का विश्लेषण करने में सक्षम हो जाएंगे।

इकाई 1 वाक्सूक्त के आधार पर स्त्रीतत्त्व निरूपण

इकाई की रूपरेखा

1.1 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई का उद्देश्य-

- विद्यार्थियों को भारतीय परम्परा में स्त्रीतत्त्व की स्थिति एवं भूमिका से ऋग्वेद के वाक्सूक्त के माध्यम से अवगत करवाना है।
- विद्यार्थियों के समक्ष भारतीय चिन्तनधारा में स्त्रीतत्त्व का आरम्भिक स्वरूप को उद्घाटित करना है।
- वाक्सूक्त के माध्यम से जगत् की आदि व आधारभूत शक्ति के भाषिक व दैवीय स्वरूप के विश्लेषण से भारतीय ज्ञान परम्परा के आधारभूत तत्त्वों एवं भाषा विषयक समृद्ध चिन्तन

की विद्यार्थियों का ध्यानाकर्षण कराना है।

- इसके माध्यम से विद्यार्थी शास्त्र से लेकर समाज तक व्याप्त स्त्रीतत्त्व के विभिन्न रूपों का ज्ञान प्राप्त कर सकेंगे तथा वाक् की महत्ता से परिचित हो सकेंगे।
- इस पाठ को पढ़ने से स्त्रीतत्त्व के शास्त्रीय व लोकपक्ष दोनों से विद्यार्थी परिचित हो सकेंगे।
- इस पाठ के माध्यम से विद्यार्थी वैदिककालीन स्त्रीसत्ता स्थान, महत्त्व व भूमिका से परिचित हो सकेंगे।

1.2 प्रस्तावना

भारतीय ज्ञानपरम्परा अपने उषाकाल से प्रकृति के प्रत्येक तत्त्व के विषय में सजग है। यही कारण है कि वेदों में सृष्टि के कण-कण के प्रति श्रद्धा व कृतज्ञता का भाव अभिव्यक्त हुआ है। प्रकृति के प्रत्येक गुण व उपलब्धि के प्रत्येक माध्यम में देवत्व की कल्पना एवं तदनुसार स्तुति वैदिक मन्त्रद्रष्टा ऋषियों का चिन्तन है। उषा, वाक्, रात्रि, पृथ्वी आदि वहाँ देवता के रूप में प्रतिष्ठित हैं। यदि सूक्ष्मता से इनसे सम्बन्धित वेदमन्त्रों पर दृष्टिपात किया जाये तो ज्ञात होता है कि ये तत्त्व सामान्य नहीं हैं अपितु इस सृष्टि के संचालन में इनकी महती भूमिका है। ये मानव ही नहीं अपितु सभी प्रकार के स्थावर, जंगम, जरायुज, अंडज, उद्भिज व स्वेदज प्राणियों तथा इस चराचर जगत् का आधार है।

भारतीय चिन्तनधारा स्थूल दृश्यमान जगत् की अपेक्षा सूक्ष्म व तात्त्विक जगत् व चेतना की साधना की ओर निरन्तर प्रवृत्त है। भारतीय दार्शनिक चिन्तन से लेकर समाज तक यह भाव स्थान-स्थान पर परिलक्षित होता रहा है। भारतीय ज्ञानपरम्परा की ज्ञान के प्रति जिज्ञासा अथाह एवं गहन है। यह जिज्ञासावृत्ति नयी नही हैं अपितु भारतीय परम्परा व संस्कृति के मूल में यही है।

भाषा मानव को अन्य प्राणियों से पृथक् करती है। मानव की भाषिक चेतनता व जीवन्तता उसे मनुष्य होने के प्रति प्रवृत्त करती है।

ऋग्वेद का वाक् सूक्त, जिसका अन्य नाम वागाम्भृणी सूक्त भी है, भारतीय भाषादर्शन का प्रथम प्रामाणिक अभिलेख है। इस सूक्त में वाक् की महत्ता जिस प्रकार अत्यन्त संक्षिप्त शब्दों में बतायी गयी है। वह आश्चर्यजनक है।

भारतीय संस्कृति मूलतः भाषिक संस्कृति है। भाषाचिन्तन इसके मूल में है। यही कारण है कि ऋग्वेद से आज तक निरन्तर भाषा पर चिन्तन जारी है। षड्-वेदाङ्गों शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, ज्योतिष व छन्द में से चार प्रत्यक्षतः भाषाचिन्तनपरक ग्रन्थ हैं।

ऋग्वेद के वाक् सूक्त में वाक् परमात्म चैतन्य परमशक्ति के रूप में हैं। यहाँ वाक् तत्त्व के विश्वरूप का दर्शन होता है। भारतीय परम्परा में पुरुष व स्त्री में भेद नहीं है अपितु उनमें तात्त्विक एकता है। यह बात जगत् अधिष्ठात्री वाक् शक्ति से भी स्पष्ट होती है।

स्त्री एवं पुरुष का तात्त्विक स्वरूप लिङ्ग की अपेक्षा सत्ता व तत्त्व का विषय है। प्रसंगानुसार दोनों तत्त्वों को सर्वोच्च तत्त्व कहा गया है।

वाक्-सूक्त सृष्टि के सर्वोच्च तत्त्व की भावपूर्ण अभिव्यक्ति है जिसके माध्यम से वाक्-देवता ने स्वयं को संसार के समक्ष प्रकाशित किया है तथा अपने गुणों व स्वभाव के अभिकथनपूर्वक संसार के दर्शनशक्ति को विस्तार दिया है।

1.3 वाक्-सूक्त का सामान्य परिचय

ऋग्वेद के दशम मण्डल का 125वाँ सूक्त 'वाक्-सूक्त' के नाम से जाना जाता है। इसे देवीसूक्त तथा वागाम्भृणी सूक्त भी कहते हैं। इस सूक्त में मात्र आठ मन्त्र हैं। इस सूक्त का साक्षात्कार ऋषि अम्भृण की पुत्री ने किया था। उन्हीं ऋषिका का नाम वागाम्भृणी है। इस सूक्त में वाक् देवता का साक्षात्कार किया गया है तथा उनके गुणों व कार्यों को बताया गया। इस सूक्त की विशेषता यह है कि यहाँ प्रतिपाद्य अर्थात् वाक् तथा प्रतिपादक अर्थात् ऋषिका वाक् (वागाम्भृणी) दोनों में एकात्म-सम्बन्ध दिखाया गया है। अन्य सूक्तों में मन्त्रद्रष्टा ऋषि किसी देवता की स्तुति करते हैं परन्तु वाक्-सूक्त में वाक् द्वारा स्वयं के विषय में कहा गया है। इसे आत्मस्तुति अथवा आत्मस्वरूपप्रकाशन कहा जा सकता है।

वाक् यहाँ विशुद्ध शक्ति के रूप में उपस्थित हैं। उन्हीं से इस जगत् का समस्त कार्य सम्पन्न होता है। वाग्देवता ने यहाँ स्वयं को 'राष्ट्री' कहाँ है अर्थात् वे राष्ट्र की धारक हैं। वाक् शक्ति पराशक्ति के रूप में हैं। यह वाक्-सूक्त ब्रह्माण्डीय एकता की सुन्दर अभिव्यक्ति है। इसमें अन्तर्निहित दिव्यभाव अद्भुत शक्ति व संचेतना का संचार करने वाला है।

1.1.1 वाक् सूक्त की विषयवस्तु

वाक्-सूक्त आकार की दृष्टि से बहुत छोटा है। इसमें केवल आठ मन्त्र हैं जो स्वयं का स्वरूपकीर्तन है। परन्तु यदि अर्थ-विस्तार की दृष्टि से देखा जाये तो इसमें विस्तार का अद्भुत एवं अनन्त सामर्थ्य है।

वाक्सूक्त में वाक् स्वयं के विषय में कहती हैं कि मैं ब्रह्मस्वरूपा हूँ। रुद्र, वसु, आदित्य और विश्वदेवता के साथ मैं विचरण करती हूँ। मैं ही ब्रह्मरूप से मित्र और वरुण दोनों को धारण करती हूँ। मैं ही इन्द्र और अग्नि का आधार हूँ। मैं ही दोनों अश्विनीकुमारों को धारण करती हूँ एवं उनका पोषण करती हूँ-

ऊँ अहं रुद्रेभिर्वसुभिश्चराम्यहमादित्यैरुत विश्वदेवैः।

अहं मित्रा वरुणोभा बिभर्म्यहमिन्द्राग्नी अहमश्विनोभा॥1॥

इस मन्त्र का तात्पर्य यह है कि वाक् विश्वदेवता के रूप में रुद्र, वसु और आदिय के रूप में भास रही हैं, प्रकाशित हो रही हैं। वे विश्व के समस्त संचालक तत्त्वों का आधार हैं। देवताओं के वैद्य युगलदेवता अश्विनीकुमारों का अधिष्ठान भी वाक्-देवी ही हैं। इस प्रकार इस जगत् के समस्त क्रियाकालाप वाक् देवी द्वारा ही नियन्त्रित हैं अथवा सम्पादित किये व करवाये जाते हैं।

वाक्सूक्त के द्वितीय मन्त्र में देवी शत्रुओं का संहार करने वाली हैं। काम-क्रोध आदि दोनों को दूर करने वाली हैं तथा यज्ञगत सोम, चन्द्रमा, मन तथा शिव का भरण-पोषण करने वाली हैं। यही नहीं वाक् देवी वहाँ यजमानों द्वारा यज्ञ में देवताओं की तृप्ति हेतु जो हविष्य दी जाती है, लोक-परलोक में उसका सुखकर फल देने वाली वाग्देवी ही हैं-

अहं सोममाहनसं बिभर्म्यहं त्वष्टारमुत पूषणं भगम्।
अहं दधामि द्रविणं हविष्मते सुप्राव्ये यजमानाय सुन्वते॥2॥

यहाँ पर वाग्देवी का स्वरूप परमशक्ति का है। वे शक्तिस्वरूपा हैं। सभी का भरण-पोषण उनसे

ही है। सब कर्मों का तथा कर्मफलों का करण भी वही हैं। यह देवी का विश्वरूप है। वह अधिष्ठान जिसमें सब अधितिष्ठित हैं।

वाक् के जिस शक्तिशाली स्वरूप का परिचय यहाँ प्राप्त्र होता है उसे जानकर स्त्रीतत्त्व के विषय में वैदिककालीन उदात्त व उच्च चिन्तन का दर्शन होता है। यह साधारण बात नहीं है कि किसी संस्कृति में देवी को, शक्ति को अथवा उसके सी स्वरूप को इस प्रकार की उच्चता, भव्यता एवं सर्वस्व का कर्तृत्वभाव प्राप्त हो।

इस सूक्त में वाक् स्वयं को राष्ट्री अर्थात् इस सम्पूर्ण जगत् को प्रकाशित करने वाली जगदीश्वरी कहती हैं। तथा वही उसकों को उनका अभीष्ट लाभ, उनका, वसु अर्थात् धन प्राप्त करवाने वाली हैं। वाक्देवी कहती हैं कि जिज्ञासुओं के साक्षात् कार्य परब्रह्म को अपनी आत्मा के रूप में मैने अनुभव कर लिया है, अर्थात् परब्रह्म से उनका तादात्म्य है। वाक्देवी आगे कहती हैं कि जिन देवताओं के लिये यज्ञ किये जाते हैं उनमें मैं सर्वश्रेष्ठ हूँ। सम्पर्ण प्रपञ्च के रूप में मैं ही अनेक सी होकर विद्यमान हूँ। सम्पूर्ण प्राणियों के शरीर में जीव रूप में मैं ही स्वयं को प्रविष्ट कर रही हूँ। भिन्न-भिन्न देश, काल, वस्तु और व्यक्तियों में जो कुछ भी घटित हो रहा है, वह सब मुझमें मेरे ये ही किया जा रहा है। सम्पूर्ण विश्व में अवस्थित होंने के कारण जो कोई जो कुछ भी करता है, वह सब मैं ही हूँ।

अहं राष्ट्री संगमनी वसूनां चिकितुषी प्रथमा यज्ञियानाम्।
तां मा देवा व्यदधुः पुरुत्रा भूरिस्थात्रां भूर्य्यावेशयन्तीम्॥3॥

देवी कहती हैं कि जो कोई भी भोग भोगता है, वह मुझ भोक्त्री की शक्ति से ही भोगता है। व्यक्ति को कुछ भी देखता है। जो भी श्वासोच्छवास रूप व्यवहार करता है और जो कही हुयी बात को सुनता है, वह शक्ति भी मुझसे ही है। इसप्रकार जो व्यक्ति अन्तर्यामी रूप में स्थित मुझे नहीं जानते , वे अज्ञानी, दीन, हीन व क्षीण हो जाते हैं। मेरे प्रियसखा मेरी बात सुनो-मैं तुम्हारे लिये उस ब्रह्मात्मक वस्तु का उपदेश करती हूँ जो श्रद्धा के साधन से उपलब्ध होती है।

मया सो अन्नमत्ति यो विपश्यति यः प्राणिति य ईं शृणोत्युक्तम्।
अमन्तवो मां त उप क्षियन्ति श्रुधि श्रुत श्रद्धिवं ते वदामि॥4॥

देवी कहती हैं कि मैं स्वयं ही इस ब्रह्मात्मक वस्तु का उपदेश करती हूँ। देवताओं और मनुष्यों ने भी इसी का सेवन किया है। मै स्वयं ब्रह्मा हूँ। मैं जिसकी रक्षा करना चाहती हूँ, उसे सर्वश्रेष्ठ बना देती हूँ, मैं चाहूँ तो उसे सृष्टिकर्ता ब्रह्मा बना दूँ और उसे बृहस्पति के समान सुमेधा बना दूँ। मैं स्वयं अपने स्वरूप ब्रह्म से अभिन्न आत्मा का गान कर रही हूँ।

अहमेव स्वयंमिदं वदामि जुष्टं देवेभिरुत मानुषेभिः।
यं कामये तं तमुग्रं कृणोमि तं ब्रह्माणं तमृषिं तं सुमेधाम्॥5॥

देवी कहती हैं कि मैं ही ब्रह्मज्ञानियों के द्वेषी हिंसारत त्रिपुरवासी त्रिगुणाभिमानी अहंकार-असुर का वध करने क लिये संहारकारी रुद्र के धनुष पर ज्या अर्थात् प्रत्यंचा चढ़ाती हूँ। मैं हे अपने जिज्ञासु स्तोताओं के विरोधी शत्रुओं के साथ संग्राम करके उन्हें पराजित करती हूँ। मैं ही द्युलोक और पृथिवी में अन्तर्यामिरूप से प्रविष्ट हूँ।

अहं रुद्राय धनुरा तनोमि ब्रह्मद्विषे शरवे हन्तवा उ।
अहं जनाय समदं कृणोम्यहं द्यावापृथिवी आ विवेश॥6॥

इस विश्व के शिरोभाग पर विराजमान द्युलोक अथवा आदित्यरूप पिता का प्रसव मैं ही करती रहती हूँ। उस कारण में ही तन्तुओं में पट के समान आकाशादि सम्पूर्ण कार्य दिख रहा है। दिव्य कारण-वारिरूप समुद्र जिसमें सम्पूर्ण प्राणियों एवं पदार्थों का उदय-विलय होता रहता है, वह ब्रह्मचैतन्य ही मेरा निवासस्थान है। यही कारण है कि मैं सम्पूर्ण भूतों में अनुप्रविष्ट होकर रहती हूँ और अपने कारणभूत मायात्मक स्वशरीर से सम्पूर्ण दृश्य कार्य का स्पर्श करती हूँ।

अहं सुवे पितरमस्य मूर्धन् मम योनिरप्स्वन्तः समुद्रे।
ततो वि तिष्ठे भुवनानु विश्वोतामूं द्यां वर्ष्मणोप स्पृशामि॥7॥

जैसे वायु किसी दूसरे से प्रेरित न होने पर भी स्वयं प्रवाहित होता है। उसी प्रकार मैं ही किसी दूसरे के द्वारा प्रेरित और अधिष्ठित न होने पर भी स्वयं ही कारणरूप से सम्पूर्ण भूतरूप कार्यों का आरम्भ करती हूँ। मैं आकाश से भी परे हूँ और इस पृथ्वी से भी। अभिप्राय यह है कि मैं सम्पूर्ण विकारों से परे, असंग, उदासीन, कूटस्थ ब्रह्मचैतन्य हूँ। अपनी महिमा से सम्पूर्ण जगत् के रूप में मैं ही व्यवहार कर रही हूँ, रह रही हूँ।

अहमेव वात इव प्रवाम्यारभमाणा भुवनानि विश्वा।
परो दिवा पर एना पृथिव्यैतावती महिना संबभूव॥8॥

इसप्रकार वाक्सूक्त में वाक् द्वारा अपनी समस्त विशेषताओं व शक्तियों का उद्घाटन किया गया है। यदि सूक्ष्म दृष्टि से इसपर विचार किया जाय तो इससे भाषा की महत्ता व वाक् का विश्व की आधारभूता शक्ति के रूप में परिचय प्राप्त होता है। वाक् की यह सशक्त उपस्थिति स्त्री के शक्तितत्त्वविमर्श हेतु प्रारम्भिक दृष्टि उपस्थित करता है। भारतीय संस्कृति में स्त्रीत्व की मौलिक कल्पना शक्तितत्त्व के रूप में है। आत्यन्तिक शक्ति के समस्त स्थानों व उपादानों में स्त्रीतत्त्व आधार के रूप में विद्यमान है। संसार के संसरण में व मानव के विकास में भाषातत्त्व बहुत महत्त्वपूर्ण है। शक्ति के इस सबसे सशक्त व महत्त्वपूर्ण स्थान का दर्शन वेदों से प्राप्त होता है। इस सन्दर्भ में वाक्-सूक्त का अग्रणी स्थान है।

1.1.2 वाक् एवं भारतीय भाषाचिन्तन

भारतीय ज्ञानपरम्परा के आधार में भाषातत्त्व है। इसीलिये भाषिक चिन्तन की वेदों से आजतक प्रधानता यहाँ रही है। ऋग्वेद के प्रस्तुत वाक् सूक्त से लेकर आज तक विभिन्न रूपों में भाषा पर विचार-विमर्श का क्रम चल रहा है। जिसका प्रवाह अविच्छिन्न है। इसी का सद्परिणाम है कि शब्द की शक्ति व उसकी सत्ता पर बहुत विचार यहाँ प्राप्त होता है। भाषा को आधारभूता शक्ति के रूप में प्रतिष्ठित किया गया है। वाक्-सूक्त इस प्रतिष्ठा का आधार है जिसका निरन्तर विकास होता रहा है। समस्त चिन्तन-मनन भाषा अर्थात् वाक् के ही अधीन है। यह जगत् वाक् से ओतप्रोत व वाक् द्वारा ही संचालित है। उसमें किसीप्रकार का दोष अथवा व्यवधान उपस्थित होंने से जगत् का सामंजस्य बिगड़ता है तथा अनेक प्रकार की विपरीत परिस्थितियाँ उत्पन्न होती हैं। इसीलिये उच्चारण की शुद्धता से लेकर पद व वाक्यप्रयोग की शुद्धता तथा अर्थ के अनन्त विस्तार के सामर्थ्य तक गहन चर्चा वेद, वेदांग, उपनिषद्, पुराण, काव्यशास्त्र आदि समस्त ग्रन्थों में उपलब्ध है।

भाषा मानवजाति का सर्वस्व है। इसे 'रस कहा गया है-

पुरुषस्य वाग् रसः, वाच ऋग् रसः। *(छान्दोग्योपनिषद्, 1.1.2)*

यही नहीं वाक् को देवताओं की जिह्वा व अमृत की नाभि अर्थात् केन्द्र की भी संज्ञा दी गयी है-
जिह्वा देवानाममृतस्य नाभिः। *(ऋग्वेद, 4.58.1)*

वाक्-सूक्त में वाक् की कर्तृत्वशक्ति, धारण करने की शक्ति व हरण करने की शक्ति तीनों का ही उल्लेख प्राप्त होता है। भाषा समाज को धारण करती है तथा उसे एकता के सूत्र में बाँधते हुये सामाजिक समन्वय का मार्ग प्रशस्त करती है। भाषा सृष्टि भी है, स्थिति भी है तथा संहार भी करने वाली है। यदि दैवीयशक्ति के रूप में देखा जाये तो भाषा ब्रह्मा, विष्णु व महेश तीनों की शक्तियों से सम्पन्न है। इसीकारण भाषा अर्थात् वाक् को भारतीय परम्परा में देवता माना गया है। परमशक्तिसम्पन्न तत्त्व यहाँ देवता के रूप में समादृत एवं व्यवहृत हैं।

शतपथ ब्राह्मण में वाक्-तत्त्व को प्रजाप्ति की संज्ञा दी गयी है-

वाग् वै प्रजापतिः *(शतपथ ब्राह्मण, 5.1.5.6)*

भाव यह है कि जिसप्रकार प्रजापति अर्थात् ब्रह्मा इस सृष्टि के सर्जक हैं उसीप्रकार वाक् भी इस सृष्टि का रचना करती है।

वाक् विराट् है। उसे विश्वकर्मा की संज्ञा भी दी गयी है। विश्वकर्मा इस सृष्टि के आदिशिल्पी माने गये हैं। वाक् भी आदिशिल्पी की भूमिका में है।–

वाग्वै विराट् *(शतपथ ब्राह्मण, 3.5.1.34)*

वाक् ही सब कुछ करने वाली है, विश्व की कर्त्री है। इसीलिये विश्वकर्मा है-

वाग् वै विश्वकर्मर्षिः। वाचा हीदं सर्वं कृतम्। *(शतपथ ब्राह्मण, 8.1.2.9)*

भाषा से ही संसार भासित अर्थात् प्रकाशित है। यही वह ज्योति है जिससे ज्ञान प्रकाशित होता है तथा समस्त संसार के सभी क्रियाकलाप संचालित होते हैं। वाक्यपदीयकार भर्तृहरि का कहना है कि भाषा ही ज्ञान को प्रकाशित करती है। उसके विना ज्ञान सम्भव नहीं है-

वाग्-रूपता चेन्निष्क्रामेदवबोधस्य शाश्वती।
न प्रकाशः प्रकाशेत सा हि प्रत्यवमर्शिनी।। (वाक्यपदीय, 1-125)

वाक्-तत्त्व का समस्त भारतीय वाङ्मय में बहुत ही आदरणीय स्थान है। आचार्य दण्डी अपने काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ 'काव्यादर्श' में भाषा को संसार को प्रकाशित करने वाली ज्योति की संज्ञा देते हैं और कहते हैं कि यदि शब्दरूपी ज्योति संसार में न जलती तो इस भुवन में चतुर्दिक् अंधकार रहता।–

इदमन्धन्तमः कृत्स्नं जायेत भुवनत्रयम्।
यदि शब्दाह्वयं ज्योतिरासंसारं न दीप्यते।। (काव्यादर्श, 1.4)

1.1.3 भारतीय परम्परा में वाक्-शक्ति

वाक् भारतीय ज्ञान परम्परा के आदि से ही एक शक्ति है। जगत् के समस्त व्यवहार व प्रपंच की अधिष्ठात्री वाक्-शक्ति ही है। ऋग्वेद संहिता से लकर अद्यपर्यन्त 'भाषा' के लिये लोक में

सर्वाधिक व्यवहृत शब्द 'वाक्' ही है। यह वाक् नित्य है, स्वयं ब्रह्म है, विराट् है, सर्वस्व की अधिष्ठात्री है, जगत् की रचयिता है। यही वाक् वाणी है, सरस्वती है, मति है, धी अर्थात् धी है, प्रज्ञा है। तीनो लोक-पृथ्वी, अंतरिक्ष, द्युलोक वाक् ही है। यही वाक्-शक्ति देवताओं को धारण करने वाली और उन्हें प्रेरणा देने वाली शक्ति है।

वाक्-सूक्त में वाक् स्वयं की शक्तियों का उद्घाटन करते हुये अपने सर्वशक्तिमानस्वरूप का कथन करती हैं। यह शैली ही स्वयं में अद्भुत है। यह आत्मश्लाघा अथवा स्व का महिमामंडन नहीं अपितु स्व-शक्ति-कथन है। कथन व वर्णन इसलिये आवश्यक होता है ताकि उसकी तात्त्विक महत्ता समझी जा सके व अज्ञानतावश आने वाले सम्भावित विकारों को दूर कर परिष्करण की गति सुनिश्चित की जा सके। इस दृष्टि से देखने पर ऋषिका वागम्भृणी का स्व-शक्ति-कथन अत्यन्त सार्थक व आवश्यक जान पड़ता है। वाक्-सूक्त के प्रत्येक शब्द का अभिधार्थ ही अत्यन्त शक्तिसम्पन्न है, लक्षणार्थ व व्यंजनार्थ की तो कोई सीमा ही नहीं है।

ऋग्वेद में वाक् विषयक अत्यन्त उन्नत चिन्तन अनेक स्थानों पर प्राप्त होता है। भारतीय भाषाचिन्तन में वाक् की चार अवस्थाएं हैं-परा, पश्यन्ती, मध्यमा एवं वैखरी। इन्हीं अवस्थाओं को कतिपय विद्वान् नाम, आख्यात्, उपसर्ग एवं निपात के रूप में भी व्याख्यायित करते हैं। ऋग्वेद में इन चार रूपों अथवा अवस्थाओं की ओर स्पष्ट संकेत प्राप्त होता है-

चत्वारि वाक्परिमिता पदानि तानि विदुर्ब्राह्मणा ये मनीषिणः।
गुहा त्रीणि निहिता नेङ्गयन्ति तुरीयं वाचो मनुष्या वदन्ति।। *(ऋग्वेद, 1.164.45)*

ऋग्वेद के इस मन्त्र में बताया गया है कि वाक् के चार रूप जो विद्वानों द्वारा जानने योग्य हैं, उनमें से तीन रूप गुफा में छिपे रहते हैं और चौथे रूप को मनुष्य बोलते हैं। आचार्य सायण, गौडपाद व भर्तृहरि ने इन् अचार रूपों को परा, पश्यन्ती, मध्यमा एवम् वैखरी ही माना है। आचार्य सायण ने कहा है कि जो मूलाधार से उदित वाक् है उसे परा कहते हैं, जो सूक्ष्म है तथा निरूपण करने में कठिन है वह हृदयगामिनी वाक् पश्यन्ती है।बुद्धि द्वारा जो जानी जा सकती है तथा मध्य में हृदयप्रदेश में स्थित है, वह वाक् मध्यमा है तथा जो तालु-ओष्ठ आदि से बाहर आती है व्यवहार हेतु वह वैखरी है।–

एका एव नादात्मिका वाङ् मूलाधाराद् उदिता सती परा इतिह उच्यते। नादस्य च सूक्ष्मत्वेन दुर्निरूपत्वात् सा एव हृदयगामिनी पश्यन्ती इति उच्यते योगिभिः द्रष्टुं शक्यत्वात्। सा एव बुद्धिं गता विवक्षां प्राप्ता मध्यमा इति उच्यते, मध्ये हृदयाख्य उदीयमानत्वात् मध्यमायाः। अथ यदा सा एव वक्त्रे स्थिता तालु-ओष्ठ-आदि व्यापारेण बहिर्निर्गच्छति तथा वैखरी इति उच्यते। *(सायण भाष्य)*

वाक् का जो स्वरूप मुख से बाहर आता है और परश्रवणगोचर होता है वह 'वैखरी' कहलाता है। मनोगत वाक्, चिन्तन- अवस्था की भाषा मध्यमा है। पश्यन्ती वाक् की ऐसी स्थिति है जहाँ पर उसकी सहज दर्शन सम्भव हो ऐसी अवस्था नहीं होती। ध्यान की स्थित में यही अवस्था वाक्-तत्त्व के रूप में व्यवहृत है। यह हृदयगामिनी है, सूक्ष्म है और योगियों द्वारा ही देखी जा सकती है। यह स्थित संप्रत्ययात्मक भाषा की स्थिति है। वाक् का चतुर्थ स्वरूप है 'परा' जो सर्वथा मुक्त अवस्था है। इस अवस्था में वाक् एक है। नादात्मिका है। मूलाधार में उदित होती है और परा है। यहाँ पर वाक् का अद्वैत है। यहाँ न कोई देखनेवाला है न दिखायी पड़ने वाला है। यहाँ न ज्ञाता है न ज्ञेय है।

भारतीय परम्परा में इस जगत् के समस्त अधिष्ठातृ तत्त्वों को देवता मानकर उनका शक्ति-कथन व गुण-प्रकाशन किया गया है। चारों संहिताओं-ऋक्, यजुः, साम व अथर्व के पुरोहितों द्वारा किये जाने वाले समस्त प्रकार के यज्ञों में विनियोग में लाये गये मन्त्रों की संवाहिका वाक्-शक्ति ही है। यह परम्परा का प्रवाह है जहाँ शक्ति की शक्तिमत्ता व गरिमा का मान निरन्तर होता रहा है। भाषा का भले ही आंशिक विस्मरण हो परन्तु भावों के स्मरण व स्फुरण में नैरन्तर्य है। यही गुण व भाव भारतीय संस्कृति को अद्भुत व विलक्षण बनाता है।

1.1.4 भारतीय परम्परा में वाक्सूक्त का महत्त्व

भारतीय ज्ञान परम्परा में भाषाचिन्तन की दृष्टि से वाक्सूक्त का बहुत महत्त्व है। वाक्सूक्त भारतीय भाषाचिन्तन के आधारभूत सोपानों में से एक है।

वाक्सूक्त एवं स्त्रीतत्त्व

वाक्-सूक्त में देवता वाक् स्वयं स्त्री के तात्त्विक स्वरूप में उपस्थित हैं। इस सूक्त के मन्त्रों की दर्शन भी स्वयं वाक् ने किया है। वही अपने स्वरूप का कथन व उद्घाटन कर रही हैं। इसमें ऋषि अम्भृण की पुत्री वाक् ब्रह्मसाक्षात्कार-सम्पन्न होकर अपनी सर्वात्मदृष्टि को अभिव्यक्त कर रही हैं। इसी कारण यह 'आत्मसूक्त' भी है। वाक् यहाँ स्त्रीतत्त्व के रूप में समस्त जगत् की अधिष्ठात्री हैं। प्रथम मन्त्र में ही वे कहती हैं कि मैं ही सर्वस्व हूँ, मैं ही रुद्र, वसु, आदित्य, विश्वदेवता के रूप में विचरण करती हूँ। इन देवताओं के रूप में मैं ही प्रकाशित हूँ। कहने का तात्पर्य है की वाक्-शक्ति ही समस्त विश्वरूप को प्रकाशित करती है। इस प्रकार वाक् का तात्त्विक आधार बहुत गुरुत्वपूर्ण है। वाक् यहाँ सभी का भरण-पोषण करन् वाली, सभी को धारण करने वाली तथा सभी कार्यों का फल प्रदानकरने वाली शक्ति है। यह किसी भी तात्विक स्वरूप का सबसे विशद् रूप है जिसमें सभी उत्पत्तियाँ, सभी स्थितियाँ तथा किसी भी स्वरूप में होने वाला समस्त परिवर्तन व परिणाम सब कुछ समाहित है। वाक् ही अश्विनीकुमारों का भरण-पोषण करनेवाली हैं। अश्विनीकुमार देवताओं के चिकित्सक हैं। स्त्रीतत्त्व के रूप में स्वयं अभिव्यक्त करती वाक् के समस्त कथनों व कार्यों का यदि अवलोकन किया जाय तो जगत् स्त्रीतत्त्व के समस्त कार्यों की विना किसी पूर्वग्रह के सूक्ष्मता से समीक्षा की जाय तो दोनों में अनेकस्तरीय साम्य दिखायी पड़ेगा।

वाक्सूक्त में वाक् 'राष्ट्री' के रूप में समस्त जगत् की आधार हैं। जगत् के सम्पूर्ण प्रपंच अर्थात् कार्यों के रूप में वाक् ही हैं। यह वाक् की व्यापकता है। इस सूक्त के तीसरे मन्त्र में वाक् सम्पूर्ण प्राणियों के जीवरूप में स्वयं को प्रविष्ट करने वाली बता रही हैं। यहाँ उनकी उपस्थिति परमात्मा के रूप में है, परब्रह्म के रूप में है। यहीं पर भारतीय ज्ञान परम्परा में स्त्री व पुरुष के तात्त्विक एकता के दर्शन होते हैं। यहाँ कर्ता, निर्माता एक ही नहीं है। सब कुछ एकांगी नहीं है। एक ही अनेक रूपों में भासित होता है। कोई सर्वशक्तिमान व कोई शक्तिहीन नहीं है। आदिश्कति, सर्वोच्चशक्ति यदि देखा जाय तो स्त्रीतत्त्व के अधीन है तथ् उसी रूप में विद्यमान है इसीलिये सर्वस्व के अधिष्ठान-तत्त्व तथा समस्त क्रियाओं व रूपों का जिसमें लय हो जाता है उसे तात्त्विक रूप से स्त्रीरूप में वर्णित किया गया है।

वाक् सम्पूर्ण विश्व के रूप में अवस्थित हैं तथा सभी प्राणी को भी करते हैं वह सब वाक् ही हैं। वाक्तत्त्व को न जानने वाल दीन-हीन व क्षीण हो जाता है। वाक् ही स्वयं ब्रह्मात्मक वस्तु का

उपदेश करती हैं। जिसका सेवन मनुष्यों व देवताओं दोनों ने किया है। कहने का तत्पर्य है कि वाक् द्वारा प्रकाशत जगत् से ही जागतिक व्यवहार सम्भव हो पाता है अन्यथा समस्त त्तत्वों के मध्य कोई भी ऐक्य सम्बन्ध स्थापित नहीं हो सकता। वाग्देवी का कथन है कि वे जिसको चाहें उसे सर्वश्रेष्ठ बना दें, चाहेम् तो ब्रह्मा बना दें, अतीन्द्रिय ऋषि बना दें और बिहस्पति के समान बुद्धिमान बना दें। अर्थात् व्यक्ति के ज्ञान का आधार व अधिष्ठान वाक्-तत्त्व ही है। बाद में यही वाक्-तत्त्व देवी सरस्वती के रूप में आज तक अर्चित व वन्दित हैं। वाग्देवी के विना कुछ भी सम्भव नहीं।

वाग्देवी ही ब्रह्मज्ञानियों के द्वेषी हिंसारत त्रिपुरवासी त्रिगुणाभिमानी अहंकार-असुर का वध करने हेतु संकारकारी रुद्र के धनुष पर प्रत्यंचा चढ़ाती हैं। कहने का तात्पर्य है कि किसी भी बुराई का प्रतिकार करने के लिये चेतना उत्पन्न करने का कार्य वाक् द्वारा ही सम्पन्न होता है। शास्त्रार्थ में वाक्-शक्ति से ही विरोधी पराजित होते हैं। चाक्-तत्त्व ही द्युलोक व पृथिवी में अन्तर्यामि रूप से प्रविष्ट है अर्थात् स्थित है।

वाग्देवता द्युलोक व आदित्यरूप पिता की प्रसूता हैं। समुद्र जिसमें सम्पूर्ण प्राणी व पदार्थ जाकर अन्तिम रूप से मिलते हैं, वाक् का निवासस्थान है। सम्पूर्ण प्राणियों में प्रवेश करके वाग्देवी रहती हैं तथा अपने कारणभूत मायात्मक शरीर से सम्पूर्ण दृश्य जगत् का स्पर्श करती हैं।

वाक्सूक्त के अन्तिम मन्त्र में वाग्देवता का कथन है कि वे किसी दूसरे द्वारा प्रएरित व अधिष्ठित नहीं हैं अपितु वे स्वयंप्रेरणा व स्वयं-स्वाधिष्ठान हैं। वे ही कारणरूप से सम्पूर्ण भूतरूप अर्थात् प्राणिरूप कार्यों का आरम्भ करती हैं। किसी कार्य उत्पत्ति हेतु कारण का होना आवश्यक है। कारण के विना कार्य सम्भव नहीं है। यहाँ वाक्-शक्ति ने स्वयं को आदिकारण बताया है। जो कि भारतीय परम्परा में स्त्री का तात्त्विक स्वरूप की सबसे सुन्दर व सशक्त उपस्थिति व अभिव्यक्ति है। वाक्-देवता ने सूक्त के अन्तिम मन्त्र में स्वयं को सम्पूर्ण विकारों से परे, असंग, उदासीन, कूटस्थ व ब्रह्मचैतन्य बता है तथा स्वयं की महिमा से सम्पूर्ण जगत् रूप में स्वयं को व्यवहार करने वाला बताया है। यह अभिव्यक्ति वाक् की कूटस्थ नित्यता व विकाररहित स्वरूप को बता रही है। यहाँ वाक् उसी प्रकार शक्ति के सर्वोच्चरूप में अभिव्यक्त हैं जिसप्रकार सांख्यदर्शन में प्रकृति की तात्त्विक उपस्थिति है।

वाक्-सूक्त में वर्णित वाक् के स्वरूप का कालान्तर में भारतीय ज्ञान परम्परा में अनेक रूपों में विकास हुआ जिसका विकसित रूप हम सभी दर्शनों एवम् अन्य साहित्य में देखते हैं। दुर्गासप्तशती में देवी का असुरसंहारकस्वरूप हो अथवा शास्त्र से लेकर लोक तक सरस्वती-साधना के प्रति तत्परता का भाव हो सबका उत्स ऋग्वेद के इस वाक्-सूक्त में देखा जा सकता है। यदि यह कहा जाय स्त्रीतत्त्व के सभी शक्तिस्वरूपों का उत्स इस सूक्त में प्राप्त होता है तथा साथ ही यहाँ स्त्री व पुरुष के अद्भुत तात्त्विक एकता का दर्शन होता है तो अत्युक्ति न होगी। यहीं वर्णन व दर्शन ही भारतीय ज्ञान परम्परा में स्त्रीतत्त्व व पुरुषतत्त्व के तात्त्विक एकता का मार्ग प्रशस्त करता है जो अद्यपर्यन्त विभिन्न रूपों में दिखायी पड़ती है।

1.1.5 हिन्दू चिन्तनधारा में स्त्री का तात्त्विक स्वरूप

हिन्दू चिन्तनधारा में स्त्री व पुरुष के तात्त्विक स्वरूप में कोई भेद नहीं है अपितु अभेद की स्थिति है। तात्विक रूप से स्त्री व पुरुष दोनों वस्तुतः एक ही हैं। इसीलिये अर्धनारीश्वर की कल्पना है। यहाँ स्त्री व पुरुष दोनों परस्पर एकदूसरे के पूरक हैं। दोनों का अपना पृथक् व समान

महत्त्व भी है। स्त्री देवी तथा आदिशक्ति के रूप में समादृत है। सांख्यदर्शन की तत्त्वमीमांसा प्रकृति एवं पुरुष इन्हीं दो तत्त्वों पर आधारित है। वहाँ सृष्टि के आदि कारण के रूप में प्रकृति एवं पुरुष तत्त्व का वर्णन प्राप्त होता है। यहाँ स्त्री व पुरुष दोनों की तात्त्विक रूप से समान उपस्थिति है। यहाँ वर्तमान स्त्रीविमर्श के बिन्दुओं के अनुसार परस्पर बलाबल का भाव नहीं है। दोनों ही इस सृष्टि के सम-बल हैं, सर्वोच्चशक्ति हैं, अधिष्ठान हैं। भारतीय परम्परा में जिसप्रकार स्त्री शक्ति है, प्रकृति है, देवी है तथा पूज्या है उसीप्रकार तात्त्विक रूप में पुरुष की भी स्थिति है।

1.1.6 हिन्दू चिन्तनधारा में स्त्री का सामाजिक स्वरूप एवं स्थिति

यदि हिन्दू चिन्तनधारा में स्त्री के सामाजिक स्वरूप व उसकी स्थिति पर विचार किया जाये तो उसकी स्थिति सदैव, प्रत्येक काल में एक अन्तर्निहित शक्ति के रूप में रही है। इतिहास साक्षी है कि जब पुरुष वर्ग हेतु कोई भी कार्य असम्भव लगा है तब उसने स्त्री की ओर ठीक उसी प्रकार निहारा है जिसप्रकार असुरों का संहार हेतु देवताओं ने शक्तिस्वरूपा देवी की ओर निहारा था तथा देवी ने असुरों का संहार कर सभी का परित्राण किया था। इस रूप में स्त्री का सामाजिक स्वरूप व स्थिति अत्यन्त स्पष्ट है। हालांकि इस बात को नकार नहीं सकते कि इतिहास के कुछ कालों में स्त्रियों की शिक्षा व सुरक्षा के प्रश्न उपस्थित होने पर स्त्रियों की स्थिति में गिरावट आयी तथा उनकी सीमाएं परिस्थितिवश संकुचित हुयीं परन्तु स्त्रियों के शक्तिस्वरूप के प्रति मूल भाव व भावना में किसी भी प्रकार की न्यूनता नहीं आयी। इतिहास के विभिन्न कालखंडों में परिस्थितिवशात् स्त्रियों की स्थिति में आयी गिरावट व उनमें स्वयं के प्रति आया हीनता के भाव को दूर करने तथ स्वयं के शक्तिस्वरूप के अभिज्ञान हेतु हिन्दू चिन्तनधारा में स्त्री के मौलिक तात्त्विक रूप का दर्शन सहज ही सहायक होगा।

1.1.7 स्त्रीतत्त्व विषयक वैदिक चिन्तन

वेद भारतीय ज्ञानपरम्परा व हिन्दू चिन्तनधारा के उत्स हैं। ये वे आकरग्रन्थ हैं जिन्हें किसी भी आसन्न समस्या के समाधान हेतु सर्वप्रथम प्रमाण माना जाता है। वैदिक चिन्तन स्त्रियों व स्त्रीतत्त्व के विषय में बहुत सुदृढ़, सम्यक् व सम्पन्न है। वेदों में प्रकृति व जगत् के सर्वशक्तिमान रूपों की उपासना की गयी है। वहाँ स्त्रीतत्त्व अनेक रूपों में अपने विपुल शक्तिस्वरूप का उद्घाटन करता हुआ दिखायी पड़ता है चाहे वह ऋग्वेद का वाक्-सूक्त हो, उषस्-सूक्त, रात्रिसूक्त अथवा अथर्ववेद का पृथिवी सूक्त। अनेक मन्त्रों व सूक्तों के द्रष्टा के रूप में ऋषिकाओं का उल्लेख वैदिक स्त्रीचिन्तन की सद्स्थिति का परिचायक है। वेदों में जगत् की अधिष्ठात्री के रूप में स्त्रीतत्त्व उपस्थित है। जिसके प्रति वैदिक ऋषि कृतज्ञता का भाव रखते हैं। अथर्ववेद में ऋषि अथर्वा पृथिवी के प्रति कहते हैं कि हे पृथ्वी जितना भी हम खनन कार्य आपपर करें उसकी शीघ्र पूर्ति हो जाये। हम आपके मर्मस्थलों को न स्पर्श करें-

यत्ते भूमे विखनामि क्षिप्रं तदपि रोहतु।
मा ते मर्म विमृग्वरी मा ते हृदयमर्पिपम्॥ *(अथर्ववेद, पृथिवीसूक्त)*

यही वह भाव है जिसके कारण आज भी प्रातः स्मरण में पृथ्वी को पैरों से स्पर्श करने पर क्षमा मांगी जाती है-**पादस्पर्शं क्षमस्व मे।**

वेदों में स्त्रीतत्त्व विषयक अत्यन्त उन्नत चिन्तन प्राप्त होता है। वहाँ स्त्रीतत्त्व माता के रूप में है- **"माताभूमिः पुत्रोऽहं पृथिव्याः"** स्त्रीतत्त्व सभी के धारक आधार के रूप में है। इस जगत् के व्यवहार के आदिकारण के रूप में है। यदि वाक्-सूक्त पर ही दृष्टिपात किया जाय तो स्त्रीतत्त्व

ब्रह्मा, विष्णु, महेश की शक्तियों क्रमशः सृष्टि, स्थिति व संहार का धारक व कारक है।

1.1.8 वाक् देवता एवं स्त्रीतत्त्व

वाक्-सूक्त में वाक् देवता स्वयं स्त्रीरूप में उपस्थित हैं तथा स्वयं के गुणों को अभिव्यक्त कर रही हैं। यहाँ पर वाग्देवता ने स्वयं को सर्वस्व का अधिष्ठान बताया है जो कि स्त्री के तात्त्विक स्वरूप के वर्णन का सर्वोच्च परिपाक है। यह वर्णन भारतीय ज्ञानपरम्परा के आदिग्रन्थ ऋग्वेद में है यह बात और भी महत्त्वपूर्ण है। जिस संस्कृति के प्रारम्भिक ग्रन्थ में स्त्रीतत्त्व का वर्णन इतना विशद, व्यापक, उदात्त हो और जहाँ स्त्रीतत्त्व को उपस्थिति इतने अपरिहार्य रूप में हो उस चिन्तनधारा की समृद्धि का स्तर क्या होगा? भारतीय चिन्तन इस रूप में अत्यन्त समृद्ध है कि यहाँ आरम्भ से ही स्त्री व पुरुष में कोई तात्त्विक भेद नहीं माना गया है। दोनों को एक व पूरक माना गया है। दोनों ही इस सृष्टि के कर्ता है तथा दोनों की ही समान भूमिका है। 'शक्ति' अथवा 'बल' को कभी भी इतने स्थूल रूप में भारतीयचिन्तनधारा में नहीं देखा गया जैसे आजकल देखा जा रहा है। 'शक्ति' के अनेक रूप हैं तथा अनेक आयाम है। भारतीय दृष्टि में शक्ति बहुआयामी है। वह केवल स्थूल शारीरिक शक्ति अथवा शाब्दिक मनोविनोद की शक्ति नहीं है। यहाँ शक्ति की कल्पना उस आदिकारण के रूप में है जिससे यह समस्त जगत् उत्पन्न हुआ है तथा स्थित है व जिसमें इसका लय होता है। इसप्रकार स्थूल रूप से सीमांकित शक्ति तथा बाह्य-इन्द्रियों द्वारा बिना किसी प्रयास के दृष्ट शक्ति भारतीय शक्ति की अवधारणा का एकांशमात्र भी नहीं है। यह चित्र इतना समृद्ध व व्यापक है कि इसमें उस शक्ति के उस सर्वोच्च स्वरूप का प्रथमतः ही वर्णन प्राप्त होता है जहाँ तक आज के वैज्ञानिक व समाजवैज्ञानिक सीढ़ियाँ लगाकर भी नहीं पहुँच पाते हैं।

1.4 वाक्सूक्त के आधार पर स्त्रीतत्त्व निरूपण

वाक्-सूक्त स्त्री के तात्त्विकस्वरूप के निरूपण का मार्ग प्रशस्त करने वाला प्रारम्भिक प्रमाण है। इसमें वाक् स्वयं ही अपनी समस्त शक्तियों को बताती हैं। वाक् देवता यहाँ स्त्रीरूप ही हैं तथा इस जगत् की कारकशक्ति के रूप में हैं। उन्हीं से यह जगत् उत्पन्न हुआ, उन्हीं से यह जगत् व्याप्त है तथा उन्हीं में यह जगत् लय हो जायेगा। वही इस जगत् के समस्त क्रियाकलापों की संवाहिका भी हैं। इसरूप में वाक्सूक्त में स्त्रीतत्त्व का सुन्दर निरूपण प्राप्त होता है। यह वर्णन किसी भी स्त्री पर लागू होता है। जिसप्रकार वाक् देवता जिन शक्तियों की अधिष्ठात्री हैं वस्तुतः एक इकाई के रूप में स्त्रीसामान्य भी उन शक्तियों से युक्त है। बस बात है उन्हें जानने, पहचानने व उनके प्रत्यभिज्ञान की।

1.4.1 भारतीय संस्कृति में स्त्रीत्व एवं पुरुषत्व की अवधारणा व स्थिति

स्त्री व पुरुष की तात्त्विक एकता ही भारतीय संस्कृति का आधार है। इस रूप में कभी कोई संघर्ष नहीं है। स्त्री व पुरुष की भिन्नता को लेकर उत्पन्न सभी मत अन्य संस्कृतियों के प्रभाववश आधुनिक विमर्श की व्युत्पत्ति मात्र हैं। भारतीय संस्कृति में शिव शक्ति से भिन्न नहीं है और न ही शक्ति शिव से भिन्न हैं। दोनों समान रूप से उपस्थित हैं। यहाँ आधुनिक तथाकथित विमर्श जनित वैमनस्य अथवा बलाबल का भाव नहीं है अपितु दोनों सर्वशक्तिमान हैं। यहाँ शक्ति का उर्ध्वाधररूप भी नहीं है जहाँ पर शक्ति माप के पैमाने में कोई एक ही शीर्ष पर होता है। यदि इस रूप में विश्लेषित किया जाय तो शक्ति की कल्पना यहाँ क्षैतिज है जिसमें कोई उच्च-नीच व

पूर्वापर की भावना नहीं है।

वाक्-सूक्त में वाक् स्वयं ब्रह्मा, विष्णु व रुद्र के रूप में हैं। अश्विनीकुमारों का भरण-पोषण भी वही करती हैं। राष्ट्र का आधार भी वही है। इसप्रकार यदि देखा जाय तो वस्तुतः भरण-पोषण व समस्त कार्यों के संचालन की प्रत्यक्ष व परोक्ष शक्ति स्त्रियों के पास ही होती है। स्त्री अपने विभिन्न रूपों में समाज व जगत् के समस्त तत्त्वों को प्रभावित करती है तथा उनके व्यवस्थापन व विखंडन में भी उसी का योगदान है।

आज जब स्त्रीविमर्श का वैश्विक स्वरूप हमारे समक्ष है जिसमें स्त्री और पुरुष दोनों को कारागार में आमने-सामने खड़ा करके सन्दर्भानुसार किसी को बलवान व किसी को बलशून्य सिद्ध किया जा रहा है। तो ऐसी स्थिति पर सूक्ष्मता से अध्ययन पर यही ज्ञात होता है कि समाज द्वारा स्त्रीतत्त्व की उपेक्षा तथा स्त्रियों द्वारा आत्मशक्ति का विस्मरण ही इसके मूल में है। भारतीय परम्परा में तो स्त्री निर्मात्री है। स्त्रियों द्वारा स्वयं के निर्मात्री स्वरूप को विस्मृत कर देना ही इन विमर्शों के मूल में है। इसीलिये आज स्त्री व पुरुष के तात्त्विक एकता को उद्घाटित कर स्त्रियों में आत्मशक्ति का प्रत्यभिज्ञान अत्यन्त आवश्यक है।

1.4.2 भारतीय संस्कृति देवी एवं देवता की अवधारणा व स्थिति

इस जगत् को किसी भी रूप में प्रकाशित करने वाले, शक्तिसम्पन्न बनाने वाले तथा जगत् के व्यवहार में सहायक तत्त्वों को देवी व देवता की संज्ञा दी गयी है। भारतीय ज्ञान परम्परा में देवी व देवता दोनों में पार्थक्य नहीं अपितु ऐक्य है। परमावस्था में दोनों में तात्त्विक एकता है। ब्रह्म अक्षर है, अविनाशी है, लिंगरहित है तथा किसी भी प्रकार के विकार से रहित है। स्त्री के भी तात्त्विक स्वरूप की उच्चावस्था व पुरुष के तात्त्विक स्वरूप की उच्चावस्था ब्रह्मावस्था जैसी ही है। वहाँ कोई भेद नहीं अपितु अभेद है। वहाँ कोई नामरूप नहीं है। इसप्रकार भारतीय परम्परा में देवी व देवता ऐसी शक्तियां हैं जो शक्ति के रूप में तात्त्विक स्तर पर एक हैं। दोनों में अद्वयभाव है।

1.4.3 हिन्दूपरम्परा में शास्त्र एवं लोक की ज्ञानात्मक व व्यवहारात्मक एकता एवं स्त्रीतत्त्व

हिन्दूपरम्परा में शास्त्र और लोक की ज्ञानात्मक व व्यवहारात्मक एकता है। स्त्रीतत्त्व के सन्दर्भ में भी यही एकता दिखायी पड़ती है। वेद-उपनिषदादि शास्त्रों में स्त्री व पुरुष की जो तात्त्विक एकता दिखायी पड़ती है। वही तात्त्विक एकता हिन्दू आश्रमव्यवस्था, षोडशसंस्कार तथा विभिन्न पूजापद्धतियों में भी दिखायी पड़ती है। जिसप्रकार शक्ति के विभिन्नरूपों का वर्णन व उसकी उपासना शास्त्र करते हैं उसीप्रकार लोक भी उसकी उपासना करता है। वह विभिन्न अवसरों पर स्त्री व पुरुष दोनों की शक्ति के रूप में उपासना करता है। देवी व देवता के रूप में इसी शक्ति के स्त्री व पुरुषस्वरूप की उपासना की जाती है और अनेक अवसरों पर दोनों स्वरूपों का लय भी देखा जाता है। भारतीय परम्परा का आदर्श अधिष्ठान गृहस्थाश्रम के रूप में है इसमें प्रवेश का मार्ग विवाह-संस्कार है। इस संस्कार को शक्ति के ऐक्य की कामना के साथ सम्पन्न किया जाता है और इस आश्रम में स्त्री व पुरुष दोनों की अपरिहार्यता है तथा दोनों के शक्ति-समन्वय द्वारा जगत् का मार्ग प्रशस्त करने का दायित्व भी इसी आश्रम पर है।

इसप्रकार हिन्दू परम्परा में शास्त्र व लोक के बात व व्यवहार में कोई तात्त्विक भेद नहीं है।

1.4.4 वाक्सूक्त में निरूपित व परिलक्षित स्त्रीतत्त्व

ऋग्वेद के वाक्-सूक्त में वाग्देवी का वर्णन व दर्शन स्त्री के रूप में ही है। वाक् देवता ने यहाँ अपने समस्त शक्तियों के वर्णन के क्रम में स्त्रीलिंग क प्रयोग किया है। स्वयं को 'राष्ट्री' बताया है। वाक्सूक्त में परिलक्षित स्त्रीतत्त्व भारतीय परम्परा में स्त्री के सर्वोच्च स्थिति तथा उसके प्रति सर्वोच्च भावों की अभिव्यक्ति है। वैदिक साहित्य से ही स्त्रीतत्त्व के प्रति एक उच्च व उदात्त भाव भारतीय परम्परा में ओतप्रोत है। यही कारण है कि यहाँ शक्ति एकांगी नहीं है और न ही उसका नियन्त्रण एकपक्षीय है। यहाँ शक्ति उत्पत्ति, स्थिति व संहार तीनों रूपों में है। शक्ति का सात्त्विक स्वरूप यही है और इसी की आराधना भारतीय ज्ञान परम्परा का मूल है। वाक्सूक्त में स्त्रीतत्त्व का जो उत्कर्ष स्वरूप उद्घाटित हुआ है वह स्त्री मात्र को गौरवान्वित करने वाला है तथा सम्प्रति हो रहे समस्त समाजभेदक व परिवारविभंजक स्त्रीविमर्श को तार-तार करने वाला है। ऋग्वेद के वाक्सूक्त में परिलक्षित स्त्रीतत्त्व के प्रति चिन्तन ही स्त्रियों के प्रति उदात्त भावना का स्फुरण कराने वाला तथा स्थितियों में सुधार लाने वाला है। जब किसी तत्त्व के समस्त गुणों से समाज अवगत होता है तथा उसकी प्रतिष्ठा के अर्थ को जानता है तब उसके प्रति दृष्टि में सहज परिवर्तन होता है। इसप्रकार वाक्सूक्त स्त्रीतत्त्व सहित स्त्रीमात्र के लिये दृष्टिपरिवर्तनकारी अभिलेख है।

1.5 सारांश

इसप्रकार ऋग्वेद का वाक्सूक्त भारतीय चिन्तनधारा में अनुप्राणित स्त्री-पुरुष के तात्त्विक एकता के आदि-परिचायक के रूप में है। यह वह अभिलेखीय सांस्कृतिक साक्ष्य है जिसके चिन्तन के एकमेव प्रकाश से ही लोक में फैलाये गये स्त्रीविमर्शविषयक समस्त बलाबलात्मक विषों का शमन सम्भव है। वाक्सूक्त में व्याप्त स्त्रीतत्त्व के शक्तिस्वरूप का आंशिक दर्शन भी स्त्रियों की उन्नत स्थिति का परिचायक है तथा उसके साधारण अर्थ के ज्ञानमात्र से स्त्रियों के प्रति समस्त संकुचित धारणाएं ध्वस्त हो जाती हैं।

वाक्सूक्त का भारतीय ज्ञान परम्परा में बहुत महत्त्व है। इसका प्रत्येक मन्त्र व शब्द मानवता के तोरणद्वार पर अंकित वह अमिट प्रकाश है जो न केवल भारत की वर्तमान आध्यात्मिक व अत्मिक चेतना को विकसित कर सकता है अपितु विश्व की भी चेतना का मार्ग प्रशस्त कर सकता है।

1.6 पारिभाषिक शब्दावली

- सांख्यदर्शन- भारतीय दर्शन के अन्तर्गत एक दार्शनिक सिद्धान्त जिसके प्रवर्तक कपिल मुनि हैं।
- स्थावर- अचल। एक स्थान पर स्थित
- जंगम -चलायमान । गतिशील
- जरायुज- सीधे शिशु के रूप मेम् जन्म लेने वाले प्राणी।
- अण्डज- अण्डे से उत्पन्न होने वाले प्राणी।
- उद्भिज- भूमि को भेदकर उत्पन्न प्राणी जैसे वृक्ष, वनस्पतियाँ।

- स्वेदज – स्वीद अर्थात् पसीने से उत्पन्न होने वाले प्राणी जैसे जूँ, खटमल आदि
- अनुप्राणित-प्राणवान्
- षड्-वेदाङ्ग- शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, ज्योतिष व छन्द
- उदात्तभाव- श्रेष्ठभाव
- तादात्म्य- तल्लीनता। एकाकार। अभेद
- आत्मश्लाघा- अपनी प्रशंसा।

1.7 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

- *अथर्ववेद का सुबोध भाष्य*, , प्रथम भाग, श्रीपाद दामोदर सातवलेकर, स्वाध्याय मण्डल, पारडी, 1985
- अमरकोश, श्री वेंकटेश्वरप्रेस, मुम्बई, संवत, 1970
- ईशादि नौ उपनिषद्, गीताप्रेस गोरखपुर, संवत् 2010
- *ऋग्वेदसंहिता*, वैदिक संशोधन मण्डल, पूना, 1941
- पुराणविमर्श, आचार्य बलदेव उपाध्याय, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, द्वितीय संस्करण, 1978
- भारतीय संस्कृति और साधना (दो खण्डों में), महामहोपाध्याय श्री गोपीनाथ कविराज, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, 2009
- *यजुर्वेद का सुबोध भाष्य*, प्रथम भाग, श्रीपाद दामोदर सातवलेकर, स्वाध्याय मण्डल, पारडी
- श्रीदुर्गासप्तशती, गीताप्रेस गोरखपुर, 2015
- श्रीमद्देवीभागवतपुराण (प्रथमखण्ड), गीताप्रेस गोरखपुर, प्रथम संरकरण, सं. 2067
- शतपथ ब्राह्मण, प्रथम काण्ड, श्रीवेंकटेश्वर प्रेस, मुम्बई, संवत् 1983
- श्रीसाधना रहस्य (दो खंडों में), महामहोपाध्याय श्री गोपीनाथ कविराज, भारतीय विद्या प्रकाशन, वाराणसी, 2021
- *सामवेद का सुबोध भाष्य*, प्रथम भाग, श्रीपाद दामोदर सातवलेकर, स्वाध्याय मण्डल, पारडी
- सांख्यकारिका, अनु. व व्या. राकेश शास्त्री, परिमल प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संरकरण, 1998
- वाचस्पत्यम्, श्री तारानाथ तर्कवाचस्पति , राष्ट्रीय संस्कृत संस्थान, नयी दिल्ली- 2006
- वैदिक सूक्त संग्रह, गीताप्रेस, गोरखपुर

1.7 बोध प्रश्न

क) दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. वाक्सूक्त की विषयवस्तु पर प्रकाश डालिये।
2. वाक्सूक्त में वर्णित वाक् के स्वरूप पर एक विस्तृत निबन्ध लिखिये।
3. 'राष्ट्री' से क्या तत्त्पर्य है? प्रसंगानुसार समझाइये।
4. वाक् के ब्रह्म, विष्णु व रुद्र स्वरूप पर प्रकाश डालिये।
5. वाक्सूक्त पर प्रकाश डालते हुये भारतीय चिन्तनधारा मेम् स्त्री व पुरुष की तात्विक एकता पर प्रकाश डालिये।

ख) लघु उत्तरीय प्रश्न

1. वाक् का तात्विक स्वरूप क्या है।
2. भारतीय ज्ञान परम्परा में भाषाचिन्तन पर टिप्पणी लघु लिखें।
3. वाक्सूक्त और भारतीय भाषाचिन्तन पर प्रकाश डालें।
4. वाक्सूक्त के आलोक में स्त्री के तात्त्विक स्वरूप पर लघु टिप्पणी लिखें।
5. भारतीय भाषा चिन्तन विषयक ग्रन्थों का उल्लेख करें।

इकाई 2   देव्यथर्वशीर्ष में प्रतिबिम्बित स्त्रीतत्त्व

इकाई की रूपरेखा

2.1   उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई का उद्देश्य-

- विद्यार्थियों को भारतीय परम्परा में स्त्रीतत्त्व की स्थिति एवं भूमिका से अवगत करवाना है
- भारतीय चिन्तनधारा में देवी व स्त्रीशक्ति के सन्दर्भ में यत्किंचित् जानकारी उपलब्ध करवाना है।
- देव्यथर्वशीर्ष के आलोक में स्त्रीत्व सैद्धान्तिक रूप को प्रस्तुत करना है।
- इसके माध्यम से विद्यार्थी शास्त्र से लेकर समाज तक व्याप्त स्त्री के तात्त्विक स्वरूप विभिन्न सशक्त रूपों एवं पक्षों का ज्ञान प्राप्त कर सकेंगे।
- इस पाठ को पढ़ने से देव्यथर्वशीर्ष में वर्णित देवी के स्वरूप एवं उस वर्णन के निहितार्थ को

जान सकेंगे।

- इस पाठ के माध्यम से भारतीय परम्परा में स्त्रियों ही नहीं अपितु समस्त स्त्रीतत्त्व के स्थान, महत्त्व, भूमिका से परिचित हो सकेंगे।

2.2 प्रस्तावना

देव्यथर्वशीर्ष स्त्रीतत्त्व के रूप में शक्ति के आराधन के आरम्भिक अभिलेखों में से एक है। इसका सम्बन्ध अथर्ववेद से है। श्रीदुर्गासप्तशती में भी इसका वर्णन है। श्रीदुर्गासप्तशती का भाग होकर यह भारतीय समाज में प्रसिद्ध है। देव्यथर्वशीर्ष का आरम्भ ही प्रश्न से होता है जिसमें सभी देवता देवी का परिचय जानने के इच्छुक हैं। देवताओं की जिज्ञासा की शान्ति हेतु देवी अपना परिचय देती हुयी अपने स्वरूप का उद्घाटन करती हैं। देव्यथर्वशीर्ष दर्शन, तन्त्र, आध्यात्मिकता एवं लोक के मध्य सूत्र की भांति स्थित है। इसके मन्त्रों का अर्थ अनेकस्तरीय है। यह दार्शनिक और आध्यात्मिक होने के साथ ही लौकिक भी है। अर्थ की अनन्त सम्भावना से युक्त देव्यथर्वशीर्ष शक्ति की आराधना के आधार स्तम्भ के रूप में है। इसके सम्यक् पाठ व आराधन के अनेक लाभ बताये गये हैं। कालान्तर में श्रीदुर्गासप्तशती का भाग बनकर समाज में इसका प्रसार ही इसकी सिद्धि व प्रसिद्धि का प्रमाण है।

देव्यथर्वशीर्ष में ही इसके फलश्रुति के विषय में कहा गया है कि जो भी देव्यथर्वशीर्ष का अध्ययन करता है, उसे पाँचों अथर्वशीर्षों के जप का फल मिलता है। जो दस वार इसका पाठ करता है वह उसी क्षण पापों से मुक्त हो जाता है और महादेवी के प्रसाद अर्थात् प्रसन्नता से बड़े-बड़े संकटों को पार कर जाता है। इस प्रकार सर्वोच्च शक्ति के रूप में देवी की प्रतिष्ठा ही स्त्रीतत्त्व की शक्ति का प्रमाण है।

2.3 देव्यथर्वशीर्ष का सामान्य परिचय

'अथर्वशीर्ष' का शाब्दिक अर्थ है 'अथर्ववेद का शिरोभाग'। वस्तुतह् अथर्वशीर्ष वेदों के भाग उपनिषद् ही हैं और अथर्ववेद के अन्त में आते हैं। ये सर्वविद्याओं की सर्वभूता 'ब्रह्मविद्या' के प्रतिपादक हैं। अथर्वशीर्षसाहित्य की प्राचीनता तथा प्रामाणिकता असंदिग्ध है। अत्रि, वसिष्ठ, गौतम, शंख आदि अनेक स्मृतियों के प्रायश्चितविधानों में अथर्वशीर्ष का भी स्पष्ट निर्देश प्राप्त होता है। जैसे-

शतरुद्रियमथर्वशिरस्त्रिसुपर्णं महाव्रतम् । (शंखस्मृति, 11.4)
मधून्यघमर्षणमथर्वशिरो रुद्राः...पावनानि। (गौतमस्मृति, 19.6)

श्रीहंसयोगी ने अपने गीताभाष्य में देव्यथर्वशीर्ष का नामोल्लेख करते हुये उसके प्रमाण उद्धृत किये हैं।

देव्यथर्वशीर्ष में शून्य की साक्षी दुर्गा का उल्लेख हुआ है। इसमें भगवती की भक्ति और आराधना का विकसित रूप विद्यमान है। विष्णुसहस्रनाम में विष्णु का एक नाम शून्य भी है इसप्रकार दुर्गा विष्णु की साक्षी हैं। देवी अथर्वशीर्ष में शक्ति के विभिन्न स्वरूपों का प्रतिपादन है। शक्ति अज्ञेया , अनन्ता, अलक्ष्या, अजा, एका एवं नैका है। शक्ति अनवगम्या है, आकाश के पूर्व उसकी स्थिति है इसीलिये विषयों के आहार से पहले, कल्पना से पहले, कर्म एवं

प्राकट्य के पहले उसकी स्थिति है। प्रकृतिपुरुषात्मक सम्पूर्ण जगत् की सृष्टि करने वाली शक्ति ही है। शक्ति ही सृष्टि का सृजन, पालन व प्रलय करती हैं।

देव्यथर्वशीर्ष में सभी देवता देवी के पास जाकर उनका परिचय पूछते हैं। जिसके उत्तर में देवी अपना स्वरूपकथन करती हैं। सबसे पहले ही देवी स्वयं को ब्रह्मरूपिणी बताती हैं और कहती हैं कि मुझसे ही यह प्रकृतिपुरुषात्मक जगत् उत्पन्न हुआ है।–

अहं ब्रह्मस्वरूपिणी। मत्तः प्रकृतिपुरुषात्मकं जगत्। शून्यं चाशून्यं च॥2॥

आगे देवी कहती हैं कि मैं आनन्द और अनानन्दरूपा हूँ। मैं ही विज्ञान और अविज्ञानरूपा हूँ। जिनको अवश्य जानना चाहिये ऐसे ब्रह्म और अब्रह्म मैं ही हूँ। पञ्चीकृत और अपञ्चीकृत महाभूत भी मैं ही हूँ और यह समस्त जगत् मैं ही हूँ-

अहमानन्दानानन्दौ। अहं विज्ञानाविज्ञाने। अहं ब्रह्माब्रह्मणी वेदितव्ये। अहं पञ्चभूतान्यपञ्चमूतानि। अहमखिलं जगत्॥3॥

यहाँ यह बात ध्यातव्य है कि इस जगत् में जो कुछ भी भेदरूप में देखा जाता है देवी ने उन सभी भेदस्वरूपों का अधिष्ठान स्वयं को बताकर उनमें तात्त्विक अभेद स्थापित किया है चाहे वह आनन्द हो अथवा अनानन्द, विज्ञान हो या अविज्ञान, ब्रह्म हो अथवा अब्रह्म, पंचीकृत अवस्था हो अथवा अपंचीकृत।

आगे देवी अपने स्वरूप के विषय में बताते हुये कहती हैं कि मैं ही वेद तथा अवेद हूँ। विद्या और अविद्या मैं ही हूँ। मैं ही अजा व अनजा हूं। ऊपर-नीचे और तिर्यक् मैं ही हूँ-

वेदोऽहमवेदोऽहम्। विद्याहमविद्याहम्। अजाहमनजाहम्। अधश्चोर्ध्वं च तिर्यक्चाहम्॥4॥

मैं ही आदित्यों एवं विश्वदेवों के रूपों में विचरण करती हूँ। मैं ही मित्र और वरुण, इन्द्र और अग्नि तथा अश्विनीकुमारों का भरण-पोषण करती हूँ।-

अहं रुद्रेभिर्वसुभिश्चरामि। अहमादित्यैरुत विश्वदेवैः। अहं मित्रावरुणावुभौ बिभर्मि। अहमिन्द्राग्नी अहमश्विनावुभौ॥5॥

देवी आगे कहती हैं कि मैं ही सोम, त्वष्टा, पूषा, और भग को धारण करती हूँ। त्रैलोक्य को आक्रान्त करने के लिये विस्तीर्ण पादक्षेप करनेवाले विष्णु, ब्रह्मदेव और प्रजापति को मैं ही धारण करती हूँ।-

अहं सोमं त्वष्टारं पूषणं भगं दधामि। अहं विष्णुमुरुक्रमं ब्रह्माणमुत प्रजापतिं दधामि॥6॥

देवी कहती हैं कि देवों को उत्तम हवि पहुँचानेवाले और सोमरस निकालनेवाले यजमान के लिये हविर्द्रव्यों से युक्त धन धारण करती हूँ। मैं सम्पूर्ण जगत् जी ईश्वरी, उपासकों को धन देनेवाली, ब्रह्मरूप और यज्~झार्हों में अर्थात् यजन करने योग्य देवों में मुख्य हूँ। मैं आत्मस्वरूप पर आकाशादि निर्माण करती हूँ। मेरा स्थान आत्मस्वरूप को धारण करनेवाली बुद्धिवृत्ति में है। जो इस प्रकार जानता है, वह दैवी सम्पत्ति लाभ करता है।–

अहं दधामि द्रविणं हविष्मते सुप्राव्ये यजमानाय सुन्वते।

अहं राष्ट्री सङ्गमनी वसूनां चिकितुषी प्रथमा यज्ञियानाम। अहम् सुवे पितरमस्य मूर्धन्मम योनिरप्स्वन्तः समुद्रे। य एवं वेद। स दैवीं सम्पदमाप्नोति॥7॥

देवी के स्वरूप को जानकर समस्त देवताओं ने उन कल्याणकर्त्री, गुणसाम्यावस्थारूपिणी मंगलमयी, ज्ञान से दीप्त, दीप्तिमती, असुरों का विनाश करने वाली देवी को नियमयुक्त होकर प्रणाम किया।

ते देवा अब्रुवन्- नमो देवयै महादेवयै शिवायै सततं नमः।
...दुर्गां देवीं शरणं प्रपद्यामहेऽसुरान्नाशयित्र्यै ते नमः॥8-9॥

आगे ऋषि कहते हैं कि प्राणरूप देवों ने जिस प्रकाशमान वैखरी वाणी को उत्पन्न किया, उसे अनेक प्रकार के प्राणी बोलते हैं। वह कामधेनुतुल्य आनन्ददायक और अन्न तथा बल देनेवाली भगवती उत्तम स्तुति से संतुष्ट होकर हमारे समीप आये। काल का भी नाश करनेवाली, वेदोंद्वारा स्तुत हुयी विष्णुशक्ति, स्कन्दमाता (शिवशक्ति), सरस्वती (ब्रह्मशक्ति), देवमाता अदिति और दक्षकन्या (सती), पापनाशिनी कल्याणकारिणी भगवती को हम प्रणाम करते हैं-

देवीं वाचमजनयन्त देवास्तां विश्वरूपाः ...दक्षदुहितरं नमामः पावनां शिवाम्॥10-11॥

हम महालक्ष्मी को जानते हैं और उन सर्वशक्तिरूपिणी का ही ध्यान करते हैं। वह देवी हमें उस विषय में (ज्ञान-ध्यान में) प्रवृत्त करें-

महालक्ष्म्यै च विद्महे सर्वशक्त्यै च धीमहि।
तन्नो देवी प्रचोदयात्॥12॥

देवी शिवशक्त्यभेदरूपा, ब्रह्म-विष्णु-शिवात्मिका, सरस्वती-लक्ष्मी-गौरीरूपा, अशुद्ध-मिश्र-शुद्धोपासनात्मिका, समरसीभूत-शिवशक्त्यात्मक ब्रह्मस्वरूपका निर्विकल्प ज्ञान देनेवाली, सर्वतत्त्वात्मिका महात्रिपुरसुनदरी है। देवी बीजमन्त्र सभी मन्त्रों का मुकुटमणि है और मन्त्रशास्त्र में पंचदशी आदि श्रीविद्या के नाम से प्रसिद्ध है।

देवी परमात्मा की शक्ति हैं। ये विश्वमोहिनी हैं। पाश, अंकुश, धनुष और बाण धारण करने वाली हैं। ये 'श्रीमहाविद्या' हैं। जो ऐसा जानता है, वह शोक को पार कर जाता है-

एषाऽऽत्मशक्तिः। एषा विश्वमोहिनी। पाशाङ्कुशधनुर्बाणधरा। एषा श्रीमहाविद्या। य एवं वेद स शोकं तरति॥15॥

ऋषि देवी से कहते हैं कि हे भगवती! तुम्हें नमस्कार है। माता! सबप्रकार से हमारी रक्षा करो।

नमस्ते अस्तु भगवति मातरस्मान् पाहि सर्वतः॥16॥

मन्त्रद्रष्टा ऋषि कहते हैं कि- वही ये अष्ट वसु हैं, वही ये एकादश रुद्र हैं, वही ये द्वादश आदित्य हैं, वही ये सोमपान करनेवाले और सोमपान न करनेवाले विश्वेदेव हैं, वही ये यातुधान (एक प्रकार के राक्षस), असुर, राक्षस, पिशाच, यक्ष और सिद्ध हैं, वही ये सत्त्व-रज-तम हैं, वही ये ब्रह्म-विष्णु-रुद्ररूपिणी हैं, वही ये प्रजापति-इन्द्र-मनु हैं, वही ये ग्रह, नक्षत्र और तारे हैं, वही कला-काष्ठादि कालरूपिणी हैं, उन पाप नाश करनेवाली, भोग-मोक्ष देनेवाली, अन्तरहित, विजयधिष्ठात्री, निर्दोष, शरण लेने योग्य कल्याणदात्री और मंगलरूपिणी देवी को हम सदा प्रणाम करते हैं।

सैषाष्टौ वसवः। सैषैकादश रुद्राः। सहिषा द्वादशादित्याः। सैषा विश्वेदेवाः सोमपा असोमपाश्च। सैषा यातुधाना असुरा रक्षांसि पिशाचा यक्षाः सिद्धाः। सैषा सत्त्वरजस्तमांसि। सैषा ब्रह्मविष्णुरूपिणी। सैषा प्रजापतीन्द्रमनवः। सैषा ग्रहनक्षत्रज्योतींषि। कलाकाष्ठादिकालरूपिणी। तामहं प्रणौमि नित्यम्।

पापापहारिणीं देवीं भुक्तिमुक्तिप्रदायिनीम्।
अनन्तां विजयां शुद्धां शरण्यां शिवदां शिवाम्॥17॥

चित्स्वरूपिणी महासरस्वती, सद्रूपिणी महालक्ष्मी, आनन्दरूपिणी महाकाली चण्डी के रूप में ऋषियों ने देवी को नमस्कार किया है तथा प्रार्थना की है कि अविद्यारूप रज्जु की दृढ़ ग्रन्थि को खोलकर मुझे मुक्त करो।

ऋषि आगे कहते हैं कि हृदय-कमल के मध्य में रहनेवाली, प्रातःकालीन सूर्य के समान प्रभावशाली, पाश और अंकुश धारण करने वाली, मनोहर रूपवाली, वरद और अभयमुद्रा धारण किये हुये हाथोंवाली, त्रिनेत्रों से युक्त, रक्त परिधान धारण करनेवाली और कामधेनु के समान भक्तों के मनोरथ पूर्ण करने वाली देवी को मैं भजता हूँ-

हृत्पुण्डरीकमध्यस्थाः प्रातः सूर्यसमप्रभाम्।
पाशाङ्कुशधरां सौम्यां वरदाभयहस्तकाम्।
त्रिनेत्रां रक्तवसनां भक्तकामदुघां भजे॥21॥

देवी महाभय का नाश करने वाली, महासंकट को शान्त करने वाली और महान् करुणा की साक्षात् मूर्ति हैं-

नमामि त्वां महादेवीं महाभयविनाशिनीम्।
महादुर्गप्रशमनीं महाकारुण्यरूपिणीम्॥22॥

देवी का स्वरूप प्रतिपादित करते हुये ऋषि कहते हैं कि जिसका स्वरूप ब्रह्मादिक नहीं जानते-इसीलिये जिसे अज्ञेया कहते हैं, जिसका अन्त नहीं मिलता-इसलिये जिसे अनन्ता कहते हैं, जिसका लक्ष्य दिखायी नहीं पड़ता-इसलिये जिसे अलक्ष्या कहते हैं, जिसका जन्म समझ में नहीं आता-इसलिये जिसे अजा कहते हैं, जो अकेली ही सर्वत्र है-इसीलिये जिसे एका कहते हैं, जो अकेली ही विश्वरूप में सजी हुयी है-इसलिये जिसे नैका कहते हैं, वह इसीलिये अज्ञेया, अनन्ता, अलक्ष्या, अजा, एका और नैका कहलाती है।

यस्याः स्वरूपं ब्रह्मादयो न जानन्ति तस्मादुच्यते ....एवोच्यते अज्ञेयानन्तालक्ष्याजैका नैकेति॥23॥

वे देवी सब मन्त्रों में 'मातृका'- मूलाक्षररूप से रहनेवाली, शब्दों में ज्ञान रूप से रहनेवाली, ज्ञानों में 'चिन्मयातीता', शून्यों में 'शून्यसाक्षिणी' तथा जिनसे और कुछ भी श्रेष्ठ नहीं है, वे दुर्गा के नाम से प्रसिद्ध हैं।

मन्त्राणां मातृका ...सैषा दुर्गा प्रकीर्तिता॥24॥

ऋषि उन दुर्विज्ञेय, दुराचारनाशक और संसारसागर से तारनेवाली दुर्गादेवी नमस्कार करते हैं-

**तां दुर्गां दुर्गमां देवीं दुराचारविघातिनीम्।
नमामि भवभीतोऽहं संसारार्णवतारिणीम्॥25॥**

इस अथर्वशीर्ष का जो अध्ययन करता है, उसे पांचों अथर्वशीर्षों के जप का फल प्राप्त होता है। जो इसका दस बार पाठ करता है, वह उसी क्षण पापों से मुक्त हो जाता है और महादेवी के प्रसाद से बड़े दुस्तर संकटों को पार कर जाता है।

इदमथर्वशीर्षं योऽधीते स...महादुर्गाणि तरति महादेव्याः प्रसादतः॥26॥

इसप्रकार से देव्यथर्वशीर्ष अध्ययन-चिन्तन-मनन एवं पाठ की दृष्टि से भारतीय अध्यात्मिक साधना का एक महत्त्वपूर्ण आधार है।

2.3.1 दुर्गासप्तशती एवं देव्यथर्वशीर्ष का महत्त्व

श्रीदुर्गासपतशती में आरम्भ में ही पाठविधि के अन्तर्गत देवीकवच, अर्गलास्तोत्र, कीलक, वेदोक्त रात्रिसूक्त, तन्त्रोक्त रात्रिसूक्त के पश्चात् देव्यथर्वशीर्ष दिया गया है। देव्यथर्वशीर्ष दुर्गासप्तशती का मूल भाग नहीं है परन्तु इसके व्यापक महत्त्व को देखते हुये सप्तशती के पाठ के अन्तर्गत इसे स्थान दिया गया है। देव्यथर्वशीर्ष में देवी को ’दुर्गा’ कहा गया है। कहा गया है कि जिनसे कुछ भी परतर नहीं है, अर्थात् कुछ भी बढ़कर नहीं है, कुछ भी श्रेष्ठ नहीं है, उन्हें ’दुर्गा’ नाम से जाना जाता है-

यस्याः परतरं नास्ति सैषा दुर्गा प्रकीर्तिता॥24॥

देवी का दुर्गा रूप सप्तशती में वर्णित सभे रूपों में सर्वप्रधान रूप है। सप्तशती में वर्णित तीनों चरितों महाकाली, महालक्ष्मी व महासरस्वती का समन्वित स्वरूप ’दुर्गा’ हैं। लोक शक्ति की सबसे सशक्त प्रतिष्ठा दुर्गा के रूप में ही है। देव्यथर्वशीर्ष में देवी शक्तिस्वरूपा हैं, वे महाकाली भी है, महालक्ष्मी भी, महासरस्वती भी। दुर्गासप्तशती में वर्णित देवी का समस्त महात्म्य देव्यथर्वशीर्ष में अन्तर्भूत है। इसीलिये इसके पाठ का बहुत महत्त्व है। देव्यथर्वशीर्ष का पाठ तारक है, निवारक है। दुर्गा सप्तशती भी सर्वविघ्नमोचक व सर्वपापनाशक है।

इस अर्थ में देवी अथर्वशीर्ष अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है । महादेवी शक्ति की कृपा से व्यक्ति बड़े से बड़े संकटों को पार कर जाता है।

महादुर्गाणि तरति महादेव्याः प्रसादतः॥26॥

देव्यथर्वशीर्ष का महत्त्व यह है कि जो भौमाश्विनी अर्थात् अमृतसिद्धि योग में महादेवी की सन्निधि में जप करता है वह महामृत्यु से तर जाता है। इस भवसागर के बन्धन से मुक्त हो जाता है। जो देवी की शक्ति से परिचित है वह महामृत्यु को पार कर जाता है।

भौमाश्विन्यां महादेवीसंनिधौ जप्त्वा महामृत्युं तरति। स महामृत्युं तरति य एवं वेद।

इस प्रकार देवी का यह शक्तिस्वरूप अविद्यानाशिनी ब्रह्मविद्या का स्वरूप है। जो समस्त पाप-ताप हरने वाली है। समस्त की अधिष्ठात्री है।

देव्यथर्वशीर्ष का महत्त्व इतना व्यापक व गहन है कि इस देव्यथर्वशीर्ष के अन्तर्गत ही कहा गया है कि जो इसका अध्ययन करता है उसे पांचों अथर्वशीर्षों के अध्ययन का फल प्राप्त होता है-

इदमथर्वशीर्षं योऽधीते स पञ्चाथर्वशीर्षजपफलमाप्नोति।

इसप्रकार देव्यथर्वशीर्ष का भारतीय ज्ञानसाधना व अध्यात्मिक जीवन के साथ-साथ सामाजिक व पारिवारिक जीवन में भी बहुत महत्त्व है। भारतीय परम्परा में अध्यात्म, समाज व परिवार में एक अद्भुत सम्पर्क व एकसूत्रता है उसका मार्ग शक्ति की उपासना से ही प्रशस्त होता है। वस्तुतः शक्ति ही इस एकसूत्रता व एकात्मता की जननी हैं। इस अर्थ में देवी दुर्गा के समस्त शक्तियों का व्याख्यान करने वाले ग्रन्थ श्रीदुर्गासप्तशती के अन्तर्गत देव्यथर्वशीर्ष का विनियोग अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।

2.3.2 देव्यथर्वशीर्ष में देवी का स्वरूप एवं उनकी शक्तियाँ

देव्यथर्वशीर्ष में देवी के सर्वशक्तिमती स्वरूप का दर्शन होता है। देवी स्वयं को ब्रह्मस्वरूपिणी कहती हैं। ब्रह्मा इस जगत् के स्रष्टा हैं। यह जगत् उन्हीं की सृष्टि है। ब्रह्मस्वरूपिणी के रूप में देवी भी इस जगत् की सर्जक शक्ति हैं। यह जगत् प्रकृतिपुरुषात्मक है। देवी कहती हैं कि मुझसे ही यह प्रकृतिपुरुषात्मक जगत् है। अर्थात् जगत् देवी का की कार्य है। इस जगत् की कारण देवी ही हैं। इस जगत् में जो कुछ भी विद्यमान है अथवा जो नहीं विद्यमान है, सभी की कर्त्री देवी हैं। इस रूप में देवी का स्वरूप जगदाधारशक्ति के रूप में है। यह शक्ति का सर्वोच्च व सर्वशक्तिमान स्वरूप है। जगत् में जो कुछ भी आनन्द, अनानन्द, विज्ञान-अविज्ञान, ब्रह्म-अब्रह्म है सब देवी ही हैं। सबके मूल में देवी ही हैं। महाभूतों का पंचीकृत रूप जिससे स्वरूप निर्धारण होता है तथा अपंचीकृत रूप भी देवी ही हैं।

देवी के स्वरूप का वर्णन करते हुये उनके बाह्यरूप के विषय में देव्यथर्वशीर्ष में कहा गया है कि देवी अग्नि के समान वर्ण वाली हैं। अर्थात् कान्ति, द्युति, आभा-विभा से परिपूर्ण हैं। तेजस्विनी हैं, प्रकाशमयी हैं। ओज-तेज धारण करने वाली हैं। देवी ज्ञानस्वरूप हैं, ज्ञान के प्रकाश से दीप्त हैं। कर्मफल की प्राप्ति करवाने वाले शक्ति दुर्गा हैं। देवी असुरसंहारक हैं। श्री दुर्गासप्तशती में भी देवी के असुर संहारक रूप का विशद् वर्णन प्राप्त होता है।

देवी हृत्कमल के मध्य में निवास करने वाली, प्रातःकालीन सूर्य के समान प्रभा से युक्त, पाश और अंकुश धारणकरने वाली, मनोहर रूप वाली, वरद और अभयमुद्रा धारण किये हुये हाथों वाली, तीन नेत्रों से युक्त, लाल रंग का परिधान धारण करने वाली, कामधेनु के समान सभी भक्तों की मनोकामना पूरी करने वाली हैं।

देवी वाग्रूपिणी भगवती हैं। वाग्देवी के रूप में भी देव्यथर्वशीर्ष में देवी प्रतिष्ठित हैं। वे वाणी की देवता हैं। उनकी तुलना कामधेनु से की गयी है। वे अन्न तथा बल देने वाली हैं। कामधेनु समुद्रमन्थन में उत्पन्न दिव्य धेनु अर्थात् गौ है जिससे जो कुछ भी मांगा जाय वह प्राप्त होता है। यहाँ देवी भी सर्वमनोरथ पूर्ण करने वाली हैं।

इस संसार में जो कुछ भी जाना जा सकता है या नहीं जाना जा सकता है वह देवी ही हैं। रुद्र, वसु, आदित्य, विश्वेदेव के रूप में देवी ही हैं। इस संसार की आधारभूत शक्तियों मित्रवरुण, इन्द्र-अग्नि तथा अश्विनीकुमारों का भरण-पोषण देवी ही करती हैं। देवी ही सोम, त्वष्टा, पूषा व भग तथा विष्णु, ब्रह्मदेव व प्रजापति को धारणकरने वाली शक्ति हैं।

इसप्रकार यदि देखा जाय तो देवी का स्वरूप इस जगत् के स्वरूप से भी विस्तृत है क्योंकि जगत् उनसे ही है। वो सभी शक्तियों की अधिष्ठात्री हैं क्योंकि इस जगत् के धारक समस्त

देवताओं व शक्तियों को देवी की धारण करती हैं, उनका भरण और पोषण करती हैं।

इस रूप में देखें तो देवी का स्वरूप यहाँ सर्वशक्तिमान है। सृष्टि के समस्त, धारक, पालक, नियामक, सर्जक व संहारक तत्त्वों की आधार देवी ही हैं। सृष्टि उनसे ही है। स्थिति भी उनसे है तथा प्रलय भी उनसे ही है।

देवी जगदीश्वरी हैं। वे धन धारण करने वाली हैं। उपासकों को धन देने वाली हैं। यहाँ देवी महालक्ष्मीस्वरूपा हैं। वे आकाशादि तत्त्वों का आत्मस्वरूप पर ही निर्माण करने वाली हैं। अर्थात् स्वेच्छया ही जगत् की सृष्टि करने वाली हैं। जगत् की सर्जक वे ही हैं, जगत् सृजित उनपर ही है। देवी का स्थान आत्मस्वरूप को धारण करने वाली बुद्धिवृत्ति में है। इस रूप में देवी महासरस्वती हैं। देवी गुणों की साम्यावस्था हैं। सभी को अपने कर्तव्यपथ पर प्रवृत्त करने वाली कल्याणकारी प्रवर्तक शक्ति हैं।

देवी काल का भी विनाश करने वाली हैं। वे विष्णुशक्ति, शिवशक्ति व ब्रह्मशक्ति हैं। अर्थात् तीनों देवों की शक्ति उत्पत्ति, स्थिति व विनाश उनसे ही है। वे ही देवताओं की माता अदिति हैं तथा दक्ष की पुत्री सती हैं। देवी सभी का कल्याण करने वाली तथा सभी के पापों का नाश करने वाली हैं।

देवी ही अष्टवसु, एकादशरुद्र, द्वादश आदित्य, विश्वेदेव, यातुधान, असुर, राक्षस, पिशाच, यक्ष और सिद्ध हैं। देवी ही सत्त्व-रज-तम, ब्रह्म-विष्णु-रुद्रस्वरूपिणी हैं। वे ही प्रजापति-इन्द्र-मनु हैं, ग्रह-नक्षत्र-तारें हैं। देवी की कला-काष्ठादि कालरूपिणी हैं। वे पापनाशिनी, भोग तथा मोक्ष देनेवाली हैं। देवी का कोई अन्त नहीं है। देवी विजय की अधिष्ठात्री हैं। वे कल्याणदात्री व मंगलरूपिणी हैं। देवी इच्छा-ज्ञान-क्रिया और अद्वैत, अखण्ड, सच्चिदानन्द, समरसीभूत शिवशक्तिस्फुरण हैं। देवी चित्स्वरूपिणी महालक्ष्मी, सद्रूपिणी महासरस्वती, आनन्दरूपिणी महाकाली हैं।

वे अज्ञेया, अनन्ता, अलक्ष्या, अजा, एका व नैका हैं। वे ज्ञानों में चिन्मयातीता औत शून्यों में शून्यसाक्षिणी हैं। वे दुर्विज्ञेय हैं, संसार को तारने वाली हैं। देवी अविद्यानाशिनी ब्रह्मविद्या हैं।

2.3.3 देव्यथर्वशीर्ष में देवी एवं देवताओं का पारस्परिक सम्बन्ध

भारतीय ज्ञानपरम्परा में स्त्री व पुरुष तथा देवी व देवता में तात्त्विक एकता है। देव्यथर्वशीर्ष में समस्त देव महादेवी से उनका परिचय पूछते हैं। जिसक् उत्तर में देवी स्वयं को ब्रह्मस्वरूपिणी बताती हैं अर्थात् वे ब्रह्म का स्वरूप हैं। ब्रह्म इस जगत् के आदि रचनाकार हैं। इस अर्थ में देवी और ब्रह्म एक ही हैं। वे ब्रह्म का ही स्वरूप हैं। उनमें ऐक्य है। जिसप्रकार वाक्सूत में वाग्देवी रुद्रों व वसुओं के सूप में संचार करती हैं वैसे ही इस अथर्वशीर्ष में भी देवी कहती हैं कि रुद्रों व वसुओं के रूप में मैं ही संचार करती हूँ। मैं ही आदित्यों व विश्वेदेवों के रूप में विचरण करती हूँ। मैं ही मित्र और वर्ण दोनों का, इन्द्र और अग्नि तथा अश्विनीकुमारों का भरण-पोषण करती हूँ।

इस तरह देवी ही समस्त देवों का स्वरूप हैं। सबकी पालक व भरण-पोषण करने वाली हैं। देवी ही सोम, त्वष्टा, पूषा और भ् को धारण करती हैं। तीनों लोकों को तीन पगों में माप लेनेवाले विष्णु, ब्रह्मदेव व प्रजापत् को देवी ही धारण करती है। इसप्रकार इस चराचर जगत् की मूलाधार देवी ही हैं। समस्त देव उनसे ही हैं उनकी दैविक शक्ति भी उनसे ही है। इसीलिये महादेवी के मूलस्वरूप को जानकर श्रीदेव्यथर्वशीर्ष में समस्त देवों ने देवी को नमस्कार किया है तथा

नियमयुक्त होकर उनके प्रणाम की बात कही है।

इसी देव्यथर्वशीर्ष में कहा गया है कि प्राणरूप देवों ने जिस प्रकाशमान वैखरी वाणी को उत्पन्न किया, उसे अनेक प्रकार के प्राणी बोलते हैं। वह कामधेनुतुल्य आनन्ददाउअक और अन्न तथा बल देने वाले वाग्रूपिणी भगवती स्तुति से संतुष्ट होकर हमारे समीप आयें। यहाँ यह बात ध्यान देने योग्य है कि यहाँ प्राण के पांचों रूपों को देवे की संज्ञा दी गयी है। भाषा बोलने में, ध्वनि के उच्चारण में प्राणशक्ति अर्थात् श्वास का बहुत महत्त्व होता है। यहाँ वाग्रूपिणी भगवती वाग्देवी को प्राणरूप देवों द्वारा उत्पन्न बताया गया है। कहने का तत्त्पर्य यह है कि शक्ति के समग्र रूपों में स्त्रीत्व व पुंसत्व की परिकल्पना है। ये दोनों स्वरूप परस्पर आबद्ध व अवलम्बित तथा परस्पर इसप्रकार से लीन हैं कि तात्त्विक स्तर पर इनमें पूर्णतः अभेद की स्थिति है। इनके समस्त भेद व्यावहारिक स्तर के हैं और दृश्यजगत् के भेद हैं।

तात्त्विक रूप से देवी यहाँ शिवशक्त्यभेदरूपा, ब्रह्म-विष्णु-शिवात्मिका, सरस्वती-लक्ष्मी-गौरीरूपा, अशुद्ध-मिश्र-शुद्धोपासनात्मिका, समरसीभूत-शिवशक्त्यात्मक ब्रह्मस्वरूप का निर्विकल्प ज्ञान देनेवाली सर्वतत्त्वात्मिका महात्रिपुरसुन्दरी हैं।

इसप्रकार से देव्यथर्वशीर्ष में देवी व देवताओं में परस्पर अद्वयभाव है। अभेद की स्थिति है। देवताओं ने महादेवी के शक्तिस्वरूप को जानकर उनकी शक्तिरूप में प्रतिष्ठा की है। देवी और देव दोनों की लय दैवीय शक्ति में है। जिस शक्ति का अधिष्ठान स्वयं शक्तिस्वरूपा महादेवी दुर्गा हैं।

2.4 देव्यथर्वशीर्ष एवं स्त्रीतत्त्व

देव्यथर्वशीर्ष में महादेवी स्वयं स्त्री के तात्त्विक स्वरूप में उपस्थित हैं। यहाँ महादेवी स्वयं अपना परिचय दे रही हैं। यह परिचय ही उनके स्वरूप का उद्घाटन है। इसमें देवी ब्रह्मस्वरूपिणी हैं तथा अपने समग्र स्वरूप को अभिव्यक्त कर रही हैं। देवी यहाँ जगत् की अधिष्ठात्री हैं। वे कहती हैं कि ब्रहस्वरूपिणी हूँ, मैं ही सर्वस्व हूँ, मैं ही रुद्र, वसु, आदित्य, विश्वेदेव के रूप में विचरण करती हूँ। इन देवताओं के रूप में मैं ही प्रकाशित हूँ। कहने का तात्पर्य है कि महादेवी ही समस्त विश्वरूप को प्रकाशित करती है। इस प्रकार देवी का तात्त्विक आधार बहुत गुरुत्वपूर्ण है। शक्तिस्वरूपा देवी यहाँ सभी का भरण-पोषण करन् वाली, सभी को धारण करने वाली तथा सभी कार्यों का फल प्रदानकरने वाली हैं। महादेवी यहाँ तात्त्विक रूप से सबसे विशद् रूप में उपस्थित हैं। उनमें ही सभी उत्पत्तियाँ, सभी स्थितियाँ तथा किसी भी स्वरूप में होने वाला समस्त परिवर्तन व परिणाम सब कुछ समाहित है। महादेवी ही अश्विनीकुमारों का भरण-पोषण करनेवाली हैं। अश्विनीकुमार देवताओं के चिकित्सक हैं। स्त्रीतत्त्व के रूप में स्वयं अभिव्यक्त करती महादेवी के समस्त कथनों व कार्यों को यदि गहनता से देखा जाय और समाज में स्त्रीतत्त्व से अनेकस्तरीय साम्य दिखायी पड़ेगा।

देव्यथर्वशीर्ष में महादेवी 'ब्रह्मा-विष्णु-रुद्र' के रूप में समस्त जगत् की आधार हैं। जगत् के सम्पूर्ण प्रपंच अर्थात् कार्यों की कर्त्री महादेवी ही हैं। देवी सर्वव्यापी हैं। देवी की उपस्थिति परमात्मा के रूप में है, परब्रह्म के रूप में है। यहीं पर भारतीय ज्ञान परम्परा में स्त्री व पुरुष के तात्त्विक एकता के दर्शन होते हैं। यहाँ कर्ता, निर्माता एक ही नहीं है। सब कुछ एकांगी नहीं है। एक ही अनेक रूपों में भासित होता है। कोई सर्वशक्तिमान व कोई शक्तिहीन नहीं है। आदिशक्ति, सर्वोच्चशक्ति यदि देखा जाय तो स्त्रीतत्त्व के अधीन है तथा उसी रूप में विद्यमान

है इसीलिये सर्वस्व के अधिष्ठान-तत्त्व तथा समस्त क्रियाओं व रूपों का जिसमें लय हो जाता है उसे तात्त्विक रूप से स्त्रीरूप में वर्णित किया गया है।

देवी असुरों का वध करने वाली संहारकशक्ति हैं। कहने का तात्पर्य है कि किसी भी बुराई का प्रतिकार करने के लिये चेतना उत्पन्न करने का कार्य देवी द्वारा ही सम्पन्न होता है।

देवी 'राष्ट्री' हैं अर्थात् समस्त जगत् की धारकशक्ति हैं। यजन करने योग्य समस्त देवताओं में वे प्रमुख हैं। देवताओं ने उनका नमन करते हुये कहा है कि-

नमो देव्यै महादेव्यै शिवायै सततं नमः॥

देवी ही अष्टवसु, द्वादश आदित्य, एकादशरुद्र, विश्वेदेव, यातुधान, असुर आदि सभी हैं। वही ब्रह्मविष्णुरुद्ररूपिणी, प्रजापति-इन्द्र-मनु, ग्रह-नक्षत्र-ज्यितष, कलाकाष्ठादिकालरूपिणी हैं। देवी ही अनन्ता, विजया, शुद्धा, शरण्या, शिवदा व शिवा है। अपने सभी स्वरूपों में भुक्तिमुक्तिप्रदायिनी हैं। देवी का बीजमन्त्र सर्वार्थसाधक है। यह मन्त्र देवीप्रणव है ऊँकार के समान यह देवी प्रणव बीजमत्र भी व्यापक अर्थ से भरा हुआ है। देवी के इस बीजमन्त्र का अर्थ इच्छा- ज्ञान-क्रिया, अद्वैत, अखण्ड, सच्चिदानन्द, समरसीभूत, शिवशक्तिस्फुरण है।

देवी का नवार्णमन्त्र उपासकों को आनन्द और ब्रह्मसायुज्य देनेवाला है। देवी महाभय का नाश करने वाली हैं। महासंकट को दूर करने वाली हैं और करुणा की साक्षात् रूप हैं।

देवी का स्वरूप ऐसा है जिसे ब्रह्मा आदि भी नहीं जानते अर्थात् वे देवी अज्ञेया हैं। वे अनन्ता हैं। उनका कोई अन्त नहीं है। वे अजा हैं, अलक्ष्या हैं एका तथा नैका हैं। उनके ही अनेक रूप है सभी प्राणियों के रूप में।

देव्यथर्वशीर्ष में देवी के विषय में कथन है कि वे दुर्विज्ञेय हैं, दुराचारनाशक और संसारसागर से तारनेवाली हैं। देव्यथर्वशीर्ष का पाठ पापनाशक, संकटमोचक और भवसागर के आवागमन के बन्धन से मुक्त करने वाला है।

यहाँ देवी ही कारणरूप से सम्पूर्ण भूतरूप अर्थात् प्राणिरूप कार्यों का आरम्भ करती हैं। किसी कार्य उत्पत्ति हेतु कारण का होना आवश्यक है। कारण के विना कार्य सम्भव नहीं है। यहाँ देवी ने स्वयं को आदिकारण बताया है। जो कि भारतीय परम्परा में स्त्री का तात्त्विक स्वरूप की सबसे सुन्दर व सशक्त उपस्थिति व अभिव्यक्ति है। यहाँ महादेवी उसी प्रकार शक्ति के सर्वोच्चरूप में अभिव्यक्त हैं जिसप्रकार सांख्यदर्शन में प्रकृति की तात्त्विक उपस्थिति है।

देव्यथर्वशीर्ष में वर्णित देवी के स्वरूप का कालान्तर में भारतीय ज्ञान परम्परा में अनेक रूपों में विकास हुआ जिसका विकसित रूप हम सभी दर्शनों एवम् अन्य साहित्य में देखते हैं। दुर्गासप्तशती में देवी महाकाली, महालक्ष्मी और महासरस्वती का स्वरूप हो अथवा शास्त्र से लेकर लोक तक देवी की उपासना के प्रति कुलदेवी, ग्रामदेवी आदि रूपों में तत्परता का भाव हो सबका उत्स अथर्ववेद से सम्बद्ध इस देव्यथर्वशीर्ष में देखा जा सकता है। यदि यह कहा जाय स्त्रीतत्त्व के सभी शक्तिस्वरूपों का उत्स इस अथर्वशीर्ष में प्राप्त होता है तथा साथ ही यहाँ स्त्री व पुरुष के अद्भुत तात्त्विक एकता का दर्शन होता है तो अत्युक्ति न होगी। यहीं वर्णन व दर्शन ही भारतीय ज्ञान परम्परा में स्त्रीतत्त्व व पुरुषतत्त्व के तात्त्विक एकता का मार्ग प्रशस्त करता है जो आज तक विभिन्न रूपों में दिखायी पड़ती है।

2.4.1 हिन्दू चिन्तनधारा में स्त्री का तात्त्विक स्वरूप

तात्त्विक स्तर पर हिन्दू चिन्तनधारा में स्त्री व पुरुष के स्वरूप में कोई भेद नहीं है अपितु अभेद की स्थिति है। तत्त्वतः स्त्री व पुरुष दोनों एक ही हैं। इसीलिये यहाँ शिवशक्ति व अर्धनारीश्वर की कल्पना है। यहाँ व्यावहारिक स्तर पर भी स्त्री व पुरुष दोनों परस्पर एकदूसरे के पूरक हैं। दोनों का अपना पृथक् व समान महत्त्व भी है। स्त्री देवी तथा आदिशक्ति के रूप में समादृत है। वह महादेवी है, शक्तिस्वरूपा है। उत्पत्ति-स्थिति-संहार की शक्ति देवी अर्थात् स्त्रीतत्त्व में ही निहित है। सांख्यदर्शन की तत्त्वमीमांसा प्रकृति एवं पुरुष इन्हीं दो तत्त्वों पर आधारित है। वहाँ सृष्टि के आदि कारण के रूप में प्रकृति एवं पुरुष तत्त्व का वर्णन प्राप्त होता है। यहाँ स्त्री व पुरुष दोनों की तात्त्विक रूप से समान उपस्थिति है। भारतीय परम्परा में वर्तमान स्त्रीविमर्श के बिन्दुओं के अनुसार परस्पर बलाबल का भाव नहीं है। दोनों ही इस सृष्टि के सम-बल हैं, सर्वोच्चशक्ति हैं, सर्वस्व का अधिष्ठान हैं। भारतीय परम्परा में जिसप्रकार स्त्री शक्ति है, प्रकृति है, देवी है तथा पूज्या है, शक्तिस्वरूपा है, समस्त जगत् की अधिष्ठात्री है उसीप्रकार तात्त्विक रूप में पुरुष की भी स्थिति है।

2.4.2 हिन्दू चिन्तनधारा में स्त्री का सामाजिक स्वरूप एवं अवस्थिति

हिन्दू चिन्तनधारा में स्त्री की स्थिति सदैव, प्रत्येक काल में एक अन्तर्निहित शक्ति के रूप में रही है। इतिहास इस बात का साक्षी है कि जब पुरुषवर्ग हेतु कोई भी कार्य असम्भव लगा है, घोर संकट छाया है तब उसने स्त्री की ओर ठीक उसी प्रकार निहारा है जिसप्रकार असुरों का संहार हेतु देवताओं ने शक्तिस्वरूपा देवी की ओर निहारा था तथा देवी ने असुरों का संहार कर सभी का परित्राण किया था। इस रूप में हिन्दू चिन्तनधारा में स्त्री का सामाजिक स्वरूप व स्थिति अत्यन्त स्पष्ट है। हालांकि इस बात को नकारा नहीं जा सकता कि इतिहास के कुछ कालों में स्त्रियों की शिक्षा व सुरक्षा के प्रश्न उपस्थित होने पर स्त्रियों की स्थिति में गिरावट आयी तथा उनकी सीमाएं परिस्थितिवश संकुचित हुयीं। परन्तु इतनी विषम परिस्थितियों का सामना करते हुये भी हिन्दू चिन्तनधारा में स्त्रियों के शक्तिस्वरूप के प्रति मूल भाव व भावना में किसी भी प्रकार की न्यूनता नहीं आयी। इतिहास के विभिन्न कालखंडों में परिस्थितिवशात् स्त्रियों की स्थिति में आयी गिरावट व उनमें स्वयं के प्रति आया हीनता के भाव को दूर करने तथ स्वयं के शक्तिस्वरूप के अभिज्ञान हेतु हिन्दू चिन्तनधारा में स्त्री के मौलिक तात्त्विक रूप का दर्शन सहज ही सहायक होगा।

2.4.3 भारतीय परम्परा में स्त्रीतत्त्व विषयक चिन्तन

भारतीय ज्ञानपरम्परा व हिन्दू चिन्तनधारा के उत्स वेद हैं। ये वे आकरग्रन्थ तथा पूर्वजों की शेवधि हैं जिन्हें किसी भी प्रश्न के समाधान हेतु सर्वप्रथम प्रमाण माना जाता है। वैदिक चिन्तनधारा स्त्रियों व स्त्रीतत्त्व के विषय में बहुत सुदृढ़, सम्यक् व सम्पन्न है। वेदों में प्रकृति व जगत् के सर्वशक्तिमान रूपों की उपासना की गयी है। वहाँ स्त्रीतत्त्व अनेक रूपों में अपने विपुल शक्तिस्वरूप का उद्घाटन करता हुआ दिखायी पड़ता है चाहे वह ऋग्वेद का वाक्-सूक्त हो, उषस्-सूक्त, रात्रिसूक्त अथवा अथर्ववेद का पृथिवी सूक्त। अनेक मन्त्रों व सूक्तों के द्रष्टा के रूप में ऋषिकाओं का उल्लेख वैदिक स्त्रीचिन्तन की सद्स्थिति का परिचायक है। वेदों में जगदाधार तत्त्व के रूप में स्त्रीतत्त्व की उपस्थिति है। वैदिक ऋषि प्रकृतिमात्र के कृतज्ञता का भाव रखते हैं जिसके कारण आज भी प्रातः स्मरण में पृथ्वी को पैरों से स्पर्श करने पर क्षमा मांगी जाती है-

पादस्पर्शं क्षमस्व मे।

वेदों में स्त्रीतत्त्व विषयक अत्यन्त उन्नत चिन्तन प्राप्त होता है। वहाँ स्त्रीतत्त्व माता के रूप में है- **"माताभूमिः पुत्रोऽहं पृथिव्याः"** स्त्रीतत्त्व सभी के धारक आधार के रूप में है। इस जगत् के व्यवहार के आदिकारण के रूप में है।

2.4.4 देवी एवं स्त्रीतत्त्व

देव्यथर्वशीर्ष में देवी की ही स्तुति है। देवताओं द्वारा परिचय पूछे जाने पर वे अपने परिचय-कथन में अपना स्वरूपोद्घाटन करती हैं। ऋग्वेद के वाक्-सूक्त, उषासूक्त, रात्रिसूक्त तथा अथर्ववेद के पृथ्वीसूक्त व देव्यथर्वशीर्ष में देवी स्वयं स्त्रीरूप में उपस्थित हैं तथा स्वयं के गुणों को अभिव्यक्त कर रही हैं। यहाँ देव्यथर्वशीर्ष में महादेवी ने स्वयं को सर्वस्व का अधिष्ठान बताया है जो कि स्त्री के तात्त्विक स्वरूप के वर्णन का सर्वोच्च परिपाक है। स्त्री के तात्त्विक स्वरूप का ऐसा वर्णन भारतीय ज्ञानपरम्परा के आदिग्रन्थ ऋग्वेद से लेकर समस्त वैदिकसाहित्य व लौकिक साहित्य में उपलब्ध है। यह बात अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है तथा भारतीय परम्परा में स्त्रीतत्त्व विषयक उन्नत चिन्तन की परिचायक है। जिस संस्कृति के प्रारम्भिक ग्रन्थों में स्त्रीतत्त्व का वर्णन इतना विशद, व्यापक, उदात्त हो और जहाँ स्त्रीतत्त्व को उपस्थिति इतने अपरिहार्य रूप में हो उस चिन्तनधारा की समृद्धि का स्तर क्या होगा? भारतीय चिन्तन इस रूप में अत्यन्त समृद्ध है कि यहाँ आरम्भ से ही स्त्री व पुरुष में कोई तात्त्विक भेद नहीं माना गया है। दोनों को एक व पूरक माना गया है। दोनों ही इस सृष्टि के कर्ता और धारकतत्त्व है तथा दोनों की ही समान भूमिका है। 'शक्ति' अथवा 'बल' को कभी भी इतने स्थूल रूप में भारतीयचिन्तनधारा में नहीं देखा गया जैसे आजकल देखा जा रहा है। 'शक्ति' के अनेक रूप हैं तथा अनेक आयाम है। भारतीय दृष्टि में शक्ति बहुआयामी है। वह केवल स्थूल शारीरिक शक्ति अथवा शाब्दिक मनोविनोद की शक्ति नहीं है। यहाँ शक्ति की कल्पना उस आदिकारण के रूप में है जिससे यह समस्त जगत् उत्पन्न हुआ है तथा स्थित है व जिसमें इसका लय होता है। यहाँ शक्ति पोषक भाव में है। स्त्रीतत्त्व व पुरुषतत्त्व की स्थिति भी इसी रूप में है। इसप्रकार स्थूल रूप से सीमांकित शक्ति तथा बाह्य-इन्द्रियों द्वारा बिना किसी प्रयास के दृष्ट शक्ति भारतीय शक्ति की अवधारणा का एकांशमात्र भी नहीं है। शक्ति को तौलने की जो तुला आज प्रयुक्त हो रही है वह इस अर्थ में अत्यन्त हास्यास्पद है कि स्त्रीतत्त्व विषयक भारतीय चिन्तन का वह कण मात्र भी नहीं है। स्त्रीतत्त्व विषयक भारतीय चिन्तन का चित्र इतना समृद्ध व व्यापक है कि इसमें उस शक्ति के उस सर्वोच्च स्वरूप का प्रथमतः ही वर्णन प्राप्त होता है जहाँ तक आज के वैज्ञानिक व समाजवैज्ञानिक सीढ़ियाँ लगाकर भी नहीं पहुँच पाते हैं।

यदि देव्यथर्वशीर्ष पर ही दृष्टिपात किया जाय तो स्त्रीतत्त्व के प्रतिनिधि महादेवी यहाँ ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र की शक्तियों क्रमशः सृष्टि, स्थिति व संहार का धारक व कारक है। देवी ही अष्टवसु, द्वादश आदित्य, एकादसरुद्र, विश्वेदेव आदि जगत् की प्रकाशक शक्ति हैं। देवी ही यातुधान, असुर,राक्षस, पिशाच, यक्ष और सिद्ध हैं। देवी ही सत्त्व-रज-तम, ब्रह्म-विष्णु-रुद्रस्वरूपिणी है। वही देवी प्रजापति-इन्द्र-मनु, ग्रह-नक्षत्र-ज्योतिष हैं। देवी यहाँ विजय की अधिष्ठात्री हैं।

2.5 देव्यथर्वशीर्ष में प्रतिबिम्बित स्त्रीतत्त्व

भारतीय चिन्तनधारा में प्राप्त स्त्रीविषयक प्रारंभिक चिन्तन के अन्तर्गत देव्यथर्वशीर्ष को

परिगणित किया जा सकता है। इससे भारतीय ज्ञान परम्परा में स्त्री के तात्त्विक स्वरूप तथा उनके विकास को समझने में सहायता मिलती है। देव्यथर्वशीर्ष अथर्ववेद में वर्णित देवीस्तुति है जिसका पाठ पाँचों अथर्वशीर्ष अर्थात् गणपत्यथर्वशीर्ष, शिवाथर्वशीर्ष, देव्यथर्वशीर्ष, नारायणाथर्वशीर्ष, सूर्याथर्वशीर्ष के बराबर फलदायी है। अथर्वशीर्ष से तात्पर्य अथर्ववेद के शिरोभाग से है। देव्यथर्वशीर्षा पाँचों अथर्वशीर्षों का फल देने वाला है। यह बात महत्त्वपूर्ण है। यहाँ प्रकारान्तर से शक्ति का अधिष्ठान देव्यथर्वशीर्ष बताया गया है। पांचों अथर्वशीर्षों के पाठ का फल प्राप्त होना ही इस बात का संकेत है कि देव्यथ्रवश्ष अत्यन्त प्रतिष्ठित है और देवीतत्त्व का बहुत महत्त्व है। पंच-अथर्वशीर्ष में परिगणित होने के कारण यहाँ देवी की गणना पंचदेव के रूप में भी हुयी है। इन पंचदेवों की शास्त्रों में मान्यता पूर्णब्रह्म के रूप में है। भारतीय उपासन पद्धति पर यदि गौर किया जाय तो देखेंगे कि इन पंचदेवों को आधार व इष्ट बनाकर ही उपासना की पद्धतियाँ विकसित हुयी हैं। गणपति के उपासक गाणपत्य, शिव के उपासक शैव, शक्ति के उपासक शाक्त, विष्णु के उपासक वैष्णव तथा सूर्य के उपासक सौर कहे जाते हैं।

देवी-देवता के समस्त रूपों का अधिष्ठान अथर्वशीर्ष ही है। इस रूप में देव्यथर्वशीर्ष विशेष है क्योंकि इसकी उपासना से अन्य चारों की उपासना का भी फल प्राप्त हो जाता है। यहाँ परब्रह्म की ही अभिव्यक्ति पंच देवों के रूप में हुयी है और देवी भे उनमें से एक है यह बात देव्यथर्वशीर्ष के माध्यम भारतीय परम्परा में प्रतिबिम्बित स्त्रीतत्त्व के स्थान, स्वरूप, भाव, अभिव्यक्ति व सृष्टि का सार प्रस्तुत करता है।

इसरूप में देव्थर्वशीर्ष में स्त्रीतत्त्व का सुन्दर निरूपण प्राप्त होता है। यह वर्णन किसी भी स्त्री पर लागू होता है। देवी जिन शक्तियों की अधिष्ठात्री हैं वस्तुतः एक इकाई के रूप में स्त्रीसामान्य भी उन शक्तियों से युक्त है। बस बात है उन्हें जानने, पहचानने व उनके प्रत्यभिज्ञान की।

2.5.1 भारतीय संस्कृति में स्त्रीत्व एवं पुरुषत्व की अवधारणा व अवस्थिति

जैसा कि विदित है कि अथर्वशीर्ष के रूप में पाँच अथर्वशीर्ष साधक वर्ग व समाज में प्रसिद्ध हैं। जिसमें से देव्यथर्वशीर्ष एक है। भारतीय दर्शन की शाक्त परम्परा स्वयं को देव्यथर्वशीर्ष से जोड़ती है तथा शक्ति की आराधना का एक सुदृढ़ व सुव्यवस्थित मार्ग प्रशस्त करती है। देवी भारतीय दर्शन की प्रत्येक परम्परा में हैंपरन्तु देवीरूप का प्राध्यान्य व परमोत्कर्ष शाक्तपरम्परा में दिखायी पड़ता है। जहाँ देवी ही सर्वस्व हैं, सर्वाधार हैं। भारतीय ज्ञान परम्परा व साधना पद्धति में साधना के क्रमिक विकास के अन्तर्गत देवी व देवता दोनों तत्त्वों का सोपान दृष्टव्य है। उच्च व उन्नत अवस्था में दोनों में व्याप्त स्थूलस्तरीय भेद समाप्त हो जाता है तथा परस्पर लय की स्थिति उत्पन्न होती है। यही तात्त्विक अभेद की स्थिति होती है।

स्त्री व पुरुष की यही तात्त्विक एकता ही भारतीय संस्कृति का आधार है। इस रूप में कभी कोई संघर्ष नहीं है। स्त्री व पुरुष के स्थूल लैंगिक भेद को लेकर उत्पन्न सभी मत अन्य संस्कृतियों के प्रभाववश आधुनिक विमर्श की व्युत्पत्ति मात्र हैं। भारतीय संस्कृति में शिव शक्ति से भिन्न नहीं है और न ही शक्ति शिव से भिन्न हैं। दोनों समान रूप से उपस्थित हैं। यहाँ आधुनिक तथाकथित विमर्श जनित वैमनस्य अथवा बलाबल का भाव नहीं है अपितु दोनों सर्वशक्तिमान हैं। यहाँ शक्ति का उर्ध्वाधररूप भी नहीं है जहाँ पर शक्ति के माप के पैमाने में कोई एक ही शीर्ष पर होता है। यदि इस रूप में विश्लेषित किया जाय तो शक्ति की कल्पना यहाँ क्षैतिज है जिसमें कोई उच्च-नीच व पूर्वापर की भावना नहीं है।

देव्यथर्वशीर्ष में देवी स्वयं ब्रह्मा, विष्णु व रुद्र के रूप में हैं। अश्विनीकुमारों का भरण-पोषण भी वही करती हैं। राष्ट्र का आधार भी वही है। इसप्रकार यदि देखा जाय तो वस्तुतः भरण-पोषण व समस्त कार्यों के संचालन की प्रत्यक्ष व परोक्ष शक्ति स्त्रियों के पास ही होती है। स्त्री अपने विभिन्न रूपों में समाज व जगत् के समस्त तत्त्वों तथा समस्त जगत् को प्रभावित करती है तथा उनके व्यवस्थापन व विखंडन में भी उसी का योगदान है। स्त्रीतत्त्व के विना जगत् की कल्पना भी नहीं हो सकती।}

आज जब स्त्रीविमर्श का वैश्विक स्वरूप हमारे समक्ष है जिसमें स्त्री और पुरुष दोनों को कारागार में आमने-सामने खड़ा करके सन्दर्भानुसार किसी को बलवान व किसी को बलशून्य सिद्ध किया जा रहा है। तो ऐसी स्थिति पर सूक्ष्मता से अध्ययन पर यही ज्ञात होता है कि समाज द्वारा स्त्रीतत्त्व की उपेक्षा तथा स्त्रियों द्वारा आत्मशक्ति का विस्मरण ही इसके मूल में है। भारतीय परम्परा में तो स्त्री निर्मात्री है, स्त्री सर्वाधार है, सर्वस्व है। स्त्रियों द्वारा स्वयं के निर्मात्री स्वरूप को विस्मृत कर देना ही इन भ्रामक विमर्शों के मूल में है। इसीलिये आज स्त्री व पुरुष के तात्त्विक एकता को उद्घाटित व व कर स्त्रियों में आत्मशक्ति का प्रत्यभिज्ञान अत्यन्त आवश्यक है। इस आत्मशक्ति प्रत्यभिज्ञान स्त्री-पुरुष के मध्य तात्त्विक एकता के पुनर्प्रतिपादन व आधुनिक सामाजिक विचारों में प्रतिष्ठापन से अनेक आसन्न सामाजिक संकटों का निवारण होगा तथा रचनात्मकता की नवीन धारा का सूत्रपात होगा।

2.5.2 भारतीय संस्कृति देवी एवं देवता की अवधारणा व अवस्थिति

भारतीय ज्ञान परम्परा आदिकाल से ही सर्वोच्च तत्त्व को मानती आयी है। विभिन्न रूपों में उसकी साधना करती आयी है। ऋषियों ने जगत् को किसी भी रूप में प्रकाशित करने वाले, शक्तिसम्पन्न बनाने वाले तथा जगत् के व्यवहार में सहायक तत्त्वों को देवी व देवता की संज्ञा दी है। अतः शक्ति के अधिष्ठान व जगत् के प्रेरक तत्त्व के रूप में भारतीय ज्ञान परम्परा में देवी व देवता दोनों में पार्थक्य नहीं अपितु ऐक्य है। परमावस्था में दोनों में तात्त्विक रूप से एक है। दोनों का लय हो जाता है जहाँ कोई भेद रह ही नहीं जाता। ब्रह्म अक्षर है, अविनाशी है, लिंगरहित है तथा किसी भी प्रकार के विकार से रहित है। स्त्री के भी तात्त्विक स्वरूप की उच्चावस्था व पुरुष के तात्त्विक स्वरूप की उच्चावस्था ब्रह्मावस्था जैसी ही है। जहाँ कोई नाम-रूप-भेद आदि नहीं है अपितु अभेद है। वहाँ कोई नामरूप नहीं है। इसप्रकार भारतीय परम्परा में देवी व देवता ऐसी शक्तियां हैं जो शक्ति के रूप में तात्त्विक स्तर पर एक हैं। दोनों में अद्वयभाव है। यही अद्वयभाव स्त्रीविषयक भारतीय चिन्तन का मूल है । आज इस मूल को समझने, जानने तथा तदनुसार व्यवहार करने की आवश्यकता है।

2.5.3 हिन्दू परम्परा में शास्त्र एवं लोक की ज्ञानात्मक व व्यवहारात्मक एकता

हिन्दूपरम्परा में शास्त्र और लोक की ज्ञानात्मक व व्यवहारात्मक एकता है। स्त्रीतत्त्व के सन्दर्भ में भी यही एकता दिखायी पड़ती है। शास्त्र द्वारा प्रतिष्ठित देवी-देवताओं का कालान्तर मेंविभिन्न लौकिक देवी-देवताओं के रूप में विकास भारतीय परम्परा में दिखायी देता है। कोई भी घर अथवा गाँव ऐसा नहीम् है जहाँ किसी न किसी स्थानीय देवी-देवता के पूजा-आराधना का चलन न हो। यदि भारत के विभिन्न प्रान्तों, गिरि-गह्वर आदि में रहने वाले निवासियों तक पर दृष्टिपात किया जाय तो पग-पग पर देवत्व के दर्शन होते हैं। जिनके अनेक नाम और अनेक रूप

हैं। यदि गहनता से देखा जाय तो उनकी परम्परा किसी न किसी वैदिक देवता से जाकर जुड़ती हैं और शक्तियाँ भी वही हैं जो देवी व देवताओं की हैं। अनेक स्थानों पर एक ही स्थान की पूजा कुछ लोक देवता के रूप में उसके पुरुष स्वरूप में करते हैं और कुछ लोग देवी के रूप में स्त्रीस्वरूप में। जहाँ देवताओं की स्थापना ह्जोती है वहाँ देवी की उपस्थिति किसी न किसी रूप में अपरिहार्य है और जहाँ देवी की उपासना होती है वहाँ प्रायः किसी देवता की उपस्थिति होती ही है। नवरात्र में शक्ति के आराधनोत्सव में कन्यापूजन में एक बटुक भी रहता है। इसप्रकार भारतीय शास्त्र तथा लोक तात्त्विक रूप से उन्नत चिन्तन की अवस्था में देवी व देवता में होई भेद नहीं देखता। वेद-उपनिषदादि शास्त्रों में स्त्री व पुरुष की जो तात्त्विक एकता दिखायी पड़ती है। वही तात्त्विक एकता हिन्दू आश्रमव्यवस्था, षोडशसंस्कार तथा विभिन्न पूजापद्धतियों में भी दिखायी पड़ती है। जिसप्रकार शक्ति के विभिन्नरूपों का वर्णन व उसकी उपासना शास्त्र करते हैं उसीप्रकार लोक भी उसकी उपासना करता है। वह विभिन्न अवसरों पर स्त्री व पुरुष दोनों की शक्ति के रूप में उपासना करता है। देवी व देवता के रूप में इसी शक्ति के स्त्री व पुरुषस्वरूप की उपासना की जाती है और अनेक अवसरों पर दोनों स्वरूपों का लय भी देखा जाता है। भारतीय परम्परा का आदर्श अधिष्ठान गृहस्थाश्रम के रूप में है इसमें प्रवेश का मार्ग विवाह-संस्कार है। इस संस्कार को शक्ति के ऐक्य की कामना के साथ सम्पन्न किया जाता है और इस आश्रम में स्त्री व पुरुष दोनों की अपरिहार्यता है तथा दोनों के शक्ति-समन्वय द्वारा जगत् का मार्ग प्रशस्त करने का दायित्व भी इसी आश्रम पर है।

इसप्रकार हिन्दू परम्परा में शास्त्र व लोक के बात व व्यवहार में कोई तात्त्विक भेद नहीं है।

2.5.4 देव्यथर्वशीर्ष में प्रतिबिम्बित स्त्रीतत्त्व

देव्यथर्वशीर्ष अथर्ववेद के शीर्ष के रूप में स्थित होकर अथर्ववेद के अन्तिम भाग के रूप में वर्णित है। यहाँ शक्ति के सबसे प्रभावी व सशक्त रूप की उपासना की गयी है। देवी को देखकर देवताओं द्वारा पूछे गये परिचय के उत्तर में संवाद द्वारा यह अथर्वशीर्ष प्रारम्भ होता है। जिसमें देवी अपने गुणों व शक्तियों को अभिव्यक्त करती हैं। जिसको जानकर देवता उन्हें प्रणाम करते हैं तथा ऋषि आगे देवी की महिमा का गान करते हुये देव्यथर्वशीर्ष के पाठ का फल बताते हुये अथर्वशीर्ष को पूर्ण करते हैं।

यहाँ प्रथमतः प्रश्नकर्ता देवता हैं पुनः वक्ता देवी है तथा श्रोता देवता। आगे ऋषि का वक्तव्य है। इस समस्त कथोपकथन में देवी की महिमा का गान ही निहित है। देवी यहाँ राष्ट्री हैं, विश्व की अधिष्ठात्री हैं। यहाँ परिलक्षित स्त्रीतत्त्व भारतीय परम्परा में स्त्री के सर्वोच्च स्थिति तथा उसके प्रति सर्वोच्च भावों की अभिव्यक्ति है। वैदिक साहित्य से ही स्त्रीतत्त्व के प्रति एक उच्च व उदात्त भाव भारतीय परम्परा में ओतप्रोत है। यही कारण है कि यहाँ शक्ति एकांगी नहीं है और न ही उसका नियन्त्रण एकपक्षीय है। यहाँ शक्ति उत्पत्ति, स्थिति व संहार तीनों रूपों में है। शक्ति का सात्त्विक स्वरूप यही है और इसी की आराधना भारतीय ज्ञान परम्परा का मूल है। देव्यथर्वशीर्ष में स्त्रीतत्त्व का जो उत्कर्ष स्वरूप उद्घाटित हुआ है वह स्त्री मात्र को गौरवान्वित करने वाला है तथा सम्प्रति हो रहे समस्त समाजभेदक व परिवारविभंजक स्त्रीविमर्श को तार-तार करने वाला है। इसमें परिलक्षित स्त्रीतत्त्व के प्रति चिन्तन ही स्त्रियों के प्रति उदात्त भावना का स्फुरण कराने वाला तथा स्थितियों में सुधार लाने वाला है। जब किसी तत्त्व के समस्त गुणों से समाज अवगत होता है तथा उसकी प्रतिष्ठा के अर्थ को जानता है तब उसके प्रति दृष्टि में सहज परिवर्तन होता है। इसप्रकार देव्यथर्वशीर्ष स्त्रीतत्त्व सहित स्त्रीमात्र के लिये

दृष्टिपरिवर्तनकारी परमसाक्ष्य है जिसका अंशमात्र ज्ञान भी व्यक्ति में अतुलनीय गौरवभाव का उदय करवाने वाला है।

2.6 सारांश

इसप्रकार देव्यथर्वशीर्ष भारतीय परम्परा के स्त्रीविषयक चिन्तन का आकर अभिलेख है। यह वह साक्ष्य है जो मानवता के माथे पर चन्दन तिलक की भांति सुवासित तथा सूर्यप्रभा की भांति प्रकाशित है। इस सांस्कृतिक तत्त्व के चिन्तन मात्र से ही ही लोक में फैलाये गये स्त्रीविमर्शविषयक समस्त बलाबलात्मक विषों का शमन सम्भव है। देव्यथर्वशीर्ष में प्रतिबिम्बित देवी का शक्तिस्वरूप स्वतः ही भारतीय परम्परा में स्त्रियों की उन्नत स्थिति का परिचायक है। देवी के शक्तिस्वरूप के माध्यम से भारतीय चिन्तन में स्त्री-पुरुष विषयक तात्त्विक एकता के आंशिक ज्ञान से ही शताब्दियों से विभिन्न कलुषों के भार से निमीलित नयनों का उन्मीलन सम्भव हो सकता है और स्त्रीविषयक समस्त हीनभावनायें ध्वस्त हो सकती हैं।

देव्यथर्वशीर्ष का भारतीय ज्ञानपरम्परा व साधना पद्धति में बहुत महत्त्व है। साधना का लौकिक पक्ष में पक्ष देव्यथर्वशीर्ष की प्रधान उपस्थिति है। इसके अध्ययन एवम् इसमें निहित चिन्तन व वैदिक ऋषियों की दृष्टि को जानकर न केवल भारत की वर्तमान आध्यात्मिक व आत्मिक चेतना को विकसित किया जा सकता है अपितु विश्व की भी चेतना का मार्ग प्रशस्त किया जा सकता है।

2.7 पारिभाषिक शब्दावली

- **पंच-अथर्वशीर्ष-** गणपत्यथर्वशीर्ष, शिवाथर्वशीर्ष, देव्यथर्वशीर्ष, नारायणाथर्वशीर्ष, सूर्याथर्वशीर्ष
- **एकादश रुद्र**-ग्यारह रुद्र- अजैकपाद, अहिर्बुध्न्य, विरूपाक्ष, रैवत, हर, बहुरूप, त्र्यम्बक, सावित्र, जयन्त, पिनाकी, अपराजित (पुराणों के अनुसार)
- **द्वादश आदित्य-** कश्यप की पत्नी अदिति से जन्में वारह पुत्रों को द्वादशादित्य कहा जाता है।
- **अश्विनीकुमारौ-** देवताओं के चिकित्सक, युगल देवता
- **अष्टवसु-** माना जाता है कि अष्टवसु का जन्म दक्षपुत्री धर्म की पत्नी वसु से हुआ था इसीलिये ये अष्टवसु कहलाये जिनके नाम क्रमशः हैं- आप, ध्रुव, सोम, धर, अनिल, अनल, प्रत्यूष और प्रभाष (हरिवंश पुराण)
- **यातुधान**-एक प्रकार के राक्षस
- **सत्त्व-रज-तम-** तीन गुण जिनकी विषमावस्था से सृष्टि और साम्यावस्था से प्रलय होती है।
- **रुद्र-** शिव
- **प्रजापति**- ब्रह्मा
- **विजयाधिष्ठात्री-** विजय को धारण करने वाली।

2.8 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

- *अथर्ववेद का सुबोध भाष्य*, , प्रथम भाग, श्रीपाद दामोदर सातवलेकर, स्वाध्याय मण्डल, पारडी, 1985
- अमरकोश, श्री वेंकटेश्वरप्रेस, मुम्बई, संवत, 1970
- ईशादि नौ उपनिषद्, गीताप्रेस गोरखपुर, संवत् 2010
- *ऋग्वेदसंहिता*, वैदिक संशोधन मण्डल, पूना, 1941
- *पंचदेव-अथर्वशीर्ष-संग्रह,* गीतीप्रेस, गोरखपुर, संवत् 2070
- पुराणविमर्श, आचार्य बलदेव उपाध्याय, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, द्वितीय संस्करण, 1978
- भारतीय संस्कृति और साधना (दो खण्डों में), महामहोपाध्याय श्री गोपीनाथ कविराज, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, 2009
- *यजुर्वेद का सुबोध भाष्य*, प्रथम भाग, श्रीपाद दामोदर सातवलेकर, स्वाध्याय मण्डल, पारडी
- *श्रीदुर्गासप्तशती,* गीताप्रेस गोरखपुर, 2015
- *श्रीमद्देवीभागवतपुराण* (प्रथमखण्ड), गीताप्रेस गोरखपुर, प्रथम संरकरण, सं. 2067
- *शतपथ ब्राह्मण,* प्रथम काण्ड, श्रीवेंकटेश्वर प्रेस, मुम्बई, संवत् 1983
- *श्रीसाधना रहस्य* (दो खंडों में), महामहोपाध्याय श्री गोपीनाथ कविराज, भारतीय विद्या प्रकाशन, वाराणसी, 2021
- *सामवेद का सुबोध भाष्य*, प्रथम भाग, श्रीपाद दामोदर सातवलेकर, स्वाध्याय मण्डल, पारडी
- *सांख्यकारिका*, अनु. व व्या. राकेश शास्त्री, परिमल प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संरकरण, 1998
- *वाचस्पत्यम्*, श्री तारानाथ तर्कवाचस्पति , राष्ट्रीय संस्कृत संस्थान, नयी दिल्ली- 2006
- *वैदिक सूक्त संग्रह*, गीताप्रेस, गोरखपुर

2.9 बोध प्रश्न

क) दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. देवी के भिन्न रूपों पर प्रकाश डालिये।
2. भारतीय परम्परा में देवी-उपासना के सन्दर्भ में देव्यथर्वशीर्ष एक निबन्ध लिखिये।
3. अथर्वशीर्ष से क्या तत्त्पर्य है? देव्यथर्वशीर्ष का महत्त्व बताइये।
4. देव्यथर्वशीर्ष के अनुसार शक्ति के स्वरूप पर प्रकाश डालिये।
5. भारतीय समाज में स्त्रियों की स्थिति का प्रसंगानुसार विश्लेषण कीजिये।

ख) लघु उत्तरीय प्रश्न

1. देव्यथर्वशीर्ष में देवी का तात्विक रूप क्या है।
2. पंच-अथर्वशीर्ष का नामोल्लेख करें।
3. देव्यथर्वशीर्ष के अनुसार स्त्रीतत्त्व पर प्रकाश डालें।
4. देव्यथर्वशीर्ष के आलोक में स्त्री-पुरुष की तात्त्विक एकता पर लघु टिप्पणी लिखें।
5. देव्यथर्वशीर्ष एवं वर्तमान शक्ति-उपासना पर टिप्पणी करें।

इकाई 3 शंकराचार्य विरचित सौन्दर्यलहरी में स्त्री तत्त्व की अभिव्यक्ति

इकाई की रूपरेखा

3.0 उद्देश्य

भगवत्पाद शंकराचार्य विरचित सौन्दर्यलहरी में स्त्री तत्त्व की अभिव्यक्तिविषय पर केन्द्रित इस इकाई के अध्ययन के बाद आप–

- भगवत्पाद शंकराचार्य जी के बौद्धिक योगदान से परिचित होंगे।
- उनके योगदान के रूप में प्राप्त सैन्दर्यलहरी नाम के इस स्तोत्र से परिचित हो सकेंगे।
- इस इकाई के अध्ययन के उपरान्त आप सौन्दर्यलहरी के महत्त्व से परिचित हो सकेंगे।
- इस इकाई के अध्ययन के बाद आप स्त्री तत्त्व की महिमा से सम्बन्धित सभी विषयों को भी समझ सकेगें।
- इस इकाई के अध्ययन के बाद आप स्त्री तत्त्व की श्रेष्ठता को समझ सकेगें।

- इस इकाई के अध्ययन के बाद आप यह जान सकेगें कि किस प्रकार स्त्री तत्त्व की उपस्थिति में ही सम्पूर्ण विश्व संचालित है।
- इस इकाई के अध्ययन के बाद आप यह भी जान सकेगें कि किस प्रकार श्रीविद्या की परम्परा आगे बढ़ी और श्रीयन्त्र का निर्माण हुआ।
- इस इकाई के अध्ययन के बाद आपका परिचय भारतीय विद्या के अन्य तत्त्वों से भी होगा।

3.1 प्रस्तावना

आचार्य शंकर का मुख्य विषय अद्वैत रहा है। उनका यह सिद्धान्त वैदिक मन्त्र दृष्टा ऋषियों की अन्तश्चेतना में विद्यमान ज्ञान का ही स्वरूप है। प्रस्थान त्रयी अर्थात् उपनिषद्, श्रीमद्भगवद्गीता और ब्रह्मसूत्र पर भगवत्पाद शंकराचार्य द्वारा किये गये भाष्य ब्रह्मके स्वरूप का निर्धारण करते हैं। ऋषि, जड़–चेतन स्वरूप जगत् के पीछे एक तत्त्व का निर्धारण करते हैं। ऐसे अनेक मन्त्र वेद में बिखरे हुये हैंजहां पर यह मत प्रतिपादित है कि सृष्टि का आदि कारण ब्रह्महै। **देवता ही ब्रह्मकी क्रिया शीलता है।** वेद का मुख्य विषय सृष्टि विद्या है। स्वतः प्रवाहित होने वाली सृष्टि कैसे शाश्वत रूप में प्रवाहित हो रही है जबकि बाहर से ब्रह्मकुछ नही लेता। वह सबका कारण है, उसका कोई कारण नही है। वह नित्य है। उसके उसी स्वरूप के वर्णन का दर्शन हमे सौन्दर्यलहरी में दिखाई देता है।

3.2 सौन्दर्यलहरी की आधारभूमि

सौन्दर्यलहरी भगवत्पाद शंकराचार्य द्वारा प्रतिपादित अद्वैत सिद्धान्त पर ही आधारित है । उपनिषद् के पश्चात् इस ग्रन्थ में अद्वैत को और सुदृढ़ किया गया है। वैदिक मन्त्रों की व्याख्या के रूप में उपनिषद् ब्रह्मके स्वरूप पर प्रकाश डालता है। सौन्दर्यलहरी ब्रह्मकी शक्ति का परिचायक है। प्रत्येक श्लोक का स्वरूप वस्तुतः मन्त्रात्मक है अर्थात् श्लोक में मन्त्रों के रहस्य को खोला गया है। वेद के जो मन्त्र सृष्टि की रचना के विषय में चर्चा करतेहैं उनमे मुख्य रूप से नासदीय सूक्त, पुरुष सूक्त एवं हिरण्यगर्भ आदि सूक्त हैं।

सौन्दर्यलहरी में यह प्रस्तुत किया गया है कि–उस परम से देवता और मनुष्य अथवा ब्रह्माण्ड में जो कोई भी वस्तु है, वह सब में व्याप्त है। कहने का तात्पर्य यह है कि अव्यक्त में व्यक्त छिपा हुआ है। वेद के मन्त्रों का रहस्य सर्वप्रथम ब्राह्मण ग्रन्थ खोलते हैं। उसके पश्चात् आरण्यक और फिर उपनिषद्। उसी तरह भगवत्पाद शंकराचार्य द्वारा रचित यह सौन्दर्यलहरी मन्त्रों के रहस्य को भी उद्घटित करती है।

3.3 सौन्दर्यलहरी की महत्ता

इस ग्रन्थ की सबसे बड़ी विशेषता सगुण और निर्गुण ब्रह्मकी उपासना है। दोनों में कोई भेद नहीं है। ब्रह्मका सौन्दर्य जगत् में कैसे व्याप्त है , उसको शक्ति के माध्यम से भगवत्पाद व्यक्त करते हैं। वह शक्ति ब्रह्मसे कहीं भी भिन्न प्रतीत नही होती। यही इस ग्रन्थ का सौन्दर्य है। ब्रह्मऔर उसकी शक्ति में अभेदात्मक सम्बन्ध है। ब्रह्मप्रकाश है, क्रिया कार्य करती है। ब्रह्मसे अतिरिक्त कोई देश काल नही है।जीवात्मा यदि कारण में प्रवेश करेगा तो उसका जीवत्व समाप्त हो

जायेगा जैसे घड़ा मृत्तिका में प्रवेश करने पर अपना घटत्व त्याग देता है। आचार्य शंकर की दृष्टि में ब्रह्मसृष्टि का निमित्त और उपादान दोनों कारण है। कुम्हार और मृत्तिका दोनों स्वयं वही है।

3.4 सौन्दर्यलहरी में शिव और शक्ति तत्त्व

भगवत्पाद अपने मन्त्रमय शरीर द्वारा अपने अन्तःकरण में ऋषियों के मन्त्र रहस्य को, अपने तपोबल से ब्रह्मके दर्शन में **शक्ति**का अनुभव करएक स्त्री का स्वरूप अवतरित कर देते हैं। सृष्टि की प्रक्रिया में इस शक्ति का विशेष कार्य है। कन्या से लेकर माता तक का सम्बोधन किया गया है। इस ग्रन्थ का मूल तत्त्व अथर्ववेद के एक मन्त्र में भी देखा जा सकता है जहां मन्त्र में वेदमाता का सम्बोधन है–

> **स्तुतामया वरदा वेदमाता प्रचोदयन्तां पावमानी द्विजानाम्।**
> **आयुः प्राणं प्रजां पशुं कीर्तिं द्रविणं ब्रह्मवर्चसम्।।**
> **मह्यं दत्त्वा ब्रजतु ब्रह्मलोकम्।।** अथर्ववेद 19. 71.1

शक्ति के स्वरूप का वर्णन हमें ऋग्वेद के नासदीय सूक्त में भी प्राप्त होता है। जहां स्पष्ट रूप से सृष्टि के पूर्व में नामरूपात्मक सत्ता का निषेध है।**न असत् आसीत्** के द्वारा जिस असत् का निषेध किया गया है वह शषविषाण नही था क्योंकि उसी से सत् की उत्पत्ति होती है। यदि शशविषाण होता तो उससे सृष्टि असम्भव थी। असत् ब्रह्मका परिचायक है। **असद् वा इदमग्र आसीत्**। सत् का तात्पर्य नामरूप अवस्था से है। इसी मन्त्र में **नासीद्रजो** की व्याख्या में निरुक्तकार यास्क **लोका रजांस्युच्यन्ते**करते हुये एकवचन का प्रयोग करते हैं अर्थात् सृष्टि की प्रलयावस्था में लोकों की सत्ता नही थी। सृष्टि अपने मूल कारण में समाविष्ट थी। चतुर्दश भुवन का भी निषेध है। एक और मुख्य व्याख्या इसी मन्त्र में **किमावरीयः** पद के रूप में है। जब कोई असीम तत्त्व सत्ता में आता है तो वह ससीम हो जाता है। असीम को ससीम बनाने वाला कोई आवरण होना चाहिये। इस मन्त्र में उस आवरण का भी निषेध है।

नासदीय सूक्त के दूसरे मन्त्र में वर्णन है कि –

> **नमृत्युरासीदमृतं न तर्हि न रात्र्या अन्ह असीत् प्रकेतः ।**
> **आनीदवातं स्वधया तदेकं तस्माद्धन्यन्न परः किं चनास ।।**

आनीद् अर्थात् सांस ले रहा था लेकिन **अवातं, वायु नही थी**। वह **स्वधया**– अपनी इच्दा शक्ति से सांस ले रहा था। मन्त्र में तत्शब्द ब्रह्मतत्त्व के लिये प्रसिद्ध है। **एकं तस्मात्** –एक उससे , **अन्यत् – अलग, न परः किं चनास**– बढ़कर के कुछ भी नही था अर्थात् प्रलयावस्था में सृष्टि के सभी त्त्वों का अभाव था। एक ही परात्पर विना वायु के भी अपनी इच्छा शक्ति से श्वास ले रहा था। उस ब्रह्म के अतिरिक्त कुछ भी नही था परन्तु सृष्टि उसके अन्दर समाविष्ट थी। वह पूर्ण है। उसकी सर्जना शक्ति जिसे **स्वधा** कहा गया है। वह भी उसके अन्दर ही थी। यही ब्रह्म की आदि शक्ति है। आगम शास्त्र के ग्रन्थों में माया, **महामाया** आदि ब्रह्म की शक्ति कही गयी हैं।

यही भगवत्पाद शंकराचार्यकृत सौन्दर्यलहरी के प्रथम श्लोक में प्रयुक्त **शिवः शक्त्यायुक्तो** की व्याख्या है। शिव यहां परम तत्त्व के रूप में हैं। यही शिव की

शिवा, विष्णु की लक्ष्मी, सूर्य की प्रभा आदि हैं।अतीत, अनागत और वर्तमान में जो जगत् है, यह उसी पुरुष की अपनी सामर्थ्य विशेष से है। यह उसका वास्तविक स्वरूप नही है। यह परम उससे भी बढ़कर है। उसके एक चतुर्थांश में लोक है। इसका तीन चतुर्थांश जो अमृत है वह द्युलोक में है। यह जगत् ब्रह्म के स्वरूप से अत्यल्प है।

एतावानस्य महिमातो ज्यायांश्चपुरूषः।
पादोऽस्यविश्वाभूतानि त्रिपादोऽस्यामृतं दिवि ।।

परमार्थ सत्य एकमात्र ब्रह्महै। ब्रह्म में किसी प्रकार का परिणाम नही होता फिर भी उसकी कामना है– मै बहुत हो जांउ । **सोकामयत् बहुस्यां प्रजायेयेति। स तपो तप्यत्**।ब्रह्मइच्छा करने में स्वतन्त्र है क्योंकि वह सर्वदृक् है। यही आचार्य शंकर का सौन्दर्यलहरी में प्रमुख प्रतिपाद्य है। इस ग्रन्थ का प्रारम्भ परब्रह्मकी आराधना शक्ति के रूप में प्रारम्भ करते हैं। सार यही है कि परब्रह्म और उसकी शक्ति में भेद नही है। इसमे सदैव अभेदात्मक बुद्धि रखनी चाहिये।

उपर्युक्त सभी कथनों से यही घोषणा है कि शक्ति और शक्तिमान में भेद नही है। उसका प्रवेश सभी योनियों में है। जगत् व्यवहार के लिये है। शक्ति सम्पूर्ण जगत् का कारण है। शक्तिमान की शक्ति उसी के अधीन है। जो भिन्नता दिखाई देती है वह व्यावहारिक है। शक्तिमान में सर्वप्रथम इच्छा का ही प्रादुर्भाव होता है फिर वह क्रिया एवं ज्ञान का रूप धारण कर लेती है। इच्छा क्रिया एवं ज्ञान के रूप में वह व्यक्त होता है, परन्तु शक्ति एक है।इसी शक्ति को स्त्री तत्त्व के रूप में एक सुन्दर स्वरूप प्रस्तुत करते हैं। यह अनुभव होता है कि सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड की संरक्षिका शक्ति स्त्री के रूप में प्रगट हो गई है।

1.5 केन उपनिषद् की आख्यायिका के माध्यम से शक्ति का निरूपण

केन उपनिषद् में एक आख्यायिका के माध्यम से शक्ति का निरूपण किया गया है। देवताओं को शक्ति से परिचय कराने के लिये ब्रह्मयक्ष के रूप में प्रगट होते हैं। वह ब्रह्म अपनी **योगमाया** के बल से देवताओं की इन्द्रियों का विषय होकर प्रगट हुआ। उस प्रगट हुये महान् यक्ष को देव जान न पाये।यक्ष रूप से वह ब्रह्म ही प्रगट होता है। देवता और उस यक्ष के माध्यम से ब्रह्म का सर्वकर्तृत्त्व स्पष्ट किया गया है।

अग्नि यक्ष के पास गये , यक्ष पूछता है, तुम कौन हो, उसने कहा मैं अग्नि हूँ, मैं जातवेदा हूं।

यक्ष ने पुनः प्रश्न किया कि –तुम्हारी सामर्थ्य क्या है? अग्नि ने कहा पृथिवी पर विद्यमान चराचर रूप जगत को जलाने की पूरी सामर्थ्य है, जो कुछ भी इस पृथिवी पर है उसे मैं भस्म कर सकता हूँ,**तस्मिंस्त्वयि किं वीर्यमित्यपीदं सर्वं दहेयं यदिदं पृथिव्यामिति।।**

यक्ष ने अभिमानी अग्नि के सामने एक तृण रखा और कहा– तुम मेरे सामने इस तिनके को जला डालो। यदि जलाने में समर्थ नहीं हो, तो अपने इस अभिमान को अर्थात् जो सर्वत्र जलाने वाला होने का अभिमान है, उसे छोड दो। अग्नि अपने सारे बल से, उत्साह पूर्वक बड़े वेग से तृण के पास जाते है, परन्तु उसे

जलाने में समर्थ नहीं हुये।

वायु देवता यक्ष के पास जाते हैं।यक्ष वायु से पूछते हैं– आप कौन हैं, उसने कहा मैं वायु हूँ, मुझे मातरिश्वा नाम से जाना जाता है।यक्ष वायु से पूछते है कि –आप की क्या सामर्थ्य है। वायु ने कहा– पृथिवी में जो कुछ है सभी को मैं ग्रहण कर सकता हूँ।तस्मिंस्त्वयि किं वीर्यमित्यपीद सर्वमाददीय यदिदं पृथिव्यामिति।। 9।।

यक्ष वायु के लिए भी एक तृण रखते हैं, और कहा कि–इसे गहण करो। वायु उस तृण के समीप गये। परन्तु अपने सम्पूर्ण वेग से भी उस तिनके को ग्रहण करने में समर्थ नहीं हुये।

इन्द्र भी यक्ष के पास जाते हैं, यहाँ पर यह बताया जा रहा है कि इन्द्र के जाते ही यक्ष अन्तर्धान हो गये। इन्द्र के अभिमान को दूर करने के लिये उन्हें संवाद का भी समय नही दिया। उसी आकाश में जहां यक्ष अन्तर्धान हुये थे वहीं पर इन्द्र एक सुन्दर स्त्री के पास आये । उन्हें यहां हैमवती उमा कहा गया है जो पार्वतीरूपिणी ब्रह्मविद्या हैं। हिमवान् की कन्या उमा सर्वदा उस ईश्वर के साथ वर्तमान रहती है।अतः वह ही इसे जानने में समर्थ होंगी, यह सोच कर इन्द्र उनके पास जाते हैं और हैमवती उमा से पूछते हैं कि– दर्शन देकर छिपने वाला यह यक्ष कौन है? इन्द्र ने उमा के द्वारा जाना कि यह ही ब्रह्महै और देवता अपने मिथ्या अभिमान को भी जान सके।

उमा विद्या ही हैं। इन्द्र ने ब्रह्मका स्पर्श ब्रह्मविद्या द्वारा किया। अपनी स्वतन्त्रता से नही। भगवत्पाद ने शक्ति से युक्त ब्रह्मकी स्तुति को यहां प्रस्तुत किया है।शिव और शिवा में किंचितमात्र भी भेद नही है। वेदों में अदिति को देवमाता कहा गया है। यही सृष्टि की नामरूपरहित अवस्था अदिति अखण्डनीय तत्त्व है। इसीलिये यही देवों की माता कही गई है।सौन्दर्यलहरी में शक्ति का यही स्वरूप है, वह शक्ति ही देवों को उत्पन्न करने वाली कही गईं हैं।सौन्दर्यलहरी के प्रथम श्लोक में ही यह स्पष्ट कर दियाकि परमात्मा की सृजन शक्ति ही कार्य करती है। यह शक्ति अनन्त है। अनन्त वस्तु का कभी अन्त नही होता है।

शक्ति रहित परमेश्वर को सृष्टि करना सम्भव नही है। तो सबका कारण शक्ति ही है। वह शक्ति चेतन शक्ति है। शक्ति शक्तिमान की इच्छा की ही अभिव्यक्ति है। भगवत्पाद शंकराचार्य ब्रह्मसूत्र 1.4.3 के भाष्य में कहते है कि– तदधीनत्वादर्थवत् – परमेश्वराधीनात्वियमस्माभिः प्रागवस्था जगतोऽभ्युपगम्यते न स्वतन्त्रा। अर्थवती ही सा नहि तया विना परमेश्वरस्य स्रष्टत्वं सिद्धयति। शक्तिरहितस्य तस्य प्रवृत्यनुपपत्तेः अर्थात् हम तो जगत् का प्राग्वस्था परमेश्वर के अधीन मानते हैं न कि स्वतन्त्र। क्योंकि वह अर्थवती अर्थात् सार्थक है। उसके विना परमेश्वर का सृष्टि करना भी सिद्ध नही होता। शक्ति रहित परमेश्वर में प्रवृत्ति का अभाव होने के कारण।

तब शक्ति की शक्तिमान से पृथक् सत्ता नही है तो शक्ति की महिमा के स्तवन में शक्तिमान का ही गुणगान करना है। अन्यत्र कहा गया है–भवेत् पूजा पूजा तवचरणयोर्या विरचिता ।।

3.6 सौन्दर्यलहरी का वर्ण्य विषय

यह नामरूपात्मक जगत् आदि शक्ति की ही परिणति है। उसी के सौन्दर्य में इस ग्रन्थ के द्वारा जो स्तुति की गई है, वह स्तुति अपने अन्तःकरण में आदि शक्ति के उपस्थिति के आनन्द का उद्वेग उत्पन्न करती है। यह तरंग ही वस्तुतः सौन्दर्यलहरी है। इसी में चित् को आनन्द प्रदान करने वाली चिदानन्दलहरी का वर्णन 8वें श्लोक में किया गया है जबकि 21वें श्लोक में परमानन्दलहरी का वर्णन है।

सौन्दर्यलहरी में शिव और शक्ति के एकत्वरूपी आनन्द की लहर है। सौन्दर्यलहरी में सर्वत्र उसी की लहर दिखाई देती है। यह ध्यान रखते हुये कि वह उस परम से अलग नही है। ऋग्वेद के पुरुषसूक्त में कहा गया है कि –**प्राणाद्वारजायत**, उस परमेश्वर के श्वास से वायु उत्पन्न हुई। यही वायु द्युलोक से लेकर पृथिवी पर्यन्त विचरण करती है। यही परमेश्वर प्राण का स्पन्द है। यही चित् शक्ति, यही प्राण शक्ति और यही इच्छा, ज्ञान एवं क्रिया शक्ति है। अपरिणामी ब्रह्म में इच्छा, ज्ञान एवं क्रिया के कारण कोई विकार उत्पन्न नही होता।

भगवत् पाद सौन्दर्य लहरी के चार श्लोक तक देवों की व्याख्या उनकी उत्पत्ति से लेकर क्रिया तक प्रस्तुत करते हैं। क्षर को अविद्या कहा गया है और अमृत विद्या है, इन दोनों पर शासन करने वाला परब्रह्म है। जहाँ भी परब्रह्म है वह शक्ति से युक्त है –

> **द्वे अक्षरे ब्रह्मपरे त्वनन्ते विद्याविद्ये निहिते यत्र गूढे।**
> **क्षरं त्वविद्या ह्यमृतं तु विद्या विद्याविद्ये ईशते यस्तु सोऽन्यः।।**

श्वेताश्वतरोपनिषद्, 5.1

वह ब्रह्म न स्त्री है न पुरुष न नपुसंक ही है, जितने शरीरधारी है सब उसी से सुरक्षित हैं। शक्ति कारण स्वरूपा है। सृष्टि स्थिति संहारकारिणी भगवती हैं। प्राण तत्त्व हैं। वही शक्ति हैं। हमने ऊपर बताया कि ब्रह्म अक्षर है गीता में इसका स्पष्टीकरण और हो जाता है–

> **अक्षरं ब्रह्म परमं स्वभावोऽध्यात्मुच्यते।**
> **भूतभावोद्भवकरो विसर्गः कर्मसंज्ञितः।।**–गीता 8.3

अर्थात् ब्रह्म अक्षर है, उसमें दो भावों का उदय हुआ। अध्यात्म और अधिभूत। अध्यात्म उसका अपना भाव है जो चेतन है। अधिभूतभाव उद्भव करने वाला है वह भी ब्रह्म का ही है। अध्यात्म भाव सच्चिदानन्द स्वरूप है। अध्यात्म भाव में ईश्वर भाव और जीव भाव का समावेश है, क्यों उसमें अहं भाव है? यही आत्मभाव हैं।

गीता में कहा गया है – आत्म भाव में मन को स्थिर करके 'इदम्' जगत का कुछ भी चिन्तन नहीं करना चाहिए।

सौन्दर्यलहरी ब्रह्म के विविध आयामों पर चर्चा करता है। 41वें श्लोक तक गूढ़ रहस्य है। सृष्टि यज्ञ के विभिन्न पहलुओं पर दृष्टिपात किया गया है। सृष्टि स्वतः कैसे प्रवाहित हो रही है। मनुष्य का कोई किरदार नहीं है, परन्तु 'यत्

पिण्डे तत् ब्रह्माण्डे' का पूरा वर्णन है।

यद्यपि भगवत्पाद ने सौन्दर्य लहरी में देवी का ही स्तवन किया है। देवी का जो आकार चित्र उत्पन्न किया है वह सगुण रूप का परिचायक है। परमेश्वर के एक अंश से विश्व बनता है, विश्व उस परमेश्वर का शरीर है अर्थात् मर्त्य। अमृत और मृत एक ही हैं, ये दो होते हुए भी सत्ता के एक होने से दोनों दो नहीं एक हैं।सौन्दर्यलहरी में इन सभी पक्षों पर प्रकाश डाला गया है। इसकी व्याख्या कुछ श्लोकों के माध्यम से करेंगे। ईश्वर का वास्तविक स्वरूप 'ब्रह्म' है मायोपाधि विशिष्ट ब्रह्म ईश्वर है तथा अविद्योपाधि विशिष्ट ब्रह्म जीव है। दोनों ही उस महान् ज्योति की ज्योतियाँ हैं।

3.7 तुरीयावस्था का स्वरूप और शक्ति तत्त्व

यह दर्शन सभी को मान्य है कि ब्रह्म स्वयं कर्ता या भोक्ता नहीं है। उपाधिग्रस्त होकर ऐसा समझने लगता है। मुण्डकोपनिषद् में एक ही आत्मा के चार पाद कहे गये हैं– विश्व तैजस प्राज्ञ, तुरीय।ओंकार की मात्रा अकार विश्व है उकार तैजस है। दोनों मकार में एकीभूत हो जाते हैं। तीन अवस्था है जाग्रत स्वप्नावस्था सुषुप्ति, आत्मा का स्वरूप तुरीयावस्था है। यह चौथापाद पूर्व तीन अवस्था से भिन्न नहीं है, तीनों जो स्थान है जाग्रत स्वप्न, सुषुप्ति में एक ही आत्मा विकल्पित हो रही है। उदाहरण के लिए रज्जु और सर्प ज्ञान समान काल में ही होता है, रज्जु में सर्प की निवृत्ति ज्ञान और रज्जु का ज्ञान समान काल में होता है।

तुरीया हमारी आत्मा है ऐसा ज्ञान होने पर अविद्या नष्ट हो जाती है। तुरीय सर्वदृक् है, सर्वरूप है, तुरीय ही सम्पूर्ण भूतों में स्थित है और साक्षी रूप से भासमान है, उससे भिन्न कोई द्रष्टा नहीं है। 'प्राज्ञ' 'बीजनिद्रा' से युक्त है। अज्ञान का नाम निद्रा है। वहीं विशेष विज्ञान की उत्पत्ति का बीज है। तुरीय में बीजनिद्रा नहीं है।प्राज्ञ में स्वप्नावस्था नहीं है। तुरीय में न निद्रा है न स्वप्नावस्था है। स्वप्नावस्था का तात्पर्य अन्य वस्तु का ग्रहण करना स्वप्नावस्था है जैसे रज्जु में सर्प ग्रहण करना अन्यथा ग्रहण करना है।

तुरीय तीनों अवस्थाओं से परे है।एकमात्र आत्मचेतना ही उसका प्रमाण है। जहाँ सारे प्रपंच का समन हो जाता है, उस शान्त, शिव और अद्वैत को चतुर्थ माना जाता है, वही आत्मा है वही परमात्मा है। वही परमपुरुष है –

एकं सत् विप्रा बहुधावदन्ति।

तुरीया अवस्था का वर्णन करना आवश्यक था क्योकिं भगवत्पाद ने भगवती के सम्बोधन में परमब्रह्म महिषि कहा है, यहीं पर तुरीया स्वरूप का भी उल्लेख किया है।

> गिरामाहुर्देवीं द्रुहिण गृहिणीमागमविदो
> हरेः पत्नीं पद्मा हरसहचरीमद्रितनयाम् ।।
> तुरीया काऽपित्वं दुरधिगमनिस्सीममहिमा
> महामाया विश्व भ्रमयसि परब्रह्ममहिषि।।सौन्दर्यलहरी, 97

आपकी महिमा असीम है, आपको जानना कठिन है। इसलिए 'तुरीयावस्था समझना आवश्यक है, तभी हम शिवशक्ति की अभिन्नता का अनुभव कर पायेंगे। यह तो निश्चित रूप से समझ लेना चाहिए कि कोई विद्या वैदिक ज्ञान से भिन्न नहीं है। सौन्दर्यलहरी को 'श्रीविद्या' के नाम से अधिक आत्मसात् करते है, परन्तु ब्रह्मविद्या ही श्रीविद्या है इस पर अधिक व्याख्या नहीं करेंगे। शिव में ज्ञान है, क्रिया नहीं। शक्तिमान होने से वह ईश्वर हैं।ब्रह्म शक्ति के साथ चिदानन्द स्वरूप है, भगवती, शिव आपके कारण ईश हैं।

3.8 सौन्दर्यलहरीमें स्त्रीतत्त्वविमर्श

उस परम ज्योति के स्वरूप के कारण, विषय की दृष्टि से सौन्दर्यलहरी के दो भाग हो जाते हैं। प्रथम भाग में 41 श्लोक तक दार्शनिक चिन्तन है।

प्रपंचसार नामक ग्रन्थ में कहा गया है कि ब्रह्मा, विष्णु और महेश रूप त्रिमूर्ति की सृष्टि के कारण, त्रयी वेदस्वरूपा होने के कारण तथा प्रलयकाल में तीनों लोकों को अपने में समा लेने के कारण, अम्बिका का त्रिपुरा नाम है।

त्रिमूर्तिसर्गाच्च पुराभवत्वात् त्रयीमयत्वाच्च पुरैव देव्याः।

लयेत्रिलोक्या अपि पूरकत्वात् प्रायोऽम्बिकायास्त्रिपुरेति नाम।।

वैष्णव आगम के नारदपांचरात्र में शिव ने कहा है कि तीनों भुवनों में लोकोत्तर सौन्दर्यशालिनी होने के कारण तुम त्रिपुरसुन्दरी नाम से और सोलह वर्ष की बाला की तरह प्रतीत होने के कारण षोडशी नाम से भी प्रसिद्ध होगी।

सौन्दर्यलहरी के प्रथम श्लोक में यह सिद्ध होता है कि शक्ति है। शक्ति के बिना कोई देवता नहीं है। कर्तृत्व देवों का नहीं है जो उनके भीतर है उसका कर्तृत्व है। यदि ऐसा न हो तो देव हिलडुल भी नहीं सकते, इसलिए भगवती आराध्य हैं, सभी के लिए, परन्तु बिना पुण्य के कोई प्रणाम कर नहीं सकता, जिसे भगवती की आराधना करनी हो उसे पुण्य करना होगा। भगवती को प्रणाम करना बड़े पुण्य का फल है। शक्ति की आराधना से ही ब्रह्मा ब्रह्मा बन गये, विष्णु विष्णु बन गये। उनमें जो सामर्थ्य आयी वह भगवती की आराधना से।

भगवती के इच्छामात्र से सब कार्य हो जाते हैं, यह उनका प्रभाव है। भगवती के चरण कमल का प्रभाव है कि एक कण से ब्रह्मा जी संसार बनाते है, उसे ब्रह्मा जी बड़े प्रयत्नपूर्वक संचित करते हैं। सहस्र, अनन्त का परिचायक है। विष्णु अनन्त नेत्र वाले, अनन्त चरण वाले, अनन्त शिर वाले है, परन्तु आपकी चरणधूलि को शिर पर धारण करते है वह भी बड़ी कठिनाई से, हिलने डुलने लगते है, उनकी सांस फूलने लगती है, सृष्टि जो बची हुई है इसी कारण से कि उसे वह धारण किये हुए हैं। शिव उसे लपेटकर चूर्णीकृत करके गौरव का अनुभव करते हैं। विष्णु कण को बड़े भक्ति से धारण करते हैं। उस कण से पूरे विश्व की रचना होती है, कोई कमी नहीं रह जाती। क्योंकि उस कण के भीतर भगवती स्वयं बैठी है।

सौन्दर्यलहरी का तीसरा श्लोक भी 'शक्ति' का ही गुणगान कर रहा है –

अविद्यानामन्तस्तिमिरमिहिरद्वीपनगरी।

जडानां चैतन्यस्तबक मकरन्द श्रुतिझरी।।

दरिद्राणां चिन्तामणिगुणनिका जन्मजलधौ।

निमग्नां द्रंष्ट्रा मुररिपुवराहस्य भवती।। 3।।

अविद्या के अन्दर प्रकाशपुंज आप हो, अविद्या का एक पहाड़ खड़ा है। अविद्या स्वयं तिमिर है। एक ऐसा पाताल है जहाँ सूर्य का प्रकाश नहीं पहुँचता। यहाँ तो सूर्य भी अविद्या में चला गया तो सूर्य को उत्पन्न करने वाली आप हो। वह भगवती सूर्य का भण्डार है। उनके अन्दर अनेक सूर्य हैं। एक ब्रह्माण्ड का एक सूर्य है भगवती अनन्तसूर्य है, जिसके भीतर माता के चरण का सूर्य जाग रहा है। वहाँ अन्धकार कहाँ रह सकता है। 'अन्तस्तिमिरमिहिरद्वीपनगरी' जितने प्राणी हैं, जो उनकी श्वास चल रही है, उनके प्राण आप हो। जीवात्मा भिन्न–भिन्न है, अनन्त है, जीवात्मा में जो आनन्द है वह आप हो। सम्पत्ति के रूप में चिन्तामणि की माला हो। आपके चरणों से जो मकरन्द टपकता है वही चैतन्य है, जिसके कारण वह प्राणी चल रहा है, या उसमें स्पन्द है। विष्णु के अग्रभाग की द्रंष्ट्रा आप हो।

जल में डूबी हुई पृथिवी का उद्धार वराह ने किया। विषाण के अग्रभाग से समुद्र से ऊपर निकाला, उसमें चराचर सभी थे। विष्णु ने अपने "अग्रभाग से निकाला" वह आप हो। जन्म–मरणरूपी संसार–सागर में डूबे हुए प्राणियों का उद्धार वाराही शक्ति से करती हैं।

संसार को रक्षा का कवच केवल भगवती देवी है। इस कार्य में उनके चरण ही निपुण हैं अन्य देवगण देते हैं, परन्तु अभिनय करके, आप अभिनय नहीं करती। ऐसे ही लुटाती रहती हैं। हे शरण देने वाली (गृहरक्षिता) जो महान् होते हैं वे संकेत से दे दते हैं। वह अभिनय नहीं करते हैं। उनके चरणों से ही यह कार्य हो जाता है, तो वे हाथ की मुद्रा क्यों बनायेंगी। इच्छा से अधिक फल देने के लिए आपके चरण ही प्रर्याप्त हैं।

यहां देवता और शक्ति अर्थात् ब्रह्म को अलग–अलग दिखाया गया है। त्वदन्यः– तुमसे अन्य लोग। कहीं शिव का नाम नही है, शक्ति की ही उपासना चल रही है।

3.9 सौन्दर्यलहरी में शक्ति के रूप में स्त्री तत्त्व की सर्वोच्चता एवं इसके विविध स्वरूप

3.9.1 शक्ति का मोहनी स्वरूप

हरिष्त्वामाराध्य प्रणतजनसौभाग्यजननीं।
पुरानारी भूत्वापुररिपुमपि क्षेभमनयत्।।

स्मरोऽपित्वां नत्वा रतिनयन लेह्येन वपुषा ।
मुनीनामप्यन्तः प्रभवति हि मोहाय महताम्।। 5।।

जिसने भगवती को प्रणाम किया उसका सौभाग्य जागृत हो गया, जो आराधना करता है उसे सौन्दर्य प्रदान करती हैं हरि आपाकी आराधना से इतने सुन्दर हो गये कि भगवान् शिव उनके पीछे दौड़ने लगे, जबकि काम को भस्म कर चुके हैं। कामदेव इतना सुन्दर था कि रति अपने नयनों से उसी को देखती रहती थी। आपको प्रणाम करने से काम को भी मुनियों को प्रभावित करने की शक्ति

मिल गयी। आपको प्रणाम करने से सारे विश्व को प्रभावित करने की शक्ति आ गयी। काम तो पहले भगवान् के द्वारा भस्म कर दिया गया था। परन्तु आपकी कृपा से वह मुनियों को भी प्रभावित करने लगा।

कामतत्त्व तो वह परमशिव स्वयं है, जब वह शक्ति से युक्त होते है तो प्रभव में आते हैं।भगवान विष्णु ने भगवती से मोहिनीविद्या प्राप्त की। नारी का रूप धारण करके। विष्णु – मन्मथादि देवता भगवती की कृपा से ही अपने माहात्म्य को प्राप्त करते हैं। सभी देवता के माहात्म्य की मूल भगवती ही हैं।

अगला श्लोक भी कामदेव के सामर्थ्य का ही विषय है।

> धनुः पौष्पं मौर्वी मधुकरमयी पञ्च विशिखाः
> वसन्तः सामन्तो मलयमरूदायोधनरथः।
>
> तथाऽप्येकः सर्वं हिमगिरिसुते कामपि कृपा
> मपाङ्गात्ते लब्ध्वा जगदिदमनङ्गो विजयते।। ६।।

प्रस्तुत श्लोक में यहाँ भगवती को 'हिमगिरिसुते' से सम्बोधित किया गया है। कामदेव को भगवती की कृपा प्राप्त है। उसका सारा सामर्थ्य भगवती के अत्यल्प कृपाकटाक्ष का ही फल है, जो मुमुक्षुजन है उनको भी इससे बचने के लिए उन्हीं भगवती के ही शरण में जाना चाहिए।

उसके पास पुष्प निर्मित धनुष है, प्रत्यंचा मधुकर की है, सारथी वसन्त है, मलयानिल रथ है, शरीर भी नहीं है, लड़ने की सामग्री भी इतनी कोमल है, फिर भी जीतता है, केवल आपकी कृपा से। अनंग है। उसके पास कुछ है नहीं फिर भी पूरे जगत् को परेशान किये हुए है। कामदेव के कुल पाँच ही बाण हैं फिर भी सारे संसार को परेशान कर रखा है।

3.9.1 शक्ति अर्थात् भगवती का साकार स्वरूप

पारमार्थिक दृष्टि से ईश्वर न स्वयं स्त्री है और न पुमान् । आत्मतत्त्व में लिंग भेद का भाव नहीं है। वह स्वयं माया है, स्वयं मायावी, नट भी है दर्शक भी। शक्ति शिव है, शिव स्वयं शक्ति। प्रथम श्लोक में ही कह दिया गया – ''शिवः शक्त्यायुक्तो''। आत्मा प्रकृति के संसर्ग में आकर संसारी पुरुष दिखने लगता है। सातवें श्लोक में भगवती को 'पुरुषिका' कहा गया है। यह श्लोक भगवती के सौन्दर्य का वर्णन करता है।

> क्वणत्काञ्चीदामा करिकलभकुम्भस्तननता।
> परिक्षीणा मध्ये परिणतशरच्चन्द्रवदना।
>
> धनुर्बाणान्पाशं सृणिमपि दधाना करतलैः
> पुरस्तादास्तां नः पुरमथितुराहोपुरुषिका।। ७।।

पुरुषिका भगवती का नाम हो गया है, 'अहोपुरुषिका' का भाव है शिव की धन्यता, जो अपने को भाग्यशाली समझता है वह 'अहो' कहता है, शिव और शिवा का निष्कर्ष शिव ही है। एक दूसरे को देखकर धन्य हैं।

उनके कटिभाग में बजती हुई करधनी है। यहाँ कलभ को जोड़कर कमर का प्रदेश कम कर दिया है। स्तनों के बोझ से झुकी हुई हैं और कमरकृशता तो

सौन्दर्य का आभूषण है, इतने पर भी भगवती आप दुर्बल नहीं हैं क्योंकि आपके मुख पर इतना प्रकाश है, पूर्णिमा के चन्द्रमा के समान, इतनी सौम्यता है। धनुष, बाण–पाश अंकुश ये सब धारण किये हुए है। शिव उनको देखकर आश्चर्य व्यक्त कर रहे हैं। भगवती के इसी स्वरूप का ध्यान अन्तःकरण में स्थापित करें। भगवान् शिव की पुरुषिका हमारे सामने रहें।

3.9.3 शक्ति का निवास स्थान

भगवती चिदानन्दलहरी के रूप में सबसे ऊपर विराजमान हैं। अमृत के समुद्र में मणियों का द्वीप है। चिन्तामणि की ईट का बना हुआ गृह है। कल्पवृक्ष की वाटिका से घिरा हुआ और कदम्बवृक्ष का उपवन है, उसमें एक पलंग है जो परमशिव हैं। उस पर चिदानन्दलहरी सदैव विराजमान रहती हैं।

3.9.4 षट्चक्रों में शक्तितत्त्व

जितना कुछ ब्रह्माण्ड में है वह पूर्णरूप से इस शरीर में भी विद्यमान है। यह सारा संसार चक्र है, जितने चक्र हैं सब देशकाल के प्रतीक हैं, भगवती देशकाल के ऊपर विराजमान हैं। मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपुर, अनाहत, विशुद्ध और आज्ञा चक्र के रूप में छः चक्र हैं जिनमें सबसे ऊपर भगवती विराजमान हैं। षट्चक्रों को कुलपथ कहते हैं। मूलाधार से सहस्रार की ओर शक्ति जब गमन करती है तो कुण्डलिनी शक्ति आज्ञाचक्र में चन्द्र स्थान पर पहुँचती है यहाँ साधक को भगवती के स्वरूप का स्फुरण होता है, तदनन्तर जीव सहस्रार में पहुँच जाता है। सहस्रार वैन्दव स्थान है। यहाँ पर कुण्डलिनी शक्ति के रूप में भगवती परमशिव के साथ एकान्त में विहार करती है।

सहस्रारे पद्मे, सह रहसि पत्या विहरसे।

भगवती के दोनों चरणों से अमृत की घनघोर–वृष्टि होती है। यह अमृतधारा संसार के सिंचन के लिए है, उनके सिंचन से ही सृष्टि जीवित है। षट्चक्रों में सभी तत्त्वों को बताया गया है।

'अकुल अर्थात् ब्रह्मस्थान' जहाँ वह परम शिव के साथ सायुज्य एकान्त में एकाकार रहती हैं। षट्चक्र ही कुलपथ है। सभी चक्रों का क्रमशः सिंचन करती हैं फिर मूलाधार में अपने को वलयाकार बनाकर सर्पिणी का रूप धारण करके सो रही हैं। सोने से पहले अपना यह कुण्डल धारण कर लेती हैं। यहाँ कुण्डलिनी शक्ति के रूप में शिव के साथ विराजमान हैं।

3.9.5 श्रीयन्त्र में भगवती का स्वरूप

> चतुर्भिः श्रीकण्ठैः शिवयुवतिभिः पञ्चभिरपि
> प्रभिन्नाभिः शंभोर्नवभिरपि मूलप्रकृतिभिः।
>
> चतुश्चत्वारिंशदद्वसुदलकलाश्रत्रिवलय–
> त्रिरेखाभिः सार्धं तव शरणकोणाः परिणताः ।।11।।

श्री चक्र ब्रह्माण्ड और पिण्ड दोनों का प्रतीक है। श्रीयंत्र भगवती का गृह है। इसमें 43 कोण बनते हैं, वह नवमूल प्रकृति से बनते हैं। ये 43 कोण शम्भु के बिन्दु स्थान से भिन्न हैं। चार शक्ति (पिता), भगवान् शंकर की है जो श्रीकण्ठ

कहे गये हैं। पाँच शक्ति उनकी अर्द्धांगिनी पार्वती माता की है।

इन्हीं नौ से आगे सृष्टि होती है। यही नौ मूल प्रकृति है। भगवान् शिव इसी मूल से सब बना देते हैं–त्वगसृङ्मांसमेदा अस्थि= ये पाँच शक्ति मूलक है, श्रीचक्र भगवती के रहने का स्थान है।मज्जा शुक्ल प्राण जीव धातु शिवमूलक हैं। दोनों के योग से ब्रह्माण्ड और पिण्ड का निर्माण होता है, श्री चक्र भी इन्हीं का प्रतीक है।शिव और शक्ति त्रिकोण का मुख एक दूसरे के विपरीत है। जैसे –

▽= ये शक्तिमूलक पाँच कोण है।

△= ये शिवमूलक चार कोण है।

▽= अधोमुख कोण कहते है।

△= ऊर्ध्वमुख कोण कहते हैं।

इन्हीं नौ धातु से 25 तत्त्व बने।

इस जगत् को शिवशक्त्यात्मक जानना चाहिए। पंचविंशति तत्त्वों को सर्वसम्मति से ग्रहण किया गया है। पंचमहाभूत, पंचतन्मात्रायें, पंच ज्ञानेन्द्रियाँ, पंच कर्मेन्द्रियाँ, मनतत्त्व, माया, विशुद्ध विद्या, महेश्वर, सदाशिव। ये 25 तत्त्व हैं।सभी तत्त्वों से परे शिव–शक्ति हैं। उन्हीं से जगत् की उत्पत्ति है। शक्ति से रहित शिव किंचित करने में कुशल नहीं है। शैव पुराणों में तत्त्वों की विस्तृत व्याख्या है।

श्रीयंत्र की बहुत लम्बी व्याख्या है। सभी तत्त्वों के आधार पर, नक्षत्रों के आधार पर, स्वरों के आधार पर, बहुत विस्तृत व्याख्या की जा सकती है। विशेष अध्ययन के लिये सन्दर्भ ग्रन्थों में देख सकते हैं।

शिव ही प्रकृति हैं, नवमूलप्रकृति को लेकर अपने शरीर में आ जाते हैं। समस्त सृष्टि का यन्त्र के रूप में प्रतिपादन है।

3.9.5 भगवती के अन्य स्वरूप

अन्य विग्रह के अतिरिक्त भगवती किसी की कन्या भी हैं। कवियों में श्रेष्ठ ब्रह्मा जी हैं, वह आपके सौन्दर्य पर विचार कर रहे हैं, उन्हें कोई आपके समान मिला ही नहीं। यदि आपका सौन्दर्य मिला है तो केवल शंकर को। भगवान् शिव ही बता सकते हैं कि आपका क्या सौन्दर्य है?परमसुन्दर ललनाये मन ही मन शिव से सायुज्य प्राप्त कर लेती है, बहुत तप पर भी यह सायुज्य नहीं मिलता। मन से ध्यान करके सायुज्य प्राप्त करना अमरललनाओं का तप है। शिव के साथ भगवती ही सायुज्य है।

सौन्दर्यलहरी में सृष्टि–यज्ञ का स्वरूप भी परिलक्षित है। सृष्टि को धारण करने वाले तत्त्वों को चक्रों में बताया गया है। 360 दिनों का विभाजन भी है। भगवती शिव से अभिन्न रहती है। यज्ञसृष्टि की यही प्रक्रिया है। माता की कृपा से ही सारी सृष्टि जीवित है।

15वें श्लोक में भगवती का विग्रह 'विद्या' देवी के रूप में है। कवितायें बहुत लिखी जाती हैं परन्तु भगवती का स्वरूप कविता में कहा हैं यह देखना है। मधु, दूध और द्राक्षा के मिश्रण की जो मिठास है वही मिठास सत् कवियों की कविता में है। वही 'माधुर्य' यह भगवती हैं। उन कवियों को यह शक्ति उन्हीं से प्राप्त है,

उनके स्वरूप का ध्यान इस श्लोक में है, जिसने उनका ध्यान नहीं किया, उसको यह शक्ति कैसे प्राप्त हो सकती है।

अरुणा नाम की शक्ति का उल्लेख–

कवीन्द्राणां चेतः कमलवनबालातपरूचिं
भजन्ते ये सन्तः कतिचिदरुणामेव भवतीम्।

।विरिञ्चिप्रेयस्यास्तरुणतरशृङ्गारलहरी–
गभीराभिर्वाग्भिर्विदधति सतां रञ्जनममी ।।16।।

उगते हुए सूर्य में जो अरुणिमा है, वह सूर्य, भगवती हैं। उनके इस स्वरूप के ध्यान से सरस्वती समृद्ध होती है। पृथिवी से लेकर द्युलोक अरुणिमा में डूबा हुआ है, जो उनके इस स्वरूप का ध्यान करता ,भगवती स्वयं उसके साथ आ जाती हैं। भाव तो यही है।

विराट स्वरूप

मुखं बिन्दुं कृत्वा कुचयुगमधस्तस्य तदधो
हरार्धं ध्यायेद्यो हरमहिषि ते मन्मथकलाम्।

स सद्यः संक्षोभं नयति वनिता इत्यतिलघु
त्रिलोकीमप्याशु भ्रमयति रवीन्दुस्तनयुगाम्।।19।।

भगवती यहाँ आदिशक्ति के रूप में विराजमान हैं। स्त्रीतत्त्व के रूप में ''हरार्धं हर की आधी शक्ति, 'हरमहिषि' सदाशिव की जाया हैं। भगवती के विराटस्वरूप का ध्यान है। (यह भगवती की कामकला है) अधोमुख त्रिकोण में कामबीज का ध्यान है ▽ जो श्री चक्र में है। इसमें ध्यान बताया गया है। यह सब तंत्र का विषय है। विराटस्वरूप वह है जहाँ स्त्रीपुरुष तत्त्व एक है।

हृदय में भगवती का ध्यान

किरन्तीमङ्गेभ्यः किरणनिकुरुम्बामृतरसं
हृदि त्वामाधत्ते हिमकरशिलामूर्तिमिव यः।

स सर्पाणां दर्पं शमयति शकुन्ताधिप इव ।
ज्वरप्लुष्टान् दृष्टया सुखयति सुधाधारसिरया।।20।।

इस रूप में उनकी अभिव्यक्ति–हृदय में हो रही है। माता अपने अंगों से अमृतरस बिखेरती हैं। उनके ऐसे स्वरूप को जो, हृदय में धारण करता है, वह साधक सांप के दर्प को भी दूर कर देता है। वह साधक गरुड़ जैसा बन जाता है। उस साधक की दृष्टि अन्य मनुष्यों के भी संताप को भी दूर कर देती है। वह साधक भगवती की शक्ति से ऐसी दृष्टि प्राप्त कर लेता है, तो सांसारिक ज्वर से जो तप्त हो रहे हैं अपनी दृष्टिमात्र से उसको दूर कर देता है।

तडिल्लेखातन्वीं तपनशशिवैश्वानरमयीं
निषण्णां षण्णामप्युपरि कमलानां तव कलाम्।

महापद्माटव्यां मृदितमलमायेन मनसा
महान्तः पश्यन्तो दधति परमाह्लादलहरीम्।।21।।

भगवती के विद्युत स्वरूप का स्तवन

यहाँ पर– तपनशशिवैश्वानरमयीं (वैश्वानर अग्नि) तीनों मिलकर विद्युत् के रूप में परिणत हो गयी है। ऐसे भगवती के स्वरूप का वर्णन है। उनके इस स्वरूप का दर्शन योगी ही करते हैं। जिनके मन से मलरूपी माया हट गयी है। वही परमानन्द लहरी को धारण करते है। चक्रों की जो षट् संख्या है। उसी के ऊपर सुधासिन्धु के मध्य में, सबसे ऊपर विराजमान हैं।

अर्धनारीश्वर स्वरूप
त्वया हृत्वा वामं वपुरपरितृप्तेन मनसा
शरीरार्धं शंभोरपरमपि शङ्के हृतमभूत्

यदेतत्त्वद्रूपं सकलमरुणाभं त्रिनयनं
कुचाभ्यामानम्रं कुटिलशशिचूडालमकुटम् ।।23।।

शंकर का शरीर स्फटिक के सदृश्य है, भगवती का शरीर अरुण है, भगवती की अरुण आभा शंकर के ऊपर पड़ रही है वह भी उसी रंग के दिखने लगे हैं। शंकर जी आपके शरीर में परिणत हो गये हैं। आप इससे भी संतुष्ट नहीं हुई तो हमें ऐसा लगता है कि आपने पूरा ही भाग ले लिया। भगवती के अरुणाभत्व स्वरूप का ध्यान है, जो बाल सूर्य का होता है। न शिवेन बिना शक्तिः न शक्ति रहितः शिवः यही अभेद बोधक ज्ञान है।

स्थावरजंगमात्मक जगत् का सृजन ब्रह्मा जी करते हैं, विष्णुतत्त्व से रक्षा होती है, रुद्र से संहार होता है। ये तीनों सृष्टिस्थिति एवं लय के अधिकारी हैं। ईश्वर अपने आपको छिपा लेते हैं केवल आप बचती हैं। सदाशिव में यह शक्ति बनी रहती है। एक क्षण में भृकुटी के टेढ़ेहोते ही (यही भृकुटी ही स्पन्द है) अर्थात् भगवती के स्पन्द से ही सारा जगत् बन जाता है। भगवान् बिना उपकरण के सृष्टि कर लेते हैं। सृष्टि को छिपाते है उसी के साथ अपने को भी छिपा लेते हैं, सृष्टि का अभाव नहीं है। सृष्टि उन्हीं में अन्तर्निहित है।

प्रभव और प्रलयात्मक स्वरूप भगवती का ही है। यह दोनों शक्ति के ही कार्य है। इसीलिए अगले श्लोक में कहा गया है –

त्रयाणां देवानां त्रिगुणजनितानां तव शिवे
भवेत्पूजा पूजा तव चरणयोर्या विरचिता।

तथाहि त्वत्पादोद्वहनमणिपीठस्य निकटे
स्थिता ह्येते शश्वन्मुकुलितकरोत्तंसमकुटाः ।।25।।

भगवती के चरण में ही तीनों देवों का निवास है उनकी पूजा से ही अन्य देवों की पूजा हो जाती है।

विरिञ्चिः पञ्चत्वं व्रजति हरिराप्नोति विरतिं
विनाशं कीनाशो भजति धनदो याति निधनम्।

वितन्द्री माहेन्द्री विततिरपि संमीलतिदृशा
महासंहारेऽस्मिन्विहरति सति त्वत्पतिरसौ ।।26।।

महाप्रलय की बेला में केवल भगवति के पति ही बचते हैं वह भी आपके कारण (अर्थात् केवल परब्रह्म ही रहता है शक्ति भी उनमें अव्यक्त है) क्योंकि वह स्वयं वही है।

महाकाल के रूप में भगवती

सुधामप्यास्वाद्य प्रतिभयजरामृत्युहरिणीं
विपद्यन्ते विश्वे विधिशतमखाद्या दिविषदः

करालं यत्क्ष्वेलं कवलितवतः कालकलना
न शंभोस्तन्मूलं तव जननि ताटङ्कमहिमा।।28।।

देवताओं ने अमृत का पान कर लिया है परन्तु फिर भी कल्पान्त में सब देव मृत्यु को प्राप्त हो जाते हैं। भगवान् शंकर विष को पी गये तो परन्तु ''विष को पी लेना'' यह उनका माहात्म्य नहीं है, उसके मूल में हेतु भगवती माता की 'महिमा' है। जहर पीने की शक्ति जो है वह भी आपका ही स्वरूप है, जिससे भगवान ने काल को जीत लिया। यह सब कहते हैं कि शंकर ने किया है लेकिन सब आप करती है। यह आपकी शक्ति है।

ब्रह्मा, विष्णु, इन्द्रादि सभी देव सिर पर मुकुट धारण किये हुए है। नतमस्तक होकर भगवती को प्रणाम कर रहे हैं। भगवान् शंकर का मन्दिर में प्रवेश होता है, उस समय माता संसार के अभ्युत्थान के लिए आदेश दे रही हैं, देवता उनके परिजन है।आज्ञा वहीं दे सकती हैं। क्योंकि सबसे श्रेष्ठ उनकी वाणी है। परिजनोक्ति को आज्ञा संसार के अभ्युत्थान के लिए ही है।

भगवती के चरणों से स्वभावतः प्रस्फुटित होने वाला मयूख अष्टसिद्धियों से युक्त होता है। उससे घिरा हुआ अपने को मानकर जो ध्यान करता है वह स्वयं भगवती स्वरूप हो जाता है। वह 'त्वां अहं' की भावना का उदय कर लेता है भगवती में अपना ही रूप देखता है। यही योगी के हृदय में अहम् ब्रह्मास्मि की भावना है।

चतुष्षष्ट्या तन्त्रैः सकलमतिसन्धाय भुवनं
स्थितस्तत्तत्सिद्धिप्रसवपरतन्त्रैः पशुपतिः।

पुनस्त्वन्निर्बन्धादखिलपुरुषार्थैकघटना–
स्वतन्त्रं ते तन्त्रं क्षितितलमवातीतरदिदम्।। 31।।

'स्वतन्त्र ते तन्त्र से 'श्री विद्या' को ग्रहण करना चाहिए। यह विद्या कोई अलग नहीं है ब्रह्म विद्या ही श्रीविद्या है। थोड़ा संकेत पहले दिया गया है। पिछले श्लोक में ''अहं ब्रह्मास्मि'' का भाव है यह भाव उत्पन्न होने पर तीनों लोकों की विभूति तुच्छ लगने लगती है। साधक को पूर्णरूपेण त्याग हो जाता है। अभी तक भगवती के विभिन्न विग्रह का दर्शन हुआ। यहाँ से 31, 32, 33 में भगवती का स्वरूप मन्त्रात्मक है।

64 तंत्रों का उल्लेख वामकेश्वर तन्त्र में है 'स्वतन्त्र तेतन्त्र' सब तंत्रों के पश्चात् पृथिवी पर शिव के द्वारा प्रकट किया गया है। यह शिव की ब्रह्मविद्या है। अन्तिम ज्ञान केवल आत्मज्ञान है। जिस विद्या के द्वारा इन्द्रादि देवताओं ने 'ब्रह्म' को जाना वही विद्या श्रीविद्या है। अखिल पुरुषार्थ की घटना भी 'श्री विद्या' से ही प्राप्त होती है। इस श्लोक में 64 तंत्रों के अतिरिक्त भगवती का 'स्वतंत्र' अर्थात् उनका अपना 'तंत्र' कहकर भगवती के स्तुति की प्रधानता दी है। बाह्य पूजा के साथ–साथ अन्तर्याग पर विशेष ध्यान देने का संकेत है। भगवती के तंत्र पर विशेष जोर देते हुए भगवत् पाद यह स्पष्ट करते हैं कि यह तंत्र श्रेयस् को प्रदान करने वाला है। इस तंत्र में श्रीविद्या का रहस्य बताया गया है।

सृष्टि का रहस्य 'श्रीविद्या' है। श्रीविद्या 'चन्द्रकला' से भी सम्बन्धित है। भगवती षोडषी कही जाती है। चन्द्रमा में 16 कला होती है, सभी कलायें नित्य है इसलिए भगवती षोडषी है। पन्द्रह कलायें घटती–बढ़ती रहती हैं, परन्तु सोलहवीं कला की नहीं होती यही 'अमृता' नाम की कला है यही आत्मा है। पन्द्रह कलायें प्रतिपदा आदि तिथियाँ नित्य हैं, परन्तु ह्रासवृद्धि स्वभाव वाली हैं। षोडषी कला नित्य ज्योत्स्नामयी एवं सहस्रदलकमल में स्थित है।

सुभगोदय में उल्लिखित है– ''षोडशी– तु कला ज्ञेया सच्चिदानन्दरूपिणीं'' यही भगवती का षोडशवर्षीया सुन्दरी का स्वरूप है।वैन्दवस्थान चन्द्रमण्डल को कहते हैं। 11वें श्लोक की व्याख्या में 6 चक्रों के निरूपण में वैन्दव स्थान का उल्लेख है। यही स्थान आनन्दमयी कला का स्थान है, आनन्दमयी कला को श्री अथवा महात्रिपुरसन्दुरी कहते हैं।

> शिवश्शक्तिः कामः क्षितिरथ रविश्शीतकिरणः
> स्मरो हंसश्शक्रस्तदनु च परामारहरयः।
>
> अमी हृल्लेखाभिस्तिसृभिरवसानेषु घटिताः
> भजन्ते वर्णास्ते तव जननि नामावयवताम्।।32।।

भगवत्पाद ने विश्व के किसी भी ज्ञान को इस ग्रन्थ में छोड़ा नहीं है सभी विषयों पर कुछ न कुछ प्रकाश डालते हैं। यहाँ पर 32वें श्लोक में भगवती का स्वरूप वर्णों पर है। बीजाक्षर की व्याख्या है। भगवति के मन्त्रमय सूक्ष्ममूर्ति का ध्यान इस श्लोक में है। श्रीविद्या केपंचदशी मंत्र का यहां स्वरूप बताया गया है।

33वें श्लोक में 'महाभोग' शब्द है वह आत्मानन्द, आत्मदर्शनरूपी भोग का परिचायक है। श्लोक में प्रयुक्त 'एके' ''एकमेवद्वितीयं ब्रह्म'' का द्योतक है।

34वें श्लोक में कहा गया है कि–हे भगवती तुम्हारा जो शरीर है वह शम्भु का ही है सूर्य और चन्द्र उसके दो स्तन हैं और जो शंकर का शरीर है वह भगवती की आत्मा है, दोनों की अभिन्नता को प्रगट किया गया है। चित् और आनन्द ही शिव और शक्ति हैं। सूर्य– चन्द्र स्तन हैं, दोनों विश्व के पोषण तत्त्व है। ज्ञान रूप शिव परमभाव है। आनन्द भाव शक्ति भाव है। दोनों भाव समान रस वाले है।

श्रीचक्र, शिव, शक्ति तीनों नवव्यूहात्मक हैं। शक्ति के नौ व्यूह है– वामा, ज्येष्ठा, रौद्री, अम्बिका, इच्छा, ज्ञान, क्रिया, शान्ति, परा। श्री चक्र में 4 श्री कण्ठ, 5 शिव युवतियाँ, श्री चक्र के व्यूह हैं। शंकर के भी नव व्यूह है– काल, कुल, नाम,

ज्ञान, चित्त, नाद, बिन्दु, कला और जीव ।मिहिर और शशि ही शिव–शक्ति हैं।

35वें श्लोक में, भगवती सम्पूर्ण जगत् आपका ही परिणाम है, आपसे भिन्न कोई तत्त्व नहीं है। आपने ही अपने स्वरूप को प्रपंच के रूप में परिणत कर दिया है।

36वें से 41वें श्लोक तक चक्रों के बारे में बताया गया हैं–

तवाज्ञाचक्रस्थ – भगवती के आज्ञाचक्र में स्थित परमशिव की वन्दना है, शिव के वामांक में भगवती विराजमान है। विशुद्धचक्र में आकाश तत्त्व के जनक जो स्फटिक के समान स्वच्छ है ऐसे शिव के साथ में देवी की भी स्तुति की जा रही है। उनके शरीर से जो प्रकाश निकलता है। उससे जगत् का अन्धकार नष्ट हो जाता है। जगत् जब अज्ञान से मुक्त होता है चकोरी की भाँति आनन्दित होता है।

हृदयाकाश में विकसित कमल से निकलने वाले मकरन्द के एकमात्र रसिक हंस के जोड़े का भजन किया गया है। (विकसित ज्ञानरूपी कमल है, आनन्दरूपी–मकरन्द है), जो महान् पुरुषों के मनरूपी मान सरोवर में विचरण करते हैं वह परम हंस स्वरूप शिव और शक्ति जो हंसेश्वर और हंसेश्वरी स्वरूप हैं। 'हं' पुमान् है 'स' शक्ति है। यही हंस और हंसिनी का जोड़ा है। इस युगल के वार्तालाप का परिणाम 18 विद्यायें हैं– चार वेद, वेदांग, शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरूक्त, ज्योतिष, छन्द, मीमांसा, न्याय, पुराण, धर्मशास्त्र, आयुर्वेद, गान्धर्वविद्या और नीति शास्त्र का उद्‌गम है।

''**तवस्वाधिष्ठाने हुतवहमधिष्ठायनिरतम्**'' हे जननि! सम्बोधन है। भगवती के स्वाधिष्ठान चक्र में अग्नि तत्त्व, यहाँ 'समयाम्बा' नामक शक्ति और 'सम्वर्तेश्वर' की स्तुति की गयी है, भगवती की करुणामयी दृष्टि लोकानुग्रह के लिए है। चक्रों के निरूपण में यहाँ भगवती के ध्यान से देह में उत्पन्न कष्टों का उपशमन होता है।

40वें श्लोक का प्रारम्भ''**तडित्त्वन्तं शक्त्या......**।'' यहा मणिपुर चक्र का निरूपण है, जहाँ पर मेघेश्वरी रूप में भगवती का ध्यान किया जाता है, मेघेश्वर के रूप में शिव है। चक्रों में सूर्य का स्थान ऊपर, अग्नि का स्थान नीचे हैस, दोनों के ताप से जब शरीर रूपी त्रिभुन तपने लगता है तो मणिपुर में स्थित जल मेघ का रूप धारण कर लेता है तो मेघ में अग्नि, विद्युत के समान चमकने लगती है, इन दोनों के योग से शरीर में वर्षा के समान सिंचन होने लगता है।

41 वें श्लोक में मूलाधार चक्र का वर्णन किया गया हैं 'समया' देवी के नाम से भगवती का स्तवन है साथ में नटेश्वर नवात्मा–शिव जी का भी चिन्तन है। वहाँ भगवती का जो नृत्य है, उसका नाम 'लास्य' है। ताण्डव शंकर के नृत्य का नाम है। यह जड़ जगत् समस्त उनके ताण्डव का परिणाम है। पृथिवी तत्त्व की जो 64 मयूख का वर्णन है वह आधी शिव के और आधी शक्ति की समझना चाहिए। ये मयूख उनके तेज का ही परिणाम है।

42वें श्लोकसे भगवती का स्वरूप अलग होता है जिससे सौन्दर्यलहरी के दो भाग हो जाते हैं, प्रथम भाग **आनन्दलहरी** है। भाग दो में, भगवती के स्वरूप का वर्णन ब्रह्माण्ड के कण–कण में दिखायी पड़ता है। 42वें श्लोक में भगवत्पाद उस शक्ति के एक–एक अंग का वर्णन करते हैं। सगुण उपासना का अद्भुत मेल उस

निराकार के साथ करते हैं।

हिमाचल की पुत्री हैं। किरीट धारण करती हैं! उषा काल का आकाश ही उनका मुकुट है।

43वें में भगवती के केश से प्रार्थना की गई है जो हमारे अज्ञानरूपी अंधकार को दूर करते हैं। स्वयं सुगन्धित उनके केश अन्य पुष्पों को भी सुगन्धित किये हुए हैं। 44वें श्लोक में उनके सिन्दूर से भरी मांग, हमारे कल्याण का ध्यान रखते हैं। भगवती के मुखकमल की लालिमा से वह मांग सिन्दूर के समान चमक रही है।

45वें श्लोक में, घुंघराले केश से उनका मुखकमल घिरा है, जब मुस्कुराती हैं तो उनके स्फटिक के समान दन्त दिखते हैं। उस समय जो सुगन्ध निकलती है, उसकी सुगन्ध से भ्रमररूपी शिव जी के नेत्र आनन्दित हो रहे हैं। 46वें श्लोक में उनके ललाट का वर्णन है। 47वें श्लोक में उन्हें 'उमा' कहा गया है। 'भ्रुवों' का चिन्तन करने से भय का नाश होता है, क्योंकि 'माता' जगत् के भय का नाश करने के लिए सदैव उद्यत रहती हैं।

भगवती का दक्षिणनेत्र सूर्य है, जिससे दिन की सृष्टि होती है, वाम नेत्र चन्द्रस्वरूप हैं, जो रात का कारण है। तीसरा नेत्र सन्ध्या की सृष्टि करता है। 49वें श्लोक में भगवती के दृष्टि का वर्णन है। प्रथम विशाल है– मंगलमयी दृष्टि, अयोध्या, धारा, मधुरा, भोगवतिका, अवन्तिका, विजया। उदार स्वरूप के कारण वह विशाला हैं। कल्याण प्रदान करती है, तो कल्याणी हैं, सौन्दर्य के कारण अयोध्या, मधुर होने के कारण मधुरा, भोगदातृ होने के कारण भोगवतिका, सबकी रक्षा करने के कारण अवन्तिका है सब पर दृष्टिपात के कारण विजया हैं। **51वें श्लोक**में भी दृष्टि का ही वर्णन हैं। शिव के प्रति शृंगारमयी दृष्टि है। अन्य लोगों पर कुत्सित, गंगा पर क्रोधपूर्ण, शिव के चरित्र पर विस्मय करती हैं। सर्पों से भय दृष्टि, सखियों पर मुस्कानभरी दृष्टि, करुणा से भरी दयामयी दृष्टि, भक्तों पर रखती हैं। उनका कटाक्ष शंकर के चित्त में क्षोभ उत्पन्न करता है।

तीनों नेत्र का वर्णन–

जिसमें सत्त्व, रज और तम तीनों गुण हैं, अंजन लगाने से तीनों नेत्र में तीन रंग चमक रहे हैं। श्याम, लाल और श्वेत वर्णो से युक्त भगवती के नेत्र संगम स्थल को उत्पन्न करते हैं जिसके दर्शन से लोग पवित्र होते हैं। हिमाचल की पुत्री के नयनों के बन्द करने से जगत् में प्रलय, नेत्र खोलने से सृष्टि होती है, भगवत्पाद कहते हैं भगवती के नेत्र झपकते ही नहीं, नही तो तुरन्त प्रलय हो जाय। उन्हें मीनाक्षी और कमलाक्षी भी कहते हैं क्योंकि उनके नेत्र कानों तक फैले हुए हैं। मछलियाँ और लक्ष्मी भगवती के नेत्रों से स्पर्धा करती हैं क्योंकि भगवती के नेत्र अत्यधिक सुन्दर हैं, मछलियाँ पानी में छिप जाती है वहाँ से आँख खोल कर देखती हैं। लक्ष्मी प्रातः काल कुमुदिनी को छोड़ देती हैं, रात्रि को उन्हें खोलकर प्रवेश करती हैं।

मुख रथ है, रथ का पहिया कानों में लटकते हुए उनके दो कर्ण फूल हैं, जो कपोल पर प्रतिबिम्बित हो रहे हैं, जिसका आश्रय कामदेव ने लिया है। शंकर का रथ पृथिवी पर है, जिसके सूर्य और चन्द्र दो पहिये हैं। भगवती के रथ के चार पहिये हैं।

61वें श्लोक से 64वें श्लोक में क्रमशः नासिका, ओष्ठ, मुस्कान तथा जिह्वा का ध्यान किया गया है। 65वें श्लोक में देवों को अपने मुख के ताम्बूल से पुरस्कृत करती हैं। इसके अनन्तर उनकी मधुर वाणी की सराहना ,ठोड़ी, ग्रीवा, गले एवंचारों भुजाओं के ध्यान के साथ–साथ हाथ एवं वक्ष स्थल का ध्यान किया गया है जिसका पान गणेश और स्कन्द करते हैं।

नाभिजो सरोवर के सदृश गहरी है, जिसमें भगवान शंकर के क्रोध की ज्वाला से लिपटे हुए कामदेव अपने को शीतल करते हैं, उससे जो धुआं उठा उससे एक रेखा बनी, जिसे लोग रोमावली समझते हैं।

77 वें श्लोक में रोमावली यमुना के पतली तरंग के समान भगवती के कृश कटिभाग में दिखाई पड़ती है। ऐसे तेरे नाभी की जय हो। उनका उपमा किससे दी जा सकती है, वह नाभी क्या गंगा का स्थिर भवर है या स्तनरूपी पुष्पों को धारण करने वाली रोमावली रूपी लता के उगने का गमला है। ब्रह्म का अद्भुत चित्रण नाभी के माध्यम से किया गया है। 79वें श्लोक में भगवती की कृशता के सौन्दर्य का ध्यान किया गया है।

83वे श्लोक में भगवती के वक्षस्थल का वर्णन है।वक्षस्थल के भार से झुकी हुयी हैं।नीचे कटि प्रदेश पतला है जिससे वह टूट सकता है, ऐसा प्रतीत हो रहा है। कामदेव ने उनके सौन्दर्य की रक्षा के लिए लता की बेल से तीन बार लपेट कर बाध रखा है। इसके अनन्तर उरु प्रदेश, नितम्ब का ध्यान किया गया है।

84वें श्लोक से लेकर श्लोक संख्या 90 तक भगवती के चरण के ध्यान में समर्पित है जिसे श्रुतियाँ सिर पर धारण करती हैं। भगवती का चरणोदक शंकर की जटा से निकली गंगा है।

88. कीर्ति का स्थान भगवती के चरण है, भक्तों को कष्टों से सुरक्षित रखती हैं, आने वाले संकटों से भी रक्षा करता है। भगवान शंकर ने विवाह के समय दोनों हाथों से उठाकर संकोच के साथ पत्थर पर रखा था। 95वें श्लोक में कहा गया है कि भगवती शिव के अन्तःपुर की महाराज्ञी है। चंचल हृदय वाले उनकी पूजा नहीं कर सकते है।

97वें एवं 98वें श्लोक में भगवत्पाद, भगवती को सरस्वती, लक्ष्मी एवं पार्वती, इन तीनों से परे,''**चौथी महामाया**'' कहते हैं। इतने स्वरूप को समझने के बाद भी अर्थात् ज्ञान होने पर भी भगवत्पाद कहते हैं– मुझे वह चरणोदक कब प्राप्त होगा, वह समय कौन सा होगा, जिसके पान से मूक वाचाल हो गये। कालिदास की ज्ञानगंगा से कौन परिचित नहीं है, विद्या का सारा श्रेय भगवती को ही है। जन्म से गूँगे को भी शक्ति प्रदान करती हैं वह कविता करने लगता है।

प्रदीप ज्वालाभिः यह श्लोक 100वाँ हैं। भगवती का जितना भी यह स्तवन है, उनके द्वारा प्रदत्त शक्ति की महिमा है, वह वाक् देवी के रूप में वहीं है, वेद के वाक् सूक्त में बहुत ही सुन्दर वर्णन है, इसका कारण भगवद्पाद अपने को नहीं उन्हें ही कहते हैं।

पर,ा पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी ये वाणी के चार रूप हैं, जो उन्हीं के द्वारा रचे गये है। दीपक तेल का सानिध्य पाकर अन्धकार का नाश करता है। सागर में स्नान करके उसी के जल से लोग सागर को अर्घ्य प्रदान करते हैं। ठीक उसी

प्रकार तुम्हारें द्वारा दी गयीं वाणी और शक्ति से स्तुति करके गरिमामंडित हो रहा हूं। सौन्दर्यलहरी में ब्रह्म के रूप में स्त्रीतत्त्व की अभिव्यक्ति प्रत्येक कण–कण में व्याप्त है, जो सृष्टि की परमशक्ति है। यही शिवः शक्त्यायुक्तों की व्याख्या है।

3.10 सारांश

परमार्थ सत्य एकमात्र ब्रह्म है। ब्रह्म में किसी प्रकार का परिणाम नही होता फिर भी उसकी कामना है– मै बहुत हो जांउ । **सोकामयत् बहुस्यां प्रजायेयेति। स तपो तप्यत्।**ब्रह्म इच्छा करने में स्वतन्त्र है क्योंकि वह सर्वदृक् है। यही आचार्य शंकर का सौन्दर्यलहरी में प्रमुख प्रतिपाद्य है।

सौन्दर्यलहरी के प्रथम श्लोक से ही यह रहस्य निकलता है कि पाप मत करो, पाप न करना ही पुण्य है। यह ग्रन्थ सगुण–निर्गुण की उपासना के साथ सामाजिक दृष्टि से बहुत महत्त्वपूर्ण है। सब भगवती को प्रणाम क्यों नहीं करते, क्योंकि उनका पुण्य नहीं है। उस समय स्त्रियों की क्या दशा रही होगी जिसके कारण नारी शक्ति पर इतना विचार–विमर्श किया है। कहीं न कहीं शंकराचार्य जी के के अन्तःकरण में मातृत्त्व का विशेष अनुभव हुआ होगा जिससे इतनी उच्चकोटि की रचना की जहाँ स्त्री को सर्वोच्च स्थान दिया गया है। एक श्लोक में कहा गया है तो कि–**यह जगत माता–पितावान है तो भगवती केवल आपके कारण।**

इस ग्रन्थ में अद्वैत का प्रतिपादन ही मुख्य विषय है। एक कण ही पर्याप्त है, सृष्टि के पालन, सृजन एवं संहार के लिए। शक्ति के विविध रूपों का स्पष्टीकरण करना भी एक मुख्य उद्देश्य है। वह प्राण हैं, अविद्या का विनाश करती है, परमज्योति के रूप में शक्ति के स्वरूप का दर्शन है।भगवती के अनेक विग्रहों से परिचित कराना भी एक परम उद्देश्य है जिसे ग्रन्थ में अच्छी तरह से प्रस्तुत किया गया है। एक शक्ति कितने रूपों में कार्य करती है, पहले देवतत्त्व के रूप में उनका दर्शन कराना, फिर वह शक्ति प्रकृति में कैसे व्याप्त है। इस विषय पर विस्तार से वर्णन किया गया है।

विश्व में स्त्री–तत्त्व की पराकाष्ठा यदि कही व्यक्त की गई है तो भगवत्पाद शंकराचार्य विरचित सौन्दर्यलहरी में ही की गई है।103 श्लोकों में निबद्ध श्रीमद्भगवत्पाद शंकराचार्य द्वारा रचित यह सौन्दर्यलहरी, अपने आप में, वास्तव में एक साथ श्रुति, स्मृति एवं पुराण आदि सब कुछ है जिसका सौन्दर्य भगवती पराम्बा के सौन्दर्य में देखा जा सकता है।

3.11 पारिभाषिक शब्दावली

1. **ब्रह्म**– परमार्थ सत्य एकमात्र ब्रह्म है। ब्रह्म में किसी प्रकार का परिणाम नही होता फिर भी उसकी कामना है। ब्रह्म इच्छा करने में स्वतन्त्र है क्योंकि वह सर्वदृक् है। वह ब्रह्म न स्त्री है न पुरुष न नपुसंक ही है, जितने शरीरधारी है सब उसी से सुरक्षित हैं।

2. **शक्ति– शक्ति** कारण स्वरूपा हैं। सृष्टि स्थिति संहारकारिणी भगवती हैं। प्राण तत्त्व हैं। वही शक्ति हैं।

3. **तुरीयावस्था**– तुरीया हमारी आत्मा है ऐसा ज्ञान होने पर अविद्या नष्ट हो

जाती है। तुरीय सर्वदृक् है, सर्वरूप है, तुरीय ही सम्पूर्ण भूतों में स्थित है और साक्षी रूप से भासमान है, उससे भिन्न कोई द्रष्टा नहीं है। वहीं विशेष विज्ञान की उत्पत्ति का बीज है। तुरीय में न निद्रा है न स्वप्नावस्था है। स्वप्नावस्था का तात्पर्य अन्य वस्तु का ग्रहण करना स्वप्नावस्था है जैसे रज्जु में सर्प ग्रहण करना अन्यथा ग्रहण करना है। तुरीय तीनों अवस्थाओं से परे है। एकमात्र आत्मचेतना ही उसका प्रमाण है। जहाँ सारे प्रपंच का समन हो जाता है, उस शान्त, शिव और अद्वैत को चतुर्थ माना जाता है, वही आत्मा है वही परमात्मा है। वही परमपुरुष है।

4. **त्रिपुरा**– प्रपंचसार नामक ग्रन्थ में कहा गया है कि ब्रह्मा, विष्णु और महेश रूप त्रिमूर्ति की सृष्टि के कारण, त्रयी वेदस्वरूपा होने के कारण तथा प्रलयकाल में तीनों लोकों को अपने में समा लेने के कारण, अम्बिका का त्रिपुरा नाम है।

5. **षोडशी**–तीनों भुवनों में लोकोत्तर सौन्दर्यशालिनी होने के कारण त्रिपुरसुन्दरी नाम से और सोलह वर्ष की बाला की तरह प्रतीत होने के कारण भगवती षोडशी नाम से भी प्रसिद्ध हैं। चन्द्रमा में 16 कला होती है, सभी कलायें नित्य है इसलिए भगवती षोडषी है। पन्द्रह कलायें घटती–बढ़ती रहती हैं, परन्तु सोलहवीं कला में वृद्धि और क्षय नहीं होता, यही **'अमृता'** नाम की कला है। पन्द्रह कलायें प्रतिपदा आदि तिथियाँ नित्य हैं, परन्तु ह्रासवृद्धि स्वभाव वाली हैं। षोडषी कला नित्य ज्योत्स्नामयी एवं सहस्रदलकमल में स्थित है।

6. **चक्र**–मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपुर, अनाहत, विशुद्ध और आज्ञा चक्र के रूप में छः चक्र हैं।

3.12 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. श्रीमच्छंकरभगवत्पादविरचिता, सौन्दर्यलहरी, लक्ष्मीधरा– सौभाग्यवर्धिनी–अरुणामोदिनी–आनन्दगिरीया–तात्पर्यदीपिनी–पदार्थचन्द्रिका–डिण्डिमभाष्य–गोपालसुन्दरी–आनन्दलहरी– कैवल्यवर्धिनी, आंग्लानुवाद, टिप्पणी, प्रयोगयन्त्र तथा पूजाविधि सहित सम्पादक– ए0 कुप्पुस्वामी, राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान, मानित विश्वविद्यालय 56–57, इन्स्टीट्यूशनल एरिया, जनकपुरी, नई दिल्ली–110058.
2. भगवत्पादश्रीमदादिशंकराचार्यविरचिता, सौन्दर्य–लहरी, व्याख्याकार– स्वामी सदानन्द सरस्वती, प्रकाशक– द्वारकाधीश संस्कृत अकादमी, द्वारका, जामनगर (गुजरात), विक्रमसम्वत् 2065.
3. श्रीमत् परमहंस परिब्राजकाचार्य श्री 1008 शंकरभागवत्पाद विरचिता, सौन्दर्य–लहरी, हिन्दी अनुवाद और श्रीविद्यातत्त्व कुण्डलिनी रहस्य सहित, लेखक– स्वामी विष्णुतीर्थ महाराज, 1949.
4. श्रीशंकराचार्यविरचित सौन्दर्यलहरी अर्थात् सौन्दर्य सागर (कूल, पद्यानुवाद एवं यन्त्र चित्रों सहित, व्याख्याकार– पण्डित हरिहर प्रसाद त्रिपाठी, चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी, सम्पादक– मृत्युंजय त्रिपाठी, 2019.
5. श्रीविद्या साधना, लेखक– डॉ0 श्यामाकान्त द्विवेदी 'आनन्द', चौखम्भा विद्या भवन, वाराणसी–221001.

6. श्रीकरपात्रिस्वामी– विरचिता श्रीविद्या–वरिवस्या, सम्पादक– दत्तात्रेयानन्दनाथः (सीताराम–कविराजः), प्रकाशक– श्रीविद्यासाधनापीठ, वाराणसी, 20160

7. श्रीराजराजेश्वरी– त्रिपुरसुन्दरी नित्याराधनस्तोत्राणि, संकलयिता– स्वामी सदानन्दसरस्वती, सम्पादक– स्वामी अविमुक्तेश्वरानन्द सरस्वती, प्रकाशक– श्री शारदापीठ विद्यासभा संचालित, श्रीद्वारकाधीश संस्कृत अकादमी, द्वारका, (गुजरात)।

8. ऋग्वेद–संहिता, सम्पादक– पं0 श्रीपाद दामोदर सातवलेकर, स्वाध्याय मण्डल, पारडी (जिला– बलसाड), चतुर्थ संस्करण।

9- सौन्दर्यलहरी (हिन्दी भाषा भाष्य), व्याख्याकार– पं0 हरिदत्तशास्त्री] *Saundaryalahari of Sri Shankarabhagavatpādāchārya with the commentary of Laksmidhara, Translated by- S.S. Sastri & T.R.S. Ayyangar, Edited by- Dr. N.C. Panda, Bharatiya Kala Prakashan, Delhi, 2009. *

3.13 बोध प्रश्न

1. निम्नलिखित में सौन्दर्यलहरी का प्रथम भाग है–

   क) आनन्दलहरी

   ख) संगीतलहरी

   ग) सौन्दर्यलहरी

   घ) उपर्युक्त में से कोई नही

2. श्रीचक्र में कुल त्रिकोणों की संख्या है–

   क) 11

   ख) 43

   ग) 09

   घ) 05

3. सौन्दर्यलहरी में प्रतिपादित मूल प्रकृति में शिव और शक्ति की मूल प्रकृति की संख्या है–

   क) शिव की एक और शक्ति की आठ

   ख) शिव की तीन और शक्ति की छः

   ग) शिव की चार और शक्ति की पांच

   घ) शिव की पांच और और शक्ति की चार

4. इनमें से कौन सा कोण शक्ति का है–

   क) उर्ध्वमुखकोण शक्ति का है।

   ख) उर्ध्वमुख और अधोमुख दोनोंकोण शक्ति के है।

   ग) अधोमुख कोण शक्ति का है।

   घ) उपर्युक्त में से कोई नही।

5. सौन्दर्यलहरी में चिदानन्दलहरी किसे गया है–
   क) शक्ति को
   ख) शिव को
   ग) दोनों को
   घ) किसी को नही
6. निम्नलिखित में पृथिवी तत्त्व किसमें है–
   क) मणिपूर चक्र में
   ख) मूलाधार चक्र में
   ग) स्वाधिष्ठान में
   घ) अनाहत में
7. श्रीचक्र में कितने खण्ड बनते है–
   क) पांच
   ख) दो
   ग) तीन
   घ) एक
8. सौन्दर्यलहरी के रचनाकार है–
   क) श्रीमद्भगवत गोविन्द्पादाचार्य
   ख) श्रीमद्भगवत गौडपादाचार्य
   ग) श्रीमद्भगवद् सुरेश्वराचार्य
   घ) शकंराचार्य जी
9. सौन्दर्यलहरी का प्रतिपाद्य दर्शन क्या है–
   क) अद्वैत
   ख) द्वैत
   ग) विशिष्टाद्वैत
   घ) द्वैताद्वैत
10. सौन्दर्यलहरी में इनमे से किस सम्बन्ध को प्रतिपादित किया गया है–
   क) शिव स्वतन्त्र नही हैं।
   ख) शिव शक्ति का अभेदात्मक सम्बन्ध है।
   ग) शिव शक्ति का कोई सम्बन्ध नही है।
   घ) शक्ति स्वाधीन हैं।
11. सौन्दर्यलहरी में कुल कितने श्लाक है–
   क) 100
   ख) 101
   ग) 103
   घ) 51

12. भगवती का ध्यान शरीरस्थ चक्रों में किस रूप में किया जाता है–
    क) रमा के रूप में
    ख) ब्रह्म के रूप में
    ग) शिव के रूप में
    घ) कुण्डलिनी शक्ति के रूप में
13. शकंराचार्य जी सौन्दर्यलहरी में शक्ति के किस स्वरूप का वर्णन करते है–
    क) शक्ति के ब्रह्म स्वरूप का
    ख) शिव स्वरूप का
    ग) विष्णु स्वरूप का
    घ) उपर्युक्त में से कोई नही
14. शक्ति के किस स्वरूप को पुरुषिका कहा गया है–
    क) लक्ष्मी को
    ख) हिमगिरिसुता को
    ग) सरस्वती को
    घ) इनमें से किसी को नही
15. पुरुषिका का सम्बोधन किसने किया है–
    क) ब्रह्मन् ने
    ख) श्रीविष्णु ने
    ग) शिव ने
    घ) इन्द्र ने
16. कमलवनबाला कहा गया है–
    क) विष्णु की लक्ष्मी को
    ख) इन्द्र की शची को
    ग) सूर्य की प्रभा को
    घ) शिव की शिवा को

3.14 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

उत्तर – 1.(क), 2. (ख), 3. (ग), 4. (ग), 5. (क), 6. (ख), 7. (ग), 8. (घ), 9.(क), 10. (ख), 11.(ग), 12.(घ), 13.(क), 14. (ख), 15.(ग), 16.(घ)

इकाई 4 जैन, बौद्ध दर्शन एवं श्री गुरुग्रन्थ साहिब जी में स्त्री तत्त्व निरूपण

इकाई की रूपरेखा

4.0 उद्देश्य

इस इकाई में जैन, बौद्ध एवं सिख परम्परा में स्त्री समानता के सिद्धांतों पर चर्चा की गई है। इस इकाई के अध्ययन के बाद आप–

- जैन,बौद्ध एवं सिख धर्म दर्शन की संक्षिप्त रूपरेखा समझ सकेंगे।
- जैन, बौद्ध एवं सिख धर्म की सामाजिक सांस्कृतिक पृष्ठभूमि की व्याख्या कर सकेंगे।
- महावीर स्वामी, महात्मा बुद्ध एवं गुरुनानकदेव द्वारा निर्मित सामाजिक ढाचे को समझ सकेंगे।
- अलग–अलग समय में विकसित होने वाले जैन,बौद्ध एवं सिख धर्म पर चर्चा कर सकेंगे।
- जैन,बौद्ध एवं सिख धर्म में स्त्री–पुरुष समानता के सिद्धांतों से परिचित हो सकेंगे।

4.1 प्रस्तावना

सनातन हिन्दू धर्म में वेद, भारतीय ज्ञान परम्परा के मूल आधार हैं जो स्त्री को अत्यंत गरिमापूर्ण तथा उच्च स्थान प्रदान करते हैं। वेदों में स्त्री शिक्षा सहित स्त्री के कर्त्तव्यों, अधिकारों, गुणों के साथ–साथ उनकी सामाजिक भूमिका के सन्दर्भ में जो वर्णन प्राप्त होते हैं वे विश्व के किसी भी अन्य धर्मग्रन्थ में नहीं पाए जाते। वेद स्त्री को गृह, देश तथा विश्व साम्राज्ञी बनने तक का अधिकार प्रदान करते हैं।

वेद स्त्री को यज्ञ के समान पूजनीय, ज्ञान देने वाली, सुख समृद्धि प्रदाता, तेजस्विनी, विदुषी, सरस्वती तथा उषा आदि नामों से सम्बोधित करते हैं। वेदों के अनुसार स्त्री पर कोई प्रतिबन्ध नहीं है, वे विजयिनी, सहयोगी तथा सदैव प्रोत्साहन देती हैं। अध्ययन अध्यापन से लेकर रणक्षेत्र की कुशलता तक में स्त्री निपुण है। महाराज दशरथ के साथ कैकेयी का युद्ध में जाना इसका प्रमाण है। यह स्त्री पुरुष समानता का उत्कृष्ट उदाहरण है। वैदिक काल में कन्या को स्वयं अपना पति चुनने का अधिकार था। अनेक स्त्रियाँ जो वैदिक मंत्रों की द्रष्टा रही हैं जिन्हें ऋषिकाएँ कहा गया। उनमें अपाला घोषा, सरस्वती, सूर्या, सावित्री, अदिती, दाक्षयिनी, लोपामुद्रा विश्वारा तथा आत्रेयी आदि ऋषिकाओं के नाम प्रमुख हैं। यहाँ कुल निहितार्थ यह है कि प्राचीन वैदिक कालीन समाज स्त्री को सम्मान तथा समानता का अधिकार देता था। उपर्युक्त के सन्दर्भ में सभी वेदों में उल्लिखित श्लोकों का अध्ययन आवश्यक होगा लेकिन क्या वेदों के अतिरिक्त अन्य धर्मों में स्त्री के प्रति यही धारणा और दृष्टि रही है? क्या अन्य धर्मों में भी स्त्री को पुरुष के समान ही अधिकार प्रदान किए गये हैं? इन्हीं महत्त्वपूर्ण पक्षों पर हम सनातन वैदिक कालीन समाज के आलोक में जैन, बौद्ध एवं सिख परम्परा में स्त्री समानता के मूलभूत सिद्धान्तों पर विचार करेंगे।

4.2 जैनधर्म दर्शन की संक्षिप्त रूपरेखा

जैन धर्म हिन्दू धर्म के बाद भारत का दूसरा प्राचीन धर्म है। जैन 'जिन' शब्द से बना है, जिसका अर्थ होता है जीतना अर्थात् इन्द्रियों का जीतना। जिन्होंने अपनी वाणी और काया को जीत लिया वो जिन कहलाए। यह भारत की श्रमण परम्परा से निकला हुआ वास्तविक धर्म एवं दर्शन है। जैन अनुयायी इसे अनादिकाल से चले आ रहे धर्म के रूप में स्वीकार करते हैं। इस धर्म का प्रचार–प्रसार समय–समय पर कुल 24 तीर्थंकरों ने किया। जैन परम्परा में जो तीर्थ का निर्माता होता है वह तीर्थंकर कहलाता है। जैनधर्म के संस्थापक और पहले तीर्थंकर ऋषभदेव तथा अंतिम व 24वें महावीर स्वामी थे। बिम्बिसार, आजातशत्रु, नंद, भद्र बाहु, चन्द्रगुप्त मौर्य, कलिंग सग्राट खारवेल आदि प्रतापी राजा जैन धर्म के अनुयायी थे जिनके अभिलेखों से जैन धर्म की सामाजिक धार्मिक स्थिति का ज्ञान होता है। विभिन्न कालखण्ड में पूरब से पश्चिम और उत्तर से दक्षिण तक सभी प्रतापी राजाओं ने जैन धर्म को विशेष संरक्षण प्रदान किया। सम्मेदशिखर, माउंट आबू, राजगीर, पावापुरी, कर्नाटक में श्रवणबेलगोला आदि जैन धर्म के महत्त्वपूर्ण तीर्थ स्थल हैं। पर्यूषण पर्व, दीपावली, श्रुत पंचमी तथा रक्षाबंधन जैन धर्म में प्रमुख त्यौहार हैं। जैन धर्म 24वें तीर्थंकर भगवान महावीर के सभी प्रवचन प्राकृत भाषा में जैन आगमों उत्तराध्ययनसूत्र में सुरक्षित है।

जैन धर्म क्रमशः दो सम्प्रदायों पहला श्वेताम्बर अर्थात् जो वस्त्र धारण करते हैं तथा दूसरा दिगम्बर अर्थात् जो वस्त्र नही धारण करते हैं, में विभक्त है। इन दोनों सम्प्रदायों का विभाजन ईसा की पहली शताब्दी से ही चला आ रहा है जिनमें दार्शनिक स्तर पर कोई मौलिक भेद भाव नहीं है। भेद है तो कुछ आचारों और कुछ वर्धमान महावीर के जीवन तथा आगमों के सम्बन्ध में, जैसे– दिगम्बर जैन यह मानते हैं कि स्त्री को मुक्ति या मोक्ष प्राप्ति के लिए पुनः पुरूष रूप में जन्म लेना होगा । इसके लिए वे स्त्री की षारीरिक संरचना को जिम्मेदार मानते हैं। भारत में श्वेताम्बर जैन गुजरात, राजस्थान, उत्तर प्रदेश तथा मध्य प्रदेश में पाये जाते हैं वहीं दिगम्बर पंजाब, पूर्वी राजस्थान दक्षिण भारत में पाये जाते हैं। श्वेताम्बरों के मूल ग्रंथ जिन्हें (अंग) कहते हैं प्राकृत भाषा में लिखे गए हैं जबकि दिगम्बरों के ग्रन्थ संस्कृत में। जैन मुनियों का विश्वास है कि सृष्टि के दो काल खण्ड है– पहला उत्सर्पिणी अर्थात् मनुष्य

के विकास का उर्ध्वमुखीकाल, दूसरा अवसर्पिणी अर्थात् मनुष्य के उत्तरोत्तर पतन का अधोमुखी काल। प्रत्येक काल खण्ड में जैन धर्म के सत्य को पुनर्स्थापित करने के लिए एक तीर्थंकर प्रकट होता है। इस प्रकार जैन धर्म शास्वत तथा सनातन धर्म है। वर्तमान अवसर्पिणी काल खण्ड में निम्नलिखित 24 तीर्थंकर हुए हैः 1. ऋषभ, 2. अजित, 3. संभव, 4. अभिनंद, 5. सुमति, 6. पद्मप्रभ, 7. सुपार्श्व, 8. चंद्रप्रभ, 9. पुष्पदंत (सुविधि), 10. शीतल, 11. श्रेयंस, 12. वसुपूज्य, 13. विमल, 14. अनंत, 15. धर्म, 16. शांति, 17. कुन्तु, 18. अर, 19. मालि, 20. मुनिसुव्रत, 21. नामी, 22. नेमिनाथ (अरिष्टनेमि), 23. पार्श्व, 24. महावीर।[1]

पंच णमोकार मंत्रों पर आधारित जैन धर्म में साधना का प्रमुख उद्देश्य किसी भी जीव को हानि न पहुँचाना है। इसी उद्देश्य के कारण जैन धर्म में अहिंसा का जीवन दर्शन विकसित हुआ जिसके साथ 'समत्व' सुख–दुःख, मान अपमान तथा सभी स्थितियों में समान भाव धारण करना ही इस धर्म का मुख्य सिद्धान्त बन गया।

4.3 जैनधर्म दर्शन में स्त्री विषयक सिद्धान्त

जैन धर्म में स्त्री को उच्च स्थान प्राप्त है। मुनिश्री प्रमाण सागर के अनुसार– ''जैन धर्म में जितना नारी को सम्मान दिया गया होगा उतना किसी अन्य धर्म में नहीं दिया गया होगा। नारी **'गुणवती धत्रे सृष्टि अग्रिमम पदम्'** अर्थात् गुणवान नारी सृष्टि में अग्रिम पद को धारण करती है। तीर्थंकरों ने समवशरण में नारियों को दीक्षित कर अर्यिका बना कर उच्च स्थान दिया है। भगवान् ऋषभ देव ने राज्य अवस्था में अक्षर और अंक विद्या पहले ब्राह्मी और सुन्दरी को प्रदान की बाद में भरत और बाहुबली को। आज अक्षर और अंक विद्या जो हमें प्राप्त हुई है वो ब्राह्मी और सुन्दरी के प्रताप से ही हुई है, तो नारी का इससे बड़ा स्थान क्या होगा?

भारत की सम्पूर्ण सांस्कृतिक परम्परा में श्रमण परम्परा को विवेकसम्मत तथा क्रांति धर्मी परम्प्रा का वाहक माना गया जिसने विषमतावाद और वर्गवाद से उपर उठकर समतावादी मूल्यों को स्थापित करने पर जोर दिया। जैन धर्म श्रमण परम्परा का एक महत्त्वपूर्ण अंग है जिसमें स्त्री–पुरुष की समानता पर बल दिया गया है। जैन धर्म में स्त्री के भोग्या स्वरूप को नकार कर पुरुष के समकक्ष स्थान दिया गया है।

जैन धर्म का विस्तृत इतिहास एवं उसकी परम्परा का ज्ञान हमें उनके साहित्य ग्रंथ 'आगमों' से प्राप्त होता है। जैन आगम साहित्य एक किसी एक काल खण्डकी रचना नहीं है। वह ईसा पूर्व पांचवी शती से लेकर बारहबीं शती तक अर्थात् एक हजार वर्ष की सुदीर्घ कालावधि में निर्मित परिष्कारित और परिवर्तित होता रहा है अतः उसके समग्र सन्दर्भ एक ही काल के नहीं हैं। पुनः उनमें भी जो कथा भाग है, वह मूलतः अनुश्रुति परक तथा प्रागैतिहासिक काल से सम्बन्ध रहता है। ऐसे में तमाम परिष्कार और परिवर्तन के बाद भी आगमों के अनुसार जैनाचार्यों की दृष्टि में नारी का चरित्र अत्यंत उज्जवल है। आगमों में स्त्रियों की प्रशंसा करते हुए कहा गया है कि जो गुण सहित स्त्रियाँ है, जिनका यश लोक में फैला हुआ है तथा जो मनुष्य लोक में देवता समान है और देवों से पूजनीय है, उनकी जितनी प्रशंसा की जाए कम है। तीर्थंकर, चक्रवर्ती, वासुदेव, बलदेव और श्रेष्ठ गणधरों को जन्म देने वाली महिलाएँ, श्रेष्ठ देवों और उत्तम पुरुषों द्वारा पूजनीय होती हैं। कितनी ही महिलाएँ एक पति व्रत और कौमार्य ब्रह्मचर्य व्रत धारण करती है। कितनी ही जीवन पर्यंत वैधव्य का तीव्र दुःख

भोगती है। ऐसी भी कितनी शीलवती स्त्रियाँ सुनी जाती हैं जिन्हें देवों के द्वारा सम्मान आदि प्राप्त हुआ तथा जो शील के प्रभाव से शाप देने और अनुग्रह करने में समर्थ थीं। कितनी ही शीलवती स्त्रियां महानदी के जल प्रवाह में भी नहीं डूब सकी और प्रज्जवलित घोर आग में भी नहीं जल सकीं तथा सर्प व्याघ्र आदि भी उनका कुछ नहीं कर सके। कितनी ही स्त्रियां सर्वगुणों से सम्पन्न साधुओं और पुरुषों में श्रेष्ठ चरमशरीरी पुरुषों को जन्म देने वाली माताएं हुई हैं। आवश्यक चूर्णि और कल्पसूत्र टीका में उल्लेख है कि महावीर ने माता को दुःख न हो, इस हेतु उनके जीवित रहते संसार त्याग नहीं करने का निर्णय अपने गर्भ काल में ले लिया था। इस प्रकार नारी तीर्थंकर द्वारा भी पूज्य मानी गई है।

जैन धर्म में स्त्रियाँ भी तीर्थंकर हुई हैं जिनमें श्वेताम्बर परम्परा की सर्वमान्य पुरुषों के समान ही तीर्थंकर मल्ली कुमारी को माना जाता है। इसके अतिरिक्त ब्राह्मी, सुन्दरी तथा चन्दना भी वन्दनीय ऋषिकाएं मानी गई। जैन धर्म में स्त्री तीर्थंकरों गृहस्थ उपासिकाओं तथा ऋषिकाओं द्वारा पुरुषों को अनेक अवसरों पर ज्ञान देकर सन्मार्ग पर लाने का उल्लेख मिलता है। उत्तराध्ययन एवं दशवैकलिक की चूर्णि में राजोमति द्वारा मुनि रथनेमि को तथा आवश्यक चूर्णि में ब्राह्मी और सुन्दरी द्वारा मुनि बाहुबली को प्रतिबोधित करने के उल्लेख हैं। उत्तराध्ययन में रानी कमलावती राजा इषुकार को सन्मार्ग दिखाती हैं। जैन धर्म में भिक्षु और भिक्षुणियों को समान रूप से जैनसंघ कहा गया। जैन संघ में नारी के महत्त्व का अनुमान इस बात से भी लगाया जा सकता है कि प्राचीन काल से आज तक की परम्परा में भिक्षुओं की अपेक्षा भिक्षुणियों की तथा गृहस्थ उपासकों की अपेक्षा उपासिकाओं की सर्वाधिक संख्या रही है। इस प्रकार जैन आचार्यों ने स्त्री को जैन संघ के महत्त्वपूर्ण घटक के रूप में स्वीकार किया है। जैन धर्म धर्म साधना के क्षेत्र में स्त्री–पुरुष को समान व्यवहार की छूट प्रदान करता है। इस सन्दर्भ में उत्तराध्ययन, ज्ञाता धर्म कथा तथा अन्तकृतदशा आदि आगम ग्रंथों को देखा जा सकता है जिसमें स्त्री और पुरुष दोनों को ही धर्म साधना की उच्चतम अवस्था 'मोक्ष' प्राप्ति के लिए सक्षम माना गया है। जैन धर्म के आगमों आगमिक व्याख्याओं, भाष्य यहां तक कि किसी चूर्णि साहित्य में भी स्त्री निषेध का कहीं कोई संकेत नहीं प्राप्त होता। "जैन धर्म संघ में नारी की महत्ता को यथा सम्भव सुरक्षित रखने का प्रयत्न किया गया है। मथुरा में उपलब्ध अभिलेखों से यह स्पष्ट होता है कि धर्म कार्यों में पुरुषों के समान नारियां भी भाग लेती थीं। वे न केवल पुरुषों के समान पूजा उपासना कर सकती थी, अपितु वे स्वेच्छानुसार दान भी करती थीं। जैन परम्परा में मूर्तियों पर जो प्राचीन अभिलेख उपलब्ध होते हैं उनमें सामान्य रूप से पुरुषों के साथ–साथ स्त्रियों के नाम भी उपलब्ध होते हैं जो इस तथ्य के प्रमाण हैं।

जैन संघ में जिस प्रकार संघ प्रमुख के रूप पुरुषों की महत्ता है ठीक उसी प्रकार गणिनी, प्रवर्तिकी, गणावच्छेदिनी तथा अभिषेका आदि पद प्राप्त स्त्रियों को भी भिक्षुणी जैन संघ के प्रमुख के रूप विशेष महत्त्व प्राप्त है। वे अपने भिक्षुणी संघ की स्वतंत्र रूप से आंतरिक व्यवस्था देखती थी। यद्यपि तरूणी भिक्षुणियों की सुरक्षा का दायित्व भिक्षु संघ के पास था लेकिन सामान्यतया भिक्षुणियां अपनी सुरक्षा की व्यवस्था स्वयं रखती थी क्योंकि रात्रि एवं पद यात्रा में भिक्षु एवं भिक्षुणियों का एक ही साथ रहना सामान्यतया वर्जित था भिक्षुणियों की सुरक्षा के लिये संघ में प्रतिहारी आदि पद भी बनाए गये थे। साध्वियों का जीवन अधिक कष्टप्रद था उन्हें अधिक अनुशासित तथा नियंत्रित जीवन बिताना पड़ता था। उनके लिए विधान है कि उन्हें साधुओं द्वारा आरक्षित दशा में अकेले नहीं रहना चाहिए तथा संदिग्ध चरित्र वालों के साथ निवास नहीं करना चाहिए। यह कहा गया कि आचार्य युवा साधु और वृद्धा साध्वियों तरूण

साध्वियों को अपने संरक्षण में लेकर यात्रा करें। विपरीत परिस्थितियों में अर्थात् शील भंग आदि की अवस्था में दण्ड व्यवस्था के संदर्भ में जैन संघ ने नारी की प्रवृत्ति को सम्यक रूप से समझने का प्रयास किया है। जैन संघ ने पुरुषों के बलात्कार और अत्याचारों से पीड़ित नारी को दूर करने के स्थान पर उनके सहयोग और उद्वार का कार्य किया। जैसे– जैन दण्ड व्यवस्था में उन साध्वियों के लिए किसी प्रकार के दण्ड की व्यवस्था नही की गई थी, जो बलात्कार की शिकार होकर गर्भवती हो जाती थी। अपितु उनके और उनके गर्भस्थ बालक के संरक्षण का दायित्व संघ का माना गयाथा। प्रसवोंपरान्त बालक के बड़ा होने पर वे पुनः साध्वी हो सकती थीं। इस प्रकार वे साध्वियां जो कभी वासना के आवेश में बहकर चरित्रिक स्खलन की शिकार हो जाती थीं, तिरस्कृत नहीं कर दी जाती थीं अपितु उन्हें अपने को सुधारने का अवसर प्रदान किया जाता था। इस प्रकार साधना के क्षेत्र में जैन धर्म होने स्त्री की गरिमा को यथा सम्भव सुरक्षित रखने का प्रयास किया है।

कुछ एक मतभेदों को छोड़ दें तो नारी स्वतंत्र्य की दृष्टि से जैन धर्म का उदार दृष्टिकोण था। ''यौगलिक काल में स्त्री पुरुष सहभागी होकर जीवन जीते थे। आगम–ग्रन्थ ''ज्ञात धर्म कथा'' में राजा द्रुपद द्रौपदी से कहते है कि मेरे द्वारा विवाह किये जाने पर तुझे सुखः दुख हो सकता है, अतः अच्छा हो कि तू अपना वर स्वयं चुन ले। 'उपासक दशांग' में महाशतक अपनी पत्नी रेवती के धार्मिक विश्वास, खान–पान और आचार व्यवहार पर कोई जबरदस्ती नहीं करता है। जहां आनन्द आदि श्रावकों की पत्नियां अपने पति का अनुगमन करती हुई महावीर से उपासक व्रतों को ग्रहण करती है और धर्म साधना के क्षेत्र में भी पति की सहभागी बनती है, वहीं रेवती अपने महाशतक के पूर्ण साधनात्मक जीवन में विध्न बाधाएँ भी उपस्थित करती है। इससे ऐसा लगता है कि आगम युग तक नारी को अधिक स्वातंत्र्य था किन्तु आगमिक व्याख्या साहित्य में हम पाते हैं कि पति या पत्नी अपने धार्मिक विश्वासों को एक दूसरे पर लादने का प्रयास करते हैं। चूर्णि साहित्य में ऐसी अनेक कथाएं है जिनमें पुरुष स्त्री को अपने धार्मिक विश्वासों की स्वतंत्रता नहीं देता है। लेकिन व्यावहारिक जीवन में जैन आचार्य हिन्दू परम्परा से अधिक प्रभावित लगे क्योंकि एक भाष्य के माध्यम से उन्होंने नारी के सन्दर्भ में मनुस्मृति के समान किए जाने वाले व्यवहार को उचित ठहराया है। भाष्य में कहा गया है–

जाया पिंतिव्वसा नारी दत्ता नारी पतिव्वसा।
विहवा पुत्रवसा नारी जत्थि नारी सयंवसा।।

अर्थात् जन्म के पश्चात स्त्री पिता के अधीन होती है विवाहित होने पर पति के अधीन होती है। अतः वह कभी स्वाधीन नहीं है। इस प्रकार आगमिक व्याख्या साहित्य में स्त्री की स्वाधीनता सीमित की गई है।

पारिवारिक संदर्भों में जैनधर्म पुत्र–पुत्री की समानता के स्तर पर कोई विशेष भेद नहीं करता या कहें कि उसके लिए इसका किया कि व्यक्ति अपने कर्मों के अनुसार ही सुगति या दुगर्ति में जाकर सुख–दुःख का भोग करता है। सन्तान के द्वारा सम्पन्न किये हुये कर्मकाण्ड पूर्वजों को किसी भी प्रकार प्रभावित नहीं करते। फलतः आगमिक युग में जैन धर्म ने पुत्र–पुत्री थे समान रूप में स्वीकार किया है।

विवाह संस्था के सन्दर्भ में जैन धर्म स्वपत्नी या स्वपति संतोषव्रत की व्यवस्था है जिसमें किसी भी व्यक्ति को स्वयं की कामवासना स्वपति या स्वपत्नी तक ही सीमित रखनी होती है। अर्थात् ब्रह्मचर्य का पालन न कर पाने की स्थिति में ही विवाह का

प्रावधान है। जैन धर्म में हिन्दू विवाह पद्धति का पालन होता है। जैन आगमों की व्याख्याओं के अनुसार पूर्व में युगल रूप में उत्पन्न होने वाले भाई बहन के बीच ही विवाह हो जाता था लेकिन इस व्यवस्था के अंत को ऋषभ देव के विवाह प्रारम्भ समझा जाना चाहिए क्योंकि जैन पुराणों के अनुसार पारम्परिक विधि से जैन में विवाह सर्वप्रथम ऋषभ देव का हुआ। ऋषभदेव ने भाई बहन के बीच होने वाले विवाह को अस्वीकार कर दिया शायद यही कारण था कि उनकी दोनों पुत्रियों ने आजीवन ब्रह्मचारिणी रहने का निर्णय लिया। ''जैन साहित्य के अध्ययन से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि आगमिक काल तक स्त्री विवाह सम्बन्धी निर्णयों को लेने से 'स्वतंत्र थी और अधिकांश विवाह उसकी सम्मति से ही किये जाते थे जैसा कि ज्ञाता में मल्लि और द्रौपदी के कथानकों से ज्ञात होता है।'' ज्ञात धर्म कथा में पिता स्पष्ट रूप से पुत्री से कहता है कि यदि मैं तेरे लिए पति चुनता हूँ तो वह तेरे लिए सुख–दुःख का कारण हो सकता है, इसलिए अच्छा यही होगा किन्तु अपने पति का चयन स्वयं ही कर। मल्ली और द्रौपदी के लिए स्वयंवरों का आयोजन किया गया था।

जैन धर्म में वैवाहिक स्वतंत्रता को आगम ग्रन्थ भी पुष्ट करते हैं। आगम ग्रन्थों के अनुसार स्त्री इस मामले में पूरी तरह स्वतंत्र थी। उस युग में सुंदरी, मल्ली, चंदन साला तथा जयन्ती आदि कई स्त्रियां थीं जिन्होंने आजीवन ब्रह्मचर्य का पालन किया लेकिन यदि विवाह हुए हैं तो कुछ एक अपवादों को छोड़कर सभी माता–पिता द्वारा आयोजित विधि से ही सम्पन्न हुए हैं।

4.3.1 जैन धर्म में स्त्री शिक्षा

जैन ग्रन्थों एवं अन्य आगमिक व्याख्याओं के आधार पर कहा जा सकता है कि जैन धर्म में स्त्री शिक्षा का समुचित प्रबन्ध था। ''परवर्ती आगम जम्बूद्वीप प्रज्ञाप्ति, आवश्यक चूर्णि एवं दिगम्बर परम्परा के आदिपुराण में उल्लेख है कि ऋषभदेव ने अपनी पुत्रियों ब्राह्मी और सुन्दरी को गणित और लिपि विज्ञान भी शिक्षा दी थी। ज्ञात धर्म कथा और जम्बूप्रज्ञाप्ति में स्त्री की चौसठ कलाओं का उल्लेख मिलता है। ज्ञातधर्म कथा तथा जम्बूदीप प्रज्ञाप्ति की टीका में प्राप्त कुछ अन्य विवरणों के अनुसार ऐसा लगता है कि स्त्रियों को उनकी प्रकृति और दायित्व के अनुसार भाषा, गणित, लेखन कला आदि के साथ स्त्रियोचित नृत्य, संगीत और ललित कलाओं सहित पाक शास्त्र में शिक्षित किया जाता था।

स्त्रियों को घर पर शिक्षित किया जाता था या गुरूकुल में इस विषय पर आगम और उनकी व्याख्याएं मौन है। फिर भी ऐसा लगता है कि सहशिक्षा के अभाव में स्त्रियों की शिक्षा घर पर ही दी जाती रही होगी। यह शिक्षा घर की प्रौढ़ महिलाओं द्वारा दी जाती थी। ''जहाँ तक आध्यात्मिक और धार्मिक शिक्षा का प्रश्न है वह उन्हें भिक्षुणियों के द्वारा दी जाती थी। क्योंकि 'सूत्रकृतांग' ग्रंथ से पता चलता है कि जैन परम्परा में भिक्षु को स्त्रियों को शिक्षा देने का अधिकार नहीं था। निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि जैन धर्म ने तत्कालीन समाज की व्यवस्था और नियमों के साथ चलते हुए स्त्रियों के पक्ष में अत्यंत उदार व्यवहार किया तथा भिक्षुणी के रूप में नारी की प्रतिष्ठा को बहुत हद तक सुरक्षित करने का उपक्रम किया।

4.3.2 भिक्षुणी संघ और नारी की गरिमा

जैन धर्म में भिक्षुणी संघ में समाज के किसी भी वर्ण, जाति की स्त्रियों का सदैव स्वागत किया। संघ में प्रवेश हेतु वे ही स्त्रियां अयोग्य मानी गईं जो अशक्त, मूर्ख, पागल, विकलांग या फिर किसी संक्रामक रोग से पीड़ित हो। कुछ ऐसी स्त्रियों की

अयोग्य मानी गई जो मध्यवर्ती हों, जिनका छोटा बालक हो, या फिर व जिन्हें पति माता–पिता आदि की आज्ञा न मिल रही हो। लेकिन यह विद्वेष आदि के कारण नही बल्कि इसलिए कि किसी स्त्री की शील सुरक्षा आदि का ध्यान रखना संघ का कर्त्तव्य था। कुछ नियम भिक्षुणियों के लिए जरूरी थे, जिनमें वस्त्र धारण करना। अकेले भिक्षाटन हेतु न जाना। द्वार रहित आश्रमों में न ठहरना आदि जो पूर्णतया नारी की शील सुरक्षा से जुड़ा मसला था तथा यह जैन धर्म में नारी के प्रति सम्मान की धारणा को भी पुष्ट करता है। उपर्युक्त के आधार पर कहा जा सकता है कि जैन धर्म अन्य धर्मों की अपेक्षा स्त्रियों के प्रति अधिक उदार है। ये अलग बात है कि समसामयिक परिस्थितियों में उतार–चढ़ाव के कारण परिवर्तन तो आया है लेकिन कुल के बाद भिक्षुणी संघ ने जैन धर्म में स्त्री की गरिमा विशेष रूप से बढ़ाई है तथा कई सामाजिक अपवादों से रक्षा भी की है।

4.4 बौद्ध धर्म दर्शन की संक्षिप्त रूपरेखा

बौद्ध धर्म का प्रवर्तन गौतम बुद्ध (सिद्धार्थ) द्वारा ईसा पूर्व छठी शताब्दी में हुआ था। इसे विश्व के प्रमुख धर्म एवं दर्शन के रूप में जाना जाता है। गौतम बुद्ध का जन्म 563 ई.पू. में नेपाल स्थित कपिलवस्तु के शाक्यवंशीय क्षत्रीय राजपरिवार में हुआ था। उनके पिता का नाम शुद्धोदन तथा माता का नाम माया देवी था। गौतम बुद्ध का विवाह मात्र 16 वर्ष की अवस्था में यशोधरा से हुआ जिनके साथ कुल 13 वर्षों तक राजसी जीवन व्यतित करने के बाद अचानक घूमते हुए उनका सामना एक वृद्ध एक रोगी तथा एक शव से हुआ जिसके बाद उन्हें तमाम सांसारिक सुखों से इस प्रकार मोह भंग हुआ कि उन्होंने उसी रात पत्नी यशोधरा और नवजात पुत्र राहुल सहित 29 वर्ष की अवस्था में सम्पूर्ण राज्य और वैभव का त्याग कर दिया। लम्बे समय तक परिव्राजक/भिक्षु के रूप में तपस्या करने के बाद उन्होंने सत्य की खोज की स्वयं को जीवन की सच्चाई को प्राप्त करने हेतु समर्थ बनाया बुद्धत्व प्राप्त किया तथा अपनी उदारता और ज्ञान से सम्पूर्ण समाज को दीप्त करते हुए महात्मा बुद्ध कहलाए। गौतम बुद्ध ने अपना प्रथम उपदेश वाराणसी स्थित सारनाथ के मृगदाव में दिया। यहाँ उनके पांच भिक्षु अनुयायी हुए। उन्होंने जाति–पाँति का भेद भाव किए बिना राजपुत्रों से लेकर भद्रपुत्रों तक को अपना अनुयायी बनाया तथा भिक्षु संघ में दीक्षित किया। उनके द्वारा प्रवर्तित धर्म बौद्ध धर्म के नाम से प्रसिद्ध हुआ। राजगृह, वैशाली, पाटलीपुत्र तथा लुंबिनी में उन्होंने मृत्युपर्यंत निरंतर धर्म प्रचार कर बौद्ध धर्म को समृद्ध किया। उनका निवार्ण 483 ई.पू. में 80 वर्ष की आयु में उत्तर प्रदेश के कसया जिला कुशीनगर में हुआ। उनके परिनिर्वाण के अगले पांच शताब्दियों में बौद्ध धर्म पूरे भारतीय उपमहाद्वीप में तथा फिर अगले 200 वर्षों में सम्पूर्ण मध्य पूर्ण एवं दक्षिण पूर्वी एशिया का सबसे बड़े धर्म के रूप में स्थापित हुआ।

4.4.1 बौद्ध धर्म का वैशिष्ट्य

भारत में हिन्दू तथा जैन धर्म के बाद बौद्ध धर्म तीसरा प्रमुख स्थानीय धर्म है। श्रमण परम्परा को मानने वाले बौद्ध धर्म को परम्परागत अर्थ में धर्म से कहीं अधिक एक दार्शनिक समप्रदाय के रूप में मान्यता प्राप्त है। जैन धर्म के ही समान यह धर्म ईश्वर और आत्मा जैसी किसी चीज पर विश्वास नहीं करता इसीलिए यह अनीश्वरवादी तथा अनात्मवादी धर्म भी है।

बौद्ध धर्म मानता है कि–

- सृष्टि में कुछ भी निश्चित नहीं है अर्थात् अनित्य है। जो कुछ भी अस्तित्ववान है वह क्षण भंगुर है। अर्थात् उसमें परिवर्तन होकर रहेगा।
- यहाँ सब कुछ अनीत्य है तथा परिवर्तनशील है फिर भी एक घटना का दूसरी घटना के साथ कार्य कारण सम्बन्ध नहीं होता। इसी को 'प्रतीत्य–समुत्पाद' कहा गया।
- यह संसार दुःखमय है। हमारी तृष्णा हमारे संस्कार तथा अविद्या दुख का बड़ा कारक है। दुखों से मुक्ति का एक मात्र उपाय है निवार्ण।

धर्मग्रन्थ–

बुद्ध ने दो प्रकार के उपदेश दिए। एक उपदेश, साधारण धर्म और दर्शन से सम्बन्धित था तथा दूसरा संघ में भिक्षु भिक्षुणियों के जीवनयापन सम्बन्धी नियमों से सम्बन्धित था। प्रथम उपदेश को पालि भाषा में 'धम्म' या धर्म कहा गया तथा दूसरे उपदेश को 'विनय' कहा गया।

भगवान बुद्ध के सभी उपदेशों को ग्रंथ रूप में एक पिटारा अर्थात् एक लकड़ी के बक्से में रखा जाता था जो तीन प्रकार के होते थे तथा जिन्हें सामूहिक रूप से 'पिटक' कहा गया। ये तीन पिटक निम्नवत हैं।

1. विनय पिटक– इसमें विनय सम्बन्धी पाँच ग्रन्थों का संग्रह किया गया है।
2. सुत्त पिटक– धम्म को ही पालि में सूत्र भी कहते हैं इसीलिए इसे सुत्त पिटक नाम दिया गया अर्थात् जहाँ धर्म ग्रन्थ रखे गए है। बौद्ध धर्म के ये पाँच धर्मग्रन्थ हैं दीघनिकाय, मज्जिमिम निकाय, संयुक्त निकाय, अंगुत्तर निकाय तथा खुद्‌दक निकाय।
3. अभिधम्म पिटक– इस पिटक में बुद्ध द्वारा वर्णित धम्मपद, जातक कथाओं, चर्चापद आदि कथा ग्रन्थों का संग्रह है जो खुद्‌दकनिकाय के भाग हैं।

4.4.2 बौद्ध धर्म में विशेष पद या मंदिर

चैत्य शब्द का मूल अर्थ है 'पत्थरों का ढेर'। पाषाणकालीन समाज में मानव शवों को दफनाने के लिए ढेर सारे पत्थरों का प्रयोग किया जाता था। बाद में मानव अस्थियों सुरक्षित र खने के लिए पत्थर की समाधियां बनने लगी फिर उन्हें चैत्य कहा जाने लगा। इसी क्रम में भगवान बुद्ध के अवशेषों की सुरक्षा हेतु जो चैत्य बने वही बौद्ध अनुयायियों के लिए मंदिर बन गए जहां वे परिक्रमा तथा पूजन अर्चन करते हैं।

स्तूप– चैत्यों में गोलाकार अवशेष स्थल ही स्तूप कहे गए। साँची, राजगीर तथा सारनाथ का धम्मेक स्तूप इनके उदाहरण हैं।

चैत्यसंघाराम– बौद्ध धर्म अपनाने वाले राजाओं तथा धनाढ्य लोगों द्वारा बौद्ध भिक्षुओं के लिए बनवाए गए मठों को संघाराम कहा जाता है।

बिहार– गौतम बुद्ध ने अधिकांश प्रवचन अपने भ्रमण के दौरान दिए थे। यही कारण था कि विभिन्न क्षेत्र के राजाओं ने वर्षाकाल और चातुर्मास में उनके निवास एवं भ्रमण के लिए कई उद्यानों को संघ को दान कर दिया था। इन्हीं उद्यानों को विहार कहा जाता है। ऐसे विहार वर्तमान में बिहार राज्य में पटना और आसपास पाए जाते थे इसीलिए इन्हें विहार कहा गया।

4.4.3 बौद्ध धर्म के पंथ

द्वितीय संगीति में बौद्ध धर्म दो पंथों में बंट गया। जिसे हीनयान और महायान कहा गया। यहाँ 'यान' का अर्थ रथ से लिया जा सकता है जिसके सहारे हम आगे बढ़ते हैं या अपने गन्तव्य तक पहुँचते हैं।

हीनयान– हीनयान का आधार अष्टांगिक मार्ग है। हीनयानी जीवन को कष्टमय और क्षणभंगुर मानते हैं जिससे मुक्ति हेतु व्यक्ति को स्वयं प्रयास करना होगा। उनकी यह मान्यता है कि आपकी सहायता हेतु कोई देवी–देवता या अवतार आदि कहीं कुछ नहीं है। वे कहते हैं कि बुद्ध एक महापुरुष थे जिन्होंने स्वयं के प्रयत्नों से निर्वाण प्राप्त किया तथा निर्वाण प्राप्ति का उपदेश भी दिया। इस प्रकार हीनयान कर्म वाद को प्रधानता देता है तथा भाग्यवाद को जीवन का शत्रु बताता है।

महायान– महायान के अनुसार बुद्ध साक्षात ईश्वर हैं। बुद्धत्त्व के सहारे सभी दुखों से मुक्ति पाई जा सकती है। वे मानते हैं कि प्रार्थना में शक्ति होती है इसलिए जन्म चक्र के बंधनों से मुक्ति के लिए बुद्ध द्वारा निर्वाण प्राप्ति के उपायों वाले मार्ग का अनुसरण करें। महायान एक विशाल यान अर्थात एक खड़े जलपोत के समान है जिसपर बैठकर एक साथ कई लोग इस संसार सागर से पार हो सकते हैं। वे बुद्ध को अवतार मानते हैं तथा उनके अन्य कई अवतारों की भी घोषणा करते है। सम्पूर्ण विश्व में महात्मा बुद्ध की मूर्तियों तथा प्रार्थना हेतु स्तूपों का निर्माण सबसे अधिक महायानियों ने ही किया है। बौद्ध धर्म के सभी सिद्धांत चार आर्य सत्य और अष्टांगिक मार्ग पर आधारित हैं।

4.5 बौद्ध धर्म दर्शन में स्त्री विषयक प्रमुख सिद्धान्त

बौद्ध धर्म/संघ में महात्मा बुद्ध के अनुसार स्त्रियों की स्थिति के संदर्भ में सकारात्मक और नकारात्मक दोनों वर्णन प्राप्त है। बुद्ध के अनुसार पुरुषों और स्त्री एक ही व्यक्तित्व के पूरक पहलु के तौर पर करूणा और बुद्धि के रूप में उन्होंने ने संघ के भीतर महिलाओं को पुरुषों के समान दर्जा प्रदान किया क्योंकि बुद्ध का यह मानना था कि दुःख से मुक्ति हेतु जाति की तरह लिंग बौद्ध धर्म के लक्ष्य प्राप्ति में बाधक नहीं बन सकता। वहीं स्त्रीयों के संदर्भ में बुद्ध के विचारों को लेकर एक बड़ा विद्वत समाज यह मानता है कि वे नारी जाति को भिक्षु धर्म में दीक्षा देने के विरूद्ध थे। ''बौद्ध संघ में नारी की उपस्थिति के बाद के भावी दुष्परिणामों से बुद्ध सशंकित थे। वे अपने शिष्य आनन्द से कहते हैं कि– हे आनन्द! यदि स्त्रियों को गृहस्थ जीवन का परित्याग करने की अनुमति नहीं दी गई होती तो यह विशुद्ध धर्म चिरस्थायी होता और तब यह सद् धर्म सहस्रों वर्षों तक स्थिर रहता। परन्तु हे आनन्द अब स्त्रियों को वह अधिकार प्रदान कर दिया गया अतः यह विशुद्ध धर्म अब मात्र पांच सौ वर्षों तक स्थिर रह पायेगा।' बुद्ध ने कुछ शर्तों के साथ महिलाओं को संघ में सम्मिलित होने की अनुमति प्रदान की थी जिन्हें आठ गुरूधम्म कहा गया। हालांकि इन आठ गुरूधम्मों को गौतम बुद्ध के संदेशों में सम्मिलित नहीं किया गया फिर भी बौद्ध धर्म में स्त्रियों के लिए इनका पालन करना अनिवार्य था। ये आठ गुरूधम्म निम्नवत् थे–

1. प्रत्येक भिक्षुणी चाहे वह 100 वर्ष की ही क्यों न हो, एक भिक्षु के आने पर अपने आसन से उठकर दोनों हाथ जोड़कर उसे प्रणाम करेगी तथा उसे पूर्ण सम्मान देगी भले ही वह भिक्षु उससे कम उम्र का ही क्यों न हो।

2. भिक्षुणी भिक्षुओं के निवास स्थान से 6 घण्टे की दूरी पर स्थित मठ में निवास करेगी।
3. प्रत्येक 15 दिनों के बाद भिक्षुणी 'उपशोध' (आचारकर्म) के लिए पूछेगी तथा आने वाले 'भिक्खु नोवाद' (उपदेश) में सम्मिलित होने की अनुमति मांगेगी।
4. भिक्खुओं तथा वरिष्ठ भिक्खुणियों से अनुमति प्राप्त कर ही भिक्खुणी वर्षा काल में यथोचित स्थान पर निवास करेगी।
5. यदि कोई भिक्खुणी किसी महत्त्वपूर्ण नियम का उल्लंघन करती है तो उसे संघ द्वारा निर्दिष्ट दण्ड का 15 दिनों तक पालन करना होगा।
6. जब एक भिक्खुणी छह नियमों (छह धम्मों) में प्रशिक्षित हो जाएगी तो वह उच्च विधान अर्पित करने का प्रयास करेगी।
7. कोई भी भिक्खुणी किसी भिक्खु का अपमान नही करेगी।
8. एक भिक्खुणी को यह अधिकार नहीं होगा कि वह किसी भिक्खु को कोई सलाह दे।

उपर्युक्त के संदर्भ में यह भी माना जाता है कि ये सारे नियम स्वयं बुद्ध ने नही निर्धारित किए थे बल्कि इनमें समय–समय पर परिवर्तन किया गया था। क्योंकि महापरिनिर्वाण सुत्त के 16वें खण्ड में उन्होंने स्वयं कहा है कि मेरे जाने के बाद संघ आवश्यकतानुसार नियमों में बदलाव कर सकता है।

ये आठ गुरूधम्म कैसे निर्धारित हुए इनकी एक कथा बताई जाती है। हुआ यह कि पिता शुद्धोधन की मृत्यु का समाचार सुनकर महात्मा बुद्ध जब वैशाली पहुँचे तो वहां उन्हें शाक्य और कोल जातियों की बीच रोहिणी नदी से सिंचाई हेतु पानी सम्बन्धित विवाद की मध्यस्तता करनी पड़ी। इसी क्रम में उनकी विधवा मौसी महाप्रजापति गौतमी उनके सामने आती हैं और बुद्ध से भिक्षुणी बनने की आज्ञा मांगती हैं। चूँकि बुद्ध के मन में स्त्रियों को संघ प्रवेश को लेकर पहले ही हिचक थी अतः उन्होंने तीन–तीन बार अनुमति देने से मना कर दिया और फिर वैशाली लौट आए। उधर अनुमति न मिलने से निराश महाप्रजापति गौतमी अपनी पांच सौ सखियों के साथ केश मुड़वाकर भिक्षु के रूप में, धूल से सने हुए सूजे पैरों के साथ कपिल वस्तु आ गई और बुद्ध के द्वार पर खड़ी हो गई। बुद्ध के चचेरे भाई द्वारा दिव्य आनन्द ने जब माता गौतमी को इस दशा में देखा और इसका कारण पूछा तो उन्होंने पूरी कहानी बताई। आनन्द ने कहा कि वे बुद्ध से इस संदर्भ में चर्चा करेंगे। फिर वे बुद्ध के पास जाते हैं और पूछते हैं कि आखिर ऐसा क्या है जो स्त्रियां संघ में शामिल नहीं हो सकती। क्या वे निर्वाण की हकदार नहीं है? इस प्रश्न के जबाव में बुद्ध चुप थे। आनन्द ने बुद्ध की चुप्पी को सकारात्मक लिया और महाप्रजापति गौतमी सहित 500 स्त्री अनुयायियों को संघ में शामिल करने का आग्रह किया। आनन्द के इस आग्रह के बाद बुद्ध ने स्वीकृति तो दे दी लेकिन यह भविष्यवाणी की कि बौद्ध धर्म के उपदेश जो 1000 वर्षों तक प्रासंगिक रहने वाले ये इस घटना के बाद अब वे 500 वर्षों तक ही प्रासंगिक रह सकेंगे। इसके बाद बुद्ध ने महाप्रजापति गौतमी को प्रथम भिक्षुणी बनने की अनुमति प्रदान की फिर थेरी, तिशा, धीरा, मित्रा, भद्दा, उपासना आदि अन्य स्त्रियों को संघ में शामिल किया और यहीं से बौद्ध धर्म में स्त्री मुक्ति के आंदोलन का प्रारम्भ होता है। तत्कालीन राजनीतिक, सामाजिक एवं धार्मिक परिस्थितियों के अनुसार भारतीय संदर्भ में स्त्री मुक्ति की यह पहली आवाज थी जो 'थेरियों' ने उठाई थी।

4.5.1 थेरीगाथा : बौद्धकालीन नारी समाज की स्वतंत्रता का ऐतिहासिक दस्तावेज

थेरियों की इन गाथाओं में उन स्त्रियों का स्वर है जिनकी अपनी अलग दुनियाँ है; जिनके अपने सपने है, अपने दुःख हैं, अपनी पीड़ा और अपनी पीड़ा और अपनी तड़प है और साथ में है मुक्ति या मोक्ष की आकांक्षा। जीवन के विविध रंगों से सजी थेरियों की यह गाथा कल्पनाशीलता से दूर वैचारिक धरातल पर की गई आत्मभिव्यक्ति है। बौद्ध धर्म में दीक्षित होने के लिए उस दौर की स्त्रियों ने *त्रिशरण अष्टांगिक मार्ग* और *चार आर्य सत्य* का ज्ञान प्राप्त करने के लिए बहुत कुछ का त्याग किया। वे अपने हक के लिए परिवार और समाज दोनों से लड़ती है। ऐसी ही एक थेरी 'सुमेधा' अपने माता–पिता से कह रही है–

''एवं भणति सुमेधा, माता पितरो 'न ताव आहारं'।
आहरिस्सं गहट्ठा, मरणवसं गता व हेस्सामि।।

अर्थात् 'मैं इसी स्थान पर पड़ी–पड़ी भूखी रह करके मर जाऊँगी और यह मेरे लिए अच्छा ही होगा, किन्तु गृह वास में रह कर मैं आहार ग्रहण नहीं करूँगी। अर्थात् वह मुक्त होना चाहती है। थेरीगाथा की 378वीं गाथा में गृह त्याग की भावना से भरी सुभा थेरी को एक व्यक्ति समझाता है। वह कहता है– ''प्रिये यदि मेरी बात की तू स्वीकार करती है, तो चल, हम दोनों गृहवास स्वीकार करें। कितना अच्छा प्रस्ताव है, पर सुभा थेरी नहीं मानती है वह उसे लम्पट और मूर्ख मानती है। किसी को भी घर छोड़ने पर दुःख होता है लेकिन इन थेरियों ने घर छोड़ने का जश्न मना रखा है। 'उप्पल वण्णा' थेरी कहती है ''सा पब्बज्यिं राजगेह, अगार स्मानगारियं......... इसलिए मैं घर से बेघर हो राजगृह में जा कर प्रवज्जित हो गई।

वाह्य सौन्दर्य की बजाय आन्तरिक सौन्दर्य की महत्ता का वर्णन करते हुए 'अम्बपाली' कहती है–

एक समय यह शरीर ऐसा था।

इस समय यह जर्जर और अनेक दुक्खों का आलय है।

एक ऐसे जीर्ण घर के समान जिसकी लीपन टूट–टूटकर गिर गई है। बिना लेपादि के यह जरा का घर शरीर, शीघ्र ही इस प्रकार गिर जाएगा जैसे टूटी हुई लीपन वाला जीर्ण घर!

सत्यवादी (बुद्ध) के वचन कभी मिथ्या नहीं होते।

इस प्रकार तथागत बुद्ध के विचार नारी के जीवन में कितना बड़ा विश्वास तथा कितनी बड़ी आशा जगाते हैं इस बात का पता इन थेरियों के वचनों से चलता है। इस थेरीगाथा से यह पता चलता है कि नारी केवल श्रद्धा और आस्था रखने वाली ही नहीं होती बल्कि बुद्धिवाद में पुरुषों से किसी मात्रा में कम नहीं होती। थेरीगाथा में भिक्खुणियों का जो व्यक्तित्व और गुण व्यक्त हुआ है वह भारतीय साहित्य में अत्यन्त व्यक्त हुए किसी भी नारी चरित्र से बिल्कुल भिन्न है। ये थेरिया ऐतिहासिक हैं जिनमें दृढ़ संकल्प, आशावाद, जीवन में दुःखों को समाप्त करके तृष्णा का समूल नाथ करके तीनों विद्याओं को प्राप्त करते हुए अज्ञान रूपी अंधकार को नष्ट कर निर्वाण प्राप्ति का दृढ़ संकल्प दिखाई देता है।

बुद्ध स्त्रियों के संदर्भ में बहुत कठोर नहीं थे। संयुक्त निकाय में एक प्रसंग है कि कोशल नरेश को जब यह ज्ञात हुआ कि उनकी रानी ने एक पुत्री को जन्म दिया है तो वे अत्यंत दुःखी हुए। तब महात्मा बुद्ध उन्हें उपदेश देते हैं– ''हे जननायक! एक कन्या पुत्र से बेहतर हो सकती है क्योंकि वह गुणवान और बुद्धिमान हो सकती है उससे उत्पन्न पुत्र भी महान हो सकता है और अपने देश को सही रास्ते पर ले जा सकता है।

महात्मा बुद्ध ने स्त्रियों को जाति भेद और ऊँच–नीच से ऊपर रखते हुए उन्हें बहुत सम्मान और सामाजिक प्रतिष्ठा प्रदान की। वे स्त्रियों के हर वर्ग को सम्मान देने के पक्षधर थे इसलिए तो उन्होंने वेश्याओं, विधवाओं तथा पतितों सभी को बौद्ध संघ में प्रवेश की अनुमति प्रदान की।

संघ के उल्लासमय वातावरण ने तत्कालीन सामाजिक व्यवस्था से पीड़ित स्त्रियों के जीवन में नयी जान फूंक दी और वे अपने मन के उद्‌गारों को कविता के रूप में व्यक्त करने लगी। सुत्त पिटक के सुद्दक निकाय के नवें अंश में 'थेरीगाथा' के रूप में इनके विचार संकलित हैं। थेरीगाथा में एक कथा ''नंदुत्तरा थेरी'' की मिलती है। नन्दुत्तरा का जन्म कुरू जनपद के 'कम्मासदम्भ' नामक कस्बे में एक ब्राह्मण परिवार में हुआ था। उसने शिल्प और विज्ञान की शिक्षा प्राप्त की। ब्राह्मण वंश में जन्म लेने के बाद भी उसे संस्कार एवं धर्म में कोई आस्था नहीं थी अतः उसने अपना परिवार त्याग दिया फिर वह निर्ग्रन्थ साधुओं की संगति में जाती है जहां उसे वाक्पटुता की शिक्षा मिलती है। बाद में वह बौद्ध धर्म की ओर आकृष्ट हुई, वह बौद्ध के बारे में सुनी तो थी लेकिन बहुत सशंकित थी अतः उसने महामोग्लान स्थविर से शास्त्रार्थ किया तथा पराजित हुई इस प्रकार वह बुद्ध मत की अनुयायी बनती है। अपने अनुभवों को व्यक्त करती हुई नन्दुत्तरा कहती हैं कि– ''पहले मैं अग्नि, चन्द्रमा सूर्य को देवता मानकर और भी अनेक देवताओं की पूजा वन्दना करती थी, नदी के घाटों पर जाकर जल में डुबकी भी लगाया करती थी। आधे सिर का मुण्डन, जमीन पर सोना रात्रि भोजन का त्याग, इस प्रकार मैं अनेक व्रतों का पालन करती थी। उसी प्रकार विषय वासना के उद्‌दीपन के लिए अपने शरीर को आभूषणों से सजाती थी। कामवासना से पीड़ित होकर स्नान, सुगंध और लेप आदि से स्वयं को अलंकृत करती थी।

ततो सद्धं लभित्वान, पब्बजिं अनगारियं।
दिस्वा कायं यथाभूते, कामरागो समूहहो।।

फिर इस शरीर के वास्तविक रूप को देखकर मैंने श्रद्धापूर्वक घर से बेघर हो प्रव्रजया ग्रहण कर ली है। उन विषय वासना में मेरी आसक्ति जड़ से नष्ट हो चुकी है। वह कहती है कि– मेरे सभी भाव अर्थात् जीवन की आसक्तियाँ पूरी तरह नष्ट हो गई हैं, मेरी इच्छाएं भी और अभिलाषाएं भी, सब नष्ट हो गई हैं। सब बंधनों से विमुक्त होकर अब मुझे चित्त की शांति प्राप्ति हुई है। ऐसी ढेर सारी कहानियाँ 'थेरीगाथा' में उपलब्ध है। थेरीगाथा नारी स्वातंत्र्य को समर्पित ऐसा पहला ग्रन्थ है जिसमें भगवान बुद्ध की समकालीन भिक्खुणियों के जीवन के तमाम अनुभव उन्हीं की वाणी में व्यक्त अभिव्यक्त हैं। थेरीगाथा की सभी स्त्रियों ने या तो स्वयं बुद्ध से प्रवज्या ली है या बुद्ध के शिष्यों या शिष्याओं से। थेरीगाथा में कुल 524 गाथाएँ हैं। इसमें 73 बौद्ध भिक्षुणियों द्वारा 101 भिक्षुणियों के जीवतानुभव व्यक्त किये गये हैं। ये 73 भिक्षुणियाँ स्वयं को औरस कत्या अर्थात् बुद्ध के हृदय से मुख से उत्पन्न कन्या मानती थी।

चूँकि बौद्ध धर्म में सभी जाति की स्त्रियों के लिए दरवाजे खुले थे ऐसे में थेरीगाथा में कई स्त्रियों के उदाहरण ऐसे मिलते हैं जो निम्न वर्गों से आती है। सुमंगल माता अपनी गाथा में कहती हैं–

सुमुत्तिका सुमुत्तिका, साधु मुत्तिकाम्हि मुसलस्स।
अहिरिको में छत्रकं वा णि, उक्खलिका में देडहुभं वा ति।

अहो! मैं मुक्त नारी हूँ। मेरी मुक्ति कितनी धन्य है! पहले मैं मूसल लेकर धान कूटा करती थी, आज मैं उससे मुक्त हो गई हूँ। मेरी दरिद्रावस्था के वे छोटे–छोटे भाँड़े बरतन, जिनके बीच में मैली कुचैली बैठती और मेरा निर्लज्ज पति मुझे उन छातों से भी तुच्छ समझता था, जिन्हें वह अपनी जीविका के लिए बनाता था।

थेरीगाथा में जिन भिक्षुणियों के नाम वर्णित हैं उनमें बारह प्रसिद्ध ऐतिहासिक नाम है। इनमें– सुभद्रा, जातक, अमरा, उदुम्बरा, भद्रा कुण्डा, केशा, जयन्ती, सुमा, सुमेघा, अनुपमा, खेमा आदि नाम विशेष उल्लेखनीय है। इनके अतिरिक्त मुत्ता, तिस्सा, धीरा, वीरा, उपसमा, सुमना, उत्तरा, धम्मा, सामा, संघा, अभिरूप नंदा, पुण्णा, किसा गौतमी, उप्पल वण्णा, सुन्दरी, सुमेधा आदि सहित कुल 73 नाम प्राप्त होते है। इन सभी स्त्रियों ने बौद्ध धर्म के प्रचार–प्रसार में बहुत महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई है।

गृहस्थ स्त्रियों के आदर्श जीवन निर्वाह के सम्बन्ध में बुद्ध ने कहा कि–

1. विवाहित स्त्री को अपने पति के बारे में बुरे विचार मन में नहीं लाने चाहिए।
2. उसे पति के प्रति क्रूर या रौब दिखाने वाली नहीं होनी चाहिए।
3. उसे मितव्ययी होकर अपनी गृहस्थी चलानी चाहिए।
4. उसे पति द्वारा प्राप्त आमदनी और सम्पत्ति रक्षा हेतु सदैव प्रयत्नशील रहना चाहिए।
5. उसे, शांत, संयत और स्निग्ध होना चाहिए।
6. उसे विनम्र तथा सम्मान देने हेतु तत्पर होना चाहिए।

जबकि पतियों को उन्होंने सलाह दी कि उन्हें पत्नी के प्रति वफादार होना चाहिए तथा कभी भी उनका तिरस्कार नहीं करना चाहिए।

ऐसे ढेर सारे शिक्षाप्रद उदाहरणों का संकलन थेरीगाथा हैं जहाँ स्त्री समाज का आदर्श स्वरूप दिखाई पड़ता हैं। यह स्त्री शिक्षा का भी एक मात्र ऐसा ग्रंथ है जो भिक्षुणियों के साहित्यिक, आध्यात्मिक एवं सांस्कृतिक उत्थान की गाथा बयां करता है। थेरीगाथा की स्त्रियाँ तत्कालीन समाज के लिए श्रेष्ठ उदाहरण थीं। संयुक्त निकाय में वर्णित है कि माता अपनी पुत्री को भिक्षुणियों के सदृश बनने की शिक्षा देती थी। वह कहती थी कि तुम ऐसी भिक्षुणी बनना जैसा कि खेमा, उप्पलवण्णा हुई हैं।

इस प्रकार बौद्ध धर्म ने स्त्री को मुक्ति प्राप्त करने का तथा स्वयं को संयोजित करने का अवसर प्रदान किया। उसे भिक्षुणी का रूप देकर अशांत विश्व की मानवता को शांति का पाठ पढ़ाने को उद्धृत किया तथा संघ में प्रवेश दिलाकर मुक्ति का मार्ग भी प्रशस्त किया। हम इसे तत्कालीन समय में महिला सशक्तिकरण की दिशा में किये गए एक अनुपम प्रयास के रूप में भी देख सकते हैं।

4.6 सिख धर्म दर्शन की संक्षिप्त रूपरेखा

सिख धर्म की स्थापना सिखों के प्रथम गुरू 'गुरूनानक देव' ने की थी।श्री गुरूनानक देव का भारतीय धर्म संस्थापकों एवं समाज सुधारकों में गौरवपूर्ण स्थान है। वे मध्ययुगीन संत परम्परा में ऐसे संत कवि हुए जिन्होने ऐसे धर्म की स्थापना की जिसके आन्तरिक बल के रूप में विवेक,वैराग्य,ज्ञान,भक्ति,सदाचार,संयम के साथ एकता तथा आत्मसर्मपण की भावना निहित थी तो वहीं वाह्य बल के रूप में सदाचार,संयम और भ्रातृभाव था। गुरूनानक देव मध्ययुग के मौलिक चिन्तक,क्रांतिकारी सुधारक, अद्वितीय युग–निर्माता तथा राष्ट्र निर्माता थे। उनका जन्म 1469 ई. में वर्तमान पाकिस्तान के तलवंडी नामक गाँव में हुआ था। तलवंडी को ही वर्तमान में 'ननकाना साहिब' के नाम से जाना जाता है जो पाकिस्तान के पंजाब प्रांत में है। गुरूनानक देव की माता का नाम तृप्ता देवी था तथा पिता मेहता कालूचंद खत्री थे। गुरूनानक देव बचपन से ही प्रखर मेधा वाले थे तथा अध्यात्म उनके जीवन में प्रवाहित हो रहा था जिसके प्रमाण में गुरूनानक देव से जुड़ी कई चमत्कारिक घटनाएं और प्रसंग कथा रूप में यथास्थान उल्लिखित हैं। जिसका सांकेतिक अर्थ है कि वे रूढ़ियों, अनुष्ठानों अन्ध विश्वासों को नही बल्कि आचार व्यवस्था को अधिक महत्त्व देते थे। उनका संकेत इस ओर था कि ईश्वर का पूजन अनुष्ठानों या कर्मकाण्डों से नहीं बल्कि मुक्त ह्वदय से उनका चिंतन मनन करने तथा उसके बनायें जीवों के प्रति स्नेह का भाव रखने से होता है। गुरूनानक देव की अध्यात्मिक शक्ति का प्रथम दर्शन उनकी बहन नानकी ने किया था। समय बीता और गुरूनानक देव का विवाह 16 वर्ष की आयु में गुरूदासपुर की 'सुलक्खनी' से हो गया लगभग 16 वर्ष के बाद गुरूनानक देव के प्रथम पुत्र चंद का जन्म हुआ तथा उसके चार वर्ष बाद दूसरे पुत्र लखमीदास का जन्म हुआ दोनों पुत्रों के जन्म के बाद नानकदेव ने तीर्थ यात्रा करने का निश्चय किया। बच्चों को ससुराल में छोड़कर वे अपने चार मित्रों लहना, बाला, मरदाना तथा रामदास के साथ 1507 में तीर्थ यात्रा के लिए चल पड़े। सन् 1521 तक गुरूनानक देव ने सम्पूर्ण भारत, अफगानिस्तान, फारस तथा अरब देशों के प्रमुख स्थानों की यात्रा की तथा लोगों को उपदेशित किया। गुरूनानक देव की इन यात्राओं को पंजाबी में 'उदासियां' कहा गया। गुरूनानक देव की इन यात्राओं को हमें विश्व बन्धुत्व तथा सांस्कृतिक एकता के रूप में देखना चाहिए। क्योंकि पंद्रहवीं–सोलहवीं शताब्दी में सारे भारत में भक्ति की जो लहर आई थी, गुरूनानक देव उसके प्रमुख प्रणेताओं में से थे। दक्षिण में बसेश्वर, पुर–धरदास, गुजरात में नरसी मेंहता, हिन्दी क्षेत्र में कबीर दादू, रैदास तथा सुदूर असम में शंकर देव जैसे महान संतों तथा भक्तों के समान गुरूनानक देव ने भी धर्म और जाति के भेद को त्यागकर सब धर्मों मतों तथा मनुष्यों की समानता तथा एक ईश्वर की प्रभुसत्ता का संदेश दिया। गुरूनानक सद्व्यावहारिक थे जिसके कारण हिन्दू और मुस्लिम दोनों ही उनका समान आदर करते थे क्योंकि उनके समय में दोनों धर्मों के मतावलम्बी परस्पर सद्भाव से रहते थे, यही कारण था कि नानक को मुसलमान सद्जनों की और संतों की संगति सुलभ हुई।

तत्कालीन अनेक गुरूओं और संतों के ही समान गुरूनानक देव ने भी अत्यंत सरल, बोधगम्य भाषा में रचित पदों और भजनों के माध्यम से आमजन को शिक्षित किया। उन्होंने कहा कि सबके निर्माता, कर्ता तथा विधायक शक्ति एक ओंकार, एक ईश्वर है, जो 'सतनाम' (अर्थात् उसी का नाम सत्य है, वह करता, पुरुष (कर्ता, रचयिता) अका मूरत (निराकार, अक्षय) निरवैर, द्वोषरहित तथा आजुनी सभग (जन्म मरण से मुक्त सर्व ज्ञाता) है। उसे गुरू परसाद से अर्थात् गुरू कृपा से ही जाना जा सकता है।

गुरूनानक देव ने जिस 'सिख' धर्म की स्थापना की उसका शाब्दिक अर्थ संस्कृत का 'शिष्य' और हिन्दी का 'सीख' या 'सीखना' होता है। यहाँ हम 'शिष्य' ही अर्थ ले तो 'शिष्य' से तात्पर्य है, गुरूनानक देव तथा उनके परवर्ती नौ गुरूओं की शिक्षा के अनुसार आचरण करने वाला होता है। सिद्धान्त और स्वरूप से सिख धर्म को मानने वाले व्यक्ति भारत की कुल आबादी के दो प्रतिशत से भी कम हैं लेकिन गतिशीलता कार्यशैली तथा उद्यम शीलता के अपने जन्मजात गुणों के कारण सिख भारत के अतिरिक्त लगभग सौ से भी अधिक देशों में फैले हुए हैं। सर्वश्रेष्ठ धर्म को परिभाषित करते हुए पाँचवें सिख गुरू और 'गुरूग्रंथ साहिब' के संकलनकर्ता गुरू अर्जन देव जी अपनी वाणी 'सुखमनी' में कहते हैं– 'सरब धरम महि श्रेष्ठ धरमु। हरि को नाम जपि निरमल करमु अर्थात् हरि के नाम का जाप और शुद्ध कर्म करना ही सर्वश्रेष्ठ धर्म है।

15वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में स्थापित सिख धर्म में कुल 10 गुरू हुए जिनमें प्रथम गुरूनानक देव तथा दसवें गुरू गोविन्द सिंह थे जिन्होंने। 1699 ई. की वैशाखी के दिन आनंदपुर साहिब में संगत से लिए पाँच प्यारों को अमृत की दीक्षा देकर 'खालसा' पंथ की स्थापना की तथा सिख धर्म को एक नई पहचान दी।

4.7 सिख दर्शन में स्त्री विषयक प्रमुख सिद्धान्त

सिख धर्म में स्त्रियों को पुरुषों के बराबर सम्मान व अधिकार प्राप्त है। पन्द्रहवीं शताब्दी में गुरूनानक देव से लेकर अठारहवीं शताब्दी में गुरू गोविन्द सिंह तक सभी दस सिख गुरूओं ने महिलाओं को सामाजिक तथा धार्मिक आजादी दिलाने और उनकी सामाजिक प्रतिष्ठा तथा सम्मान की जमकर पैरवी की। गुरूनानक ने तो यह कहकर कि– भंडिजिमिअै भंडि निमिअै। **भंडि मंगण विआहु**– अर्थात् स्त्री के बिना पुरुष के जीवन को अधूरा है। नानकजी ने यहां तक कहा– सो क्यों मंदा आंखिए जित जमैं राजान' अर्थात् महान, प्रतापी राजाओं को जन्म देने वाली स्त्री जाति को नीच कहना पाप है। सिखों के तीसरे गुरू अमरदास जी ने स्त्रियों के खिलाफ होने वाली बर्बरता और सामाजिक कुरीतियों का कड़ा विरोध किया और अंत तक उसके खिलाफ खड़े रहे। अमर दास जी का घूंघट प्रथा, सती प्रथा तथा कन्या भ्रूण हत्या का विरोध करना उनकी स्त्रियों के सम्मान की भावना को प्रदर्शित करता है। बाबाराम सिंह ने शिशु हत्या का विरोध युवा कन्याओं को दासता में बेचने और दहेज प्रथा के विरोध के साथ ही स्त्री साक्षरता तथा विधवाओं के पुर्नविवाह हेतु सार्थक प्रयास किया।

सिख धर्म के अनुसार स्त्री और पुरुष एक ही मानव सिक्के के दो पहलू हैं। अर्न्तसंबंध और अन्योन्याश्रितता भी एक प्रणाली है जिसके तहत दोनों एक दूसरे से जुड़े हुए हैं तथा इन्हीं सिद्धान्तों के कारण एक पुरुष एक स्त्री के बिना न तो पूर्ण बनता है और न ही स्वयं को सुरक्षित महसूस करता है। हमें महिला को शापित और निन्दित नहीं समझना चाहिए क्योंकि महिलाओं से ही नेता और राजा दोनों पैदा होते हैं। सिख परम्परा में यह माना गया है कि जिस प्रकार पुरुषों में आत्मा होती है ठीक उसी प्रकार स्त्रियों में भी आत्मा होती है उन्हें स्वयं को विकसित करने तथा अपनी अध्यात्मिक शक्ति को विकसित करने का पूर्ण अधिकार है। उन्हें सिख गुरूओं ने खूब प्रोत्साहित किया। सिख परम्परा में स्त्री मासिक चक्र के समय भी पाठ, जप आदि करते हुए गुरुद्वारे जा सकती है। उन्हें, भजन कीर्तन तथा गुरूद्वारों में ग्रंथी के रूप में भी मान्यता प्राप्त है। गुरुनानक ने अपने बाद के सभी गुरूओं को स्त्री समानता को बनाए रखने हेतु निरन्तर प्रोत्साहन दिया। उन्होंने स्त्रियों को सेवा, भक्ति बलिदान प्रथा तथा बहादुरी में पुरुषों के बराबर स्थान दिया। सिख धर्म में कुछ ऐसी स्त्रियाँ हैं

जिन्हें सम्पूर्ण सिख इतिहास और परम्परा में आदर्श माना जाता है, जिनमें, माता गुजरी, माई भागो, माता सुन्दरी, रानी साहिब कौर, रानी सदाकौर और महारानी जिंद कौर। ये सभी स्त्रियां अपने युद्ध कौशल तथा सामाजिक सांस्कृतिक अवदान के कारण सिख परम्परा में पूज्य है। इसके अतिरिक्त माता नानकी जो स्वयं गुरूनानक देव की बहन भी थी तथा सर्वप्रथम उन्होंने ही नानकदेव की पहचान की, माता खीवी जो गुरू अंगद देव की पत्नी थी तथा जिन्होंने सर्व प्रथम लंगर व्यवस्था का प्रारम्भ किया। बीबी अमरों जी का वैशिष्ट्य यह है कि उन्हें गुरु की गद्दी प्राप्त हुई थी और सबसे महत्त्वपूर्ण माता गुजरी जिन्होंने अपने पति और गुरूतेग बहादुर तथा पुत्र गुरूगोविन्द सिंह दोनों को शहीद हो जाने दिया तथा खालसा पंथ की स्थापना की। माई भागो तथा माता सैफ कौर को युद्ध क्षेत्र से लौटते पुरुषों को गुरू की वाणी याद दिलाते हुए उन्हें पुनः युद्ध क्षेत्र में बलिदान देने के लिए भेजने के लिए जाना जाता है। वापस भेजे गए कुल 40 सिख मुक्तसर की लड़ाई में शहीद हुए थे, जिनके नाम पर सिखों का प्रसिद्ध तीर्थ स्थल मुक्तसर की है। कथा यह है कि 29 दिसम्बर 1705 को सिखों और मुगलों के बीच भयंकर युद्ध हो रहा था। मुगलों के पास एक बड़ी सेना होते हुए भी वे सिखों के सामने टिक नही पा रहे थे। इस युद्ध में गुरूगोविन्द सिंह के चालीस सूरमाओं का बड़ा योगदान था कुछ सिख थे जो अनंतपुर में गुरू साहब का साथ छोड़कर वापस आ गए थे लेकिन घर लौटे इन योद्धाओं की पत्नियों को जब यह पता चला तो उन्होंने पतियों को गुरू के उपदेशों की याद दिलाई, सिखों को भी इस बात का एहसास हुआ कि उन्होंने गलती की है, उन्होंने वापस जंग की राह पकड़ी और गुरू से माफी मांगी तथा अपनी कुर्बानी दी। गुरू साहब ने उन्हे आशीर्वाद दिया और उन्हें 40 मुक्त आत्माएं कहा। जिस स्थान पर यह घटना घटी उसे आज हम पंजाब में 'मुक्तसर' के नाम से जानते हैं, जहां के पवित्र स्मारक और सरोवर इतिहास के गौरवशाली क्षणों की याद दिलाते है और सिख स्त्रियों के प्रति सम्मान और गौरव का भाव भी पैदा करते है।

सिख परम्परा में स्त्रियों के प्रति सम्मान का भाव आप इस रूप में भी देखें कि गुरूनानक देव स्वयं कहते हैं कि– ''सुन मंडल इक जोगी बसै, नारि न पुरुखु कहहु कोई कैसे'' और एक अमर संदेश दिया कि ''ईश्वर की ज्योति, जो प्रत्येक प्राणी में विद्यमान है उसे न नारी कहा जा सकता है न पुरुष। वह परमात्मा का अंश है।'' वे स्त्रियों की दुर्दशा के लिए तत्कालिन सामाजिक व्यवस्था और ईश्वर की कड़ी आलोचना करते हैं। सोलहवीं शताब्दी में राजनीतिक उथल–पुथल के बीच लाहौर में जिस प्रकार मुगल शासक बाबर की सेना ने स्त्रियों पर अत्याचार किया उससे गुरूनानक का कोमल हृदय अत्यंत द्रवित हो गया। उन्होंने ईश्वर की आलोचना करते हुए कहा कि–

ऐतिमार पइ कर लाणैं हैं की दर्द न आइआ।

अर्थात् हे प्रभु! इन मासूमों पर इतने अत्याचार होते देखकर भी तुम्हें इनपर तरस नहीं आया। सिख परम्परा स्त्री भ्रूण हत्या का सदैव विरोधी रहा है। सिख गुरूओं ने इसकी कड़ी निंदा की तथा जो लोक भी यह अनैतिक कृत्य करते थे उनके लिए उन्होंने 'कुड़ीमार' शब्द का प्रयोग करते हुए सम्पूर्ण सामाजिक बहिष्कार के लिए कहा तथा रोटी–बेटी का रिश्ता न रखने की हिदायत दी। इस संदर्भ में गुरू गोविन्द सिंह का हुक्मनामा देखिए–

मोणा और मसंदीया, मोना कुड़ी जुमार।
होई सिख वतरण करै, अंत करेगु खुआर।।

सिख परम्परा स्त्री सम्मान की जो अलख गुरुनानक देव ने जलाई उनके बाद के गुरुओं ने उसे कभी बुझने नहीं दिया। विधवा विवाह, सती प्रथा जैसी तत्कालीन सामाजिक बुराइयों के खिलाफ सिख गुरूओं ने अपनी आवाज़ हमेशा बुलंद की सती प्रथा के संदर्भ में गुरूओं का मत था कि पतिव्रता का अर्थ यह कदापि नहीं कि पत्नी पति के साथ जल मरे। सच्ची पतिव्रता वह है जो उस विरह को सहे। गुरू अमरदास ने कई विधवाओं को विवाहित कर उन्हें अपमान और उपेक्षित जीवन से बाहर निकालकर उनका सामाजिक पुनर्वास किया साथ ही पंजाब और पंजाब से बाहर धर्म प्रचार हेतु जो धार्मिक पीठें स्थापित की उनमें कई पीठों पर महिलाओं को नियुक्त कर उन्हें सर्वथा नवीन तथा उच्च सामाजिक, आध्यात्मिक भूमिका प्रदान की।

सिख धर्म की स्त्रियाँ सशक्त और समर्थ बनें तथा देश और सामाजिक हित में स्वयं का बलिदान कर सकें इसके लिए सन् 1699 ई. में गुरूगोविन्द सिंह ने वैशाखी के अवसर पर पुरुषों के साथ–साथ स्त्रियों को भी अमृत की दीक्षा प्रदान कर उन्हें शक्ति प्रदान की। उस सिख शक्ति से पैदा हुई माई भागों जैसी योद्धा सिख स्त्री ने चमकौर के युद्ध में गुरूगोविन्द सिंह की सेना की ओर से लड़ते हुए दुश्मनों के दांत खट्टे कर दिए। इसी युद्ध में बीबी हर शरण की युद्ध के मैदान में पहुँचकर दुश्मनों से लड़ते हुए अंततः शहीद हो गई। इस प्रकार सिख इतिहास के निर्माण में तथा परम्परा के निर्वाह में स्त्रियों की शानदार भूमिका का प्रारम्भ हुआ जो अब भी कायम है।

4.8 सारांश

इस इकाई में हमनें जैन,बौद्ध एवं सिख धर्म दर्शन के मूलभूत सिद्धांतों के साथ इन धर्मों में स्त्री समानता के सिद्धांतों पर चर्चा की जिनका भारतीय समाज की निर्मिति में अतुलनीय योगदान है।इस इकाई का प्रारम्भ हमने भारतीय ज्ञानपरम्परा के मूल वेद से की जिसके अन्तर्गत वेदों में स्त्री शिक्षा सहित स्त्री के कर्त्तव्यों, अधिकारों, गुणों के साथ–साथ उनकी सामाजिक भूमिका को दर्शाया गया है।इसके अनन्तर जैन,बौद्ध एवं सिख परम्परा का एक प्रारम्भिक परिचय ,उनके विविध मत–पंथ, उनकी मान्यताएं, उनका सामाजिक सांस्कृतिक उत्थान तथा तीनों धर्मों में स्त्री–पुरुष सम्बन्ध, स्त्रियों की सामाजिक स्थिति, स्त्रियों की धार्मिक स्थिति ,स्त्री शिक्षा सहित अनेक बिन्दुओं पर चर्चा की गई है।

4.9 शब्दावली

श्रमण : साधु

जिन : जिसने इन्द्रियों को जीत लिया हो

तीर्थंकर : जो तीर्थ का निर्माता होता है

भिक्षुणी : स्त्री साधु

विषमतावाद : किसी भी प्रकार की असमानता

आवश्यक चूर्णि : जैनधर्म का एक ग्रन्थ

अनीश्वरवादी : जो ईश्वर को नहीं मानते

आठ गुरूधम्म : गौतम बुद्ध के आठ वचन

थेरी : बौद्ध धर्म में दीक्षित भिक्षुणियां

उदासियां : गुरुनानक देव की यात्राएं

इक ओंकार	:	एक ईश्वर
लंगर	:	सार्वजनिक भोजनशाला
माता नानकी	:	गुरुनानक देव की बहन

4.10 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

- भारत के धर्म और दर्शन, सारांश प्रकाशन, नई दिल्ली
- जैन धर्म में नारी की भूमिका, डा. सागरमल जैन, पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी
- बौद्ध एवं जैन संघ के भिक्षुणियों की सामाजिक स्थिति, डा. जया श्रीवास्तव
- बौद्ध धर्म नयी सदी–नयी दृष्टि, एटलांटिक पब्लिशर्स, नई दिल्ली, सं. पुनीत बिसारिया
- थेरीगाथा की स्त्रियाँ और अम्बेडकर, डॉ. धर्मवीर, वाणी प्रकाशन, प्रथम संस्करण, 2005
- थेरीगाथा, डा. विमलकीर्ति, सम्यक प्रकाशन,नई दिल्ली
- सरलगुरू ग्रन्थ साहिब एवं सिख धर्म, जगजीत सिंह, विद्याविहार प्रकाशन, दिल्ली

4.11 बोध प्रश्न

- समग्र भारतीय संस्कृति में स्त्री समुदाय को उच्च स्थान प्राप्त है।इस कथन की पुष्टि कीजिए।
- जैन धर्म में स्त्री विषयक सिद्धांतों का वर्णन कीजिए।
- बौद्ध धर्म में स्त्री सम्बन्धी व्यावहारिक एवं आध्यात्मिक सिद्धांतों को सोदाहरण समझाइए।
- सिख परम्परा में स्त्री विषयक मान्यताओं की समीक्षा कीजिए।
- भारतीय संस्कृति में स्त्रियां द्वितीयक श्रेणी की नागरिक नहीं हैं।इस कथन की समीक्षा कीजिए।

इकाई 5 देवी तथा स्त्रियों के परिप्रेक्ष्य में शक्ति एवं प्रकृति का सिद्धान्त

इकाई की रूपरेखा

5.1 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई का उद्देश्य-

- विद्यार्थियों को भारतीय परम्परा में स्त्रीतत्त्व की स्थिति एवं भूमिका से अवगत करवाना है
- भारतीय चिन्तनधारा में देवी, स्त्री, शक्ति एवं प्रकृति के सन्दर्भ में यत्किंचित् जानकारी उपलब्ध करवाना है।
- देवी एवं स्त्रियों के सन्दर्भ में शक्ति व प्रकृति के सिद्धान्त का सैद्धान्तिक रूप को प्रस्तुत करना है।
- इसके माध्यम से विद्यार्थी शास्त्र से लेकर समाज तक व्याप्त स्त्री के इन सशक्त रूपों का ज्ञान प्राप्त कर सकेंगे।
- इस पाठ को पढ़ने से शास्त्र एवं लोक में व्याप्त शक्ति एवं प्रकृति को जान सकेंगे।

- इस पाठ के माध्यम से भारतीय परम्परा में स्त्रियों ही नहीं अपितु समस्त स्त्रीतत्त्व के स्थान, महत्त्व, भूमिका से परिचित हो सकेंगे।

5.2 प्रस्तावना

भारतीय चिन्तनधारा एवं देवी, स्त्री, शक्ति एवं प्रकृति सामान्य शब्द मात्र नहीं हैं अपितु शास्त्र एवं लोक में इनकी परिधि बहुत विस्तृत है। भारतीय चिन्तनधारा के केन्द्र में स्त्रीतत्त्व है। इस बात को देवी, स्त्री, शक्ति एवं प्रकृति शब्द के निर्वचन, अर्थ तथा वैदिककाल से लेकर आज तक शास्त्रों में इनकी विभिन्न रूपों में प्रतिष्ठा द्वारा जाना व समझा जा सकता है। भारतीय ज्ञानपरम्परा में स्त्री व पुरुष के मध्य वस्तुतः कोई भेद नहीं है अपितु तात्त्विक रूप से दोनों एक हैं। यहाँ स्त्री व पुरुष दोनों परस्पर एकदूसरे के पूरक हैं। दोनों का अपना पृथक् व समान महत्त्व भी है। स्त्री देवी तथा आदिशक्ति के रूप में समादृत है। सांख्यदर्शन की तत्त्वमीमांसा प्रकृति एवं पुरुष इन्हीं दो तत्त्वों पर आधारित है। वहाँ सृष्टि के आदि कारण के रूप में प्रकृति एवं पुरुष तत्त्व का वर्णन प्राप्त होता है। अन्य भारतीय ग्रन्थों एवं भारतीय चेतना में स्त्री एक आधारभूत तत्त्व है जिसकी स्थिति अधिष्ठात्री के रूप में है और जो सर्वस्व का आधार है। यहाँ वर्तमान स्त्रीविमर्श के बिन्दुओं के अनुसार परस्पर बलाबल का भाव नहीं है। भारतीय परम्परा में स्त्री शक्ति है, प्रकृति है, देवी है तथा पूज्या है। उसका यही रूप प्रधान है। पूज्य वही होता है जिसमें उदात्त भाव व भावनाएं हों। जो सर्वविध सशक्त हो अन्यथा मानवचेतना शक्तिहीन को कभी पूज्य नहीं मानती । देवी तथा स्त्रियों का पूज्य होना इस बात का द्योतक है कि वे स्वयं शक्ति हैं, शक्ति-केन्द्र हैं एवं समाज की शक्तिसंचारिणी हैं। सृष्टि की अधिष्ठात्री, निर्मात्री एवं संचालनकर्त्री हैं।

देवीभागवत देवी के समस्त गुणों का परिचय देने वाला महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। देवी महाशक्ति हैं। वे परब्रह्म के रूप में प्रतिष्ठित हैं। ब्रह्मा, विष्णु व शिव क्रमशः देवी की शक्ति से ही जगत् की सृष्टि, जगत् का पालन व जगत् का संहार करते हैं। देवी जगत् की सृष्टि, पालन व संहार करने वाली आदिनारायणी शक्ति हैं। देवी शक्ति भी हैं, शक्तिमती भी हैं, नर भी हैं और नारी भी हैं। देवी ही नौदुर्गा व दश महाविद्या के रूप में प्रतिष्ठित हैं। यह जगत् उन्हीं शक्तिस्वरूपा देवी की ही लीला है- शक्तिक्रीडा जगत् सर्वम्

5.3 शक्ति एवं प्रकृति का सामान्य परिचय

शक्ति एवं प्रकृति भारतीय चिन्तनधारा के ऐसे शब्द हैं जिनका सामान्य लोकव्यवहार से लेकर शास्त्रों तक विभिन्न अर्थों में प्रयोग होता है परन्तु यदि इनके प्रयोग के प्रत्येक अर्थ तक जाया जाये तो वहाँ अर्थ की तात्त्विक एकता का दर्शन होगा । वस्तुतः एक ही शब्द के अर्थ का अनेक स्तर है तथा समाज स्वयं के दर्शन, ज्ञान तथा प्रसंगानुसार अर्थ के विभिन्न आयामों का प्रयोग करता है। शक्ति एवं प्रकृति भारतीय चेतना के केन्द्रीभूत शब्द हैं। जिनका अधिष्ठान बहुत सुदृढ़ व गहन है।

शक्ति का शाब्दिक अर्थ है 'कायाजनित सामर्थ्य' अर्थात् शरीर से उत्पन्न शक्ति? यह शब्द शक धातु में क्तिन् प्रत्यय लगाकर बना है जिसका अर्थ है सामर्थ्य। जब देवी को 'या देवी सर्वभूतेषु शक्तिरूपेणसंस्थिता' कहते हैं तब शक्ति का यही अर्थ केन्द्र में रहता है। सामर्थ्य के अर्थ में शक्ति प्रमुखतः तीन प्रकार की है प्रभुशक्ति अर्थात् राजा का कोश, दण्ड आदि,

उत्साहशक्ति अर्थात् बल व विक्रम तथा मन्त्रशक्ति अर्थात् सन्ध्या आदि से प्रारम्भ करके जो भी आराधना की शक्ति हो।

इसप्रकार स्त्रीशक्ति के रूप में शक्ति के अनेक रूप भारतीय परम्परा में प्राप्त होते हैं।सभी रूपों व सभी अर्थों के मूल में शारीरिक बल व साहस ही है।

भारतीय ज्ञानपरम्परा में स्त्रीत्व के सबसे सशक्त रूप का वर्णन देवियों के रूप में हुआ है। यही कारण है कि भारतीय समाज में महिलाओं को देवीस्वरूपा माना जाता रहा है। यह भाव सामान्य लोकव्यवहार व बोलचाल में सहज देखा जा सकता है। जहाँ सम्बोधन से लेकर नामकरण में देवी शब्द के प्रयोग का प्राचुर्य विद्यमान है।

दुर्गासप्तशती शक्ति के आराधना का आकर ग्रन्थ है। इसमें पग-पग पर देवी की शक्तियों एवं उनके द्वारा सम्पन्न अभूतपूर्व कार्यों का वर्णन प्राप्त होता है। जिस दुष्कर कार्य को देवता भी नहीं सम्पन्न कर पाये उसे शक्तिस्वरूपा देवी ने अपने ज्ञान, कौशल, बुद्धि और बल से पूर्ण किया। यहाँ देवी रक्षकों की भी रक्षिका हैं। इस प्रकार सर्वोच्च संरक्षिका के रूप में विद्यमान है। देवी को समस्त विश्व का पालन करने वाली तथा समस्त विश्व को धारण करने वाली शक्ति तथा विश्व की आश्रयभूता शक्ति कहा गया है। यहाँ देवी विश्व के स्वामी विश्वेश द्वारा वन्दित हैं। जो कि हिन्दू परम्परानुसार त्रिदेवों में से ब्रह्मा व विष्णु का गुण है।–

विश्वेश्वरि त्वं परिपासि विश्वं
विश्वात्मिका धारयसीति विश्वम् ।
विश्वेशवन्द्या भवती भवन्ति
विश्वाश्रया ये त्वयि भक्तिनम्राः॥

भारतीय परम्परा में स्त्री ’देवी’ है, मातृस्वरूपा है। इसीलिये स्त्रीतत्त्व का देवी, माता, शक्ति आदि अनेक नामों द्वारा बारम्बार आवाहन शास्त्रों में देखा जा सकता है। देवी के रूप में स्त्रीतत्त्व को सम्पूर्ण जगत् की माता, सम्पूर्ण विश्व की रक्षिका कहा गया है- ’मातर्जगतोऽखिलस्य’,’ पाहि विश्वं त्वमीश्वरी’। दुर्गासप्तशती में समस्त विद्याओं एवं समस्त स्त्रियों को देवी का ही स्वरूपभेद बताया गया है तथा इस जगत् को उन्हीं जगन्माता द्वारा व्याप्त बताते हुये देवी को परा वाणी कहा गया है। अर्थात् देवी ही समस्त विद्याओं हैं एवं जगत् के समस्त स्त्रियों की प्रतिनिधित्व करने वाली शक्ति है। देवी ही इस समग्र विश्व की अधिष्ठात्री हैं, वे ही परा वाणी हैं। जितने भी स्तुतियोग्य पदार्थ इस जगत् में हैं उनके द्वारा देवी की स्तुति से परे हैं क्योंकि यह जगत् उनसे ही व्याप्त है-

विद्याः समस्तास्तव देवि भेदाः
स्त्रियः समस्ताः सकला जगत्सु।
त्वयैकया पूरितमम्बयैतत्
का ते स्तुतिः स्तव्यपरा परोक्तिः॥

इसप्रकार देवी त्रिदेवों के समग्र गुणों की पुञ्जीभूता शक्ति हैं। वे शक्तिस्वरूपा हैं। शक्ति की अधिष्ठात्री हैं। देवी के सर्वशक्तिशाली रूप के कारण ही ’शक्ति’ संज्ञा दी गयी है और यह शब्द लोक में किसी भी प्रकार के पराक्रम के सन्दर्भ में रूढ़ होकर बहुप्रयोज्य शब्द बन गया है।

प्रकृति शब्द प्र उपसर्गपूर्वक, कृ धातु में क्तिन् प्रत्यय (प्रक्रियते कार्य्यादिकभनयेति)से निष्पन्न

है। इसकी दूसरी व्युत्पत्ति प्र उपसर्ग पूर्वक कृ धातु में कर्तरि क्तिच् प्रत्ययपूर्वक होती है। जिसका अर्थ है -प्रकर्षेण सृष्ट्यादिकं करोतीति प्रकृतिः। यहाँ प्रथम निर्वचन का अर्थ स्वभाव, योनि, लिंग, शक्ति, शिल्पी है तथा प्रकृति का अर्थ 'सृष्टि' है, माया है। जिसका अर्थ स्वभाव, योनि, लिंग, शक्ति, योषा आदि है।

5.3.1 भारतीय परम्परा में शक्ति

शक्ति और देवी शब्द का व्यवहार भारतीय परम्परा में परस्पर पर्यायवाची रूप में होता है। देवी मूलप्रकृति हैं। वे भगवती जगदम्बा पराशक्ति हैं। श्रीमद्देवीभागवत में देवी की प्राकट्य की एक सुन्दर कथा आयी है। जिसके वक्ता व्यास जी हैं एवं श्रोता जनमेजय हैं। व्यास जी कहते हैं कि- एक समय की बात है जब महाप्रलयावस्था में एकार्णव के मध्य वटपत्र पर भावान् विष्णु बालरूप में शयन कर रहे थे और बडे ही विचारमग्न थे कि किस चिदात्मा शक्ति ने मुझे इस बालरूप में उत्पन्न किया है? उसी समय आदिशक्ति भगवती ने आकाशवाणी के रूप में आधे श्लोक में ही सम्पूर्ण अर्थ को प्रदान करने वाले ज्ञान को बताते हुये कहा-

> सर्वं खल्विदमेवाहं नान्यदस्ति सनातनम् ॥ (श्रीमद्देवीभागवत, 1/15/52)
> अर्थात् सबकुछ मैं ही हूँ अन्य दूसरा कोई भी सनातन नहीं है।

पुनः विष्णु जी के यह सोचने पर कि इस सत्य वचन का उच्चारण किसने किया? कहनेवाला स्त्री है अथवा पुरुष? तब विभिन्न अस्त्र-शस्त्रों व शक्तियों से सज्जित देवी विष्णु के ध्यान में प्रकट होती हैं और कहती हैं कि जब भी इस जगत् में सृष्टि, स्थिति व लय का समय अयेगा आपको भी महाशक्ति की शक्ति के वशीभूत होकर आना पड़ेगा। पराशक्ति गुणातीत है। सृष्टि-स्थिति-संहार अथवा ब्रह्मा-विष्णु व रुद्र अर्थात् समस्त सृष्टिक्रम देवी के निर्देशानुसार चलता है।

देवी के जन्म के विषय में राजा जनमेजय व व्यास जी के मध्य हुआ यह संवाद भी बहुत महत्त्वपूर्ण है जिसमें राजा जनमेजय महर्षि व्यास से पूछते हैं कि देवी का जन्म कैसे हुआ। जिस पर व्यास जी उत्तर देते हैं कि ब्रह्मा, विष्णु एवं महेश्वर भी देवी की उत्पत्ति के विषय में सोचने में असमर्थ हैं फिर मैं क्या कहूँ? फिर भी बताता हूँ कि जो विभिन्न शक्तियाँ जो विभिन्न मानव-रूपों में स्वयं को अभिव्यक्त करती हैं, वे देवी ही हैं।

भारतीय परम्परा में शक्ति के शाब्दिक अर्थ के साथ-साथ देवी के रूपमें शक्ति के अनेक रूप मिलते हैं कहीं तीन शक्तियाँ हैं, कहीं आठशक्तियाँ, कहीं नौ शक्तियाँ तो कहीं शक्ति के पचास से अधिक रूप हैं यथा–

इन्द्राणी, वैष्णवी, शान्ता, ब्राह्माणी, कौमारी, नारसिंही, वाराही, माहेश्वरी, कार्तिकी, प्रधाना, रौद्री, लक्ष्मी, कीर्त्ति, कान्ति, तुष्टि, पुष्टा, शान्ति, क्रिया, दया, मेधा, गुणोदरी, विरजा, शाल्मली, लोलाक्षी, वर्तुलाक्षी, सुदीर्घमुखी, गोमुखी, दीर्घ-जिह्वा, कुण्डोदरी, विकृतमुखी, ज्वालामुखी, उल्कामुखी, सरस्वती, गौरी, उमा, दुर्गा, काली आदि।

5.3.2 भारतीय परम्परा में प्रकृति

प्रकृति शब्द भारतीय ज्ञानपरम्परा में अनेक अर्थों में प्रयुक्त होता है। प्रकृति का अर्थ धर्म, स्वभाव, गुण (सात्त्विक, राजस, तामस, शीत, उष्ण आदि) तथा शक्ति आदि है।

प्रकृति सृष्टि के रूप में पांच प्रकार की है गणेशजननी अर्थात् पार्वती (शक्ति), दुर्गा, राधा, लक्ष्मी तथा सरस्वती- प्रकृत्यंशदेवीपञ्चकरूपशक्तिभेदे-

'गणेशजननी दुर्गा, राधा लक्ष्मीः सरस्वती सावित्री च।
सृष्टिविधौ प्रकृतिः पंचमीं स्मृता।।

प्रकृति शब्द की निरुक्ति इसप्रकार है कि यहाँ 'प्र' का अर्थ प्रकृष्ट है और कृति शब्द का अर्थ सृष्टि है। सृष्टि के आदिकर्त्री में जो देवी हैं उन्हें प्रकृति के रूप में जाना जाता है-

प्रकृतिशब्दनिरुक्तिर्यथा 'प्रकृष्टवाचकः प्रश्च कृतिश्च सृष्टिवाचकः। सृष्टौ प्रकृष्टा या देवी प्रकृतिः सा प्रकीर्तिता।

प्रकृति का श्रुति में यह भी अर्थ किया गया है कि 'प्र' वर्ण सत्त्वगुण का द्योतक है, 'कृ' रजोगुण का और 'ति' वर्ण तमोगुण का द्योतक है।

'प्र' का अर्थ है प्रथम (प्रथमबार) है 'कृति' का अर्थ है सृष्टि। अर्थात् जो प्रथम रचना है। सृष्टि के आदि में जो देवी हैं उनको प्रकृति कहा गया है-

गुणे प्रक्थे सत्त्वे च प्रशब्दो वर्त्तते श्रुतौ।
मध्यमे रजसि कृश्च ति शब्दस्तामसः स्मृतः।।
प्रथमें वर्तते प्रश्च कृतिश्च सृष्टिवाचकः।
सृष्टेराद्या च या देवी प्रकृतिः सा प्रकीर्तिता।। (वाचस्पत्यम्)

कहा गया है कि स्त्री और पुरुष में भेद नहीं है क्योंकि प्रकृति के आविर्भूत होने का स्वरूप यह है कि सृष्टि में परमतत्त्व दो प्रकार का हो जाता है दाहिने भाग से वह पुरुष व वाम अंग से प्रकृति अर्थात् स्त्री हो जाता है। अर्थात् उसका दक्षिणभाग पुरुष का प्रतीक है व वामभाग स्त्री का। यहाँ अर्धनारीश्वर की संकल्पना साकार है। इसीलिये स्त्री और पुरुष के मध्य भेद नहीं माना जाता। वस्तुतः तात्विक रूप से दोनों में अभेद है-

योगेनात्मा सृष्टिविधौ द्विधारूपो बभूव सः।
पुंमाश्च दक्षिणार्धाङ्गात् वामाङ्गात् प्रकृतिः स्मृता।
... अत एव हि योगीन्द्रः स्त्रीपुंभेद न मन्यते। (वाचस्पत्यम्)

इसप्रकार भारतीय ज्ञानपरम्परा में 'प्रकृति' शब्द विभिन्न अर्थों का वाचक है। इसका एक प्रधान अर्थ सृष्टि की आदिशक्ति भी है।

'प्रकृति' का वर्णन भारतीय दर्शनधारा के अन्तर्गत 'सांख्यदर्शन' की तत्त्वमीमांसा में आता है। 'प्रकृति' यहाँ सांख्यतत्त्वमीमांसा का आधार है। सांख्यदर्शन में दो तत्त्व प्रमुख हैं- प्रकृति एवं पुरुष। जब पुरुष का प्रकाश प्रकृति पर पड़ता है तब सृष्टि की उत्पत्ति होती है। पुनः क्रमशः महत्, अहंकार, पंचतन्मात्राओं, एकादश-इन्द्रियों व पंचतन्मत्राओं से पंचमहाभूतों की उत्पत्ति होती है। यहाँ जब साधक के विवेक उत्पन होता है उस अवस्था में उसे प्रकृति- पुरुष व समस्त पदार्थों का ज्ञान हो जाता है और उसके एकान्तिक व आत्यन्तिक दुःखों की निवृत्ति हो जाती है तथा उसे कैवल्य की प्राप्ति होती है। यहाँ प्रकृति को 'अव्यक्त' कहा गया है। वह त्रिगुणात्मिका है-सत्, रजस् व तमस् सम्पन्न है। प्रकृति व पुरुष का संयोग ही सृष्टि का कारण है। यहाँ प्रकृति जड है और पुरुष चेतन। सांख्य की प्रकृति पूर्णतः स्वतन्त्र और नित्य है वह अपने व्यापार अर्थात् व्यवहार हेतु किसी अन्य के आश्रित नहीं है। प्रकृति समस्त संसार को उत्पन्न करने वाली है परन्तु स्वयं किसी से उत्पन्न नहीं होती है। उसका स्वतः अस्तित्त्व है। इसीलिये सांख्य

में प्रकृति को 'अहेतुमत्' कहा गया है। अत्यन्त सूक्ष्म होने के कारण उसका प्रत्यक्ष नहीं होता अपितु उसके कार्यों के आधार पर उसका प्रत्यक्ष किया जाया है। सांख्यकारिका में कहा गया है कि महत् आदि जो सांख्य के अन्य तत्त्व हैं उनके कार्यों के परिमित होने से, महत् आदि कार्यों के कारण के समान होने से कारण की ही शक्ति से उत्पन्न होने से तथा कारण से ही कार्य के आविर्भूत होने से तथा प्रलयकाल में उसी कारण में लीन हो जाने से, विविधरूपों वाले समस्त कार्यों का एक कारण अव्यक्त अर्थात् प्रधान अवश्य है। -

> भेदानां परिणामात् समन्वयत्वात् शक्तितः प्रवृत्तेश्च।
> कारणकार्विभागादविभागाद् वैश्वरूपस्य॥ (सांख्यकारिका, 15)

इसप्रकार 'प्रकृति' है क्योंकि जो कुछ कार्य दिखायी पड़ रहा है उसका कारण अवश्य कुछ होगा और उसकारण को सांख्य ने 'प्रकृति' संज्ञा दी है। प्रकृति पुरुष को मोक्ष दिलाने हेतु प्रवृत्त होती है इसका बहुत ही मधुर व सशक्त वर्णन सांख्यकारिका में गाय एवं बछडे के दृष्टान्त द्वारा किया गया है और कहा गया है कि अचेतन होकर भी प्रकृति परोपकार की भावना से प्रेरित होकर निःस्वार्थभाव से पुरुष के लिये कार्य करती है। जिसप्रकार गाय के शरीर में दूध 'अचेतन' होते हुये भी बछडा जब भी पीने की इच्छा करता है वह माँ के स्तनों में स्वतः आ जाता है। उसी प्रकार पुरुष को मोक्ष दिलाने हेतु अचेतन मूल प्रकृति भी प्रवृत्त होती है-

> वत्सविवृद्धिनिमित्तं क्षीरस्य यथा प्रवृत्तिरज्ञस्य।
> पुरुषविमोक्षनिमित्तं तथा प्रवृत्तिः प्रधानस्य ॥ (सांख्यकारिका, 57)

सांख्य की त्रिगुणात्मिका एवं उपकारिणी प्रकृति, विशुद्ध परोपकार की भावना से निर्गुण एवं प्रत्युपकार की भावना से रहित पुरुष के भोग एवं अपवर्ग की सिद्धि हेतु सृष्टिरूप सामग्री का सम्पादन करती है। संसार के बन्धन, संसरण एवं मोक्ष का कारण प्रकृति ही है। प्रकृति धर्म-अधर्म, अज्ञान, वैराग्य, राग, ऐश्वर्य व अनैश्वर्य द्वारा स्वयं को बांधती है तथा ज्ञान द्वारा मुक्त करती है। इसप्रकार वह स्वयं अपने मोक्ष व बन्धन का कारण है-

> रूपैः सप्तभिरेव तु बध्नात्यात्मानमात्मना प्रकृतिः।
> सैव च पुरुषार्थं प्रति विमोचयत्येकरूपेण॥ (सांख्यकारिका, 63)

इसप्रकार भारतीय परम्परा में 'प्रकृति' शब्द आदिशक्ति, आदिकारण एवं सर्वस्व के अधिष्ठान के अर्थ में प्रतिष्ठित है तथा यह स्त्रीत्व के सशक्त रूप को अभिव्यक्त करता है।।

भारतीय शास्त्र और लोक परपस्पर पूरक हैं। यहाँ शास्त्र लोक से पृथक् नहीं है और न ही लोक शास्त्र से भिन्न। यही कारण है कि विभिन्न शब्दों एवं विभिन्न रूपों का जो शास्त्रसम्मत अर्थ है वह लोक में भी वैसे ही प्रचलित है जैसे कि शास्त्र में।

5.3.3 भारतीय परम्परा में शक्ति एवं प्रकृति का सैद्धान्तिक रूप

भारतीय ज्ञान परम्परा में शक्ति एवं प्रकृति का सैद्धान्तिक पक्ष अत्यन्त उच्च एवं मुखर है। 'शक्ति तत्त्व' एवं 'प्रकृतितत्त्व' को भारतीय ज्ञानपरम्परा सृष्टि का कारण एवं सृष्टि की आदि शक्ति मानती हैं। शक्ति एवं प्रकृति में देवत्व अर्थात् दैवीय तत्त्व है। यह बात निर्विवाद है कि शक्ति एवं प्रकृति दोनों स्त्रीरूपा हैं।

भारतीय दार्शनिक परम्परा इन दोनों रूपों को कहीं पृथक् रूप में कहती है तो कहीं इनको एकाकार करते हुये चलती है।

वैदिककाल से लेकर आजतक शक्ति एवं प्रकृति का चिन्तन विभिन्न रूपों में भारतीय चिन्तनधारा में व्याप्त है। यह चिन्तन अविच्छिन्न है। वेदों में विभिन्न देवियों के रूप में सृष्टि की आदिशक्ति की प्रार्थना की गयी है। ऋग्वेद के देवीसूक्त (वाक्सूक्त) से लेकर अथर्ववेद के पृथ्वीसूक्त तक इस जगत् के आधार के रूप में शक्ति का स्वरूप दिखायी पड़ता है। इस विश्व का तीन क्रम है सृष्टि, स्थिति एवं संहार। तीनों में शक्ति की स्थिति होती है। ये तीनों शक्तियाँ ब्रह्म, विष्णु एवं महेश के पास बतायी गयी हैं परन्तु दुर्गासप्तशती में जब असुरों के वध की बात आती है तो इन तीनों शक्तियों की एकल अधिष्ठात्री देवी दुर्गा का आह्वान किया जाता है और वे ही असुर वध कर तथा आसुरी शक्ति का समूलोच्छेद कर शान्ति स्थापित करती हैं। यहाँ शक्ति अन्याय के आत्यन्तिक प्रतिकार के रूप में उपस्थित हैं।

भारतीय दर्शनधारा में शक्ति एवं प्रकृति विभिन्न रूपों में परिभाषित व प्रतिष्ठित हैं। ये समस्त रूप विभिन्न दर्शनों की तत्त्वमीमांसा में देखे जा सकते हैं। शैवदर्शन विशेषकर काश्मीर शैव की तत्त्वमींमांसा में छत्तीस तत्त्व है जिसमें क्रमशः पैंतीसवाँ व छत्तीसवाँ शक्ति और शिव हैं। त्रिपुरा सिद्धान्त में यी कामेश्वर-कामेश्वरी हैं। गौडीय वैष्णव दर्शन में यही श्रीकृष्ण व राधा हैं। यही वह चरम वस्तु है जिसे त्रिपुरा-मत में सुन्दरी अथवा त्रिपुरसुन्दरी कहा गया है। आदि शंकराचार्य के ग्रन्थ सौन्दर्यलहरी में भी इसी स्वरूप का वर्णन प्राप्त होता है कि 'पूर्ण सौन्दर्य अनन्त है उसकी तुलना नहीं है। कवि उसका वर्णन नहीं कर सकते, अप्सराओं का सौन्दर्य उसके किंचित् भी बराबर नहीं है। देवांगनाएं ही उसके दर्शन हेतु उत्सुक नहीं रहती अपितु समस्त जगत् उसके दर्शन हेतु आकुल रहता है। यह परम सौन्दर्य है। इस सौन्दर्य से युक्त सुन्दरी के उपासक इसकी उपासना चन्द्र रूप में करते हैं। चन्द्र की सोलह कलाएं है और सभी नित्य हैं। इसीलिये इस सर्वोच्च सुन्दरता की धारक शक्ति को षोडश कला कहा गया है। इसमें प्रथम 15 कलाओं का उदय-ह्रास होता है परन्तु सोलहीं कला अमृता है? उसका उदय-ह्रास नहीं होता। इसे अमृता चन्द्रकला अथवा षोडसी कला को व्याकरणदर्शन में 'पश्यन्ती' वाणी कहा गया है। दर्शन में इसी का पारिभाषिक नाम आत्मा है। मन्त्र शास्त्र में इसे मन्त्र या देवता का स्वरूप कहा गया है। इस षोडशी कला में पूर्णता है। वह नित्योदित, अमृतस्वरूप व अखण्ड है। यही अमृता षोडशी कला महात्रिपुरसुन्दरी ललिता हैं। यही सौन्दर्य व आनन्द का परमधाम हैं। यही पराकला हैं। यही श्रीविद्या हैं। प्रथम पन्द्रह कलाएं कालचक्र से सम्बन्धित हैं जो घटती-बढ़ती हैं। यही प्रतिपदा आदि तिथि के रूप में हैं। ये नित्य हैं परन्तु इनका आविर्भाव-तिरोभाव है। षोडशी कला नित्य ज्योत्स्नामय सहस्रदलकमल में स्थित नित्यकलायुक्त श्रीचक्रात्मक चन्द्रबिम्ब है-

षोडशे तु कला ज्ञेया सच्चिदानन्दरूपिणी (सुभगोदय)

यह सच्चिदानन्दरूपिणी षोडशी कला कभी पुरुष रूप में है तो कभी स्त्री के रूप में हैं। कभी सुन्दरी या ललिता के रूप में हैं तो कभी कृष्णरूप में-

> कदाचिदाद्या ललिता पुंरूपा कृष्णविग्रहा।
> वंशीनादसमारम्भादकरोद् विवशं जगत्।।

यदि भारतीय उपासना पद्धति की बात की जाय तो जल-समर्पण का साधारण नियम है कि स्त्री-देवता के वाम कर में तथा पुरुष देवता के दक्षिण कर में जल समर्पित किया जाता है। परन्तु देवी

ललिता के दाहिने हाथ में ही जल देने की व्यवस्था है। इससे श्रीकृष्ण और ललिता का अभेद ज्ञात होता है क्योंकि श्रीकृष्ण का रमणीरूप ग्रहण कर मोहिनी मूर्ति के रूप में प्राकट्य विख्यात है।

तन्त्रमत में शक्ति ही मन्त्र है और यह मन्त्ररूपा शक्ति मौलिक रूप से तो एक है परन्तु उपाधिभेद से उसके अनेक रूप हो जाते हैं।

शैवदर्शन में परमतत्त्व प्रकाशस्वरूप है। उसका विभाजन तीन शक्तियों में किया जाता है-परा अथवा अनुत्तरा शक्ति, जो कि परमशिव की चित् शक्ति है। परापरा शक्ति जो कि इच्छाशक्ति है। अपरा शक्ति जिसे उन्मेषरूपा ज्ञानशक्ति के रूप में भी जाना जाता है। इन तीनों का अभिन्न स्वरूप ही परमेश्वर की पूर्णाशक्ति है।

शाक्तदर्शन में शक्ति से रहित शक्तिमान का स्वरूप स्वीकार नहीं किया जाता। अर्थात् शक्ति से परे शक्तिमान का वहाँ कोई अस्तित्त्व नहीं है। शाक्तों का मानना है कि शक्तिमान अथवा शिव वस्तुतः शक्ति का ही उपाधिहीन परम अवस्थामात्र है।

सांख्यदर्शन में प्रकृति एवं पुरुष सांख्य तत्त्वमीमांसा का आधार हैं। यहाँ प्रकृति आदिशक्ति के रूप में है। प्रकृति त्रिगुणात्मिका है व जड़ है। यहाँ पुरुष चेतन है। प्रकृति की पूर्णतः स्वतन्त्र व नित्य सत्ता है। प्रकृति अपने व्यवहार में स्वतन्त्र है किसी पर आश्रित नहीं है। सांख्य की प्रकृति अहेतुमत् है। यह प्रकृति अपने कार्यों के द्वारा जानी जाती है। सांख्य तत्त्वमीमांसा के विस्तार के द्वारा प्रकृति का अनुमान के आधार पर प्रत्यक्ष होता है। पुरुष व प्रकृति का संयोग ही सृष्टि है। पुरुष द्वारा प्रकृति को जान लेना अथवा देख लेना ही कैवल्य है। यहाँ प्रकृति को प्रधान व अव्यक्त भी कहा गया है। इसप्रकार सांख्यदर्शन में प्रकृति एक प्रमुख तत्त्व के रूप में विद्यमान है।

तान्त्रिक दर्शन में शिव, शक्ति एवं बिन्दु तीन तत्त्व हैं। इसमें से बिन्दु तत्त्व को महामाया कहा गया है।महामाया अथवा बिन्दु की तीन अवस्थाएं हैं- परा, सूक्ष्मा व स्थूला। इसी स्थूल या तीसरी अवस्था का नाम प्रकृति है। यह प्रकृति त्रिगुणमयी है। प्रकृति साक्षात् या परम्परा-क्रम से भोक्ता पुरुष के बुद्धि आदि भोग-साधनों को तथा समस्त भोग्य-विषयों को उत्पन्न करती है। कलादि के सम्बन्ध में पुरुष भोक्ता हो गया है। इससे उनके भोग्य तथा भोग-साधनों की सृष्टि के लिये महामाया ने प्रकृति रूप स्थूल अवस्था ग्रहण की है। आगमों में इसी महामाया को जननी व मोहिनी कहा गया है।

नाथमत में परतत्त्व या परब्रह्म को अव्यक्त, अनाम व अनादिनिधन कहा गया है। वहाँ बताया गया है कि परब्रह्म की एक स्वरूपभूता शक्ति अर्थात् निजशक्ति भी है जो उससे सर्वथा अभिन्न है। साधारणतः उसका इच्छारूप से ज्ञान प्राप्त किया जाता है। स्वातन्त्र्य ही उसका स्वरूप है। उससे उन्मेषफलस्वरूप पराशक्ति का आविर्भाव होता है। परा शक्ति का विकास अपरा शक्ति है। अपरा भूमि के अनन्तर अहन्ता की वृद्धि से सूक्ष्मशक्ति का उल्लास होता है और उसी से संवेदनशीला कुंडलिनी शक्ति का उन्मेष होता है।

5.3.4 भारतीय परम्परा में शक्ति एवं प्रकृति का व्यावहारिक रूप

भारतीय ज्ञानपरम्परा में शक्ति एवं प्रकृति के व्यावहारिक रूप का दर्शन प्रायः होता रहा है। सृष्टिचक्र से जुड़ी भारतीय जीवनव्यवस्था प्रकृति के प्रत्येक तत्त्व व परमनियन्ता के प्रति अपनी

आस्था को समय-समय पर व्यक्त करती रहती है। शक्तिस्वरूपा का आराधन भारत का केन्द्रीय भाव है। अनादिकाल से शक्ति की उपासना विभिन्न रूपों में समग्र देश में होती आयी है। प्रकृति के विभिन्न रूपों एवं प्राकृतिक स्वभावों में देवत्व-दर्शन की प्राचीन परिपाटि है जो कि वैदिक काल से निरन्तर चली आ रही है। जिसमें प्रकृति के कण-कण में देवत्व की अनुभूति करने वाले मन्त्रद्रष्टा वैदिक ऋषियों की चेतना सन्निहित है। भारतीय पर्वों, त्योहारों, उपसना एवं अनुष्ठानों में शक्तितत्त्व एवं सृष्टि के आधारभूतकारण प्रकृति तत्त्व का दर्शन होता है।

प्रकृति के यदि वर्तमान बहुप्रचलित अर्थ को लिया जाये तो प्राकृतिक तत्त्वों में देवत्व के सन्दर्भ में विचार किया जा सकता है जिसकी प्रतिष्ठा भारतीय लोक ने की है। पृथ्वी माता है। भारतभूमि को माता के रूप में आदर प्राप्त है। जिसके सन्दर्भ में रामायण में लक्ष्ंमण से श्रीराम कहते हैं कि–

अपि स्वर्णमयी लंका न मे लक्ष्मण रोचते।
जननी जन्मभूमिश्च स्वार्गादपि गरीयसी।।

अनेक औषधियों, वनस्पतियों से लेकर गौ, गीता, गायत्री, पृथ्वी, जगज्जननी सभी को माता का स्थान प्राप्त है। उनके प्रति कृतज्ञता का भाव समग्र देश में व्याप्त है। शक्ति की उपासना कभी लक्ष्मी के रूप में, कभी दुर्गा, कभी सरस्वती आदि रूपों में वर्षपर्यन्त समग्र देश में होती रहती है।

शक्ति दैवीय भी है तथा आसुरी भी। देवता सात्त्विक प्रकृति के हैं, असुर तामसी। दैवीय शक्ति सदैव देवी के रूप में आसुरी शक्ति का दमन करती है। इसीलिये भारतीय परम्परा शक्ति की उपासना के साथ ही उसकी प्रकृति पर भी बल देती है।

इस तरह भारतीय लोक में शक्ति एवं प्रकृति का स्पष्ट पार्थक्य प्रायः नहीं देखने को मिलता। दोनों शब्दों का व्यवहार पर्यायवाची के रूप में होता है। एक बात स्पष्ट है कि शक्ति सदा, प्रत्येक रूप में स्त्रीत्व की द्योतक है। प्रत्येक आराध्य देव के कार्य करने का माध्यम उनकी शक्तियाँ ही हैं। इसीलिये भारतीय परम्परा में सर्वविध शक्ति-उपासना पर बल दिया जाता है। यह शब्द इतना प्रयोग में है कि किसी के ज्ञानशक्ति से लेकर राजा के धनबल, जनबल, आत्मबल, सैन्यबल आदि सभी के लिये शक्ति शब्द का प्रयोग होता है। शक्ति एक बल है जो को आत्मिक भी है, आध्यात्मिक भी है और सामाजिक भी।

5.4 देवी तथा स्त्रियों का सामान्य परिचय

देवी की प्रतिष्ठा समाज में जगज्जननी के रूप में है। स्त्रियाँ भी देवीस्वरूपा मानी गयी हैं। देवी शब्द की व्युत्पत्ति व अर्थ है 'दिव+ अच+ङीप् से दीव्यतीति देवी, और ङीष् प्रत्यय से बने देवी शब्द का अर्थ -देवानां पत्नी अर्थात् देवताओं की पत्नी होता है। जो प्रवृत्ति व निवृत्ति के उपदेश द्वारा प्रकाशित करती है उस स्त्री को भी देवी कहा गया है। धरती सभी को धारण करती है। अतः धरती भी देवी है। जिसका राज्याभिषेक हुआ हो ऐसे राजा की पत्नी को भी देवी संज्ञा प्राप्त है। सभी स्त्रियों को भी देवी कहा गया है उन्होंने चाहे जिस योनि में जन्म लिया हो-

देव्यन्ताश्च स्त्रियः सर्वा दास्यन्ताः शूद्रयोनयः।

5.4.1 भारतीय परम्परा में देवी

परमनियन्ता परमेश्वर स्वयं में परिपूर्ण है। वह इस जगत् की उत्पत्ति करता है, इसका पालन करता है तथा इसका संहार करता है। इसी बात को वेदान्तसूत्र में 'जन्माद्यस्य यतः' कहकर व्यक्त किया गया है। परमशक्ति अपने उत्पत्ति, स्थिति व संहार इन तीनों कार्यों हेतु स्वयं को स्त्री व पुरुष इन दो रूपों में प्रकट करती है और इसी को महामृत्युञ्जय मन्त्र के 'त्र्यम्बकं यजामहे' द्वारा कहा गया है। षड्विंशब्राह्मण के अनुसार 'त्रयम्बक' शब्द की व्युत्पत्ति है- स्त्री अम्बा स्वसा यस्य। स्त्री के सकार का लोप होने से ही 'त्र्यम्बक' शब्द प्राप्त होता है। इसी त्र्यम्बक का नाम गौरी भी कहा गया है। परमेश्वर त्रिकालज्ञ हैं। महाकाली दुर्गा भी त्रिनेत्रा है।

देवीभागवत के मंगलाचरण में प्रार्थना है कि जगत् के सृष्टिकार्य में उत्पत्तिरूपा हैं, रक्षाकार्य में पालनशक्तिरूपा हैं, संहारकार्य में रौद्ररूपा हैं। सम्पूर्ण विश्व प्रपंच जिनके लिये क्रीडा के समान है। जो परा, पश्यन्ती, मध्यमा व बैखरी वाणी में अभिव्यक्त होती हैं, और जो ब्रह्मा, विष्णु व महेश द्वारा निरन्तर आराधित हैं। वे प्रसन्न चित्त वाली देवी भगवती मेरी वाणी को अलंकृत अर्थात् शुद्ध करें।–

सृष्टौ या सर्गरूपा जगदवनविधौ पालनी या च रौद्री
संहारे चापि यस्या जगदिदमखिलं क्रीडनं या पराख्या ।

पश्यन्ती मध्यमाथो तदनु भगवती वैखरी वर्णरूपा
सास्माद्वाचं प्रसन्ना विधिहरिगिरिशाराधितालंकरोतु॥ (देवीभागवत, 1)

भारतीय परम्परा में देवी सच्चिदाननदरूपिणी, जगत् का आदि कारण भी हैं, शक्ति के रूप में समस्त दैवीय शक्तियों का करण भी हैं। साथ ही साधारण स्त्रियों को भी देवी संज्ञा प्राप्त है। देवी शब्द सर्वोच्च सत्ता का वाचक होते हुये स्त्रीमात्र का वाचक भी है।

5.4.2 भारतीय परम्परा में स्त्री

भारतीय परम्परा में स्त्री चारो आश्रमों-ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ व सन्न्यास में से गृहस्थाश्रम की अधिष्ठात्री है। स्त्री शब्द के अनेक पर्याय प्राप्त होते हैं जैसे कि स्त्री, महिला, प्रजापती, स्वामिनी, देवी, वनिता, नारी, महती, अङ्गना आदि। स्त्री का एक पर्याय देवी भी है। सामान्य स्त्रियों से लेकर देवस्त्रियों तक के प्रति देवी शब्द का उपयोग भारत के शास्त्र एवं लोक दोनों में प्रचलित है।

भारतीय परम्परा में स्त्री परिवार व समाज की धुरी रहा है तथा है। स्त्री यहाँ आधारतत्त्व है। सर्वस्व की अधिष्ठात्री है। समाज की वह निधि तथा पथप्रदर्शिका है जिसकी ओर जब कोई विकल्प शेष नहीं रहता तब समाज देखता रहा है। जिनके नेतृत्व में प्रत्येक काल में मानव का कल्याण हुआ है। विश्वशान्ति, सद्भावना व कल्याण का मार्ग स्त्रियों से ही प्रशस्त होता है। इसीलिये स्त्रियों का शक्तिसम्पन्न होना तथा उनमें सात्विक शक्ति का भाव किसी भी समाज का सबसे बड़ा सम्बल है। भारत भारतभूमि इसीलिये है क्योंकि यहाँ की स्त्रीशक्ति प्रत्येक अवस्था में परिवार, समाज व राष्ट्र के साथ खड़ी रही है। शक्ति की जब बात आती है तव समाज स्त्रियों के प्रति देवी की भावना रखता है और उसके प्रसादन में सभी का कल्याण समझता है।

हालांकि कालान्तर में इतिहास के कठिनतम कालों में भारतीय स्त्रियों की स्थिति में ह्रास का अथक प्रयास किया गया। प्रयास आंशिक रूप से सफल भी हुआ। परन्तु भारतीय चेतना, अध्ययन, अध्यवसाय एवं समाज के अद्भुत ताने-बाने ने समस्त प्रयासों को विफल कर अपने उत्थान का मार्ग खोजा और पुनः यह अनुभव किया कि किसी भी कुटुम्ब, समाज व राष्ट्र के उत्थान का मार्ग उसकी स्त्रियों से होकर जाता है। स्त्रियाँ अपने शक्तिस्वरूप का किन दिशाओं में कैसा प्रदर्शन करती हैं उससे समाज की समृद्धि एवं विपन्नता तय होती है।

इस प्रकार सृष्टि, परिवार, समाज व राष्ट्र की धुरी के रूप में स्त्रियाँ भारतीय समाज ही नहीं अपितु मानवता का अत्यन्त अपरिहार्य घटक हैं।

5.4.3 देवी एवं स्त्रियों की स्थिति

भारतीय समाज में देवी की विभिन्न रूपों में आराधना होती है यथा प्राकृतिक तत्त्वों नदी आदि के रूप में। कुलदेवी, ग्रामदेवी आदि की भी अवधारणा समस्त भारत में है। यही नहीं शक्ति के विभिन्न रूपों, विभिन्न अंगों की पूजा होती है। शाक्त-परम्परा तो पूर्णतः शक्ति अर्थात् देवीतत्त्व पर ही आधारित है। भागवत परम्परा में भी देवी आराध्या हैं जिसका सर्वोच्च व सर्वोत्कृष्ट वर्णन देवीभागवत में प्राप्त होता है। पौराणिक साहित्य में देवी सम्बन्धी प्रचुर साहित्य प्राप्त होता है। वैदिक साहित्य में 'देवता' शब्द देवी तथा देवता दोनों का वाचक हैं। वहाँ देवी वाक्, रात्रि आदि रूपों में सुप्रतिष्ठित हैं। औपनिषदिक साहित्य में देवी उमा-हैमवती संवाद आदि में तथा परा व अपरा शक्ति के माध्यम से लोक के समक्ष होती हैं। वस्तुतः देवी का स्वरूप व विस्तार बहुत व्यापक है। देवी शब्द के अर्थ का विस्तार सूक्ष्मातिसूक्ष्म से स्थूलतम स्तर तक प्राप्त होता है। शक्ति की आराधना के रूप में देवी की उपासना भारतीय संस्कृति का अंग है। इस रूप में देवी अनादि काल से समादृत हैं। भारतीय साधना पद्धति का एक बृहद् भाग देवी की शक्तियों की से सम्बन्धित है। भारतीय साहित्य में संस्कृत से लेकर आधुनिक भाषाओं के साहित्य तक देवीमहात्म्य बिखरा पड़ा है । रामायण में श्रीराम देवी की आराधना करते हैं और उसी को हिन्दी के छायावाद के प्रसिद्ध कवि 'राम की शक्तितिपूजा' के रूप में एक नयी वाणी देते हैं। यदि प्रत्यक्ष लोक की बात करें तो शारदीय नवरात्र व चैत्र नवरात्र पूर्णतः आदिशक्ति जगज्जननी देवी को समर्पित है जिसके प्रत्येक दिवस देवी के भिन्न रूपों की उपासना होती है तथा दुर्गासप्तशती प्रोक्त श्री महाकाली, महालक्ष्मी व महासरस्वती देवता के चरित का पारायण होता है।

लोक में देवी शीतला माता, सम्मयमाता, चटदेवी आदि के रूप में विद्यमान हैं। देवी का स्वरूप और उनकी आराधना कला के समस्त रूपों नृत्य, गान, वाद्य, अभिनय, चित्रकला तथा मूर्तिकला आदि सभी में व्याप्त है।

स्त्री के लिये हमारी भाषाओं में प्रचलित शब्दावलियाँ ही उसके स्थान एवं गरिमा का सहज दर्शन करवाती हैं । वह सर्वविधि सम्माननीय, पूजनीय व श्रद्धा का पात्र है। वह पूजनीय (मह) है इसीलिये हमारे ऋषियों ने उसे '**महिला**' कहा है। यही नहीं वह स्वयं पुरुष को उत्पन्न करती है इसीलिये उसे '**जाया**' कहा गया है, वह पालन-पोषण करती है इसीलिये उसे '**पत्नी**' कहा गया है, यही नहीं उसे वीरता का कार्य करने वाली, दान देने वाली, नेतृत्व करने वाली तथा मनुष्यमात्र का कल्याण करने वाली होने के कारण '**नारी**' कहा गया है। ये विभिन्न नाम उसे उसके गुणों के आधार पर उसे प्रदान किये गये हैं।

संसार के प्राचीनतम ग्रन्थ वेदों में नारी को बहुत आदरणीय स्थान दिया गया है। वहाँ वह पुरुष की सहयोगिनी और सहायिका है। इतना ही नहीं वहाँ स्त्री को ही घर कहा गया है- **'जायेदस्तम्'(ऋग्० 3.53.4)**। विवाह के पश्चात उसे पतिगृह में गृहपत्नी, गृहस्वामिनी का अधिकार प्राप्त होता है-**गृहान् गच्छ गृहपत्नी यथासः (ऋग्० 10.85.25)**

ऋग्वेद में ही उसे एक ओर पति, सास-ससुर की सेवा-शुश्रूषा तथा उनकी देखरेख का उत्तरदायित्व दिया गया है तो दूसरी ओर उसे गृहस्वामिनी के रूप में सास-ससुर, ननद आदि की साम्राज्ञी (स्वामिनी) कहा गया है– **सम्राज्ञी श्वशुरे भव, सम्राज्ञी श्वश्र्वां भव।**

ननान्दरि सम्राज्ञी भव, सम्राज्ञी अधि देवृषु॥ ऋग्० 10.865.46

शतपथ ब्राह्मण में स्त्री को सहधर्मिणी और अर्धांगिनी कहा गया है तथा तैत्तिरीय ब्राह्मण में उसके विना यज्ञ को अपूर्ण माना गया है-

अर्धो ह वा एष आत्मनो रज्जाया। (शत० 5.2.10)
अयज्ञो वा ह्येष योऽपत्नीकः। (तैत्ति०ब्रा० 2.2.2.6)

वेदों के मन्त्रद्रष्टा ऋषि के रूप में भी स्त्रियों की योगदान सराहनीय रहा है। वहाँ इन्द्राणी, शची, अपाला, घोषा, काक्षीवती, लोपामुद्रा, श्रद्धा, कामायनी, वागृम्भणी, सूर्या सावित्री, विश्ववारा, आत्रेयी, उर्वशी, अदिति आदि महान् वैदिक ऋषिकाएँ हुई हैं जिनसे तत्कालीन महिलाओं की उन्नत स्थिति का ज्ञान होता है।

यही नहीं गार्गी, मैत्रेयी, तथा भारती जैसी विदुषी नारियों ने पुरुषों से ज्ञान विषयक संवाद कर अपनी विद्वता का लोहा मनवा दिया है और भारतीय नारियों के लिये सदियों से प्रेरणास्रोत बनी हुई हैं।

ऐसी नारियाँ जिन्हें वेदों में अषाढा (अजेय), सहमाना (विजयिनी), सहस्रवीर्या (असंख्य पराक्रम वाली), असपत्ना (अशत्रु), सपत्नघ्नी (शत्रुनाशक), जयन्ती (विजेता), अभिभूवरी (हरा देने वाली) आदि कहा गया है।

इसप्रकार देवीतत्त्व तथा स्त्रीतत्त्व भारतीय समाज में सुप्रतिष्ठित है। यद्यपि स्त्रीशक्ति को प्रभावित करने के अनेक षड्यन्त्र विभिन्न कालों में रचे गये परन्तु भारतीय शक्तिसाधना एवं स्त्रीमात्र में शक्ति का दर्शन करने के स्वभाव के कारण कोई भी कुप्रयास पूर्णतः स्थायीभाव नहीं ले सका और वर्तमान में भारतीय समाज आज पुनः अपनी परम्परागत प्रवृत्तियों, निधियों व शक्तियों पर चर्चा में विभिन्न माध्यमों से प्रवृत्त है।

5.4.4 देवी एवं स्त्रियों के प्रति समाज की दृष्टि

भारतीय समाज की दृष्टि देवियों तथा स्त्रियों के सन्दर्भ में सदैव श्रद्धा व विश्वास के भाव से ओतप्रोत रही है। वैश्विक तथाकथित सभ्यताओं की सभ्यता के तुला पर तौलकर यद्यपि इस भारतीयदृष्टि को धूमिल करने का प्रयास किया गया परन्तु अपनी सशक्त जड़ों के साथ यह दृष्टि आज भी भारतीय समाज का स्थायी भाव है। विभिन्न प्रकार के उद्वेगों, विरोध विचारों एवं तत्त्वों की वैमनस्यपूर्ण गतिविधियों का शताब्दियों तक सामना करके भी भारतीय समाज अपनी मौलिक दृष्टि को बनाये हुये है। समाज की इस मौलिक दृष्टि की रक्षा एवं भावों की सुरक्षा में संस्कृत सहित सभी भारतीय भाषाओं साहित्यकारों, सन्तों, समाजसुधारकों, प्रवाचकों,

भारतीय कथापरम्परा तथा स्वयं महिलाओं का बहुत योगदान रहा है। घर की ड्योढ़ी के बाहर जो तत्त्व व साधनाएं सुरक्षित न रह सकीं उनको महिलाओं ने अपनी नवीन उद्भावनाओं एक आवश्यकतानुसार परिवर्तन करके अपने जीवन का अंग बनाये रखा और आज भी वटसावित्री, सोमवती अमावस्या, चतुर्थी, षष्ठी, सप्तमी, अष्टमी आदि अनेक व्रतों, उपवासों व उनके विधि-विधानों के माध्यम से सुरक्षित रखा। महिलाओं ने न केवल परम्पराओं को बनाये रखा, जीवन्त रखा, समय के साथ उनमें आवश्यक परिवर्तन किये अपितु समय-समय पर इन परम्पराओं एवं अनुष्ठानों के माध्यम से संघर्षकाल में परिवार समाज व राष्ट्र की सहायता भी की।

स्त्रीशक्तिस्वरूपा है, स्त्री देवी है, स्त्री कल्याणी है। ये सब भाव ही इतने उदात्त हैं जिनके स्फुरण मात्र से ही शक्ति का संचार होता है। भारतीय समाज स्त्रियों के प्रति तथा देवियों के प्रति यह पारस्परिक भाव अभी भी बनाये हुये है। इस भाव को बनाये रखने में आश्रमव्यवस्था, षोडश संस्कार एवं पंच महायज्ञों की बहुत भूमिका है जो समय-समय पर समाज को स्त्रियों के महत्त्व का स्मरण करवाता है और यह बताता है कि स्त्रियाँ शक्ति है, शक्तिस्वरूपा है। परिवार, समाज व सृष्टि का आधार हैं।

5.5 देवी तथा स्त्रियों के परिप्रेक्ष्य में शक्ति एवं प्रकृति का सिद्धान्त

देवी के विभिन्न रूपों का दर्शन वाक्सूक्त, श्रीसूक्त, देव्यथर्वशीर्ष, दुर्गासप्तशती, देवीभागवत तथा अन्य पुराणों में होता है। शैव, शाक्त व तन्त्र परम्परा में देवी के असाधारण स्वरूपों तथा कार्यों की चर्चा प्राप्त होती है। प्रत्येक स्थान पर वे जगज्जननी हैं। सर्वस्व की अधिष्ठात्री हैं। देवी शक्तिस्वरूपा हैं और स्त्रीत्व के उत्कर्षभाव की परिचायक है। यही कारण है कि भारतीय परम्परा में स्त्रियों के देवीरूप की कल्पना है तदनुसार व्यवहार भी प्राप्त होता है। एक ओर शक्तिस्वरूपा आदि शक्ति इस सृष्टि को धारण करती है वहीं स्त्रियाँ परिवार व समाज को धारण करती हैं। शक्तितत्त्व जगत् के सृष्टि, स्थिति एवं विनाश का कारक है तो स्त्रियों की भी निर्माण एवं विध्वंस में समान भूमिका है। यदि गौर किया जाये तो प्रकृति के सबसे अपरिहार्य तत्त्वों में स्त्रीतत्त्व है। देवी अपने शक्तियों द्वारा जगत् की निर्मात्री हैं। उसी प्रकार स्त्रियाँ भी अपने पारिवारिक, सामाजिक व राष्ट्रीय जीवन की निर्माणकर्त्री, दिशानिर्देशिका, पथ-प्रदर्शिका हैं।

देवी के वर्णन में सामान्य गृहस्थ महिला के जीवन का प्रत्येक आयाम निहित है। वह कोमलस्वभावा स्त्री से किसप्रकार आवश्यकता पड़ने पर रणचण्डी रूप भी धर सकती है, इस अदम्य साहस की प्रेरणा भी देवी के चरित्र में है।

भारतीय समाज चिरकाल से शक्ति का उपासक रहा है और यह शक्ति अपने मूल रूप में स्त्रीतत्त्व ही है। यद्यपि भारतीय ज्ञानपरम्परा स्त्री एवं पुरुष को प्रधान रूप से भिन्न नहीं मानती अपितु एक ही शक्ति की पृथक् अभिव्यक्ति मात्र मानती है। फिर भी जब कभी सर्वोच्च सत्ता अथवा सर्वोच्च अधिष्ठान की बात आती है तब वहाँ स्त्रीतत्त्व प्रधान रहता है जैसे सांख्यदर्शन में प्रकृति एवं पुरुष दो मूल तत्त्व हैं परन्तु जो किसी भी प्रभाव से रहित है तथा सृष्टि जिसके संयोग से सम्भव है वह प्रकृति ही है। वह जड है, अव्यक्त है।

भाषाचिन्तन भारतीय ज्ञानपरम्परा की मौलिकता है। जिसमें ऋग्वेद से लेकर आजतक एक प्रवाह है। ऋग्वेद में वाग्देवी के रूप में स्त्रीतत्त्व विद्यमान है। तदनन्तर भाषादर्शन में परा, पश्यन्ती, मध्यमा व बैखरी भाषा का शक्तिरूप ही है। जब कभी पथ-प्रदर्शन की आवश्यकता पड़ी है तब उपनिषदों में परमशक्ति देवी के रूप में प्रकट हुयी हैं तथा उपदेश दिया है।

भारतीय परम्परा में देवीभाव स्त्रीमात्र को प्राप्त है। इसीलिये भारतीय साहित्य व इतिहास में देवी के रूप में विख्यात अनेक स्त्रियों का उल्लेख मिलता है। यह शब्द इतना महनीय व विशेष है कि समाज के सामान्य वाग्व्यवहार में इसका प्राचुर्य है। महिलाओं के नामकरण में देवी शब्द का प्रचलन भारत के अनेक भागों में प्रधानरूप से है। यह इस बात का द्योतक है कि देवी और स्त्री में कितनी समानता है तथा किसप्रकार समाज स्त्री में देवी के रूप का दर्शन करता है। नवकन्यापूजन गृहस्थाश्रम का एक प्रधान कार्य है जिसका लगभग प्रत्येक गृहस्थ पालन करता है। इसके अन्तर्गत नवकन्या के विभिन्न रूपों कुमारीरूप, त्रिमूर्तिरूप, कल्याणीरूप, मोहिनीरूप, कालिकारूप, चण्डिकारूप, शाम्भवीरूप, दुर्गारूप तथा सुभद्रारूप का पूजन होता है।

देवी जगत् के सृष्टिकार्य में उत्पत्तिरूपा हैं, रक्षाकार्य में पालनशक्तिरूपा हैं, संहारकार्य में रौद्ररूपा हैं। यहाँ देवी के जिस स्वरूप की बात जगत् के स्तर पर की गयी है उस पर यदि दृष्टिपात किया जाय और स्त्रियों से उसकी तुलना की जाय तो स्त्रियाँ भी उत्पत्तिस्वरूपा हैं क्योंकि वे सृष्टि करती हैं। वे पालन भी करती हैं तथा संततियों की रक्षा भी करती है तथा आवश्यकता पड़ने पर वे संहार की ओर भी प्रवृत्त होती हैं। ये तीनों गुण यदि परमशक्ति के अतिरिक्त किसी में विद्यमान है तो वह स्त्री है। देवी ही परमशक्ति है और वही मूलप्रकृति भी हैं। प्रकारान्तर से एक ही तत्त्व का भिन्न-भिन्न नाम-संकीर्तन है।

देवी परात्परा हैं, सच्चिदानन्दरूपिणी है, संसारबन्धहेतु भी हैं तथा मुक्तिप्रदायिनी भी हैं। वे सर्वेश्वरेश्वरी हैं अर्थात् सभी ईश्वरों की भी ईश्वर हैं। जगदम्बिका हैं, जगन्माता है। वे चण्डिका भी हैं, दुर्गा भी हैं, काली, कपालिनी, त्रिनेत्रा, शिवा, शिवरूपा भी हैं तथा त्रैलोक्यजननी भी हैं। देवी महामाया हैं, विश्व की उत्पत्तिकारिणी हैं। सभी प्राणियों की माता हैं।

स्त्री का मातृत्वभाव और वात्सल्य उसे देवी के समीप ले जाकर खड़ा कर देता है। समस्तमानवीय गुण बुद्धि, कान्ति क्षमा, श्री, शान्ति आदि देवी के गुण हैं और यही सर्वोच्च मानवीय गुण भी हैं। देवी जगत् का कारण हैं परन्तु स्वयं इच्छारहित हैं।

शक्ति एवं प्रकृति दोनों का सामंजस्य आवश्यक है चाहे वह देवी और स्त्रियों के परिप्रेक्ष्य में हो अथवा अन्य किसी परिप्रेक्ष्य में। शक्ति का प्रयोग प्रकृति अर्थात् स्वभाव, गुण आदि पर निर्भर करता है। यदि सत्त्वगुण की प्रधानता है तो शक्ति द्वारा सात्त्विक कार्य सम्पन्न होगा। यदि तमोगुण प्रधान है तो तामसिक। अतः शक्ति से अधिक यह महत्त्वपूर्ण है कि उसके धारक तत्त्वों की प्रकृति क्या है। शक्ति दैवीय भी है, शक्ति आसुरी भी है। देव तथा असुरों की प्रकृति में भिन्नता है। दैवीय शक्ति लोककल्याणार्थ है परन्तु आसुरी शक्ति विनाशकारी है। ऐसे में व्यवस्था बनाने के लिये शक्तिस्वरूपा देवी को देवी को आगे आना पड़ता है।

5.6 सारांश

इस प्रकार देवी तथा स्त्रियों के परिप्रेक्ष्य में शक्ति एवं प्रकृति का सिद्धान्त अत्यन्त व्यापक है तथा विभिन्न दार्शनिक व सामाजिक भावभूमियों में इनके अर्थ में स्थूलस्तर पर भिन्नता भी है परन्तु तात्त्विक एकता है। शक्ति व प्रकृति का सिद्धान्त देवी तथा स्त्रियों पर समान रूप से लागू होता है क्योंकि दोनों में सृष्टि, स्थिति एवं संहार के तत्त्व हैं। यहाँ व्यवस्था बनाये रखने के लिये देवी तथा स्त्रियों में स्थित शक्ति की प्रकृति पर ध्यान देना आवश्यक है। शक्ति की प्रकृति दैवीय व सात्त्विक ही श्रेष्ठ है। तामसिक प्रकृति की शक्ति आसुरी शक्ति हो जाती है। जहाँ से संघर्ष

उत्पन्न होता है और विचलन आकर अनेक सद्प्रयासों के बाद संतुलन स्थपित होता है। अतः शक्ति-संतुलन आवश्यक है। इसी शक्ति के संतुलन के लिये देवी अपने सर्वशक्स्तिसम्पन्न रूप के साथ संसार का दुःख हरती हैं तथा आसुरी शक्ति के सुष्प्रभाव से देवताओं सहित सम्पूर्ण लोक को मुक्त करती हैं। यही भूमिका परिवार व समाज में महिलाओं की भी है। समाज में भी दोनों प्रकार की शक्तियाँ और उनका प्रभाव है। आसुरी शक्तियों के प्रभाव का समूलोच्छेद घर से ही सम्भव है और उसका नियन्त्रण स्त्रियों के हाथ में है क्योंकि जन्मदात्री माता एवं पालनकर्त्री वही हैं। ऐसे में सात्त्विक, राजस व तामस प्रकृति के नियन्त्रण की शक्ति उन्हीं के हाथ में है। सम्भवतः स्त्रियों की इसी महती भूमिका को देखते हुये समाज ने उन्हें देवी की संज्ञा दी होगी।

5.7 पारिभाषिक शब्दावली

- सांख्यदर्शन- भारतीय दर्शन के अन्तर्गत एक दार्शनिक सिद्धान्त जिसके प्रवर्तक कपिल मुनि हैं।
- प्राचुर्य – अधिकता
- पुञ्जीभूता – एकत्रित होकर
- योषा- स्त्री
- एकार्णव – जलप्लावन, प्रलय
- निरुक्ति- किसी पद की ऐसी व्याख्या जिसमें पद की व्यत्पत्ति भी दी गयी हो।
- पंचमहाभूत- पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश
- पंचतन्मात्र- शब्द, रूप, रस, गन्ध, स्पर्श
- एकादश-इन्द्रिय- पञ्चज्ञानेन्द्रिय- (चक्षु, श्रोत्र, घ्राण, रसना एवं त्वक्), पञ्चकर्मेन्द्रय- (वाक, पाणि, पाद, पायु, उपस्थ), एक उभय-इन्द्रिय (मन)
- अविच्छिन्न- व्यवधानरहित
- पंचमहायज्ञ- देवयज्ञ, भूतयज्ञ, पितृयज्ञ, ब्रह्मयज्ञ, नृयज्ञ

5.8 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

- *अथर्ववेद का सुबोध भाष्य*, , प्रथम भाग, श्रीपाद दामोदर सातवलेकर, स्वाध्याय मण्डल, पारडी, 1985
- अमरकोश, श्री वेंकटेश्वरप्रेस, मुम्बई, संवत, 1970
- ईशादि नौ उपनिषद्, गीताप्रेस गोरखपुर, संवत् 2010
- *ऋग्वेदसंहिता*, वैदिक संशोधन मण्डल, पूना, 1941
- पुराणविमर्श, आचार्य बलदेव उपाध्याय, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, द्वितीय संस्करण, 1978
- भारतीय संस्कृति और साधना (दो खण्डों में), महामहोपाध्याय श्री गोपीनाथ कविराज,

बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, 2009

- *यजुर्वेद का सुबोध भाष्य*, प्रथम भाग, श्रीपाद दामोदर सातवलेकर, स्वाध्याय मण्डल, पारडी
- श्रीदुर्गासप्तशती, गीताप्रेस गोरखपुर, 2015
- श्रीमद्देवीभागवतपुराण (प्रथमखण्ड), गीताप्रेस गोरखपुर, प्रथम संरकरण, सं. 2067
- श्रीसाधना रहस्य (दो खंडों में), महामहोपाध्याय श्री गोपीनाथ कविराज, भारतीय विद्या प्रकाशन, वाराणसी, 2021
- *सामवेद का सुबोध भाष्य*, प्रथम भाग, श्रीपाद दामोदर सातवलेकर, स्वाध्याय मण्डल, पारडी
- सांख्यकारिका, अनु. व व्या. राकेश शास्त्री, परिमल प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संरकरण, 1998
- वाचस्पत्यम्, श्री तारानाथ तर्कवाचस्पति , राष्ट्रीय संस्कृत संस्थान, नयी दिल्ली- 2006
- वैदिक सूक्त संग्रह, गीताप्रेस, गोरखपुर

5.8 बोधप्रश्न

क) दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. देवी के भिन्न रूपों का उल्लेख करते हुये देवीतत्त्व पर प्रकाश डालिये।
2. भारतीय परम्परा में देवी तथा स्त्रियों की शक्ति व प्रकृति पर एक निबन्ध लिखिये।
3. प्रकृति से क्या तत्पर्य है? प्रसंगानुसार समझाइये।
4. शक्ति और प्रकृति के स्वरूप पर प्रकाश डालिये।
5. भारतीय समाज में स्त्रियों की स्थिति का प्रसंगानुसार विश्लेषण कीजिये।

ख) लघु उत्तरीय प्रश्न

1. देवी का तात्विक रूप क्या है।
2. भारतीय समाज में शक्ति-उपासना पर टिप्पणी लघु लिखें।
3. देवी और स्त्री पर प्रकाश डालें।
4. सांख्यदर्शन के आलोक में प्रकृति पर लघु टिप्पणी लिखें।
5. देवी और शक्ति-उपासना विषयक ग्रन्थों का उल्लेख करें।

खण्ड 6
वर्ण, जाति तथा कास्ट

षष्ठ खण्ड का परिचय

एम. ए. हिन्दू अध्ययन कार्यक्रम प्रथम वर्ष के चतुर्थ पाठ्यक्रम के षष्ठ खण्ड में आपका स्वागत है। वर्ण ,जाति और कास्ट ,इन तीनों शब्दों में आपको वर्ण शब्द सबसे पुराना लगेगा। जाति शब्द उससे कुछ नया है। कास्ट शब्द तो बिल्कुल ही नवीन संकल्पना है, और यह भारतीय नहीं है । बल्कि कहीं ना कहीं से लाई गई है। वर्ण के रूप में सैद्धांतिक वर्णन, हिंदू सनातन संस्कृति में पाया जाता है, जो गुण और कर्म आधारित था। वर्ण से जाति किस प्रकार अलग है। सिद्धान्त के रूप में इसका विचार प्रस्तुत खण्ड में किया गया है। अध्ययन और ज्ञान की दृष्टि से इस खण्ड में वर्ण और जाति के वर्णन को चुना गया । इस खण्ड के वर्णन का केवल एक ही तात्पर्य है कि प्राचीन ग्रंथो में लिखे गए वर्ण अथवा जाति का तात्पर्य क्या था। इसीलिए तत्व के रूप में इन तथ्योंकी जानकारी देने का प्रयास किया जा रहा है। प्रस्तुत खण्ड के वर्णन का एकमात्र उद्देश्य केवल जानकारी प्रदान करना है। संकल्पनाओं से परिचित कराना है। ताकि अध्ययन करने वाले को सिद्धांतों और उनके बारे में कही गई बातों का ठीक से पता चल सके। कास्ट की आयातित संकल्पना पर विचार किया गया है। विशेषज्ञों द्वारा लिखकर अध्ययन हेतु जानकारी प्रदान करना ही छठे खण्ड की सभी इकाइयों का प्रयोजन है। अतःप्रस्तुत खण्ड का अध्ययन कर लेने के बाद आप वर्ण,जाति और कास्ट की संकल्पना का निष्पक्ष विश्लेषण कर पाएंगे। इस खण्ड के अध्ययन से आपको मानव को मानव समझने में आसानी प्राप्त होगी।

इकाई 1 वर्ण की तात्विकता : वैदिक अवधारणा (पुरूष सूक्त तथा बृहदारण्यक उपनिषद्) तथा वर्ण ग्राहकता

इकाई की रूपरेखा

1.0 उद्देश्य

वर्ण, जाति तथा कास्ट विषय पर केन्द्रित इस इकाई के अध्ययन के बाद आप–

- इस इकाई के अध्ययन के उपरान्त आप वर्ण के शाश्वत स्वरूप से परिचित हो सकेगें।
- इस इकाई के अध्ययन के बाद आप वर्ण व्यवस्था के वर्तमान स्वरूप के विषय में जान सकेगें।
- इस इकाई के अध्ययन के बाद आप वर्ण एवं जाति के मौलिक अन्तःसम्बन्ध से जुड़े प्रश्नों के उत्तर दे सकेंगे।
- इस इकाई के अध्ययन के बाद आप यह परिभाषित कर सकेगें कि वैदिक परम्परा में वर्ण के सम्बन्ध में पुरुष सूक्त में किस प्रकार से वर्णन किया गया है।
- इस इकाई के अध्ययन के बाद आप उपनिषद् की परम्परा में वर्ण एवं जाति का क्या स्वरूप है, इसका उत्तर लिख सकेंगे।
- इस इकाई के अध्ययन के बाद आप यह जान सकेगें कि किस प्रकार वैदिक परम्परा से लेकर आज के परिप्रेक्ष्य में वर्ण एवं जाति का क्या स्वरूप है।

1.1 प्रस्तावना

परब्रह्म जब अपनी शक्ति से एक से अनेक हुये तो उसके परिणाम स्वरूप यह सृष्टि जो हमें दिखाई दे रही है, उसका आरम्भ हुआ। यह समय उतना ही पुराना है जितना की यह सृष्टि। इसका प्रमाण हमें वेद से लेकर महाभारत आदि ग्रन्थों में प्राप्त होता है। कहने का तात्पर्य यह है कि सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड, ब्रह्मन् के द्वारा ही प्रवर्तित है। उन्हीं ब्रह्मन् से सर्व प्रथम ब्रह्मा हुये–

ब्रह्मादेवानां प्रथमं संबभूव।
विश्वस्यकर्ता भुवनस्य गोप्ता।।

महाभारत के शान्ति पर्व में उल्लेख है कि उस समय वर्णों का कोई वैशिष्ट्य नहीं था अर्थात् सभी ब्रह्म द्वारा प्रवर्तित धर्म के अनुगमन करने वाले थे। दूसरे शब्दों में सभी ब्रह्म के ही सन्तान थे–

नविशेषोऽस्ति वर्णानां सर्वं ब्राह्ममिदं जगत्।
ब्रह्मणा पूर्वसृष्टं हि कर्मभिर्वर्णतां गतम्।।

–शान्तिपर्व, 188.10.

बाद में कर्म विभाग के कारण वर्ण संस्था का विकास हुआ। वेद में वर्ण व्यवस्था का स्वरूप तो उपलब्ध है लेकिन उसकी प्रवृत्ति का समय धीरे–धीरे विकसित हुआ। निश्चित रूप से प्राचीन काल में कार्य के आधार पर वर्ग का विभाजन था, जो व्यक्ति के व्यवसाय, स्वभाव तथा संस्कृति के आधार पर निश्चित हुआ, क्योंकि वेद में विश् शब्द का प्रयोग भारतीय प्रजा के लिये हुआ है। ऋग्वेद में केवल पुरुष–सूक्त में आध्यात्मिक एवं आधिदैविक दृष्टि से ब्राह्मण, क्षत्रिय (राजन्य), वैश्य तथा शूद्र शब्द का प्रयोग हुआ है। इस पर आगे विस्तार से चर्चा करेंगे।

वर्ण और जाति शब्द का प्रयोग इतने व्यापक अर्थ में हुआ है कि उसके माध्यम से सम्पूर्ण भारतीय संस्कृति दिखाई देने लगती है। जैसे कि–वर्ण शब्द सामान्य रूप से पुलिंग में प्रयुक्त होता है। यह रंग, रंगने, लेखन के काम आने वाला रंग अक्षर, शब्द, स्वर, यश, प्रसिद्धि आदि के अर्थों में भी प्रयोग किया जाता है। वहीं जाति शब्द स्त्रीलिंग में प्रयुक्त होता है। यह वंश, गोत्र, कुल, वर्ण, वर्ण उत्पत्ति, भाषा, देश, इतिहास, संस्कृति, समानधर्म, आकृति, स्वभाव एवं परम्परा आदि के अर्थ में भी प्रयोग किया जाता है।

1.2 भारतीय वर्ण व्यवस्था का प्रारम्भिक स्वरूप

वैदिक संस्कृति के उद्गमस्थली के रूप में यह माना जाता है कि इसका विकाश सप्तसैन्धव प्रदेश के क्षेत्र में हुआ। उस समय सामाजिक दृष्टि से दो ही समूह थे। एक आर्य तो दूसरी ओर अनार्य। अनार्यो को ही दास के रूप में कहा गया है। इसका उल्लेख ऋग्वेद द्वितीय मण्डल के मन्त्र में भी आया है कि – **यो दासं वर्णमधरं गुहाकः।** आर्यो के जो शत्रु हैं, उन्हें दास वर्ण वाला कहा गया है। इसके विपरीत आर्यम् वर्णम् का प्रयोग (ऋग्वेद 3.34.9) आर्यों के लिये हुआ है। मन्त्र में गुहा शब्द का प्रयोग गुफा अथवा जंगल के लिये हुआ है। इन्द्र ने इन्हें नीचे गुफा स्थान में पहुँचा दिया या कर दिया। लेकिन दास शब्द का जातिवाचक अर्थ कालान्तर में समाप्त हो गया।

आर्य संस्कृति प्रारम्भ में तीन समूहो में विभक्त थी और इन्हें जाति कहना उचित नहीं है क्योंकि ये वर्ग अथवा अंग्रेजी में कहें तो क्लास के रूप में वर्गीकृत समाज था जिसे हम कास्ट के रूप में नहीं स्वीकार कर सकते क्योंकि **राजन्य** शब्द का व्यवहार क्षत्रिय के लिये होता है परन्तु राजन्य मन्त्रद्रष्टा ऋषि भी हुये हैं । मन्त्रद्रष्टा होने का तात्पर्य है कि वे पुरोहित भी हैं। इसके सर्वोत्तम उदाहरण के रूप में हमारे सामने महर्षि विश्वामित्र हैं जो राजा हैं और ऋषि तो वे हैं ही।

ऋग्वेद 9.112.3 का उदाहरण भी ध्यान देने योग्य है जहाँ कहा गया है कि मैं मन्त्र का स्तोत्र पाठ करने वाला हूँ, मेरे पिता चिकित्सक हैं, मेरी माँ पिसनहारी है अर्थात् एक ही परिवार में अनेक वर्ग हैं। इससे यह तो हम कह सकते हैं कि हमारी वर्ण व्यवस्था जो आज हमारे सामने है वह बनाई गयी व्यवस्था है। इनके विकाशक्रम की अनेक कथायें वेद से लेकर उपनिषद् साहित्य तक विस्तार से देखी जा सकती हैं। आचरण एवं व्यवहार की पवित्रता ही वस्तुतः वर्ण व्यवस्था का आधारभूत कारण बना।

1.2.1 सृष्टि का उद्‌भव एवं पुरुष

यहाँ यह भी समझना आवश्यक है कि सृष्टि के स्रष्टा एवं नियामक कौन हैं। इस विषय मे ंभ्रान्ति हो जाती है जबकि भ्रान्ति होने का कोई कारण नहीं है। सभी तत्त्व एक ही स्रष्टा के पर्याय हैं। वही ही अपने एक रूप को अपने ही समान अनेक रूपों में प्रस्तुत करता हैं, जिसे वेद में बहुत ही सरल ढंग से कहा गया है अर्थात् **'रूपं रूपं प्रतिरूपं बभूव।'**

इसी को विद्वान् लोग अनेक नामों से स्मरण करते हैं। ये नाम ब्रह्मन्, पुरुष, हिरण्यगर्भ, वाक्, विश्वकर्मन् एवं आत्मन् आदि के रूप में अपनी–अपनी क्रियाशीलता का विस्तार करते हैं। सबको अर्थात् सम्पूर्ण सृष्टि के विस्तार को जानने के लिये इन देवतत्त्वों की क्रियाशीलता को अलग–अलग रखकर ही हम समझ सकते हैं लेकिन इस भ्रान्ति को मन से दूर रखना चाहिये कि इस नाम की कोई स्वतन्त्र सत्ता है। **एको देवः सर्वभूतेषुगूढः।**

इनमे ंपुरुष रूप में ब्रह्मन् की उपस्थिति विशेष रूप से समझने योग्य है। पुरुष का अर्थ सामाजिक परिवेश में जिसे हम पुरुष कहते हैं, यह नही। इसके तात्त्विक अर्थ को समझना आवश्यक है। इस विषय में हमारे प्राचीनतम कोष के व्याख्याता महर्षि यास्क कहते हैं कि पुरुष वह है जो हमारे अन्दर अर्थात् हमारे, अपने ही शरीर में जो शयन करता है। **पुरुषश्शेते इति पुरुषः।** इसके साथ यह भी कहते हैं कि–**पुरिषादः** अर्थात् शरीररूपी नगर में जो बैठा हुआ है, वह पुरुष है। वह पुरुष ही हमारे अन्दर के ब्रह्माण्ड का नियामक है, उसी तरह जैसे वह समस्त सृष्टि का स्रष्टा एवं नियामक है। इसीलिये कहा गया है कि जो ब्रह्माण्ड में है वही पिण्ड अर्थात् शरीर में है–

यत्पिण्डे तद् ब्रह्माण्डे।

अब यह स्पष्ट हो गया कि पुरुष ही सब कुछ है। ब्रह्मन् के इस स्वरूप को वेद की सभी संहिताओं में किसी न किसी रूप में प्रस्तुत किया गया है लेकिन ऋग्वेदसंहिता की शाकल शाखा के 10.90.1–16 तथा अथर्ववेद की शौनक शाखा की संहिता (19.6. 1–16) में भी यह उपलब्ध है। शाखा भेद के कारण थोड़ा बहुत अन्तर है लेकिन तत्त्वतः एक ही हैं क्योंकि दोनों सूक्तों के द्रष्टा एक ही ऋषि हैं जिनका नाम 'नारायण' है। वस्तुतः नारायण ही ब्रह्मस्वरूप हैं। उनके अतिरिक्त कौन अपने को व्यक्त कर सकता है। इस सूक्त का देवता 'पुरुष' है। वह पुरुष जो अपने अन्दर विराजमान है।

वह सब कुछ है अर्थात् मनुष्य रूप में भी वह सब कुछ है। जैसे वह अपने को सब रूपों में प्रस्तुत करता है, मनुष्य भी देवस्वरूप हो सकता है। वह एक होते हुये भी चारों वर्णों को समेटे हुये है जबकि वह किसी वर्ण का नहीं है। यहाँ पर हम लोग उसके केवल एक स्वरूप पर चर्चा करेंगे अर्थात् पुरुष का 'वर्ण' के साथ क्या सम्बन्ध है।

1.2.2 ऋग्वेद का पुरुष सूक्त

वेद में वर्णित पुरुष ही अनन्त शक्तियों का द्योतक है। वह अनन्त शिर वाला एवं अनन्त बाहुओं वाला है।

सहस्रशीर्षापुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्।
स भूमिं विश्वतो वृत्वात्यतिष्ठद्दशांगुलम्।।– ऋग्वेद, 10.90.1

सहस्रबाहुः पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्।
स भूमिं विश्वतो वृत्वाऽत्यतिष्ठद्दशांगुलम्।।–अथर्ववेद, 19.6.1

इसी सूक्त के बारहवें मन्त्र (ऋग्वेद संहिता 10.90.12) में प्रथम बार वर्ण के चार स्वरूपों का वर्णन हमें प्राप्त होता है, जो इस प्रकार है–

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद्बाहुराजन्यः कृतः।
उरु तदस्य यद्वैश्यः पद्भयां शूद्रो अजायत।।– ऋग्वेद 10.90.12

यह मन्त्र इसी रूप में अथर्ववेद में भी देखा जा सकता है। इस मन्त्र का अर्थ विचारणीय है। पुरुष सूक्त के इस मन्त्र पर भाष्यकार सायणचार्य लिखते हैं कि– ब्राह्मणजातिविशिष्टः पुरुषः मुखमासीत् मुखाद् उत्पन्नः इत्यर्थः। योऽयं राजन्यः क्षत्रियजातिजातिमानपुरुषः सः बाहूकृतः बाहुत्वेन निष्पादितः। बाहुभ्यामुत्पादित इत्यर्थः। तत् इदानीमस्य प्रजापतेः यत् यौ उरु तद्रूपः वैश्य सम्पन्नः। उरुभ्याम् उत्पन्नः इत्यर्थः तथास्य पादाभ्याम् शूद्रत्वजातिमान् पुरुषः अजायत।

कहने का तात्पर्य यह है कि – ब्राह्मण जाति विशेष की उत्पत्ति विराट् पुरुष के मुख से तथा बाहु से क्षत्रिय जाति की उत्पत्ति हुई है। इसी तरह उरु के द्वारा वैश्य जाति की उत्पत्ति हुई और पैर से शूद्रजातिमान पुरुष की उत्पत्ति बताई गई है। वेद के प्रसिद्ध विद्वान् श्रीपाद दामोदर सातवलेकर जी इसकी व्याख्या करते हुये कहते हैं कि– पांव के लिये शूद्र उत्पन्न हुआ है। एक अन्य विद्वान् श्री सुधीर कुमार गुप्त जी का विचार है कि मन्त्र में प्रयुक्त अजायत का भाव उच्यते है। अतः यहां पंचमी नही माना जा सकता है। यदि हम कर्म के अनुसार अर्थ करें तो वह चतुर्थी भावित अर्थ ही उपयुक्त प्रतीत होता है क्योंकि वर्ण का विभाजन कर्म के आधार पर तर्क संगत है।

ऋग्वेद 2.12.4 दासवर्णमधरं गुहाकः में दास वर्ण से असुरों को ही लिया गया है। वर्ण यहाँ जाति का बोधक प्रतीत होता है। वदिक साहित्य में शूद्र शब्द कभी हीन अर्थ में नही प्रयुक्त हुआ है। वैश्य को विराट् पुरुष का उरु भाग, ब्राह्मण को मुख, क्षत्रिय को बाहू और शूद्र को चरण कहा गया है। प्रथम तीन अंगों को समझने में कदाचित् श्रम नहीं करना पड़ता लेकिन इस भाग को निर्देशित करने में मत वैभिन्न है। इस वर्ण की महत्ता का प्रमाण यही है कि वैदिक साहित्य में जहाँ कहीं भी अन्य जातियों का उद्धरण आया है वहाँ इसके साथ ही वर्ण व्यवस्था का स्वरूप प्रस्तुत किया गया है। प्रायः एक–एक अंग अपने उत्पत्ति स्थान के पूरक हैं। जैसे मुख और ब्राह्मण। इसकी

पुष्टि सभी वैदिक ग्रन्थों से होती है। वैदिक साहित्य के क्षेत्र में यान् खोंदा ने विशेष श्रम किया है। उनका विचार है कि– आर्यो के जो शत्रु थे उनको दास वर्ण अर्थात् दास के रंग वाला कहा गया है। इसके पुष्टि में वे आर्यम् वर्णम् का उदाहरण देते हैं। वस्तुतः यह बात तो सिद्ध है कि तीन वर्णो के साथ चतुर्थ वर्ण की उपस्थिति आर्य सभ्यता के समय से ही विद्यमान थी जो कालान्तर में दास वर्ण से सेवक के रूप में परिवर्तित हुई।

1.3 बृहदारण्यक उपनिशद् में वर्ण एवं जाति के तत्त्व

बृहदारण्यक उपनिषद् शुक्ल यजुर्वेद की दोनों शाखाओं में प्राप्त है अर्थात् माध्यन्दिन एवं काण्व ।यह मूलतः शतपथ ब्राह्मण का भाग है। यहां पर आध्यात्मिक दृष्टि से प्रथम अध्याय के चतुर्थ ब्राह्मण में इस विषय पर प्रकाश डाला गया है। विषय यहां से प्रारम्भ होता है कि– सर्वप्रथम यह पुरुष के आकार में आत्मा ही था। पुरुष की चर्चा हम लोग पूर्व मे ंकर चुके हैं। यहां पर उसी पुरुष का अर्थ लेना चाहिये। प्रारम्भ में वही अकेले था जो अहम् नाम वाला हुआ। वही प्रजापति होना चाहता है। उसी ने अपने को दो भागों में विभक्त कर स्त्री और पुरुष के रूप में अथवा पति एवं पत्नी के रूप में प्रस्तुत किया । उसी से मनुष्य उत्पन्न हुये। इस मिथुन ने सभी प्रकार की सृष्टि की। इस तरह से यह सृष्टि नामरूप वाला होकर प्रकाश में आयी। उसने ही देवताओं की भी सृष्टि की। सवयं पत्य्र होकर भी उसने अमृत को उत्पनन किया। यह उसकी अतिसृष्टि थी। वस्तुतः यह ब्रह्म की ही सृष्टि थी। उसी ने सर्वप्रथम अपने को जाना जिससे वह सर्वज्ञ हो गया। देवों में से जिसने उस रूप को जाना सभी सर्वज्ञ हो गये। उसने देवताओं में क्षत्रिय इन्द्र एवं वरुण आदि को उत्पन्न किया। ये सभी अन्त में ब्रह्म अर्थात् ब्राह्मण का ही आश्रय लेते हैं। ब्रह्म जब विभूति युक्त कर्म करने में समर्थ नही हुये तब उन्होंने वैश्य जाति की रचना की। वसु, रुद्र, आदित्य, विश्वेदेव और मरुत् आदि देवगण वैश्य की कोटि में आते हैं और इन्हें गणश की संज्ञा से अभिहित किया।ब्रह्म जब विभूति युक्त कर्म करने में समर्थ नही हुये तब उन्होंने शूद्र जाति की रचना की। पूषा शूद्र वर्ण है। यह पृथिवी ही पूषा है क्योंकि यह जो कुछ है, सबका पोषण वही करती है। इन सबके नियन्त्रण अथवा विभूति के लिये उसने धर्म को उत्पन्न किया। यह धर्म यबका नियन्ता है।

इस तरह से ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र ये चार वर्ण हैं। ब्रह्म अग्निरूप से देवताओं में ब्राह्मण हुआ तथा मनुष्यों में ब्राह्मण रूप से ब्राह्मण, क्षत्रिय रूप से क्षत्रिय, वैश्य रूप से वैश्य, और शूद्र रूप से शूद्र हुआ। इस तरह से हम देखते हैं कि जिस तरह से इस भूमण्डल पर वर्ण व्यवस्था का स्वरूप बना है, वह वस्तुतः ब्रह्माण्डीय व्यवस्था का ही स्वरूप है। सभी उसी ब्रह्म की ही सन्तान हैं। कर्म के कारण सबका अपना अपना कार्य एवं कर्तव्य है जिसके कारण अनेक जातियां उपस्थित हुई वह भी किसी न किसी रूप में दैवी व्यवस्था का ही अंग है।

1.4 वैदिक साहित्य में वर्ण व्यवस्था का क्रमिक विकास

वर्ण व्यवस्था की इस सम्पूर्ण प्रक्रिया को समझने के लिये ऋग्वेद के पुरुष सूक्त को समग्रता के साथ समझना आवश्यक है। इस मन्त्र में प्रयुक्त शब्दों का अर्थ समझना बहुत कठिन है। पुरुष सूक्त के माध्यम से ऋषि ने सृष्टि–वृक्ष के साकार स्वरूप का दर्शन किया है। यहाँ पुरुष कोई सामान्य तत्त्व नहीं है। बल्कि सभी प्राणियों का समष्टि रूप है इसलिये उस पुरुष को अनन्त शिर वाला कहा गया है। वह सम्पूर्ण

ब्रह्माण्ड को व्याप्त करके स्थित है। यह पुरुष ही अतीत एवं अनागत रूप में सभी कालों में उपस्थित है, जो कुछ वर्तमान में दृश्यामन हो रहा है, वह पुरुष ही है। इसने केवल एक पाद से समस्त सृष्टि को व्याप्त कर रखा है। इसके शेष तीन पाद विनाशरहित अर्थात् अमृतस्वरूप हैं जो प्रकाशरूप में स्थित हैं। संक्षेप में जो कुछ भी दृश्यमान जगत् में हमें दृष्टि गोचर होता है, वह पुरुष के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है। इस विराट् पुरुष से सृष्टि से सम्बन्धित सभी तत्त्वों का विस्तार प्रारम्भ हुआ। उसी से ज्ञान की समस्त धाराओं का प्रवाह प्रवहमान हुआ। पुरुष ही सभी प्रकार के प्राणियों की उपस्थिति का कारण है। विश्व को धारण करने वाली वह महान् शक्ति जो अपने ही शक्ति से महिमावान् है, जो पुरुष, परमात्मा, परात्पर ब्रह्म आदि नामो से कहा जाता है। उसी परब्रह्म में नामरूप है, जिसका नामरूप नहीं है ऐसा कुछ भी नहीं है। उदाहरण के लिये जैसे मिट्टी नामरूपात्मक घट का आकार होकर उपस्थित होती है। मन्त्र में कहा गया है–

तस्मादश्वा अजायन्त ये के चोभयादत्तः।
गावो ह जज्ञिरे तस्माद् तस्माज्जाता अजावयः।।

जो शरीर आज अस्तित्त्व रूप में प्रकाशित हो रहा है। इसमें रंग एवं वर्ण भरने वाला देव भी वही है। यही कान्ति, शोभा, रमणीयता को रखने वाली है। अथर्ववेद में ब्रह्माण्डीय शक्तियों के मिलन के रूप में वधू और वर के विवाह प्रसंग है–

सर्वे देवा उपाशिक्षन् तदजानाद् वधूः सती।
ईशा वशस्य या जाया सास्मिन् वर्णमाभरत्।। अथर्ववेद 11.8.17

अर्थात् श्रेष्ठ वर और उसकी भार्या ईशशक्ति को हृदय में धारण करने से वैवाहिक सम्बन्ध सुखमय होता है। यह सामाजिक व्यवस्था के स्वरूप का प्रारम्भ है। जब उत्पत्ति का हेतु बनेगा तभी आश्रम व्यवस्था तथा वर्ण व्यवस्था की आवश्यकता होगी।

1.5 भारत की सनातन संस्कृति में वर्ण व्यवस्था का कारण

सामाजिक व्यवस्था में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र ये चार वर्ण हैं। ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास ये चार आश्रम हैं। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन्हीं के चारों के अन्तर्गत प्राप्त किया जाता है। इन वर्णो के मिश्रण के कारण जाति का स्वरूप हमारे सामने आता है। चारों पुरुषार्थों को प्राप्त करने की जो हमारी आधार भूमि है, वह है हमारे ऋषियों द्वारा प्रवर्तित संस्कार। संस्कारों में विवाह संस्कार विशेष रूप से अपना स्थान रखता है। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र ये चार वर्ण हैं। इन वर्णो के आपस में मिलने के कारण विभिन्न प्रकार की जातियों का उदय हुआ। यह स्वरूप दो प्रकार से बनता हैं– अनुलोम और विलोम सम्बन्धों या विवाह के कारण। अनुलोम का सीधा अर्थ है , एक ही वर्ण में विवाह संस्कार जबकि विलोम का अर्थ है , वर एवं कन्या के वर्ण अलग–अलग होने के कारण वर्ण व्यवस्था का स्वरूप जाति आधारित समाज के रूप में उपस्थित होने लगा। एक बात अवश्य है कि वर्ण व्यवस्था में अथवा सामाजिक इकाई के रूप में भारत में शूद्र की स्थिति समाज के निम्न वर्ग के रूप में वैदिक काल में नही थी। भाष्यकार पतंजलि भी यह मानते हैं कि शूद्र वही है जो पूर्ण रूप से आर्य नही है अर्थात् भारत का निवासी नही है। इसमें सन्देह नही करना चाहिये की शकों और यवनों ने आर्य उपासना विधि को अपना लिया था। इसलिये आर्यो की दृष्टि में वे शूद्र सामाजिक प्रतिष्ठा के अधिकारी थे। टीकाकारों ने भी शूद्र को तीनों वर्णो से अलग माना है। इसके साथ ही जाति संसथा के विकाश में मुख्य योगदान कृषि,

पशुपालन के साथ–साथ शिल्प एवं अन्य कलाओं के विकाश का बहुत योगदान है। इनमें बढ़ई या रथकार, लोहार, सारथी आदि अनेक शिल्पी कालान्तर में अपने कार्य कौशल के कारण उसी के साथ कुछ इस तरह से जुड़ गये कि उनका कर्म ही उनकी जाति बन गई।

1.6 वर्ण धर्म एवं आश्रम धर्म

समाज को व्यवस्थित करने के लिये चार वर्ण अर्थात् लोक जीवन तथा व्यक्तिगत जीवन को व्यवस्थित करने के लिये चार आश्रम तथा चार वर्ण बनाये गये हैं। गौतम धर्म सूत्र इसे ब्रह्मचारी, गृहस्थ, भिक्षु एवं वैखानस के रूप में कहता है। जीवों में बुद्धि से काम लेने वाले श्रेष्ठ है। बुद्धिजीवियों में मनुष्य श्रेष्ठ हैं। इसलिये परमेश्वर की इस सृष्टि में मनुष्य से सम्बन्धित धर्म एवं कर्तव्य की ही सर्वत्र चर्चा उपलब्ध होती है। वेदों में किये गये विधान को आचार मानकर ही अन्य शास्त्रों में विहित तथा निषिद्ध कर्मों का विधान किया गया है। यह धर्म है, यह अधर्म है, यह पाप है, यह पुण्य है, इस तरह का विवेकपूर्ण व्यवहार जनमानस को आन्दोलित करता है। इस व्यवस्था को सामाजिक परिप्रेक्ष्य में देखकर ही परिस्थिति के अनुसार जीवन–यापन के लिये वर्ण एवं जाति व्यवस्था का स्वरूप बना जो सह अस्तित्व के लिये आवश्यक था। वर्णाश्रम धर्म का उद्देश्य था कि समाज में अहिंसा, सत्य, क्रोध नही करना, तपस्या, दान की प्रवृत्ति बनाये रखना, मन एवं इन्द्रियों का संयम, किसी में दोष न देखना, किसी को ईर्ष्या या द्वेष नही करना तथा उत्तम शील एवं स्वभाव का परिचय देना। महाभारत के शान्तिपर्व (109.10–12) में विस्तार के साथ इस विषय का उपदेश दिया गया है।

यहां समझना आवश्यक है कि वर्ण व्यवस्था एवं जाति व्यवस्था का मूल तत्त्व कहाँ से प्रारम्भ होता है । जैसे ही यह सृष्टि उपस्थित होती है वैसे समाज के सब अंग भी अपना अपना स्वरूप लेने लगते हैं। जिस प्रकार सृष्टि नियन्ता ब्रह्म सब कुछ धारण किये हुये है उसी प्रकार यह पुरुष अपने ही स्वरूप में सब कुछ धारण किये हुये है।

अभ्यास प्रश्न

1. सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड, किसके द्वारा प्रवर्तित है––
   - क) परब्रह्म
   - ख) आदित्य
   - ग) प्रजापति
   - घ) गरुण
2. वर्ण और जाति शब्द का प्रयोग इनमें से किन–किन अर्थे मे ंहुआ है–
   - क) रंग या रंगने के अर्थ में
   - ख) लेखन के काम आने वाला रंग
   - ग) अक्षर, शब्द, स्वर, के अर्थ में
   - घ) उपर्युक्त सभी अर्थों में प्रयोग किया जाता है।
3. पुरुष का तात्पर्य है–
   - क) स्त्री एवं पुरुष का विभेद करने वाला
   - ख) वर्ण विभाजन करने वाला
   - ग) जो शरीर के अन्दर शयन कर रहा है या बैठा है।

घ) उपर्युक्त में से कोई नही

4. द्विज का क्या तात्पर्य है–

   क) जो ब्राह्मण है वह द्विज हैं।

   ख) जो वेद पाठ का अभ्यास करता है, वह द्विज है

   ग) द्विज क्षत्रिय को कहते हैं

   घ) जिसका दो बार जन्म हो वह द्विज है।

1.6.1 वर्ण व्यवस्था एवं ब्रह्मचर्य आश्रम का सम्बन्ध

अथर्ववेद 11.5 में, ब्रह्मचारी सूक्त है। आचार्य और ब्रह्मचारी के कर्तव्य का निरूपण है। वैदिक विचारधारा में जो ऋषियों का ज्ञान प्रवर्तित है, उनमें सभी आश्रमों में समान रूप से कर्म किया जाता है। क्योंकि देवों का निवास सर्व शरीर में है, देवतत्त्व सर्वत्र अपना समान कर्म करते हैं। उनका धर्मानुसार कर्म निश्चित है। सम्पूर्ण देवताओं के अंश अपने शरीर में विद्यमान हैं। वेद में एकत्व की अवधारणा है। वर्णों के ऊँच नीच में वेद प्रमाण नहीं देता है। वेद 33 देवताओं का उल्लेख करता है। प्रत्येक देवता एक–एक अंग में निवास करते हैं–

यस्य त्रयस्त्रिंशदेवा अङ्गे सर्वे समाहिताः।
यस्य त्रयस्त्रिंशद्देवा निधिं रक्षन्ति सर्वदा।। अथर्ववेद 10.7.13

उन देवों को ब्रह्मज्ञानी पुरुष ही जानते हैं। जीवात्मा और परमात्मा तत्त्वतः एकरूप हैं। ऐसे अनेक स्थल वेद में हैं जहाँ दोनों में एकरूपता देखी जा सकती है।

यहाँ आचार्य और ब्रह्मचर्य की बात का उल्लेख किया गया है। चारो वर्णों में 'द्विज' शब्द का प्रयोग होता है। जिसका दो बार जन्म हो वह द्विज है। इस शरीर में देवत्व का साम्राज्य है। सभी देव एक परमात्मा से जुड़कर उसी की शक्ति से कार्य करते हैं। उसी अंश से जुड़कर मनुष्य अपने कर्मों का निर्धारण करे। द्विज शब्द में एक जन्म माता के गर्भ से, तो दूसरा जन्म ब्रह्मचारी अपने आचार्य के समीप ज्ञान के गर्भ से लेता है। अपने ज्ञान रूप उदर में तीन रात्रि तक रखता है, उस गर्भ से पुनः उसका जन्म होता है। जब वह द्विज बन जाता है तो उसका सम्मान विद्वत् समाज करता है–

आचार्य उपनयनमानो ब्रह्मचारिणं कृणुते गर्भमन्तः।
तं रात्रीस्तिस्र उदरे बिभर्ति तं जातं द्रष्टुमभिसंयन्ति देवाः।। अथर्ववेद 11.5.3

ब्रह्मचारी का गुण है कि वह श्रेष्ठ बनने का पुरुषार्थ करे, ब्रह्मचर्य व्रत को धारण करे। शरीर में तेज धारण करे।

इस काण्ड के प्रथम मन्त्र में कहा गया है– अपनी अभिवृद्धि की इच्छा रखनेवाला पुरुष पृथिवी और द्युलोक को अपने अनुकूल बनाकर अपना कार्य एवं व्यवहार करता है। जो पदार्थ द्युलोक से पृथिवीलोक तक हैं, उनके साथ विरोध नहीं करना चाहिये, उनके नियम व्यवस्था को ध्यान में रखते हुये आचरण करना चाहिये। जब आचरण परिपक्व होता है, तो उसे विदित होता है कि पृथिवी हमारा आधार है। अपने स्वभाव में वह निराश्रितो को आश्रय देना सीखता है। समाज में कल्याण को ध्यान में रखते हुये जब आचरण किया जाता है तो शरीर में रहनेवाले देवता भी उसके अनुकूल बनकर उसकी पूर्ण सहायता करते हैं।

मंत्रों में देवताओं के गुणों के वर्णन हैं। उनके गुणों की प्रशंसा ही उनकी स्तुति है। ब्रह्मचारी जब उनको पढ़ता है तो उन गुणों को धारण करने का प्रयत्न करता है, और उन परमात्मगुणों को अपने अन्दर प्रतिष्ठित करता है और देवत्व धारण करता है। उसमें सद्गुणों का अभ्युदय होता चला जाता है। प्रत्येक मनुष्य अपनी उन्नति कर सकता है। यही वैदिक सनातन परम्परा है।

आचार्य से ब्रह्मचारी भिक्षा में दो लोक प्राप्त करता है, द्युलोक एवं पृथिवीलोक। दोनों लोकों की दो समिधा बनाकर ज्ञानयज्ञ करता है।

> इमां भूमिं पृथिवीं ब्रह्मचारी भिक्षामा जभार प्रथमो दिवं च।
> तौ रक्षंति तपसा ब्रह्मचारीं तत् केवलं कृणुते ब्रह्म विद्वान् ।। अथर्ववेद 11.5.8

चातुर्वण्य की जो व्यवस्था वेद में है, उसके सम्बन्ध में कहा गया है कि देव, पितर, गन्धर्व और मनुष्य ये चार वर्णों के लोग ब्रह्मचारी का अनुसरण करते हैं। ये ब्रह्मचारी के सहायक और ब्रह्मचारी इनका सहायक होता है। यह ब्रह्मचारी जैसा आचरण करता है वैसा अन्य लोग भी करते हैं। **ब्रह्मचारी के आचरण में दोष नहीं होना चाहिये। ब्रह्मचारी के शरीर में ही चातुर्वर्ण्य है। शरीर के अन्दर ही ज्ञान और ज्ञान संचय करने वाला देव है, वही ब्राह्मण है।**

विरोधी दोषों का हरण करनेवाला भाग क्षत्रिय है। वैश्य पोषक अंग है और जो इनसे इतर है वह शूद्र है। नियम संयम में रहनेवाला ब्रह्मचारी देवों को अपने अनुकूल कर लेता है–

> ब्रह्मचारिणं पितरो देवजनाः पृथग्देवा अनुसंयन्ति सर्वे। अथर्ववेद 11.5.2

शरीर में सत्य केन्द्रित रहता है। सत्य बाह्य जगत् में भी है और इस पिण्ड में भी। शरीर में अस्थि, रस, वीर्य, मज्जा, ये मूलभूत आधार हैं, संयमित पुरुष के अनुकूल ये सब रहते हैं। शरीर में अंग, अवयव, इंद्रिय और तत्त्वों का चातुर्वर्ण्य है। अथर्व 6.133.3 में ''मृत्योरहं ब्रह्मचारी.....'' अर्थात् मैं मृत्यु को समर्पित हुआ ब्रह्मचारी हूँ। शरीर नष्ट होने के बाद दूसरा प्राप्त नहीं हो सकता, अतः 'द्विजन्मा' होते हैं। ब्रह्मचारी, द्विज होने के पूर्व मृत्यु के वश में होता है जिसे छुड़ाने का कार्य आचार्य करता है। माता पिता से प्राप्त शारीरिक और मानसिक स्थिति में परिवर्तन कर सुयोग्य बनाना आचार्य का कार्य है। कठोपनिष्द् में धर्मराज ही गुरु हैं। ब्रह्मचारी विद्यामृत का पान करता है अन्य को भी पान कराता है। ऋग्वेद का मन्त्र है कि, ब्रह्मचारी सत्कर्मों को करते हुये चलता है, अतः देवों का अंग बन जाता है– ऋग्. 10.109.5.

11.5.12वें मन्त्र में मेघ को ब्रह्मचर्य कहा गया है। मेघ भूरे और काले रंग से युक्त है, प्रभावशाली है, जल को साथ लेकर चलता है, उसकी वृष्टि से भूभाग पोषित होता है, मेघ के समान ही ब्रह्मचारी अपने ज्ञानामृत की वृष्टि करता है।

अविद्या के गर्भ में रहनेवाला ब्रह्मचारी ही विद्याप्राप्ति के पश्चात् ज्ञान, कर्म, लोक, प्रजापालन और राजा के धर्म और परमात्म स्वरूप होकर इन्द्र बनकर असुरों का नाश कर सकता है–

> ब्रह्मचारी जनयन् ब्रह्मापो लोकं प्रजापतिं परमेष्ठिनं विराजम्।
> गर्भे भूत्वाऽमृतस्य योनाविन्द्रो भूत्वाऽसुरांस्ततर्ह।। अथर्ववेद 11.5.7

उन देवों को ब्रह्मज्ञानी पुरुष ही जानते हैं। जीवात्मा और परमात्मा तत्त्वतः एकरूप हैं। ऐसे अनेक स्थल वेद में हैं जहाँ दोनों में एकरूपता देखी जा सकती है। यहाँ आचार्य और ब्रह्मचर्य की बात का उल्लेख किया गया है। चारो वर्णों में 'द्विज' शब्द का प्रयोग होता है। जिसका दो बार जन्म हो वह द्विज है। इस शरीर में देवत्व का साम्राज्य है। सभी देव एक परमात्मा से जुड़कर उसी की शक्ति से कार्य करते हैं। उसी अंश से जुड़कर मनुष्य अपने कर्मों का निर्धारण करें। द्विज शब्द में एक जन्म माता के गर्भ से, तो दूसरा जन्म ब्रह्मचारी अपने आचार्य के समीप ज्ञान के गर्भ से लेता है। अपने ज्ञान रूप उदर में तीन रात्रि तक रखता है, उस गर्भ से पुनः उसका जन्म होता है। जब वह द्विज बन जाता है तो उसका सम्मान विद्वत् समाज करता है—

वेद में मेघ को ब्रह्मचर्य कहा गया है। मेघ भूरे और काले रंग से युक्त है, प्रभावशाली है, जल को साथ लेकर चलता है। उसकी वृष्टि से भूभाग पोषित होता है। मेघ के समान ब्रह्मचारी अपने ज्ञानामृत की वृष्टि करता है। ब्रह्मचारी ही परमात्मा है, जो सबसे बड़ा है। वह अग्नि, सूर्य, चन्द्र, वायु, जल आदि देवताओं में विशेष प्रकार की समिधा से यज्ञ करता रहता है। उसी से देव अपना कार्य करने में समर्थ हैं। ये देव अपना—अपना यज्ञ परमात्म प्रकाश से करते हैं। इस महान् ब्रह्मचारी देवों से अलग—अलग तेज उत्पन्न होते हैं और अन्तरिक्ष में एकत्र होते हैं। उसी से वृष्टि होती है जिससे जल बढता है, जल से वृक्ष वनस्पति, अन्न तथा अन्न से वीर्य बनता है जिससे पुनः प्राणियों की सृष्टि होती है।

यही देव छोटे ब्रह्मचारी में कार्य करते हैं। देवों का अंश मनुष्य में भी है। वह अपनी आत्मशक्ति रूपी समिधा उन देवों में डालता है। इससे उसकी शक्ति बढती है तो उसकी ज्वाला उसके अन्तर्शरीर में प्रज्वलित होती है। जिससे वह शक्ति पाकर विलक्षण तेज को प्राप्त होता है। उसी शक्ति से वह जगत् कल्याण करता है जिससे धर्म की रक्षा होती है। यही सनातन धर्मयज्ञ है। सूर्य और मेघ, ब्रह्मचर्य के माहात्म्य को बढाते हैं। मेघ को कहा गया है कि, वह ब्रह्मचारी गर्जना करता हुआ पहाड़ों और भूमि पर (रेतः) जल का सिंचन करता है जिससे सब दिशायें जीवित रहती हैं।

1. यो दासं वर्णमधरं गुहाकः, यह मन्त्रांश किस वेद से लिया गया है—
   - क) ऋग्वेद
   - ख) यजुर्वेद
   - ग) अथर्ववेद
   - घ) सामवेद
2. ब्राह्मण जाति विशेष की उत्पत्ति विराट् पुरुष के किस अंग से हुई है—
   - क) बाहुओं से
   - ख) मुख से
   - ग) पाद से
   - घ) उपर्युक्त में से किसी अंग से नहीं
3. वैश्य जाति विशेष की उत्पत्ति विराट् पुरुष के किस अंग से हुई है—
   - क) मुख से
   - ख) बाहुओं से

ग) उरु

घ) पाद से

4. मणिकार जाति विशेष का क्या अर्थ है

क) बांस का कार्य करने वाला

ख) रज्जु का कार्य करने वाला

ग) लोहार

घ) रत्न का काम करने वाला

1.6.2 स्मृति आदि षास्त्रों में वर्ण व्यवस्था के तत्त्व

श्रीमद्भगवद्गीता में भगवान्श्रीकृष्ण ने कहा है कि– चातुर्वर्ण्यं मयासृष्टं गुणकर्मविभागशः अर्थात् गुणों एवं प्रवृत्तियों के आधार पर चार वर्णों की सृष्टि की गई है। जैसा कि ऊपर कहा गया है कि उनके स्वाभाविक गुणों के आधार पर ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र के कार्यों का विभाजन हुआ है। इन कार्यों के विषय में जो व्याख्या की गई है , उसी रूप में गीता में भी कहा गया है लेकिन स्मृतियों में इस विषय में विस्तार के साथ चिन्तन किया गया है। यद्यपि पूर्णरूप से अध्ययन न होने के कारण अनेक भ्रान्तियां भी उपस्थित हुई हैं। एक बात जो विशेष महत्त्वपूर्ण है वह यह कि कार्य के आधार पर प्रत्येक वर्ण के लिये निवास स्थान का निश्चय भी हमारी स्मृतियां करती हैं। जैसे कि – ब्रह्मावर्त, ब्रह्मर्षि देश, मध्यदेश और आर्यावर्त के स्वरूप को बताते हुये कहा गया है कि द्विज जाति को कहीं इन्हीं पवित्र देशों में निवास करना चाहिये(मनुस्मृति, द्वितीय अध्याय)। इन सथानों के भूगोल को भी यहां व्याख्यायित करते हुये कहा गया है कि– सरस्वती एवं दृशद्वती देवनदियों के बीच का देवताओं के द्वारा निर्मित देश ब्रह्मावर्त कहलाता है। कुरुक्षेत्र, मत्स्य, पांचाल, शूरसेन अर्थात् मथुरा ब्रह्मर्षियों के निवास स्थान योग्य है। ब्रह्मावर्त से यह ब्रह्मषि देश लगा हुआ है। हिमालय और विन्ध्य पर्वत के बीच का और प्राचीन सरस्वती नदी से पूर्व और प्रयाग से पश्चिम का सारा प्रदेश मध्य देश कहलाता है। पूर्व समुद्र से लेकर पश्चिम समुद्र पर्यन्त एवं विन्ध्य और हिमालय पर्वतों के बीच का देश आर्यावर्त कहलाता है। मनुस्मृति के नवें और दसवें अध्याय में चारों वर्णों से सम्बद्ध विधि विधानों का विस्तार से वर्णन किया गया है। शम, दम, तप, शौच, क्षान्ति, आर्जव, ज्ञान एवं विज्ञान और आस्तिकता ये सभी ब्राह्मण के स्वाभाविक गुण हैं। जिन ब्राह्मणों के सहारे लोक और देवता सदा स्थिर रहते हैं और जिनका वेद ही धन है, उन ब्राह्मणों की हिंसा कौन कर सकता है अर्थात् राजा को चाहिये कि सदैव ऐसे ब्राह्मणों की रक्षा करें। क्षत्रिय को दण्ड देने का अधिकार ब्राह्मण को दिया गया हैं। ब्राह्मण के विना क्षत्रिय की और क्षत्रिय के विना ब्राह्मण की वृद्धि नही होती परन्तु दोनों के संयुक्त रहने पर यह सृष्टि नियमानुसार संचालित होती रहती है। राजा अर्थात् शासन की यह सनातन कार्यविधि है। शौर्य, दक्षता, युद्ध से न भागना, दान और सब पर शासन करने की शक्ति ये क्षत्रिय के स्वाभाविक गुण है। इन गुणों के साथ शासक राजधर्म में तत्पर रहकर सभी को लोक कल्याण के कार्यों में नियुक्त करते हुये राज्य का संचालन करे।

वैश्य यज्ञोपवीत संस्कार के बाद विवाह करे। कृषि, गोरक्षा, पशुपालन और वाणिज्य सम्बन्धी कार्यों में वैश्य स्वाभाविक रूप से रत रहे। जैसा कि कहा जा चुका है कि उस विराट पुरुष अर्थात् प्रजापति ने पशुओं को उत्पन्न कर वैश्य को प्रदान किया। इसलिये वैश्य का कर्तव्य है कि वैश्य अपने जीवन काल में उसका निर्वाह करे। वैश्य

को चाहिये कि वह मणि, मोती, प्रवाल, लोहा, वस्त्र, सुगन्धित वस्तु आदि के क्रय–विक्रय पर ध्यान देता रहे। वैश्य को चाहिये कि वह धर्मपूर्वक धन बढ़ाने के लिये सदैव प्रयत्नशील रहे।

देह और मन से शुद्ध अन्य वर्णों की सेवा करने वाला मधुर भाषी, अहंकार रहित शूद्र तीनों वर्णों को उनके कार्यों में सहायता करते हुये उत्तम जाति का हो जाता है।

मनुस्मृतिकार ने सत्य, अहिंसा, अस्तेय, शौच और इन्द्रिय निग्रह को चारों वर्णों के लिये सामान्य धर्म कहा है अर्थात् चारों वर्णों को इनका पालन करना आवश्यक है। स्मृतिकारों ने प्रत्येक परिस्थिति का आकलन करते हुये आपद्धर्म का भी निरूपण किया है।

यदि ब्राह्मण अपनी जीविका से जीपन निर्वाह करने में असमर्थ हो तो वह क्षत्रिय कर्म करके जीवन निर्वाह कर सकता हैं इसी तरह यदि ब्राह्मण एवं क्षत्रिय अपनी जीविका से जीवन निर्वाह नही कर पा रहे हैं तो वह वैश्य वृत्ति से अपनी जीविका का निर्वाह कर सकते है। लेकिन यह असामान्य परिस्थिति के लिये ही नियम हैं। इसके लिये विशेष नियमों का भी विधान किया गया है कि ब्राह्मण एवं क्षत्रिय वैश्य कर्म के क्या कार्य कर सकतें और क्या नही ंकर सकते हैं।

यदि ब्राह्मण इच्छापूर्वक निषिद्ध वस्तुओं का व्यापार करता है तो मनु ऐसे ब्राह्मण को सात रात्रि के प्श्चात् वैश्य होने का विधान करते हैं। क्षत्रिय के लिये ब्राह्मण की वृत्ति से जीविका चलाने का निषेध किया गया है। इसी तरह वैश्य को निषिद्ध कर्मों को छोड़कर शूद्र की वृत्ति से अपनी जीविका चलानी चाहिये। समर्थ होने पर उसे शूद्र की वृत्ति नहीं स्वीकार करनी चाहिऐ। शूद्र के लिये यह विधान किया गया है कि वह विभिन्न प्रकार के शिल्प कर्म से अपनी जीविका का निर्वाह कर सकता है। ब्राह्मण और क्षत्रिय को विशेष रू‧ से कहा गया है कि वृत्ति के अन्तिम साधन व्याज का कभी भी उपयोग नहीं करना चाहिये केवल धर्मकार्य के लिये थोड़े व्याज पर अभावग्रस्त व्यक्ति को ऋण दिया जा सकता है।

1. शास्त्र के अनुसार ब्राह्मण वही है –
   क) जो व्यक्ति ब्रह्म, वेद और वेदांग का ज्ञाता है।
   ख) जो धर्म का निर्माता है
   ग) जो क्षत्रिय पर शासन करता है
   घ) जिसका जन्म ब्राह्मण के घर में हुआ है
2. देव, पितर, गन्धर्व और मनुष्य ये चार वर्णों के लोग किसका अनुशरण करते हैं–
   क) ब्राह्मण का
   ख) ब्रह्मचारी का
   ग) प्रजापति का
   घ) राजा का
3. बृहदारण्यक उपनिषद् किस वेद से सम्बन्धित है–
   क) ऋग्वेद
   ख) यजुर्वेद

ग) शुक्लयजुर्वेद

घ) कृष्णयजुर्वेद

4. अग्नि देवताओं में किस रूप से हुआ–

क) क्षत्रिय रूप से

ख) वैश्य रूप से

ग) शूद्र रूप से

घ) ब्राह्मण रूप से

5. चातुर्वर्ण्यं मयासृष्टं गुणकर्मविभागशः यह किसने कहा है–

क) भगवान् श्रीकृष्ण ने

ख) महर्षि याज्ञवल्क्य ने

ग) ब्रह्म ने

घ) उपर्युक्त में से किसी ने नहीं

6. इनमें से कौन सा निवास स्थान ब्राह्मणों का है–

क) द्युलोक

ख) ब्रह्मावर्त, आर्यावर्त ब्रह्मर्षि एवं मध्यदेश

ग) अन्तरिक्ष

घ) उपर्युक्त में से कोई नहीं

7. सरस्वती एवं दृशद्वती देवनदियों के बीच के क्षेत्र को क्या कहते हैं

क) आर्यावर्त

ख) मध्यदेश

ग) ब्रह्मावर्त

घ) इनमें से कोई नहीं

8. चारों वर्णों के लिये सामान्य धर्म क्या है

क) सत्य एवं अहिंसा

ख) अस्तेय एवं शौच

ग) इन्द्रिय निग्रह

घ) उपर्युक्त सभी

1.6.3 वर्णो का अन्तः सामंजस्य एवं विभिन्न जातियों का उदय

चारों वर्णों के तात्त्विक स्वरूप को भी समझना आवश्यक है। भाष्यकार सायणाचार्य ने– **चत्वारि वाक् परिमितापदानि तानि विदुर्ब्राह्मणाः ये मनीषिणः** (ऋग्वेद 1.164.45) मन्त्रांश में ब्राह्मणाः का अर्थ वेद विदुः किया है तथा इसी मन्त्र में यह भी कहा है कि शब्दब्रह्मणोऽधिगन्तारोयोगिनः अर्थात् शब्दब्रह्म का ज्ञान रखने वाले योगी को ब्राह्मण कहते हैं। सायणाचार्य के अर्थ से यह स्पष्ट है कि ब्राह्मण वही है जो व्यक्ति ब्रह्म, वेद और वेदांग का ज्ञाता है। ब्रह्मन् शब्द का अर्थ वेद और मन्त्र है। इसी तरह क्षत्रिय का तात्पर्य है जो राष्ट्र एवं समाज की रक्षा के लिये तत्पर हो तथा जो समाज के सर्वविध

पोषण के लिये तत्पर हो वह वैश्य है।

राष्ट्र तथा समाज के अन्य उत्तरदायित्वपूर्ण कर्म के निर्वाह का भार शूद्र वर्ण के ऊपर आश्रित था। इनके अतिरिक्त आर्य जनों को निषाद वर्ग में स्थान दिया गया। भारत में सामाजिक व्यवस्था के क्षेत्र में अथवा यह कहें कि राष्ट्रीय सुरक्षा के लिये यह एक अभूतपूर्व प्रयोग हमारे ऋषियों ने किया जो अनार्य मिश्रण को रोकने में पूर्णतः सफल हुआ। यद्यपि समय के साथ धारायें भी अपना प्रवाह बदल देती हैं। इसके साथ व्यवसाय चुनने की स्वतन्त्रता ने जाति व्यवस्था को जन्म दिया।

जति व्यवस्था के परिणाम स्वरूप प्राचीन भारत में चार प्रधान श्रेणियों के अतिरिक्त अनेक जातियाँ उपस्थित हुईं। इनमें प्रमुख रूप से चर्मकार, कापीर–लोहार, त्वष्टा, बढ़ई, नापित, भिषक् आदि का सन्दर्भ ऋग्वेद में आया है। पाणिनि की अष्टाध्यायी में भी अनेक पेशे वाली जाजियों का उल्लेख हैं जैसे– कीनाश या कृषिवल (किसान), कर्मार (लोहार), कैवर्त (मछुआ), गोपा (ग्वाला), नावाज (नाविक), नापित (नाई), ज्याकार (धनुषाकार या प्रत्यंचाकार), तक्षा, त्वष्टा (बढ़ई), ध्मातृ (धातु बनाने वाला), पक्तृ (पाचक), पणिक (ताल देने वाला), विदलकारी (बेत का काम करने वाला), मणिकार (रत्न का काम करने वाला), धोबी, रज्जुसर्प (रस्सी का काम करने वाला), रजयितृ (रंगरेज), वंशनर्तिन (बांस पर कला दिखाने वाला), बपतृ (बुनकर), सूर्पकार, हिरण्यकार, वीणागायिन (वीणावादक), का उललेख हुआ है। बाद में इनका ही जाति सूचक शब्दों में व्यवहार होने लगाा जिसे हम आज कास्ट के रू‍प में ग्रहण करते हैं।

1.7 सारांश

सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड, ब्रह्मन् के द्वारा ही प्रवर्तित है। उन्हीं ब्रह्मन् से सर्व प्रथम ब्रह्मा हुये। उस समय वर्णों का कोई वैशिष्ट्य नहीं था अर्थात् सभी ब्रह्मा द्वारा प्रवर्तित धर्म के अनुगमन करने वाले थे। दूसरे शब्दों में सभी ब्रह्म के ही सन्तान थे। बाद में कर्म विभाग के कारण वर्ण संस्था का विकास हुआ। वेद में वर्ण व्यवस्था का स्वरूप तो उपलब्ध है लेकिन उसकी प्रवृत्ति का समय धीरे–धीरे विकसित हुआ। निश्चित रूप से प्राचीन काल में कार्य के आधार पर वर्ग का विभाजन था, जो व्यक्ति के व्यवसाय, स्वभाव तथा संस्कृति के आधार पर निश्चित हुआ, क्योंकि वेद में विश् शब्द का प्रयोग भारतीय प्रजा के लिये हुआ है। ब्राह्मण जाति विशेष की उत्पत्ति विराट् पुरुष के मुख से तथा बाहु से क्षत्रिय जाति की उत्पत्ति हुई है। इसी तरह उरु के द्वारा वैश्य जाति की उत्पत्ति हुई और पैर से शूद्रजातिमान पुरुष की उत्पत्ति बताई गई है। वेद के प्रसिद्ध विद्वान् श्रीपाद दामोदर सातवलेकर जी इसकी व्याख्या करते हुये कहते हैं कि– पांव के लिये शूद्र उत्पन्न हुआ है। एक अन्य विद्वान् श्री सुधीर कुमार गुप्त जी का विचार है कि मन्त्र में प्रयुक्त अजायत का भाव उच्यते है। अतः यहां पंचमी नही माना जा सकता है। यदि हम कर्म के अनुसार अर्थ करें तो वह चतुर्थी भावित अर्थ ही उपयुक्त प्रतीत होता है क्योंकि वर्ण का विभाजन कर्म के आधार पर तर्क संगत है। ऋग्वेद में केवल पुरुष–सूक्त में आध्यात्मिक एवं आधिदैविक दृष्टि से ब्राह्मण, क्षत्रिय (राजन्य), वैश्य तथा शूद्र शब्द का प्रयोग हुआ है। चातुर्वण्य की जो व्यवस्था वेद में है, उसके सम्बन्ध में कहा गया है कि देव, पितर, गन्धर्व और मनुष्य ये चार वर्णों के लोग ब्रह्मचारी का अनुसरण करते हैं। ये ब्रह्मचारी के सहायक और ब्रह्मचारी इनका सहायक होता है। ब्रह्मचारी जैसा आचरण करता है वैसा अन्य लोग भी करते हैं। ब्रह्मचारी के आचरण में दोष नहीं होना चाहिये। ब्रह्मचारी के शरीर में ही चातुर्वर्ण्य है। सामाजिक व्यवस्था में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र ये चार वर्ण हैं। ब्रह्मचर्य, गृहस्थ,

वानप्रस्थ और संन्यास ये चार आश्रम हैं। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन्हीं के चारों के अन्तर्गत प्राप्त किया जाता है।

उपनिषदों में ब्रह्म के द्वारा ही ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र इन चारों वर्णों की उत्पत्ति बताई गई हैं। ब्रह्म अग्निरूप से देवताओं में ब्राह्मण हुआ तथा मनुष्यों में ब्राह्मण रूप से ब्राह्मण, क्षत्रिय रूप से क्षत्रिय, वैश्य रूप से वैश्य, और शूद्र रूप से शूद्र हुआ। इस तरह से हम देखते हैं कि जिस तरह से इस भूमण्डल पर वर्ण व्यवस्था का जो स्वरूप बना है, वह वस्तुतः ब्रह्माण्डीय व्यवस्था का ही स्वरूप है। सभी उसी ब्रह्म की ही सन्तान हैं। कर्म के कारण सबका अपना अपना कार्य एवं कर्तव्य है जिसके कारण अनेक जातियां उपस्थित हुई वह भी किसी न किसी रूप में दैवी व्यवस्था का ही अंग है।

कार्य के आधार पर प्रत्येक वर्ण के लिये निवास स्थान का निश्चय भी हमारी स्मृतियां करती हैं। जैसे कि – ब्रह्मावर्त, ब्रह्मर्षि देश, मध्यदेश और आर्यावर्त के स्वरूप को बताते हुये कहा गया है कि द्विज जाति को कहीं इन्हीं पवित्र देशों में निवास करना चाहिये(मनुस्मृति, द्वितीय अध्याय)। इन स्थानों के भूगोल को भी यहां व्याख्यायित करते हुये कहा गया है कि– सरस्वती एवं दृशद्वती देवनदियों के बीच का देवताओं के द्वारा निर्मित देश ब्रह्मावर्त कहलाता है। कुरुक्षेत्र, मत्स्य, पांचाल, शूरसेन अर्थात् मथुरा ब्रह्मर्षियों के निवास स्थान योग्य है। मनुस्मृतिकार ने सत्य, अहिंसा, अस्तेय, शौच और इन्द्रिय निग्रह को चारों वर्णों के लिये सामान्य धर्म कहा है अर्थात् चारों वर्णों को इनका पालन करना आवश्यक है। स्मृतिकारों ने प्रत्येक परिस्थिति का आकलन करते हुये आपद्धर्म का भी निरूपण किया है।

1.8 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1.(क), 2. (ख), 3.(ग), 4..(घ), 5.(क), 6.(ख), 7.(ग), 8.(घ), 9.(क), 10. (ख), 11.(ग), 12.(घ), 13.(क), 14. (ख), 15.(ग),16.(घ)

1.9 पारिभाषिक शब्दावली

1. **पुरुष** – पुरुष वह है जो हमारे अन्दर अर्थात् हमारे, अपने ही शरीर में जो शयन करता हैं। **पुरुषश्शेते इति पुरुषः**। इसके साथ यह भी कहते हैं कि–**पुरिषादः** अर्थात् शरीररूपी नगर में जो बैठा हुआ है, वह पुरुष है। वह पुरुष ही हमारे अन्दर के ब्राह्माण्ड का नियामक है, उसी तरह जैसे वह समस्त सृष्टि का स्रष्टा एवं नियामक है। इसीलिये कहा गया है कि जो ब्रह्माण्ड में है वही पिण्ड अर्थात् शरीर में है।

2. **द्विज** – चारो वर्णों में 'द्विज' शब्द का प्रयोग होता है। जिसका दो बार जन्म हो वह द्विज है। द्विज शब्द में एक जन्म माता के गर्भ से, तो दूसरा जन्म ब्रह्मचारी अपने आचार्य के समीप ज्ञान के गर्भ से लेता है।

3. **ब्रह्मचारी**– ब्रह्मचारी का कर्तव्य है कि वह ब्रह्मचर्य व्रत को धारण करते हुये वह श्रेष्ठ बनने का पुरुषार्थ करे। शरीर में तेज धारण करे। ब्रह्मचारी के शरीर में ही चातुर्वर्ण्य है। शरीर के अन्दर ही ज्ञान और ज्ञान संचय करने वाला देव है, वही ब्राह्मण है। विरोधी दोषों का हरण करनेवाला भाग क्षत्रिय है। वैश्य पोषक अंग है और जो इनसे इतर है वह शूद्र है।

1.10 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1- संस्कृत वाङ्मय का हद् इतिहास द्वितीय खण्ड, प्रधान सम्पादक-पद्मभूषण आचार्य श्री बलदेव उपाध्याय, सम्पादक- प्रोफेसर ओंम्प्रकाश पाण्डेय उत्तर प्रदेश संस्कृत संस्थान, लखनऊ, 1996

2. निरुक्तम्, महामहोपाध्याय श्री छज्जूराम शास्त्री, मेहरचन्द लक्ष्मणदास पब्लिकेशन्स, नई दिल्ली, 2016

3. ए प्रेक्टिकल वैदिक डिक्सनरी, सूर्यकान्त आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, दिल्ली-1981

4. ऋग्वेद संहिता, (पाँचभाग) सायण–भाष्य सहित, वैदिक संशोधन मण्डल, पुणे

5. ऋग्वेद संहिता, (चार भाग) हिन्दी अनुवाद सहित, स्वाध्याय मण्डल पारडी

6. दर्शन, धर्म तथा समाज, राजाराम शास्त्री,, विश्वविद्यालय प्रकाशन, चौक वाराणसी, 1994

7. भारतीय संस्कृति के मूल तत्त्व, श्री व्रज वल्लभ द्विवेदी, विश्वविद्यालय प्रकाशन, चौक वाराणसी, 2003

8. बृहदारण्यक उपनिषद्, सानुवाद शांकरभाष्यसहित, गीताप्रेस, गोरखपुर, सम्वत् 2052

9. ऋग्वेदकालीन समाज और संस्कृति, विजयशंकर शुक्ल, शारदा पब्लिशिंग् हाउस, दिल्ली, 2001

1.10 बोध प्रश्न

1. भारतीय समाज व्यवस्था सम्बन्धी तात्विक विवेचना कीजिए।
2. वर्णव्यवस्था सामाजिक विकास की स्वाभाविक फलश्रुति है। इस कथन पर प्रकाश डालिये।
3. पुरूसूक्त तथा बृहदारण्यकउपनिषद् में प्रतिपादित वर्णव्यवस्था का आशय स्पष्ट कीजिए।

इकाई 2 मनीषापंचक में विहित वर्ण और जाति की व्याख्या

इकाई की रूपरेखा

2.0 उद्देश्य

वर्ण, जाति एवं कास्ट विषयक षष्ठ खण्ड की द्वितीय इकाई मनीषापंचक में विहित वर्ण और जाति की व्याख्या के अध्ययन का उद्देश्य विद्यार्थियों को परिचित कराना है कि–

- भारतीय पारम्परिक बोध पारमार्थिक स्तर पर समानता का दृढ़तापूर्वक पक्षपाती रहा है, परन्तु व्यावहारिक स्तर पर नहीं जो वैयक्तिक पहचान के लिए अपरिहार्य है।
- पारमार्थिक समानता पर आधारित सामाजिक समानता हमारी ताकत रही है, सभी सामाजिक वर्गों के सम्पूर्ण विकास के लक्ष्य को सिद्ध करने में।
- चेतना के स्तर पर हमने सभी को समान मानकर व्यवहार किया, विभेद नहीं किया। इस प्रकार भारतीय मनीषा में भावनात्मक स्तर पर सभी प्राणियों को समान महत्त्व दिया गया।
- व्यावहारिक स्तर पर विभेद प्रकृतिजनित है। उनमें समानता की स्थापना प्रकृति के विरोध में जाकर ही की जा सकती है। अतः उसको मानते हुए हमने चेतना और भावना के स्तर पर समानता को प्रतिष्ठित किया।
- सृष्टि में व्याप्त शक्तितत्त्व एक है। उसका समान रूप से सम्मान करना प्रत्येक व्यक्ति का दायित्व बनता है।
- भारतीय सार्वभौमिक सनातन समानता की दृष्टि को स्थापित कर विभेद को

समाप्त करना इस इकाई के अध्यापन का उद्देश्य है।

- अहं ब्रह्मास्मि, तत्त्वमसि, प्रज्ञानं ब्रह्म, अयमात्मा ब्रह्म– इन चतुर्वेद में प्रतिपादित महावाक्यों की सत्यता को व्यावहारिक धरातल पर स्थापित करना।
- समाज में व्यावहारिक स्तर पर व्याप्त विभेद को यथार्थ मानते हुए उसकी पारमार्थिक एकता की दृढ़तापूर्वक स्थापना करना जिससे सामाजिक समान दृष्टि विकसित हो सके।

2.1 प्रस्तावना

भारतीय सामाजिक व्यवहार परस्पर समन्वय और सहअस्तित्व में विश्वास रखता है। सामाजिक एकता तथा समान दृष्टि इसकी ताकत रही। धार्मिक, आर्थिक या फिर कहें आध्यात्मिक सभी दृष्टियों से भारतीय समाजिक मूल्य सम्पूर्ण विकास को बल देते रहे। पारमार्थिक दृष्टि से हमारा व्यवहार भेदपूर्ण नहीं रहा। व्यावहारिक धरातल पर भेद अस्तित्व की रक्षा के लिए स्वाभाविक और सहज है। इसको सभी वर्ग, वर्ण, जाति और स्थान के सामाजिक व्यक्तियों द्वारा सर्वमान्य रूप से स्वीकार किया जाता है। वही बनता है आधार सम्पूर्ण लौकिक व्यवहार की सार्थकता का। परन्तु हम परमार्थ के स्तर पर भेद करें यह सम्भव नहीं। वहाँ ईश्वर प्रदत्त एकता हमारा बल बनती है।

प्राचीन पारम्परिक संस्कृत भाषा में उपनिबद्ध शास्त्रीय ग्रन्थों तथा काव्यों में इन सूत्रों को आचार्यों और कवियों ने समान रूप से बलपूर्वक प्रस्तुत किया है। **संगच्छध्वं संवदध्वं सं वो मनांसि जानताम्** – ऋग्वेद 10.191.3, हमारी गति समान हो, हमारी वाणी समन्वयपूर्ण हो और सर्वोपरि हम मन से समान सोच और भावना वाले बने। यही कामना ऋषियों ने वेदों में की।

उपनिषद् वाङ्मय में ऐसे वचन भरे पड़े हैं। यहाँ केवल और केवल चेतना को आधार बना ऋषियों ने परलोक एवं लोक उभयविध समुन्नति के सूत्रों को प्रस्तुत किया है। जड़ चेतन सभी की समान रूप से सात्विक समुन्नति ऋषियों का उद्देश्य रहा है– **ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किंच** जगत्यां जगत्– ईशोपनिषद् 1 – सम्पूर्ण विश्व एक ही परमात्मा की शक्ति से भरा है। दूसरा कोई है ही नहीं। इसीलिए कहा भी गया है सृष्टि की उत्पत्ति के विषय में – **सोऽकामयत। बहु स्यां प्रजायेयेति।** – तैत्तिरीयोपनिषद् 2.6.4– एक ही ईश्वर स्वेच्छा से अनेक रूपों में प्रकट हुआ। वही सर्वत्र विराजमान है सभी प्राणियों में चैतन्य के रूप में। यह उसकी इच्छा से ही सम्भव होता है। अतः उसमें भेदबुद्धि रखना हमारा अज्ञान है।

'**मनीषापंचक**' का अर्थ है मनीषा अर्थात् मनुष्य को विवेकपूर्ण व्यवहार करने के लिए प्रेरित करने वाली बुद्धि में स्थिरता का आधार करने वाले पांच सूत्रों का नियामक ग्रन्थविशेष। इस ग्रन्थ के रचयिता हैं आचार्य आदिशंकराचार्य। इनकी इस कृति में भारतीय पारम्परिक समतापूर्वक समन्वयवादी दृष्टि को लोक तक ललित विधि से पहुँचाया गया है। भारतीय परम्परा के बहुत्व में भी एकत्व की स्थापना के प्रयास में यह एक दृढ़ बौद्धिक प्रकल्प है। इसके अध्ययन और अनुशीलन से समाज में सार्वजनिक जीवन में उत्पन्न होने वाली विभेदपूर्ण दृष्टि का तार्किक समाधान कर भावनात्मक एकता की स्थापना की जा सकती है।

2.2 आदिशंकराचार्य : परिचय और स्थापनाएँ

भारतीय मनीषा को वैश्विक धरातल पर विश्वसंस्कृति के सह अस्तित्व की संस्थापक प्रतिनिधि के रूप में स्थापित किया जाता है। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए प्राचीन वैदिक आचार्यों में आदिशङ्कराचार्य जी का स्मरण अत्यन्त श्रद्धापूर्वक दृष्टि से सर्वत्र किया जाता है।

आदिशङ्कराचार्य जी का जन्म केरल स्थित 'कालडी' में 780 ई. में हुआ था। आपके जन्म के विषय में अनेक मत एवं मान्यताएँ विभिन्न दार्शनिक सम्प्रदायों में प्रचलित हैं। आपके शास्त्रार्थ का उल्लेख बौद्धमतावलम्बी तथा मीमांसा के आचार्यों के सिद्धान्तों के साथ मिलता है। इनका समय पाँचवीं से सातवीं शताब्दी तक माना जाता है। आपके कार्यों पर नवीं शताब्दी के आचार्य वाचस्पति मिश्र की टीका आपके समय की उत्तरसीमा को निर्धारित करती है। इस आधार पर आदिशङ्कराचार्य का समय आठवीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध माना जाता है।

आदिशङ्कराचार्य के नाम से लगभग तीन सौ रचनाएँ प्रचलित हैं। ऐसा माना जाता है कि अधिकांश के रचयिता उनके शिष्य तथा अनुयायी रहे होंगे। आदिशङ्कराचार्य द्वारा विरचित ग्रन्थों में प्रसिद्ध हैं–

1. महर्षि बादरायण विरचित ब्रह्मसूत्र पर शाङ्करभाष्य।
2. दस प्रमुख उपनिषदों पर विषद टीका।
3. श्रीमद्भगवद्गीता पर विस्तृत टीका।
4. उपदेशसाहस्री।
5. विवेकचूड़ामणि।
6. योगसूत्रविवरण।
7. दक्षिणामूर्त्तिस्तोत्र।
8. भजगोविन्दं स्तोत्र।
9. शिवानन्दलहरी
10. विष्णुषट्पदी इत्यादि स्तोत्रों की रचना।

आदिशङ्कराचार्य वेदान्त की अद्वैतवादी परम्परा के दृढ़ समर्थक आचार्य माने जाते हैं। इन्होंने भारतवर्ष की चार दिशाओं में चार पीठों की स्थापना की जिनके प्रधान आचार्य को आज शंकराचार्य की प्रतिष्ठा प्राप्त है– 1. पूर्व में बदरिकाश्रम में ज्योतिष्पीठ, 2. दक्षिण में शृंगेरीपीठ, 3. पश्चिम में द्वारका शारदापीठ और 4. पूर्व दिशा में स्थित श्रीजगन्नाथपुरी में गोवर्धनपीठ। भारतवर्ष को सांस्कृतिक, धार्मिक और आध्यात्मिक दृष्टि से एक सूत्र में बांधने का आपका यह प्रयास अद्वितीय माना जाता है।

32 वर्ष की अल्पायु में आप केदारनाथ में ब्रह्मलीन होकर शिवलोक को प्राप्त हुए। भारतीय समाज में व्याप्त कुरीतियों को निर्मूल कर समभावदर्शी दृष्टि की स्थापना का आपका प्रयास आज भी सम्पूर्ण विश्व में प्रेरणास्पद तथा मान्य है।

2.3 मनीषापंचक का परिचय

आदि शंकराचार्य जी द्वारा मनीषापंचक नामक रचना 7 पद्यों में विरचित है। इसमें

चाण्डाल तथा आदिशंकर के मध्य लोक में भेद और अभेदपूर्ण दृष्टिकोण से सम्बन्धित वेदान्त दर्शन से सम्बन्धित तत्त्वों का प्रतिपादक दार्शनिक संवाद आख्यानात्मक शैली में उपस्थित है। प्रथम दो पद्य चाण्डाल द्वारा कहें गए हैं और आगे के पांच पद्य आदि शङ्कराचार्य द्वारा। प्रथम दो पद्यों में चाण्डाल ने आदि शङ्कराचार्य द्वारा दो प्रश्न किए गए हैं। इन दोनों पद्यों के उत्तर में आदिशङ्कराचार्य राचार्य द्वारा पाँच पद्यों में जो उत्तर दिया गया है जिसको **मनीषापंचक** नाम से प्रसिद्धि प्राप्त हुई। इसको संवाद की शैली में आख्यान से जोड़ कर प्रस्तुत किया गया है।

माना जाता है कि मुक्तिदायक काशीक्षेत्र में भगवती गंगा के तट पर जब आदि शङ्कराचार्य पहुँचे तो वहाँ उनका सामना अज्ञातनामा चाण्डाल से हुआ। आदिशङ्कर गंगा स्नान कर भगवती अन्नपूर्णा सहित बाबा विश्वनाथ के दर्शन हेतु जा रहे थे कि मार्ग मे उपस्थित चाण्डाल अन्त्यज का वेषधारण किए अज्ञातनामा पुरुष दिखाई दिया—

> सत्याचार्यस्य गमने कदाचिन्मुक्तिदायकम्।
> काशीक्षेत्रं प्रति सह गौर्या मार्गे तु शङ्करम् ।।
>
> अन्त्यवेषधरं दृष्ट्वा गच्छ गच्छेति चाब्रवीत् ।
> शङ्करः सोऽपि चाण्डालस्तं पुनः प्राह शङ्करम् ।।

अपना मार्ग अवरुद्ध होता देख आदिशङ्कर ने अन्त्यज का वेषधारण किए चाण्डाल को — **'गच्छ गच्छ'** — कहते हुए मार्ग से हटने के लिए कहा। उनको चाण्डाल के स्पर्श हो जाने से अपवित्र होने का भय जो था। चाण्डाल ने शङ्कर के इस वचन पर आपत्ति की। उसको विदित था कि आदिशङ्कराचार्य अद्वैत के प्रबल समर्थक व प्रचारक हैं। अतः उनके द्वारा चाण्डाल के साथ भेदपूर्ण व्यवहार कर मार्ग से हटने के लिए कहना उनकी अद्वैत वेदान्त दर्शन की मान्यताओं और सिद्धान्तों के विरुद्ध है।

चाण्डाल द्वारा पूछे गए प्रश्नों में निहित गहन दार्शनिक दृष्टि से आदि शङ्कराचार्य प्रभावित हुए। वे पहचान गए कि यह कोई सामान्य व्यक्ति नहीं है। प्रतीत होता है साक्षात् बाबा विश्वनाथ चाण्डाल का भेष धारण कर उपस्थित हुए हैं। आदिशङ्कराचार्य ने अपनी वेदान्त की समन्वयवादी दृष्टि से चाण्डाल को पाँच पद्यों मे उत्तर दिया। यही उत्तर **मनीषापंचक** के रूप में प्रसिद्ध हुआ।

अपने पाँच प्रश्नों के इस उत्तर में आचार्य शङ्कर ने वेदान्त विद्या को सूत्र रूप में प्रस्तुत किया है। पाँच पद्यों के माध्यम से वेदान्त की जीव और जगत् के ऐक्य विषयक दृष्टि को विभिन्न दृष्टान्तों के माध्यम से प्रस्तुत किया गया है। आचार्य शङ्कर द्वारा ललित और सर्वजनग्राह्य विधि से वेदान्तशास्त्र के अत्यन्त दुरूह विषय को भी सरल बनाकर प्रस्तुत करने से **मनीषापंचक** लोकप्रिय हुआ है।

2.4 वर्ण–जाति सम्बन्धी समदृष्टि

काशीधाम में भगवती गंगा के तट पर आदिशङ्कराचार्य जी द्वारा मार्ग में खड़े चाण्डाल को जब हटने के लिए कहा जाता है तब चाण्डाल उनसे प्रारम्भिक दो पद्यों में दो प्रश्न करता है। दोनों प्रश्न भारतीय परम्परा में लोक में उपस्थित वर्ण एवं जातिविषयक समान दृष्टि के परिचायक हैं। इनको न मानने वाला व्यक्ति समाज में भेदपूर्ण व्यवहार का पक्षधर माना जाता है। इनके माध्यम से सिद्ध किया गया है कि प्रकृति के जड़ पदार्थ भी जब सभी प्राणियों के प्रति समान दृष्टि रखते हैं जो चेतन मनुष्य का भेद करने का क्या अधिकार?

चाण्डाल ने शङ्कराचार्य जी से पूछा कि वे 'गच्छ गच्छ' ऐसा कहते हुए किससे किसको हटाना चाहते हैं– अपने अन्नमय कोष से मेरे अन्नमय कोष को या मेरे चैतन्य से अपने चैतन्य को –

> अन्नमयादन्नमयं अथवा चैतन्यमेव चैतन्यात्।
> द्विजवर! दूरीकर्तुं वांछसि किं ब्रूहि गच्छ गच्छेति।।

आदिशंकर और चाण्डाल दोनों के मध्य इस प्रश्नात्मक संवाद से स्पष्ट है कि प्रत्येक प्राणी भौतिक शरीर और चैतन्य दोनों की दृष्टि से तत्त्वतः समान है। पांचभौतिक शरीर की संरचना के मूल में ईश्वर ने समान तत्त्वों को उपादान बनाया है। अतः एक शरीर से दूसरे शरीर का तत्त्वतः भेद नहीं किया जा सकता। ऐसी स्थिति में चाण्डाल और आदिशङ्कराचार्य दोनों के शरीर में भौतिक रूप से एक ही तत्त्व विद्यमान हैं। अतः आदिशङ्कराचार्य का चाण्डाल से मार्ग से हट जाने का आग्रह अद्वैत की स्थिति में अमान्य सिद्ध होता है, क्योंकि स्वयं से स्वयं का भेद संभव नहीं।

चाण्डाल के द्वारा किए गए उपर्युक्त प्रश्न से स्पष्ट है कि चैतन्य की दृष्टि से यदि विचार किया जाए तो एक ही परब्रह्म परमेश्वर का अंश आदिशङ्कराचार्य और चाण्डाल दोनों में प्रकाशित हो रहा है। जैसे आदिशङ्कराचार्य क्रियाशील हैं अतः चैतन्य हैं वैसे ही चाण्डाल भी क्रियाशील और चैतन्य है। चेतना के स्तर पर विचार करने पर भी दोनों समान सिद्ध होते हैं। अतः दोनों में अभिन्नता होने पर भेदबुद्धि विषयक आदिशङ्कर का मार्ग से हटने रूपी आग्रह निराधार और अतार्किक प्रतीत होता है।

चाण्डाल के इन प्रश्नों से सृष्टि में व्याप्त अनेकता में एकता के शाश्वत तात्विक स्वरूप का उद्घाटन होता है। ऐसी स्थिति में वर्ण जाति का व्यावहारिक भेद रहते हुए भी पारमार्थिक दृष्टि से सम्पूर्ण प्राणिजगत् अपरिहार्य अद्वैत की भावना से युक्त है। अतः उसमें भेदपूर्ण व्यवहार संभव नहीं।

2.5 वर्ण–जाति की अभिन्नता का लौकिक दृष्टान्त–

अद्वैत के संस्थापक, प्रचारक तथा उपदेशक आदिशङ्कराचार्य को परमार्थ के स्तर पर अभिन्न प्रतीत होता प्राणिजगत् यदि अमान्य है तो चाण्डाल द्वारा लौकिक दृष्टान्त के माध्यम से अपने दूसरे प्रश्नात्मक पद्य में उसकी पुष्टि की जाती है। चाण्डाल दूसरे पद्य में कहता है–

> किं गंगाम्बुनि बिम्बतेऽम्बरमणौ चाण्डालवाटीपयः
> पूरे चन्तरमस्ति कांचनघटीमृत्यकुम्भयोर्वाम्बरे।
>
> प्रत्यग्वस्तुनि निस्तरंगसहजानन्दावबोधाम्बुधौ
> विप्रोदयं श्वपचोऽयमिन्यपि महान् कोऽयं विभेदभ्रमः।। 2।।

सूर्य की किरणें अत्यन्त पवित्र गङ्गाजल में जिस प्रकार गिरती हैं उसी प्रकार वे चाण्डाल के घर के बाहर स्थित गन्दे पानी के गड्ढे में गिरती हैं। इसी प्रकार सुवर्ण निर्मित घट में स्थित आकाश तथा मिट्टी के घड़े में स्थित आकाश दोनों एक ही होते हैं। घड़े के स्वरूप में भेद के कारण आकाश में भेद नहीं हो जाता। अतः यह ब्राह्मण है और यह ब्राह्मणेतर इस प्रकार की भेदबुद्धि उस आनन्द के समुद्र आत्मचैतन्य में नहीं की जा सकती, जो सर्वत्र समान रूप से सभी प्राणियों में प्रकाशित हो रहा है।

मार्ग की सफाई में समर्पित सामर्थ्य वाले चाण्डाल द्वारा आदिशङ्कराचार्य के समक्ष इन दो दृष्टान्तों के माध्यम से सृष्टि में व्याप्त एकत्व की अवधारणा को स्थापित किया गया। उसके अनुसार सूर्य का प्रकाश भगवती गङ्गा की अत्यन्त पवित्र धारा में प्रतिबिम्बित होकर पवित्रतम नहीं हो जाता और न हि वह गन्दे पानी के गड्ढे में पड़कर अपवित्र हो जाता है। सूर्य भी दोनों ही में समान रूप से अपनी किरणों को प्रतिबिम्बित करता है। स्थानभेद के आधार पर अपनी किरणों को प्रतिबिम्बित करने में वह भेदबुद्धि नहीं धारण करता। दोनों ही जलराशियों को प्रकाशित करने के प्रति सूर्य की दृष्टि समान ही होती है। इसी प्रकार दूसरी दृष्टि से देखें तो गङ्गा जी के पवित्र जल और गन्दे पानी के गड्ढे में प्रतिबिम्बित होने पर सूर्य के प्रकाश की गुणवत्ता प्रभावित नहीं होती। यही है भारतीय पारमार्थिक दृष्टि जहाँ चाह कर भी भेद उत्पन्न नहीं हो सकता और सम्पूर्ण विश्व को इसको समान मानना पड़ता है। जाति या कास्ट के आधार पर किए गए विभेद पारमार्थिक नहीं है। परमात्मा का भाव सभी के प्रति समान होता है। अतः भेदबुद्धि रखने वाले हम कौन होते हैं। ऐसी स्थिति में आदिशङ्कराचार्य ाचार्य किससे किसको हटाने का आग्रह कर रहे हैं ? चाण्डाल का यह प्रश्न बना रहता है। इस प्रश्न के उत्तर में आदिशङ्कराचार्य ाचार्य ने वेदान्त की दृष्टि का प्रतिपादन करते हुए सर्वमान्य समाधान प्रस्तुत किया है। इसमें विभेद का आधार सर्वथा विगलित हो जाता है और वेदान्तसम्मत दृष्टि प्रत्येक व्यक्ति को समान सिद्ध कर देती है। इसका अनुपालन भारतीय परम्परा का आधार रहा है।

2.6 वर्ण–जाति सम्बन्धी वेदान्त की दृष्टि

गंगातट पर सफाई में लगे चाण्डाल द्वारा पूछे गए इन प्रश्नों के उत्तर में आदिशङ्कराचार्य जी ने अद्वैत वेदान्त सम्मत दृष्टि को पाँच पद्यों में प्रकाशित किया। उनके अनुसार जिनमें अद्वैत वेदान्त सम्मत समान विशेषताएँ रहती हैं वे सभी उपदेशक समान रूप से सम्मान के पात्र होते हैं। उनमें वर्ण और जाति का भेद नहीं किया जा सकता। चाहे वे विप्र हों या चाण्डाल समान रूप से मान्य होते हैं। यहाँ तक कि आदिशङ्कराचार्य ाचार्य को भी उनको अपना उपदेशक या गुरु मानने से कोई परहेज नहीं होता। आदिशङ्कराचार्य जी ने मनीषापंचक के प्रथम पद्य में अपना मत प्रस्तुत करते हुए कहा –

चेतना के तीन स्तर होते हैं जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति। इन तीनों में ही चैतन्य समान रूप से स्पष्ट अवभासित होता है। यही चैतन्य समान रूप से ब्रह्मादि अनन्तशक्तिसम्पन्न तत्त्वों में जिस प्रकार प्रतिभासित होता है उसी प्रकार अत्यन्त छोटे चीटीं जैसे प्राणी में भी। ऐसा मानते हुए प्रत्येक व्यक्ति यह दृढ़ ज्ञान बनाए रखना चाहिए कि एक ही चैतन्य सर्वत्र अवभासित है, अतः बाह्य प्रत्यक्ष दृश्यमान जगत् के आधार पर प्राणियों में भेद नहीं किया जा सकता। इस प्रकार की समान बुद्धि रखने वाला व्यक्ति चाहे चाण्डाल हो या ब्राह्मण आदिशङ्कराचार्य उसको अपना गुरु (उपदेशक) मानते हैं –

जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिषु स्फुटतरा या संविदुज्जृम्भते
या ब्रह्मादिपिपीलिकान्ततनुषु प्रोता जगत्साक्षिणी।

सैवाहं न च दृश्यवस्त्विति दृढप्रज्ञापि यस्यास्ति चेत्
चाण्डालोऽस्तु स तु द्विजोऽस्तु गुरुरित्येषा मनीषा मम।। 1।।

सृष्टि के पदार्थों का प्रत्यक्ष ज्ञान करने के लिए आत्मा का मन से, मन का इन्द्रियों से, इन्द्रियों का पदार्थ से सम्पर्क अनिवार्य है। अतः चैतन्य की **जाग्रत अवस्था** में पदार्थ के साथ सम्पर्क स्थापित करने में इन्द्रियाँ सक्रिय रहती हैं। चेतना इन्द्रियों के माध्यम से पदार्थों का प्रत्यक्ष ज्ञान करती है। इसके विपरीत चेतना की **स्वप्नावस्था** में इन्द्रियाँ निष्क्रिय रहती हैं, परन्तु चेतना पदार्थों का प्रत्यक्ष अनुभव करती है। उन पदार्थों का जिनकी स्मृति अन्तःकरण में रहती है या जो जाग्रत अवस्था में चेतना पर प्रतिबिम्बित होते हैं। कभी कभी उन पदार्थों का भी प्रत्यक्ष होता है जिनका इन्द्रियों के माध्यम से प्रत्यक्ष नहीं किया गया जाता। ऐसे पदार्थों के स्वप्नावस्था में अन्तःकरण द्वारा प्रत्यक्ष किए जाने में कारण बनता है अदृष्ट या फिर जातक का पूर्वजन्मकृत कर्मों का संस्कार। चेतना की **सुषुप्ति की अवस्था** में बाह्य तथा राग, द्वेषादि आभ्यन्तर उभयविध पदार्थों के ज्ञान का सर्वथा अभाव होता है। बुद्धि भी निष्क्रिय हो जाती है। ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय तीनों का विलय हो जाता है। परन्तु सुषुप्ति की अवस्था से जागने पर जीव निर्विषयक सुख का अनुभव करता है।

यह सर्वमान्य तथ्य है कि तीनों ही अवस्थाओं में चैतन्य की समान रूप से अवस्थिति रहती है क्योंकि यह चैतन्य ही है जो सुख और दुःख का अनुभव करता है। चैतन्य निष्क्रिय नहीं होता। वह तीनों की अवस्थाओं में समान रूप से साक्षी के रूप में विराजमान रहता है। इससे प्रमाणित होता है कि चैतन्य ही समस्त इन्द्रियजन्य ज्ञान के अनुभव का ज्ञाता है। अतः चैतन्य प्रत्येक जीव में सभी अवस्थाओं में समान रूप से पाया जाने वाला तत्त्व है। चैतन्य को होने वाले प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष अनुभव में बाह्य पदार्थ विषय बनते हैं। इन्द्रियाँ मन का, मन बुद्धि का और बुद्धि द्वारा गृहीत पदार्थों का ग्रहण चैतन्य द्वारा किया जाता है। सिद्ध है कि आत्मा या चैतन्य का विषय बनते है अन्य सभी पदार्थ। आत्मा किसी का विषय नहीं बनती।

जिस व्यक्ति का यह अनुभव स्थिर हो जाता है कि वह शुद्ध चैतन्य स्वरूप है और उससे भिन्न हैं बुद्धि, मन, इन्द्रियाँ तथा बाह्य पदार्थ तथा भौतिक शरीर वह व्यक्ति वस्तुतः ज्ञानी कहलाता है। ऐसा व्यक्ति आदिशङ्कर का गुरु बनने के योग्य है। ऐसा ज्ञानी व्यक्ति चाहे चाण्डाल हो या ब्राह्मण उसको गुरु या उपदेष्टा मानने में आदिशङ्कर को कोई परहेज नहीं।

ज्ञानी होने की अवस्था में वर्ण तथा जाति के बाह्य भेदक कारण स्वतः समाप्त हो जाते है।

2.6.1 शुद्ध चैतन्य की सर्वव्यापकता

आदिशङ्कराचार्य के अनुसार वर्ण–जाति के भेद से रहित होकर उनका गुरु बनने का अधिकारी वही हो सकता है जिसकी बुद्धि दृढ़तापूर्वक मानती है कि सम्पूर्ण सृष्टि एक ही परम ब्रह्म का विस्तार है। इसके अतिरिक्त जो भी पदार्थ सृष्टि में दिखाई देते हैं वे सभी त्रिगुणात्मिका अविद्या के द्वारा निर्मित हैं। ऐसा दृढ़तापूर्वक मानने वाला व्यक्ति परमसुख और शान्ति की अवस्था में निरन्तर विराजमान रहता है। आदिशङ्कराचार्य इस प्रकार के ज्ञानी व्यक्ति को सहर्ष अपना गुरु मानने को तैयार हैं चाहे वह ब्राह्मण (द्विज) हो या स्वयं चाण्डाल ही क्यों न हो–

ब्रह्मैवाहमिदं जगच्च सकलं चिन्मात्रविस्तारितं
सर्वं चैतदविद्यया त्रिगुणयाऽशेषं मया कल्पितम्।

इत्थं यस्य दृढा मतिः सुखतरे नित्ये परे निर्मले
चाण्डालोऽस्तु स तु द्विजोऽस्तु गुरुरित्येषा मनीषा मम।। 2।।

अविद्या के प्रभाव से मनुष्य वर्ण और जाति के भेदों में विश्वास करता हुआ भेद बुद्धि से व्यवहार करता है। वस्तुतः एकमात्र शुद्ध चैतन्य ही है जो सभी में व्याप्त है। जिस व्यक्ति को इस प्रकार का ज्ञान हो जाता है वह बाह्य भेदों में पड़कर वर्ण और जाति के झगड़े में नहीं पड़ता। आदिशङ्कराचार्य ऐसे शुद्ध चैतन्य की व्याप्ति को सर्वत्र स्वीकार करने वाले परम ज्ञानी को अपना गुरु मानने को तैयार हैं भले ही वह चाण्डाल ही क्यों न हो।

आदिशङ्कराचार्य के यहाँ वेदान्त की अद्वैतमूलक दृष्टि को स्थापित किया है तथा शुद्ध चैतन्य के स्तर पर सभी प्राणियों को समान मानने वाले ज्ञानी को बिना वर्ण जाति के अपना गुरु स्वीकार करने पर बल दिया।

2.6.2 ब्रह्मज्ञान से कर्मबन्धन से मुक्ति

आदिशङ्कराचार्य के अनुसार नित्य परब्रह्म के विमर्श या भावना में संलग्न जीव का चित्त निरन्तर शान्त रहता हुआ स्थिरता को प्राप्त होता है। अपने गुरु से प्राप्त उपदेशानुसार वह निश्चित कर लेता है कि सम्पूर्ण विश्व नश्वर है, विनाशी है, अनित्य है। ऐसा ज्ञानी निरन्तर ब्रह्म के चिन्तन में स्थिरभाव से संलग्न रहता है। ऐसे ज्ञानी जीव के पूर्वजन्मकृत समस्त दुष्कर्म ज्ञानाग्नि में भस्मसात् हो जाते हैं और उसमें भावी वासनाओं का उदय नहीं होता। जीवन्मुक्त ऐसा ज्ञानी केवल प्रारब्ध कर्मों के फलों का भोग करने के लिए अपने शरीर को धारण किए रहता है। प्रारब्ध के क्षय के उपरान्त परब्रह्म में विलीन हो विदेहमुक्ति प्राप्त कर लेता है। ऐसा ज्ञानी पुरुष आदिशङ्कराचार्य का गुरु होने का अधिकारी है, चाहे वह किसी वर्ण या जाति का हो। चाहे वह चाण्डाल ही क्यों न हो –

शश्वन्नश्वरमेव विश्वमखिलं निश्चित्य वाचा गुरोः
नित्यं ब्रह्म निरन्तरं विमृशता निर्व्याजशान्तात्मना।

भूतं भावि च दुष्कृतं प्रदहता संविन्मये पावके
प्रारब्धाय समर्पितं स्ववपुरित्येषा मनीषा मम।। 3।।

मनुष्य द्वारा किए गए कर्मों के परिणाम के आधार पर कर्मों को तीन कोटियों में विभक्त किया जाता है– संचित, प्रारब्ध और संचीयमान। पूर्वजन्मकृत कर्मों का फल हैं संचित कर्म। पूर्वजन्म के संचित कर्म, जिनका परिणाम वर्तमान जन्म है या जिन्होंने फल देना प्रारम्भ कर दिया है प्रारब्ध कहलाते हैं। वर्तमान जीवन में किए गए कर्मों का एकत्रित होता हुआ फल है संचीयमान कर्म।

परब्रह्म परमेश्वर का ज्ञान हो जाने पर संचित और संचीयमान कर्म पूर्णतः नष्ट हो जाते हैं। प्रारब्ध कर्म नष्ट नहीं होते। उनकी समाप्ति उनके परिणामों के भोगने पर ही होती है। प्रारब्ध कर्मों के परिणाम भोगने तक ज्ञानी व्यक्ति जीवन्मुक्त अवस्था में स्थित रह कर्मफल का भोग करता है। परब्रह्म का साक्षात्कार कर लेने से उसकी कर्मफल में आसक्ति समाप्त हो जाती है अतः जीवन्मुक्त दशा में किए गए कर्म भविष्य के बन्धन का कारण नहीं बनते। प्रारब्ध कर्मों का परिणाम भोग लेने पर ज्ञानी व्यक्ति जीवन्मुक्त से विदेहमुक्त की अवस्था में पहुँच जन्म–मृत्यु के चक्र से बाहर हो जाता है।

आदिशङ्कर के अनुसार ऐसा ज्ञानी व्यक्ति उनका गुरु बनने का अधिकारी है, चाहे वह ब्राह्मण हो या स्वयं चाण्डाल ही क्यों न हो। ज्ञान की इस अवस्था में वर्ण और जाति का बन्धन टूट जाता है। इस नित्यमुक्त शुद्ध अवस्था को प्राप्त व्यक्ति के विषय में सभी प्रकार की व्यावहारिक भेद विषयक बुद्धि नष्ट हो जाती है।

2.6.3 सर्वव्यापी चैतन्य से जडजगत् गतिमान–

विश्व के सभी प्राणियों देवता, मनुष्य और पशुओं में एक ही चैतन्य समान रूप से उपस्थित पाया जाता है। परब्रह्म परमेश्वर के इस प्रकाश से सभी जड़तत्त्व बुद्धि, इन्द्रियाँ और सम्पूर्ण शरीर, जो निष्प्राण, जड़ या अचेतन हैं, सप्राण और चेतन प्रतीत होते हैं। इसी चैतन्य के प्रकाश से प्रकाशित होने के कारण ही जड़ होते हुए भी बुद्धि, इन्द्रियाँ इत्यादि पदार्थ बाह्य जगत् के साक्षात्कार करने का अभिमान कर पाते हैं।

आदिशंकराचार्य के अनुसार प्रत्यक्चैतन्य के प्रकाश से प्रकाशित तथा क्रियाशील होते हुए भी बुद्धि इत्यादि जड़ पदार्थ प्रत्यक्चैतन्य (आत्मचैतन्य) के वास्तविक स्वरूप को आच्छादित कर लेते हैं, वैसे ही जैसे बादल का टुकड़ा सूर्य के प्रकाश को बाधित कर देता है। आदिशंकराचार्य का गुरु होने का अधिकारी वही योगी हो सकता है जो शान्त चित्त से निरन्तर ध्यानमग्न रहता हुआ इस प्रत्यक्चैतन्य की अनुभूति करता रहता है, चाहे वह कोई ब्राह्मण हो या फिर चाण्डाल ही क्यों न हो–

या तिर्यङ्नरदेवताभिरहमित्यन्तः स्फुटा गृह्यते
यदभासा हृदयाक्षदेहविषया भान्ति स्वतोऽचेतनाः।

तां भास्यैः पिहितार्कमण्डलनिभां स्फूर्तिं सदा भावयन्
योगी निर्वृतमानसो हि गुरुरित्येषा मनीषा मम।। 4।।

मेघों का निर्माण सूर्य की ऊर्जा से होता है, क्योंकि प्रधान रूप से उत्तरायण में स्थित सूर्य की ऊर्जा से जल का वाष्पीकरण होता है और उससे आकाश में मेघ बनते हैं। सूर्य द्वारा निर्मित मेघ सूर्य को ही ढक लेते हैं और उसके प्रकाश के फैलने में बाधक बन जाते हैं। ठीक इसी प्रकार प्रत्यक्चैतन्य से शक्ति प्राप्त करने वाले बुद्धि, इन्द्रिय इत्यादि जड़ पदार्थ चैतन्य के वास्तविक नित्य, शुद्ध, आनन्दमय स्वरूप को ढक लेते हैं। जीव इनके प्रभाव से चैतन्य की वास्तविक आनन्दैकरूपता को नहीं समझ पाता और इन जड़ पदार्थों के बन्धन से बँधकर अज्ञान से आवृत होकर मिथ्या व्यवहार करता रहता है।

प्रत्यक्चैतन्य के इस वास्तविक स्वरूप को समझकर उसको ढक लेने वाले अन्य अतात्त्विक जड़ पदार्थों को पहचान कर, उनके प्रभाव से बाहर निकल शुद्धचैतन्यरूप में अवस्थित रहने वाला व्यक्ति आदिशंकराचार्य का गुरु बनने की योग्यता रखता है। इस अवस्था में वर्ण और जाति का भेद कोई महत्त्व नहीं रखता। यहाँ केवल और केवल जीव की परमज्ञान की अवस्था ही महत्व धारण करती है।

इसी तथ्य को आदिशंकराचार्य जी ने मनीषापंचक के अन्तिम पद्य में और स्पष्ट किया है। उनके अनुसार परब्रह्म परमेश्वर के स्वरूप को जान लेने वाला प्राणी ब्रह्मस्वरूप ही हो जाता है। परब्रह्म में अनुस्यूत आनन्द के एक अंश को भी प्राप्त कर सभी प्राणी परमशान्ति की अवस्था को प्राप्त कर जाते हैं तथा सभी प्रकार के वर्ण और जाति के भेद से परे हो व्यवहार करते हैं।

आदिशंकराचार्य का मानना है कि इन्द्रादि देवता भी परब्रह्म के सुखसमुद्र के एक अंश मात्र का अनुभव कर परमानन्द की अवस्था में पहुँच जाते हैं। इसी प्रकार उस ब्रह्मतत्त्व की अपने चित्त में शान्तभाव से निरन्तर भावना करने वाले मुनिजन भी सांसारिक भेदभाव के प्रपंच से मुक्त हो परमानन्द की अनुभूति करते हैं। ऐसे उस सुखसमुद्र रूप ब्रह्मतत्व में रमण करने वाला व्यक्ति स्वयं ब्रह्मस्वरूप ही हो जाता है। वह ब्रह्म का ज्ञाता नहीं अपितु ब्रह्म ही बन जाता है। यही तथ्य बृहदारण्यकोपनिषद् 4. 3.32, तैत्तिरीयोपनिषद् 2.8 तथा मुण्डकोपनिषद् 3.2.29 में 'ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति' इस प्रकार के वचनों के द्वारा प्रतिपादित की गयी है। इस प्रकार के ज्ञान से सम्पन्न कोई भी व्यक्ति, भले ही वह किसी वर्ण या जाति का हो, देवताओं के अधिपति इन्द्रदेव भी उसके चरणों में बैठना पसन्द करते हैं। ऐसे व्यक्ति को अपना गुरु मानने में आदिशङ्कराचार्य को कोई एतराज नहीं। चाहे वह ब्राह्मण हो या स्वयं चाण्डाल ही क्यों न हो किसी वर्ण, जाति या कास्ट के उसको गुरु मानने में परहेज नहीं –

यत्सौख्याम्बुधिलेशलेशत इसे शक्रादयो निर्वृताः
यच्चित्ते नितरां प्रशान्तकलने लब्ध्वा मुनिर्निर्वृतः।

यस्मिन्नित्य सुखाम्बुधौ गलितधीर्ब्रह्मैव न ब्रह्मवित्
यः कश्चित् स सुरेन्द्रवन्द्रितपदो नूनं मनीषा मम।। 5।।

इससे विदित होता है कि वर्ण और जाति की भावना से परे होकर स्वयं देवलोक के निवासी देवता भी ज्ञानी व्यक्ति को पूजते हैं। वे भी ऐसे ज्ञानी व्यक्ति के प्रति भेदबुद्धि से ग्रसित होकर व्यवहार नहीं करते। ऐसी ज्ञानात्मक स्थिति में वर्ण, जाति और कास्ट के आधार पर किया गया मानवीय भेद कोई महत्त्व नहीं रखता। वह स्वतः समाप्त हो जाता है। मनीषापंचक में प्रतिपादित वेदान्त की इस सर्वमान्य दृष्टि को विकसित कर मनुष्य लौकिक स्तर पर व्यवहार करता हुआ सुखपूर्वक जीवन व्यतीत कर सकता है।

2.7 सारांश

मनीषापंचक के माध्यम से आदिशंकराचार्य ने विश्वव्यापी वेदान्त की सर्वमान्य समान व्यवहार करने की दृष्टि का प्रतिपादन किया है जिसमें वर्ण, जाति और पाश्चात्यों के नस्लविषयक कास्ट के दृष्टिकोणों से उत्पन्न भेदबुद्धि स्वतः समाप्त हो जाती है।

आदिशङ्कराचार्य ने सिद्ध किया है कि सम्पूर्ण विश्व में चैतन्य के स्तर पर सभी जीव समान हैं। सभी में एक ही परमेश्वर का अंश उपस्थित होता है। सूर्य आदि प्रकृति के प्रकाशक तत्त्वों द्वारा अपने सामर्थ्य के वितरण में जैसे भेद नहीं किया जाता वैसे ही परमपिता परमेश्वर के अंश चैतन्य का विमर्श करने पर जीवों के मध्य उपस्थित सभी प्रकार की भेदबुद्धि स्वयं समाप्त हो जाती है। वेदान्त की इसी समान दृष्टि का अनुभव कर लेने वाला व्यक्ति लोक में समान रूप से आदर का पात्र होता है। उसके साथ भेदपूर्ण व्यवहार सार्वजनिक जीवन में नहीं किया जा सकता।

आदिशङ्कराचार्य का मानना है कि वे ज्ञान के स्तर के आधार पर भेद को मान्य मानते हैं परन्तु जिसने परमब्रह्म परमेश्वर को सर्वत्र उपस्थित देख लिया है ऐसा व्यक्ति सभी का गुरु होने का अधिकार रखता है। यहाँ तक आदिशंकराचार्य भी उसको अपना गुरु मानने में कोई संकोच नहीं करते। जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति की अवस्था में एक ही चैतन्य समान रूप से अवभासित होता है। इन्द्रियाँ, बुद्धि आदि जड़ पदार्थ सर्वव्यापी चैतन्य से प्रकाशित होते हुए सक्रिय होते हैं। अज्ञानी इन जड़ पदार्थों को ही

सत्य मानकर समाज में भेदबुद्धि रखता हुआ व्यवहार करता है, परन्तु ज्ञानी इनके प्रभाव में न आकर शुद्धचैतन्य में विचरण करता हुआ सृष्टि के सभी पदार्थों के प्रति समभाव रखता है। यही है वेदान्त की दृष्टि जिसको स्वीकार करने वाला और तदनुसार व्यवहार करने वाला व्यक्ति, यहाँ तक की परमज्ञानी वेदान्तसम्मत अद्वैत के उपदेशक आदिशंकरचार्य का भी गुरु होने की योग्यता रखता है। सम्पूर्ण मनीषापंचक का यही प्रतिपाद्य है।

2.8 पारिभाषिक शब्दावली

पारमार्थिक – परम सत्य की अवस्था।

वैयक्तिक – व्यक्तिगत जीवन की अवस्था।

दायित्व – जिम्मेदारी।

सार्वभौमिक – सर्वत्र सभी के लिए उपस्थित या मान्य।

अहं ब्रह्मस्मि – जीव ही ब्रह्म है।

तत्त्वमसि – जीव ही उस परब्रह्म का स्वरूप है।

प्रज्ञानं ब्रह्म – प्रज्ञान ही ब्रह्म है।

अयमात्मा ब्रह्म – जीवात्मा ब्रह्म का ही रूप है।

सहअस्तित्व – साथ साथ अस्तित्व में बने रहना।

उपनिबद्ध – लिखा गया या ग्रन्थ रूप में प्रस्तुत किया गया।

अनुशीलन – किसी ग्रन्थ या सिद्धान्त का गहन अध्ययन व उसके अनुरूप व्यवहार करना।

बादरायण – महर्षि वेदव्यास का अपर नाम। बदरिकाश्रम में निवास के कारण यह संज्ञा पड़ी।

विषद – विस्तृत रूप से निरूपित या प्रतिपादित।

अद्वैतवादी – द्वैत के भाव से रहित ज्ञानी पुरुष।

आख्यानात्मक – ललित शैली में किसी कथा या कहानी के माध्यम से प्रस्तुत वचन।

अज्ञातनामा – जिसका नाम न विदित हो।

सर्वजनग्राह्य – सभी लोगों के द्वारा समझने योग्य।

पक्षधर – समर्थक।

अन्नमय कोष – अन्न से बनने वाली भौतिक काया।

तत्त्वतः – अन्तिम सिद्धान्त के रूप में प्रतिष्ठित विचार।

शाश्वत – कभी न समाप्त होने वाला।

अपरिहार्य – जिसको टाला नहीं जा सकता।

एतराज – आपत्ति करना।

परहेज – स्वीकार करने से बचना।

2.9 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

मनीषापंचक – श्री एस.वी.गणेशन, अंग्रेजी अनुवादक, आनलाइन लोकेशन– due_2_misc_shankara, sanskrit@cheerful.com

ईशादि नौ उपनिषद् (शांकरभाष्य सहित) – गीताप्रेस गोरखपुर, संवत् 2010

भारतीय दर्शन – पं. बलदेव उपाध्याय, चौखम्बा संस्कृत भवन, वाराणसी, सन् 2021

ब्रह्मसूत्र (शांकरभाष्य सहित) – गोविन्दमठ, टेढ़ीनीम, वाराणसी, संवत् 2028

वेदान्तसार – अनुवादक पं. बदरीनाथ शुक्ल, मोतीलाल बनारसीदास, चौक वाराणसी, सन् 1979

वेदान्तसार – आद्याप्रसाद मिश्र, अक्षयवट प्रकाशन, बलरामपुर हाउस, हलाहाबाद, सन् 1999

बृहदारण्यकोपनिषद् (शांकरभाष्य सहित) – गीताप्रेस, गोरखपुर, संवत् 2058 नवां संस्करण।

मुण्डकोपनिषद् (शांकरभाष्य सहित) – गीताप्रेस गोरखपुर, संवत् 2058

2.10 बोध प्रश्न

1. मनीषापंचक के रचयिता आदिशङ्कराचार्य को परिचय दीजिए।
2. चाण्डाल द्वारा किस प्रकार वर्ण, जाति और कास्ट के भेद का खण्डन किया जाता है ? निरूपित कीजिए।
3. चैतन्य की तीन अवस्थाएं कौन सी हैं ?
4. आदिशङ्कराचार्य के अनुसार कर्मों की कितनी कोटियां हैं ?
5. ब्रह्मज्ञान के उपरान्त भी जीवन्मुक्त की अवस्था क्या है ?
6. विदेहमुक्ति से क्या तात्पर्य है ?
7. आदिशङ्कराचार्य के अनुसार चैतन्य के वास्तविक स्वरूप को किसके द्वारा ढक लिया जाता है ?
8. इन्द्रादि देवता भी वर्ण, जाति और कास्ट की सीमाओं से परे जाकर किसकी पूजा से परहेज नहीं करते।
9. मनीषापंचक वर्ण, जाति के भेद को समाप्त करता है– इस वचन की समीक्षा कीजिए।
10. उपनिषद् का सार है मनीषापचक – इस वचन को प्रमाणित कीजिए।

इकाई 3 योग, भक्ति तथा आगम में वर्णाधिकार

इकाई की रूपरेखा

3.0 उद्देश्य

इस ईकाई को पढ़ने के बाद आप–

- भारतीय समाज व्यवस्था में वर्णाधिकार से जुड़े परम्पराओं का अध्ययन कर सकेंगे।
- वर्णाधिकार एक सहज एवं सर्वसुलभ सामाजिक अवधारणा था, इसके जान सकेंगे।
- योग, भक्ति एवं आगम परम्परा के सर्वाधिकारवादी दृष्टिकोण से परिचित हो सकेंगे।
- वर्णाधिकार द्वारा प्रदत्त सामाजिक प्रदेय से जुड़े प्रश्नों का उत्तर दे सकेंगे।

3.1 प्रस्तावना

पूर्व की ईकाईयों में आपने वर्ण, जाति और कास्ट की संकल्पना आप पढ़ चुके हैं। इस ईकाई में आप वर्णाधिकार में समानता विषयक विचार और वर्णों के सहकार, वर्ण परिवर्तन, उपजातियों का विकास तथा उनमें सामाजिक समता की सैद्धान्तिक और व्यवहारिक सन्दर्भों को पढ़ने जा रहे हैं। आप जानते है कि भारतीय समाज वर्णों और जातियों की व्यवस्था के माध्यम से एक सामाजिक संरचना खड़ा करता है। आधुनिक युग में इस व्यवस्था में आई हुई गिरावट को लेकर कई वैचारिक सिद्धान्त आये। फलतः सामाजिक संरचना के इस व्यवस्था की समीक्षा एकांगी प्रतीत होती है। भारतीय प्राचीन सामाजिक व्यवस्था का सम्यक् रूप से अध्ययन करने पर कुछ नयी दृष्टि भी प्राप्त होती है। उन दृष्टियों से प्राप्त विषयवस्तु प्रस्तुत ईकाई का प्रतिपाद्य है।

पौराणिक साहित्य, भक्ति साहित्य तथा आगम एवं योग परम्पराओं से जुड़े हुए साहित्य में वर्ण समानता और वर्णों के उच्चीकरण के सन्दर्भ प्राप्त होते हैं। उन सन्दर्भों और प्रसंगों के अध्ययन के द्वारा आप इस ईकाई के अध्ययन के द्वारा भारतीय सामाजिक संस्थान को समझने जा रहे हैं। पुराणों में कई ऐसे उदाहरण मिलते हैं, जिनमें निम्न व्यवसाय माने जाने वाले सेवा में संलग्न कुटुम्ब द्वारा उच्च व्यवसाय या उच्च कर्म में संलग्न होने पर उसका जातीय प्रस्थिति परिवर्धित हुई है। इसी प्रकार से आगम ग्रन्थों के प्रतिपाद्य जाति, वर्ग, लिंग के विभाजन को नजरअंदाज करता है। सर्वप्रथम हम आपको आगम ग्रन्थों में वर्णित वर्णाधिकार से परिचित कराने जा रहे हैं।

3.2 आगम में वर्णाधिकार

आगमिक सम्प्रदाय के ग्रन्थ जिन्हें तंत्रशास्त्र भी कहा जाता है। इन ग्रन्थों के प्रतिपाद्य तथा अभ्यास के अधिकारी न तो किसी विशेष वर्ण एवं जाति के व्यक्ति होते है, न ही किसी विशेष वर्ण एवं जाति के व्यक्ति उनके प्रतिपाद्य विषयों के अभ्यास में अयोग्य होते है।

3.3 भक्ति–परम्परा में वर्णाधिकार

पुराण भक्ति के प्रमुख आधार ग्रन्थ है। हम पुराणों में भगवान् की भक्ति के सन्दर्भ में सभी वर्णों के लिये समान अधिकार एवं निर्देश प्राप्त करते हैं। इन अधिकारों में से कुछ प्रमुख अधिकार का वर्णन इस प्रकार से हैं–

1. मंत्रजप एवं दीक्षा अधिकार : पुराण मंत्रजप में सभी वर्णों का अधिकार प्रदान करते हैं

   विष्णुधर्मोत्तरपुराण में 'ओम् नमो भगवते वासुदेवाय' और 'ओम् नमो नारायणाय' विशेषकर स्त्री एवं शूद्र के लिये कहे गये हैं, पूजा में सभी का अधिकार है किन्तु उल्लेखनीय तथ्य यह है कि ये मंत्र द्विजातियों के लिये भी कल्याणकारक है। मध्यकाल में अनेक संतों ने इन मंत्रों की दीक्षा देकर हिन्दू समाज को संगठित किया है।

2. पूजा का अधिकार

   नृसिंहपुराण के 62वें अध्याय में प्रसंग आता है कि राजा सहस्रनीक ने मार्कण्डेय ऋषि से पूछा कि वह पूजा की विधि बताइये, जो सर्वहित में हो अर्थात् जिसके अनुसार प्रत्येक प्राणी भगवान् विष्णु की पूजा कर सकें। इस प्रश्न के उत्तर में मार्कण्डेय ऋषि ने कहा– मनुष्य 'ओम् नमो नारायणाय' इस अष्टाक्षर मन्त्र से विष्णु भगवान् नरसिंह की पूजा करें। इसी से गन्ध पुष्पादि सोलहों उपचारों से पूजा करें। हे राजन! यह अष्टाक्षर मन्त्र सब पापों का हरने वाला, सब यज्ञों के फल का देने वाला, सब दुख और दोष की शान्ति करने वाला है। उसी पुराण के 18वें अध्याय में लिखा है कि शुकदेवजी के यह प्रश्न करने पर कि किस मन्त्र को जपता हुआ मनुष्य संसार सागर के दुख से छुटकारा पाता है। अष्टाचर मन्त्र सब मन्त्रों में उत्तम है। कोई मनुष्य हो मर्त्य हो, जिसको एक दिन अवश्य मरना है– इस मंत्र को जप कर जन्म और संसार के बन्धन से छूट जाता है। एकान्त में निर्जन स्थान में, विष्णु के आगे व नदी व जल के पास भगवान् विष्णु को मन मन्दिर में बिठा कर इस मंत्र को जपें।

भगवान् के नाम अनन्त है। विष्णु सहस्र नाम और शिव सहस्र नाम उन नामों को पूर्ण रूप से नहीं गिना सके। उनमें से किसी एक नाम को भी जो मनुष्य श्रद्धा भक्ति से उच्चारण करें तो उसका सब प्रकार से मंगल होगा। किन्तु जिस प्रकार से ईख का रस निकालकर कुज्जे में भर दिया जाता है, इसी प्रकार जगत् का हित चाहने वाले ऋषियों ने कुछ मन्त्र विशेष प्रकाश कर दिये हैं जिनके जपने का अधिकार ब्राह्मण से लेकर निम्न कुल तक को है।'

वर्णाधिकार का व्यावहारिक स्वरूप

शास्त्र में अनेक वचन है, जिन्होंने यह स्थापित किया है कि निम्न कुल में माने जाने वाले लोग भी अपने बुरे कर्मों को त्यागने से और भले कर्मों के पालन करने से उच्च कुल के समान मान पाने के योग्य हो सकते हैं और ऐस व्यक्ति यदि विद्वान् हो, तो द्वीज भी उससे आत्मज्ञान सीख सकते है। इसे हम दो उदाहरणों द्वारा कह सकते हैं– 1. धर्म व्याध की कथा, 2. मूक चाण्डाल की कथा।

1. धर्म व्याध की कथा

एक कौशिक नाम वेदाध्यायी तपोधन ब्राह्मण था। उसको क्रोध और अभिमान आ गया। उस दशा में उसको एक पतिव्रता स्त्री ने उपदेश किया कि आप धर्म को अभी नहीं जानते हैं। आप जाइये मिथिलापुरी में धर्मव्याध रहता है उससे धर्म का उपदेश लीजिये। ब्राह्मण धर्मव्याध के पास गया, वह धर्म व्याध अपनी मांस की दुकान पर बैठा था। वह ब्राह्मण को अपने घर ले गया और ब्राह्मण ने वहाँ उससे कहा कि तुम मुझे शिष्टाचार का उपदेश करो। व्याध ने बहुत विस्तार के साथ ब्राह्मण को धर्म का उपदेश किया। वह कथा वनपर्व के 205 अध्याय से 214 अध्याय तक में वर्णित है। उसी प्रसंग में व्याध ने कहा कि पुरूष दुश्चरित्र होकर भी सुचरित्र हो सकता है और प्राणियों की हिंसा में रत रहने पर भी मनुष्य धार्मिक हो सकता है। आगे चलकर व्याध ने कहा कि शूद्र योनि में भी उत्पन्न हुआ पुरूष यदि अच्छे गुणों को अपने में संग्रह करेतो हे ब्रह्मन्! वह वैश्य हो जाता है और क्षत्रिय यदि सदाचार से चला जाय तो उसमें ब्राह्मण की योग्यता भी उत्पन्न हो जाती है।

धर्मव्याध ने ब्राह्मण से कहा कि तुम अपने माता पिता को दुखी करके पढ़ने के लिये घर से निकल आये हो, इसलिये तुम जाके उनको प्रसन्न करो तब तुम परम धर्म को प्राप्त होगे। ब्राह्मण ने व्याध को धन्यवाद दिया और कहा कि तुम्हारे समान धर्म को बताने वालो संसार में दुर्लभ हैं। तब व्याध ने पूछा कि हे व्याध कारण बताओं कि कैसे शूद्र योनि में तुम्हारा जन्म हुआ। व्याध ने अपनी सब कथा कही उसको सुनकर ब्राह्मण ने कहा– यद्यपि शूद्रयोनि में तुम्हारा जन्म है तथापि मैं तो तुमको इस समय ब्राह्मण ही मानता हूँ। मेरे मन में इसमें कुछ भी संशय नहीं है। जो ब्राह्मण नीचे गिराने वाले बुरे कर्मों में लगा हो, दाम्भिक हो, और दुष्कर्मा हो, वह प्रायः शूद्र के समान होता है और जो शूद्र मन और इन्द्रियों के रोकने में, सत्य में और धर्म में सदा लगा रहता हो उसकों मैं ब्राह्मण मानता हूँ। ब्राह्मण चरित्र से होता है।

2. मूक चाण्डाल की कथा

यह मूक चाण्डाल की कथा पद्म पुराण में है। यह कथा इस बात के लिये पर्याप्त प्रमाण है कि सदाचर से, धर्म के पालन से, चाण्डाल भी अपने जीवन में

विद्वान् तपस्वी ब्राह्मण से ऊँचे से ऊँचा आदर पाने के योग्य हो सकता है। ये कथाएं हमारे ही कल्याण के लिये कही गइ हैं। इसलिये स्मृति और पुराणों के प्रमाण से यह सिद्ध होता है कि चाण्डाल और श्वपच को आवश्यक शुद्धि और आचार सिखा कर, उनमें धर्म की भावना दृढ़ कर, हम उनको सच्छूद्र तो अवश्य ही बना सकते हैं और उनको धर्मके उस मार्ग में प्रवृत्त कर सकते हैं जिनमें चलकर मूक चाण्डाल ब्राह्मण और धर्मव्याध की तरह कोई भी चाण्डाल ब्राह्मण के योग्य हो सकता है।

इन कथाओं का यह अर्थ नहीं है कि हम अन्त्यजों के साथ भोजन या विवाह का संबंध करें। भोजन और विवाह का संबंध तो शास्त्र और लोकमर्यादा के अनुसार उन्हीं विरादरियों में ही हो सकता है जिनमें शास्त्र और लोक मर्यादा के अनुसार होता चला आया है। इसका यह भी अर्थ नहीं है कि जो धर्मव्याध या मूक चाण्डाल के समान धर्मज्ञ और सदाचारी हों उनसे हमस ब विषय में ब्राह्मणोचित व्यवहार करें। ब्राह्मण के छः कर्म हैं– अध्ययन–अध्यापन, यज्ञ करना–कराना, दान और प्रतिग्रह–दान देना और लेना। इन छः कामों में अध्ययन, यजन और दान ये तीन काम ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य सब में समान है। अध्यापन–याजन और प्रतिग्रह वेद पढ़ाना, यज्ञ कराना और दान लेना इन तीन काम के अधिकारी सामान्यतया ब्राह्मण ही हैं जो ''विद्या तपश्च योनिश्च त्रयं ब्राह्मणकारणम्'' अर्थात् इन तीन कार्यों के अधिकारी होने के लिये जिसमें विद्या, तपस्या और जन्म तीनों गुण हो, वही ब्राह्मण है। इन कथाओं का सार यह है कि जो चाण्डाल भी विद्वान् ज्ञानवान् और सदाचारी हो तो हम उसकी योग्यता के अनुसार उसका आदर करें। केवल उसके जन्म मात्र के कारण उसका अनादर न करें।

मनुष्य को पाप से छुटाने और पुण्य के मार्ग में ऊपर उठाने के लिये और धर्म अर्थ काम मोक्ष चारों पदार्थों के सम्पादन करने के लिये शास्त्र के अनुसार दीक्षा ही एक परम साधन है। दीक्षा का विधान अन्त्यज पर्यन्त सभी सनातनधर्मी के लिये आया है जिसके प्रभाव से अन्त्यज भी शुद्ध पवित्र सदाचारी और मान्य, हो सकता है। यह सब आगे दीक्षा प्रकरण से स्पष्ट हो जायेगा। दीक्षा के द्वारा मनुष्य को परम ज्ञान दिया जाता है और मनुष्य पाप के बन्धन से छूटता है। हे पार्वति! इसलिय तत्व के जानने वाले इसको दीक्षा कहते हैं। जिस दीक्षा के पाने मात्र से मनुष्य को ज्ञान होता है, जिस दीक्षा से दिव्य ज्ञान प्राप्त होता है और जिससे पाप का क्षय होता है। इसलिये इसको दीक्षा कहते है और सब तन्त्र शास्त्रों का इस विषय में एक ही मत है।

विष्णुपुराण में उद्धरण

विष्णुपुराण के छठें एवं दूसरे अध्याय में (श्लोक सं0 1 से 29 तक) श्रीव्यास जी ने कलयुग, स्त्री तथा शूद्र के महत्त्व का वर्णन किया है। वे कहते हैं कि सभी युगों में कलयुग का महत्त्व इसलिये अधिक है कि कलयुग में थोड़े से परिश्रम से ही व्यक्ति को महान् धर्म की प्राप्ति हो जाती है। इसी प्रकार कलयुग में शूद्र इस बात के लिये श्रेष्ठ है कि अन्य वर्णों के व्यक्ति को धर्म की प्राप्ति कठोर ब्रह्मचर्य, वेदाध्ययन, शुद्धि तथा संयम मर्यादा में रहना अति आवश्यक है। यदि ऐसा व्यवहार वे नही करते हैं, तो उन्हें दोष लगता है। उन्हें जीवन के सम्पूर्ण कार्यों में विधि निषेध की परतन्त्रता है। वे अत्यन्त क्लेष से पुण्य को प्राप्त करते हैं। किन्तु सेवा करने वाले लोग केवल सेवा से ही सद्गति को प्राप्त कर लेते है। सेवाभावी लोग को खाद्य–अखाद्य तथा शुद्धि–अशुद्धि का दोष नही लगता। इसी प्रकार से पुरूष को धनोपार्जन करने तथा धनोपार्जन से परिवार का भरण–पोषण करते हुए धर्म कार्य करना अत्यन्त कष्टसाध्य है किन्तु स्त्रीयां तन, मन, धन से पुरूष की सहचरणी होकर उत्तम फलों को अनायास ही

प्राप्त कर लेती हैं। इसलिये स्त्रीयां श्रेष्ठ है।

भक्ति की महिमा

पद्मपुराण के भागवतमहात्म्य में नारद जी ने भक्ति मार्ग को सबसे उत्तम और सरल मार्ग बतलाया है। वे कहते हैं– सतयुग, त्रेता, द्वापर में ज्ञान और वैराग्य मोक्ष देने वाले हैं। किन्तु कलयुग में तो केवल भक्ति ही भजने वाले को भगवान् से मिला देती है। भक्ति साधन के अनेक मार्ग में दो उपाय सभी मनुष्यों के लिये विशेष उपकारी है– 1. कीर्तन अर्थात् नाम स्मरण, 2. भगवान् की मूर्ति का दर्शन। नाम स्मरण की महिमा इसलिये है कि नाम स्मरण से मनुष्य की मति ईश्वर की ओर जाती है, उनके गुणों के स्मरण से मनुष्य के दोष और पाप छूट जाते हैं, मन पवित्र तथा प्रकाशमान हो जाता है। इस सन्दर्भ अजामिल की कथा प्रसिद्ध है। वह एक बड़ा पापी था, तो भी नारायण का उच्चारण करने से वह सब पापों से छूट गया। भागवत्पुराण में देवभूति ने बड़े ही जोरदार ढंग से कहा है– भगवान् जो आपके नामों के श्रवण से या कीर्तन करने से या आपको नमस्कार करने अथवा कभी आपका स्मरण करने से साक्षात् हो तो वह भी सोमयाग करने वाले पुरूषों के समान आदर के योग्य हो जाता है तो हे भगवन! आपके दर्शन करने की महिमा को मैं क्या कहूँ। हे परमेश्वर! वह निम्न कुल भी इसलिये श्रेष्ठ हो जाता है कि उसकी जिह्वा पर आपका नाम रहता है। जो लोग आपके नाम का कीर्तन करते हैं, वे श्रेष्ठ पुरूष स बतप कर चुके, सब हवन कर चुके, सब तीर्थों में स्नान कर चुके और उन्होंने सब वेदों का पठन–पाठन कर लिया। क्योंकि सब पुण्य फल आपके नाम कीर्तन से प्राप्त हो जाते है।

पद्मपुराण में लिखा है कि जो श्रद्धावान् भक्त है, वह चांडाल या श्वपच भी क्यों न हो यदि वह श्रद्धा भक्ति पूर्वकदेव दर्शन की अभिलाषा से मन्दिर में जाये तो उसके देखने से उसके बोलने से और उसके स्पर्श करने से किसी प्राणी को भी दोष नही प्राप्त हो सकता वरन् पुण्य प्राप्त हो सकता है।

तीर्थयात्रा का अधिकार

पुराणों के अनुसार तीर्थयात्रा करने का सभी वर्णों को समान रूप से है। प्रभासखण्ड के 30वें अध्याय में कहा गया है– शिवजी पार्वती जी से कहते है कि हे पार्वती द्विज लोग समुद्रस्नान करने के उपरान्त प्रभास क्षेत्रस्य 'कपर्दि' महादेव की पूजा 'गणनान्त्व' इस मंत्र से करे और शूद्र लोग अष्टाक्षर मंत्र से पूजा करें। आगे चलकर फिर शिवजी कहते है कि कार्य के अनुसार भगवान् शंकर के अलग–अलग अवतार होते हैं। प्रभास क्षेत्र के 'सोमेश्वर' का दर्शन स्त्री, म्लेच्छ, शूद्र और जो कोई भी अन्त्यजादि करते हैं वे स्वर्ग जाते हैं। हे देवि! यज्ञ, दान तथा स्वाध्याय और व्रत को न करने पर भी सब मनुष्य शिवालय में जाते हैं। सोमनाथ का यह प्रभाव देखकर ही अग्निष्टोमादि क्रिया लुप्त हो गई है। बाल, वृद्ध, स्त्री और शूद्रादि सभी लोग उसका दर्शन करके परम गति को प्राप्त करते है।ब्रह्मपुराण का मत हैः–

परन्तु जो अपने धर्म के द्वारा ज्ञान और बुद्धि की खोज करता हैजो धर्म से जन्मा है और धर्म में लगा हुआ है, वह धर्म का फल भोगता है,शूद्रों और चाण्डालों तक को तीर्थों और मन्दिरों में जाने का निषेध नहीं था । ब्रह्मपुराण के अनुसार विष्णु के मन्दिर में चाण्डाल जाकर उनकी आराधना कर सकते थे। विष्णु की सेवा करने के लिए वे वन्य पुष्पों का संग्रह कर लाते थे । शूद्रों को भी तीन वर्णों के साथ ही महाभारत में यश का वहन करने वाला कहा गया है । ''वे एक महान अध्यात्मवादी थे। महाभारत में तुलाधर्म व्याघ के उच्च आत्मज्ञान का विस्तार से वर्णन है।

शंकर के अनुसार किसी वर्ग का मनध्ध उनके मठों में दीक्षित हो कर प्रवेश पा सकता था। बौद्ध संघ में भी सभी वर्गों के लोग प्रवेश पा कर सर्वोच्च पद प्राप्त कर सकते थे।

3.4 योग परम्परा में वर्णाधिकार

योग दर्शन कर्मणा जाति व्यवस्था को मानता है। योगसूत्र में कर्मफल के रूप में जाति, आयु और भोग की बात की गई है। यहां जाति का तात्पर्य प्राणियों की कोटि है, न की व्यवसायगत सामाजिक विभाजन। मनुष्य जो कर्म करता है, उन कर्म, समुदाय के तीन फल प्राप्त होते हैं। ये तीन फल है– जाति, आयु और भोग। जाति अर्थात् मनुष्य, पशु–पक्षी आदि का शरीर। जन्म से लेकर मृत्यु पर्यन्त जीवन अवधि आयु है। जब तक अविद्य आदि क्लेष बना रहेगा, तब तक आयु बनी रहेगी। भोग शब्द का अर्थ सुख, दुःख तथा सुख–दुःख के साधन है। योगदर्शन में हमे एक अनोखी समाज संरचना की सैद्धान्तिकी प्राप्त होती है, कोई व्यक्ति किसी वर्ण एवं जाति के उत्पन्न होने के कारण सुख–दुःख या अपने सामाजिक परिस्थिति को प्राप्त नही करता, बल्कि पूर्वजन्म के कर्म समुदाय ही इसके लिये उत्तरदायी है। योगियो के अतिरिक्त साधारण मनुष्य के कर्म तीन प्रकार के होते हैं– 1. कृष्ण अर्थात् पापकर्म, 2. शुक्ल अर्थात् पुण्यकर्म तथा 3. शुक्ल कृष्ण अर्थात् पाप, पुण्य मिले हुए।

प्रश्न : मनुष्य के जीवनदशा के लिए क्या केवल कर्म ही उत्तरदायी है?

उत्तर : योगदर्शन के अनुसार कर्म स्वयं मिलकर जन्म नहीं देते क्योंकि कर्म जड़ है, चेतन नहीं। चेतन न होने के कारण वे किसी जीव के कर्मों की गणना नही कर सकते। इसलिये शुभाशुभ कर्म के आधार पर ईश्वर जीवों को जन्म देता है। इतना ही नही, कोई कर्माशय जाति, आयु और भोग तीन फलों को देने वाला होता है। कोई कर्म आयु और भोग दो फलों को देने वाला होता है और कोई एक ही फल आयु अथवा भोग को देने वाला है, इसलिये कर्म के फल का नियंत्रक स्वयं कर्म नहीं होते, अपितु एक चेतनवान परमसत्ता को मानना आवश्यक पड़ता है। किन्तु वह चेतनसत्ता कर्म समुदाय के आधार पर ही जाति, आयु तथा भोग का निर्धारण करता है।

3.5 वर्णों का सहकार

भारत में मुख्य रूप से चार वर्ण और असंख्य जातियाँ और उपजातियां बनीं। इन सभी में संगति रही, एकमुखता रही और उनमें पारस्परिक संघर्ष का अभाव रहा। एक वर्ष या जाति यदि दूसरे वर्ण या जाति की विशेषताओं या अधिकारों को सहन कर सकती थी तो इसका क्या कारण था ? वास्तव में सामाजिक अभ्युदय के लिए सभी जातियाँ एक दूसरे के लिए त्याग करती हुई और एक दूसरे से सहयोग करती हुई सुखी थीं। ब्राह्मण यज्ञ करते थे, केवल अपने लिए नहीं, अपितु सबका या समाज का कल्याण चाहते हुए यज्ञ के अवसर पर ब्राह्मण कामना करता था – 'हे देव सभी में रुक् (दीप्ति) प्रदान करो। वेद ने आदेश दिया है कि सूत्रों से भी कल्याणी वाकू का प्रयोग करने से मनुष्य देवताओं का प्रिय बन सकता है।

ब्राह्मण का सर्वोपरि कर्तव्य था शिक्षा देना और कर्तव्य पथ का ज्ञान कराना । इस प्रकार वह सारे समाज के विकास की दिशा निर्धारित करता था । वह धार्मिक कार्य–कलापों का संचालन करता था और आचार तथा धर्म की पद्धतियों का निर्माण करता था । वास्तव में वह समाज की गति विधि की प्रतिष्ठा करता था। ब्राह्मण के

उपर्युक्त कार्य क्षेत्र को देखने से यह प्रतीत होता है कि वह निश्चय ही बिश, दूरदर्शी और कर्मनिष्ठ मानव होगा। उसको चिरकाल तक तप और श्रम करने पर ही यह योग्यता प्राप्त होती थी। उसका इस दिशा में सारा उपक्रम प्रत्यक्षतः तो अपने व्यत्तित्व के विकास के लिए था, पर गौण रूप से सारा समाज उसके द्वारा उपकृत होता था। वह सारी प्रजा को सत्पथ पर अग्रसर करने के लिए सचेष्ट रहता था।

''शूद्र वर्ण को पूषण कहा गया है। वह सारे समाज का पोषण करता था । शूद्र यदि किसी उच्चजातीय व्यक्ति की सेवा करना चाहता था तो उसकी जीविका का प्रबन्ध कर लेना प्रथम कर्तव्य होता था। उसके लिए नियम बना था कि वह आपत्ति काल में भी अपने स्वामी का त्याग न करे यदि स्वामी सन्तानहीन हो तो उसके लिए पिण्डदान करे, बूढ़ा या दुर्बल हो तो उसका भरण–पोषण करना चाहिए। इस कार्य में धन का नाश भी हो तो भी उत्साहपूर्वक स्वामी का भरण–पोषण करना चाहिए। अपनी श्रद्धा के बल पर शूद्र स्वामी के द्वारा किये हुए यज्ञों के फल अधिकारी होता है । ''

महाभारत में ब्राह्मण और क्षत्रिय की एकता की प्रतिष्ठा करते हुए कहा गया है कि इन दोनों को ब्रह्मा ने उत्पन्न किया है, दोनों का मूल एक है। ब्राह्मण में तप और मन्त्र का बल होता है और क्षत्रिय में अस्त्र तथा भुजाओं का। उनका बल और प्रयत्न अलग–अलग हो जाय तो वे संसार की रक्षा नहीं कर सकते। दोनों को साथ रहकर ही प्रजा की रक्षा करनी चाहिए।''

महाभारत के अनुसार क्षत्रियों के कर्तव्यच्युत होने पर ब्राह्मणों की कर्तव्य हो जाता है कि उनको उचित मार्ग पर लायें। इसके लिये ब्राह्मण को तप ब्रह्मचर्य, अस्त्र–शस्त्र, शारीरिक बल, सद्व्यवहार, कपट आदि जो कुछ उपाय उपयोगी सिद्ध हों, काम में लाना चाहिए। क्षत्रिय का नियन्त्रण ब्राह्मण ही कर सकता है।

चार जातियों ने भी राजनीतिक क्षेत्र में सहयोग किया। वैदिक रत्नी परिषद या राजा परिषद में पुरोहित (ब्राह्मण), सेनापति (क्षत्रिय), ग्रामणी (वैश्य), गोविकार्टन (वैश्य), तक्ष (बढ़ई, शुद) और रावकर (रथ निर्माता शूद्र) शामिल थे। महाभारत में, 37 मंत्रियों की परिषद में चार ब्राह्मण, आठ क्षत्रिय, 21 वैश्य और तीन शूद्र शामिल थे। परवर्ती युग में यज्ञ के अवसर पर सभी वर्णों के लोगों को सहस्रों की संख्या में निमन्त्रित किया जाता था और सबका सत्कौर और पूजा समुचित विधि से की जाती थी ।

3.6 वर्णाधिकार का व्यवहारिक स्वरूप

1. वर्ण–सद्भाव

   भारतीय साहित्य में चारों वर्णों के सद्भाव से समाज की समृद्धि होने का सर्वत्र वर्णन मिलता है। सभी वर्गों के छोटे–बड़े भाई की भाँति रहने की रीति थी।

   महाभारत के अनुसार जब पाण्डव वारणावत में पहुँचे तो वे ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र सबके घर भेंट करने के लिए गये थे। पाण्डन और कौरव राजकुमारों का अस्त्र– कौशल देखने के लिए चारों वर्णों के लोग उपस्थित हुए थे।

   राष्ट्र की रक्षा करने के लिए ब्राह्मणों ने कभी–कभी प्राणपण से प्रयत्न किया है। सिकन्दर के आक्रमण के समय असंख्य ब्राह्मण युद्ध करते हुए पकड़े गये और फांसी पर लटका दिये गये इन ब्राह्मणों के प्रयत्न से सिकन्दर का आगे बढ़ना असम्भव हो गया था। उनमें से एक से फाँसी के पहले पूछा गया – तुम क्यों राजा और प्रजा को सिकन्दर के विरुद्ध उत्साहित करते हो ? उसने उत्तर दिया–

मैं चाहता हूँ कि वे सम्मान से जीयें और सम्मान से मरें।

महाभारत के आदिपर्व (134.7 तथा 124.15) के अनुसार– जब कोई ब्राह्मण राष्ट्र के हित में महान कर्म करता था तो चारों वर्णों के लोग ब्रह्ममह नौमक उत्सव में उसका सम्मान करते थे। वैश्यों ने राष्ट्र की रक्षा के लिए केवल कृषि, पशु–पालन आदि ही नहीं किया, अपितु शस्त्र लेकर भी शत्रुओं से समाज की रक्षा की। '

राजतरगिणी में वर्णित हैं– काश्मीर में प्रजा को कष्ट देने वाले राजाओं को पदच्युत करने के लिए ब्राह्मण प्रायोपवेश करते थे और असफल होने पर वे अग्नि में कूद कर प्राण गंवा देते थे। '' कल्हण ने ब्राह्मणों की लोकसेवा प्रमाणित करते हुए लिखा है– क्षत्रियों का भारतीय समाज के अभ्युदय के लिये बहुमान रहे हैं। क्षत्रियों के परोपकारवृत्ति के लिये समर्थ क्षमता से भारतीय विचारकों ने राम–कृष्ण को नायक बनाकर विशाल साहित्य की रचना की है। कलि में धर्म के दुर्बल होने पर भी ब्राह्मणों का प्रभाव अभंगुर है। भ्रष्ट और दुष्टों का उत्पाटन करने में ब्राह्मण सबसे बढ़कर पट हैं।' चाण्डाल भी गाँव के अभ्युदय में गाँव वालों का साथ देते थे । श्रीदेव नामक चाण्डाल ने जज्ज नामक राजा को ग्रामवासियों की ओर से मारा था। उस समय ग्रामवासी राजा का सामना कर रहे थे।''

2. उपजातियों का विकास

कर्मानुसार वर्गव्यवस्था का नियम होने पर चार ही वर्णों में सारे सुमाज का संगठन तो हुआ, पर असंख्य कर्मों के अनुकूल असंख्य जातियों के बन जाने का आरम्भ भी इसी आधार पर हुआ। यज्ञ के अवसर पर १६ पुरोहित १३ प्रकार के कामों में संलग्न होते थे। इनके सोलह नाम मिलते हैं। इनमें से प्रत्येक के पद और प्रतिष्ठा भी समान नहीं थी। वैश्यों के तीन व्यवसाय माने तो गए, पर उनमें से दोकृकृषि और पशुपालन सभी वर्गों के लोग समान रूप से अपना सकते थे और व्यापार की वस्तुओं की संख्या असंख्य थीं तथा विभिन्न वस्तुओं के व्यापार करने वालों के पद और प्रतिष्ठा भिन्न–भिन्न रही । दूध बेचने वाला शराब बेचने वाले के बराबर कैसे हो सकता था? शूद्र में उपजातियों की संख्या अन्य वर्गों से बढ़ कर विकसित हुई। शूद्रों को प्रायः सार्वजनिक उपयोगिता के लिए वस्तुओं का निर्माण करना पड़ता था। सभी प्रकार के काम इनके हाथ में थे । विभिन्न काम करने वालों के पद और प्रतिष्ठा की भिन्नता के आधार पर असंख्य उपजातियों का विकास होना स्वाभाविक ही था ।

ऋग्वेद में वप्ता (नाई), तष्टा (बढ़ई), त्वष्टा (बढ़ई), भिषक (चिकित्सक), कर्मार (लोहार), चर्मम्न (बढ़ई) आदि ऋग्वेद में इनके अलावा अथर्ववेद में रथकार (बढ़ई) तैत्तिरीय संहिता में कुलाल (कुम्हार), पुंजिष्ट (व्याध), निषाद (नाविक), ईषुकृत (बाण बनाने वाला), धन्वकृत (धनुष बनाने वाला), मृगयु (शिकारी) आदि विभिन्न नाम से मिलते हैं। इनमें से लगभग सभी शूद्र वर्ण की विभिन्न उप– जातियां बन गईं। 'देश भेदों से भी नई– नई जातियाँ बनती रहीं। शूद्र वर्ण की व्यवसायों के अनुसार गठित उप जातियों के नाम इस प्रकार हैं

प्राचीन भारतीय साहित्य की सांस्कृतिक भूमिका मिलते हैं – कांस्यकार (कैंसेरा), कैवतं (केवट), कुम्भकार (कुम्हार), चर्मकार तैलिक (तेली), नट, नापित (नाई), रजक (धोबी) सुवर्णकार आदि ।

बौद्ध साहित्य में इनके अतिरिक्त नलकार (टोकरी बनाने वाले), पेसकार (जुलाहे), मणिकार, दुस्सिक (कपड़े के व्यापारी), गन्धिक (गन्ध बनाने और बेंचने वाले), तुन्नवाय

(दर्जी), रजकार (रंगरेज), कट्ठहार (लकड़िहारा) उदाहार (पानी ढोने वाले), पेस्सिक (घरेलू काम करने वाले), सूपिक (भोजन पकाने वाले), रूपदक्खा (लेखक), दोवारिक (द्वारपाल), अनीकट्ठे (रक्षक), सन्धिक (मोरी साफ करने वाला), पुप्फच्छड्डक (झाडू लगाने वाला), हत्यारोह (महावत), हत्थिपाल (हाथी को सिखाने वाला) आदि व्यावसायिकों के नाम मिलते हैं।

बहुत सी उपजातियाँ देश–भेद के अनुसार मिलती हैं। ऐसी उपजातियाँ अम्ब देश की अम्बष्ठ, मगध की मागथ और विदेह की वैदेहक हैं। देशी अथवा विदेशी जन समुदायों की भी उपजातियाँ बन गई। इनमें से प्रमुख निपाद, शक, यवन, सम कम्बोज, द्रविड़, पारद, पह्लव, दरद, शंबर, किरात आदि हैं।

सूत्र और स्मृति काल में विभिन्न जातियों और उपजातियों के लोगों की अस वर्ण स्त्रियों से उत्पन्न की हुई सन्तान न तो पिता की जाति वाली होती थी और न माता की जाति की । ऐसी वर्णसंकर सन्तान की एक उपजाति बन जाती थी। इस प्रकार सवर्ण विवाह का प्रतिबन्ध न होने से असंख्य नई उपजातियाँ बनना सम्भव हो जाता है। धर्मशास्त्रकारों ने इनमें से कुछ की गणना की है और उनके व्यवसायों का निरूपण भी किया है। महाभारत में वर्णसंकर उपजातियों का परिचय इस प्रकार मिलता हैः –– शूद्र यदि द्विजाति स्त्रियों से सन्तान उत्पन्न करता है तो वह अत्यन्त निन्दनीय (चाण्डाल आदि) होती है। क्षत्रिय की ब्राह्मण जाति की स्त्री से उत्पन्न सन्तान 'सूत' होती है। सूत स्तुति करता था । वैश्य की ब्राह्मण स्त्री से संतान वैदेहक या मौद्गल्य कही जाती थी । शूद्र की ब्राह्मणी से उत्पन्न सन्तान चाण्डाल होती थी। वह गाँव के बाहर बसता था और प्राणदण्ड देने के लिए नियुक्त होता था । वैश्य का क्षत्रिया के गर्भ से उत्पन्न पुत्र बन्दी या मागध कहा जाता था । बन्दी लोगों की प्रशंसा करके अपनी जीविका प्राप्त करता था। शूद्र की क्षत्रिया से उत्पन्न सन्तान निषाद होती थी और मछली मारकर जीविका उत्पन्न करती थी। शूद्र की वेश्या से उत्पन्न सन्तान आयोगन होती थी और बढ़ई का काम करके जीविका चलाती थी। वर्णसंकरचाण्डाल की चारों वर्णों की स्त्रियों से उत्पन्न सन्तानं चाण्डाल से भी हीन कोटि की होती थी । चाण्डाल की निषादी से उत्पन्न सन्तति पाण्डुसौपाक जाति की होती थी और बेंसफोर का काम करती थी ।

धर्मसूत्रों और स्मृतियों में भी वर्गसंकर उपजातियों के नाम और व्यवसाय का उल्लेख प्रायः महाभारत की पद्धति पर ही मिलता है। इससे इतना तो सिद्ध ही होता है कि संकरता की उस युग में प्रचुरता भी कर जातियों के नाम पद और व्यवसाय विभिन्न ग्रन्थों में समान नहीं है। वैदेहक नामक वर्णसंकर उपजाति को दीवान, कौटिल्य, मनु, विष्णु, नारद, याज्ञवल्क्य आदि वैश्य पुरुष और ब्राह्मण स्त्री की सन्तान मानते हैं, पर गौतम उसे शूद्र–पुरुष और क्षत्रिय स्त्री की संतान बत– लाते हैं और वैखानस तथा उशना आदि उसे शूद्र पुरुष और क्षत्रिय स्त्री की सजान कहते हैं। मनु के अनुसार वैदेहक अन्तःपुर में स्त्रियों की देखभाल करता था। उशना और वैखानस ने वैदेहक को बकरी चढाने, गाय–भैंस पालने और मक्खन मलाई बेचने का काम दिया है। मूत संहिता के अनुसार पुल्कस (चाण्डाल) और देहरू में कोई अन्तर नहीं है। ऐसा प्रतीत होता है कि भिन्न स्थानों तथा युगों में विभिन्न शास्त्रकारों के लिए वर्गसंकर जातियों की मर्यादा विभिन्न रही है।

3.7 वर्णानुसार जीविका

प्रो. रामजी उपाध्याय जी प्राचीन भारतीय साहित्य की सांस्कृतिकम भूमिका में लिखते हैं– वैदिक काल के प्रारम्भिक भाग में चतुवर्ण व्यवस्था बहुत दृढ़ नहीं थी । उस युग में धन प्राप्त करने के चार प्रमुख साधन मन्त्रों की रचना करके यजमानों के – लिये यज्ञ करना, पशु–पालन, कृषि और शिल्प थे। प्रायः इन्हीं व्यवसायों में अधि– कांश जनता लगी हुई थी। उस युग में नित्य ही शत्रुओं से लड़ाई करने की आई ही रहती थी। कुछ वीर तो प्रधान रूप से दिन–रात शत्रुओं से भिड़ने की योजनायें बनाकर उसी में संलग्न रहते थे। आर्य वर्ग के सभी लोगों को अपनी योग्यतां के अकूल अपने लिये एक या अनेक व्यवसाय पुत्र लेने की सुविधा भी

उपर्युक्त व्यवसायों में कालान्तर में मन्त्रों की रचना करके यज्ञ करना और कराना सामाजिक उपयोगिता की दृष्टि से सर्वश्रेष्ठ माना गया। युद्ध करके शत्रुओं को पछाड़ना उससे थोड़ा ही हीन कर्म द्वितीय कोटि का समझा गया। कृषि और पशु–पालन समाज के भरण–पोषण के लिये सबसे अधिक महत्वपूर्ण रहे हैं, पर ये तृतीय कोटि में रखें गये। संभवतः इसका कारण यही था कि खेती के काने के लिये न तो अगाध पाण्डित्य और प्रतिभा की आवश्यकता थी और न वीरता की ही । कृषि और पशुपालन सभी वर्ग के लोगों ने अपनाया शिल्प शूद्रों के हाथ में व्यवसायरूप में रहा ।

कुछ समय के पश्चात् ऋग्वेद–युग के उत्तर भाग में जब वर्ण–व्यवस्था अधिक दृढ हुई तो वह कर्मानुसार बनी इस व्यवस्था के अनुसार किसी पुरुष का वर्ण उसके प्रधान कर्म के अनुसार निश्चित होता था। इस प्रकार प्रधान रूप से मन्त्र रचना करने वाला ब्राह्मण, शस्त्र धारण करके प्रजा की रक्षा करने वाला क्षत्रिय तथा कृषि और पशु–पालन करने वाला वैश्य हुआ। उपयोगी और ललित कलाओं को व्यवसाय–रूप में अपनाने वाला शूद्र हुआ ।

ब्राह्मण वैदिक काल का ब्राह्मण खेती और पशु–पालन भी करता था और आवश्यकता पड़ने पर शस्त्र भी उठा लेता था, पर वह शस्त्रजीवी नहीं कहा जा सकता, अपितु वह शास्त्रजीवी था। वैदिक ऋषियों को धन–धान्य सम्पन्न रहने की अभिलाषा रहती थी तिरीय संहिता के अनुसार तत्कालीन ऋषि पवित्र तेजस्वी, अन्नाद, इन्द्रियावी और पशुमान् होने के लिए यज्ञ करते थे। ऋषियों के आश्रमों में गायें रहती थीं और उनके बड़े विशाल क्षेत्र भी होते थे, जिनकी शस्य श्यामला धरती मनो– हर प्रतीत होती थी। पशु–पालन और कृषि में उनके शिष्य प्रायः सहायक होते ये तैत्तिरीय उपनिवृद के अनुसार तत्कालीन ब्रह्मश को अन्न, पशु और कीर्ति तीनों ही अलंकृत करते थे। निश्चय ही वह महान् कृषक और पशु–पालक होगा और साथ ही दार्शनिक भी। बृहदारण्यक उपनिषद् में आरुणि ने प्रवाण नामक राजा से कहा है कि मेरे पास सोना, गायें, घोड़े दासी और वस्त्र हैं। वैदिक काल के पश्चात् उच्च कोटि के ब्राह्मणों का कृ षि के प्रति झुकाव कम हो गया। बौधायन ने लिखा है–

वेद कृषि के विनाश के लिए हैं, और कृषि वेदों का नाश करने वाली है। व्यक्ति को अपनी शक्ति का अनुभव करना चाहिए और कृषि को त्याग देना चाहिए। धर्मसूत्र सूत्रकाल आते–आते ज्ञान का भण्डार इतना बढ़ गया कि ज्ञान की प्यास को पूर्णरूप से तृप्त करने की इच्छा रखने वाले व्यक्ति की खेती सूख जाती होगी और खेतों में मन लगाने वाले ब्राह्मण का वेद पाठ ही नहीं हो पाता होगा। ऐसे शक्ति– मान् विरले ही होते थे, जो खेती भी करते हों और वेद में पारंगत भी होते हो प्रायः ब्राह्मणों ने

खेती छोड़कर वेद की ओर रुचि दिखलाई, पर कुछ ऐसे ब्राह्मण अवश्य थे, जो हल जोतते थे। तभी तो बौधायन ने आगे चलकर कहा–प्रकृति नाश्ते से किसान है। प्रातःकाल कुछ खाने के पहले ही हल जोते।' बौद्ध साहित्य में ब्राह्मणों की खेती के प्रायः उलेख मिलते हैं। रामायण के अनुसार ब्राह्मण फालकुट्टाल–लांगली हो सकता था।''

महाभारत ब्राह्मण के किसी एक स्थान पर स्थायी रूप से रहने के पक्ष में नहीं है। 'अप्रवासी ब्राह्मण को पृथ्वी निगल जाती है–यह महाभारत का स्पष्ट मत है। इस मत से कम से कम इतना तो माना ही जा सकता है कि भ्रमणशील ब्राह्मण अपने व्यक्तित्व का विकास करते हुए दूसरों के व्यक्तित्व का विकास भी कर ही सकता था।

महाभारत युग में सिद्धान्ततः ब्राह्मण क्षत्रिय या वैश्य की वृत्ति नहीं अपना सकता था। क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र के काम उसके लिये त्याज्य बतलाये गये। फिर भी महाभारत–युग में द्रोणाचार्य जैसे योद्धाओं तथा आयोदधौम्य जैसे कृपक और पशुपालक ब्राह्मणों की संख्या स्वल्प नहीं थी। उस समय ब्राह्मणों के बैल दान दिये जाते थे ।'' अवश्य ही वे बैल उनकी खेती के काम में प्रयुक्त होते होंगे । अर्थशास्त्र के अनुसार राजा का कर्त्तव्य था कि वह ऋत्विक, आध्यात्मिक गुरुओं, पुरोहितों तथा वेदज्ञों को ब्रह्मदेय भूमि दे। (इस भूमि से राजकर नहीं लिया जाता था। इसमें बहुत अधिक पैदावार होती थी।) निःसन्देह वे ब्राह्मण खेती करते होंगे।

सूत्रकाल के बीतते ही ब्राह्मण को कृषि से विरत होने की सीख कुछ स्मृति– कारों के द्वारा दी गई। इस सम्बन्ध में कृषि का वेद – विनाशिनी होना तो कारण नहीं बताया गया, अपितु कहा गया कि कृषि में प्रारम्भ से अन्त तक प्राणियों का वध होता है । मनु ने कहा कि ब्राह्मण और क्षत्रिय आपत्तिकाल में वैश्य के काम को अपना लें, पर कृषि न करें क्योंकि उसमें प्राणीवध होता है और इसे करने पर परमुखापेक्षी होना पड़ता है।

मनु ने कृषि को अमृत (विशेष हिंसायुक्त) कहा है।'उपर्युक्त विधान बनने पर भी ब्राह्मणों का कृषि करना कभी रुका नहीं । अनेक परवर्ती धर्माचार्यों ने कृषि और पशुपालन को सभी वर्णों के लिये उचित व्यवसाय माना है, पर इतना तो निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि मनु के युग के पश्चात् ज्ञान के पिपाशु ब्राह्मण खेती से अलग ही रहे हो, जो ब्राह्मण खेती करते थे, ने जाति–युत कभी नहीं हुए।

मनु ने ब्राह्मण जीवन का जो चित्र खींचा है, उसके अनुसार निष्ठावान् ब्राह्मण कण या बाल चुन–चुन कर भोजन इकट्ठा करता हुआ देखा जाता होगा या बिना मां प्राप्त भोज्य पदार्थ से सन्तुष्ट रहता होगा निन्दनीय ब्राह्मणा माँग कर अथवा खेती करके जीविका प्राप्त करते होंगे। मनु के अनुसार अध्यापन, प्रतिग्रह, (दान), कृषि, पशुपालन तथा व्यापार इन छः कर्मों में से कुछ ब्राह्मण सभी छः को, कुछ प्रथम तीन को और कुछ प्रथम दो को तथा कुछ केवल प्रथम को अपनाते हुए जीवन–निर्वाह करते हैं पर सबसे अच्छा ब्राह्मण का जीवन है।

वह केवल अपनी यात्रा के लिए प्रसिद्ध होने के लिए अपनी गतिविधियों में लगा हुआ था।शरीर के लिए बिना किसी कठिनाई के धन संचय करना चाहिए। मनु 4.2

(केवल अपना काम भर चलाने के लिए अनिन्दित कर्मों के द्वारा अपने शरीर को किसी प्रकार का क्लेश न देते हुये धन–संचय करे।)

पराशरमत

ऐसा धन अधिक से अधिक तीन वर्ष तक की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये होना चाहिये, फिर भी सबसे अच्छा वह है, जो कल तक की आवश्यकता के लिये संचय करता है। '' संवर्त –स्मृति में ब्राह्मण के लिये हल और बैल की अलंकृत जोड़ी दान देने का अतिशय महत्त्व बतलाया गया है। साथ ही अन्न उपजाने वाली भूमि भी देने से असंख्य वयं स्वर्गवास की योजना प्रकल्पित की गई है।

ब्राह्मण को परमुखापेक्षी न रहने देने की जो योजना पराशर ने बनाई, उसके अनुसार ब्राह्मण षट्कर्म करता हुआ कृषि करवा सकता था।' यहीं तक नहीं, वह स्वयं हल भी जोत सकता था। ऐसे ब्राह्मणों के लिये पराशर ने आदर्श प्रतिष्ठित किया कि वे अपने ही जोते हुये खेत में उत्पन्न अन्न को स्वयं इकट्ठा करके उससे पंचमहायज्ञ और ऋतु–दीक्षा सम्पादन करें। पराशर के अनुसार यह तो ठीक ही है कि खेती के काम में पाप बहुत होता है, पर यज्ञ, त्याग, गो–सेवा आदि से ये पाप उसका स्पर्श तक नहीं करते ।

ब्रह्मण की कोटियां

ब्राह्मणों के व्यवसाय के सम्बन्ध में यद्यपि आदर्श उपस्थित किये जाते रहे, पर अन्य जातियों के व्यवसाय करने वाले ब्राह्मण सदा ही समाज में प्रचुर संख्या में रहे। ऐसे ब्राह्मण नाम के लिये तो ''ब्राह्मण'' बने रहे, पर उनके ब्राह्मणत्व के साथ जो विशेष जोड़े गये वे उनकी अप्रतिष्ठा के घोतक रहे। महाभारत में ब्राह्मणों को कर्मानुसार ब्रह्मसम, देवसम, क्षत्रसम, वैश्यसम आदि कोटियों में विभक्त किया गया। क्षत्रसम और वैश्यसम वे ब्राह्मण थे, जो जन्म से तो ब्राह्मण थे, पर उन्होंने प्रधान रूप से क्षत्रिय और वैश्यों के काम अपना लिये थे। अत्रि ने कर्म के आधार पर दस प्रकार के ब्राह्मणों का परिगणन किया है। इनमें से देव–ब्राह्मण तो जप–तप में लगे रहते थे, मुनि–त्राह्मण वनवासी होते थे और बन के मूल फल और साफ से जीविका निर्वाह करते थे, द्विजश्राह्मण दर्शनों के अध्ययन में सगे रहते थे, क्षत्र ब्राह्मण योद्धा थे, वैश्य –ब्राह्मण वैश्य के काम (कृषि, पशुपालन और व्यापार) करते थे, शूद्र ब्राह्मण लाख, नमक, रंग, दूध, घी, मधु–मांस आदि बेचते थे। निषाद– ब्राह्मण, चोर और डाकू थे, पशु ब्राह्मण केवल यज्ञोपवीत पहनते थे । उनको ब्रह्म से कुछ लेना–देना नहीं था। म्लेच्छ ब्राह्मण सार्वजनिक उपयोगिता की वस्तुओं को नष्ट कर देते थे और चाण्डाल ब्राह्मण निर्दय होते थे। उपर्युक्त श्रेणी विभाजन से यह सिद्ध होता है कि जाति की जन्मना सिद्धि होती थी और जाति तथा का कोई नाता व्यवहार रूप में सब के लिये नहीं था ।

श्रीमद्भागवत में ब्राह्मण के लिये ऋत, अमृत, मृत, प्रमृत और सत्यानृत नामक पाँच प्रकार के जीविकोपार्जन के साधनों का उल्लेख मिलता है। सिलोन्ड वृत्ति त है, बिना मांगी हुई प्राप्त शालीन जीविका अमृत है, जा–जाकर भिक्षा माँगी हुई यायावर जीविका मृत है, कृषि कर्म से प्राप्त वार्त्ता–जीविका प्रमृत है तथा व्यापार सत्यानृत है । नीच पुरुष की सेवा करना श्ववृत्ति है। इनमें से उत्तरोत्तर वृत्तियाँ हीन हैं। अन्तिम वृत्ति को तो अपनाना ही नहीं चाहिये ।''

पद्मपुराण में ब्राह्मणों की जीवन–वृत्ति का व्यावहारिक चित्रण मिलता है। इसके अनुसार ब्राह्मण की सर्वोच्च वृत्ति की विशेष प्रतिष्ठा तो है, पर साथ ही अन्य जातियों के योग्य कामों को भी ब्राह्मणों के लिए समुचित ठहराया गया है। सबसे अच्छी शिलोवृत्ति मानी जाती थी।''

अत्रि के अनुसार ज्योतिषी, अथर्ववेद के अभ्यासी, पुराण पाठक, भेड़ पालने वाले, चित्रकार, वैद्य, नक्षत्रपाठक आदि व्यवसायी ब्राह्मण हीन कोटि के माने जाते थे। यज्ञ में आये हुए ब्राह्मणों को यज्ञ के समाप्त हो जाने पर जो दक्षिणा मिलती श्री. वह भी अच्छी वृत्ति मानी जाती थी अध्यापन और यज्ञ कराने की दक्षिणा भी उचित मानी गई। इसी प्रकार अन्य माङ्गलिक शुभ कर्म कराने पर भी यजमानों से दक्षिणा लेने में किसी प्रकार की बुराई नहीं मानी गई। फिर भी इतना तो स्पष्ट रूप से कहा गया कि शास्त्र के द्वारा जीविका चलाने वाले तथा वृक्ष और लताओं के सहारे अपनी जीवन–वृत्ति सम्पादित करने वाले लोग धन्य हैं।

पद्मपुराण में ब्राह्मणों के लिए अपनी उपर्युक्त वृत्ति के अभाव में क्षत्रिय तथा वैश्यवृत्ति से जीवन निर्वाह करना उचित माना गया है। न्याय–युक्त युद्ध में लड़ना, धनुर्वेद का अभ्यास करना तथा युद्ध में मर कर स्वर्ग में जा पहुँचना ऐसे ब्राह्मण के लिए कर्तव्य ठहराये गए। इस प्रकार वेद और धनुर्वेद के सामंजस्य की कल्पना इस पुराण में पल्लवित की गई है। क्षत्रिय का काम करते हुए ब्राह्मण का राजा से धन पाना बुरा नहीं माना जाता था। वैश्यवृत्ति वाला ब्राह्मण व्यापार अथवा खेती करा सकता था, पर वह स्वयं इस काम में नहीं लग सकता था। वह खेती के काम में हल जोत सकता था, बैल चरा सकता था और गोशाला स्वच्छ कर सकता था। इस पुराण में ब्राह्मण के लिए क्षत्रिय या वैश्य वृत्ति अपना लेने पर भी ब्राह्मणोचित कर्मों को न छोड़ने की शिक्षा दी गई है। ऐसी योजना ब्राह्मणों में अपने पैर पर खड़े होने की शक्ति देने के लिए थी। मार्कण्डेय पुराण के अनुसार यज्ञ कराना, विद्या पढ़ाना और पवित्र दान लेन ब्राह्मण की जीविकायें हैं ।

स्कन्द पुराण में ब्राह्मणों की वृत्तियों का निदर्शन करते हुए कहा गया है कि ब्राह्मण वेद बेचते हैं, दूसरों से दान लेने में आसक्त रहते हैं, वैश्यों की भाँति कृषि और पशुपालन में लगे रहते हैं। ऐसी परिस्थिति उस समय नामधारी ब्राह्मणों की थी। इस पुराण में दो प्रकार के ब्राह्मण माने गए हैं––जाति से और कर्म से । वास्तविक ब्राह्मणों के विषय में कहा गया है कि उनकी जीविका द्विजों को पढ़ाने और थोड़ा–सा दान लेने से चलती है । ब्राह्मण अपनी तपस्या के द्वारा दान लेने में– समर्थ होता है, तो भी उसे दान स्वीकार नहीं करना चाहिए। जो ब्राह्मण गोरक्षा, वाणिज्य, शिल्प अथवा सेवा के द्वारा जीविका प्राप्त करते थे, वे शूद्रवत् समझे जाते थे। इसी युग में कुमारिल (७०० ई० के लगभग) ने तत्कालीन उत्तर भारत के ब्राह्मणों के सम्बन्ध में लिखा है कि वे लोग घोड़े, खच्चर तथा गदहों का व्यापार करते हैं।

बौद्ध साहित्य में भी कर्तव्य–पथ से च्युत बाह्मणों का परिचय मिलता है। 'दसब्राह्मण जातक' में चिकित्सक, परिचारक, निग्राहक (कर उगाहने वाले), भिखमंगे व्यापारी, अम्यष्ट (खेती करने वाले पुरोहित आदि ब्राह्मणों की कोटियों दी हुई हैं। बात' में कृ षक शिल्पिक व्यापारी, योधाजीवी, याजन, राजन्य आदि ब्राह्मणों की कर्मानुसार थेणियां बताई गई है। अंगुत्तर के अनुसार ब्रह्मसम देवसम, समर्याद, संभिन्नमर्याद और ब्राह्मण चाण्डाल पाँच प्रकार के ब्राह्मण थे। ब्रह्मम ब्राह्मण विहान होते थे और तपोमय जीवन बिताते थे उनकी जीवनवृत्ति शिलोञ्छ कही जा सकती है। वे प्रायः आचार्य होते थे और जीवनभर अविवाहित रहते थे। देवसम ब्राह्मण ब्रह्मचर्याश्रम के पश्चात् विवाह करते थे। समर्याद ब्राह्मण गृहस्थाश्रम के पश्चात् वानप्रस्थाश्रम नहीं अपनाते थे। वे जीवन भर गृहस्थ ही रह जाते थे भिमपदि किसी वर्ष की कन्या से विवाह करके भोग–विलास का जीवन विताते थे । ब्राह्मण चाण्डाल से कोई काम बचता नहीं था। वे सभी वर्णों के अच्छे–बुरे भी काम कर लेते थे। नन्दिय जातक के अनुसार तक्षशिला में अध्ययन

करने के पश्चात् एक ब्राह्मण मृगया से जीविका चलाता था। वैदिक काल में पौरोहित्य का ऊँचा स्थान था । राजाओं के लिये पुरोहितसब से अधिक उपयोगी समझा जाता था और वह राष्ट्र के अभ्युदय के लिये सतत उद्योग और यज्ञ किया करता था। सूत्रकाल में भी पुरोहित केउच्चपद की झलक मिलती है । गौतम ने लिखा है कि जो उच्चपौरोहित्यकोटि का ब्राह्मण विद्या, अभिजन, वाव, रूप, वय और शील समायुक्त हो तथा जो न्याय वृत्त का तपस्वी हो, उसे पुरोहित बनाना चाहिए। से इससे ज्ञात होता है कि उस समय तक उच्च कोटि के ब्राह्मण इस काम को अपना लेते थे। प्रारम्भिक वौद्ध युग में भी पुरोहितों का समाज में ऊंचा –स्थान था।मनु ने पौरोहित्य कर्म को अत्यन्त निन्दित सिद्ध किया है और नियम बनाया कपू (संघों) तथा गणों के पुरोहितों को श्राद्ध में भोजन देने के लिए नहीं बुलाना चाहिए।

श्रीमद्‌भागवत के अनुसार ब्राह्मण का धन तो तो वृत्ति के द्वारा ही होता है । उसीसे उसके सभी सत्कार्य सिद्ध होते हैं। केवल दुर्मति ही पुरोहित बन कर प्रसन्न हो सकता है। यह कार्य निन्दनीय माना गया और कोई तत्त्वदर्शी इसे अपने हाथ में लेना नहीं चाहता था। ’

तुलसीदास ने पौरोहित्य कर्म को ब्राह्मण के लिये अत्यन्त निकृष्ट बताते हुए कहा है–

पुरोहित की क्रिया बहुत धीमी होती है, वेदों और पुराणों को याद करना और उनकी निंदा करना। ''उपनिषद् काल से ही दार्शनिक विचारधाराओं की प्रगति होने पर तथा दीव और वैष्णव धर्मों का विकास होने पर समाज में वैदिक कर्मकाण्ड और यज्ञों की प्रतिष्ठा कम हो गई। पुरोहितों को धन की प्राप्ति होती थी किन्तु ब्राह्मण के लिए धन पाने का प्रत्येक काम अनुचित मानकर निन्दनीय ठहराया गया था। ऋषियों का ऐसा विचार था कि धन आध्यात्मिक प्रगति के मार्ग में बाधक है। ऐसी परिस्थिति में पौरोहित्य की प्रतिष्ठा कम हो गई।यों तो सदा ही समाज में कुछ लोग जीविका के उपार्जन में असमर्थ होकर भिक्षुक बनते हैं, पर ब्राह्मण जाति के लिए भिक्षावृत्ति को अपना लेना बहुत कुछ उसकी आलस्य बुद्धि का परिचय देता है। कुछ अंश तक भिक्षा और दान भारतीय धर्म भी इसका कारण रहा है। महाभारत–युग से लेकर आज तक ब्राह्मणों को दान देना स्वर्ग प्राप्त करने के लिये तथा पाप धोने के लिए साधन माना गया। यद्यपि पुराणों और स्मृतियों में वारंवार कहा गया है कि उच्च कोटि के सदाशय, सच्चरित्र और विद्वान् ब्राह्मण को ही दान देना चाहिए और दान का पात्र योग्य होना चाहिए, फिर भी ऐसे धर्माचार्य सदा रहे हैं, जिन्होंने आचारहीन ब्राह्मणों को भी पूज्य और दानयोग्य पात्र प्रतिष्ठित किया है । साधारण जनता किसी ब्राह्मण के ज्ञान और आचार की परख कहाँ कर सकती है ? ऐसी परिस्थिति आलसी ब्राह्मणों के लिए अनुकूल सिद्ध हुई और उन्होंने भिक्षावृत्ति द्वारा अपने जीवन निर्वाह की योजना अपना ली।वैदिक काल में ब्रह्मचारियों के अतिरिक्त और कोई भिक्षाटन नहीं करता था।' महाभारत–युग में भी केवल ब्रह्मचारियों का ही भिक्षा मांगना प्रचलित था। इस ग्रन्थ के अनुसार केकय नामक राजा ने अपने राज्य के सम्बन्ध में कहा है :–वह ब्रह्मचारी नहीं है, भिक्षुक नहीं है, या साधु नहीं है जो ब्रह्मचारी नहीं है।

(कोई भी भिक्षुक ऐसा नहीं है, जो ब्रह्मचारी न हो ।) संभवतः राजा की ओर से ऐसा नियम बना हो कि समर्थ पुरुष भिक्षा की याचना न करे । आपस्तम्ब धर्मसूत्र के अनुसार स्नातक के द्वारा आचार्य को दक्षिणा देने के लिए अथवा अपने विवाह के लिए यज्ञ के लिए, तथा माता–पिता के भरण–पोषण के लिये भिक्षा माँगी जा सकती है। यदि कोई अलसी मनुष्य अपनी तृप्ति के लिए भिक्षा मांगे तो उसे भिक्षा देना पाप है हां, मांग कर दीन–हीन लोगों को देना उचित काम है। ऐसी व्यवस्था को देखने से

यही परिणाम निकलता है कि अभी तक भिक्षा व्यवसाय के रूप में नहीं चल सकी थी। वसिष्ठ ने भी कुछ विशेष परिस्थितियों में ही भिक्षा को उचित बताया है 'जब कोई मनुष्य भूखा हो तो अपनी दीनता को सदा के लिए दूर करने के लिए खेत या पशु की याचना कर सकता है।'' अंगिरा ने रोगी, वृद्ध, दीन–हीन तथा पथिकों को ही भिक्षा माँगकर अपनी आवश्यकता की पूर्ति करने का नियम बनाया है।मन् ने यज्ञ करने के लिए भिक्षा द्वारा धन इकट्ठा करने की अनुमति दी है, पर यज्ञ करते हुए उस भिक्षा के धन से कुछ भी बचा लेना महापातक बताया है । भिक्षा और दान का निकटतम सम्बन्ध है । अयाचित प्राप्त धन दान है।याचित होने पर वही भिक्षा है। यों तो ऋग्वेद–युग से ही दान की अतिशय महिमा का वर्णन मिलता है, पर संभवतः उस दान का विधान तत्कालीन समाज की व्यवस्था को दृष्टि पथ में रख कर किया गया था। उस समय समाज में कुछ लोग ऐसे थे, जो दूसरों के धन को दान रूप में ग्रहण करके ही अपनी जीविका चलाते थे अथवा अपनी आर्थिक आवश्यकताओं की पूर्ति करते थे। उपनिषद्–काल में भी बान का उपर्युक्त रूप ही मिलता है। दान को धर्म का स्कन्ध माना गया। उस समय के ब्राह्मण यज्ञ, दान और तप से आत्मा को जानने की इच्छा करते थे। इन प्रकरणों से प्रतीत होता है कि ब्राह्मण का धर्म या दान देना न कि लेना । मनु ने दान के विरोध में अपने मत का प्रतिपादन करते हुए कहा है–यहां तक कि अगर आप भेंट स्वीकार करने में सक्षम हैं, तो भी आपको इस अवसर से बचना चाहिए। इसे ग्रहण करने से ब्रह्म का तेज तुरंत क्षीण हो जाता है। 186 (यदि कोई ब्राह्मण बाण लेने में समर्थ हो तो भी उसे दान में नहीं डालना चाहिए और न ही दान लेकर उस ब्राह्मण से ब्रह्मतेज की इच्छा करनी चाहिए।शीघ्र ही नष्ट हो जाता है।) मनु ने कहा है कि स्वर्ग, भूमि, घोड़ा, गाय, अन्न, सुगन्धि, द्रव्य, तिल और घी को दान रूप में लेने वाला अविद्वान् ब्राह्मण लकड़ी की भाँति जल जाता है । वह नरक में जा गिरता है। '

पराशर ने दान की प्रतिष्ठा का उद्घाटन करते हुए विभिन्न कोटि के दानों का पर्यालोचन किया है :– –उत्तम दान को स्वीकार करो और मध्यम दान को बुलाओपहला, किसी भिखारी को सेवा देना व्यर्थ है।

(दाता स्वयं जब किसी योग्य व्यक्ति के पास जाकर दान देता है, तो वह उत्तम होता है। यदि उस व्यक्ति को अपने यहाँ बुलाकर देता है तो यह मध्यम कोटि का दान है। जो दान माँगने पर दिया जाय अर्थात् भिक्षा अधम कोटि की है। सेवक को दिया हुआ दान निष्फल ही है।)

अयोग्य ब्राह्मण

योग्य ब्राह्मण को समाज भोजन, वस्त्र आदि का दान देने के लिए लालायित रहता था। पराशर के अनुसार गाँव में व्रतहीन और अनधीयान ब्राह्मण यदि भिक्षा माँगता मिले तो उस पूरे गाँव को दण्ड दे, क्योंकि वह गाँव चोरों को भोजन देता है। अयोग्य ब्राह्मण को भिक्षा तक लेने का अधिकार नहीं। स्मृतिकार ने उल्लेख किया है–

एक ब्राह्मण का चेहरा बिना रूप या कांटों के एक क्षेत्र है कि कृषि सारे बीजों को भाप दे और अपनी सभी मनोकामनाएं पूर्ण करे भागवत के अनुसार दान लेने से ब्राह्मण के तप, तेज और यश तीनों ही नष्ट हो जाते हैं, फिर भी दान को ब्राह्मण की जीविका का साधन तो कहा ही गया है।

क्षत्रिय

क्षत्रिय का दूसरा नाम वैदिक काल से ही राजन्य रहा है। इस नाम से इस जाति के राजा होने की अभिव्यक्ति होती है। क्षत्रिय वीर प्राचीन काल में बाहु–वल तथा पराक्रम के द्वारा अपने लिए या तो राज्य की स्थापना कर लेते थे अथवा किसी राजा के राज्य में अपने क्षात्र वल से शान्ति और सुरक्षा की प्रतिष्ठा करने के लिए सैनिक बन जाते थे । शासन–सूत्र के संचालन में क्षत्रियों की बुद्धि और शक्ति का उपयोग होता था । क्षत्रिय राजा तो प्रजा से विविध प्रकार का कर लेते थे और क्षत्रिय सैनिक या राजपुरुष राजा के वेतन भोगी होते थे।क्षत्रिय तथा वैश्यों की सेवा–शुश्रूषा करते हुए उन्हीं के कुटुम्ब का सदस्य बनकर उन से भोजन वस्त्र आदि पाता था। बहुत से शूद्र वन– प्रदेश में मृगया आदि करते हुए वन्य जीवन बिताते थे साधारणतः लोगों की धारणा है कि शुद्ध को ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य की सेवा करनी चाहिए। इस प्रकरण में सेवा शब्द का अर्थ सुदूर प्राचीन काल से ही वे शिल्प और कार–कर्म हैं, जिनका उपयोग समाज के उच्च वर्ग के लोग करते आये हैं। स्वयं मनु ने इस विषय की विशद व्याख्या करते हुए लिखा है कि शूद्र उन सभी काल–कर्म और शिल्पों को करे, जिनके करने से द्विजातियों की सेवा होती है।' शिल्पों को व्यवसाय रूप में अपनाने वाला द स्वतन्त्र और समृद्ध था।

शूद्रों की स्थिति समाज में चारों वर्गों के पारस्परिक सम्बन्ध की चर्चा करते हुए हम देख चुके हैं कि शूद्रों की ओर से कभी असन्तोष की अभिव्यक्ति होने का कोई कारण नहीं था असन्तोष समाज में तब होता है, जब किसी प्रकार की आधिभौतिक या '1 आध्यात्मिक उन्नति के मार्ग में जान–बूझ कर कोई रुकावट डाले। जहां तक भारतीय समाज का सम्बन्ध रहा–शूद्रों को मोक्ष प्राप्त करने के लिए जो मार्ग निर्धारित किया गया, यह उच्च वर्णों के मोक्ष मार्ग को अपेक्षा सरल और सुसह था। धर्म के क्षेत्र में यदि आध्यात्मिक अभ्युदय ब्राह्मण को दस गुने तप से प्राप्य था तो वह शूद्र को केवल राम–नाम रहने से ही सम्भव था रही आधिभौतिक प्रगति की बात प्राचीन भारत में आधिभौतिक के लिए उतनी छीना–झपटी नहीं थी, जितनी आज–

इस धारणा के लिये आधार गौतम के धर्मसूत्र में मिलता है, जिसके अनुसार शूद्र को अपनी जीविका केवल उच्च वर्ण के लोगों से प्राप्त करनी चाहिए। वह उनके शेष भोजन को खाकर तथा उनके पुराने वस्त्र और जूते पहन कर अपना जीवन बिताये। गौतम धर्मसूत्र १०.५७–५६ तक फल। ब्राह्मण ज्ञान–विज्ञान का अधिष्ठाता होते हुए अपनी शक्तियों के द्वारा सर्व विथ सम्पत्तियों को अधिकार में करने की क्षमता रखते हुए भी अपरिग्रह का व्रत अपनाता था। क्षत्रिय राजां भी वृद्ध होने के पहले ही बानप्रस्थ के द्वारा अपरिग्रही बन जाते थे। जिस धन से सर्वोच्च वर्ग विमुख हो रहा था, उस ओर शूद्र ही प्रवृत्त होता, यह कैसे सम्भव था? फिर भी धनी बनने के लिए शुद्ध को सावन समुपलब्ध थे। वास्तव में प्राचीन भारत में उत्पादक वर्ग था शूद्र। उत्पादकों के संघ होते थे। शूद्र–वर्ग के पास अतुल धनराशि थी। सभी शिल्प के काम तो उन्हीं के हाथ में थे ।उच्च कोटि का आध्यात्मिक ज्ञान शुद्रों को प्राप्य था।' पुराणेतिहास आदि तो शुद्र पेड़ ही सकते थे। बौद्ध दर्शन और धर्म की शिक्षा उन्हें निर्वाध मिल सकती वो अनेक शूद्र सदा ही उच्च कोटि के शानी विज्ञानी हुए हैं। शूद्रों को यन्त्र–विद्या की शिक्षा का सर्वाधिकार प्राप्त था। चित्रकला, स्थापत्यकला, मूर्तिकला आदि व्यवसाय रूप में उनके अतिरिक्त कोई नहीं अपना सकता था।हम आज जो शूद्रों के वेदादि पढ़ने के निषेध को प्राचीन हिन्दू समाज का अभिशाप समझ बैठे हैं, उसका कारण यह है कि पढ़ने–लिखने से आधिभौतिकता की दृष्टि से मनुष्य का जीवन स्तर उच्चतर हो जाता

है। प्राचीन काल में स्थिति इसके ठीक विपरीत थी। यदि कोई बेबादि पड़ लेता था तो उससे आशा की जाती थी कि वह अपरिग्रह और त्याग की प्रतिमूर्ति बनेगा । शूद्र इसके लिए तैयार नहीं थे । अतएव उनके वेद पढ़ने पर प्रतिबन्ध लगाया गया। जब वैश्यों में भी त्याग और अपरिग्रह की कमी देखी तो उनका भी वेद पढ़ना निषिद्ध हुआ। वास्तविक स्थिति तो इस प्रकार थी—वेद कृषि के विनाश के लिए हैं, और कृषि वेदों का नाश करने वाली है।फिर भी शूद्र और चाण्डालों में से कुछ लोग दार्शनिक और महान विचारक हुए हैं। कृष्ण ने गीता में ऐसे शूद्रों को परम गति (मोक्ष) का अधिकारी बताया . है, जो उनका आश्रय लेते हैं।

छान्दोग्य उ० के अनुसार रैक्व नामक शूद्र विदेशों में प्राचीन काल में क्या पढ़ना—लिखना सबके लिए विहित का यह जानकर ही भारतीय व्यवस्था की आलोचना करना समीचीन रहेगा। चाइल्ड ने योरप के विषय में लिखा है :—

Till quite recently reading and writing have been mysteries revealed only to a minority of initiates in any society- In Christian Europe] despite the recognition of the Bible as a sacred book] literacy was in practice virtually restricted to the church-

इस स्थिति से तुलना करते हुए केलें कि भारतीय समाज में कितनी उदारता शान की सबके लिए सुलभ बनाने की दिशा में भी भारत ने तो चाण्डालों को भी ऋषि वन जाने की सुविधा दी है।

क्या शूद्र राजा हो सकते थे ?

ऐतिहासिक प्रमाणों के आधार पर सिद्ध किया जा सकता है कि भारत में २५: राजा सदैव शूद्र ही रहे हैं। वास्तव में राजा होने के लिए क्षत्रिय होना कभी आवश्यक नहीं रहा। स्कन्द पुराण के अनुसार आनर्त देश के शूद्र राजा की कन्या ने तपस्या की और उसके नाम पर वास्तुपाद तीर्थ का नाम शूद्री तीर्थ पड़ा ।ह्वेनसांग ने भारतीय राजाओं की गणना करते हुए बताया है कि सिन्ध—प्रदेश का राजा शूद्र है। मतिपुर के राजा को ह्वेनसांग ने शूद्र बताया है।''महाभारत और रामायण में अगति शूद्र राजाओं के उल्लेख मिलते हैं। महाभारत के दिग्विजय प्रकरणों में इन शूद्र राजाओं की चर्चा विस्तार से मिलती है।'' रामायण में निषाद राज प्रसिद्ध है। गुह नामक निषाद राज कोसल और गंगा के बीच के प्रदेश का शासन करता था। उसके पास सेना, कोश, दुर्ग और जनपद आदि राज्याङ्ग थे।

उपर्युक्त विवेचन से यह नहीं समझ लेना चाहिए कि प्राचीन भारत में धर्मान्ध प्रदेश नहीं थे। ऐसे धर्मान्ध प्रदेशों में शूद्रों के विरोध में कुछ रीतियाँ ऐसी भी प्रचलित थीं, जिन्हें अमानवीय ही कहना उचित होगा। फिर भी इतना तो निर्विवाद है कि आज भी आस्ट्रेलिया, अमेरिका और अफ्रीका आदि में आदिवासियों की जो स्थिति है, उससे सौ गुनी अच्छी स्थिति प्राचीन भारत में शूद्रों या चाण्डालों की रही है । वे हमारी सामाजिक व्यवस्था के अभेद्य अंग तो थे ही।

अस्पृश्यता

अस्पृश्यता का जो भयावह रूप बीसवीं शती के परतन्त्र भारत में था, वह बहुत कुछ प्राचीन नहीं, अपितु नया रोग कहा जा सकता है। जहाँ तक अस्पृश्यता किसी पापी या दुराचारी को दण्ड देने के विधान रूप में है या स्वास्थ्य या स्वच्छता की रक्षा के लिए

है यह सब का समर्थन प्राप्त करने के योग्य कही जा सकती है।

भारत की प्राचीन अस्पृश्यता प्रायशः इस आधार पर थी भी, परन्तु किसी व्यवसाय को अपनाने के कारण किसी जाति से सम्बद्ध होने पर कोई व्यक्ति अस्पृश्य हो जाय —— यह विधान कभी माननीय नहीं होना चाहिए था।

अस्पृश्यता का विधान शरीर से स्पर्श करने के अर्थ में प्रायः कम ही रहा है। इसकी सीमा भोजन और पान तक विशेष रूप से व्याप्त थी भोजन और पान के ग्रहणीय होने के सम्बन्ध में शास्त्रानुसार चाण्डाल, शूद्र और राजा आदि आते थे। इनमें से राजा का भोजन—पान सो आर्थिक प्रलोभन वश शास्त्र विरुद्ध होने पर भी ब्राह्मणादि ने ग्रहण कर लिया।

उपर्युक्त चतुर्वर्ग के व्यवसाय की व्यवस्था साधारणतः सदा प्रचलित रही, पर इसका प्रतिबन्ध कभी कठोर नहीं रहा अनेक वैश्य और शूद्र राजा हो हुने हैं, तथा वैश्य और शूद्रों की सेनायें भी युद्ध भूमि में लड़ती थीं। वैश्य और शूद्र अपने—अपने व्यवसाय की शिक्षा भी देते थे। उनके कला भवनों में कलायें सीखने के लिए दूर—दूर से से ही विद्यार्थी आते थे, जैसे ऋषियों के आश्रमों में दार्शनिक तत्वों की खोज में ज्ञान के पिपासु ।

3.8 सारांश

वैदिको द्वारा वर्णाधिकार की कुछ सीमाएँ ऐसी थी जिन्हें विस्तार करने करने की जब—जब आवश्यकता पड़ी इसका विस्तार किया गया है, वर्ण—व्यवस्था एक गतिशील अवधारणा है। पुराण ने भक्ति को आधार बनाकर वर्ण समानता की स्थापना किया गया पुराणों का स्वरूप समन्वयकारी है। भक्ति में भगवान् के भक्त सभी समान है। विष्णुपुराण, शिवपुराण में मुख्य रूप से दीक्षा, मंत्रदीक्षा तीर्थ यात्रा, मंत्रजप, देवपूजा, भजन, कीर्तन इत्यादि में सभी का अधिकार है। पुराण में धर्मव्याध की कथा तथा मूक चाण्डाल की कथाएँ इस तथ्य को उल्लेख करती है कि वर्ण—व्यवस्था गुण पर आधारित है। उच्च कर्म करके सामान्य व्यक्ति भी उच्च पद को प्राप्त कर सकता है। विष्णु पुराण ने कलियुग में शूद्र को विशेष स्थान पर रखा है। भक्ति में सेवा भाव से मुक्ति शीघ्र प्राप्त होता है। महाभारत में कई ऐसे कथानक है। व्यवसाय में संलग्न रहने के कारण सबके प्रिय होते थे। ह्वेनसांग के विवरण में शूद्र राजा का उल्लेख है। इस प्रकार के उल्लेख रामायण और महाभारत में भी मिलते हैं। जहां तक अस्पृश्यता की बात हैं यह रोग भारतीय इतिहास में बिल्कुल नया है। भारत की चार वर्ण और असंख्य जातियां और उपजातियां बनी किन्तु इन सभी में सदैव एकमुखता रही है।

अब इस ईकाई में वर्णित विषय सामग्री को संक्षेप में प्रस्तुत किया जा रहा है। भारतीय समाज की पारम्परिक संरचना वर्ण—व्यवस्था में परिवर्तित हुई जाति व्यवस्था का विकास अनेक उपजातियों में हुआ। जातियों उपजातियों का यह स्वाभाविक विकास का आधार आर्थिक क्रियाकलाप तथा वैवाहिक सम्बन्धों, कौटुम्बिक संगठन द्वारा विकसित होता रहा। हमने पढ़ा कि वर्णाधिकार का आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक तथा धार्मिक स्वरूप सदैव एक गतिशील स्थिति में रहा। विभिन्न वर्ण, जाति, उपजाति के आपसी सम्बन्धों का प्रतिफलन एक तरफ सामाजिक न्याय, समता, आर्थिक एवं सामाजिक सहकार का था तो दूसरी तरफ एक दूसरे के पूरक होते हुए अध्यात्मिक उन्नति को प्राप्त करना था। वैदिक व्यवस्था में यज्ञकर्त्ता से यह अपेक्षा थी कि वह आर्थिक मामलों

से विरत रहे। अतः सेवा कार्य तथा उत्पादन कार्य में संलग्न मानव समूह को यज्ञ से पृथक रहने की सलाह दी गयी जैसे–जैसे समाज के समक्ष नई–नई चुनौतियाँ आई वर्णों का अधिकार क्षेत्र एक दूसरे में अतिक्रांत होता गया। आगमों, पुराणों तथा योग ग्रन्थों के अध्ययन से ज्ञान होता है कि समाज में सेवा कार्य तथा उत्पादन कार्य में लगे हुए व्यक्तियों तथा स्त्रियों को मंत्र, जप, दीक्षा, पूजा विधान में समान अधिकार प्राप्त था तथा कहीं कहीं तो उन्हें विशेष लाभ भी प्राप्त होता था जैसे विलुप्त हो रहे साधना सम्प्रदाय की पुनः प्रतिष्ठा स्त्री गुरूओं द्वारा अल्प समय में होती है। यह आगमिक परम्परा में उल्लिखत है। इसी प्रकार हमने पढ़ा कि योगदर्शन में मानव जीवन की सामाजिक स्थिति का निर्धारक पूर्वजन्म के कृत्य है न कि प्राप्त जीवन की धार्मिक, सामाजिक एवं आर्थिक दशाएं। ब्राह्मण कुल का व्यक्ति भी निम्न दिशा को प्राप्त हो सकता है तथा अन्य कुल के व्यक्ति भी उच्च दशा को प्राप्त हो सकते है।

इस प्रकार पुराण आगम की परम्परा में हमें भारतीय वर्णव्यवस्था में समतामूलक समाज का दर्शन होता है।

3.9 पारिभाषिक शब्दावली

3.10 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. पातंजलि योगसूत्र, गीताप्रेस, गोरखपुर
2. विष्णुपुराण, गीताप्रेस, गोरखपुर
3. अन्त्योजद्धारविधि, पं मदन मोहन मालवीय
4. सनातन धर्म, प्रदीपकः, पं मदन मोहन मालवीय
5. शूद्र विमर्श, राकेश कुमार उपाध्याय
6. प्राचीन भारतीय साहित्य की सांस्कृतिक भूमिका, प्रो. रामजी उपाध्याय, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 1966

3.11 बोध प्रश्न

1. समाज में समानता और बन्धुता स्थापित करने में योग, आगम तथा भक्ति परम्परा के सिद्धान्तों की विवेचना कीजिए।
2. प्राचीन भारत में वर्णों के सहकार सम्बन्धी दृष्टान्तों के आधार पर वर्णव्यवस्था की विवेचना कीजिए।
3. प्राचीन जाति वंशानुगत–व्यवस्था व्यवसाय पर आधारित होने के कारण समाज में आर्थिक सुरक्षा प्रदान करता था, इस कथन की पुष्टि कीजिए।
4. आगम में वर्णित स्त्री तथा शुद्रों के विशेषाधिकारों का वर्णन कीजिए।

इकाई 4 जाति की आयातित संकल्पना

इकाई की रूपरेखा

4.0 उद्देश्य

भारतीय समाज को जानने व समझने के लिए जाति को समझना आवश्यक माना जाता है, और समाज भारत के विद्यार्थी इसको एक महत्वपूर्ण पहलू के रूप में दर्शाते हैं। परन्तु इस इकाई में जाति जो कि हिन्दी भाषा का प्रचलित शब्द है और कास्ट जो कि अंग्रेजी में इसके अनुवाद के रूप में देखा गया है के अन्तर को प्रयोग करते हुए यह समझने का प्रयास करेगा कि कैसे जाति की जो संकल्पना हम प्रयोग कर रहे हैं वो विदेशी है और बाहरी सोच और शिक्षा पद्धति का दिया हुआ है।

'कास्ट' शब्द का उपयोग इस इकाई में आयातित संकल्पना के लिए किया जायेगा। जबकि जाति शब्द को भारतीय विचार के लिए सुरक्षित रखते हुए तुलना के लिए उपयोग में लायेंगे। इस अन्तर को ध्यान में रखते हुए हम इस इकाई में:

1) जाति की आयातित संकल्पना के जन्म पर ध्यान देंगे और इसमें निहित अवधारणा को समक्ष सकेंगे;
2) इस आयातित कास्ट शब्द को स्थापित करने में पश्चिमी विचारकों की भूमिका को रेखांकित कर पायेंगे;
3) इस कास्ट आधारित सामाजिक व्याख्या की आलोचना को समक्ष पायेंगे ताकि इसकी निहित कमियों को ठीक किया जा सके।
4) कास्ट की आयातित परिकल्पना के लिए सम्भव विकल्पों की समझ के साथ बाहरी व्याख्या को समाप्त करते हुए अपनी सामाजिक व्यवस्था को सुदृढ़ कर सके ऐसा विचार को समझेंगे।

4.1 प्रस्तावना

बाहरी विद्धानों ने कास्ट शब्द का उपयोग भारत में सामाजिक सम्बन्धों को समझने के लिए लेकिन यह एक निरपेक्ष शब्द के रूप में नहीं आया। इस शब्द को आरम्भ से ही

एक एजेन्डा और नस्लीय वर्गीकरण के हथियार के रूप में प्रस्तुत किया गया।

कास्ट शब्द की व्युत्पति पुर्तगाली भाषा से जुड़ी हुई है जिस पर आगे चर्चा होगी लेविन इसको प्रचलित करने में अंग्रेजी विद्धानों का ज्यादा प्रभाव रहा है।

भारत के समाज को उन्होंने कास्ट से इस तरह जोड़ा जैसेकि यह केवल भारतीय जीवन का विशिष्ट आयाम है और हिन्दू धर्म से जुड़ा हुआ है।

उन्होंने इसको पारंपरिक भारतीय हिन्दू समाज के मुख्य लक्षण के तौर पर प्रस्तुत किया और इस बात पर जोर दिया कि कैसे 'कास्ट' हिन्दू समाज को पश्चिमी समाजों से अलग कर देता हैं।

कास्ट को समझने में इन विद्वानों ने हालांकि भारतीय परम्परा में निहित वेद–शास्त्रों के ज्ञान का ही उपयोग किया जिसे हम 'पुस्तकीय दृष्टिकोण' कहेंगे, पर यह उपयोग पश्चिमी ज्ञानमीमांसा के प्रभाव में पढ़ी गयीं और अलग अर्थों में इनकी व्याख्या बाहरी विद्वानों द्वारा दी गयी।

इस व्याख्या में कास्ट को हिन्दू परम्परा का मुख्य संचालक माना गया और समाज के स्तरीकरण आधारित विभेद को रेखांकित किया गया। इनके लिए 'वर्ण व्यवस्था' जिसमें समाज ब्राह्मण, क्षत्रिय वेशा और शुद्र में बंटा होने के विषय पर बल दिया गया और इस चार वर्णों से अलग एक अछूत की श्रेणी को स्पष्ट किया गया। इन पांच श्रेणियों की पदानुक्रम में ऊपर नीचे रखकर बताते हुए इसमें निहित वर्गीकरण को समस्या के तौर पर प्रचलित किया गया। इस व्यवस्था के धार्मिक आयाम जो कि मनुस्मृति में वर्ण, धर्म और कर्म में विश्लेषित है के आधार को ज्यादा दर्शाने का प्रयास हुआ जबकि इसको निहित भौतिक, आर्थिक एवं सामाजिक आयामों को कम स्थान मिला।

इस 'पुस्तकीय दृष्टिकोण' ने कास्ट को एक तो अखिल भारतीय सामाजिक व्यवस्था के रूप में ही बता डाला जबकि यह जानने का कोई प्रयास नहीं हुआ कि कैसे इसमें क्षेत्रीय स्तर पर विभिन्नता मिलती है। भारत में कास्ट को उत्तर से दक्षिण और पूर्व से पश्चिम में एक समान बताकर शासने के लिए एक ही व्यवस्था का सृजन भी हुआ।

तीसरी बात यह रही कि कास्ट व्यवस्था को सदियों से अपरिवर्तित, अपरिमार्जित व्यवहार के रूप में दिखाया गया। यह माना गया कि समाज को यह जड़ बनाता है और किसी भी आधुनिकता के सृजन में बाधा बनता है। भारतीय समाज को मौलिक रूप से कास्ट में बंधा हुआ और परिवर्तन को स्वीकार नहीं करने वाला भी कहा गया। यह तर्क दिया गया कि अंग्रेजी शिक्षा पद्धति और विचारों का सृजन ही इस व्यवस्था को सुधार सकता है और औपनिवेशिक शासन को इसमें प्रयास करने की जरूरत है।

लेकिन इस इकाई में आगे हम इन सभी पहुलओं की समीक्षा करेंगे और देखेंगे कि कैसे यह भारत भी एक जटिल वास्तविकता का अति सरलीकृत विश्लेषण मात्र है। बाद में सामाजिक विज्ञान ने कुछ हद तक इस विषय को अध्ययन किया और आयातित कास्ट की विचारधारा को चुनौती भी दी है, हालांकि इस दिशा में और कार्य होने की जरूरत है।

कास्ट व्यवस्था को हिन्दू धर्म से लगातार जोड़ा गया जबकि यह नहीं देखा गया कि वैसी ही व्यवस्था उपमहाद्वीप के अन्य धर्मों में भी देखी जा सकती है। शास्त्रों के गलत मूल्यांकन के आधार पर इसको हिन्दू व्यवस्था और विचारधारा का ही लक्षण बता दिया गया जबकि कास्ट अन्य धर्मों की विचारधारा में भी अपना स्थान बना चुका

है। तो इसको धार्मिक रूप देना प्रश्नगत है।

क्षेत्रीय विरोधाभासों और ग्रामीण स्तर पर इसका अलग–अलग रूप जो देखने को मिलता है उसको एक वर्ण व्यवस्था बताकर राष्ट्रीकरण कर दिया गया, और अंग्रेजी सुधारों की जरूरत को स्थापित किया गया। क्षेत्रीय इतिहास को दरकिनार करते हुए कास्ट की उत्पत्ति का एकाकी/एकरेखीय वर्णन हुआ। भारत के पड़ोसी देशों में इसके रूप को भी देखने की जरूरत होनी चाहिए पर ऐसा नहीं हुआ।

कास्ट व्यवस्था को अपरिवर्तनीय बताकर इसमें निहित संरचनात्मक कमियों पर ही ध्यानावर्णन हुआ जबकि समाज में वास्तव में ही रहे बदलावों को इग्नोर किया गया। कास्ट मोविल्टी (   ) का विषय आयातित संकल्पना में स्थान नहीं प्राप्त कर पाया। इसको बाद में भारतीय समाज के विद्वानों ने आजादी पश्चात् जोर शोर से उजागर किया और ऐसे अध्ययनों को बढ़ावा मिला।

अंतः जब हम आज कास्ट की आयातित संकल्पना को समझने जा रहे है तो हमें यह सोचना होगा कि आखिरकार ऐसा क्यों हुआ? कास्ट का यह दृष्टिकोण कब और कैसे विकसित हुआ? यह कैसे भारत में पढ़ी पढ़ायी जाने वाली विषयवस्तु में इस तरह से स्वीकार कर ली गयी कि आम आदमी भी इससे प्रभावित होता चला गया।

यहाँ तक कि 'कास्ट' शब्द समय के साथ हिन्दी का शब्द बन कर स्थापित हो गया और हम जाति शब्द का प्रयोग तक कम करने लगे। आयातित संकल्पना में इसको धर्म और परम्परा से जोड़कर ना केवल कास्ट का मजाक उड़ाया गया बल्कि भारतीय परम्परा और सभ्यता पर भी निशाना साधा गया। आगे इस पर चर्चा करते हुए हम वैकल्पिक परिकल्पना की आवश्यकता पर बल देंगे। साथ ही जाति शब्द को प्रयोग करने तथा आवश्यक प्रशासनिक सुधारों के लिए सुझाव भी खूब पायेंगे।

4.2 आयातित संकल्पना का जन्म

कास्ट की आयातित संकल्पना का इतिहास भारतीय संस्कृति के औपनिवेशिक से शुरू होता है। आज हम कास्ट की जिस सिद्धान्त को देख रहे हैं वह पन्द्रहवीं शताब्दी से शुरू हुए कोलोनियल प्रभावों की देन है।

जैसा कि पहले बताया गया है, कास्ट शब्द ही पुर्तगाली कास्टा का अपभ्रंश है और इस विषय पर सुमित गुहा के बहुत ही प्रभावशाली रूप से प्रकाश डाला है।

भारत में सर्वप्रथम उपनिवेश के लिए पुर्तगाली नाविकों का दल आया और भारत के वैभव और सम्पन्नता से प्रभावित होकर अन्य यूरोपीय नागरिकों का आगमन हुआ। इनमें सबसे ताकतवर उपनिवेशी शक्ति के रूप में अंग्रेजी लोग थे और इन्होंने भारतीय उपमहाद्वीप पर अपना दीर्घकालिक प्रभाव स्थापित किया।

इसके लिए उन्होंने ना केवल व्यापार और शासन पर ध्यान दिया बल्कि सामाजिक और सांस्कृतिक संयोजन एवं प्रबंधन पर भी इन्होंने लक्ष्य निर्धारित किये। जिसमें धर्मान्तरण को प्रमुखता से महत्व दिया गया। इन सभी विषयों को अध्ययन का भी विषय बनाया गया और भारत के सामाजिक जीवन पर लिखना प्रारम्भ हुआ।

समय के साथ यह एक कास्ट के पश्चिमी दृष्टिकोण के रूप में विकसित होता गया जिसमें मिशनरियों, औपनिवेशिक प्रशासकों, और औरिएण्टलिस्ट लेखनों का योगदान है।

इन समस्त लेखनों के सन्दर्भ में अंग्रेजी ने कास्ट को बहुत ही गंभीरता से लिया और इसको प्रशासन के लिए जोड़–तोड़ की राजनीति का हिस्सा बना दिया। इसका इस्तेमाल प्रशासन और नियन्त्रण में करने के लिए जनगणना की शुरुआत हुई और लोगों को कास्ट का जन समूह आधार पर अलग–अलग समूहों के रूप में चिन्हित किया जाने लगा।

जनगणना ने कास्ट के पहचान को एक वस्तु के रूप में देखना शुरू किया और परिणामस्वरूप 'कास्ट की पहचान' एक वास्तविक सत्य और कठोर परम्परा की तरह स्थापित होती चली गयी।

भारत के लोगों की ना सिर्फ कास्ट के रूप में अलग–अलग गिना गया बल्कि इसको गुणों, लक्षणों, और नस्लीय वर्गीकरणों के साँचे में (ढालकर) विभेद को स्थापित कर दिया गया। इस व्यवस्था को यूरोप में पनपे हुए नस्लीय भेदभाव के लक्षण के आधार पर ही मूल्यांकन एवं इन्टर प्रिटेशन किया गया और एक साधारण सी जीवन शैली को जटिल, कठोर, अपरिवर्तनीय, एवं शोषण के आधार के तरह स्थापित कर दिया गया।

जब हम अंग्रेजी भाषा में लिखे कास्ट के मूल्यांकन को देखते हैं तो यह बात तो स्पष्ट है कि उन्होंने कास्ट को समझने का सबसे अच्छा तरीका हिन्दू धर्म के शास्त्रीय ग्रन्थों का अध्ययन ही बनाया। कुछ एक अंग्रेजों जैसे विलियम जोन्स आदि ने संस्कृत सीखा और उस ग्रन्थों का अध्ययन एवं अनुवाद भी किया। इसके लिए उन्होंने ब्राह्मणों, पुजारियों और शास्त्र के ज्ञाताओं से चर्चा को भी स्रोत के रूप में उपयुक्त समझा। इस प्रयास में पश्चिमी अध्ययनकर्ताओं ने जमीनी स्तर पर हो रहे प्रायोगिक सामाजिक व्यवस्था पर ध्यान ही नहीं दिया और जनसाधारण के अनुभवों को निरर्थक ही समझा गया। अतः हम कह सकते हैं कि वेस्टर्न विचार, कोलोनियम विचार और उवोरियष्टल विचार में धरातल पर कास्ट के निष्पादन को समझने में एक 'पुस्तकीय दृष्टिकोण' को अपनाया जो कि कई सारे पूर्वाग्रहों से ग्रस्त मालूम पड़ते हैं।

बनार्ड कोहन ने बताया कि इस तरह के पुस्तकीय दृष्टिकोण ने भारतीय समाज को एक समयहीन स्थानहीन और न बदलने वाले समाज के तौर पर ही देखा। कोहन ने दिखाया है कि कैसे बीसवी शताब्दी के लक्षणों की बराबरी अठारहवीं शताब्दी के समय के साथ कर दी गयी और मान लिया कि कुछ भी बदलने नहीं दिया गया है। (कोहन, 1968) कोहन ने लिखा है कि – ''भारत को जातियों के समूह के रूप में देखा गया, जबकि एक निश्चित स्थान और समय में एक विशेष दृश्य अलग ही अलग ही होता था, भारत भागों का एक योग है और उसके भाग हैं ''कास्ट'' (1968ः 16)।

औपनिवेशिक प्रशासकों और ओरिण्टल विद्वानों ने कास्ट के उत्पत्ति को भी जानने की कोशिश की और उसके लिए कई आधारहीन संकल्पना को जन्म दिया। इस व्यवस्था के जन्म को आर्यन–द्रविड़ के विभेद से भी जोड़ा गया और हिन्दू धर्म के कमियां के रूप में लिखा गया।

कास्ट भी जो समक्ष उस समय विकसित हुई उसके निम्न आधार बताये गयेः

1) **समाज का खंडीय विभाजन** : प्रत्येक कास्ट समाज का एक खण्ड है जिसमें केवल जन्म लेने से ही उसका हिस्सा बना जा सकता है। यह सामाजिक खण्ड धन सम्पदा के आधार पर नहीं बल्कि निम्न समाज में उसके निर्धारित स्थान पर आधारित है।

2) **पदानुक्रम की व्यवस्थाः** सभी कास्ट का एक पूर्व निर्धारित, पूर्व प्रायोजित

सामाजिक स्थान है जो एक दूसरे के सापेक्ष श्रेणीबद्ध रखा गया है, और इसे बदला नहीं जा सकता है।

3) **वैवाहिक नियम एवं प्रतिबन्धः** कास्ट के अन्तर्गत ही विवाह किया जाना आवश्यक है, अतः यह एक अर्न्तविवाही व्यवस्था है। इसमें ऊपर से नीच की जाति में विवाह होने की स्थिति में श्रेणी में स्थान परिवर्तन के नियम निर्धारित हैं।

4) **व्यवसाय का निर्धारणः** आमतौर पर प्रत्येक जाति का अपना निर्धारित व्यवसाय है जो अपने जिविको पार्जन के लिए करता है तथा पीढ़ी दर पीढ़ी दर यही व्यवसाय ही उसको करना पड़ता है चाहे क्यों न अन्य रोजगार के अवसर सांजने दिख रहे हों। लोहार का बेटा लोहार और क्षत्रिय योद्धा का पुन योद्धा ही होगा, ऐसा माना जाता है।

5) **सामाजिक खान–पान एवं मेल–जोलः** यहाँ खाने–पाने के नियम का पालन आवश्यक था और यह पहले से पता होता है कि आप किसके यहाँ पका भोजन खा सकते हैं या नहीं। कच्चे अनाज को लेना अलग नियम थे और इसके पालन में चूक की गुंजाइश नहीं थी।

6) **धार्मिक विशेषाधिकारः** धर्म के आयोजन–प्रयोजन में नियम थे। ब्राह्मणों को धार्मिक प्रक्रिया का विशेष अधिकार है और पूजा–पाठ से लेकर कई व्रत उपवास के नियम उन्हें कठोरता के पालन करने पड़ते हैं। शूद्र कास्ट की श्रेणी में जो समूह हैं उन्हें शास्त्रों का ज्ञान नहीं दिया जा सकता है।

7) **सामाजिक अस्पृश्यताः** जातियों को गांवों में पृथक–पृथक स्थान में रहना पड़ता है और नियमानुसार ही सम्पर्क स्थापित किया जा सकता है। जमीन, बगीचे, पाती, कुंआ आदि का उपयोग की नियमानुसार करना पड़ता है।

4.3 आयातित संकल्पना के मुख्य उद्देता

जैसाकि पूर्व में बताया गया है कि कास्ट की आयातित संकल्पना एक निश्चित समयकाल में जन्म लेना शुरू हुई है और पश्चिमी शिक्षा पद्धति के अर्न्तगत आज तक हमें समान शास्त्र न था मानवशास्त्र जैसे विषयों के अर्न्तगत पढ़ायी गयी है। कमोवेश इसमें सुधार के प्रयास हुए हैं लेकिन इसका प्रभाव भारत के सामाजिक राजनीतिक परिदृश्य में काफी गहरा है। इस परिकल्पना को स्थापित करने में कुछ प्रमुख विद्वान को इस भाग में हम समझेंगे।

1) **नेसफील्ड एवं डेन्जिल इवेट्सः** नेसफील्ड (1885) ने व्यवसाय को कास्ट व्यवस्था के मुख्य आधार के रूप में देखा है। इसके अनुसार समय के साथ ब्राह्मण ने पूजा पद्वति और बलि को अपने तक केन्द्रित कर लिया था जिसके वजह से उन्होंने सम्मान हासिल किया। यह धीरे–धीरे आनुवांशिक हो गया और अन्य लोग भी इसी प्रकार अपनी व्यवसाय के अनुसा निपुण होते गये और अपने व्यापार के गुणों को परिवार और वंश तक सीमित रखा।

   1881 में पंजाब जनगणना के आधार पर डेन्जिल ने भी इसी परिकल्पना को रखा जो जाति को फंक्शनल गिल्ड के रूप में देखता है। इवेट्सन ने बहुत ही स्पष्ट रूप में घोषित कर दिया कि जाति केवल हिन्दूओं की संस्था है और पूरी तरह से धार्मिक व्यवस्था का हिस्सा है। उसने वर्ण व्यवस्था को ही इसका प्रारूप बताया और चार वर्णों के विभाजन को शाश्वत और सार्वभौम बताया जो कि हिन्दू के इतिहास में शुरू से चला आ रहा है।

2) **मैक्स वेबर** : मेक्स वेबर पश्चिम के प्रख्यात समाजशास्त्री हैं। इन्होंने कास्ट को भारतीय इधनिक व्यवस्था का जरूरी एक चरम लक्षण के रूप में देखा है और यह मुख्यतः 'स्थिति समूह' के रूप में पहले से स्थापित होता गया है। ऐसा भारत में होने का कारण पूँजीवादी अर्थव्यवस्था के न होने को वेबर ने बताया। कास्ट स्थिति समूह में बाहरी के लिए कोई जगह नहीं होता है और समूह के सदस्य परस्पर ''समान सामाजिक सम्मान'' को साक्षा करते हैं। यह एक ऐसा इथनिक ग्रुप हैं जिसमें जन्म ही समूह की सदस्यता को निर्धारित करता है। अतः वेबर का भारत के समाज को समझने का दृष्टिकोण भी पश्चिमी ज्ञान पद्धति में समाहित है और यह जाति को एक कठोर, अपरिवर्तनीय रूप में परिभाषित करता है।

3) **सेलिस्टन बोगलेः** ये एक फ्रेंच विद्वान थे जिनको भारत में कास्ट के व्यवस्थित अध्ययन का श्रेय दिया जाता है और पश्चिमी संकल्पना का मुख्य जनक माना जा सकता है। बोग्ले ने कास्ट को असमानता की प्रणाली माना और हिन्दू वर्ण व्यवस्था को इसके लिए जिम्मेदार माना। इन्होंने यह जरूर माना की कास्ट के तरह के तत्व दुनिया में हर समाज में मिल जायेंगे लेकिन इसका शुद्रतम रूप हिन्दुस्तान मे ही देखने को मिलता है। इस शुरू प्रारूप के तीन मुख्य आयाम वंशानुगत व्यवसायिक गुणवत्ता, पदानुक्रम और छूआ–छूत जैसे प्रतिकर्षण (repulsion) हैं।

   बाग्ले ने यह तर्क दिया कि कास्ट समाज को परस्पर विरोधी समूहों में बाँट देता है जो आनुवांशिक रूप से अपने अलग पहचान को बनाये रखती है, पर सबसे ज्यादा यह लोगों को असमान और विभक्त अधिकार भी देती है। ये अलग अलग वर्ग एक दूसरे को आकर्षित करने के बजाय प्रतिकर्णित करते है, तथा अपने से अलग समुदाय के साथ सम्बन्ध रखने से वर्जित करता है। इसकी संरचना इस प्रकार की है समाज कई सारे टुकड़ों में बँटा हुआ दिखता है और हर टुकड़ा एक दूसरे को पारस्परिक रूप से प्रतिकर्षण से देखते हैं।

4) **Louis Dumont** (लुई ड्यूमो): फ्रांसीसी मानवशास्त्री लूई ड्यूमो ने बुग्ले के सिद्धान्तों को ही आगे बढ़ाया जो कि जाति को हिन्दू परम्परा के विशिष्ट सामाजिक लक्षण की तरह देखता है। इन्होंने हालांकि एक कदम आगे जाकर कास्ट का उपयोग भारतीय और पश्चिमी समाज की तुलना के लिए ही कर डाला। उन्होंने पश्चिम को व्यक्तिवादी और समानता पर आधारित आधुनिक समाज की तुलना में भारतीय समाज को पारम्परिक, सम्पूर्णता से भरा, समग्रता पर ध्यान देने वाला बताया। कास्ट को भारत के समाज को एक समग्रता देने वाला Institution से तरह प्रस्तुत करते बताया जो समग्रता पर बल देता है और व्यक्तिवाद को महत्व नहीं देता है।

डयूमो ने बहुत ही प्रसिद्ध किताब Hierardicus किरनी जिसमें इन्होंने भारत की कास्ट व्यवस्था को सामाजिक विभेद और असमानता को पोषित करने वाला बताया, जबकि पश्चिम का व्यक्तिवादी समाज समानता पर चलने को आवश्यक मानता है।

ड्यूमो यद्यपि एक मानवशास्त्री थे पर उनकी कास्ट की समक्ष का स्रोत भी शास्त्रीय हिन्दू धर्म ग्रन्थ ही थे। अतः इनकी सुप्रचलित परिकल्पना भी पुस्तकीय दृष्टिकोण से प्रभावित रही।

ड्यूमो की पुस्तक में पदानुक्रम को मुख्य विलय बनाया तथा इसको मौलिक सामाजिक सिद्धांत बताया है। उनके हिसाब से कास्ट लगभग 800 बीसीई में अपने अस्तित्व में

आ गयी और उसी समय से सामाजिक असमानता को इस तरह से व्यवस्थित कर दिया गया की वह प्राकृतिक व्यवस्था सी दिखने लगे। इसको एक धार्मिक और ऐतिहासिक वैद्यता दे दी गयी जिससे इसके अर्न्तनिरोधों को challenge न किया जा सके।

अतः ड्यूमो ने कास्ट व्यवस्था के विचारों और मूल्यों से जोड़ का देखा और इसके राजनैतिक, भौतिक, आर्थिक पक्षों को नगण्य माना। हालांकि ड्यूमो की संकल्पना में विचारधारा (Ideology) एक स्वायत्त सामाजिक हिस्सा है और मार्क्स के सुपर स्ट्रक्चर पर निर्भर नहीं है। अतः कास्ट की आइडोलॉजी भी स्वायत्त तरीके से पदानुक्रम के विचार और मूल्यों से बंधी रहती है।

ड्यूमो ने इस विचारधारा के निरन्तरता के पीछे एक जरूरी सिद्धान्त जो कि binary opporition of pure and impure है की जिम्मेदार माना। यह शुद्ध और अशुद्ध का विरोध ही पदानुक्रम में कास्ट के स्थान को निर्धारित करता है। ड्यूमो का यह माडल लेवी स्ट्रास के स्ट्रक्चरल संकल्पना से प्रभावित दिखता है, जहाँ सामाजिक संस्था को एक बाइनरी अपोजिशन के स्तर तक जा कर देखा गया है। शुद्ध को समाज में अपना अशुद्ध निर्धारित करना होता है।

इसी शुद्ध और अशुद्ध को आधार बताकर समाज में अन्य विभेद को मेंटेन किया जाता है जैसे कि श्रम का विभाजन, वैवाहिक साथी का चयन, व्यवसायों का चयन। इसी के आधार पर शुद्धता कार्य करने वाले ब्राह्मण सबसे ऊपर तथा अशुद्ध और घृणित कार्य करने वाले को नीचे रखा जाता है।

इस तरह से अंग्रेजों के लेखन से आरम्भ होकर ड्यूमो तक आते–आते कास्ट की शब्दावली तथा इसकी पश्चिमी संकल्पना को भारत में स्थापित कर दिया गया। ड्यूमो इसमें सबसे ज्यादा प्रभावशाली रहे और आज भी इनको कास्ट की थियरी में प्रमुखता में पढ़ाया जाता है।

4.4 आयातित संकल्पना की आलोचना

ऐसा नहीं है कि पश्चिमी विचारकों द्वारा दिया गया कास्ट की संकल्पना को पूर्णतः स्वीकार कर लिया गया है। इसकी आलोचना के स्वर भी उतने ही मुखर हैं। बाद के दशकों में इन सभी विचारकों के संकल्पना को प्रश्न किये गये।

इन संकल्पना का विरोध और इसमें छिपे औपनिवेशिक मानसिकता को भारतीय विद्वानों और पश्चिमी विद्वानों ने भी गलत बतलाया।

1) प्रमुख रूप से यह सामने आया कि पहले की कास्ट की थियरी में सबसे बड़ी समस्या इसका हिन्दू धर्म शास्त्रों पर निर्भर रहना है। यह पुस्तकीय दृष्टिकोण ना तो उचित है ना ही यह वर्तमान की कास्ट व्यवस्था को उजागर करता है। यह एक ऐतिहासिक परिदृश्य को ही आज की सच्चाई की तरह प्रस्तुत कर देता है और परिवर्तन की कल्पना को इसमें स्थान नहीं देता है।

2) दूसरा की यह थियरी हमेशा एक पुस्तकीय मॉडल को देश के सभी हिस्सों में एक ही तरह से कास्ट की संरचना होने का भ्रम पैदा करती है जबकि यह सम्भव नहीं है। देश में हर क्षेत्र की अपनी सामाजिक सांस्कृतिक विरासत है और कास्ट की व्यवस्था हर जगह अपने रूप में देखने को मिलती है।

3) कास्ट व्यवस्था को पूर्ण रूप से हिन्दू मान लेना भी एक तथ्यात्मक पुष्टि नहीं करता है और निश्चय ही भारतीय उपमहाद्वीप के कई धर्मों में यह देखने को मिल जायेगा।

4) कास्ट को जटिल, कठोर और छूत–अछूत को बढ़ावा देने वाला बताया गया जबकि इसके क्षेत्रीय पारूप में वो डामिनेन्ट जाति थी उनकी भूमिका को ध्यान में नहीं रखा गया। ब्राह्मण अत्यन्त गरीब और समाज के हासिये पर भी थे।

5) कुछ क्षेत्रों में चार वर्णीय विभाजन देखने को ही नहीं मिलता पर पुस्तकीय पश्चिमी दृष्टिकोण ने इसको ही सार्वभौमिक मान लिया।

एक तरह से यह थियरी ब्राह्मणवादी कही गयी क्योंकि इतने ब्राह्मण द्वारा लिखित धर्मशास्त्रों को अपना आधार बनाया था। यह भी देखा गया है कि जो भी शास्त्रीय पुस्तकें इन विद्वानों ने पढ़ी थी काफी चयनित थी और उसके विकल्प के रूप में मौजूद पुस्तकों को नहीं पढ़ा गया।

4.5 आयातित संकल्पना के विकल्प

बाद की समाजशास्त्रीय एवं मानवशास्त्रीय विद्वानों ने भारत के समान के समझने के लिए पुस्तकीय, ऐतिहासिक एवं पश्चिमी मानसिकता का विरोध किया। इसके जगह पर एक क्षेत्र कार्य फील्डवर्क आधारित दृष्टिकोण को आवश्यक विकल्प माना।

इसके लिए यह जरूरी था कि पुस्तकों में वर्णित एक आइडियल समय से निकल कर गांवों में रह कर प्रैक्टिल समय को कास्ट के अध्ययन में उपयोग किया जाय।

कास्ट का असली प्रारूप जैसाकि मानवशास्त्री बेरमेन ने कहा है लोगों के दिन प्रतिदिन के आपसी चर्चा परिचर्चा में परिलक्षित होता है (1991)। कास्ट का जीवंत अनुभव बिल्कुल ही अलग हैं और किताबों में लिखी बातों के आधार पर इसका वर्णन एकतरफा होगा। कास्ट के असली आयाम शक्ति, असुरक्षा, विशेषाधिकार, उत्पीड़न, सम्मान, अपमान, बहुतायत और अभाव, चिन्ता आदि को भी जानना होगा।

आजादी के बाद से कास्ट को समझने के लिए ज्यादातर विद्वानों ने भारत के गांवों में फील्डवर्क को चुना। बाहर से भी जो विद्वान आये उन्होंने गांवों में लम्बे समय तक रहकर गांव के लोगों को नजदीक से जाना और उसमें कास्ट की भूमिका का मूल्यांकन किया। इस तरह के अध्ययन ने गांवों में परिवर्तन को रेखांकित किया और साथ ही पुस्तकीय दृष्टिकोण जिसका पश्चिमी विद्वानों ने खून प्रचार किया था उसमें कई मिथक को भी तोड़े।

1950 से 1970 के बीच के गांवों के अध्ययन पर बड़ी संख्या पुस्तकें प्रकाशित हुईं। इससे यह निकल कर सामने आया कि गांव में रहने वाली कई जातियां, समुदाय, एक–दूसरे से आर्थिक, सामाजिक और अनुष्ठानों के द्वारा पारम्परिक दायित्वों के बंधन में एकीकृत है। यहाँ एक सुदृढ़ लेन–देन की परम्परा है जो एक–दूसरे पर निर्भर बनाती है वहीं पर गांवों के समूह को परस्पर आत्मनिर्भर भी बनाती है। इस व्यवस्था को हालांकि जजमानी व्यवस्था का नाम दिया गया। इसकी अंतर्निहित मानना विभिन्न जाति समूहों की पारस्परिक निर्भरता थी जिससे ग्रामीण समाजों को एकजुट किया।

सभी जातियां अपनी व्यावसायिक विविधता के हिसाब से एक–दूसरे को सेवा देती थी और सभी एक दूसरे के स्वामी थे तो सभी एक–दूसरे के सेवक।

मानवशास्त्रीय अध्ययन विस्तृत विवरण प्रस्तुत करते थे जिसमें जीवन के हर पहलू का बारीकी से अध्ययन किया गया। ग्रामीण समाज में जाति व्यवस्था में निहित सामाजिक असमानताओं और मतभेदों का भी लम्बा विवरण सामने आया। पर साथ ही कार्यात्मक एकता और आर्थिक पारस्परिकता का मत सर्वोपरि रहा।

एक बात और हुई कि कास्ट की समय जो चार वर्ण के विभेद के रूप में प्रचलित था उसका विकल्प अनगिनत जाति के मॉडल के क्षेत्रीय व्यवस्था में देखना जरूरी समझा गया। यहाँ से कास्ट की वर्ण संकल्पना और जाति संकल्पना का विवाद शुरू हुआ।

वर्ण माडल में चार वर्णों का पदानुक्रम था पर फील्ड में कई जातियां इन वर्णों से अलग व्यवहार करती नजर आयी। बहुत जातियां अपने को वर्ण–व्यवस्था से अलग भी समझती नजर आयी और वर्ष की जानकारी का दैनिक जीवन में कोई प्रमुख भूमिका नहीं दिखी। कास्ट का जाति प्रारूप, वर्ण प्रारूप से अलग ही था।

जबकि जातियाँ खुद में ही कई उपजातियों में विभक्त दिखीं और ज्यादातर सामाजिक सम्बन्ध उपजातियों के वैवाहिक नियमों, जन्म के हिसाब से नातेदारी आदि को नियोजन का माध्यम के रूप में प्रचलित थीं।

भारतीय समाजशास्त्री ने तो जाति प्रारूप के पूर्ण रूप से बन्द व्यवस्था के रूप में भी नहीं देखा। (M. N. Srinivas) श्रीनिवास ने जाति में गतिशीलता की संभावना को अपने अध्ययनों में दर्शाकर नयी बहस ही छोड़ दी। श्रीनिवास ने संस्कृतीकरण की अवधारणा से यह बताया की जितना पश्चिमी विचारकों ने कास्ट को कठोर और बंद माना है वैसा नहीं है और जातियां अपनी स्थिति को पदानुक्रम में परिवर्तन की क्षमता भी रखती हैं।

प्रोफेसर श्यामाचरण दूबे ने तो कास्ट की केवल धर्म के साथ जोड़कर की जाने वाली व्यवस्था को गलत बताया। उनके अनुसार ग्रामीण समुदाय में भेदभाव के कारण भूमि स्वामित्व, धन, शिक्षा, सरकारी नौकरी, आयु और विशिष्ट व्यक्तित्व भी हैं।

4.6 सारांश

फील्डवर्क आधारित कास्ट की संकल्पना में भी काफी हद तक पश्चिमी विचारकों का प्रभाव रहा और यह माना गया कि पुस्तकीय फील्डवर्क दोनों ही संकल्पना ने पश्चिमी प्रभावों को समाप्त नहीं किया। भारतीय समाज की ज्ञान परम्परा पर औपनिवेशिक प्रभाव चलता रहा। विश्वविद्यालय की शिक्षा पद्धति में इस परिकल्पना को समाप्त कर भारतीय ज्ञान परम्परा में अंतर्निहित विचारधारा के आधार पर समाज का अवलोकन एवं विश्लेषण करना आज आवश्यक है।

तमाम आलोचनाओं के बावजूद जाति का पश्चिमी दृष्टिकोण को पूर्णतया चैलेन्ज नहीं किया जा सका है। यह ठीक है कि कास्ट की व्यवस्था समाज की स्थिति का एक आयाम है लेकिन यही भारतीय समाज को समझने का माध्यम हो यह आवश्यक नहीं है। कास्ट की आयातित संकल्पना ने भारत को धर्म से संचालित समाज की तरह प्रस्तुत किया और कास्ट भी उसकी निदायत जरूरी संस्था भी तरह बताया।

इस तरह पूरी दुनिया के समक्ष भारत को पश्चिम से अलग परंपरावादी, रूढ़िवादी, स्थैतिक समाज की तरह प्रस्तुत किया गया और कास्ट की संस्था को उसके सार (निचोड़) की तरह बताया गया। भारत को वेस्ट के तुलना में 'अन्य' की तरह देखा गया और हिन्दू परम्परा और कास्ट की संस्था का अतार्किक विवरण को इसका

उदाहरण बताया गया।

कास्ट की आयातित पश्चिमी संकल्पना ने समाज का 'अन्यीकरण' किया और आतंरिक विरोधाभासों का ऐसा ताना बाना बुना जिसमें सामाजिक समरसता और सभ्यता के एकीकृत इतिहास की अवहेलना हुई।

भारत में सामाजिक परिपेक्ष्य को समझने के लिए वर्ण जाति, जात, समुदाय जैसे शब्द प्रचलित रहे हैं और एक लम्बे समय से लोग अपने को पदानुक्रम से इतर जीवन अनुभव से बंधे रहे हैं। चाहे पदानुक्रम हो, शुद्ध अशुद्ध की सीमा हो, धार्मिक अनुष्ठानों की परम्परा हो या छूआछूत भी समस्या हो ये सभी ने समाज की सभी जातियों के बीच दैनिक सम्बन्धों में बाधा नहीं बनने दिया है।

पश्चिमी दृष्टिकोण ने न केवल दरारे पैदा की हैं बल्कि पूरे भारतीय भूभाग में लोगों के सामंजस्यपूर्ण अस्तित्व को नकार दिया है। अतः यह स्पष्ट रूप से तर्क दिया जा सकता है कि ज्ञान के स्रोत के रूप में कास्ट की आयातित दृष्टिकोण ने जीवन की वास्तविकता को न केवल विकृत कर दिया है, बल्कि भारत के राष्ट्र निर्माण में एकीकृत सामाजिक निर्माण की संकल्पना के विकास को भी अवरूद्ध किया है।

इसलिए भविष्य के विद्वानों के लिए यह आवश्यक है कि ने केवल कास्ट के पश्चिमी मॉडल को भी खत्म किया जाये बल्कि 'कास्ट' जैसे विदेशी शब्द के प्रयोग को भी वर्जित किया जाय। निष्कर्ष तौर पर हम सुमित गुहा से कम सहमत नहीं हो सकतेः

भारतीय समाजशास्त्रियों ने पुर्तगाली से कास्ट शब्द खुशी–खुशी को अपनाया है। क्या अब इन शब्दों में निहित सभी विक्टोरियन मानवशास्त्रीय बोझ को त्यागने का समय आ गया है। यदि हम पुर्तगाली शब्द से व्युत्पन्न कास्ट को इतना प्रचलित बना सकते हैं तो अपने राष्ट्र के भूले गये शब्द जैसे "खुम" को क्यों नहीं जो जाति और जनजाति दोनों और अन्य सभी सामाजिक श्रेणियों के लिए प्रयुक्त हो सकती हैं। देशी शब्दावली का प्रयोग निश्चय ही आज देश में व्याप्त सामाजिक संगठन के रूपों को स्पष्ट रूप से विश्लेषित करने, चिन्हित करने में सक्षम है और जैसा कभी था ही नहीं वैसे कोलोनियल चित्रण को नकारने में भी आवश्यक है।

4.7 पारिभाषिक शब्दावली

कास्ट : विदेशी शब्दावली जिससे भारत में जाति व्यवस्था की आयातित संकल्पना को परिभाषित किया जाता है और एक महज मिथ्या से जनसामान्य की शब्दावली में डाल दिया गया है।

पदानुक्रम : एक प्रणाली जिसमें किसी संगठन या समाज के सदस्यों को एक दूसरे के सापेक्ष ऊपर से नीचे के क्रम में देखा जाता है। कास्ट व्याख्या में यह चार वर्णों की व्यवस्था को इंगित करता है।

ओरियन्टल दृष्टि : यह शब्द एकवर्ड सईद के पुस्तक और एण्टलिजम के बाद से प्रचलित हुआ है जिसका अभिप्राय एक सामान्य पश्चिमी प्रतिनिधित्वात्मक दृष्टिकोण दूसरे मध्य पूर्वी, एशियाई और उत्तरी अफ्रीकी समाजों को जानने के लिए है।

जाति : जाति शब्द लगभग सभी भारतीय भाषाओं जो वंश या रिश्तेदारी समूह को प्रदर्शित करता है। भारत में 4000 से अधिक जाति समूह हैं और स्थिति के आधार पर उनके रैंकिग की राष्ट्रीय प्रणाली नहीं है।

4.8 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. Ghurye, G.S. 2019. Caste and Race in India. Sage Publication: New Delhi
2. Srinivas, M. N.1977. Social Change in Modern India. Orient Longman: New Delhi
3. Gupta, Dipankar. 2004. Interrogating caste: understanding hierarchy and difference in Indian society. Penguin Books
4. Cohn, Bernard S. 1971. India: the social anthropology of a civilization, Prentice-Hall
5. Dirks, Nicholas B. 2001. Castes of Mind: Colonialism and the Making of Modern India. Princeton University Press
6. Sharma, Ursula. 2005. Caste, Open University Press/RAWAT
7. Jodhka, Surindar S. 2012. Caste. Oxford University Press: New Delhi
8. Dumont, Louis. 1998. Homo Hierarchicus. Oxford University Press: New Delhi
9. Guha, S. 2013. Beyond caste: Identity and power in South Asia, past and present. Brill.
10. Guha, S. 2015. State, Tribe and Caste. EPW, Vol. L 46-47, pp 50-57.
11. Beteille, Andre. 1965. Caste, Class and Power. Bombay: Oxford University Press.

4.9 बोध प्रश्न

1. कास्ट की संकल्पना समाज व्यवस्था के लिये घातक है, इस कथन की व्याख्या कीजिए।
2. जाति व्यवस्था और कास्ट की संकल्पना के मौलिक भेदों को स्पष्ट कीजिए।
3. कास्ट की संकल्पना समाज में विभेद और वैमनस्य का जनक है, इस कथन की व्याख्या कीजिए।

खण्ड 7
एकत्व का सिद्धान्त

सप्तम खण्ड का परिचय

एम. ए. हिन्दू अध्ययन कार्यक्रम प्रथम वर्ष के चतुर्थ पाठ्यक्रम के सप्तम खण्ड में आपका स्वागत है।सातवें खण्ड में एकत्व के सिद्धान्त का वर्णन किया गया है। अद्वैत वेदांत में ब्रह्म को एक माना गया। जीव भी ब्रह्म ही है ब्रह्म और जीव में कोई भेद नहींहै। इसी दृष्टि से प्रथम इकाई का वर्णन प्रस्तुत है । इस खण्ड की दूसरी इकाई में यह बताया गयाहै कि वेद और शास्त्र आगम तथा निगम किस प्रकार एक दूसरे के पूरक हैं। यहां यह देखना होगा कि भारत में ऋषि परम्परा , आचार्य परम्परा ,गुरु परम्परा भिन्न-भिन्न रूपों में रही है। वैदिकमान्यताओं में ऋषिप्रधान है। आचार्य इनमान्यताओं के पोशाक और व्यवस्थापक हैं। श्रमण और गुरु परम्परा में किसप्रकार आंतरिकसंबंध है। यह भी इसखण्ड की अन्तिम इकाई का प्रयोजन है। इस प्रकार आप सातवें खण्ड का अध्ययन कर लेने से सैद्धांतिक एकता को जानने और उसका विश्लेषण करने में सक्षम हो सकेंगे।

इकाई 1 अद्वैत पद्धति में एकत्व निरूपण

इकाई की रूपरेखा

1.0 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन कर लेने के पश्चात् आप –

- सत्ता की परमार्थता की कसौटी जान सकेंगे।
- विभिन्न सत्ताओं को उसकी कसौटी पर कर सकेंगे।
- ब्रह्म की पारमार्थिक सत्ता को समझ सकेंगे।
- ब्रह्म के स्वरूप एवं तटस्थ लक्षण से परिचित होंगे।
- जगत मिथ्यात्व के यथार्थ को जान सकेंगे।
- जीव एवं ब्रह्म के सम्बन्ध से अवगत होंगे।
- माया के स्वरूप एवम् उसके कार्यों को समझ सकेंगे।
- अध्याय एवम् उसकी प्रक्रिया से परिचित होंगे।

1.1 प्रस्तावना

हलायुध कोश में अछयवाद का उल्लेख है और अदृयता से एक मात्र आत्मा की ही सत्यता का ग्रहण किया गया है। वाचस्पत्यम् में अद्वैत शब्द का निर्वचन है – द्विधा इतम् द्वीतं तस्य भाव: द्वैतम् भेद: अभावार्थे द्वैंत भेदो नास्ति यत्र तत्र अद्वेतम् अर्थात अद्वैत का अर्थ है द्वैत विरोधी या भेद रहित तत्त्व। अद्वैत पद्धति परमार्थ रूप से भेद रहित या द्वैत विरोधी एक तत्त्व का प्रतिपादन करती है। इसमें नानात्व को मिथ्या कहा गया है।

अद्वैत सिद्धान्त का बीज संहिताओं एवम् उपनिषदों में प्राप्त होता है। गौड़पादाचार्य ने माण्डूक्योपनिषद् पर 'माण्डूक्य-कारिका लिखकर अद्वैत अर्थात एकत्व का प्रतिपादन किया। शंकराचार्य के बाद भी अनेक दार्शनिकों ने अद्वैत तत्त्व की परमार्थता बतलाने की कोशिश की है, किन्तु अद्वैत तत्त्व को एक सिद्धान्त के रूप में स्थापित करने का श्रेय आचार्य शंकर को ही है। उन्होंने श्रुति, स्मृति, ब्रह्मसूत्र, अनुभव एवं तर्क के बल पर परमार्थ तत्त्व के एकत्व का निरूपण किया है। उनकी महत्ता इस बात से समझी जा सकती है कि जहाँ भी अद्वैत की चर्चा होती है शंकराचार्य के विचार एक मानदण्ड के रूप में आ ही जाते हैं।

सामान्यत: तत्त्व मीमांसा के क्षेत्र में वस्तुवादी अनेकत्ववाद एवं द्वैतवाद को तथा प्रत्ययवादी अद्वैत को स्वीकार करते हैं, किन्तु शंकराचार्य के दर्शन में अनुभव का तार्किक विश्लेषण कर भेदों के मिथ्यात्व और एकत्व की शास्त्र सम्बन्धित परमार्थ स्वीकृति पाते हैं। इस दृष्टि से इनका एकत्व दर्शन और भी महत्त्वपूर्ण हो जाता है। प्रस्तुत इकाई में यद्यपि अन्य दार्शनिकों के भी एकत्व प्रसङ्ग होगें, पर विचार के केन्द्र में शंकराचार्य का एकत्व दर्शन ही रहेगा।

1.2 एकत्व का इतिहास

सर्वप्राचीन ग्रन्थ ऋग्वेद में एकत्व के बीज प्राप्त होते हैं, जहाँ पर बताया गया है कि एक ही सत् को विद्वान लोग भिन्न-भिन्न नामों से पुकारते हैं – 'एकं सद् विप्रा: बहुधा वदन्ति।[1] इस मन्त्र में एकम् तथा सत् पद अद्वैत हैं, भेद रहित हैं। यहाँ एक तत्त्व की अभिव्यञ्जना प्राप्त होती है। 'बहुधा वदन्ति के रूप में जो एकत्व में अनेकत्व का कथन किया गया है वह अद्वैतमत के विवर्तवाद का बीज है। पुरुष सूक्त[2] के प्रथम तीन मन्त्रों में वैदिक ऋषि सम्पूर्ण जगत को एक विराट पुरूष के रूप में देखता है। पुरुष के अनन्त मस्तक, नेत्र और पैर हैं वह सम्पूर्ण पृथ्वी में व्याप्त होकर भी उससे परे है। जो कुछ है और जो कुछ होगा, सब वही पुरुष है। वह एक पद से संसार में है और उसका तीन पद द्युलोक में है। पुरुष सूक्त में मात्र एकत्व का ही निरूपण नहीं है वरन् उन परम पुरुष की झलक है जिसकी सत्ता विश्व के भीतर और बाहर भी है। मानवीय इतिहास में यह अद्वैत की परम अनुभूति है। अद्वैत पद्धति के एकत्ववाद में समाज जगत् प्रपञ्च का निषेध कर अनिर्वचनीय रूप से परम तत्त्व की प्रतिष्ठा करने की जो प्रक्रिया प्रचलित है वह ऋग्वेद के 'नासदीय' सूक्त में परिलक्षित होता है। सूक्त के प्रथम मन्त्र में कहा गया है –'जो कुछ है सो पहले नहीं था, जो कुछ नहीं है सो भी नहीं था, न पृथ्वी थी न आकाश था न उसके परे रचित लोक।[3] सूक्ष्म के अन्तिम मन्त्र में कहा गया – ये विभिन्न सृष्टियां किस प्रकार हुई? इन्हें किसने रचा? इन सृष्टियों का जो स्वामी है वह दिव्य धाम में निवास करता है। वही इसकी रचना के विषय में जानता है, यह भी सम्भव है कि उसे भी यह ज्ञान न हो।[4]

यजुर्वेद भी परमतत्त्व के एकत्व का प्रतिपादन करता है। एक मन्त्र में एक ही तत्त्व को इन्द्र, वरूण, अग्नि आदि विभिन्न नामों से अभिहित किया गया है। अथर्ववेद के 'स्कम्भ'[5] और

---

[1] ऋग्वेद 1/164/46

[2] ऋग्वेद मण्डल, 10, सूक्त 90

[3] नासदासीन्नो सदासीत् तदानीं नासी द्र जो नो व्योया परोयत् 10/129/1

[4] इयं विसृष्टिर्यत आबयूव यदि वा दधेयदि वा न 1 योडस्थाध्यदन: परमे व्योयन त्सो अगड़ वेद वान वेद। म 10/129/7

[5] अर्थववेद काण्ड 10, सूक्त 7 एवं 8

'उच्छिष्ट[6]' सूक्तों में एकत्व का प्रतिपादन है। स्कम्भ सूत्र में ब्रह्म की ही अन्यतम संज्ञा 'स्कम्भ' है जो सबमें व्याप्त है, एक है, आश्रय है और द्यु, पृथिवी एवम् अन्तरिक्ष सहित प्रदेशों को धारण करने वाला है, भूत, भविष्य एवं वर्तमान सबका अधीश्वर है। उच्छिष्ट सूत्र में 'उच्छिष्ट' नाम द्वारा ब्रह्म का ही प्रतिपादन है। उच्छिष्ट का अर्थ है बचा हुआ, शेष पदार्थ। दृश्य प्रपञ्च का निषेध करने के अनन्तर जो अवशिष्ट रहता है वही उच्छिष्ट है, अर्थात् बाधा रहित परब्रह्म जिससे सभी उत्पन्न हैं।[7]

उपनिषदें जिनका अपर नाम वेदान्त भी है, प्रधान रूप से अद्वैत का प्रतिपादन करती है और नानात्व निषेध करती हैं। 'एकमेवाद्वितीम्' ब्रह्म (छा. उ. 2/2/2), ब्रह्मैवेदं विश्वम्' (मुण्डक उ. 2/2/11) 'सर्वं खाल्विदं ब्रह्म' (छा.3/14/1) 'आत्मा का इदमेक एवाग्र आसीत्' (ऐतेरम1/1) एको हंस भुवनस्य मध्ये' (खे. उ. 6/6/16) 'आत्मैवेदमग्र आसीत्' (वृ. उ. 1/4/1) 'सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवा-द्वितीयम्। (छा. 6/2/11) इत्यादि रूप से एकत्व का निर्देश उपनिषदें करती हैं। वे नेह नानात्रि किण्चन' (वृह 4/4/19), क. 2/1/11) मृत्यो: मृत्युम् आप्नोति? य इह नानेव पश्यति (कठ 2/1/10) आदि रूप से नानात्व का खण्डन भी करती हैं।

श्रीमद्भगवगीता में –यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति (6/30), अनादिमत्परं ब्रह्म सत्तन्नासदुच्यते (13/12) त्वमक्षरं सदसन्तमर यत् (11/37) मन्त:परतरं नान्यत्किच्चिदस्ति धनञ्जय (7/7) बहिरन्तश्च भूतानामचरं चरमेव च (13/15) अहं कृत्स्नस्य जगत: प्रभव: प्रलयस्तथा (7/6) अहं सर्वस्य प्रभवो मन्त: सर्वं प्रवर्तते (10/7) विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत् (10/42) इत्यादि भगवान् द्वारा एकत्व का प्रतिपादन करते हैं।

उपनिषदों का सार संग्रहकर व्यास ने 'ब्रह्म सूत्र' नामक ग्रन्थ की रचना की जिसे 'वेदान्त सूत्र' भी कहा जाता है। उपनिषद् गीता एवं ब्रह्म सूत्र ये तीन वेदान्त के प्रस्थान माने जाते हैं और इनकी संज्ञा प्रस्थानतयी पड़ गयी। ब्रह्म सूत्र पर भाष्य लिखकर अनेक आचार्यों ने अपने-अपने दार्शनिक मतों की पुष्टि की है। आचार्यों ने अपने मत की स्थापना हेतु प्रस्थानत्रयी को प्रमाण के रूप में स्वीकार किया है। आचार्य शंकर ने प्रमुख उपनिषदों, गीता और ब्रह्मसूत्र पर भाष्य लिखकर अद्वैतवाद का परचम लहराया। ब्रह्मसूत्र पर भाष्य करके भास्कर ने भेदाभेद, रामानुज ने विशिष्ट अद्वैत, निम्बार्क ने द्वैताद्वेत, श्रीकण्ठ ने शैव-विशिष्टाद्वैत, श्रीपति ने वीरशैव विशिष्टाद्वैत वल्लभ ने शुटाइेव, विज्ञान मिक्षु ने अविभागाद्वैत का प्रतिपादन किया। किन्तु वास्तविक एकत्व शंकराचार्य के अद्वैत में ही पूर्णता के साथ परिलक्षित होता है।

शंकराचार्य के पूर्व माण्डूक्योपनिषद पर 'माण्डूक्यकारिका' लिखकर गौड़पादाचार्य ने एकत्ववाद की व्याख्या की। इनकी कारिकायें आगम प्रकरण, वैतथ्य प्रकरण, अद्वैत प्रकरण और अजातशान्ति प्रकरण में विभक्त है। इन्होंने अजातिवाद का सिद्धान्त दिया। अजातिवाद को वे श्रुति सिद्ध सिद्धान्त मानते हैं। कोई उत्पत्ति नहीं होती, कोई भेद नहीं है। अद्वैत तत्त्व भेद रहित होने पर भी भाषा के कारण भेदमय प्रतीत होता है। जगत् स्वजवत मिथ्या है। ज्ञान प्राप्ति के बाद सम्पूर्ण जगत की निवृत्ति हो जाती है, द्वैत भाव नष्ट हो जाता है। ब्रह्म ही एकमात्र अद्वैत तत्त्व है। गौड़पादाचार्य आचार्य शंकर के गुरू के गुरू थे और इनके विचारों का शंकर पर विशेष प्रभाव पड़ा है।

---

[6] अर्थर्ववेद काण्ड 11 सूक्त 7

[7] उच्छिष्टा जज्ञिरे सर्वे। अथर्व 11/7/27

शंकराचार्य के बाद अद्वैतवाद विकास में सुरेश्वराचार्य, पद्मपादाचार्य, वाचस्पति मिश्र, प्रकाशात्मयति, श्रीहर्ष, चित्सुखाचार्य, विधारण्यमुनि, मधुसूदन सरस्वती, अप्पच दीक्षित आदि आचार्यो ने अपना-अपना स्तुत्य योगदान किया है।

1.3 अद्वैत वेदान्त में सत्य

अद्वैत सिद्धान्त में सत्य को परिभाषित करते हुए कहा गया है कि 'सत्य' वह है जो उत्तर कालीन ज्ञान से बाधित न हो। जो अबाध्य है वही सत्य है – 'सत्यत्वं बाधारायहित्याद्'। वेदान्तियों ने सत्य की परिभाषा को और स्पष्ट करने के लिए अबाध्य के पूर्व त्रिकाल शब्द की योजना की। अत: सत्य की शास्त्रीय परिभाषा बनीं त्रिकालाबाधित्व सत्यम्। भूत, वर्तमान एवं भविष्यत् इन तीनों कालों में तथा जागृत, स्वप्न तथा सुषुप्ति इन तीनों अवस्थाओं में जिसका स्वरूप बाधित न हो, अर्थात् एक रूप में अवस्थित रहे वही सत्य है। शंकराचार्य ने स्वयं लिखा – 'एक रूपेण व्यवस्थितोऽर्थ: परमार्थ:। सत्य का स्वरूपकभी व्यमिचरित नहीं होता, सदा एक रस रहता है – यदपेण मन्त्रिश्चितं तद्रपं न कभिचरित तत् सत्यम्।

सत्ताओं का परीक्षण एवं निर्धारण - सत्य की कसौटी 'अबाधित्व के आधार पर विविध सत्ताओं का परीक्षण कर उनका सत्य मूल्य निर्धारण किया जा सकता है। इस कसौटी के आधार पर एक मात्र परमार्थ सत्ता ब्रह्म की है इसके अतिरिक्त प्रतियोगिक सत्ता भेद की एवं व्यावहारिक सत्ता जगत् की है। अलीक सत्ता शब्द भारत है। इनका विवेचन अग्र-लिखित है।

i) **अलीक सत्ता -** अलीक वह है जो है ही नहीं। केवल नाम है। न प्रतिदिन व्यवहार न परमार्थ। खंपुष्प(आकाश का फूल) , बन्ध्या-पुत्र, शशश्रृंड्ग खरगोश) के सींगआदि (इसके उदाहरण है। आकाश का फूल नहीं होता, बन्ध्या शब्द के साथ पुत्र शब्द असंगत है, खरगोश के सींग नहीं होते। यह अलीक है, तुच्छ है।

ii) **प्रतिमानिक सत्ता –**प्रतिमानिक सत्ता से अभिप्राय उस सत्ता से है जो प्रतिकाल में सत्य प्रतिमानित होता है परन्तु उत्तर काल में बाधित हो जाता है। इसका प्रसिद्ध उदाहरण है रज्जु सर्प और शुक्ति रजत। कंधों में टेढ़ी मेढ़ी रस्सी पड़ी हो और उसमें सर्प की प्रतीति हो तो यह प्रतिमानिक है किन्तु उसी क्षण कोई व्यक्ति प्रकाश लेकर आ जाये तो प्रकाश में ईष्टा को स्पष्ट रूप से रस्सी का बोध हो जायेगा और इसी के साथ सर्पज्ञान की जो उससे पूर्व प्रतीति हुई थी वह खण्डित हो जायगी। खण्डित ज्ञान बाधित ज्ञान है। बाधित ज्ञान से रज्जु में सर्प की प्रतीति सत्य नहीं है, असत्य है, प्रातिमानिक मात्र है। वह सर्प तभी तक है जब तक प्रकाश नहीं है। प्रकाश के आते ही पूर्व ज्ञान खण्डित हो गया है और सर्प ज्ञान समाप्त हो गया।[8] इसी प्रकार सीपी में दूर से देखने पर चाँदी की प्रतिति होती है। किन्तु नजदीक पहुँचने पर चाँदी का ज्ञान खण्डित हो जाता है। अत :रज्जु में सर्प और शुक्ति में रजत परमार्थ होना प्रतितिकाल तक ही है, प्रातिमानिक है।

1.3.1 व्यावहारिक सत्ता: जगत्-व्यवहार एवम् उसका मिथ्याकाल

व्यावहारिक सत्ता इस जगत् के समस्त व्यवहार, गोचर पदार्थो में रहती है। जगत् के पदार्थो में पांच धर्म होते हैं – अग्नि, भाति, प्रिय, नाम तथा रूप। प्रथम तीन ब्रह्म के लक्षण हैं और

[8] रज्जवात्मना डवबोधात प्राक सर्प: सन्नेवभवति। सतो विधमानस्यं वसानो रजावादे: सर्प दिव द् जन्म भुज्यते।। माण्डूक्य कारिका भाष्य 3/27

अन्तिम दो जगत् के।[9] जगत के सभी पदार्थों का कोई न कोई नाम रखा होता है, कोई रूप या आकार भी होता है। इन नाम-रूपात्मक वस्तुओं की सत्ता व्यवहार के लिए आवश्यक है, जगत व्यावहारिक है। किन्तु जाइका स्वरूप क्या है? अद्वैत सिद्धान्त में इसे मिथ्या कहा गया है। मिथ्या वह है जो कभी रहे, कभी न रहे। यहां रहने का तात्पर्य केवल प्रतीति से है।[10] जगत् की उत्पत्ति होती है, अत: वह आदि में नहीं है। ब्रह्म ज्ञान से उसका बोध होता है, अत: अन्न में भी नहीं है। केवल मध्य में ही अवस्थित है। किन्तु सिद्धान्त है – 'आदावन्ते च यन्नास्ति वर्तमाने इप्तित् तथा अर्थात् आदि और अन्न में नहीं है। वह वर्तमान (मध्य) में भी नहीं है। मध्य में शामिल होने वाली वस्तु वस्तुत आदि और अन्न की तरह मध्य में भी अविधमान ही है। वेदान्त डिण्डिम नामक ग्रन्थ में नृसिंह सरस्वती ने भी इसी तथ्य की व्याख्या की –"यन्नादौ यच्च नास्त्यन्ते तन्मध्ये भातमप्यत्। अतो मिथ्या जगत् सर्वमिति वेदान्तडिण्डिम:"। अर्थात जो आदि में न हो, अन्त में भी न हो, वह मध्य में शामिल होने पर भी असत् (मिथ्या) ही माना जायेगा। अत: यह जगत् मिथ्या है यह वेदान्त का डिण्डिम घोष है। गीता में भी भगवान् ने कहा है "नासतो विद्यते भावो ना भावो विद्यते सत:" (गीता 2/16)। यहाँ भाव शब्द उत्पत्ति का बोधक है (भाव: सत्ता स्वभावाऽभिप्रायचेष्टाऽऽत्मजन्मसु कोश:) और अभाव शब्द विनाश का धोतक है। जो पदार्थ शशश्रृंड्गदि के सामन आसत है उसकी उत्पत्ति नहीं होती, अभाव पद के संयोजन से उसका विनाश भी नहीं होता। इस प्रकार जो सत् पदार्थ है, उसकी भी उत्पत्ति एवं विनाश नहीं देखे गये - "यथा असतो भावो-ऽभावश्च न विद्यते, तथा सतोऽपि अभावों भावश्च न विधेते।[11] अत: जगत् यदि परमार्थ ब्रह्म के समान सर्वदा सत् हो एवं बन्ध्या पुत्र तो उसकी उत्पत्ति एवं विनाश नहीं हो सकता। परन्तु हमारे वेद उपनिषद्, स्मृति, पुराणादि शास्त्रों में जगत् की उत्पत्ति कही गयी है एवम् उसके विनाश (प्रत्यय) का भी वर्णन किया गया है। अत: जगत् सत् एवम् असत् नहीं किन्तु सत् एवम् असत् से विलक्षण अनिर्वचनीय मिथ्या ही है। उसकी व्यावहारिक सत्ता है फिर भी वह ब्रह्म के समान परमार्थ सत्ता नहीं है।

नाम रूपात्मक जगत् की प्रसिद्धि प्रतीति में जिज्ञासा होती है कि जगत् की प्रसिद्धि स्वत: है या चेतन आत्मा से या प्रत्यक्षादि प्रमाणों से। जगत् स्वयं जड़ है और जड़ से जड़ की प्रतीति नहीं होती अत: प्रथम पक्ष सर्वथा अयुक्त है। द्वितीय पक्ष भी संगत नहीं है क्योंकि चेतन आत्मा असंग है, उसका जगत् से कोई वास्तविक सम्बन्ध नहीं है, बिना सम्बन्ध के कोई प्रकाशक किसी की प्रसिद्धि नहीं कर सकता। तीसरा पक्ष अर्थात, प्रत्यक्षादि प्रमाणों से भी जगत् को प्रसिद्धि नहीं हो सकती क्योंकि कोई भी प्रमाण जड़ पदार्थ विषयक संवित्, प्रकाशक का कारण-उत्पादक नहीं हो सकता। सर्वज्ञात्ममुनि लिखते हैं – जगत् की प्रसिद्धि न जगत् से न चेतन ब्रह्म और न प्रत्यक्षादि प्रमाणों से होती है अत: इस जगत् की अनिर्वचतीय मायामयता रूप से ही प्रसिद्धि है। इसलिए अनिर्वचनीय, मिथ्या, देह, गेह,कलत्र, पुत्रादि जगत् को कितना भी परमार्थ रूप से सत्य मानें तो भी वह सत्य नहीं हो सकता। अत: नाम रूपात्मक जगत को तत्वदर्शियों ने स्वप्न के समान केवल प्रतीति माना है[12], अन्तर मात्र इतना ही है कि स्वप्न का काल बहुत कम होता है और जगत् का स्वप्न काल लम्बा होता है। अज्ञानियों के लिए तो वह सदा बना रहेगा। यह प्रतीयमान संसार स्वप्न के समान रागद्वेषादि दोषों से सम्बद्ध है। जैसे स्वप्न

---

[9] अस्ति भाति प्रियं रूपं नाम चेत्यशपण्चकम्। आदित्रयं ब्रहमरूपं जगद्रूपं ततो द्वयम्।। दृग्दृश्यविवेक 20

[10] गौडपादाचार्य: माण्डूक्योपनिषद् कारिका

[11] **ब्रह्मसूत्र शंकरभाष्य सत्यानन्दी-दीपिका पृ. 15-16**

[12] **संसार: स्वप्नतुल्यो हि रागद्वेषादिसंकुल:। स्वप्नकाले सत्यवभवति प्रबोधेऽसत्यवदभ्वेत्।।**

स्वप्नकाल में शामिल होता है और जाग्रत् काल में बाधित हो जाता है, वैसे ही यह संसार भी अज्ञान काल में प्रतीत होता है और ब्रह्म ज्ञान होने पर बाधित हो जाता है।[13] 'दृष्टे भवति प्रभवति न भवति किम् भवतिरस्कार: - हे भगवन् अधिष्ठानरूप सर्वात्मा आप परब्रह्म का साक्षात्कार होने पर क्या द्वैत प्रपञ्च का तिरस्कार नहीं हो जाता? अवश्य ही हो जाता है। अधिष्ठान के साक्षात्कार से उसमें आरोपित के ज्ञान का बाध हो ही जाता है (रज्जु के ज्ञान से उसमें आरोपित सर्वज्ञान खण्डित हो जाता है), यह सर्व विदित न्याय है।

अब प्रश्न यह है कि ब्रह्मज्ञान के बाद क्या बाधित जगत् की सत्ता भौतिक रूप से समाप्त हो जाती है? इसका उत्तर है जगत् की भौतिक सत्ता वैसे ही बनी रहती है। उसके प्रति हमारा दृष्टिकोण बदल जाता है। ब्रह्मज्ञान के पूर्व जगत् असत्य भी नहीं कहा जा सकता। दो सत्य एक साथ नहीं रह सकते। जब तक ब्रह्मज्ञान न हो तब तक जगत् की सत्ता को हम मिथ्या भी नहीं कह सकते।

1.3.2 पारमार्थिक सत्ता – एक अद्वितीय ब्रह्म

पारमार्थिक् सत्ता वह है जिसका कभी खण्डन न हो, बाध न हो। अद्वैत पद्धति में ब्रह्म ही एक मात्र ऐसी सत्ता है जो त्रिकाला बाधित है उसे आत्मा भी कहा गया है।[14] ऐसा नहीं है कि वह कभी नहीं था (जगत् की भान्ति), ऐसा भी नहीं है कि वह कभी नहीं रहेगा (बाधित सत्ता की तरह)। उसकी सत्ता त्रैकालिक है अधिक उचित तो, यह होगा कि वह काल से भी परे है। वह स्वयं प्रकाश है उसी के प्रकाश से सब कुछ प्रकाशित है।[15] उसके लिए प्रमाण की आवश्यकता नहीं है। सारे प्रमाण उसी से कार्य करते हैं। प्रमाणों का प्रमाणत्व भी उसी से है। फिर भी श्रुतियाँ एवं स्मृतियाँ एक स्वर से अन्तिम सत्ता के रूप में ब्रह्म/आत्मा का प्रतिपादन करती हैं। वे ब्रह्म को एक अद्वितीय सत्ता घोषित करती हैं। वही सृष्टि के पूर्व (अग्रे) विद्यमान था, वही सृष्टि में व्याप्त है, वह सृष्टि से परे भी है। प्रलय के बाद भी रहेगा। 'सर्वं खाल्विदं ब्रह्म[16] (छा; 3/14/1), 'एकमेवाद्वितीयं' ब्रह्म[17] (छा. 6/2/2) 'ब्रह्मवाइदं विश्वम्[18] (मु. 2/2/11) 'स भूमिं विश्वती वृत्वाडत्यतिष्ठदृश्याभुलम्[19] (ऋग्वेद 10/90), 'पर एकमाहु:[20]' (ऋ 10/82/2)' यो देवानां नामधा एक एव[21]' (ऋ. 10/82/3) 'एको हंसो: भुवनस्यास्य मध्ये[22]' (हंस: परमात्मा) (श्रवेताश्रवतर 6/6/15) 'सदेव सोम्येदमग्र: आसीत् एकमेवाद्वितीय[23]।

---

[13] तस्मात्प्राग्ब्रह्मात्मताप्रति बोधादुपपन्न: सर्वो लौकिको वैदिक श्च व्यवहार: .... प्रतिपादित अन्मैकत्वे समस्तस्य प्राचीनस्यव्यवहारस्य बाधितत्वान्नानेकात्मकब्रह्मकल्पनावकाशेडस्ति। .... परामार्थावस्थायां सर्व-व्यवहाराभावं वदन्ति वेदान्ता:सर्वे। ब्रह्मसूत्र 2/1/14 शंकर भाष्य

[14] अयम् आत्मा ब्रह्म (वृह 2/5/19)

[15] तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिंद मिभाति। मु. 2/2/१5

[16] सब कुछ ब्रह्म है

[17] ब्रह्म एक एवं अद्वितीय है।

[18] ब्रह्म ही यह विश्व है।

[19] वह भूमि को सब ओर व्याप्त कर उसके परे भी दस कांगुल विद्यमान है।

[20] एक और परम कहा गया है।

[21] सभी देवों का नाम धारण करने वाला एक ही ब्रह्म है।

[22] एक ही हंस (परमात्मा) संसार में है।

[23] हे सौम्य सृष्टि के पूर्व एक और अद्वितीय सत् (ब्रह्म) था।

'आत्मा का इदम् गे एक एवाग्र आसीत्'[24] आदि अनेक श्रुतियों में तथा त्वमक्षरं सदसत्तत्परं यत्[25] (गीता 11/37) सर्वमावृत्यतिष्ठति[26] (13/13) मन्त्र: परतरं नान्यत्किचिदस्ति धनञ्जय[27] (गीता 7/7) अहं कृत्स्नस्य जगत: प्रभव:- प्रथम प्रलयस्तथा[28] (गीता 7/6) विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत्[29] (10/42) और अनेक गीता के श्लोकों में एक स्वर से एक परम सत्ता की स्वीकृति प्राप्त होती है।

श्रुति के एक भाग ब्रह्म की परमार्थता का प्रतिपादन करती हैं और कहती हैं कि जो ब्रह्म को जान लेता है वह ब्रह्म ही हो जाता है,[30] जो एकमात्र ब्रह्म को परमार्थ जानता है वह शोक को पार कर जाता है।[31] इसीलिए ब्रह्मज्ञानी जनक को अभय बताया गया।[32]

ब्रह्म की ही एक मात्र परमार्थता बताने के साथ ही श्रुतियों भेद और नानात्व का निषेध भी करती हैं कि नानात्व नहीं हैं।[33] उससे भिन्न कुछ नहीं है। यह भी कहती हैं कि जो नानात्व को देखता है वह मृत्यु को प्राप्त होता है।[34]

इस प्रकार हम यह कहते है कि श्रुतियों एवं स्मृतियों की एक स्वर से स्थापना कि ब्रह्म की ही एक मात्र परमार्थ अर्थ सत्ता है और भेद तथा नानात्व नहीं है।

श्रुतियों के एकत्व प्रतिपादन को श्रुति-सम्मत तर्क के आधार पर भी अद्वैतसिद्धान्त में विचार किया गया है। इसमें बाह्य जगत् एवम् आन्तरिक जगत् का विश्लेषण कर, क्रमश: तत् पदार्थशोधन एवं त्वं पदार्थ शोधन व्यवहार एक अद्वितीय सत्ता का प्रतिपादन किया गया है।

1) **तत् पदार्थ शोधन** बाहसमस्त – पदार्थों का यदि तार्किक विश्लेषण करें तो पायेंगे कि उनके मूल में एक निर्विशेष सत्ता है प्रकार केवल नाम के लिए हैं।-आकार –मृत्तिका जैसे घड़ा – एवं मृत्तिका से बने जितने भी पदार्थ हैं (मिट्टी), कटोरा, दीया, भरूका, कलाकृतियों आदि उन सबके मूल में मिट्टी ही है। पहले भी मिट्टी थी, उसके बने रहने पर भी मिट्टी है तथा उसके नष्ट होने पर भी मिट्टी रहेगी। विकार केवल नाम है, मृत्तिका ही सत्य है मं। सुवर्ण एवं सुवर्ण से निर्मित ण में विकारों नाम धेयम् मृतिकेव सत्यवाचारम्म – अंगूठी, कुण्डल, हार आदि आभूषण मूलतसुवर्ण ही है :, लकड़ी से बने कुर्सी, मेज, तख्त आदि मूलत: लकड़ी ही है। अग्नि से विनती किशोरियां मूलतअग्नि ही है। मृत्तिका :, स्वर्ण एवं लकड़ी के मूल को अन्वेषण करें तो पाएगें कि वह सत्ता है, अस्तित्व है जिसका कोई आकार प्रकार नहीं है। मृत्तिका है, स्वर्ण है, लकड़ी है, इन सभी वाक्यों में सत्तात्व अनुस्यूत है, 'है' लगा हुआ है। बाह्य संस्था के किसी भी पदार्थ का विश्लेषण करें तो हमें

---

[24] आत्मा ही पहले था।

[25] ईश्वर अक्षर स्वरूप है, सत् भी हैं, और उससे परे भी हैं।

[26] सब कुछ व्याप्त करके स्थित है।

[27] हे अर्जुन मेरे सिवाय जन्मा कोई किंचित मात्र भी नहीं है।

[28] में सम्पूर्ण जगत् का प्रभव तथा प्रलय हूं।

[29] मैं अपने एक अंश से सम्पूर्ण जगत् को व्याप्त कर स्थित हूं।

[30] ब्रह्म ब्रह्मैव भवति (मु. 3/2/9) अहं बह्मास्मि (बृ. 1/4/10)

[31] भूतान्यात्मैवावेद तन्त्र को मोह: क: शोक एकत्वमनुपश्यत:। ईश. 7

[32] अभयं वै जनक प्राप्तोऽसीति। वृ. 4/2/4

[33] भूद्विजानन:, (ब्रहम, 4/4/19) न तु तद्द्वितीयमास्ते (बृ. 4/3/23)

[34]

सत्ता ही प्राप्त होगी जो सभी परिवर्तनों निर्विचार हैके बाद भी नित्य (निर्वत), सब में अनुस्यूत है। विचार अनृत है।[35]

श्रुतियाँ स्वर्ण, मृत्तिका, लौह, विस्फुलित का उदाहरण देती हैं इसका अर्थ यह नहीं है कि – सृष्टि वास्तविक हो गयी। ये दृष्टान्त मात्र अद्वैत को समझाने के लिए साधन हैं, उपाय हैं। वास्तव में किसी प्रकार का भेद नहीं है क्योंकि परिवर्तन परिणाम नहीं, निवर्त है। परिवर्तन अवास्तविक है, नाम मात्र है। गौड़पाद ने कहा है – 'उपाय: सोऽवताराय नास्ति भेद: कथंचन, अद्वैत ब्रह्म अविद्या या भाषा शान्ति के कारण अनेमवत् प्रतीत होता है। वह परमतत्त्व अपनी भाषा से विविध रूपों को प्राप्त होता है वस्तुत: कोई भेद नहीं इन्द्री: मायामि: पुरुरूप ईयते (ऋग्वेद 6/47/18), अजाय मानो बहुधा विजायते (यजुर्वेद 37/79)। तत् पदार्थ शोधन को अग्रलिखित रूप में व्यक्त कर सकते हैं –

1) संसार के सभी परिच्छिन्न और परिवर्तनशील विषयों का मूल अधिष्ठान और उपादान शुद्ध निर्विशेष सत्ता है।
2) विषयों के परस्पर बाधित होने से वे पूर्णत: सत्य नहीं माने जा सकते।
3) केवल शुद्ध सत्ता ही अनुभूत या सम्भाव्य विरोध से रहित होने के कारण एक मात्र निरपेक्ष सत्य है।
4) शुद्ध सत्ता शुद्ध, अपरिच्छिन्न या अनन्त रूप है।

2) त्वं पदार्थ शोधन – आन्तरिक जगत् का विश्लेषण एक निर्विशेष आत्मचैतन्य का संकेत करता है। जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति एवं तुरीय: ये चार अवस्थाएँ चेतना जगत् की हैं। सारे जागतिक अनुभव में आत्मचेतना विद्यमान रहती है। जाग्रत् अवस्था में चेतना को सदैव विषय सापेक्ष ही पाते हैं, उसी का आकार ग्रहण कर लेती है, जैसे जल किसी पात्र में डालने पर उसी का आकार ग्रहण कर लेता है। समस्त जाग्रत् अनुभव निर्विशेष, निराकार चेतना के द्वारा ही प्रकाशित होता है। स्वप्नावस्था में चेतना का संसार सिमट जाता है, मात्र चेतना और स्वप्न का संसार रह जाता है। स्वप्न एवं जाग्रत् में अन्तर यह है कि जाग्रत में ज्ञानेन्द्रियों की क्रिया और स्थूल शरीर का सम्बन्ध रहता है किन्तु स्वप्न में इन्द्रियों की क्रिया एवं स्थूल शरीर का सम्बन्ध नहीं रहता फिर भी महसूस होता है कि इन्द्रियाँ काम कर रही हैं और स्थूल शरीर भी जुड़ा है। स्वप्न में ऐसा भी अनुभव होता है कि वस्तुएँ विद्यमान हैं पर वे होती नहीं। फिर भी चेतना होता है। सुषुप्तावस्था में चेतना निर्विषक होता है, उसका किसी विषय से कोई सम्बन्ध नहीं रहता। यह चेतना की स्वाभाविक अवस्था है। इस अवस्था में जीव नहीं होता अपितु अपनी अविद्या से युक्त साक्षी होता है। किन्तु अविद्या मात्र आंशिक रूप में सक्रिय होती है, वह सत्य के स्वरूप को आच्छादित तो किये रहती है, पर स्वप्न और जाग्रत् अवस्था की तरह नाना रूपों में विकास नहीं करती। सुषुप्ति में आनन्द का अनुभव होता है जो आत्मा का स्वाभाविक स्वरूप है। जागने पर व्यक्ति कहता है अच्छी नींद आयी अपना भी ज्ञान नहीं रहा, बहुत आनन्द आया। वास्तव में सुषुप्ति में आत्मा का वास्तविक स्वरूप (निर्विषय) कुछ काल के लिए प्रकट होता है, यह समाधि की अवस्था है पर तामसिक होने से अभीष्ट नहीं। त्रुरीय अवस्था में चेनता का सर्वथा निर्विशेष रूप प्रकाशित होता है, सभी विषय छूट जाते

[35] सर्वञ्च नामरूपादि सदात्मनैव सत्यं विकारजातम् स्वतस्त्वनृतमेव। शंकरभाष्य छा. 6/3/2

हैं, केवल चेतना का अखण्ड प्रवाह रहता है। यही चेतना का वास्तविक स्वरूप है।

वस्तुत: जगत के मूल से सत्ता और अन्तर्जगत के मूल में चेतना है, जो अखण्ड दीवार है। किन्तु ऐसे नहीं है कि ये दो तत्त्व हैं, सत्ता एवं बोध (चेतना) में कोई अन्तर नहीं है। सत्ता ही बोध है और बोध ही सत्ता है – 'सत्ता एव बोध: बोध एव सत्ता'। सत्ता स्वयं प्रकाश है, बिना बोध के वह स्वयं प्रकाश नहीं हो सकती और चेतना भी वस्तुत सत्ता है, यहाँ भी सत्ता अनुभव है।

इस प्रकार अद्वैत पद्धति में एक निर्विशेष तिराकर और निर्विकार सत्ता का महत्त्व सिद्ध होता है। बाकी सब कुछ वाणी के छना व्यवहरत नाम हैं, विवर्त हैं।

1.4 ब्रह्म

अद्वैत सिद्धान्त में ब्रह्म ही पूर्ण एवम् एक मात्र सत्ता है। आत्मा भी उसी का नाम है। केन उपनिषद् भाष्य में शंकराचार्य लिखते हैं – उस आत्म स्वरूप को ही तू बृहत् होने के कारण ब्रह्म यानि भूमासंज्ञक सर्वोत्कृष्ट ब्रह्म जान।[36] ब्रह्म मन एवं वाणी का विषय नहीं है[37] बल्कि मन और वाणी उसी से क्रियाशील हुआ कहा जाता है।[38] ब्रह्म साक्षात्कार ही जीवन का चरम लक्ष्य है। वह सर्वोच्च ज्ञान है, ब्रह्म ज्ञान से संसार का ज्ञान, नानात्व का ज्ञान जो मूलत: अज्ञान है, समाप्त हो जाता है। ब्रह्म अन्नत, सर्वव्यापी तथा सर्व शक्तिमान है। वह विविध भेदों से रहित, विविध विरोधों से परे, व्यक्तित्व शून्य, अपरिवर्तनशील एवम् अनिर्वचनीय सत्ता है।

ब्रह्म भेद रहित - ब्रह्म सजातीय, विजातीय एवं स्वगत भेद रहित है। एक ही प्रकार की वस्तुओं में जो भेद होता है उसे सजातीय भेद कहा जाता है जैसे एक गाय का दूसरी गाय से भेद। दो असमान वस्तुओं का भेद विजातीय भेद है जैसे गाय और घोड़ें में। एक ही वस्तु और उसके अंशों में जो भेद होता है वह स्वगत भेद है जैसे गाय के सींग एवं पुच्छ में। ब्रह्म के एक, अद्वितीय होने से उनमें सजातीय या विजातीय भेद का प्रश्न ही नहीं पैदा होता। चूंकि ब्रह्म निरवयव एवं निराकार है इसलिए इसमें स्वगत भेद भी नहीं है। रामानुजाचार्य चित् उचित अचित् को ब्रह्म का फर्श मानकर स्वगत भेद स्वीकार करते हैं।

ब्रह्म विरोध मुक्त – विरोध दो प्रकार का होता है प्रत्यक्ष विरोध और सम्भावित विरोध। एक प्रतीति का दूसरी वास्तविक प्रतीति से खण्डित हो जाना प्रत्यक्ष विरोध है जैसे रस्सी (आधेपठान) के ज्ञान से पूर्व उसमें अनुभूत सर्पज्ञान का खण्डित हो जाना। सम्भावित विरोध उसे कहते हैं जो युक्ति के द्वारा बाधित होते है। परिवर्तन असत्य है क्योंकि इसका खण्डन युक्ति से होता है। अद्वैत तन्त्र में परिवर्तन अतास्त्विक होता है जिसे विवर्त कहा जाता है। मूल सत्ता या ब्रह्म परिवर्तन से परे है। चूंकि ब्रह्म त्रिकालाबाधित है अत: उसमें न तो प्रत्यक्ष विरोध है न सम्भावित।

व्यक्तित्व शून्य – आचार्य शंकर ब्रह्म को निर्वैयक्तिक मानते है। व्यक्तित्व में आत्मा और अनात्मा का भेद रहता है। ब्रह्म सजातीय, विजातीय एवं स्वगत सभी भेदों से रहित है इसलिए वह व्यक्तित्वरिक्त निर्वैयक्तित्व सत्ता है। शंकराचार्य की तरह पाश्चात्य विचारक ब्रैद्व के भी

---

[36] तदेव आत्मस्वरूपं ब्रह्म निरतिशयं भूमाख्यं बृहत्वाद् ब्रह्मेति विद्धि। केनीपनिषद्भाष्य 1/4

[37] यतोवाचो निवर्तन्ते अप्राच्य मनसा सह। तैत्ति उ. 2/4/1

[38] केन उपनिषद् ¼-5 एवम् उस पर शंकर भाष्य

परम सत्ता को व्यक्तित्व रिक्त मानते हैं। रामानुजाचार्य ब्रह्म को व्यक्तित्व पूर्ण मानते हैं। उनके अनुसार ब्रह्म में स्वगत भेद है। ब्रह्म चिदचिद् विशिष्ट व्यक्तित्वपूर्ण अद्वैत सत्ता है।

ब्रह्म का लक्षण – आचार्य शंकर ने ब्रह्म के वास्तव स्वरूप का निर्णय करने के लिए दो प्रकार के लक्षणों को स्वीकार किया है – स्वरूप लक्षण, तटस्थ लक्षण। स्वरूप लक्षण पदार्थ के तात्त्विक रूप का परिचय देता है, परन्तु तटस्थ लक्षण कुछ देर तक रहने वाले प्रतीयमान आगन्तुक गुणों का निदेर्श करता है।[39] उदाहरणार्थ एक नर किसी नाटक में राजा की भूमिका अदा करता है तो नाटक के क्रिया व्यापार तक मंच पर वह राजा है किन्तु वास्तव में वह नर ही है। उसको राजा मानना तटस्थ लक्षण हुआ और नर बतलाना स्वरूप लक्षण हुआ।

ब्रह्म का स्वरूप लक्षण है[40] विज्ञानमानन्द ब्रह्म[41] वृह. 3/1/28, विज्ञानघन एव[42] (वृह. 2/4/12), सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म[43] (तैत्ति 2/1/1) प्रज्ञान ब्रह्म[44] (ऐतर 3/1/3)।[45] सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म में सभी लक्षणपरक श्रुतिवाक्यों का समाहार हो जाता है। यह ब्रह्म का लक्षण है[46], विशेषण नहीं। लक्षण और विशेषण में अन्तर होता है। विशेषण अपने विशेष्य का उसके सजातीय पदार्थों से व्यावर्तन करने वाले होते हैं, किन्तु लक्षण उसे सभी से व्याग्रत (अलग) कर देता है।[47] 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' में एक दूसरे की अपेक्षा न रखकर सत्यं ब्रह्म' 'ज्ञानं ब्रह्म' 'अनन्तं ब्रह्म' तीनों पद ब्रह्म शब्द से सम्बन्धित है।[48]

सत्य का अर्थ है अपने निश्चित स्वरूप से कथमपि कियदपि व्यभिचरित न होना।[49] व्यभिचरित होने पर उसे मिथ्या कहा जाता है।[50] इसलिए विकार मिथ्या है। 'विकार केवल वाणी से होने वाला और नाममात्र है, बस श्रुति का ही सत्य है। इस प्रकार श्रुति से निश्चय किये जाने के कारण सत् ही सत्य है। अत: 'सत्य' ब्रह्म यह वाक्य ब्रह्म को विकार मात्र से निवृत्त करता है।

मृत्तिका (उपादान कारण) के समान कहने से ब्रह्म में जड़ रूपता का प्रसंग न उपस्थित हो, शंका न हो, इसीलिए 'ज्ञान ब्रह्म' कहा गया। ज्ञान ज्ञप्ति यानि अवबोध को कहते हैं। ज्ञान शब्द भाव वाचक है।[51]

जो वस्तु कहीं से विभक्त न हो वह अनन्त है।[52] जहाँ किसी दूसरे को नहीं जानता वह भूमा है (यत्र नान्य-द्विजानाति स भूमा छा. 7/24/1)। ब्रह्म भूमा है, वह अनन्त है।

---

[39] स्वरूप सद्व्यखर्तक स्वरूप लक्षणम्। कदाचि त्कत्वे सति व्यावर्तक तटस्थ लक्षण्य्

[40] शंकर भाष्य केन उप. द्वितीय खण्ड।

[41] ब्रह्म विज्ञान एवं आनन्द स्वरूप है।

[42] वह विज्ञानघन ही है।

[43] ब्रह्म सत्य, ज्ञान और अनन्त स्वरूप है।

[44] प्रज्ञान ब्रह्म है।

[45] इति च ब्रह्मणों रूपं निर्दिष्टं श्रुतिषु। शंकर भाष्य केन 2/1

[46] लक्षणार्थ वाक्यम्। शंकर भाष्य तेत्ति 2/1

[47] समान जाती एव निवर्तकानि विशेषणानि विशेष्यस्य। लक्षणं तु सर्वत एव। शांकरभाष्य तैत्तिरीय उप. 2/1

[48] परस्परं निरपेक्षा ब्रह्मशब्देन सम्बध्यते सत्यं ब्रह्म ज्ञानं ब्रह्मनन्तं ब्रह्मेति। शांकरभाष्य तैत्ति 2/1

[49] यद्रूपेण यन्निश्चितं तद्रूपं न व्यभिचरित तत्सत्यम्। वही 2/1

[50] व्यभिचरदनृतम्। वही

[51] ज्ञानं ज्ञप्तिरवबोध:भावसाधनो ज्ञानशब्द:। वही

[52] न कुर्ताश्चिचतत्रविभज्यते तदनन्तम्।। वही

ब्रह्म का एक अन्य लक्षण उसका आनन्दमय होना है। उसी आनन्द को प्राप्त कर हम आनन्दित होते हैं।[53]

तैत्तिरीय उपनिषद् की ब्रह्मानन्दवल्ली में अनेक मन्त्रों में ब्रह्म के लिए आनन्द शब्द प्रयोग हुआ है 'रसो वैस: (2/7) यदेष आकाश आनन्दी न स्यात। एष हयेवानन्दयाति (2/7) 'सैष आनन्दस्य मीमांसा भवति', आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति कुतश्चन (2/8,9) आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात् (3/16) बृहदारण्यकोपनिषद् में भी विज्ञानमानन्दं ब्रह्म (3/9/28) कहा गया है। शंकराचार्य इन श्रुत्तियों को आधार बनाकर ब्रह्म को आनन्दमय कहते हैं। यहाँ आनन्दमय में मयट् प्रत्यय विकारार्थ न होकर प्राचुर्यार्थ है।[54]

ब्रह्म जगत् की उत्पत्ति, स्थिति एवं लय का कारण है[55], आगन्तुक गुणों के समावेश होने से यह उसका तटस्थ लक्षण है। इस रूप में वह सगुण ब्रह्म या ईश्वर है। ब्रह्म ही इस कथित जगत् का निमिन्त एवम् उपादान कारण है। इसे समझाने के लिए श्रुति में मकड़ी के जाले का उदाहरण दिया गया।[56] मकड़ी जाल को बनाने की सामग्री स्वयं से उत्पन्न करती है और निर्माण भी करती है। वैसे ही ईश्वर इस जगत की सामग्री भी स्वयं है। अपने से ही बनाता है और निर्माणकर्ता भी स्वयं है। ब्रह्म जगत् की रचना कर उसी में व्याप्त हो गया[57] किन्तु उसकी सत्ता यहॉं समाप्त नहीं हुई, वह विश्व के बाहर भी है – विश्वातीत भी है। श्रुति स्पष्ट कहती है वह एक पाद से संसार में व्याप्त है उसका तीन पद द्युलोक में है।[58] यह ब्रह्म का सगुण रूप है। वह सर्वगुण सम्पन्न सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान, सर्वव्यापक एवम् अनन्त गुणाकर एवं दयालु है, उपास्य है। व्यवहारिक जगत् और सगुण ब्रह्म दोनों की स्थिति मायिक है। माया के कारण ही ब्रह्म जगत् रूप में भासता है और ईश्वर इसका सचालक होता है। वास्तव में निर्दिष्ट निराकार ब्रह्म ही परमार्थ है, माया निवृत्ति के साथ ही सगुण ब्रह्म एवं जीव जगत् की सत्ता अन्यथा हो जाती है।

पारमार्थिक दृष्टि से ब्रह्म निर्विशेष एवं निराकार है। उसमें जीव एवं जगत् का कोई गुण आरोपित नहीं किया जा सकता। वह सजातीय, विजातीय एवं स्वगत भेद रिक्त है। उसका सर्वोत्तम निर्वचन नेति-नेति है। उपनिषद् उसे नेति नेति कह कर पुकारते हैं।[59] प्रत्येक विधेय उद्देश्य को सीमित करता है। यदि कहें कि कलम लाल है तो वह हरा, पीला, नीला इत्यादि नहीं हो सकता। ब्रह्म असीमित है इसलिए किसी विशेषण से उसे सीमित नहीं किया जा सकता। शब्दों के माध्यम से उसका निर्वचन नहीं किया जा सकता। वह अनिर्वचनीय है। लेकिन इसका अर्थ यह नहीं है, कि वह शून्य है। शंकराचार्य ने स्वयं कहा कि ब्रह्म सच्चे अर्थों में निरूपाधिक है, और

---

[53] रसं हयेवायं लबध्वानन्दी भवति उ. 2/7

[54] शंकर भाष्य ब्रह्मसूत्र 1/1/12 एवं तैत्तिरीयोपनिषद् 2/7

[55] यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते। येन जातानि जीवन्ति। यत्प्रयन्त्यमिसंविशान्ति तद्विजिज्ञास्व तद् ब्रहमेति। तै. उ. 3/1 ब्र. सूत्र 1/1/2

[56] यथोर्णनाभि: सृजते गृहतेच ..... तथाक्षरात्सम्भवतीह विश्रम्।। मु. उ. 1/1/7।

[57] तत्सृष्टत्वा तदेवानुप्राविशत्। तैत्ति. उ. 2/6

[58] पादोडस्य विश्रवा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि।। ऋग्वेद 10/90/03

[59] 'अथात आदेशो नेति नेति'। पञ्चदशी में एक उदाहरण दिया गया है कि घर आदि में रखे आकारवान पदार्थों को घर से निकाल देने पर निकालने के अयोग्य अमूर्त (निराकार) आकाश ही शेष रह जाता है, उसी प्रकार ब्रह्म से भिन्न बाध योग्य मूर्ति-मूर्त आदि सभी का 'नेति नेति' (यह भी ब्रह्म नहीं, यह भी ब्रह्म नहीं) इत्यादि श्रुति वाक्यों द्वारा निराकरण कर दिये जाने पर अन्त में सब अनात्म पदार्थों के बाघ का साक्षी ज्ञान मात्र शेष रह जाता है, वही बाधा साहित्य शब्द से उपलक्षित आत्मा ब्रह्म है – अपनी तेषु मूर्तेषु ह्यमूर्त शिष्यते वियत्। शस्येषु बाधितेष्वन्ते, शिष्यते यत्तदेव तत्।।

इसलिए मन्द बुद्धि को शायद वह शून्य दिखाई दे।[60] ब्रह्म स्वानुभूत्येक गम्य है (स्वानुभूति से जाना जाता है)। आत्मा रूप में सबको ब्रह्म का अनुभव होता है। गूरु शिष्य को उपदेश भी देता है – तत्त्वमसि श्रवेतकेतो (छा. 6/8)।

ब्रह्म एवं जीव

परमार्थत: जीव और ब्रह्म में कोई भेद नहीं है – जीवोब्रह्मैवनापर: वस्तुत: जीव, ईश्वर एवं ब्रह्म एक ही है। अद्वैत में भेद कौन? अनादि अविद्या के गाढ़ निद्रा में चिरकाल से सोया जीव तत्त्वमसि आदि महावाक्यों के ज्ञान से जगता है तो उसे देह, इन्द्रिय, बुद्धि के उपाधि से परे अद्वैत आत्मतत्व का साक्षात्कार हो जाता है। अविद्या के साथ तज्जन्य कर्म जाल भी नष्ट हो जाता है। जीवत्व, कर्तृत्व, भोक्तृत्व आदि की मिथ्या कल्पनायें भी विलीन हो जाती हैं। जीव ब्रह्म हो जाता है यह कथन भी उपचार मात्र है क्योंकि जीव सदा ही ब्रह्म है। जीवत्व तो अविद्या जनित भ्रान्ति है – रज्जु-सर्प, शुक्ति-रजत के समान। बन्धन और मोक्ष दोनों व्यवहारिक हैं, पारमार्थक नहीं। एक ही कूटस्थ, नित्य, विशुद्ध विज्ञान स्वरूप आत्म तत्त्व है जो अविद्या के अनेक रूपों में प्रतीत होता है। इसके अतिरिक्त अन्य कोई तत्त्व नहीं है।[61] जो लोग श्रुति में जीव और ब्रह्म का वास्तविक भेद प्रतिपादित करते हैं वे पण्डितों में निकृष्टतम (पण्डितापसद) हैं।[62] नृसिंह सरस्वती कहते हैं, सत्ता रूप से जीव एवं ब्रह्म का भेद नहीं हो सकता क्योकि सत्ता पूर्ण एक, अखण्डित एवं व्यापक पदार्थ है।[63] जीवात्मा वस्तुत: देह नहीं देव है, जड़ नहीं चेतन है, दृश्य नहीं द्रष्टा है, परिच्छिन्न नहीं अपरिच्छित है। अत: इसकी भी ब्रह्म के समान त्रिकालाबाधित पारमार्थिक् सत्ता है। यह स्वयं प्रकाश, चित्: सिद्ध स्वरूप है।[64]

ब्रह्म एवं जीव के सम्बन्ध में अद्वैती प्रतिबिम्बवाद, अवच्छेदवाद और आभासवाद की अवधारणा प्रस्तुत करते हैं। ब्रह्म का अविद्या में प्रतिबिम्ब ही जीव है जैसे चन्द्रमा का जल में प्रतिबिम्ब-एकधा बहुधा चैव दृश्यते जल चन्द्रवत्। जल के स्वच्छ, अस्वच्छ के तारतम्य से प्रतिविम्बम में मलिनता आदि आ जाती है। एक प्रतिविम्ब के कम्पित होने का प्रभाव अक प्रतिबिम्ना पर नहीं पड़ता वैसे ही एक जीव का कर्म फल के साथ सम्बन्ध होने पर दूसरे जीव का सम्बन्ध नहीं होता। किन्तु प्रतिबिम्ब वाद में समस्या है कि निराकार ब्रह्म का माया के कारण अविद्या में प्रतिबिम्ब कैसे पड़ सकता है। प्रतिबिम्ब तो साकार का पड़ता है। इस कठिनाई से बचने के लिए अवच्छेदवाद का सिद्धान्त दिया गया। माया के द्वारा अविद्या अथवा अन्त:करणावच्छिन जीव है। आत्मा दिक् के समान एक है, दिक् अखण्ड है किन्तु अपनी सुविधानुसार उसमें कृत्रिम रूप से खण्डों की कल्पना कर लेते हैं। इसी प्रकार एक ही आत्मा अनेक आत्मा के रूप में दीख पड़ती है। किन्तु माया या अविद्या ब्रह्म को परिच्छिन्न कैसे कर सकती है। फिर आभासवाद से इस सम्बन्ध को समझ गया। इसके अनुसार ब्रह्म का अविद्या अन्त:करण में आभास जीव है। माया के सदसदनिर्वचनीय होने से आभास भी सदसदनिर्वचनीय है। मिथ्या है। शंकराचार्य आभासवाद को स्वीकार करते हैं यद्यपि उन्होंने प्रतिबिम्ब एवम् अवच्छेद की उपमायें एवं दृष्टान्त भी दिये हैं किन्तु उपमा के रूप में। इन्हें वाद

---

[60] शंकर भाष्य छा. 8/1/1

[61] ब्रह्मसूत्र शंकर-भाष्य 1/3/19

[62] य: च एवं बुध्यते य: च: बोधयति न असौ क्षेत्रन इति। एवं मन्वानो य: स पण्डितापसद:। शंकर-भाष्यगीता 13/2

[63] न जीवब्रहमणोर्भेद: सत्ता रूपेण विद्यते। सत्ता भेदे न मान स्यादिति वेदान्त-डिण्डिम:।।

[64] ब्रह्मसूत्र शाकड़रभाष्यम् सत्यानन्दीदीपिका पृ. 17

के रूप में कभी ग्रहण नहीं किया। उनके अनुसार प्रतिबिम्ब और अवच्छेद भी आभास के अन्र्तगत ही आता है। आचार्य का मानना है कि माया का अविधा ब्रह्म को वस्तुत: न प्रतिबिम्बित कर सकता है, न सीमित कर सकता है। माया मात्रि है अत: उसके आभास भी मिथ्या हैं। आभास ब्रह्म के विवर्त हैं, परिणाम नहीं।

1.5 अध्यास

ब्रह्म ही एकमात्र परमार्थ सत्ता है तो जीव एवं जगत् की सत्ता अनुभव में कैसी आती है? इसका उत्तर शंकराचार्य अध्यास के द्वारा देते हैं। एक वस्तु का अपना स्वरूप छिपाकर किसी दूसरे रूप में प्रतीत होना अर्थात् सत् पदार्थ में तद् भिन्न असत् पदार्थ के स्वरूप का आरोपण ही अध्यास है।[65] उदाहरणार्थ रज्जु में सर्प एवं शुक्ति में रजत अध्यान्त कह जायेगा। इसी प्रकार ब्रह्म में जगत् अध्यास हो जाता है।

ब्रह्म सूत्र भाष्य के पूर्व शंकराचार्य अध्यास का विवेचन करते है। जीव और जगत् विषयी और विषय, प्रकाश और अन्धकार के समान विरोधी धर्म वाले हैं। अनात्मा जड़ और आत्मा चैतन्य रूप होने से विरोधी है। अनात्मा (आत्मा भिन्न सारा जगत्)। जड़ और प्रकाश्य होने से विषय है, आत्मा विषयी है। चेतनत्व, नित्यत्व आदि आत्मा के धर्म हैं, जड़त्व, फरेच्छिनत्व आदि अनात्मा के धर्म हैं। इस प्रकार दोनों धर्मि और उनके धर्म एक दूसरे से भिन्न एवं विरुद्ध हैं। परन्तु दोनों के भेद का ज्ञान न होने से दोनों विरुद्ध धर्मियों का एक दूसरे में अध्यास होता है। आत्मारूपी धर्मि में यह में हूँ ऐसी अनात्मा बुद्धि तथा देह, इन्द्रियादि अनात्मा में यह आत्मा है ऐसी आत्मा बुद्धि होती है। इसी अध्यास के आधार पर समान लौकिक एवं वैदिक प्रमाता, प्रमाण, प्रमेय आदि व्यवहार प्रवृत्त हुए हैं। विधि, निषेध, बोधक एवं मोक्ष परक शास्त्र भी इसीलिए प्रवृत्त हुए हैं।

1.6 माया

निर्विशेष एक मात्र परमार्थ सत्ता ब्रह्म में सविशेष जगत् का अध्यास क्योंकर हुआ। इसका उत्तर अद्वैत वेदान्त माया के द्वारा देता है। माया ही अधिष्ठान ब्रह्म को आच्छादित कर उसमें जगत् को अध्यस्त करती है अर्थात् जगत् को दिखाती है। मायामुक्त होने पर ब्रह्म में जगत् की प्रवृत्ति नहीं होती है। मायोपहित ब्रह्म मे है। जगत् आभास मात्र है। यह माया ब्रह्म की शक्ति है जैसे अग्नि में दाहिका शक्ति। यह अनादि त्रिगुणात्मिका एवं भाव रूप पदार्थ हैं। यह अभाव रूप नहीं है इसे बतलाने के लिए भाव रूप कहा गया है। यह ज्ञान विरोधी है। इसका पता इसके कार्यों से चलता है। यही इस जगत् को उत्पन्न करती है।[66] परमेश्वर की बीज शक्ति यह माया अव्यक्त कही जाती है। यह परमेश्वर में आश्रित रहने वाली महासुषुप्ति रूपिणी है जिसमें अपने सत्य रूप को न जानने वाले सांसारिक जीव शयन किया करते हैं।[67]

यह माया न सत् है, न असत्, न सदसद् उभयात्मक, न भिन्न है, अभिन्न, न भिन्नाभिन्न, न सांग

---

[65] अध्यासो नाम अतस्मिंस् तद् बुद्धि:। ब्रह्म-सूत्र शंकरभाष्य पृ. १७

[66] अव्यक्तनाम्नी परमेशशक्ति रनाद्यविद्या त्रिगुणात्मिका परा। कार्यानुमेया सुधियैव माया यया जगत सर्वमिदं प्रसूयते।। विवेकचूडामणि श्लोक 110

[67] अविद्यात्मिका हि बीजशक्तिरव्यक्त शब्दनिर्देश्या परमेश्वराश्रया मायामयी महासुषुप्ति: यस्यां रवरूप प्रतिबोधरहिता शेरते संसारिणों जीवा: ब्रहमसूत्र शांकरभाष्य 1/4/3

है, न अनंग, न उभयात्मक। सबसे विलक्षण अनिर्वचनीय है।[68] माया सत् नहीं क्योंकि ब्रह्मज्ञान से पूर्व इसका बोध होता है और यदि सत् होती तो इसकी प्रतीति सदा होती, कभी बाधित नहीं होती। माया असत् भी नहीं है क्योंकि उसकी प्रतीति होती है। ब्रह्म ज्ञान के पूर्व उसकी प्रतीति है। सारा जगत् ब्रह्म में माया द्वारा अध्यस्त है। ब्रह्म ज्ञान के पूर्व यह यथार्थ दिखाई पड़ता है। जगत् एक ऐसा स्वप्न है जिसे सब लोग देख रहे हैं। यह वैयक्तिक नहीं है किन्तु ब्रह्म ज्ञान होते ही माया और तज्जन्य अध्यास का बोध हो जाता है। इस प्रकार माया में बाध एवं प्रतीति दोनों लक्षण है। इसीलिए इसे सदसद् अनिर्वचनीय कहा जाता है।

माया की शक्तियाँ: आवरण एवं विक्षेप – माया की दो शक्तियाँ हैं – (1) आवरण और (2) विक्षेप। आवरण शक्ति से वह वस्तुभूप ब्रह्म के वास्तविक स्वरूप को ढकती है और विक्षेप शक्ति से अवस्तुरूप जगत् को उत्पन्न करती है। लोक व्यवहार में भी अधिष्ठान को ढक कर ही उस पर नवीन पदार्थ की स्थापना होती है। एक जादूगर कंकड़ उछालता है और वह सिक्कों के रूप में जमीन पर गिरता है। यहाँ जादूगर दो काम कर रहा है- अपने जादू की शक्ति से वह कंकड़ के रूप को ढक दे रहा है (आवरण) और उस कंकड़ में सिक्का दिखा रहा है (विक्षेप)। इसी प्रकार माया ब्रह्म के वास्तविक स्वरूप को ढक कर उसमें नानात्मक रूप जगत् को दिखाती है। उसमें आकाश, जल, अग्नि तथा पृथ्वी आदि के उत्पन्न होने की धारणा हमारे सामने लाती है। प्रपञ्च जगत् माया की दोनों शक्तियों के सामूहिक व्यवहार का प्रतिफल है। जैसे दुर्दिन में सूर्य के घने बादलों से ढक जाने पर वर्षा आंधी और तूफान से व्यक्ति पीड़ित होता है वैसे ही माया अधिष्ठान ब्रह्म को ढक कर अपने विक्षेप शक्ति से नाना प्रकार की रचना कर हमें दु:ख देती है।[69] यहाँ बादल, सूर्य को नहीं ढकता सूर्य वैसे ही प्रकाशित रहता है, सूर्य और हमारे बीच आवरण डालता है। वैसे ही ब्रह्म वास्तव में नहीं ढकता हमारी दृष्टि में ढकता है। जो लोग जादूगर के जादू को जानते हैं वे उसके जादू से प्रभावित नहीं होते। जो नहीं जानता प्रभावित होता है। इसी प्रकार ब्रह्मज्ञानी जो ब्रह्म के परमार्थ रूप को जानता है, उसके लिए माया निर्मित जगत् मिथ्या है। अज्ञानी के लिए सत्य है। इस पूरी प्रक्रिया में ब्रह्म में कोई परिवर्तन नहीं होता। वह तो सदा एक दम निर्विकार बना रहता है।

ईश्वर एवं जीव दोनों ही माया जन्म हैं, मायिक हैं। इनकी यथार्थ सत्ता नहीं है। यथार्थ सत्ता तो एक मात्र अद्वैत ब्रह्म की है।[70]

1.7 सारांश

अद्वैत पद्धति वह पद्धति है जो द्वैत या भेद को मिथ्या मानती है और एक परमार्थ सत्ता ब्रह्म को स्वीकार करती है। इसका लक्ष्य एकतत्व का प्रतिपादन है। संहिताओं, उपनिषदों, गीता एवं ब्रह्म सूत्र में एकतत्व का ही प्रतिपादन है ऐसा अद्वैती स्वीकार करते हैं और उसके पीछे प्रमाण भी देते हैं। आर्ष ग्रन्थों के अतिरिक्त गौड़पाद कृत माण्डूक्य कारिका, जो माण्डूक्योपनिषद् पर एक तरह का मापक है, एकत्व का प्रतिपादन करती है। इसमें अजातिवाद का सिद्धान्त प्रतिपादित

---

[68] सन्नाप्यसन्नाप्युभयात्मिका नो भिन्नाप्यभिन्नाप्युभयात्मिका नो। साड़ाप्यनड़ाप्युभयात्मिका नो महाभुतानिर्वचनीयरूपा।। विवेकचूड़ामणि 11प्यु1

[69] कवलितदिननाथे दुर्दिने सान्द्रमेधैर्व्यथयति हिमझञ्झावायुसर्गेर्यथैतान्। अविरततमसात्मन्यावृते मूढबुद्धिं क्षपयति बहु दु:खे तींव्र विक्षेप शक्ति:।। विवेकचूड़ामणि 1/5

[70] मायाख्यया: कामधेनोर्वत्सौ जीवेश्वरावुभौ। यथेन्छं पिबतां द्वैतम् तत्वमद्वैतमेव हि।। पण्चदशी 6/236

है। शंकराचार्य इस परम्परा के महान आचार्य हैं, जिन्होंने प्रस्थानत्रयी (उपनिषद्, ब्रह्मसूत्र एवं गीता) पर भाष्य लिखकर अद्वैत तत्त्व का प्रतिपादन किया है। इसके अतिरिक्त सुरेखराचार्य, पद्मपादाचार्य, वाचस्पतिमिश्र, प्रकाशात्मयति, श्रीहर्ष, विद्यारण्य मुनि, मधुसूदन सरस्वती आदि आचार्यों ने अद्वैतवाद के एकत्व प्रतिपादन में अपना स्तुत्य योगदान किया है।

अद्वैत सिद्धान्त यह मानता है कि जो सत्ता त्रिकालाबाधित हो, कभी खण्डित न हो वही परमार्थ है। जिसका बाध है, वह वास्तविक नहीं है। रज्जु में सर्प की प्रतिति एक प्रतिमान है, प्रकाश होने पर सर्पज्ञान खण्डित हो जाता है। जगत की सत्ता व्यवहार की है, दीर्घ कम्रिक है, परब्रह्म ज्ञान से इसका बाध हो जाता है इसलिए वह परमार्थ नहीं है।

एक मात्र ब्रह्म ही ऐसी सत्ता है जो त्रिकालाबाधित है। इस सम्बन्ध में श्रुतियों में अनेकश: प्रमाण हैं। तार्किक रूप से बाहय जगत् का परीक्षण करने पर एक मात्र निवेश, वासना और आन्तरिक जगत् का परीक्षण करने पर निर्विशेष चैतन्य की प्राप्ति होती है, जो अबाधित है। सत्ता एवं चैतन्य एक ही हैं - -**सत्ता एवं बोधो, बोधो एवं सत्ता'।** यही ब्रह्म है। ब्रह्म सजातीय, विजातीय एवं स्वगत भेद से रहित है, उसमें प्रत्यक्ष एवं सम्भावित किसी प्रकार का विरोध नहीं है। उसमें आत्मा एवम् अनात्मा का भेद न होने से वह निर्वेयक्तिक है।

सत्य, ज्ञान एवम् अनन्त ब्रह्म का स्वरूप लक्षण है। अपने स्वरूप से किञ्चत्, भी व्यभिचरित न होना सत्य है। ब्रह्म सभी विकारों से सर्वथा परे एक मात्र सत्य है। वह अवबोध रूप है। ज्ञान शब्द अवबोध और प्रकाश का द्योतक है। भूमा होने से, उसमें किसी प्रकार विभाजन न होने से, ब्रह्म अनन्त भी है। उसका एक आस्पद, अक्षय आनन्द स्वरूपता है। उसी आनन्द को पाकर हम आनन्दित होते हैं।

ब्रह्म उत्पति, स्थिति और लयका कारण है या उसका तटस्थ लक्षण है, इस रूप में वह सगुण ब्रह्म या ईश्वर है। वह भी इस उचित जगत् का निमित्तोपादन कारण है। वह विश्व में व्याप्त होकर भी विश्व से परे है।

व्यावहारिक जगत् और सगुण ब्रह्म दोनों की सत्ता मायिक है। भाषा के ही साथ ब्रह्म जगत् रूप में भासता है और ईश्वर द्वारा क्रियान्वित होता है। वास्तविक निर्गुण निराकार ब्रह्म ही परमार्थ सत्ता है। ब्रह्मतम से माया की निवृत्ति होते ही सगुण ब्रह्म एवं जगत् की सत्ता अन्यथा हो जाती है। निराकार ब्रह्म का सर्वोच्च निर्वचन नेति नेति है। शब्द या वाणी की गति उस तक नहीं है परन्तु वह स्वानुभूति गम्य है।

ब्रह्म में जीव और जगत् की अनुभूति अध्यास के कारण है। जो वस्तु जहाँ नहीं है उसकी वहाँ वहाँ बुद्धिमान अध्यास है यह साथ ही समस्त लौकिक एवं वैदिक महत्व से कारण है। ब्रह्म में जीव जगत् का अध्यास माया अपने आवरण एवं विक्षेप शक्ति से करती है जैसे जादूगर कंकड़ का स्वरूप छिपाकर उसमें सिक्के को अध्यस्त कर हमें सिक्का दिखा देता है। जब ब्रह्मज्ञान से माया का निरूपण होता है तो एकमात्र परमार्थ सत्ता ब्रह्म ही रह जाता है जैसे कोई जादुई विद्या का समझ ले तो जादू का प्रयोग करके भी उसे कंकड़ में सिक्का नहीं दिखा सकेगा। वह कंकड़ ही देखेगा। ब्रह्मज्ञानी सर्वत: ब्रह्म ही देखेगा।

1.8 पारिभाषिक शब्दावली

सत्य	-	(1) स्वरूप से किकञ्चदपि परिवर्तित न होना (2) त्रिकालाबाधित होना।
सत्	-	त्रिकाल में अबाधित सत्ता
अनन्त	-	कहीं से विभाजित न होना
अध्यास	-	जिसमें जो वस्तु नहीं है उसमें उस वस्तु की प्रतीति होना
विवर्त	-	अवास्तविक परिवर्तन (रस्सी में अँधेरे में साँप देखना)
परिणाम	-	वास्तविक परिवर्तन (दूध से दही बनना)
निमित्त कारण	-	वस्तु निर्माता
उपादान कारण	-	निर्माण सामग्री
विश्व व्यापक	-	विश्व के कण-कण में व्याप्त होना
विश्वातीत	-	विश्व से परे रहना
आवरण	-	वस्तु के वास्तव रूप को ढकना
विक्षेप	-	वस्तु में दूसरी वस्तु दिखना
आभास	-	जो वस्तु विद्यमान नहीं है, उसकी प्रतीति
अलीक फूल	-	तुच (जिसकी सत्ता मात्र शब्द में हो) सत्ता जैसे खंपुष्प– आकाश का

1.9 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. ऋग्वेद संस्कृत बरेली 2002 ई.
2. यजुर्वेद संस्कृत बरेली 2002 ई.
3. अथर्ववेद संस्कृत बरेली 2002 ई.
4. ईशादि नौ उपनिषद् – शांकरभाष्य – गीता प्रेस गोरखपुर सं. 2071
   (ईश, केन, कठ, प्रश्न, मुण्डक, माण्डूक्य, ऐतरेय, तैत्तिरीय एव श्वेताश्वतर उपनिषद्)
5. छान्दोग्योपनिषद् श्रीरामानन्द वेदान्त प्रचारक समिति अहमदाबाद 2025 वि.
6. वृहदारण्यक उपनिषद् श्रीरामानन्द वेदान्त प्रचारक समिति अहमदाबाद 2025 वि.
7. केनाद्युपनिषद् पुरुषसूक्त श्री सूत्र भाष्यम – द सुन्दरम् चैरीटीज मद्रास 1973
   वेदान्त दर्शन (ब्रह्मसूत्र) गीता प्रेस गोरखपुर 2041 सं.

1.9 बोध प्रश्न

इकाई 2 आगम एवं निगम की परस्पर पूरकता

इकाई की रूपरेखा

2.0 उद्देश्य

प्रस्तुत ईकाई को पढ़ने के बाद आप–

- हिन्दू संस्कृति के मूल स्रोत के रूप में आगम का अर्थ एवं अवधारणा से परिचित हो सकेंगे।
- निगम कहे जाने वाले वाङ्मय का अर्थ समझ सकेंगे।
- आगम–निगम के मध्य किन–किन बिन्दुओं की समानता है, इस तथ्य से अवगत हो सकेंगे।
- आगम और निगम दोनों हिन्दू संस्कृति के मूल स्रोत हैं, इसे जान सकेंगे।
- साथ ही साथ आगमों की विशेषता तथा निगम से आगमों के स्वरूप में क्या अन्तर है, यह भी जान सकेंगे।

2.1 प्रस्तावना

भारत श्रुति–परम्परा का देश है। यहां ज्ञानपरम्परा शिष्यों द्वारा ज्ञान गुरूमुख से सुनकर पीढ़ी दर पीढ़ी प्रवाहित होती रही है। ज्ञान की इस वाचिक परम्परा में दो धाराएँ प्राप्त होती हैं। एक धारा चारों से वेद से लेकर उसके अंग उपांग तथा शास्त्रों के रूप में प्रवाहित होते हैं। इस धारा का मूल वैदिकसंहिता है। चूकि संहिता अपौरूषेय माना जाता है तथा उपसंहिता के परिवर्ती ज्ञानराशि को उसी का विस्तार माना जाता है। अतः इस धारा को निगम कहते हैं। निगम के सामानान्तर वह ज्ञान जो किसी देवता, ऋषि या भगवान् के मुख से निकलकर ज्ञान की एक परम्परा का निर्माण करता है, उसे सामान्य भाषा में आगम परम्परा कहते हैं।

आगम और निगम दोनों ही भारतीय ज्ञानपरम्परा के मूल स्रोत हैं। जिन सिद्धान्तों का प्रतिपादन संगठित रूप से निगम परम्परा में पाई जाती है, उन्हीं सिद्धान्तों को लोकोपयोग और व्यवहारिक अपेक्षाओं की पूर्ति हेतु आगम की परम्परा विकसित होती है। सामान्यतः आगमों में यज्ञ के स्थान पर देवताओं की उपासना और उपासना की विधियों का वर्णन प्राप्त होता है।

यदि हिन्दू संस्कृति के धार्मिक पक्ष को भलिभाँति समझना है, तो हमें आगम और निगम के अन्तःसम्बन्धों को समझना आवश्यक है। इसी आवश्यकता को ध्यान में रखते हुए इस ईकाई में आगमों का परिचय, अवधारणा एवं आगम और निगम के मध्य समन्वय का वर्णन किया गया है। प्रस्तुत ईकाई को पढ़ने के बाद आगम और निगम दो विपरित दिखने वोले धाराओं की समन्वयात्मक स्वरूप को आप समझ सकेंगे।

2.2 सामान्य परिचय

साधारणतया यह समझा जाता है कि भारतीय दर्शन, धर्म एवं संस्कृति का मूल स्रोत वेद (निगम) है, और इस संदर्भ में तन्त्र (आगम) की ओर लोगों का ध्यान कम जाता है। किन्तु भारतीय चिन्तनधारा को पूर्ण बनाने में तन्त्र का भी उतना ही महत्त्वपूर्ण योगदान है जितना वेद का। तन्त्र–परम्परा पर बिना ध्यान दिए यदि हम भारतीय जीवन–दर्शन को समझना चाहें तो हमारी समझ एकांगी होगी। वस्तुतः वेद और तन्त्र दोनों मिलकर भारतीय ज्ञानपरम्परा को पूर्ण करते हैं। वैदिक और तान्त्रिक परम्पराएं होने को तो हैं किन्तु उनकी आभ्यन्तर दृष्टि एक ही है। जैसे मनुष्य की आँखे दो होती हैं किन्तु उन दोनों की दृष्टि एक होती है, वैसे ही निगम और आगम होने को दो है किन्तु उनकी दृष्टि वस्तुतः एक ही है। जैसे दूसरी आँख को मूंदकर हकेवल एक आँख से ही देखने पर वस्तु को देखने में कठिनाई होती है, उसी प्रकार निगम और आगम में से केवल एक ही दृष्टि से देखने पर सत्य को देखने में कठिनाई होगी। अतः जैसे दोनों आँखें एक दूसरे की पूरक होती है, उसी प्रकार आगम और निगम एक दूसरे के पूरक है।

दार्शनिक ज्ञान के क्षेत्र में तो दोनों का समन्वय है ही, व्याव–हारिक क्रियाक्षेत्र में भी दोनों धाराएं एक हो जाती है। भारतीय जीवन में जहां वैदिक या औपनिषद परम्परा के अनुसार ब्रह्म या परम आत्मा को सबके परे देखने की विधा है, वही तान्त्रिक परम्परा के अनुसार सृष्टि की प्रत्येक वस्तु में परम शिव या शक्ति के दर्शन करने का प्राविधान है। विश्वोत्तीर्णता (टान्सेण्डन्स – ज्तंदेबमदकमदबम) एवं विश्वमयता (इमानेन्स – प्उउंदमदबम) का त्याग एवं ग्रहण का इन दोनों का सटीक समन्वय जैसा भारतीय संस्कृति में परिलक्षित होता है वैसा संभवतः अन्यत्र नहीं मिलता, और इसका श्रेय वैदिक एवं तान्त्रिक परम्पराओं के संमिलन को ही है। यह भी मजे की बात है कि तान्त्रिक परम्परा को वाममार्ग कहा जाता है एवं वैदिक परम्परा को दक्षिणमार्ग कहा जाता है। वाममार्ग ने तथाकथित त्याज्य एवं घृणित वस्तु को भी उदात्त बनाकर ग्रहण करने की विधा दी है जिससे हम उसी ऊचाई पर आसानी से पहुँच जाते है जहां पहुंचने के लिए दक्षिण मार्गी इंगित करता है। शरीर में भी वामहस्त एवं दक्षिण हस्त दोनों मिलकर एक ही क्रिया को संपादित करते है। भारतीय जीवनधारा में ये दोनों कभी दो रहे ही नहीं। भारतीय संस्कृति के प्रत्येक अंग–धर्म, साहित्य, कला, पारिवारिक एवं सामाजिक जीवन–सबमें दोनों का समन्वय परिलक्षित होता है। जैसे एक ही हिमालय से निकलने वाली गंगा एवं यमुना मैदानी कर्मक्षेत्र में आकर दोनों मिलकर एक हो जाती है एवं संमिलित धारा के रूप में भारतीय भूभाग को आप्लावित

करती है, उसी प्रकार एक ही ब्रह्म या शिव से निकलने वाली निगम और आगम की दो धाराएं संस्कृति के क्षेत्र में उतर कर एक हो जाती है एवं संमिलित रूप से भारतीय जनजीवन को आप्लावित करती है।

दार्शनिक दृष्टि से उपनिषद (जिसे वेद का अन्तिम भाग अथवा सारतत्त्व होने के कारण वेदान्त कहते है) का विशेष महत्त्व है। उपनिषद में शक्ति की अवधारणा यद्यपि पूर्णरूप से विकसित एवं पल्लवित नहीं है, किन्तु बीजरूप से तथा स्पष्ट यप से वर्तमान है तन्त्र ने इस बीज को पूर्ण यप से विकसित, पल्लवित, पुष्पित एवं फलित किया है। ब्रह्मा की सृष्टिक्रिया बतलाने वाले वाक्य, जिन्हें उपनिषद में स्पष्ट रूप से कहा गया है, ब्रह्म में उस तत्त्व का इंगित करते है जिसे तन्त्र में शक्ति, क्रिया, विमर्श, या स्पन्द कहा गया है। ''उसे अकेले अच्छा नहीं लगा, उसने इच्छा किया एक हू बहुत हो जाऊ'' (एकाकी न रेमे, स ऐक्षत एकोऽहम् बहु स्याम्) ''आनन्द से ही ये सभी भूत–प्राणी पैदा होते हैं'' (आनन्दाद्ध्येव हि खल्विमानि भूतानि जायन्ते) इत्यादि वाक्य स्पष्ट रूप से शक्ति या स्पन्द की अवधारणा को स्वीकार करते है। ऐसे वाक्यों को कहानी (आख्यायिका) कहकर टाल देना –जैसा कि शंकराचार्य ने किया है– उपनिषद के साथ अन्याय करना है। केनोपनिषद् के यक्षोपाख्यान में सुनहले वर्ण की उमा (उमा हैमवती) का जो प्रसंग आया है उससे इंगित होता है कि ब्रह्म (यक्ष) शिव है तथा उमा शक्ति है। कहना न होगा कि तन्त्र–परम्परा में उमा या पार्वती को शक्ति का ही प्रतीकात्मक पर्याय मानते हैं।

सारा तन्त्रशास्त्र इसी शक्ति की अवधारणा का विकास है तन्त्र ने परमतत्त्व चैतन्य (चिति या संवित्) को शक्ति रूप में देखा है। चैतन्य ज्ञानरूप तो है ही यह तन्त्र ने निर्विवाद रूप से स्वीकार किया है– ज्ञान के बिना चैतनय का कोई अर्थ ही नहीं है, जड़ से चेतन का यही तो भेद है कि चेतन में ज्ञान है, जड़ में नहीं – किन्तु यह चैतन्य का यही तो भेद है कि चेतन में ज्ञान है, जड़ में नहीं–किन्तु यह चैतन्य केवल ज्ञानरूप न होकर वस्तुतः ज्ञान–क्रियारूप अथवा प्रकाश विमर्शरूप अथवा शिव–शक्ति रूप है। उपनिषद् में चैतन्य की क्रियारूपता को स्वीकार करते हुए भी विशेष आग्रह ज्ञानरूपता पर है वहां आत्मज्योतिरूप 'प्रज्ञान ब्रह्म' की अवधारणा को विकसित किया गया है। अतः उपनिषद् के साथ–साथ ऐसे शास्त्र की आवश्यकता है जो ब्रह्म की शक्तिरूपता को भी पूर्ण विकसित करे, प्रज्ञानं ब्रह्म के साथ–साथ 'आनन्तं ब्रह्म' को अवधारणा को भ्ज्ञी समुचित महत्त्व दे, ताकि श्रुति (उपनिषद्) का अर्थ एकांगी लगा लेने की भूल न हो सके। यह काम तन्त्रशास्त्र करता है। इस दृष्टि से तन्त्र या आगम को वेद या निगम का पूरक कह सकते है। साथ ही, चतन्य के ज्ञानरूप की अवधारणा उसके क्रियारूप की अवधारणा में खो न जाय, इसके लिए उपनिषद् की भी आवश्यकता है। अतः आगम औश्र निगम वस्तुतः एक दूसरे के पूरक हैं।

उक्त बात मान्त्रिक प्रतीक के रूप में भी कही जा सकती है। 'ऊँ' वैदिक प्रणव मंत्र है जो ब्रह्म या शिव का प्रतीक हैं; ''ह्रीं'' तान्त्रिक बीजमन्त्र है जो शक्ति का प्रतीक है। अतः 'ऊँ ह्री' ये दोनों मिलकर पूर्ण मंत्र बनते है।

परमतत्त्व चैतन्य जिसे ब्रह्म या आत्मा या शिव कहा गया है, विश्वोत्तीर्ण (ट्रान्सेण्डण्ट–(Transcendent) एवं विश्वमय इमानेण्ट (Immanent) दोनों है। परमतत्त्व के इस द्वैध स्वरूप को निगम एवं आगम दोनों परम्पराओं में स्वीकार किया गया है। उपनिषद् में 'नेति नेति' एवं नेह नानास्ति किंचन के साथ–साथ सर्व खल्विद ब्रह्म को स्वीकार किया गया है। इसी प्रकार तन्त्र मं शिव अथवा शक्ति को विश्वोत्तीर्ण एवं विश्वमय दोनों कहा गया है। किन्तु उपनिषद में ब्रह्म की विश्वमयता की स्वीकृति होने पर भ्ज्ञी

विशेष आग्रह ब्रह्म की विश्वोत्तीर्णता पर दीखता है। उसी प्रकार आगम (तन्त्र) में शिव की विश्वोत्तीर्णता को स्वीकार करते हुए भी विशेष आग्रह शिव की विश्वोत्तीर्णता को स्वीकार करते हुए भी विशेष आग्रह शिव की विश्वमयता पर दीखता है। इस दृष्टि से भी निगम एवं आगम परम्पराएं एक दूसरे की पूरक है, जिससे तत्त्व की विश्वोत्तीर्णता एवं विश्वमयता दोनों का संतुलन बना रहे।

बात यह है कि तत्त्व की विश्वोत्तीर्णता एवं विश्वमयता दोनों को एक साथ लेना आवश्यक है। विश्व को आत्मसात् करने के लिए भी विश्व से ऊपर उठना होगा एवं उस ऊंचाई से विश्व को अपनी शक्ति के स्फार के रूप में अपनाना होगा, तभी विश्व को आत्मसात् किया जा सकता है। एक दृष्टान्त की सहायता से यह बात स्पष्ट होगी। कई फूलों की एक माला अगर बननी है तो उन फूलों में से एक फूल बाकी फूलों को अपने में गूंथ नहीं सकता, इसके लिए तो एक सूत्र की आवश्यकता है जो उन फूलों से भिन्न एवं परे है। किन्तु साथ ही महत्त्वपूर्ण बात यह भी है कि वह सूत्र फूलों से ऐसा भिन्न और परे भी नहीं है कि फूलों से उसका संबन्ध ही न हो सके वस्तुतः वह सूत्र उन फूलों में अनुम्यूत भी है। तात्पर्य यह कि फूलों को माला बनाकर आत्मसात् करने वाला सूत्र एक साथ ही फूलों से भिन्न एवं परे भी है तथा फूलों में अनुस्यूत भ्झी है। उसी प्रकार विश्व को आत्मसात् करने के लिए विश्व से परे उठना आवश्यक है, विश्वमय होने के लिए विश्वोत्तीर्ण होना जरूरी है।

इसी बात से यह बात भी निकलती है कि प्रवृत्ति के लिए निवृत्ति आवश्यक है और निवृत्ति के लिए प्रवृत्ति आवश्यक है। प्रवृत्ति के लिए निवृत्ति इसलिए आवश्यक है कि प्रवृत्ति का सुख भी गुणात्मक दृष्टि से (qualitatively) अच्छे प्रकार से हम तभी से सकते हैं जब कि भोग प्रवृत्ति से ऊपर उठकर हम अपने आत्मा में स्थित हों, क्योंकि भोग्यवस्तु में जो सुख है वह स्वयं भोग्यवस्तु का नहीं है वरन् आत्मा के ही आनन्द का बहिः स्फुटन है। जैसे चन्द्रमा का प्रकाश स्वयं चन्द्रमा का नहीं है वरन् सूर्य का है, उसी प्रकार जगत् की भोग्यवस्तु का आनन्द स्वयं वस्तु का नहीं वरन् आत्मा का है। इसीलिए जो व्यक्ति आत्मा में स्थित होता है वहीं संसार का वास्तविक सुख ले सकता है। उदाहरण के लिए किसी सुन्दरी स्त्री को भोग की दृष्टि से लिया जाय तो उसमें बहुत स्थूल किस्म का थोड़ा सुख मिलेगा किन्तु यदि उसी स्त्री को प्रेम की दृष्टि से लिया जाय तो पहले की तुलना में बहुत अच्छे किस्म का एवं अधिक आनन्द मिलेगा। प्रेम आध्यात्मिक वस्तु है जो हमें स्वतन्त्र बनाता है तथा साथ ही विश्व को आत्मसात् कराता है।

निवृत्ति के लिए प्रवृत्ति इसलिए आवश्यक है कि यदि योग–वासनाओं को मारकर अथवा उनका तिरस्कार कर हम केवल त्यागमार्ग पर चलेगे तो वे वासनाएं मरेगी नहीं, केवल दमित होकर हमारे अन्तर्मन में विराजमान रहेगी एवं मानसिक रोग का कारण बनेगी। वासनाओं पर विजय उनके उदात्तीकरण से ही हो सकती है, त्याग से नहीं। जैसे जल को वाष्प बनाकर ही उससे छुट्टी पाई जा सकती है जल को समाप्त करने के किसी भी अन्य प्रयास से जल समाप्त नहीं होगा, उसी प्रकार वासनाओं का उदात्तीकरण कर ही उनसे मुक्ति पायी जा सकती है, उनको मारने का कोई भी प्रयास असफल हो नहीं अहितकर भी होगा। इसीलिए ईशाव स्योपनिषद में कहा है, जो लोग अविद्या की उपासना करते है वे लोग तो अंधकार में पड़ते ही हैं, किन्तु जो लोग केवल विद्या में रत है वे लोग तो और भी अधिक अंधकार में पड़ते है। जो व्यक्ति विद्या एवं अविद्या दोनों को साथ–साथ समझता है, वह अविद्या की सहायता से मृत्यु

का तरण कर विद्या की सहायता से अमृतत्व की प्राप्ति करता है।[1] उपनिषद् के इस वाक्य में वासना के उदात्तीकरण के सिद्धान्त की ओर इंगित है जिसका प्रचुर विकास तन्त्र में हुआ है। जैसे गन्दे मलमूत्र के रस को खाकर पौधा उसे बदलकर सुन्दर फूल एवं फल के रूप में प्रस्तुत करता है, उसी प्रकार तन्त्र ने ऐसी विधा दी है जिससे गन्दी वासनाएं उदात्त होकर स्वस्थ सुन्दर हितकर रूप में प्रकटित हो। कुलार्णव तन्त्र में कहा है कि यह मार्ग ऐसा है जिसमें भोग योग बन जाता है, पाप पुण्य हो जाता है तथा संसार मोक्ष का साधन बन जाता है।[2]

साधारणतया औपनिषद मार्ग को निवृत्ति – मार्ग एवं तन्त्रमार्ग को प्रवृत्तिमार्ग समझा जाता है; किन्तु वस्तुतः दोनों जगह दोनों का समन्वय है। हां, यह अवश्व है कि औपनिषद मार्ग में निवृत्ति की व्याख्या अधिक है और तन्त्रमार्ग में प्रवृत्ति की व्याख्या अधिक है। इस दृष्टि से भी दोनों मार्ग एक दूसरे के पूरक है, ताकि निवृत्ति एवं प्रवृत्ति का समन्वय बरकरार रहे।

इस प्रकार हम देखते हैं कि तत्त्वदर्शन एवं साधना इन दोनों दृष्टियों से देखने पर आगम का निगम से समन्वय दीखता है। यहां एक प्रश्न उठ सकता है कि जब आगम वही बात कहता है जो निगम में भी है तो फिर आगम अनावश्यक हुआ। निगम के रहते फिर आगम की क्या आवश्यकता है? इसका उत्तर यह है कि एक ओर तन्त्र कोई वेद विरोधी बात नहीं करता, तन्त्र में वेद का समर्थन एवं समन्वय है। दूसरी और तन्त्र वेद की पुनरूक्ति–मात्र नहीं है जिससे कि तनत्र को अनावश्यक समझा जाय। बात यह है कि वेद (निगम) में बहुत सी बातें केवल बीजरूप में कही गई है जिनका विस्तार तन्त्र (आगम) में होता है कई बातों की व्याख्या निगम में समुचित रूप में नहं हो पाई जो आगम करता है; जिन प्रश्नों पर समुचित आग्रह की आवश्यकता है और निगम में वह आग्रह नहीं दिखाया गया है उसे आगम दिखाता है। घोड़े में यह कहा जा सकता है कि निगम के अधूरे काम को आगम पूरा करता है। यही दिखलाने का थोड़ा प्रयास इस लेख में ऊपर किया गया है।

तन्त्र का वेद के साथ समन्वय है कि वा तन्त्र वेद का पूरक है इस बात को स्वयं तन्त्र में स्वीकार किया गया है। कुलार्णव तन्त्र में भगवान शंकर पार्वती से कहते हैं– वैदिक षड्दर्शन मेरे अंग है, जैसे पाँव, पेट, हाथ, सिर आदि। इनमें जो भेद करता है वह मानो मेरे अंग को काटता है। कुलमार्ग के भी ये ही षडंग होते है। अतः हे प्रिये! वेदात्मक मार्ग को कौलात्मक समझो।

सत्य के विषय में जानकारी हासिल करने की प्रक्रिया की दृष्टि से भी निगम एवं आगम के बीच एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण समन्वयात्मक बात सामने आती है। यह बहुत ही अर्थपूर्ण बात है कि वेद को निगम एवं तन्त्र को आगम कहा जाता है। वेद निगम है क्योंकि वहां सत्य को जानने में निगमन–प्रणाली (Deductive method) को अपनाया गया है; तन्त्र आगम है, क्योंकि वहां सत्य को जानने में आगमन–प्रणाली (Inductive method) को अपनाया गया है। तर्क–शास्त्र के विद्यार्थी यह जानते है, निगम या निगमन (Deduction) में आधारवाक्यों को मान लिया जाता है एवं उनके आधार पर उचित निष्कर्ष निकाला जाता है। किन्तु आगम या आगमन (Induction) में

---

1 अर्न्ध तमः प्रविशन्ति ये विद्यामुपासते।
ततो भूय इव ते समी विद्याया रताः।।1
विद्यां चाऽविद्या च यस्तद् वेदोमयं सह।
अविद्यया मृत्यु तीर्स्त्रा विद्ययाऽमूतमश्नुते।।11

2 भोगो योगयते साधारणतकं सकृतायते।
मोक्षायते च संसारः कुलधर्मे कुलेश्वरि।। 2/24

आधारवाक्यों को मान नहीं लिया जाता वरन् अपने अनुभव में देखकर आधारवाक्य प्राप्त किए जाते हैं और फिर उनसे सामान्य निष्कर्ष निकाला जाता है।

वेद के विषय में यह मान्यता है कि यह अपौरूषेय ज्ञान है क्योंकि यह आदमी के द्वारा खोजा गया नहीं है वरन् ईश्वरप्रदत्त ज्ञान (रेवेलेशन–Revelation) है। इसी बात को काव्यात्मक भाषा में कहा गया है कि वेद भगवान के निःश्वास से उद्भूत हुए है (यस्य निःश्वसितं वेदाः)। ऋषि लोग उस ज्ञान के मात्र ग्रहीता है (ऋषयो मन्त्रद्रष्टारः)। मीमांसक लोग वेद को भगवान की सृष्टि नहं मानते, क्योंकि वे लोग भगवान को ही नहीं मानते, किन्तु उन लोगों के अनुसार भी वेद नित्य, स्वतन्त्र एवं अपौरूषेय ज्ञान है जो योग्य ऋषियों के प्रति उद्घाटित हुआ है। तात्पर्य यह कि ये लोग भी भगवान को न मानते हुए भी वेद को ऐसा स्वतन्त्र ज्ञान मानते हैं, जो मनुष्य ऊपर से प्राप्त हुआ है– जिसे अंग्रेजी में कहते है। चूंकि वेद अपौरूषेय ज्ञान (Revealed Knowdege) इसलिए उसे सत्य मान लिया जाता है और उसे सत्य उसी आधारवाक्य से निष्कर्ष निकाले जाते है। इसीलिए निगम या निगमन (Deduction) कहा जाता है।

तन्त्र के विषय में यह अवधारणा है कि उसमें जो ज्ञान है वह वस्तुतः ज्ञानी योगी जनों के द्वारा अपने अनुभव में प्राप्त ज्ञान है अभिनवगुप्त इसीलिए तन्त्रमार्ग को अनुभव–संप्रदाय कहते हैं (अनुभव संप्रदायोपदेशपरिशीलनेन परात्रिशिका विवरण पृ0 162)। हां यह अनुभव सामान्य ऐन्द्रिय या बौद्धिक अनुभव नहीं है वरन् अतीन्द्रिय अतिबौद्धिक उच्चानुभ्ज्ञव है जिसे ईश्वरावस्था में पहुंचकर या ईश्वररूप होकर प्राप्त किया जाता है। अभिनवगुप्त कहा कहना है कि हमारी अन्तस्विति (Higher Self) ही ईश्वर है और उसी का अन्तर्ज्ञान शब्दरूप में प्रकटित होकर आगम नाम से जाना जाता है जो अन्तर्ज्ञान प्रत्यक्षादि ज्ञानों का भी जीवन है।[3] तात्पर्य यह कि आगम वस्तुतः हमारा ही अनतरनुभव या उच्च अनुभव (Higher experience) है। उसे शिव–पार्वती के संवाद के रूप में बांधना तो एक साहित्यिक विधा है। इस प्रसंग में भी अभिनवगुप्त का पुनः कहना है कि हमारा ही स्वात्मा जो स्वयं प्रकाश है वही अपने को प्रश्नकर्त्री संवित् एवं उत्तरदात्री संवित् के रूप में बांट कर सम्वाद करता है।[4] तात्पर्य यह है कि शिव–पार्वती का संवाद वस्तुतः परमात्मप्राप्त योगी की अन्तः संवित् का ही संवाद है। कथ्य वस्तु यह है कि तन्त्र वस्तुतः उच्चानुभव प्राप्त योगियों का ज्ञान है। इसी लिए तन्त्र को आगम या आगमन (Induction) कहते है। उस अनुभव की जो परम्परा चली आ रही है उसे भी आगम कहते है (आगच्छति इति आगमः)।

ऊपर जो यह कहा गया है कि वेद निगमन है और तन्त्र आगमन है इसका अर्थ यह नहीं है कि वेद में आगमन है ही नहीं अथवा तन्त्र में निगमन है ही नहीं। वस्तुतः दोनों में दोनों है। उप निषद में कहा गया है कि आत्मा का श्रवण, मनन एवं निदिध्यासन करना चाहिए (आत्मावार रे श्वोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः)। श्रवण या श्रुति के बाद मनन या मति है और अनत में निदिध्यासन या अनुभूति है जिससे आत्मा को स्वयं अनुभव किया जाता है। इस प्रकार श्रुति, मति एवं अनुभूति तीनों हैं, श्रुति के द्वारा कही बात को अनुभूति के द्वारा स्वयं देखा जा सकता है और लोगों ने देखा भी है।

---

[3] आगमस्तु नामान्तरः शब्दनरूपो द्रढीयस्तम विमर्शात्मा चित्स्वभावस्य
ईश्वरस्य अन्तरंग एवं व्यापारः प्रत्यक्षादेर पिजी वितकल्पः। ई0प्र0वि0 2/6/2

[4] स्वात्मा सर्वभावस्वभावः स्वयं प्रकाशमानः स्वात्मानमेव
स्वात्माऽविभिन्नेन प्रश्नप्रतिवचनात् प्रष्ट्तिववतुस्वाल्ममेन।
अहंतया चमत्कुर्वन् विमुशति। पराविशिका विवरण पृ0 14–15

गीता में कहा है कि सत्यासत्य को तत्त्वदर्शियोंने देखा है (उभयारपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदशिभिः)। इस देखी गई बात को कहने की परम्परा भी चली आ रही है। ईशावास्योपनिषद में कहते हैं– हमने धीरपुरूषों से ऐसा सुना, जिन्होंने हमारे प्रति इसकी व्याख्या की (इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तव् विचचक्षिरे)। तात्पर्य यह है कि निगममार्ग में आगमप्रणाली भी है। इसी प्रकार आगममार्ग में निगम प्रणाली भी है। तन्त्र तो भगवान शिव का वचन माना ही जाता है। कहा गया है कि स्वयं भगवान शिव ने गुरू–शिष्य का रूप धारण कर प्रश्नोत्तर के रूप में तन्त्र की अवधारणा की।[5] तात्पर्य यह कि तन्त्रमार्ग में भी निगमनप्रणाली स्वीकार की गई है।

यद्यपि वेद में भी आगमन है तथा तन्त्र में भी निगमन है, तथापि वेद मुख्यतया निगमनात्मक है तथा तन्त्र मुख्यतया आगमनात्मक है; और इस तथ्य की दृष्टि से भी वेद और तन्त्र का समन्वय होता है बात यह है कि जो ईश्वरप्रदत्त अपौरूषेय ज्ञान है वह यदि अनुभूति में नहीं आया तो केवल विश्वास की वस्तु बनकर रह जाएगा, अतः उसे अनुभूति में भी आना आवश्यक है। अनुभूति से ही उसकी पृष्टि होगी एवं उसका सत्यापन (Verification) होगा। वेद में जो आगमन है और तन्त्र में जो निगमन है उससे भी इसी बात की पुष्टि होती है। तात्पर्य यह कि निगम का सत्यापन एवं पुष्टि आगम के द्वारा होती है। अतः दोनों मिलकर एक ही हैं– जो ईश्वर प्रदत्त ज्ञान है वह हमारी अनुभूति का भी विषय है। 'ईश्वर ने कहा है' तथा हमने उच्चानुभव किया है ये दोनों कथन एकार्थक है। इसीलिए हमारे यहाँ ईश्वर प्रदत्त ज्ञान एवं स्वानुभूतिजन्य ज्ञान में कोई भेद नहीं किया गया है, तथा उसे प्रकटित करने में ऐसी भाषा का प्रायः प्रयोग किया जाता है जिससे दोनों अर्थ निकलते हैं। वस्तुतः दोनों में भेद है ही नहीं।

ईसाई, इस्लाम आदि धर्मो की तुलना में भारतीय धर्म का एक बहुत बड़ा अन्तर है कि सेमेटिक धर्म केवल ईश्वर प्रदत्त ज्ञान पर ही आधारित है। वहां इस ज्ञान का सत्यापन करने का प्राविधान नहीं है। वहां एक तरह से एकतरफा स्थिति है– ईश्वर ने कहा है औरह में उसे मान लेना है, हम उसकी सही–गलती का पता हनीं लगा सकते हैं। वह ज्ञान हमारे लिए केवल विश्वास की वसतु बनकर रह जाता है; इसीलिए सेमेटिक कुल में धर्म का दूसरा नाम 'विश्वास' (Faith) है। किन्तु भारतीय धर्म में ईश्वर की बात को हम इसलिए नहीं मानते कि उसे ईश्वर ने कहा है, बल्कि इसलिए मानते हैं कि हमारे अनुभव में भी वह बात सच्ची उतरती है। श्रुति की बात इसलिए मानते हैं कि वह मति एवं अनुभूति के द्वारा पुष्ट होती है। श्रुति कोरे विश्वास की वस्तु न रहकर अनुभव की वस्तु हो जाती है। शंकराचार्य ने एक स्थान पर कहा है कि यदि धुति कहे कि अग्नि ठंडी होती है और अनुभव में दीखे कि अग्नि गरम होती है, तो यहां अनुभव ही विश्वसनीय है। तात्पर्य यह कि धुति को भी कसौटी अनुभूति ही है। इसीलिए भारतीय अध्यात्मविद्या कोरे विश्वास अथवा कल्पना पर आधारित चिन्तनमात्र (Speculation) नहीं है वरन् एक विज्ञान (Science) है। निगम की अध्यात्म विद्या को विज्ञान बनाने का श्रेय आगम को ही है।

2.2.1 निगम का अर्थ

निगम शब्द वेद या वेद के किसी अंश के लिये प्रयुक्त किया जाता है। निरूक्तकार यास्क ने वारंवार 'तथाऽपि च निगमो भवति' यह कहकर वैदिक शब्दों और मंत्रों की व्याख्या की है। न्यायशास्त्र के अनुमानपद्धति में पञ्चावयव वाक्य रचना का अन्तिम

---

[5] गुरूशिष्यपदे स्थित्वा स्वयं देवो सदाशिवः।
पूर्वोत्तरपदैवक्यै स्तन्त्रं समवतारयत्।।

वाक्य 'निगमन' कहा जाता है जिससे अनुमान की पुष्टि होती है। इन व्यवहारों से स्पष्ट है कि 'निगम' अर्थात् सिद्धान्तभूत शब्द है। आप्तावाक्यरूप वेद ही परम प्रमाण है। प्रसिद्धि ही है 'वेदाः प्रमाणम्'।

2.2.2 आगम का अर्थ

'आ' उपसर्ग गम् धातु से आगम शब्द निष्पन्न है। आगमशास्त्र से तन्त्रशास्त्र की उत्पत्ति हुई है। आगम शब्द भी अपनी व्यापक अर्थ सीमाओं के कारण प्राचीनकाल से प्रसिद्ध है। महाकवि कालिदास तथा भारवि ने 'आगम' शब्द का प्रयोग विद्या, कला, शास्त्र, नीति आदि अनेक विषयों के लिये किया है। रघुवंशं ग्रन्थ में राजा दिलीप के सन्दर्भ में कहा है–

> आकारसदृशप्रज्ञः प्रज्ञया सदृशागमः।
> आगमैः सदृशारम्भः आरम्भसदृशोदयः।।

महाकवि कालिदास ने 'आगम' शब्द का व्यवहार नाना प्रकार के सम्प्रदाय या उपासना पद्धतियों के लिये इस प्रकार किया है–

> बहुधाऽप्यागमैभिन्नाः पन्थानः सिद्धिहेतवः।
> त्वय्येव निपन्त्योधा जान्हवीया इवाऽर्णवे।।

भारवि ने भी आगम को परम्परागत शास्त्र के अर्थ में कहा है–

> मतिभेदमस्तिरोहिते गहने कृत्यविधौ विवेकिनाम्।
> सुकृतः परिशुद्ध आगमः कुरूते दीप इवार्थदर्शनम्।।

संदेहरूपी अंधकार को मिटाने के लिये अच्दी तरह परिश्रमपूर्वक पढ़ा हुआ तथा शुद्धगुरूपरम्परा से प्राप्त शास्त्र ही प्रदीप की तरह समर्थ होता है। यहां पर 'सुकृतः' और 'परिशुद्धः' ये दो विशेषण महत्त्वपूर्ण हैं। इनकी व्याख्या आगम या तंत्र के विषय में भी ठीक लगती है।

आगम शब्द सामान्यतः सभी शास्त्रों के लिये तथा तंत्रों के लिये प्रयुक्त होता आया है। यह तो सामान्य शब्दविषयक चर्चा हुई। 'निगम' और 'आगम' दोनों की व्यावहारिक तुलना में 'आगम' शब्द का क्षेत्र अधिक व्यापक देखा जाता है। आगमों को जिन तीन अर्थों में प्रयुक्त किया जाता है, संक्षेप में वह इस प्रकार हैं–

आगम परम्परा में भी आगम को लेकर परम्परा में दो प्रकार की दृष्टियाँ है–

1. *आगम स्वतः प्रमाण है*– इस मत के समर्थक अभिनवगुप्तपाद, श्रीकण्ठ शिवाचार्य आदि है। श्री अभिनवगुप्त ने आगम की परिभाषा दी है–

आगमस्तु अनवच्छिन्न प्रकाशात्मक माहेश्वर विमर्शः परमार्थः

2. *आगम अनवछिन्न प्रकाशरूपी महेश्वर का विमर्श है–* आगम महेश्वर का ही स्वरूप है। तन्त्रालोक में अभिनवगुप्तपाद जी ने कहा है कि समस्त जागतिक पुरातन व्यवहार और प्रसिद्धि को आगम कहा जाता है। सभी आगम अनादिकाल से गुरू–शिष्य–परम्परा से चले आ रहे हैं।

आगम के विभिन्न प्रकार

क्र.सं.	वेदमूलक आगम	प्रमुख ग्रन्थ	क्र. सं.	वेदेत्तर आगम	प्रमुख ग्रन्थ
1	वैष्णव आगम		1	बौद्ध आगम	
2	शैव आगम		2	जैन आगम	
3	शाक्त आगम		3	वाम मार्ग	
4	गाणपत्य आगम				
5	कार्तिकेय आगम				
6	सौर आगम				
7	व्याकरण आगम				

निगम में यज्ञपरता अधिक है। ज्ञानकाण्ड और कर्मकाण्ड का प्राबल्य है, जबकि आगम उपासना प्रधान है पूजाविधान की चर्चा है। वेद के निर्गुण निर्विशेष की उपासना की तुलना में आगम में सगुण एवं सविशेष की उपासना प्रारम्भ हुई है। आगमों में सगुण, समूर्त देवताओं की उपसना प्रारम्भ हो गयी है। यज्ञीय देवता 'अमूर्त' थे। यज्ञ की शिलाओं में उनको भावित करके यज्ञ सम्पन्न किया जाता था। किन्तु आगमों ने उपासना के क्षेत्र में एक क्रांति उत्पन्न की, गायन जो सामवेद के रूप में ही था अनेक वाद्ययंत्र के साथ प्रकट हुआ, मूर्तियां बनी, मंदिर एवं स्थापत्य का विस्तार हुआ।

2.3 आगम और तन्त्रशास्त्र

डेविड गॉर्डन व्हाइट ने तन्त्र को इस प्रकार परिभाषित किया है : तन्त्र आस्था और प्रथाओं का वह एशियाई निकाय है, जो सैद्धान्तिक रूप से मानता है कि हम जिस ब्रह्माण्ड का अनुभव करते हैं, वह ब्रह्माण्ड के निर्माण और रखरखाव करते वाले ईश्वर की दिव्य ऊर्जा की ठोस अभिव्यक्ति के अलावा कुछ और नहीं है तथा वह इस ऊर्जा को पारम्परिक तरीके से मानव सूक्ष्म जगत के भीतर रचनात्मक और मुक्तिदायी तरीकों से प्रवाहित करना चाहता है।

आन्द्रे पेडॉक्स के अनुसार, संस्कृत शब्द तन्त्र की व्युत्पत्ति शाब्दिक मूल तन से हुई है, जिसका अर्थ है 'विस्तार करना', 'फैलाना', यानि 'बाहर निकलना', 'बुनना', 'प्रदर्शन', 'आगे रखना', और 'रचना करना'। विस्तार का अर्थ 'प्रणाली', 'सिद्धान्त' या 'कार्य करना' है। अष्टाध्यायी में पाणिनि और महाभाष्य में पतंजलि ने तन्त्र को परिभाषित किया है।

आगम और तन्त्र शब्दों की व्युत्पत्ति एवं इनकी ऐतिहासिक प्रवृत्ति के सम्बन्ध में इस विषय के प्रायः सभी ग्रन्थों में विस्तार अथवा संक्षेप में लिखा गया है। हमें यहाँ केवल इतना कहना है कि ये दोनों शब्द आजकल भारतीय वाङ्मय की एक शाखा विशेष में रूढ़ हैं, जो पहले आगम और बाद में तन्त्र शब्द से अभिहित हुई।

ब्रजवल्लभ द्विवेदी का कहना है– हॉलैण्ड के यशस्वी विद्वान् स्वर्गीय जे. गोण्डा ने लिखा है कि दक्षिणभारत में विकसित शास्त्र आगम और उत्तरभारत में प्रादुर्भूत शास्त्र तन्त्र के नाम से जाना जाता है। इसमें कुछ सच्चाई हो सकती है। इसी आधार पर आजकल आगम और तन्त्रशास्त्र पर अलग–अलग ग्रन्थों की रचना की जा रही है और तन्त्रशास्त्र को पञ्चमकार की उपासना तक सीमित कर दिया गया है, किन्तु वास्तविकता यह है नहीं। त्रिलोचन शिवाचार्य दक्षिणभारत के लेखक माने जाते हैं। मूलतः ये काशी के निवासी थे। चोल राजा राजेन्द्र की काशीयात्रा के अवसर पर उनसे सादर आहूत होकर ये उनके साथ दक्षिणभारत चले गये। इनके सिद्धान्तसारावलि नामक ग्रन्थ पर अनन्तशम्भु ने अपनी विस्तृत टीका में इसकी चर्चा की है। इसमें उद्धृत शैवागमों के वचनों में 28 सिद्धान्तशैवागमों की नामावली के साथ तन्त्र, आगम और संहिता तीनों पदों का प्रयोग हुआ है।

2.4 निगम और आगम में सैद्धान्तिक ऐक्य

आगम एवं च निगम (वेद) के अद्वैत–सिद्धान्तानुसार एक ब्रह्म से भिन्न कुछ नहीं है। अखिल ब्रह्माण्ड की स्थिति–संहारकारिणी विश्वेश्वरी–महामाया प्रकृति पराशक्ति भी उस एक परब्रह्म का पृथक् नाम मात्र ही है। उसकी महिमा को प्रकट करने वाले ये सब नाम उसी के है। यह पराशक्ति दिव्यरूपा है। वह 'निःशेषदेवगणशक्तिसमूहमूर्त्या'– समस्त देवगणों की शक्तियों के समूह की मूर्ति है। वही महाविद्यालय से जीव को ब्रह्मज्ञान प्राप्त कराकर मोक्ष दिलाती है, और वही सब कुछ करती है। भगवान् स्वयं कह रहे है कि 'मयाऽध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्' अर्थात् मेरे अधिष्ठान में प्रकृति ही सब कुछ करती है। जिस प्रकार एक स्वर्णकार बिना स्वर्ण के कटककुण्डलादि आभूषण के निर्माण करने में असमर्थ है, उसी प्रकार बिना प्रकृति–शक्ति के परमेश्वर का ऐश्वर्य सृष्टि के कार्य में असमर्थ है। परमेश्वर ने इस बात को स्वयं स्वीकार किया है–

> ईश्वरोऽहं महादेवि केवलं शक्तियोगतः।
> शक्तिं बिना महेशानि सदाऽहं शवरूपकः।।
> शक्तियुक्तो सदा देवि शिवोऽहं सर्वकामदः।

केवल शक्ति के योग से ही में ईश्वर हूँ। शक्ति के बिना मैं शवरूप हूँ। जब शक्तियुक्त होता हूँ, तभी सर्वकामप्रद कल्याणकारी शिव में होता हूँ। अतः निगम और आगम का समन्वय उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट हो जाता है। दोनों में काई विरोध नहीं है। अधिकारियों की भिन्नता को ध्यान में रखकर उक्त दो मार्गों का आविर्भाव हुआ है। विषय इतना गहन है कि उसका जितना विस्तार किया जाय, उतना थोड़ा ही प्रतीत होगा। तथापि उक्त विवेचन से किञ्चन्मात्र प्रकाश के मिलने की आशा हो सकती है।

2.5 निगम तथा आगम में चक्रों का विवेचन

इसी तरह भैरवीचक्र के सम्बन्ध में भी समझ में आता है कि तंत्र में एक भैरवीचक्र का ही नहीं किन्तु श्रीचक्र, आज्ञाचक्र, शिवचक्र, विष्णुचक्र आदि नाना प्रकार के चक्रों का वर्णन आता है और इनका वर्णन उपनिषदों में भी आता है। भावोपनिषद, त्रिपुरतापिनी, नृसिंहतापिनी आदि उपनिषदों में चक्रों की महिमा बहुत गायी गयी है। जैसे– 'देवा ह वै भगवन्तमब्रुवन् महाचक्रनामकं नो ब्रूहीति सार्वकामिकं सर्वाराध्यं सर्वरूपं विश्वतोमुखं मोक्षद्वारम्। तदेतन्महाचक्र बालो वा युवा वा वेद स महान् भवति स गुरूभैवति'। (नृसिंह तापिनी)। यह महाचक्र ऋषि मुनि देवता आदि के द्वारा आराधित, सभी इच्छाओं का

पूरक, सर्वरूप, स्वर्ग एवं मोक्ष का द्वार है। उस चक्र को जो बालक या युवा भी जानता है, वह महान् गुरू हो जाता है। ऋग्वेद में भी कहा है कि– 'पञ्चारे चक्रे परिवर्तमाने तस्मिन्नातस्थर्भवनानि विश्वा'। अर्थात् पाँच कोणवाले चक्र में समस्त भुवन स्थित है। इस तरह के चक्रों के अनेक प्रमाण वेदोपनिषदों में उपलब्ध होते है।

वामाचार के प्रति जनापवाद

पंच मकारों के लेकर जनता में वामाचार के प्रति जो घृणित भावना जागरूक है, उसमें बौद्धों का वज्त्रयानमार्ग ही निमित्त है। क्योंकि उसी मार्ग में मद्य–मांस–मीन–मुद्रा और मैथुन आदि पंच मकारों का प्रयोग प्राकृत लोगों की तरह किया जाता है। आज के कतिपय दांभिक लोग अपने को तांत्रिक कहलाकर अपनी वासना के अनुरूप उस वज्त्रयानमार्गोक्त पंच मकारों का सेवन करने में तत्पर हो गये।

वास्तविक वामाचार आत्मकल्याण का साधक है

हमारे भारतीय भैरवयामलादि अनेक तन्त्रग्रन्थों में पञ्च मकारों के वास्तविक अर्थ को स्पष्टतया बताया है, जो आध्यात्मिक होने से आत्मकल्याण का साधक बनता है। इस मार्ग को 'वाम' कहने का तात्पर्य इतना ही है कि वैदिकमार्ग अर्थात् निगमोक्त मार्ग 'दक्षिण' होने से तदितर मार्ग को 'वाम' स्वाभाविक ही है। **'अगम्यागमनञ्चैव धूर्तमुन्मत्तवञ्चकम्। अनृतं पापगोष्ठीं च वर्जयेत् कौलिकोत्तमः।।** यह स्पष्ट रूप से कहा गया है।

> ह्लादिनी संधिनी संविदभिधानान्तरङ्गिका।
> तटस्था बहिरंगा च जयन्ति प्रभुशक्तयः।।

निगम और आगम की अभिन्नता

प्रारंभ से ही 'तान्त्रिक धर्म' वैदिक धर्म का साथी है, क्योंकि दोनों का आविर्भाव हरि–हर के द्वारा हुआ है। अतः जैसे हरि और हर में अभेद है, वैसे ही वेद और तन्त्र अर्थात् निगम और आगम में भी अभेद है। श्रीमद्भागवत में भगवान् स्वयं कह रहे हैं कि **'वैदिकस्तान्त्रिको मिश्र इति में त्रिविधो मख'** अर्थात् वैदिक, तान्त्रिक तथा वेद और तन्त्र से मिश्रित तीन प्रकार का मेरा यज्ञ है। वैदिक और तान्त्रिक उपासना को पृथक्–पृथक् करने से 'द्वैत की ही प्रधानता रहेगी। किन्तु वेद और तन्त्र के मिश्रित हो जाने पर अद्वैत की प्रधानता हो जायगी। अतएव तपस्पर्शी विचार करने वाले विदित – वेदितव्य हमारे महर्षियों ने अपनी संतान–रूप आर्य जनता के कल्याणार्थ वेद–तन्त्र से मिश्रित कर्मकाण्ड और उपासनाकाण्ड दोनों पद्धतियों का निर्माण किया। जिससे वेद और तन्त्र की अभिन्नता को लोग न भूल सके। दोनों का लक्ष्य एक ज्ञानकाण्ड ही है।'

भेद का साथी भय

आगम अर्थात् तन्त्र शास्त्र से अनभिन्न आज की जनता पर वेद और तन्त्र अर्थात् निगम और आगम के परस्पद भेद का भूत सवार हो गया है। आज की अनभिज्ञ और भेदभूत से ग्रसित जनता श्तन्त्रश या श्तान्त्रिकश का नाम सुनते हो एक बार चौक जाती है। क्योंकि श्द्वितीयाद् वै भयं भवतिश श्रुति के अनुसार जहाँ भेद रहेगा वहाँ भय अबश्य ही रहेगा।

समस्त शब्दराशि का दो भागों में विभाजन

हमारे महर्षियों ने समस्त शब्दचाशि को दो भागों में विभक्त किया है। उनमें से एक है

'आगम शब्दराशि' और दूसरा है 'निगम शब्वराशि'। क्योंकि नित्य शब्दब्रह्म, इन्हीं दो भागों में विभक्त है।

चतुर्दश भुवनों के साथ द्विविध वाक् का संबन्ध

यद्यपि 'अथो वागेवेदं सर्वम्' (ऐ. आ. ३।१।६), तथा श्वाचोमा विश्वा भुवनापिताश (ते. ब्रा. २।८।८।४।५) इत्यादि भोतसिद्धान्तों के अनुसार श्वाक्तत्त्वश से प्रादुर्भूत होनेवाले शब्द– प्रपञ्च से कोई भी स्थान खाली नहीं है। तथापि स्तम्बरूप तमोविशालसर्ग, 'कृ मि– कीट –पशु – पक्षि –मनुष्य –भेदभिन्नश –पञ्च – विध रजोविशालसर्ग, तथा यक्ष–राक्षस – पिशाच –गन्धर्व – पित्र्य– ऐन्द्र – प्राजापत्य – ब्राह्म मेदभिन्न अष्टविध सत्त्वविशालसर्ग नाम से प्रसिद्ध १४ प्रकार के भूतसर्ग के साथ मुख्यरूप से श्अग्निवाक् और इन्द्रवाक्य का ही संबन्ध है। 'यथाऽग्निगर्भा पृथिवी तथा धौरिन्द्रेण गर्गाभणी' (चतपय १४।६।७।२०) के अनुसार 'पृथिवीश अग्निमयी है, द्युलोक से उपलक्षित श्सूर्यश इन्द्रमय है। उक्त दोनों लोकों के अतिरिक्त तीसरा श्भुवर्लोकश अर्थात् अन्तरिक्ष लोक भी है । भूः (पृथिवी), भुवः (अन्तरिक्ष), स्वः (द्यौः–सूर्य) इन तीनों लोकों से प्रजा का निर्माण होता है । तीनों लोक वाङमय हैं।

पृथिवी में अग्नि की सत्ता है, उस से मनुष्य प्रजा का संबन्ध है। अतएव पृथिवी को 'मनुष्यलोक' कहा जाता है।

अन्तरिक्ष में चन्द्रमा की सत्ता है, उससे पितर प्रजा का संम्बन्ध है। इसी आधार पर 'विधूर्ध्वभागे पितरो वसन्ति' (सि0 शिरो0) कहा गया है। इस दूसरे लोक को पितृलोक कहा जाता है। अब तीसरा द्युलोक है, इसमें सूर्य की सत्ता है, इस से देवप्रजा का संबन्ध है। इसी आधार पर 'चित्रं देवानामुदगात्' कहा गया है। यही देवलोक है। ये तीनों ही लोक–'वागिति पृथिवी (जै0 उप0 4/22/11), 'वाग् घ चन्द्रमा भूत्वोपरिष्टात्तस्थौ' (शतपथ 7/1/2/7) 'सा या सा वाक् असौ स आदित्यः' (शतपथ 10/5/1/4) के अनुसार वाङमय है।

पार्थिव और सौ वाक् की प्रधानता

तथापि प्रधानता पृथिवी और सूर्यवाक् की ही मानी जाती है। क्योंकि पार्थिव एवं सौर अग्नि अन्नाद है। मध्यपतित चन्द्र सोम 'एष वै सोमो राजा देवानामत्रं यच्चन्द्रमा' (शतपथ 1/6/4/5) के अनुसार उक्त अग्नियों का अन्न बताया गया है। अन्न जब अन्नाद के पेट में चला जाता है तब केवल अन्नाद की ही सत्ता शेष रहती है। अन्न की स्वतन्त्र सत्ता समाप्त हो जाती है। भगवती श्रुति कहती है 'द्वयं वा इदमत्ता चैवाद्यंच। तद्यदोभयं समागच्छति अत्तैवाख्यायते नाद्यम्। स वै यः सोऽताग्निरेव सः' (शत0 पथ 10/6/6/1)। अतः एव त्रैलोक्य के लिये धावा पृथिवी शब्द का ही व्यवहार होता है। इस रीति से मुख्यतया पृथिवी लोक और सूर्य लोक दो ही रह जाते है। दोनों अग्निमय है। पार्थिवा अग्नि को गायत्राग्नि और सौर अग्नि को सावित्राग्नि कहा गया है। तस्या एतस्याग्नवगिवोपनिवत् (शतपथ 10/5/1/1) के अनुसार दोनों ही पृथिवी की वाक् अनुष्टुप् कहलाती है और सूर्य की वाक् बृहती कहलाती है। अनुष्टुप्

शषिंत बिना महेशानि सदाऽहं शवरूपकः।।

शक्तियुक्तो सदा देवि शिवोऽहं सर्वकामदः।

केवल शक्ति के योग से ही मैं ईश्वर हूँ। शक्ति के बिना मैं शवरूप हूँ। जब शक्तियुक्त होता हूँ, तभी सर्वकामप्रद कल्याणकारी शिव में होता हू। अतः निगम और आगम का समन्वय उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट हो जाता है। दोनों में कोई विरोध नहीं है। अधिकारियों की भिन्नता को ध्यान में रखकर उक्त दो मार्गो का आविर्भाव हुआ है। विषय इतना गहन है कि उसका जितना विस्तार किया जाय उतना थोड़ा ही प्रतीत होगा। तथापि उक्त विवेचन से किञ्चिन्मात्र प्रकाश के मिलने की आशा हो सकती है।

भारतीय वाङ्मय का मूल ग्रन्थ निगम अर्थात् वेद है, जो कि विश्व का पहला ज्ञान–ग्रन्थ है। भारत के मनीषियों ने इसे परमात्मा का निःश्वास बताया है। निःश्वास की गति स्वाभाविक है। जिस प्रकार प्रयत्न के बिना ही प्राणियों के जागते–सोते रहने पर भी श्वास चलता रहता है, उसी प्रकार ज्ञानात्मक मन्त्रब्राह्मणात्मक वेद भी परमात्मा से सहजरूप में निःश्वसित हुआ है, अतः इसे अपौरूषेय कहा जाता है। वेद का पर्यायवाची ही निगम शब्द है। वेद को निगम कहने का तात्पर्य यह है कि मूलरूप से वेद के द्वारा ही वस्तुतत्त्व का निगमन होता है, पदार्थो का प्रामाण्य वेद के निर्वचन पर ही निर्भर है। जगत् के मूलतत्त्व की मीमांसा तथा उस मूलतत्त्व से जगत् कैसे बना, मूलतत्त्व ये जगत् भ्सिप्प है या दोनों एक है, जगत् की सत्ता है या नहीं इत्यादि बातों का निगमन जिससे हो, वही निगम है, और निगम ज्ञान का आगमन अर्थात् अनुभूति जिससे हो वही आगम है। निगम और आगम ये दोनों शब्द भी एक ही मूल प्रकृति से निष्पन्न होते हैं, केवल उपसर्ग के भेद से अर्थ में थोड़ा भेद होता है। किन्तु उस भेद से दोनों के सिद्धान्त में भेद नहीं होता, क्योंकि निगम के द्वारा ज्ञान वस्तु की जब तक अनुभूति नहीं होती, तब वह ज्ञान अधूरा ही रहता है। इसलिए निगम और आगम के ज्ञान से ही मूलतत्त्व का अनुभवात्मक ज्ञान संपन्न होता है। निगम यदि जेठा भाई है, तो आगम उसका सहोदर अनुज है।

वस्तुतः निगम और आगम का लक्ष्य भी एक ही है। निगम का ब्रह्मतत्त्व ही आगम की चिति है। 'एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति,' 'सर्व खल्विदं ब्रह्म,', एकमेवाद्वितीयम् इत्यादि निगम सिद्धान्त को ही आगम भी चितिः स्वतन्त्रा विश्वसिद्धिहेतु के रूप में व्यक्त करता है। जिस प्रकार निगम ब्रह्म को जगत् रूप में विवर्त होने के लिए कामना या इच्छा के रूप में ब्रह्म की एक अभिन्न शक्ति स्वीकार करता है, उससे ही जगत् का विकास और संकोच होता रहता है। उसी प्रकार चिति भी स्वतन्त्रात्मक है। चिति की इच्छा ही उसकी स्वतन्त्रता है। आगम के स्वतन्त्रात्मक चिति– शक्ति से ही यह संपूर्ण जगत् व्याप्त है। अतः जहाँ निगम का उद्घोष प्रस्तुत हैं कि – सव्र ब्रह्ममयं जगत् वही आगम भी निगम का अनुगमन रूप समर्थन करते हुए कहता है कि – ''एकैवाहं जगत्यत्र द्वितीया का ममाऽपरा अर्थात् ज्ञानात्मिका शक्ति के अलावा संसार में दूसरी कोई वस्तु है ही नहीं। उसी ब्रह्म या ज्ञानरूप दर्पण में संसार भासित हो रहा है। यहां निगम और आगम दोनों का सिद्धान्त एक ही है।''

दूसरी बात यह है कि निगम में जिस प्रकार कर्म और ज्ञान का प्रतिपादन हुआ है उसी प्रकार आगम में ये दोनों पद्धतियाँ प्रचलित है। आगम की पद्धति में वाम–मार्ग का भी प्रचलन बाद में हो गया है। वह निगमविरू0 है, अतः निगमानुकूल आगम का ही समन्वय सिद्धान्त रूप में संमत माना जाता है।

निगम और आगम के सैद्धान्तिक समन्वय से ही मनुष्य को भक्ति और मुक्ति की प्राप्ति होती है। जिस प्रकार ज्ञानयोग के बिना कर्मयोग और कर्मयोग के बिना ज्ञानयोग की पूर्ण सफलता सुगम नहीं है, जैसा कि भगवान् ने गीता में कहा है –

न कर्मणामनारम्भात्रैष्कम्यं पुरूषोऽश्नुते।
न च संन्यसनादेव सिद्धि समधिगच्छति।। (3/4)

और साथ ही यह भी कहा है, कि –

यत्साङ्ख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते।
एकं साङ्ख्यं च योग च यः पश्यति स पश्यति।। (5/5)

गुरू और ज्ञान का कारणकार्यात्मक सम्बन्ध

आगम और निगम में गुरू तथा ज्ञान के बीच में कारणकार्यात्मक अभिन्न सम्बन्ध माना जाता है। अभिनवगुप्त ने 'ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविवृत्तिविमर्शीनी' नामक पुस्तक में लिखा है कि गुरूपरम्परा से रहित पुस्तक से पढ़े हुए लोग सिद्धान्त का आचरण अर्थात् मंत्रजप, पूजन आदि एवं उपदेश करने वाले लोग लम्बे समय तक नरक को प्राप्त होते है। साधना के लिये सम्प्रदाय में दीक्षित होना आवश्यक है, भले ही आप कितने ही शास्त्र के ज्ञाता हो जाय। गीता भाष्य करते हुए उन्होंने लिखा है कि सारे शास्त्रों का ज्ञाता भी असाम्प्रदायिक होने पर उपेक्षणीय है। ध्यान देने की बात यह है कि यहां जिस गुरू की बात की जा रही है, अद्वैत वेदान्ती सुरेश्वराचार्य ने परिभाषा इस प्रकार से की है– सम्पूर्ण संसार के बीजरूप अज्ञान रूपी अन्धकार को न्याय रूपी शलाका से हटाकर शिवबोध को ह्रदय मे प्रकट करने वाले ही वास्तविक गुरू है। उन पूज्यों के प्रति सर्वस्वसमर्पणात्मक नमस्कार है।

सारे वाद सोपानवत् है। आप आगम परम्परा या निगम परम्परा किस भी परम्परा का अध्ययन करें, तो पायेंगे कि दोनों परम्पराओं में कई प्रकार के दार्शनिक प्रस्थान पाये जाते है किन्तु हम ध्यान से देखे और केवल इन दर्शनों के मूल प्रतिपादन पर विचार करें, तो पायेंगे कि सभी दर्शन सोपान रूप से समान है। इस प्रकार के क्रमसमन्वय के द्वारा हम दोनों परम्पराओं में प्राप्त सतही भेद का समाहार प्राप्त करते हैं।

आत्मा की स्वप्रकाशरूपता

दोनों परम्पराओं में आत्मा की स्वप्रकाशरूपता ही धर्म का आधार माना है। दोनों परम्परा यह मानते हैं कि पराधीन तथा दूसरे द्वारा प्रकाशित आत्मा हमें उत्थान की ओर नही जाने देते। यदि हम आत्मा को स्वतःसिद्ध और स्वप्रकाश न माने, तो परतन्त्र जीव का बन्धन तथा मोक्ष सभी परतन्त्र हो जाता है। आज का वैज्ञानिक भौतिकवाद जीव को सर्वथा प्रकृति के परतन्त्र मानता है। जिसके कारण जीव अपने सामर्थ्य से अपने जीवन में कोई नयापन नही ला सकता, जबकि आगम निगम की स्वप्रकाशरूपता का सिद्धान्त मनुष्य जीवन को एक नवीन दिशा देता है।

ज्ञान का महत्त्व

दोनों प्रकार की धाराओं में मोक्ष का साक्षात् कारण ज्ञान और ज्ञान का साक्षात् कारण श्रवण को स्वीकारा है। श्रवण से उत्पन्न ज्ञान को निष्ठा में परणित करने के लिये मनन और निदिध्यासन स्वीकार किया गया है।

2.6 सारांश

इस प्रकार हम देखते है कि निगम और आगम एक ही ज्ञान के दो पहलू है दोनों मिलकर पूर्ण ज्ञान बनाते है। अतः यह कहना अत्युक्ति नहीं है कि निगम और आगम

दोनों भारतीय ज्ञान की दो आँखे हैं, जो दोनों मिलकर एक ही वस्तु देखती है। इसीलिए भारत में कभी निगम और आगम को अलग–अलग नहीं समझा गया। भारतीय जीवनधारा में भी दोनों का समन्वित रूप ही बहता रहा है। भारतीय संस्कृतिरूपी प्रयाग में निगम एवं आगम रूपी गंगा एवं यमुना की धारा एकीभूत होकर भारतीय जन–जीवन को आप्लावित करती रही है। अंत में हम महर्षि अरविन्द के इस कथन से इस लघु निबन्ध को पूर्ण करेगे कि भारतीय संस्कृति केवल वैदिक नहीं है अथवा केवल आगमिक भी नहीं है, वरन् दोनों का सम्मिलित रूप हैं।

इसी प्रकार निगम और आगम की साधना पद्धति में भेद होते हुए भी दोनों का प्राप्तव्य लक्ष्य एक ही है, दोनों के समन्वयात्मक सिद्धान्तज्ञान से ही मनुष्य जीवन की पूर्ण सार्थकता संपन्न होती है।

2.7 पारिभाषिक शब्दावली

यक्षोपाख्यान : महाभारत में वर्णित यक्ष–युधिष्ठिर संवाद। इस संवाद में यक्ष ने मूल्य एवं धर्म से सम्बन्धित प्रश्न पाण्डवों से पूछे हैं।

तन्त्रशास्त्रः भारतीय ज्ञानपरम्परा के अन्तर्गत आगमिक परम्परा के ग्रन्थों को तन्त्रशास्त्र कहा जाता है। इन ग्रन्थों में धर्म, दर्शन तथा उपासना से जुड़े विषय वर्णित है।

कुलार्णव तन्त्र : काश्मीर शैवदर्शन का प्रसिद्ध ग्रन्थ है।

आगमन–प्रणाली : तर्कशास्त्र की वह प्रणाली जिसमें विशेष कथनों के आधार पर सामान्यों का निष्कर्ष निकाला जाता है, आगमन कहलाता है।

निगमन–प्रणाली : तर्कशास्त्र की वह प्रणाली जिसमें सामान्य कथनों के आधार पर विशेष का निष्कर्ष निकाला जाता है, आगमन कहलाता है।

सेमेटिक धर्म : इसाई, इस्लाम तथा यहूदी इत्यादि नबीमूलक धर्मों को सेमेटिक धर्म कहते हैं।

2.8 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. निगमागम समन्वय, डॉ. स.मो. अयाचित, श्री पीताम्बरापीठ, दतिया, मध्यप्रदेश।
2. श्री तन्त्रालोक, हिन्दी भाष्यकार डॉ. परमहंस मिश्र, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी।
3. हिन्दू राष्ट्र की सांस्कृतिक संरचना, जे नंदकुमार, इंडस, स्क्रॉल्स भाषा, नई दिल्ली।
4. मानसोल्लासः, श्रीदक्षिणामूर्तिमठ, वाराणसी।

2.9 बोध प्रश्न

1. आगम शब्द का अर्थ बतलाते हुए प्रमुख आगमिक परम्पराओं का परिचय दीजिए।
2. आगम और निगम भारतीय संस्कृति की दो आँखें है, इस कथन की परीक्षा कीजिए।
3. आगम और निगम परस्पर पूरक है, इस कथन की विवेचना कीजिए।
4. आगम और निगम में समन्वय के बिन्दुओं पर प्रकाश डालिये।

इकाई 3 वैदिक, श्रमण तथा गुरुपरम्परा में अन्तःसम्बद्धता

इकाई की रूपरेखा

3.0 उद्देश्य

प्रस्तुत ईकाई को पढ़ने के बाद आप–

- वैदिक, श्रमण तथा गुरूपरम्परा (सिख) में अन्तःसम्बद्धता सम्बन्धी तत्वों का अध्ययन कर सकेंगे।
- ये परम्पराएँ हिन्दू सभ्यता के अन्तर्गत कैसे आती है, इसे समझ सकेंगे।
- इन परम्पराओं में परिस्थितिजन्य भिन्नता है न की मौलिक विरोध। इस तथ्य को समझ सकेंगे।

- हिन्दू सभ्यता अपनी मौलिक संरचना में असहिष्णु क्यों है, इस प्रश्न का समुचित उत्तर दे सकेंगे।

3.1 प्रस्तावना

यह निश्चपूर्वक कहा जा सकता है कि हिन्दू संस्कृति इस देश की सबसे अधिक व्यापक एवं समृद्ध संस्कृति है, वह सबसे बड़ी और चौड़ी सांस्कृतिक धारा है जिसे अनेक उपधाराओं ने पुष्ट एवं सम्पन्न किया है। यद्यपि बौद्ध धर्म भारतवर्ष के बाहर भी फैला और इस प्रकार कुछ दृष्टियों से हिन्दू धर्म से ज्यादा महत्त्वपूर्ण बन गया, फिर भी यह दावा गलत नहीं कि उसकी प्रधान विशेषताओं को हिन्दू धर्म ने आत्मसात् कर लिया। बौद्धों के अहिंसावाद को जिस हद तक वैष्णवों ने अपनाया, उस हद तक उस धर्म के विदेशी अनुयायियों ने नहीं। तिब्बत, चीन आदि देशों के बौद्ध निरामिषभोजी नहीं है, वस्तुतः मांसाहार से परहेज भारतीय बौद्धों, जैनों तथा कतिपय हिन्दू सम्प्रदायों की निजी विशेषता है। बौद्धों ने जो कर्मकाण्ड तथा हिंसात्मक यज्ञों का विरोध किया, वह भी हमारे देश के इतिहास में बहुत नयी चीज नहीं थी। इस दृष्टि से बौद्ध धर्म तथा जैन धर्म हिन्दू धर्म से वैसे ही भिन्नता नहीं रखते जैसे बाद के अनेक सम्प्रदाय। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि हमारे देश में मुक्ति साधना के लिये इस लोक तथा परलोक के भोगैश्वर्य के प्रति अनासक्ति को नितान्त आवश्यक समझा गया। विभिन्न धर्मप्रवर्तकों की शिक्षाओं का यह सामान्य अंश है। हिन्दू संस्कृति इस देश की सबसे प्रधान और व्यापक संस्कृति है।

वैदिक संस्कृति, समग्रता की संस्कृति मानी जाती है। चिन्तन के जितने भी द्वार खुले हैं– उमें वैदिक संस्कृति का सातत्य या नैरन्तर्य विद्यमान है। वेद केवल यज्ञ–यागादि कर्मकाण्ड के प्रतिपादन तक ही सीमित नहीं है, अपितु नैतिक धरातल पर एक आदर्श जीवन–पद्धति का प्रतिपादन करते हुए वेदों ने सभी दार्शनिक सम्प्रदायों के लिए अपनी आचार–मीमांसा स्थापित करने के लिए आधार–भूमि प्रदान की है। वैयक्तिक तथा सामाजिक उत्कर्ष के लिए वेदों में जिन नैतिक नियमों का प्रतिपादन किया गया है उन्हें ही दार्शनिक प्रस्थानों ने अपनाकर अपनी अचारमीमांसा प्रस्तुत की हैं। श्रौतपरम्परा से स्वयं निरपेक्ष होने पर भी बौद्ध एवं जैन दार्शनिकों की आचार–मीमांसा श्रौतचिन्तन पर भी अवलम्बित प्रतीत होती है।

3.3 सामान्य परिचय

जैन, बौद्ध, न्याय, वैशेषिक दर्शन और सिक्ख पन्थ सभी जीवबहुत्ववाद की स्वीकृति आधार पर परस्पर सम्बद्ध समान दृष्टि सम्पन्न है। जैन दर्शन–

1. वस्तु को अनन्तधर्मात्मक मानता है। अतः अनन्तधर्मात्मकता हीतत्त्व है।
2. जीवबहुत्व वाद की तात्त्विक दृष्टि, स्यादवाद तथा अनेकान्तवादकी प्रमाणशास्त्रीय तथा तार्किक दृष्टि भी उसकी विशेषता है।
3. फलतः 'अहिंसा' 'अपरिग्रह एवं सत्य की दृष्टि की आधारशिलापर उसकी मूल्यदृ ष्टि प्रतिष्ठित है।
4. जैन और बौद्ध दर्शन नास्तिक दर्शन तथा श्रमण परम्परा की दोधाराएँ है।

1. जैन और बौद्ध दर्शन का नीति, आचार एवं शील पर समान बल

   क) ''ओंकार सतिनामु करता पुरखम्भ निरभउ निरवैरू अकाल मूरति अजूनी सैभं

गुरु प्रसादि'' –गुरू ग्रन्थ साहब

ख) मनुष्य की आत्मा अविनाशी ज्योति का अंश –निज स्वरूप का दर्शन

ग) नाम स्मरण करना– अविनाशी परमात्मा का अंश है।

घ) इस निश्चय के होते साधक चढ़दी कला अर्थात् ऊँची अवस्था मेंक्रम चला जाता है।

ङ) प्रभु आज्ञा को सिर मत्थे स्वीकार करना।

च) सबका भला चाहना ।

छ) जातिभेद, महजवी अलगाव को खत्म कर एक मानवमात्र धर्म का उपदेश ।

3.3.1 नैतिक मर्यादा

व्यावाहरिक जीवन की अनैतिकता से मुक्ति तथा नैतिकता एवं पवित्रता से परिपूर्णता के लिए सात–मर्यादाओं सहित जो अन्य प्रमुख नैतिक सन्दर्भ मिलते हैं, वे ही वैदिक विचारधाराओं के समान बौद्ध तथा जैन, इन दोनों अवैदिक विचार–धाराओं की आचार–मीमांसा के भी प्रमुख आधार परिलक्षित हो रहे हैं। ऋग्वेद तथा अथर्ववेद में नैतिक तथा पवित्र जीवन के लिए सात मार्यादाओं का उल्लेख मिलता है।

सप्त मर्यादाः कवयस्ततक्षुस्तासामेकामिदभ्यंहुरो गात्।

इस मंत्र की व्याख्या करते हुए निरूक्त में निम्नलिखित सात नैतिक मर्यादाएँ गिनाई गई है। 1. मदिरापान 2. जुआ खेलना 3. स्त्रियों का सेवन 4. शिकार 5. कठोर दण्ड देना 6. कठोर वचनों का प्रयोग 7. दूसरों के कार्यों में दोषान्वेषण करना। इनके अतिरिक्त 'यद्वा' कहकर 1. चोरी 2. व्यभिचार 3. ब्रह्महत्या 4. सुरापान 5. पापकर्मों का बार–बार अनुवर्तन तथा 6. पाप कर्मों के उत्तरदायित्व से बचने के लिए असत्य का अवलम्बन, इन छह अन्य अनैतिक कर्मों का उल्लेख कर इनमें से एक का भी आचरण होने पर सम्पूर्ण जीवन गर्हित हो जाने से इनसे बचने का निर्देश प्रदान किया गया है। इन्हीं मर्यादाओं में अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य तथा अपरिग्रह की भावनाएँ भी समाहित हो जाती हैं जिनका अनेक वैदिक सन्दर्भों द्वारा अलग से भी उल्लेख मिलता है। इनमें शिकार का निषेध, अहिंसा–पालन का पक्ष उद्घाटित करता है। ऋग्वेद में अहिंसा की भावना को प्रकाशित करते हुए अग्नि से यह प्रार्थना की गई है कि वह ''मातृरूपिणी दिशाओं के मध्य हिंसा–रहित होकर बढ़े– 'अहिंस्यमान उर्वियाविवावृधे।। इसी प्रकार तप से ऋत एवं सत्य की उत्पति का प्रतिपादन किया गया है–ऋतं च सत्यं चाभीद्धात्तपसोऽध्यजायत।ऋग्वेद के समान अथर्ववेद में भी भूमि को सत्य पर ही टिका हुआ प्रतिपादित किया गया है। सत्येनोत्तमिता भूमिः।सत्य के समान ब्रह्मचर्य तथा अपरिग्रह ही महत्ता भी आरूणिकोनिषद् में प्रतिपादित की गई है–

ब्रह्मचर्यमहिंसा चापरिग्रहं च सत्यं च यत्नेन
हे रक्षता हे रक्षती हे रक्षत इति।

ऋग्वेद में कामवासना में लिप्त मनुष्य की शिश्नदेव कहकर निन्दा करते हुए यज्ञस्थल में उसके प्रवेश को निषिद्ध माना गया है– 'मा शिश्नदेवा अपि गृऋतं नः।'

इस प्रकार वेदों में अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य तथा अपरिग्रहादि आचारों के नियमों की अभिव्यञ्चिका वैदिक संस्कृति का अनुसरण, वैदिक आचार के प्रतिपादक पातञ्जल योगदर्शन में यमों के रूप में किया गया है।

अहिंसा सत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहाः यमाः।

3.3.2 नैतिकता के साधन

यम की यह अवधारणा नास्तिक वर्ग में स्थापित बौद्ध दर्शन में अष्टांग मार्ग तथा दस शीलों के रूप में अभिव्यक्त हुए है। इन्हें ही जैन दर्शन की आचार मीमांसा में पञ्च महाव्रतों के रूप में प्रतिपादित किया गया है।

बौद्ध दर्शन के मज्झिम–निकाय ग्रन्थ में भगवान् बुद्ध द्वारा प्रतिपादित अष्टांग मार्ग के प्रथम मार्ग सम्यक् दृष्टि–यर्थाथ का ज्ञान का स्वरूप स्पष्ट करते हुए कायिक वाचिक तथा मानसिक भेद से कर्मों को 'अकुशल तथा कुशल रूपी दो भेदों में विभक्त कर अकुशल कर्मों के विरोधी, करने योग्य कुशल कर्मों में वैदिक साहित्य के अनुरूप 10 कुशलकर्मों 1.अहिंसा 2. अचौर्य 3. अव्यभिचार 4. अमृषा वचन 5. अपिशुन वचन 6. अकटुवचन 7. असम्प्रलाप 8. अलोभ 9. अप्रतिहिसा तथा 10. अमिथ्या दृष्टि को परिगाणित किया गया है। इस प्रकार वेदों से पातञ्जल योगदर्शन में समागत पञ्च यमों का सातत्य रूप से पञ्चशीलों में परिगणित हो गए हैं। केवल योग के अपरिग्रह के स्थान पर वैदिक सप्तममर्यादाओं में से प्रथम पानम् मद्यनिषेध का संग्रह किया गया है।

बौद्ध दर्शन के अनुरूप जैन दर्शन में यह वैदिक आचार पञ्च महाव्रतों के रूप में परिगणित हुआ है। उमा स्वाति ने इसे सम्यक् चरित्र में समाविष्ट कर सम्यक् दर्शन तथा सम्यक् ज्ञान के साथ इन आचारों को भी छह अन्य आचारों के साथ मोक्ष के साधन के रूप में निरूपित किया है–

सम्यग्दर्शनज्ञानचरित्राणि मोक्षमार्गः।

वेद की शब्द व्यवहार के पवित्रता की भावना धम्मपद में भी अभिव्यक्त होती है। यहाँ पर शान्ति सान्त्वना प्रदान करने वाली वाणी को सार्थक, सम्यक् वाणी कहा गया है। इसके विपरीत उन सहस्र वचनों को भी, जिनसे शान्ति न मिले, निरर्थक कहा गया है।

सहस्समपि चे वाचा अनत्थपदसंहिता।
एकं अत्थपदं सेय्यो युं सुत्वा उपसम्मति।

मंगल एवं माधुर्य से समन्वित सत्य के वैदिक स्वरूप की अभिव्यक्ति पातञ्ज–योगदर्शन के व्यास–भाष्य में हुई है। जहाँ उस सत्य को जिससे हिंसा होती हो सत्य न मानकर पाप ही माना गया है।

यदि चैवमप्यभिधीयमाना भूतोपधातपरैव स्यान्न
सत्यं भवेत्पापमेव भवेत्।

माधुर्य तथा कल्याण से समन्वित वाचिक सत्य के प्रतिपादन की वैदिक संस्कृति की छाप, जैन दर्शनाभिमत सूनृत व्रत के स्वरूप पर भी स्पष्ट रूप से अभिव्यक्त हो रही है। आर्हत दर्शन में भी तथ्यपरक उसी वचन का सूनृत व्रत कहा गया है जो सुनने में प्रिय तथा पथ्य भी हो।

प्रियं पथ्यं वचस्तथ्यं सूनृतव्रतमुच्यते।
तत्सत्यमपि नो सत्यमप्रियमहितञ्च यत।।

3.3.3 वैराग्य एवं निवृत्ति मार्ग

अद्वैत वेदान्त की भाँति दोनो ही वैराग्य और निवृत्ति मार्ग के अनुयायी है। जैन, न्याय, वैशेषिक तथा सिक्ख पन्थ इस जगत् की सत्ता को स्वीकार करते हैं। वाह्यार्थवादी तथा बाह्यार्थानुमेयवादी बौद्ध दर्शन बाह्यजगत् की सत्ता को जैन, न्याय तथा वैशेषिक की ही भाँति मानते हैं।

3.3.4 तर्कवाद की मान्यता

जैन पञ्चणमोकार मन्त्र में अर्हत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय तथा ''णमो लोए सब्ब साहूणं'' अर्थात् लोक के सभी साधुजन के प्रति प्रणतिभाव वस्तु वैदिक परम्परा से सिक्ख और कबीर तक की परम्परा में 'गुरू' तत्त्व की प्रतिष्ठा से परस्पर सम्बद्ध है।

3.4 धार्मिक संघर्ष का नियन्त्रक तत्त्व

3.4.1 वसुधैवकुटुम्बकम्

3.4.2 अनेकान्त दृष्टि

जैन आचार्यों की मान्यता है कि परमार्थ, सत् या वस्तुतत्त्व अनेक विशेषताओं और गुणों का पुंज है। उनका कहना है कि 'वस्तुतत्त्व अनन्तधर्मात्मक है। उसे अनेक दृष्टियों से जाना जा सकता है और कहा जा सकता है। अतः उसके सम्बन्ध में कोई भी निर्णय निरपेक्ष और पूर्ण नहीं हो सकता है। वस्तुतत्त्व के सम्बन्ध में हमारा ज्ञान और कथन दोनों ही सापेक्ष है अर्थात् वे किसी सन्दर्भ और दृष्टिकोण के आधार पर ही सत्य है। आंशिक एवं सापेक्ष ज्ञान/कथन को असत्य कहकर नकारने का अधिकार नही है।

अनेकान्त के आधार पर ही यह मानना संभव है हमारे और हमारे विरोधी के विश्वास और कथन दो विभिन्न परिप्रेक्षों में एक साथ सत्य हो सकते हैं। आचार्य सिद्धसेन दिवाकर सन्मतितर्क में कहते हैं—

> णिययवयणिज्जसच्चा सव्वनया परवियालणे मोहा।
> ते उण ण दिट्ठसमओ विभयइ सच्चे व अलिए वा।।

अर्थात् सभी नय (सापेक्षिक वक्तव्य) अपने—अपने दृष्टिकोण से सत्य है। वे असत्य तभी होते है, जब वे अपने से विरोधी दृष्टिकोणों के आधार पर किये गये कथनों का निषेध करते है। किसी कथन की विश्वास की सत्यता और असत्यता उस संदर्भ अथवा दृष्टिकोण विशेष पर निर्भर करती है। जिसमें वह कहा गया है। जिस प्रकार परस्पर झगड़ने वाले व्यक्ति किसी तट्टस्थ व्यक्ति के कारण मित्रतता को प्राप्त कर लेते हैं जिस प्रकार परस्पर विरोधी विचार और विश्वास अनेकान्त की उदार और व्यापक दृष्टि के अधीन होकर पारस्परिक विरोध को भूल जाते हैं।

3.4.3 प्रज्ञा

वैदिक, जैन, बौद्ध और सिक्ख धर्म के आचार्यों ने धार्मिक जीवन की चरम लक्ष्य की प्राप्ति में सम्यग्दर्शक के साथ—साथ सम्यक ज्ञान को भी आवश्यक माना गया है।

महावीर के प्रधान शिष्य इन्द्रभूति गौतम ने तत्कालिन प्रमुख आचार्य के.सी. से प्रश्न करते हैं कि एक ही लक्ष्य की सिद्धी के लिए प्रयत्नशील पार्श्वनाथ और महावीर के आचार्य नियमों में यह अन्तर क्यों हैं। इससे समाज में मतिभ्रम उत्पन्न होता है कि—

पन्ना समिक्खए धम्मं ततं तत्तविणिच्छयं।

अर्थात् धार्मिक आचार की नियमों की समीक्षा और मूल्यांकन प्रज्ञा के द्वारा करना चाहिए। इससे स्पष्ट हो जाता है कि धार्मिक जीवन में अकेली श्रद्धा ही आधारभूत नहीं मानी जानी चाहिए उसके साथ–साथ तर्क–बुद्धि, प्रज्ञा एवं विवेक को भी स्थान मिलना चाहिए।

धर्म के मूल तत्वों को हृदयंगम करने के लिए तथा सभी धर्मों के आश्रमों में निर्भय विचरण के लिए विवेक बुद्धि की परम आवश्यकता पर गुरु नानक बल देते हैं। वे मानते है कि–

विवेक बुधि सब जग महि निरमल, विचरित विचरि रसु पीजै। गुरु ग्रन्थ, पृ. 1325

- भगवान बूद्ध ने आलार कलाम को कहा था कि तुम किसी के वचनों को केवल इसलिए स्वीकार मत करों कि इसे कहने वाला हमारा पूज्य है। हे कलामों जब तुम आत्मानुभव से अपने आप ही यह जान लो कि यह बातें कुशल है, यह बातें निर्दोष हैं, इनके अनुसार चलने से हित होता है, सुख होता है। तभी इन्हें स्वीकार करो।
- बौद्ध धर्म तत्त्व संग्रह में कहा गया है–

  तपाच्छेदाच्च निकषात् सुवर्णामिव पण्डितैः।
  परीक्ष्य भिक्षवो ग्राह्यं मद्वचो न तु गौरवात्।।

जिस प्रकार स्वर्ण को काटकर, छेदकर, कशकर और तपाकर परीक्षा की जाती है उसी प्रकार से धर्म की भी परीक्षा की जानी चाहिए।

'नय' अर्थात् आपेक्षिक वक्तव्य अपने–अपने दृष्टिकोण से सत्य

पञ्आ सभिक्खएधम्म ततं तत्तविणिच्छअ इन्द्रमूर्ति गौतम का केशी को उत्तर एक ही लक्ष्य उपदेश पार्श्वनाथ तथा महावीर के विचारों में अन्तर क्यो?

गुरूनानक द्वारा इसी को 'विवेक बुधि' कहा।बौद्धधर्मतत्त्वसंग्रह का वचन

तापाच्छेदाच्च निकषात् सुवर्णमिव पण्डितैः । परीक्ष्य भिक्षयो ग्राह्या मद्वचो न तु गौरवात।।''

3.5 कर्मसिद्धान्त

3.5.1 नैतिक नियम पर आधारित

कर्म सिद्धान्त का उद्‌भव सृष्टि वैचित्र्य वैयक्तिक विभिन्नताओं, व्यक्ति की सुख–दुखात्मक अनुभूतियों एवं शुभ अशुभ मनुवृतियों के कारण की व्याख्या के प्रयास में हुआ है। श्वेताश्वतरोपनिषद्, अंगुत्तरनिकाय और सूत्रकृतांग में हमें इन विभिन्न विचारधाराओं की उपस्थिति के संकेत मिलते हैं। महाभारत के शान्ति पर्व में इन विचारधाराओं की समीक्षा की गयी है। इस सम्बन्ध में प्रमुख मान्यताऐं निम्न है–

कालवाद– यह सिद्धान्त सृष्टि–वैविध्य और वैयक्तिक–विभिन्नताओं का कारण काल को स्वीकार करता है। जिसका जो समय या काल होता है तभी वह घटित होता है, जैसे– अपनी ऋतु (समय) आने पर ही वृक्ष में फल लगते है।

स्वभाववाद– संसार में जो भी घटित होगा या होता है, उसका आधार वस्तुओं का अपना–अपना स्वभाव है। संसार में कोई भी स्वभाव का उल्लंघन नहीं कर सकता है।

नियतिवाद– संसार का समग्र घटना–क्रम पूर्व नियत है, जो जिस रूप में होता है वैसा ही होता है, उसे कोई अन्यथा नहीं कर सकता।

यदृच्छवाद– किसी भी घटना का कोई नियत हेतु या कारण नहीं होता है। समस्त घटनाएँ मात्र संयोग का परिणाम है। यदृच्छावाद हेतु के स्थान पर संयोग को प्रमुख बना देता है।

महाभूतवाद– समग्र अस्तित्व के मूल में पंचमहाभूतों की सत्ता रही है। संसार उनके वैविध्यमय विभिन्न संयोगों का ही परिणाम है।

प्रकृतिवाद– विश्व–वैविध्य त्रिगुणात्मक प्रकृति का ही खेल है। मानवीय सुख–दुःख भी प्रकृति के ही अधीन है।

ईश्वरवाद– ईश्वार ही इस जगत् का रचयिता एवं नियामक है, जो कुछ भी होता है, वह सब उसकी इच्छा या क्रियाशक्ति का परिणाम है।

पुरुषवाद– वैयक्तित विभिन्नता और सांसारिक घटना क्रम के मूल में पुरुष का पुरुषार्थ ही प्रमुख है।

वस्तुतः जगत् वैचित्र्य और वैयक्तिक विभिन्नताओं की तार्किक व्याख्या के इन्हीं प्रयत्नों में कर्म सिद्धान्त का विकास हुआ है।

श्वेताश्वरोपनषिद् के प्रारम्भ में ही प्रश्न उठाया गया है कि हम किसके द्वारा प्रेरित होकर संसार–यात्रा का अनुवर्तन कर रहे हैं। आगे ऋषि यह जिज्ञासा प्रकट करते हैं कि क्या काल, स्वभाव, नियति, यदृच्छा, भूत योनी अथवा पुरुष या इस सबका संयोग ही इन सबका कारण है।

3.5.2 कार्यकारण पर आधारित

आचार के क्षेत्र में कर्म सिद्धान्त की उतनी ही आवश्यकता है जितनी विज्ञान के क्षेत्र में कार्यकारण के सिद्धान्त की। मैक्समूलर लिखते है कि यह विश्वास ही कोई अच्छा बूरा कर्म बिना फल दिये समाप्त नही होता। नैतिक जगत का वैसा ही विश्वास है जैसाकि भौतिक जगत् में ऊर्जा की अभिनास्ता का नियम है।

कार्यकारण के सिद्धान्त जड़तत्व के क्रियाकलाप है वहीं कर्म सिद्धान्त का विवेच्य चेतना के क्रियाकलाप है अतः कर्म सिद्धान्त में वैसी पूर्ण नियतता नही होती जैसी कार्यकारण सिद्धान्त में होती है। यह नियतता एवं स्वतन्त्रता का समुचित संयोग है।

कर्म सिद्धान्त की मौलिक स्वीकृति यही है कि प्रत्येक शुभासुभ क्रिया का कोई प्रभाव या परिणाम अवश्य होता है साथ ही उस कर्म विपाक या परिणाम का भोक्ता वही होता है जो क्रिया का कर्त्ता होता है और कर्म विपाक की यह परम्परा अनादि काल से चली आ रही है।

तत्त्व दृष्टि से कर्त्तव्य का निर्धारण

ऐतिहासिक दृष्टि से कर्म सिद्धान्त वेदों में उपस्थित ऋत् के सिद्धान्त से निगमित होता है। वैदिकों के लिए जो महत्त्व ऋत का मीमांसक के लिए अपूर्व का, न्यायायिकों के

लिए अदृष्ट का, अद्वैतियों की माया, सांख्यों की प्रकृति एवं बौधों की अविद्या या संस्कार पर्यायवाची से लगते है क्योंकि व्यक्ति के बन्धन एवं उसके सुख दुख की स्थितियों में इनकी मुख्य भूमिका है।

कर्म सिद्धान्त की उपयोगिता–

कर्म सिद्धान्त की व्यवहारिक यह है कि वह न केवल हमें नैतिकता के प्रति आस्थावान बनाता है अपितु वह हमें सुख–दुःख आदि का स्रोत हमारे ही व्यक्तित्व में खोजकर ईश्वर एवं प्रतिवेशी अर्थात् अन्य व्यक्तियों के प्रति कटुता का निवारण करता है। कर्म सिद्धान्त की स्थापना का प्रयोजन यही है कि नैतिककृत्य के अनिवार्य फल के आधार पर उसके प्रेरक कारणों एवं अनुवर्ती परिणामों की व्याख्या की जा सके।

3.5.3 पुरुषार्थ चतुष्टय

जैन दृष्टि में पुरुषार्थचतुष्टय

गौतमकुलक में कहा गया है कि पिता के द्वारा उपार्जित लक्ष्मी निश्चय ही पुत्र के लिए बहन होती है और दूसरों की लक्ष्मी पर स्त्री के समान होती है। दोनों का ही भोग वर्जित है। अतः स्वयं अपने पुरुषार्थ से धन का उपार्जन करके ही उसका भोग करना न्यायसंगत है। जैनाचार्यों ने विभिन्न वर्ण के लोगों को किन–किन साधनों से धनार्जन करना चाहिए, इसका भी निर्देश किया है। ब्राह्मणों को मुख (विद्या) से, क्षत्रियों को असि (रक्षण) से, वणिकों को वाणिज्य से और कर्मशील व्यक्तियों को शिल्पादि कर्म से धनार्जन करना चाहिए, क्योंकि इन्हीं की साधना में उनकी लक्ष्मी का निवास है। यद्यपि यह सही है कि मोक्ष या निर्वाण की उपलब्धि में जो अर्थ और काम बाधक हैं, वे जैनदृष्टि के अनुसार अनाचरणीय एवं हेय है। लेकिन दर्शन यह कभी नहीं कहता कि अर्थ और काम पुरुषार्थ एकान्त रूप से हेय हैं। यदि वे एकान्त रूप से हेय होते तो आदि तीर्थंकर भगवान् ऋषभदेव स्त्रियों की 64 और पुरुषों की 72 कलाओं का विधान कैसे करते? क्योंकि उनमें अधिकांश कलाएँ अर्थ और काम पुरुषार्थ से सम्बन्धित है। न्यायपूर्वक उपार्जित अर्थ और वैवाहिक मर्यादानुकूल काम का जैन विचारणा में समुचित स्थान है। जैन विचारकों ने जिसके त्याग पर बल दिया है वह इन्द्रिय–विषयों को भोग नहीं, भोगों के प्रति आसक्ति या राग द्वेष की वृत्ति है।

जैन मान्यता के अनुसार कर्म–विपाक से उपलब्ध भोगों से बचा नहीं जा सकता। इन्द्रियों के सम्मुख उनके विषय उपस्थित होने पर उनके आस्वाद से भी बचना सम्भव नही है, जो सम्भव है वह यह कि उनमें राग–द्वेष की वृत्ति न रखी जाये। इतना ही नहीं, जैनाचार्यों ने जीवन के वासनात्मक एवं सौन्दर्यात्मक पक्ष को धर्मोन्मुखी बनाने तथा उनके पारस्परिक विरोध को समाप्त करने का भी प्रयास किया है। उनके अनुसार मोक्षाभिमुख परस्पर अविरोध में रहे हुए सभी पुरुषार्थं आचरणीय है। आचार्य हेमचन्द्र कहते है कि गृहस्थ उपासक धर्मपुरुषार्थ और कामपुरुषार्थ का इस प्रकार आचरण करे कि कोई किसी का बाधक न हो।

भद्रआर्य (दूसरी सती) ने तो आचार्य हेमचन्द्र (11वीं शताब्दी) के पूर्व ही यह उद्घोषणा कर दी थी कि जैन परम्परा में तो पुरुषार्थचतुष्टय अविरोध रहते है। आचार्य बड़े ही स्पष्ट एव मार्मिक शब्दों में लिखते है कि धर्म, अर्थ और काम को भले ही अन्य कोई विचार परस्पर विरोधी मानते हों, किन्तु जिनवाणी के अनुसार तो वे कुशल अनुष्ठान में अवतरित होने के कारण परस्पर असपत्न (अविरोधी) हैं। अपनी–अपनी भूमिका के योग्य विहित अनुष्ठान रूप धर्म, स्वच्छाशय प्रयुक्त अर्थ ओर विस्त्रम्भयुक्त अर्थात्

मर्यादानुकूल वैवाहिक नियन्त्रण से स्वीकृत काम, जिनवाणी के अनुसार, परस्पर अविरोधी है। ये पुरुषार्थ परस्पर अविरोधी तभी होते हैं जब वे मोक्षाभिमुख होते हैं और जब वे मोक्षाभिमुख होकर परस्पर अविरोध की स्थिति में हो, असपत्न हों, तो वे सम्यक् होते हैं, इसलिए आचरणीय होते हैं। किन्तु जब मोक्ष–मार्ग से विमुख होकर पुरुषार्थ–चतुष्टय परस्पर विरोध में या निरपेक्ष होते है, तब वे असम्यक् या अनुचित एवं अनाचरणीय होते है।

बौद्ध दर्शन में पुरुषार्थ चतुष्टय

दीघनिकाय में अर्थ की उपलब्धि के लिए श्रम करते रहने का सन्देश उपलब्ध होता है। बुद्ध कहते हैं– आज बहुत सर्दी है, आज बहुत गर्मी है, अब तो सन्ध्या (देर) हो गयी, इस प्रकार श्रम से दूर भागता हुआ मनुष्य धनहीन हो जाता है। किन्तु जो सर्दी–गर्मी आदि को सहकर कठोर परिश्रम करता है, वह कभी सुख से वंचित नहीं होता जैसे प्रयत्नवान रहने से मधुमक्खी का छत्ता बढ़ता है, चींटी का वल्मीक बढ़ता है, वैसे ही प्रयत्नशील मनुष्य का ऐश्वर्य बढ़ता है। इतना ही नहीं, प्राप्त सम्पदा का उपयोग किस प्रकार हो, इस सम्बन्ध में भी बुद्ध का निर्देश है कि सद्गृहस्थ प्राप्त धन के एक भाग का उपयोग करे, दो भागों को व्यापार आदि कार्यक्षेत्र में लगाये और चौथे भाग को आपत्ति काल में काम आने के लिए सुरक्षित रख छोड़े।

कामपुरुषार्थ के सम्बन्ध में बुद्ध का दृष्टिकोण मध्यम मार्ग का प्रतिपादन करता है। उदान में बुद्ध कहते है, ''ब्रह्मचर्य जीवन के साथ व्रतों का पालन करता ही सार है, यह एक अन्त है। कामभोगों के सेवन में कोई दोष नहीं, यह दूसरा अन्त है। इन दोनों अन्तों के सेवन से संस्कारों की वृद्धि होती है, मिथ्याधारणा बढ़ती है, व्यक्ति मार्ग से भ्रष्ट हो जाता है।'' इस आधार पर कामपुरुषार्थ के सम्बन्ध में बुद्ध का दृष्टिकोण यही प्रतीत होता है कि जो काम धर्म–अविरुद्ध है, जिससे आध्यात्मिक प्रगति या चित्त की विकलता समाप्त होती है, वह काम आचरणीय है। इसके विपरीत धर्मविरुद्ध मानसिक अशान्तिकारक काम या विषयभोग अनाचरणीय है।

मज्झिमनिकाय में बुद्ध कहते है, ''भिक्षुओं! मैंने बेड़े की भाँति पार जाने के लिए (निर्वाणलाभ के लिए) तुम्हें धर्म का उपदेश दिया है, पकड़ रखने के लिए नहीं।

गीता में पुरुषार्थ चतुष्टय

गीताकार की मान्यता भी यही प्रतीत होती है कि अर्थ और काम को धर्माधीन होना चाहिए और धर्म को मोक्षाभिमुख होना चाहिए। धर्मयुक्त, यज्ञ (त्याग) पूर्वक एवं वर्णानुसार किया गया आजीविकोपार्जन गीता के अनुसार विहित ही है। यद्यपि धन की चिन्ता में डूबे रहनेवाले और धन का तथा धन के द्वारा किये गये दान–पुण्यादि का अभिमान करनेवाले को गीता में अज्ञानी कहा गया है तथापि इसका तात्पर्य यही है कि न तो धन को एकमात्र साध्य बना लेना चाहिए। इसी प्रकार कामपुरुषार्थ के सम्बन्ध में गीता का दृष्टिकोण यही है कि उसे धर्म–अविरुद्ध कान में हूँ। सभी भोगो से विमुख होने की अपेक्षा गीताकार को दृष्टि में यही उचित है कि उनमें आसक्ति का त्याग किया जाये। वस्तुतः यह दृष्टिकोण भोगों को मोक्ष के अविरोध में रखने का प्रयास है। इसी प्रकार गीता जब यह कहती है कि बिना यज्ञ के जो भोग करता है, वह चोर है, तो उसका प्रमुख दृष्टिकोण कामपुरुषार्थ को धर्माभिमुख बनाने का ही है।

इस प्रकार हम देखते है कि जैन, बौद्ध और गीता की विचारधाराओं में चारों पुरुषार्थ स्वीकृत हैं, यद्यपि सभी ने इस बात पर बल दिया है कि अर्थ और काम पुरुषार्थ को

धर्म–अविरुद्ध होना चाहिए और धर्म को सदैव ही मोक्षाभिमुख होना चाहिए। वस्तुतः यह दृष्टिकोण न केवल जैन, बौद्ध और गीता की परम्पराओं का है, वरन् समग्र भारतीय चिन्तन की इस सन्दर्भ में यही दृष्टि है। मनु कहते हैं कि धर्मविहीन अर्थ और काम को छोड़ देना चाहिए। महाभारत में भी कहा है कि जो अर्थ और काम धर्म विरोधी हों, उसे छोड़ देना चाहिए। कौटिल्य अपने अर्थशास्त्र में और वात्स्यायन अपने कामसूत्र में लिखते है कि धर्म से अविरोध में रहे हुए काम का ही सेवन करना चाहिए।

इस प्रकार भारतीय चिन्तकों का प्रयास यही रहा है कि चारों पुरुषार्थों को इस प्रकार संयोजित किया जाये कि वे परस्पर सापेक्ष होकर अविरोध की अवस्था में रहे। इस हेतु उन्होंने उनका पारस्परिक सम्बन्ध निश्चित करने का प्रयास भी किया। कौन सा पुरुषार्थ सर्वोच्च मूल्यवाला है इस सम्बन्ध में महाभारत में गहराई से विचार किया गया है और इसके फलस्वरूप विभिन्न दृष्टिकोण सामने भी आये–

1. अर्थ ही परम पुरुषार्थ है, क्योंकि धर्म और काम दोनों अर्थ के होने पर उपलब्ध होते हैं। धन के अभाव में न तो काम–भोग ही प्राप्त होते हैं, और न दान–पुण्यादि रूप धर्म ही किया जा सकता है। कौटिल्य ने भी अर्थशास्त्र में इसी दृष्टिकोण को प्रतिपादित किया है।
2. काम ही परम पुरुषार्थ है, क्योंकि विषयों की इच्छा या काम के अभाव में न तो कोई धन प्राप्त करना चाहता है, और न कोई धर्म करना चाहता है। काम ही अर्थ और धर्म से श्रेष्ठ है। जैसे दही का सार मक्खन है, वैसे ही अर्थ और धर्म का सार काम है।
3. अर्थ, काम और धर्म तीनों ही स्वतन्त्र पुरुषार्थ हैं, तीनों का समान रूप से सेवन करना चाहिए। जो एक का सेवन करता है वह अधम है, जो दो के सेवन में निपुण है वह मध्यम है और जो इन तीनों में समान रूप से अनुरक्त है, वही मनुष्य उत्तम है।
4. धर्म ही श्रेष्ठ गुण (पुरुषार्थ) है, अर्थ मध्यम है और काम सबकी अपेक्षा निम्न है। क्योंकि धर्म से ही मोक्ष की उपलब्धि होती है, धर्म पर ही लोक–व्यवस्था आधारित है और धर्म में ही अर्थ समाहित है।
5. मोक्ष ही परम पुरुषार्थ है। मोक्ष के उपाय के रूप में ज्ञान और अनासक्ति यही परम कल्याणकारक है।

3.5.4 संस्कार

सिक्ख सृष्टिरचना, उसके धारण, पालन परमात्मा को किसी अन्य करण में साहाय्य की आवश्यकता नही।

सनातन परम्परा में संस्कार– सोलह

बौद्धों में 10 पुंसवन, नामकरण, अन्नप्राशन, केशकम्पनमुण्डन, कर्णवेध,

विद्यारम्भ, विवाह, प्रव्रज्या, उपसम्पदा तथा दाहसंस्कार के रूप में मान्य है।

सनातन धर्म और बौद्ध धर्म में संस्कार व पद्धति

संस्कारों का उद्देश्य दोनों में समान है। संस्कारों के विषय में अपने विचार व्यक्त करते हुए भदन्त बोधानन्द महास्थविर कहते है– ''संस्कारों से जीवन सुसंस्कृत होकर ऊँचा

होता है, ऐसा सुसभ्य मानव समाज का बहुत प्राचीन काल से विश्वास चला आता है।'' (बौद्ध चर्चा पद्धति, संस्कार परिच्छेद)

सनातन धर्म द्वारा किये जाने वाले 16 संस्कारों में से लगभग दस संस्कार बौद्ध धर्म में भी मनाये जाते हैं। ये हैं– 1. पुंसवन, 2. नामकरण, 3. अन्नप्राशन, 4. केशकम्पन मुण्डन, 5. कर्णाविधन, 6. विद्यारम्भ, 7. विवाह, 8. प्रवज्या, 9. उपसम्पदा, 10. मृतक संस्कार।

3.6 प्रमाण सिद्धान्तों का उपयोग

तर्क का प्रयोग सर्वधर्म समागम के लिए

सभी धर्मों को प्रति आदर भाव को रखते हुए भी हमें तर्क को उसका अनुचर न मानकर उसके सहारे विश्व में वर्तमान सभी धर्मों की समीक्षा करनी चाहिए। तन्त्रागमशास्त्र की सभी शाखाओं में निर्दिष्ट षडंग योग में तर्क का विशिष्ट स्थान है। ''तर्कमृषिं प्रायच्छन्'' यह निरुक्तकार यास्क मुनि की उक्ति है। इनका स्थितिकाल पाणिनि मुनि से पहले माना जाता है। इसी तर्कशक्ति का सहारा लेकर हम भी मीमांसाशास्त्र की आवाप और उद्वाप (ग्रहण और त्याग) की पद्धति से पुरातन कालातीत तत्त्वों का परित्याग और नूतन उपादेय तत्त्वों का परिग्रह कर अभिनव भारतीय संस्कृति के निर्माण का पथ प्रशस्त कर सकते हैं।

शास्त्र–समर्थित के सहारे हम श्रुति, स्मृति, दर्शन, धर्मशास्त्र, पुराण, आगम और तन्त्रशास्त्र का आलोडन कर सनातन धर्म की समयानुकूल नूतन व्याख्या प्रस्तुत कर सकते हैं, सामाजिक अस्पृश्यता जैसी उन बुराइयों को दूर कर सकते हैं, जिनके कारण धर्म–परिवर्तन की प्रक्रिया यहाँ निर्बाध चल रही है। इसके लिए धर्म मीमांसा की पद्धति को नहीं, व्याकरण की ''यथोत्तरं मुनीनां प्रामाण्यम्'' की पद्धति को स्वीकार करना होगा।

3.7 ईश्वर की अवधारणा

न्याय वैशेषिक तथा सिक्ख परम्परा में ईश्वर की अवधारणा निमित्त एवं उपादान कारण के रूप में मान्य है। न्याय दर्शन में परमात्मा विश्व का कर्त्ता, धारण करने वाला तथा संहार करने वाला माना गया है। वह संसार को अनादि काल से चले आ रहे अणुओं की सहायता से बनाता है और संसार में एक सुनिश्चित क्रम उसी परमात्मा के कारण ही है। अणुओं को अनादि मानने से न्याय दर्शन के अनुसार परमात्मा संसार का निमित्त कारण ही है उपादान कारण नहीं। परमात्मा की इस स्थिति को दृष्टिगत रखते हुए पं. बलदेव उपाध्याय का मत है कि परमात्मा को मात्र निमित्त कारण मानते हुए नैयायिकों ने परमात्मा में भी मनुष्य में पाई जाने वाली दुर्बलताओं को निहित मान लिया है और इस प्रकार बड़े ही स्थूल ढंग से परमात्मा का वर्णन किया गया है। जैसे एक बढ़ई लकड़ी काट जोड़ कर फर्नीचर बना लेता है, परमात्मा को भी इसी भांति अणुओं की सहायता से कार्य करते हुए दिखाया गया है। यह परमात्मा जो कि सृष्टि रचना के लिए (अणु आदि उपादान कारणों पर निर्भर है कैसे सर्वशक्तिमान और सर्वथा मुक्त माना जा सकता है? गीता के अनुसार ईश्वर स्वयं सर्व भूतों का बीज है। संसार वृक्ष की तरह इसी बीज से विकसित होता है तथा पुनः लय होकर बीज रूपी परमात्मा में समाहित हो जाता है। परमात्मा विश्वव्यापी और विश्व से परे वह सत्ता है जिसके बारे में कुछ नहीं समझाया जा सकता हालांकि मनुष्य की वाणी भी उसी परम

सत्ता का ही प्रकाश है।

- गुरु नानकदेव परमात्मा को ही सृष्टि का निमित्त और उपादान कारण मानते हैं– आपीन्है आयु साजिओं आपीन्हे रचिओ नाउ।।
- सृष्टि रचना की समय अज्ञात और अनिश्चित है। पंडित, काची, इत्यादि कोई भी सृष्टि रचना का समय नहीं जानते। जिसने सृष्टि रचना की हैं, वही इन सब बातों को जान सकता है–

  कवणु सु वेला बखतु कवणु कवणु थिति कवणु वातं
  जा करता सिरठी कउ साजे आपे जाणै सोई।। (नानक–वाणी, जपु जी, पउड़ा 21)

- सृष्टि के अनन्त विस्तार परमात्मा के एक वाक्य से होते हैं–

  कीता पसाउ एको कवाउ। (नानक वाणी, जपु जी– पउड़ी 16)

गुरु नानक यह मानते हैं कि सृष्टि रचना के लिए और उसको धारण कर उसका पालन–पोषण करने के लिए परमात्मा को किसी अन्य कारण को सहायता की आवश्यकता नहीं है। वह सभी कारणों को अपने हाथ में रखने के लिए सर्वथा सक्षम् है। वह सभी कारणों का नियंता स्वयं है और सभी कारण उसके अपने वश में है। परमात्मा सारी सृष्टि का निमित्त और उपादान कारण है और इसीलिए वह सर्व व्यापक, सर्वज्ञ तथा सर्वश्रेष्ठ है। इसी तथ्य को विशद रूप से पिछले पृष्ठों में 'मूलमंत्र' के आधार पर कर्त्ता पुरुष की व्याख्या करते समय समझाने का प्रयत्न किया गया है।

गुरूनानक वाणी में वेद शब्द का प्रयोग अनेक बार हुआ है। कुछ स्थलों पर इसे 'वेद' लिखा गया है जबकि अधिकांश स्थलों पर इसे 'वेद' लिखा गया है। किन्तु दोनों में काई अन्तर नहीं है। वेद या वेद शब्द का प्रयोग गुरूनानक वाणी में कुल पैंसठ बार हुआ है। गुरूनानक वाणी और इससे वेद ग्रन्थों का अर्थ लिया गया है। यथा–

साम वेद रिगु जुजरू अथरवण।।
वाचहि पुसतक वेद पुरानां।।
सुणिऐ सासत सिमृत वेद।।

इसके अतिरिक्त आदि ग्रन्थ में शेष गुरूओं की वाणी में भी वेद शब्द से वेद ग्रन्थों का ही अर्थ लिया गया है। यथा–

मनहीठ किने न पाइओ पुछहु वेदा जाइ।।
पूरन पुरख अचुत अविनासी जसु वेद पुराणी गाइआ।।
जो सरण परे तिसकी पीत राखै जाई पुछहु वेद पुराणी है।।

उपर्युक्त उदाहरणों से यह बात होता है कि इन सभी स्थलों पर वेद शब्द से वेद ग्रन्थों का ही अर्थ लिया गया है। गुरूओं की वाणी में भी वेद शब्द के साथ चार संख्या लगाकर यह बात दृढ़ कर दी गई है कि वेद शब्द से वेद ग्रन्थों का बोध होता है।

यहां वेद का अर्थ वेद ग्रन्थ न होकर ज्ञान है। यहां ज्ञान से अभिप्राय परमात्मा द्वारा प्रदत्त दिव्य ज्ञान से है। वही दिव्य ज्ञान वेदों में है। अतः यहां पर इसका अर्थ ज्ञान भी किया जा सकता है और वेद ग्रन्थ भी। भाव दोनों दशाओं में समान ही है। कुछ स्थलों पर 'वेद' शब्द के साथ शास्त्र और पुराणों का नाम भी आया है। 'वेद' शब्द को

साथ पुराण शब्द का प्रयोग तो गुरूनानक वाणी में अनेकशः हुआ है।

सची कीरति साची वाणी।
होर न दीसै बेद पुराणी।।

बेद पुराण कथे सुणे हारे मुनी अनेका।।
असट साज साजि पुराण सोधहि करहि बेद अभिआसु।।

'वेद' और वेद शब्द के अतिरिक्त गुरूनानक वाणी में एक स्थल पर इसका पर्यावाची शब्द आगम भी प्रयुक्त हुआ है।

पंडित संगि बसहि जन मूरख आगत सास सुने।
अपना आपु तू कबहू न छोडसि सुआन पूछि जिउरे।।

पुराण अठारह है तो उनके लिए 'असटदस' या 'दसअठ' शब्द का प्रयोग हुआ। उसी प्रकार वेद चार होने के कारण इनके लिए 'चार' शब्द का प्रयोग हुआ है। 'असंतु राग' गुरूनानक देव जी का कथन है कि वेद रूपी चार ज्ञान प्रदीप चार युगों के हाथ में दिए हैं जो अपनी–अपनी बारी पर प्रकाश करते हैं।

गुरू साहिब ने वेदों की प्रामाणिकता को उतनी श्रद्धा से नहीं माना जितनी से वैदिक धर्मी मानते हैं। वेदों को अपौरूषेय नहीं मानते थे। परन्तु गुरुनानक देव जी ने तथा उनके पश्चात शेष गुरूओं ने भी वेदों को ईश्वर कृत माना है। हम आज आदि ग्रन्थ में अंकित वाणी को गुरूओं की रचना मानते हैं। परन्तु उन्हें यह वाणी परमात्मा से ही प्राप्त हुई थी। जिसके विषय में गुरूनानक मरदाना से कहते थे कि 'रबाव बजाओ वाणी आई है।' गुरू अमरदास इसे 'धुर की वाणी आई' कहते हैं और गुरूनानक 'जैसी में आवै खतम की वाणी'।

गुरूनानक वाणी में हमें बहुत से ऐसे उद्धरण मिलते हैं जहाँ पर गुरूनानक देव जी ने वेदों को ईश्वरकृत माना है। उनके मतानुसार ईश्वर से ब्रह्मा की उत्पत्ति हुई, उसी से पर्वत और युग बने और उसी से वेद उत्पन्न हुए। बिलावल राग में गुरूनानक लिखते हैं कि परमात्मा ने चारों वेदों की रचना की। उसी ने चार खानियां तथा विभिन्न वाणियों की रचना की। अठारह पुराण षड्दर्शन और तीन गुणों की उत्पत्ति भी उसी से हुई। इस रहस्य को वही समझ सकता है जिसको वह स्वयं समझाए। परमात्मा ने 'गुरूमुख' एवं 'मनसुख' दोनों को स्वयं उत्पन्न किया और उनमें स्वयं विद्यमान है। किन्तु गुरूमुखों ने वेद वाणी को अपना लिया है और मनमुखों ने नहीं अपनाया।

गुरूनानक वाणी में बताया गया है कि सृष्टि रचना से पूर्व शून्य की अवस्था थी। उस समय केवल निर्गुण ब्रह्म ही था। उस समय वेद, कतेव, स्मृति, शास्त्र, पुराण, सूर्योदय और सूर्यास्त कुछ भी नहीं था। परमात्मा ने ब्रह्मा, विष्णु और महादेव को पैदा किया तथा ब्रह्मा को वेद समर्पित कर दिए। एक वृक्ष है जिसकी जड़ ऊपर को है। उसकी तीन शाखाएँ तीन गुण है जो नीचे है, चार वेद जिसके पत्ते हैं। उर्ध्वमूल और अधः शाखाओं वाले वृक्ष की बात कठोतपनिषद् में भी कही गई है। यहां यह बात बताई गई है कि ब्रह्मा वृक्ष है, माया उसकी जड़ है और तीन गुणों का विस्तार चारों वेद करते हैं।

श्रद्धासूक्त ऋग्वेद के दशम मण्डल, 151वां सूक्त

श्रद्धयाग्निः समिध्यते श्रद्धया हूयते हविः।
श्रद्धां भगस्य मूर्धनि वचसा वेदयामसि।।1।।

प्रियं श्रद्धे ददतः प्रियं श्रद्धे दिदासतः।
प्रियं भोजेषु यज्वस्विदं म उदितं कृधि।।2।।

यथा देवा असुरेषु श्रद्धामुग्रेषु चक्रिरे।
एवं भोजेषु यज्वस्वस्माकमुदितं कृधि।।3।।

श्रद्धां देवा यजमाना वायुगोपा उपासते।
श्रद्धां हृदय्यऽ याकूत्या श्रद्धया विन्दते वसु।।4।।

श्रद्धां प्रातर्हवामहे श्रद्धां मध्यंदिनं परि।
श्रद्धां सूर्यस्य निम्रुचि श्रद्धे श्रद्धापयेह नः।।5।।

श्रद्धासे ही अग्निहोत्री अग्नि प्रदीप्त होती है। श्रद्धासे ही हविकी आहुति यज्ञमें दी जाती है। धन–ऐश्वर्यमें सर्वोपरि श्रद्धाकी हम स्तुति करते हैं।।1।।

हे श्रद्धेय दाताके लिये हितकर अभीष्ट फलको दो। हे श्रद्धे! दान देनेकी जो इच्छा करता है, उसका भी प्रिय करो। भौगैश्वर्य प्राप्त करनेके इच्छुकोंके भी प्रार्थित फलको प्रदान करो।।2।।

जिस प्रकार देवोंने असुरोंको परास्त करनेके लिये यह निश्चय किया कि 'इन असुरोंको नष्ट करना ही चाहिये', उसी प्रकार हमारे श्रद्धालु ये जो याज्ञिक एवं भोगार्थी हैं, इनके लिये भी इच्छित भोगोंको प्रदान करो।।3।।

बलवान् वायुसे रक्षण प्राप्त करके देव और मनुष्य श्रद्धाकी उपासना करते हैं, वे अन्तःकरणमें संकल्पसे ही श्रद्धाकी उपासना करते हैं। श्रद्धासे धन प्राप्त होता है।।4।।

हम प्रातःकालमें श्रद्धाकी प्रार्थना करते हैं। मध्याह्नमें श्रद्धाकी उपासना करते हैं। सूर्यास्तके समयमें भी श्रद्धाकी उपासना करते हैं। हे श्रद्धादेवि! इस संसारमें हमें श्रद्धावान् बनाइये।।5।।

जैन दर्शन में धर्म

जैन देहातिरिक्त आत्मा, उसका पुनर्जन्म और परलोक मानते हैं। वे प्रत्यक्ष के अतिरिक्त अनुमान प्रमाण भी मानते हैं, अतः वे धर्म भी स्वीकार करते हैं। किन्तु उनका धर्म पुद्‌गल (परमाणु) स्वरूप ही है। उनके सिद्धान्त के अनुसार उत्तम कर्मों से उत्तम–देहारम्भक पुद्‌गल बनते हैं, उन्हें ही 'धर्म' कहा जाता हैं।

जैनमत में शुभाशुभ कर्मों की वासना से वासित परमाणु धर्म है। गतिशील जीव और पूरणरूप वृद्धि तथा गलनरूप ह्रासशील भौतिक परमाणुसंज्ञक अशब्दातमक पुद्‌गल की गति में मछली के तैरने में सहायक स्थिर जल के सदृश सहायक सर्वलोक व्यापी स्वतः –सिद्ध अखण्ड नित्य द्रव्य धर्म है। क्षमा, ऋजुता, मृदुता, शुद्धतादि भी धर्मपदवाच्य हैं।

बौद्ध दर्शन मे धर्म

सौगतमत में क्षणिक विज्ञानसन्तति के समाश्रित वासना धर्म है। जगत् के प्रभव और निरोध में हेतुभूत शक्तिरूप पृथक् सत्तासम्पन्न विभागरहित भूत तथा चित्त का सूक्ष्म क्षणिक तत्त्व धर्म है। अविद्या जगत्प्रवाह में हेतुभूत धर्म है। प्रज्ञा जगत् प्रवाह में निरोधभूत धर्म है। नवीन वस्तु के प्रभव में पदार्थरूप में धर्मों का परस्पर संयोग हेतु है।

बौद्धों के मत में निर्वाण–प्राप्ति के उपाय अहिंसादि साधनों को 'धर्म' माना जाता है। उन्हें भी प्रत्यक्ष–अनुमान से पृथक् आगम–प्रमाण मान्य नहीं। बुद्ध की सर्वज्ञता भी 'जिन' जैसी ही है। बौद्धों में सौत्रान्तिकं, वैभाषिक, योगाचार और माध्यमिक ये चार भेद हैं। उनमें भी धर्म के सम्बन्ध में पर्याप्त मतभेद हैं। व्यवहारतः उनमें अहिंसा, सत्य, क्षमा, दया आदि धर्मों का बड़ा सम्मान है। बुद्ध–भक्ति का भी बड़ा आदर है, पर यह सब बुद्ध की सर्वज्ञता पर ही निर्भर है।

न्याय दर्शन में धर्म

न्याय दर्शन के अनुसार धर्म आत्मनिष्ठ एक विशेष गुण है। उसी को 'अदृष्ट' कहा जाता है। शुभ कर्म से शुभ–अदृष्ट और अशुभ कर्म से अशुभ–अदृष्ट उत्पन्न होता है। नैयायिक प्रत्यक्ष और अनुमान के अतिरिक्त आगम प्रमाण भी मानते हैं। आगमों में मन्वादिसम्मत वेदादिशास्त्र उन्हें भी मान्य है। अन्तर केवल इतना ही है कि मन्वादि–धर्मशास्त्री वेद को अपौरूषेय होने से प्रमाण मानते हैं, जबकि नैयायिकादि सर्वज्ञ परमेश्वरप्रोक्त होने के कारण प्रमाण मानते हैं। प्रतिकल्प के आदि में परमेश्वर से समान आनुपूर्वी वाले वे ही वेद प्रकट होते हैं, अतः उनके अनुसार भी प्रवाह रूप से वेद अनादि ही हैं।

जैन मूल महामन्त्रः

णमो अरिहंताणं, णमो सिद्धाणं, णमो आइरियाणं।
णमो उवज्झायाणं, णमो लोए सब्बसाहूणं।

अरिहन्तों को नमस्कार हो, सिद्धों को नमस्कार हो, आचार्यों को नमस्कार हो, उपाध्यायों को नमस्कार हो, लोक के समस्त साधुओं को नमस्कार हो।

सिक्ख मूल महामन्त्र

ओंकार सतिनामु करता पुरखंभ निरभउ निरवैरु अकाल मूरति अजूनी सैभं गुर प्रसादि।
श्री गुरु ग्रन्थ साहिब

3.10 व्रत और उपवास एवं तीर्थयात्रा

बौद्ध धर्म में भिक्षु जीवन का आनन्दलेने और सनातन धर्म में सन्यास जीवन का आनन्द लेने के लिए लोग व्रत करते हैं। भिक्षु और सन्यासी सबके घर से भिक्षा मांगकर केवल एक वक्त ही भोजन करते हैं। वाराह पुराण में अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और सरलता को मानसिक व्रत तथा मौन एवं हित् मित, सत्य, मृदुभाषण को वाचिक व्रत कहा जाता है।

तीर्थयात्रा

तीर्थ उन साधनों को कहा जाता है जिससे भव सागर पार किया जाता है।

तीर्थयात्रा का उद्देश्य आवागमन के मूलकरण वृष्णा का क्षय करा कर बार–बार जन्म लेने से छुटकारा दिला कर मोक्ष या निर्वाण प्राप्त करना है। बौद्ध धर्म में तीर्थ शब्द के स्थान पर स्मारक (अर्थात् स्मरण कराने वाला) शब्द का प्रयोग किया जाता है स्मारक अर्थ है आर्य चतुष्टय, अष्टांगिक मार्ग व बुद्ध के चरित को याद करना– बौद्ध धर्म के चार महातीर्थ है। हिन्दू धर्म में तीर्थ की संकल्पना बहुत व्यापक हैं प्राचीन तीर्थों में सप्तपुरीयाँ महत्त्वपूर्ण रही है।

पूजा

मण्डलं देवयजनं दीक्षा संस्कार आत्मनः।
परिचर्या भगवत आत्मनो दुरितक्षयः।।

–भागवत पुराण 12/11/17

सूर्यमण्डल अथवा अग्निमण्डल ही भगवान् की पूजास्थान है; अन्तःकरण की शुद्धि ही मंत्र दीक्षा है और अपने समस्त पापों को नष्ट कर देना ही भगवान की पूजा है।

चूँकि ध्यान के लिये चित्त का एकाग्र होना आवश्यक होता है अतः बौद्ध धर्म में भी भक्तगण नाना उपाय करते हैं। वह अपने इष्ट को स्नान कराते हैं, वस्त्र अलंकार पहनाते हैं, सुगन्धित विलेपन करते है, धूप–दीप, नैवेध चढ़ाते है; स्तुति करते हैं तथा अन्य प्रकार से भी पूजन करते है; बुद्ध धर्म तथा संघ में जाते हैं। शुद्ध बनते है इन सबका उद्देश्य बाहरी विषयों से मन को हटाकर इष्ट में मन को एकाग्र करना होता है। महायान में बोधिचित्रोत्पाद के सात अंग पूजा– वन्दना, पूजना, पापदेशना, पुण्यानुमोदन, अध्येष्णा, बोधिचित्रोत्पाद और परिणामना।

परस्पराश्रयता के कुछ उदाहरण

महावीर की मुख्य शिक्षा को बौद्ध त्रिपिटक में इस प्रकार उद्धृत किया गया है– निर्ग्रन्थ (जैन) साधु चार संवरों से संवृत्त करता है।

1. निर्ग्रुन्थ जल के व्यवहार का वारण करता है (जिससे जल में जीव न मारे जाये)
2. सभी पापों का वारण करता है,
3. सभी पापों का कारण करने से वह पाप रहित (धूतपाप) रहता है।
4. सभी पापों के वारण करने में लगा रहता है। इसलिये वह गतात्मा (अनिच्छुक), यतात्मा (संयमी) और स्थितात्मा कहलाता है। (राहुल सांस्कृत्यायन, दर्शन दिग्दर्शन, पृ 415)

सम्मति प्रकरण में सिद्धसेन जी जैन मतानुगामी होने पर भी मीमांसकों के स्वतः प्रामाण्य का निराकरण बौद्ध प्रतिपादित युक्तियों से करते हुए कहा है संविग्नजनों के लिए सुखबोध्य, मिथ्या दर्शनों के समूहात्मक सुधानिष्यन्द तुल्य, ऐश्वर्यसमृद्ध जिन वचन का कल्याण हो इत्यादि।

हमने जो बौद्ध युक्ति के उपन्यास से स्वतः प्रामाण्यवाद का प्रतिवाद किया इसमें ही उपर्युक्त अर्थ का ही समर्थन किया गया है। अन्यत्र भी इस ग्रन्थ में जहाँ जहाँ एक मत की युक्ति से अन्यमत का खण्डन किया गया है उसमें अर्न्तनिहित आशय यह है कि परस्पर निरपेक्ष सभी नयबाद मिथ्या है और अन्योन्य सापेक्ष समूहात्मक सभी नयवाद ही जिन शासनरूप यानी प्रमाणभूत सम्यक् है। आचार्य श्री को भी यही इष्ट

है। जैसाकि इन्होने ही त्रिंशिका ग्रंथ में कहा है–

हे नाथ। जैसे समुद्र में सर्व सरिताओं का मिलन होता हैं, वैसे आप में भी दृष्टियों का मिलन हुआ है। हाँ, उन एक एक दृष्टि में आपका दर्शन नहीं होता, जैसे कि पृथक् सरिताओं में समुद्र का दर्शन नहीं होता। (सम्मति तर्क प्रकरण खण्ड–1 शेठ मोतीशा लालबाग, जैन चेरिटेबल ट्रस्ट भुवनेश्वर, मुम्बई, पृ. 129)**विमर्शात्मक चिन्तन की स्वीकृति**

कठोपनिषद् – ''नैषां तर्केण मतिराप्नेया।''

बुद्धि – कहा जाता है बुद्धि की परिभाषा है– सर्वव्यवहारहेतुर्ज्ञान बुद्धिः। सा द्विविधा – स्मृतिनुभवश्च सम्पूर्ण व्यवहारों का जो कारण गुण है, उसे ज्ञान अर्थात् बुद्धि कहते हैं। वह स्मृति और अनुभव के भेद से दो प्रकार से होती है। न्यायदर्शन में द्रव्य के 24 गुणों में तर्क सोलहवां गुण है– बुद्ध शब्द प्रयोग आदि व्यवहार का असाधारण कारण है। स्मृति को जानने के लिए अनुभव को जानना आवश्यक है।

संस्कारमात्रजन्यं स्मृतिः।

स्मृति से भिन्न ज्ञान अनुभव है वह यथार्थ और अययार्थ होता है। यथार्थानुभव चार है– प्रत्यक्ष, अनुमिति, उपमिति और शब्द।

जैन– तर्क को परोक्ष प्रमाण मानते है उसमें स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान एवं आगम आते है।

आचारांग के तक्क तत्थ न विज्जइ मयी तत्थ न गहिया।

जिसके अनुसार आनुभविक एवं बौद्धिक आधारों पर किसी बात को सिद्ध करने, पुष्ट करने या खण्डित करने की सम्पूर्ण प्रक्रिया को भी तर्क कहा जाता है।

विभिन्न रूपों में तथा परस्पर विरुद्ध रूपों में दार्शनिक सिद्धान्तों को पढ़–पढ़ाकर तटस्थ व्यक्ति के मन में सन्देह या अश्रद्धा का होना स्वाभाविक ही है। परन्तु जब तत्–तत् दर्शनों का उनके दृष्टिकोण के साथ अपना दृष्टिकोण मिलाकर गम्भीरतापूर्वक अध्ययन, मनन तथा परिशीलन किया जाता है, तब तटस्थ विचारक को यह अतिस्पष्ट अनुभव होता है कि सभी दर्शन अनुभूतियों के तथा अनुभूतियों को अनुसरण करनेवाली युक्तियों के आधार पर ही सूक्ष्मातिसूक्ष्म गवेषणा करके स्व–स्व–सिद्धान्तों का प्रतिपादन करते हैं। इस प्रकार शुद्ध तटस्थ बौद्धिक प्रयोगशाला में ही सर्वदर्शनों के सिद्धान्तों को प्रत्यक्ष करने का प्रयास करनेवाले मनीषियों को दर्शन–सिद्धान्तों का अतिस्पष्ट, असन्दिग्धरूप में बौद्धिक प्रत्यक्ष अवश्य होता है। ऐसी दशा में सन्देह या अश्रद्धा का मूलोच्छेद हो जाता है।

दर्शनशास्त्रों के परस्पर विरुद्ध–से प्रतीत होनेवाले निर्णयों को पढ़कर विद्वानों के ह्रदय में दर्शनशास्त्रों के सिद्धान्तों के प्रति असत्यता या अनादर का भाव उदित न हो, तथा भौतिकविज्ञानियों को हँसी उड़ाने का अवसर प्राप्त न हो, इसी उद्देश्य से, दर्शनशास्त्रों के परस्पर विरुद्ध–से प्रतीत होनेवाले निर्णयों में किस प्रकार समन्वय विद्यमान है उसे प्रदर्शित करने के लिए ही मेरा यह लघु प्रयास है।

लब्ध–समाधि और साक्षात्कृत–भगवत्तत्त्व महापुरुषों की रति, मति एवं गति भी एक–दूसरे से विलक्षण होती हैं, इसीलिए दो आचार्यों के मत भी पूर्णरूप से मेल नहीं खाते। एक आचार्य के अनुयायियों में भी प्रस्थान–भेद हो जाता है। परन्तु जो वस्तु मति का विषय या कर्म नहीं, उसमें मतभेद का स्पर्श नहीं होता। सभी शास्त्रों के और

आचार्यों के अवान्तर तात्पर्य में ही भेद होता है, परन्तु परमतात्पर्य में भेद नहीं होता। निरूपण की प्रक्रिया ही पृथक्–पृथक् होती है, तत्त्व–वस्तु पृथक्–पृथक् नहीं होती। उस परमवस्तु के स्वरूप–निरूपण में ही नहीं किन्तु नाम में भी सर्वसम्मति एक नहीं होती। कोई–कोई उसे तत्त्व कहना भी पसन्द नहीं करते। ऐसी स्थिति में परमार्थ को अमत कहना उचित ही है, जैसा कि उपनिषदें कहती हैं।

कर्म–फल में तारतम्य स्वीकार है, अतः वह अमत नहीं हो सकता। अमत निर्विवाद और अविरोध होता है, उसमें द्वैत और पारोक्ष्य की कल्पना का अवसर है ही नहीं। आत्मा से वह भिन्न हो तो साक्षात् अपरोक्ष उसका कभी नहीं होगा, उससे आत्मा भिन्न हो तो अद्वितीयता की सिद्धि नहीं होगी। अतः अज्ञाननिवर्तक ज्ञान ही एकमात्र शरण है। अज्ञान का नाम चाहे कुछ भी रख लो। प्रमाद, अविद्या, मिथ्याज्ञान, अविवेक, भ्रान्ति, विस्मृति, वैमुख्य यह सब एक ही तराजू के चट्टे–बट्टे हैं। इनकी निवृत्ति होनी ही चाहिए।

मति के अनुसार मत, युक्ति के अनुसार प्रक्रिया, अधिकारी के अनुसार साधना और प्रमेय के अनुसार प्रमाण होता है। जो अपने प्रमेय के साक्षात्कार का करण है, वही प्रमाण है। जो अपने प्रमेय के साक्षात्कार में समर्थ नहीं, वह प्रमाणाभास है। इसीलिए प्रमाण के साथ–साथ लक्षण–ज्ञान भी अभीष्ट होता है। परोक्ष स्वर्ग और अपरोक्ष किन्तु अज्ञात आत्मस्वरूप वाक्य द्वारा लक्षण–ज्ञान की अपेक्षा रखते हैं। एक में श्रद्धा प्रधान है और दूसरे में अनुभव प्रधान है। अनुभव पर्यवसायी न होने पर प्रमाण और प्रमेय का निर्धारण ही व्यर्थ हो जाता है। उनकी यथार्थता अनुभव की कसौटी पर ही सिद्ध होती है।

सत्यसहिष्णुताकी क्रमिक अभिव्यक्तिकी भावनासे परोवरीयक्रमसे वेदोंमें विविध मतोंका प्रसंगानुसार चित्रण और प्रतिपादन है। बौद्धागममें वेदबीज प्रणवका प्रतिपादन तथा सम्यग्दृष्टि और समाधि आदिका साधनसोपानके रूपमें उल्लेख एवम् विज्ञान और शून्यका आत्मरूपसे सन्निवेश वेदवेदान्तोंके प्रभावसे बौद्धागमको अछूता सिद्ध नहीं होने देता। वेदविज्ञान और वैदिक वाङ्मयका बौद्धिक धरातलपर विवर्तित, परिवर्तित, प्रकारान्तपरिष्कृत एवम् प्रच्छन्नस्वरूप बौद्ध धर्म एवम् दर्शन अर्थात् बौद्धागमसिद्धान्त है।

हीनयान निर्वाणप्रद सन्यासप्रधान निवृत्तिमार्गसे सम्बद्ध था। कालान्तरमें महायानके प्रवर्तक नागार्जुनके गुरु ब्राह्मण श्रीराहुलभद्रने श्रीकृष्ण तथा श्रीगणेशके उपदेश क्रमशः श्रीमद्भागवद्गीता और श्रीगणेशगीतासे प्रेरित तथा प्रभावित होकर भक्तिगर्भित कर्मयोग तथा सर्वभूतहितमें संलग्नतादिको आदर्श मानकर बुद्धके अवतारादिकी गाथाको महायानमें सन्निहित किया।

महायानके शाखाविभेद मन्त्रयान तथा वज्रयान बौद्धप्रस्थानके तन्त्रशास्त्र हैं। इनका प्रमुख प्रतिपाद्य शून्याद्वैत तथा विज्ञानाद्वैत है। निर्वाणप्रद शून्य और विज्ञान वज्रोपम अनश्वर मान्य हैं। क्रिया, चर्या, योग, मण्डल, यन्त्र, मन्त्रादिके प्रतिपादक तन्त्रग्रन्थ वैदिक तथा पौराणिक युग्म–तत्त्वके विधायक और प्रतिपादक हैं।

व्यष्टि – निग्रह तथा शोधनकी प्रधानतासे 'हीनयान' नामक बौद्धप्रस्थान है। समष्टि–समुद्धारकी भावनासे सर्वहितप्रद करुणा, स्नेह, सहानुभूति, क्षमा, दान, शील, वीर्य, ध्यान, स्वतः – परतः – उभयतः अनुत्पन्न सर्वभावोंसे असंगता– सहित ज्ञान – विज्ञानकी परिपूर्णतारूपा प्रज्ञापारमितासे सम्पन्नकी प्रधानतासे 'महायान' नामक बौद्धप्रस्थान है।

3.11 सारांश

भारतीय मूल की ऐसी तीन परंपराएं जो विश्व धर्म का रूप ले चुकी है इसे जुड़ी हुई अंत संबद्धता के तत्वों का अपने विस्तृत अध्ययन किया अब हम संक्षेप में उनका विवेचन करने जा रहे हैं तीनों परंपराएं मानव जीवन में एक नैतिक मर्यादा को आवश्यक मानती हैं जिम सामाजिक और व्यक्तिगत मर्यादा प्रमुख है सत्य अहिंसा प्रेम पर आधारित नैतिकता मानव जीवन के लिए वर्णी है बौद्ध परंपरा जैन परंपरा सिख परंपरा यह तीनों परंपराएं मानव जीवन के उत्कर्ष के लिए एक मार्ग का प्रतिपादन करते हैं जिन्हें बौद्ध धर्म में अष्टांगिक मार्ग जैन परंपरा में पंच महाव्रत तथा सिख परंपरा में सतगुरु का आदेश माना जाता है तीनों परंपराएं जीवन में वैराग्य और निवृत्ति को आवश्यक मानती है तर्कवाद पर आधारित चिंतन इन परंपराओं का स्वभाव है धार्मिक संघर्ष के नियंत्रक तत्व के रूप में वैदिक परंपरा की वसुदेव कुटुंबकम की अवधारणा जैन परंपरा की अनेकांत दृष्टि बौद्ध परंपरा की प्रज्ञा आधारित दृष्टिकोण हमें धार्मिक संघर्ष से मुक्ति दिलाता है नैतिक नियम पर आधारित कर्म सिद्धांत की मान्यता वैदिक और आर्वैदिक दोनों परंपराओं में मान्य है जी इस सिद्धांत की कार्यकाल आत्मक रूप से व्याख्या की गई है मानव जीवन में धर्म अर्थ काम मोक्ष का सोपान क्रम में उपलब्धि प्राप्त करना तीनों परंपराओं का प्रमुख विशेषता है इतना नहीं इतना ही नहीं यह सिद्धांत अपने धार्मिक आध्यात्मिक नैतिक और संस्कृत अभियुक्त गमों की स्थापना प्रमाण सिद्धांतों के आधार पर करते हैं जहां तक ईश्वर की अवधारणा का प्रश्न है ईश्वर वैदिक परंपरा और सिख परंपरा में जगत का कारण भी है और स्वयं जगत के रूप में भी उपस्थित है दूसरे शब्दों में कहें तो वह जगत का शरीर भी है और वह जगत का आत्मा भी है वह जगत बनने वाला है तथा बनाने वाला है इस प्रकार से भारत भूभाग पर उत्पन्न यह परंपराएं एक दूसरे से परस्पर संबंध है इनकी इन्हीं मूल विशेषताओं के आधार पर हिंदू सभ्यता के अंतर्गत माना जाता है।

3.12 पारिभाषिक शब्दावली

3.13 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. सम्मति तर्क प्रकरण खण्ड–1 शेठ मोतीशा लालबाग, जैन चेरिटेबल ट्रस्ट भुवनेश्वर, मुम्बई,)
2. राहुल सांस्कृत्यायन, दर्शन दिग्दर्शन)
3. गुरूनानक वाणी में प्रयुक्त वेद शब्द

3.14 बोध प्रश्न

1. जैन, बौद्ध और सिख परम्पराएँ रिलीज़न नही बल्कि धर्म की अवधारणा पर आधारित है, इस कथन की पुष्टि कीजिए।
2. जैन, बौद्ध और सिख परम्पराओं में मौलिक भेद नही है, इस कथन पर प्रकाश डालिए।
3. जैन, बौद्ध और सिख परम्पराएँ हिन्दू सभ्यता की पुनरोत्थानवादी आन्दोलन है, इस कथन पर प्रकाश डालिए।

खण्ड 8
श्रीमद्‌भगवद्‌गीता का दर्शन

अष्टम खण्ड का परिचय

एम. ए. हिन्दू अध्ययन कार्यक्रम प्रथम वर्ष के चतुर्थ पाठ्यक्रम के अष्टम खण्ड में आपका स्वागत है। श्रीमद्भगवद्गीता शास्त्रों का सार है। अन्य शास्त्रों को विस्तार से पढ़ने पर वही ज्ञान प्राप्त होता है जो गीता के 18 अध्यायों में मिलता है। इसी कारण तत्वमीमांसा में गीता अध्ययन का समावेश है । गीता के 18अध्याय में श्री कृष्ण और अर्जुन का संवाद ही नहीं, बल्कि उन संवादो में वेद और शास्त्र का अनन्त ज्ञान भरा पड़ा है। तात्विक ज्ञान से ही मनुष्य एकदूसरे की रक्षा और सम्मान में तत्पर हो सकता है। इसी के दष्टिगत गीता मेंबताए सिद्धान्तों का संक्षेप में निरूपण यहां किया गया है। प्रथम इकाई में केवल गीता का तात्पर्य और उसका परिचय प्रस्तुत है । दर्शन की दृष्टि से भगवद्गीता का विवेचन दूसरी इकाई का विषय है। देव आचार और असुर आचार,भारत में दो मार्ग हैं। वैदिक सनातन हिंदू विचारधारा और दृष्टिकोण मैं जीवन का उत्तम से भी उत्तम पक्ष है। किस प्रकारजीना चाहिए कौन सा आचरण करना चाहिए । क्या करने योग्य है क्या नहीं करने योग है। क्या करने से हम सम्पूर्णमानव समाज का हित सोच सकते हैं । किसप्रकार एक मनुष्य का जीवन समाज और देश के लिए कल्याणकारी हो सकता है। अपने लिए भी उसका जीवनकिस प्रकार उन्नत हो सकता है। इन्हीं कर्म से आ गया है अन्तिम इकाई का वर्णन प्रस्तुत है। इस खण्ड में कुल तीन इकाइयां है।

इकाई 1 श्रीमद्भगवद्गीता का परिचय एवं तात्पर्य

इकाई की रूपरेखा

1.0 उद्देश्य

श्रीमद्भगवद्गीता से सम्बद्ध इस इकाई का अध्ययन करने के उपरान्त आप –

- श्रीमद्भगवद्गीता का परिचय दे सकेंगे।
- श्रीमद्भगवद्गीता के विषय-वस्तु की व्याख्या कर सकेंगे।

- श्रीमद्भगवद्गीता के महत्त्व को व्यवस्थित रूप से समझ सकेंगे।
- श्रीमद्भगवद्गीता के भाष्यकारों एवं टीकाकारों के बारे में जान सकेंगे।
- श्रीमद्भगवद्गीता के तात्पर्य को जान सकेंगे।

1.1 प्रस्तावना

'श्रीमद्भगवद्गीता' सनातन धर्म एवं संस्कृत वाङ्मय का एक अत्यन्त सुप्रसिद्ध दार्शनिक ग्रन्थ है। यह महर्षि वेद व्यास रचित महाभारत जैसे विशालकाय ग्रन्थ का सारभूत अंश है। यही एक ऐसा ग्रन्थ है जिसमें दर्शन, धर्म और नीति का समन्वय हुआ है। गीता में अत्यन्त सुबोध तथा सरल भाषा में निःश्रेयस-प्राप्ति के उपाय अभिव्यक्त किये गये हैं, जिसे सर्वसाधारण सहजता से समझ सकते हैं। निःश्रेयस अर्थात् मोक्ष के सन्दर्भ में गीता का सन्देश सरल है और वह है भक्ति अर्थात् ईश्वर में श्रद्धाभाव। गीता में अध्यात्मतत्त्व के निरूपण के लिए पूर्ववर्ती विभिन्न दार्शनिक मतों की उद्भावनाओं का उपयोग करते हुए एक सुगम साधन मार्ग को प्रतिपादित किया गया है। गीतानुमोदित मार्ग भिन्न-भिन्न आध्यात्मिक प्रवृत्ति के सभी लोगों के लिए कल्याणप्रद है। गीता के महत्त्व का प्रमुख कारण उसकी समन्वयदृष्टि है। जिस प्रकार इसमें आध्यात्मिक तथ्यों का प्राञ्जल तथा सुबोध भाषा में समन्वय प्रस्तुत किया गया है वह अन्यत्र दुर्लभ है। यही गीता के सार्वभौमिक महत्त्व का आधार भी है। गीता भारतीय दर्शन का अनुपम रत्न है। दार्शनिकों ने इसकी गणना **'प्रस्थानत्रयी'** (उपनिषद्, गीता और ब्रह्मसूत्र) में करके इसकी महत्ता को पूर्णरूपेण स्वीकार किया है। साथ ही सनातन धर्म के वरेण्य आचार्यों तथा दार्शनिक सम्प्रदायों के विद्वानों ने अपने-अपने मतानुसार भाष्यों तथा टीकाओं का लेखन करके गीता के तात्पर्य को अभिव्यक्त करने का महनीय प्रयास किया है। गीता का व्यापक प्रचार-प्रसार न केवल भारत में है अपितु सम्पूर्ण विश्व में यह अत्यन्त लोकप्रिय है। आज विश्व की सभी प्रमुख भाषाओं में इसके अनुवाद उपलब्ध हैं। गीता का ही यह सार्वजनिक आकर्षण है कि विद्वानों द्वारा गीता पर अनेक पाण्डित्यपूर्ण विवेचनात्मक ग्रन्थ लिखे गये हैं और निरन्तर लिखे भी जा रहे हैं। गीता का सन्देश सार्वभौमिक एवं सार्वकालिक है। इसका उपदेश किसी सम्प्रदाय-विशेष के लिए नहीं, अपितु मानवमात्र के लिए कल्याणकारी है।

1.2 श्रीमद्भगवद्गीता का परिचय

भगवद्गीता सनातन धर्म के दार्शनिक साहित्य का अनुपम एवम् अद्वितीय ग्रन्थ है। यह महाभारत का सारतत्त्व है। यह महाभारत के भीष्मपर्व (षष्ठपर्व) के अध्याय (25-42) कुल 18 अध्यायों में संकलित है। इसमें 700 श्लोक हैं। इसकी भाषा जितनी सरल है, भाव उतने ही अधिक गम्भीर हैं। गीता का उपदेश सार्वभौमिक तथा सार्वकालिक है। जिस परिस्थिति में गीता का उपदेश प्रदान किया गया था, वह असाधारण थी। महाभारत का भयङ्कर संग्राम होने जा रहा था, जिसमें भाई के सामने भाई उसका वध करने के लिए तैयार खड़ा था। ऐसी विपरीत परिस्थिति में अर्जुन का विषादग्रस्त होना नितान्त स्वाभाविक ही है। अर्जुन महाभारत-कालीन योद्धाओं में सुप्रसिद्ध और परमवीर योद्धा था। वह इस प्रकार की सांसारिक परिस्थितियों में पड़ कर अपने कर्त्तव्य के विषय में संशय रखनेवाले मानव का प्रतिनिधित्व करता है। गीताज्ञान के वक्ता स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण थे, जो कि योगेश्वर, जगद्गुरु और युगद्रष्टा महापुरुष थे। अर्जुन के सामने समस्या थी – युद्ध करूँ या न करूँ ? इस कठिन प्रश्न का समाधान करने में ही

गीता का आविर्भाव हुआ है। अतः गीता की उपदेश की पद्धति अत्यन्त सुस्पष्ट है; वह आचार-मीमांसा का प्रतिपादन करती है। इसलिये गीता को **'योगशास्त्र'** कहा जाता है। **'योग'** शब्द के अनेक अर्थ हैं जिसमें उसका एक अर्थ **'व्यवहार'** भी है। यहाँ भी योग से आशय **'व्यवहार'** या **'कर्ममार्ग'** है। गीता के प्रत्येक अध्याय की पुष्पिका में **'ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे'** कहने का तात्पर्य भी यही है। इस प्रकार भगवद्गीता का मुख्य प्रतिपाद्य विषय ब्रह्मविद्या पर प्रतिष्ठित व्यवहार या कर्ममार्ग का उपदेश प्रदान करना है। किंकर्त्तव्यविमूढ अर्जुन को भगवान् श्रीकृष्ण द्वारा 'भगवद्गीता' के रूप में प्रदान किया गया वह उपदेश आज भी जनमानस को निरन्तर कर्त्तव्यपथ का बोध करा रहा है।

1.2.1 महत्त्व

गीता यथार्थतः एक ऐसा सनातन धर्म-ग्रन्थ है, जिसमें सभी सम्प्रदायों की विचारधारा का समन्वयात्मक समावेश है। इसमें धर्म, दर्शन और नीति का अनुपम सङ्गम है। यह भारतीय अध्यात्मिक चिन्तन का प्राण है। इसकी महत्ता वर्णनातीत है। इसे सर्ववेदमयी कहा गया है – **'सर्ववेदमयी गीता'**। उपनिषद् वेद का अन्तिम भाग ज्ञानकाण्ड है। उन्हीं ज्ञानपरक उपनिषदों का सारतत्त्व गीता है। गीता के सन्दर्भ में कहा गया है –

सर्वोपनिषदो गावो दोग्धा गोपालनन्दनः।

पार्थो वत्सः सुधीर्भोक्ता दुग्धं गीतामृतं महत्॥ (सङ्क्षिप्त महाभारत, प्रास्ताविक पृ. 16)

अर्थात् सभी उपनिषदें गाय हैं, दुहनेवाले श्रीकृष्ण हैं, अर्जुन बछड़ा है। श्रद्धालु विद्वान् भोक्ता है। यह गीतारूपी अमृत विलक्षण दूध है।

गीता के महत्त्व का अनुमान इसी तथ्य से लगाया जा सकता है कि स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण ने इसे अपना हृदय कहा है – **'गीता मे हृदयं पार्थ'**। गीता के सन्दर्भ में एक प्रचलित गाथा के अनुसार महर्षि व्यास ने अष्टादश पुराण, नौ व्याकरण तथा चारों वेदों का मन्थन कर महाभारत की रचना की। उस महाभारतरूपी सागर का मन्थन करने से गीता प्रकट हुई और उसी गीता का सार भगवान् श्रीकृष्ण ने अर्जुन को उपदेश के रूप में प्रदान किया। यथा –

अष्टादश पुराणानि नव व्याकरणानि च।
निर्मथ्य चतुरो वेदान् मुनिना भारते कृतम्॥

भारतोदधि निर्मथ्य गीता निर्मथितस्य च।
सारमुद्धृत्य कृष्णेन अर्जुनस्य मुखे धृतम्॥

गीता की महनीयता का आकलन करने के लिए यही पद्य पर्याप्त है –

गीता सुगीता कर्त्तव्या किमन्यैः शास्त्रविस्तरैः।
या स्वयं पद्मनाभस्य मुखपद्माद्विनिःसृता॥

अर्थात् हमें अन्य शास्त्रों के अध्ययन की अपेक्षा साक्षात् भगवान् विष्णु के मुखकमल से निःसृत इस गीता का ही अध्ययन, चिन्तन और मनन करना चाहिए।

गीता का प्रधान वैशिष्ट्य यह है कि वाक्यप्रमाण की अपेक्षा यह वैयक्तिक अनुभूति पर अधिक बल देती है। यह आत्मज्ञान के अनेक गूढ रहस्यों को सहजतया उद्घाटित करती है। इसके

चिन्तन से मानव का मन परिष्कृत हो जाता है। उसकी अन्तःप्रकृति परिवर्तित होकर अन्तर्मुख आयाम में लीन हो जाती है। साथ ही मानव सभी प्रकार के मोह, संशय और अवसाद से मुक्त होकर मानसिक शान्ति का अनुभव करता है। इस प्रकार गीता का उपदेश केवल तात्त्विक विचार परिवर्त्तनमात्र नहीं; इसका अभिप्राय मानवमात्र का आत्मोत्थान है।

1.2.2 नामकरण

'गीता' यह स्त्रीलिङ्ग शब्द भगवद्गीता के आधार पर ही प्रचलित हुआ है। वैसे 'गीत' शब्द संस्कृत में प्रायः नपुंसकलिङ्ग में प्रयुक्त होता है। **'गीतम्'** यही प्रयोग सामान्यतः प्राप्त होता है। यहाँ 'गीता' शब्द के स्त्रीलिङ्ग में प्रयोग का अभिप्राय इस ग्रन्थ का पूर्ण नाम **'भगवद्गीतोपनिषद्'** है। गीता सभी उपनिषदों का सार है। सार होने के कारण इसका भी उपनिषद् नाम से व्यवहार प्रवृत्त हुआ। 'उपनिषद्' शब्द स्त्रीलिङ्ग है। उसका विशेषण होने से गीत शब्द भी स्त्रीलिङ्ग बना तथा गानकर्ता भगवान् के साथ जोड़कर 'भगवद्गीतोपनिषद्' यह पूर्ण नाम बना। भगवद्गीता की पुस्तकों में, पुष्पिका (अध्याय-समाप्ति) में ऐसा ही उल्लेख प्राप्त होता है – **"इति भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे"....।** भगवान् श्रीकृष्ण ने बहुत सी उपनिषदों का सार ग्रहण किया था। अतः 'भगवद्गीतासु उपनिषत्सु' यह बहुवचन प्रयोग प्रचलित हुआ। किन्तु व्यवहार में शनैः शनैः वे विशेषण-विशेष्य अप्रयुक्त हो गये तथा 'भगवद्गीता' या केवल 'गीता' यह सङ्क्षिप्त शब्दरूप ही व्यवहृत हुआ। स्त्रीलिङ्ग 'गीता' शब्द के प्रचलन का यही कारण था। फलतः परवर्ती उपदेशपरक ग्रन्थों के लिए भी स्त्रीलिङ्ग 'गीता' शब्द की परम्परा चल पड़ी। महाभारत तथा अन्य पुराणों में भी यह 'गीता' शब्द विभिन्न उपदेशप्रसङ्गों में प्रयुक्त हुआ है। हंसगीता, अनुगीता, पराशरगीता, पिङ्गलगीता, हारीतगीता, अवधूतगीता, ईश्वरगीता आदि बहुत सी गीताएँ महाभारत तथा पुराणों में उपलब्ध होती हैं। केवल महाभारत में ही भगवद्गीता के अतिरिक्त पन्द्रह गीताएँ प्राप्त होती हैं। इसी भगवद्गीता के नाम के अनुकरण के कारण पर वहाँ भी स्त्रीलिङ्ग प्रयुक्त हुआ है।

1.2.3 गीता तथा महाभारत

पाश्चात्य तथा आधुनिक भारतीय समीक्षक दोनों ही महाभारत को विकसनशील रचना मानते हैं। महाभारत का विकास क्रमशः **'जय'**, **'भारत'** तथा **'महाभारत'** इन तीन रूपों में विविध उद्देश्यों की पूर्ति के लिए पृथक्-पृथक् अवसरों पर हुआ। सङ्क्षेप में **महाभारत** के **विकास क्रम** को इस तालिका से समझा जा सकता है –

महाभारत का विकास क्रम					
क्र.	**ग्रन्थ का नाम**	**कर्ता**	**श्लोक**	**वक्ता तथा श्रोता**	**रचना का अवसर**
1.	जय	व्यास	8,800	व्यास-वैशम्पायन	धर्मचर्चा (बदरिकाश्रम)
2.	भारत	वैशम्पायन	24,000	वैशम्पायन-जनमेजय	जनमेजय का नागयज्ञ
3.	महाभारत	सौति	1,00,000	सौति-शौनकादि ऋषि	नैमिषारण्य में शौनक ऋषि के द्वारा अनुष्ठित द्वादश वार्षिक सत्र

परन्तु भारतीय परम्परागत विद्वान् इस मत से सहमत नहीं है। महाभारत के आदिपर्व (अ. 56. 52) तथा स्वर्गारोहणपर्व (अ. 5.49) में स्पष्ट कहा गया है कि भगवान् व्यास ने तीन वर्षों में

निरन्तर परिश्रम से महाभारत की रचना की। वस्तुतः 'जय' नाम महाभारत का ही है।

लोकमान्य बाल गङ्गाधर तिलक ने 'गीतारहस्य' के बहिरङ्ग परीक्षा-प्रकरण में सप्रमाण सिद्ध किया है कि 'भगवद्गीता' महाभारत के प्रथम स्तर 'जय' में ही सम्मिलित थी। यदि महाभारत के तीन स्तर मान भी लिए जायें तो भी यह तथ्य स्पष्ट रूप से परिलक्षित होता है कि युद्ध के आरम्भ में श्रीकृष्ण ने अर्जुन को जो उपदेश दिया, उसी को महर्षि व्यास ने सङ्गृहीत किया है। महाभारत तथा गीता की अर्थसमानता के आधार पर लोकमान्य बालगङ्गाधर तिलक ने प्रतिपादित किया कि 'गीता' 'महाभारत' का ही एक भाग है तथा महर्षि व्यास ही महाभारत और गीता के रचयिता हैं। किन्तु वर्तमान में श्रीमद्भगवद्गीता अपनी सर्वव्यापकता, विषयगाम्भीर्य तथा लोकप्रियता के कारण महाभारत से पृथक् एक स्वतन्त्र ग्रन्थ के रूप में सनातन धर्म के सभी सम्प्रदायों समान रूप से समादृत है।

1.2.4 रचनाकाल

'भगवद्गीता' महाभारत के भीष्मपर्व ही एक अंश है। महाभारत में स्थान-स्थान पर गीता का उल्लेख है जिससे यह स्पष्ट सङ्केत मिलता है कि महाभारत के रचनाकाल से ही गीता को उसका एक वास्तविक भाग माना जाता रहा है। महाभारत के रचयिता महर्षि व्यास महाभारत युद्ध समसामयिक थे। परन्तु इसके विरुद्ध कुछ विद्वानों की दृष्टि में महाभारत की रचना से बहुत पूर्व गीता की रचना हो चुकी थी। तदनन्तर आवश्यकतानुसार गीता को इसमें जोड़ दिया गया है। इस प्रकार के परस्पर विरोधी अनेक मत-मतान्तर गीता के रचनाकाल के सन्दर्भ में उपलब्ध हैं। विद्वानों के मध्य इस विषय पर लम्बा विवाद चलता आ रहा है। गीता के रचनाकाल के सन्दर्भ में उपलब्ध मत इस प्रकार हैं –

1. गीता के रचनाकाल के विषय में सर्वप्रथम श्री काशीनाथ त्र्यम्बक तैलङ्ग ने भगवद्गीता के अपने अनुवाद की भूमिका में प्रकाश डाला था। उन्होंने विदेशी विद्वान् डॉ. लॉरिन्सर के उस मत का प्रबल खण्डन किया जिसमें उसने अनेक युक्तियों से यह प्रामाणित करने की चेष्टा की है कि गीता की रचना बुद्ध के बाद 'न्यू टेस्टामेंट' के प्रभाव में ईसा के कई शताब्दी बाद हुई है। इस मत को उपहासास्पद प्रमाणित करते हुए तैलङ्ग ने स्पष्ट कर दिया है कि गीता में कहीं भी बौद्ध दर्शन की छाया भी नजर नहीं आती है। उनकी दृष्टि में बौद्ध दर्शन के पूर्व गीता अपने अस्तित्व में आ चुकी थी। इसे प्रमाणित करने के लिए उन्होंने अनेक सशक्त उदाहरण भी प्रस्तुत किये हैं। उन्होंने सिद्ध किया कि महाभारत की रचना आपस्तम्ब गृह्यसूत्र (ईसापूर्व 3 शती) के पूर्व हो चुकी थी। अतः उसका अंश होने से गीता का रचनाकाल भी वही या उससे पूर्ववर्ती होना चाहिए। उनके इस मत का समर्थन डॉ. आर.डी. भण्डारकर ने भी किया था। तैलङ्ग के मतानुसार गीता का रचनाकाल ईसापूर्व 3 शती से पूर्व है।

2. गीता के उपलब्ध सभी भाष्यों में 'शाङ्कर-भाष्य' सर्वाधिक प्राचीन तथा प्रामाणिक है। आचार्य शङ्कर ने अपने भाष्यग्रन्थों में 'गीता' तथा 'महाभारत' के श्लोकों को प्रामाणिक रूप में उद्धृत किया है। शङ्कराचार्य का समय सामान्यतः (788-820 ई.) माना गया है। स्पष्टतः गीता का अस्तित्व आचार्य शङ्कर से बहुत पहले सिद्ध होता है।

3. विष्णुपुराण तथा पद्मपुराण आदि में भगवद्गीता के अनुकरण पर अन्य गीताएँ संकलित हैं। ऐसा तभी सम्भव है जब भगवद्गीता की पूर्ण प्रतिष्ठा हो चुकी हो। इन पुराणों का समय द्वितीय शती ईसा पूर्व के आसपास माना जाता है अतः इससे पूर्व गीता का निर्माण सिद्ध

होता है।

4. बौधायन गृह्यसूत्र में गीता के एक श्लोक को भगवद्वाक्य कहकर उद्धृत किया गया – "**तदाह भगवान्**

 पत्रं पुष्पं फलं तो यो मे भक्त्या प्रयच्छति।
 तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः।"

 बौधायन पितृमेधसूत्र में कहा गया है –

 "**यतस्य वै मनुष्यस्य ध्रुवं मरणमिति विजानीयात् तस्मात् जाते न प्रहृष्येत मृते च न विषीदेत**"।

 जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च।
 तस्मादपरिहार्येऽर्थे न त्वं शोचितुमर्हसि ।। (गीता-2.27)

 बौधायन का समय ईसापूर्व 4 शती है। अतः इससे पूर्व गीता तथा महाभारत का समय होना चाहिए।

5. भास के कर्णभार रूपक का एक श्लोक गीता के द्वितीय अध्याय के एक श्लोक से मिलता है। यथा –

 हतोऽपि लभते स्वर्गं जित्वा तु लभते यशः।
 उभे बहुमते लोके नास्ति निष्फलता रणे ।। (कर्णभार, भास)

 हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम्।
 तस्मादुत्तिष्ठ कौन्तेय युद्धाय कृतनिश्चयः ।। (गीता-2.37)

 महाकवि भास का समय चतुर्थ शती ईसापूर्व है। इस प्रकार 'कर्णभार' से ईसवी सन् के आरम्भ में महाभारत तथा गीता की सर्वमान्यता सिद्ध होती है।

6. गीता का संकेत महाकवि कालिदास के रघुवंश महाकाव्य में भी प्राप्त होता है। कालिदासकृत रघुवंश के दशम सर्ग का इकतीसवाँ श्लोक गीता के तीसरे अध्याय के बाईसवें श्लोक से सीधे मिलता है। बाणभट्ट ने भी गीता को सङ्केतित किया है। इस प्रकार कालिदास और बाणभट्ट भी गीता से परिचित थे।

7. जावा द्वीप की कवि भाषा में महाभारत का अनुवाद उपलब्ध है उसके भीष्मपर्व में लगभग सवा सौ श्लोक अक्षरशः मिलते हैं। इससे स्पष्ट परिलक्षित होता है कि 'गीता' के वर्तमान स्वरूप की रचना भीष्मपर्व के साथ हो चुकी थी।

8. वैदेशिक विद्वान् गार्बे गीता के प्रारम्भिक रूप का निर्माण-काल ईसा से दो सौ साल पूर्व तथा वर्तमान रूप का ईसा से दो सौ साल पश्चात् का मानते हैं। कीथ भी लगभग इसी मत को स्वीकार करते हैं। आर.डी. भाण्डारकर गीता का रचनाकाल ईसापूर्व चतुर्थ शताब्दी मानते हैं।

9. लोकमान्य तिलक ने अपने 'गीतारहस्य' में गीता को भागवत सम्प्रदाय का प्राचीनतम उपलब्ध साहित्य माना है। साथ ही उन्होंने भागवत धर्म के प्राचीन समय को सेनार्ट

(इण्डियन इनटरप्रेटर, अक्टूबर 1909 और जनवरी 1910) तथा ब्यूहलर (इण्डियन एन्टीक्वीटी 1894) द्वारा स्वीकृत किया जाने को भी उद्धृत किया है।

10. डॉ. राधाकृष्णन् ने अनेक मत-मतान्तरों की गम्भीर समीक्षा कर गीता का रचनाकाल ईसापूर्व पञ्चम शताब्दी निश्चित किया है।

उपर्युक्त प्रमाणों से ज्ञात होता है कि बौधायन से लेकर आचार्य शङ्कर तक महाभारत तथा गीता का अस्तित्व अविच्छिन्नरूप से बना हुआ था। अतः इन सारे तथ्यों पर गम्भीरतापूर्वक चिन्तन करने से निश्चय ही गीता का रचनाकाल ईसापूर्व 500 वर्ष स्वीकार किया जा सकता है। इसी मत को अधिसङ्ख्य भारतीय एवं पाश्चात्य विद्वानों ने भी स्वीकार किया है।

जहाँ तक गीता रचना के मास तथा तिथि का प्रश्न है भारतवर्ष में प्राचीन काल से ही मार्गशीर्ष शुक्ल एकादशी को **'गीता जयन्ती'** मनाने की परम्परा चली आ रही है। महाभारत का युद्ध मार्गशीर्ष मास में हुआ था। भगवान् श्रीकृष्ण सन्धि का प्रस्ताव लेकर दीपावली के आसपास कौरव सभा में गये थे तथा उनके असफल होकर लौटने पर युद्ध हुआ था। पितामह भीष्म ने शरशय्या पर अन्तिम समय में युधिष्ठिर से कहा था –

अष्टपञ्चाशतं रात्र्यः शयानस्याय मे गतः।
शरेषु निशिताग्रेषु यथा वर्षशतं तथा॥

माघोऽयं समनुप्राप्तो मासः सोम्यो युधिष्ठिर।
त्रिभागशेषः पक्षोऽयं शुक्लो भवितुमर्हति॥ (महाभारत अनुशासनपर्व अध्याय 167)

अर्थात् मुझे शरशय्या पर पड़े अट्ठावन दिन हो गये हैं तथा अब माघ मास का शुक्ल पक्ष आ गया है। यहाँ यह ध्यातव्य है कि भीष्म के शरशय्याग्रहण के समय सूर्य दक्षिणायन थे इसीलिए भीष्म उत्तरायण सूर्य में प्राणत्याग का निश्चय कर शरशय्या पर गये थे। उपर्युक्त साक्ष्य के आधार पर महाभारत युद्ध मार्गशीर्ष में तथा गीता रचना का समय मार्गशीर्ष शुक्ल एकादशी सिद्ध होती है।

1.2.5 विषयवस्तु

गीता के एकादश अध्याय में भगवान् श्रीकृष्ण ने अर्जुन को अपने विराट् रूप का दर्शन कराया था। यही विराट् रूपधारी नारायण ब्रह्म हैं। गीता का उद्देश्य भी इस तथ्य की पुष्टि करता है कि श्रीनारायण ब्रह्म हैं। अनन्य एवं शरणापन्न भक्त इन्हें निष्ठा, निष्काम-कर्म, वैराग्य, यथार्थ-ज्ञान एवं स्वधर्मरूपी साधनसहित प्रपन्नभक्ति से प्राप्त कर सकते हैं। गीता के प्रथम छः अध्यायों में आत्मा - अनात्मा तथा ब्रह्म का ज्ञान कराया गया है। अध्याय सात से बारह तक ज्ञान एवं कर्म द्वारा भक्तियोग की प्राप्ति का वर्णन है। ईश्वर के यथार्थ ज्ञान की उपलब्धि केवल ऐसे भक्तियोग से ही सम्भव बतलायी गयी है। इसके उपरान्त अध्याय तेरह से अट्ठारह तक भक्ति, ज्ञान एवं कर्मसहित पुरुषोत्तम, पुरुष तथा प्रधान के स्वरूप का अन्तर आदि का विवेचन किया गया है। गीता के अध्याय-क्रमानुसार विषयवस्तु का विवरण इस प्रकार है –

1. **प्रथम अध्याय : 'अर्जुनविषाद'** नामक प्रथम अध्याय (श्लोक 47) में रणभूमि में दोनों पक्षों में खड़े युद्धोन्मुख स्वजनों को देखकर अर्जुन का विषादग्रस्त होना, कुलक्षय की चिन्ता से आकुल अर्जुन का युद्ध न करने का निश्चय करना तथा अन्त में गाण्डीव त्याग कर रथ में बैठ जाने का वर्णन है।

2. **द्वितीय अध्याय** : **'साङ्ख्य-योग'** नामक द्वितीय अध्याय (श्लोक 72) में मोहग्रस्त अर्जुन को उपदेश देने के क्रम में श्रीकृष्ण द्वारा शरीर की नश्वरता, आत्मा की अमरता, निष्काम कर्मसम्पादन तथा स्थितप्रज्ञता वर्णित है।

3. **तृतीय अध्याय : 'कर्मयोग'** नामक तृतीय अध्याय (श्लोक 43) में विविध कर्म तथा उनके महत्त्व का निरूपण, अनासक्त भाव से कर्म करने का निर्देश तथा अर्जुन की पापकर्म में प्रवृत्तिविषयक जिज्ञासा का श्रीकृष्ण द्वारा समाधान वर्णित है।

4. **चतुर्थ अध्याय : 'ज्ञानकर्मसंन्यासयोग'** नामक चतुर्थ अध्याय (श्लोक 42) में योग-ज्ञान की परम्परा, गुण तथा कर्म के आधार पर चातुर्वर्ण्य का कथन, कर्म तथा अकर्म का भेदनिरूपण, यज्ञों के विविध स्वरूपों का प्रतिपादन तथा श्रद्धालु के लिए ज्ञानप्राप्ति का वर्णन है।

5. **पञ्चम अध्याय : 'कर्मसंन्यासयोग'** नामक पञ्चम अध्याय (श्लोक 29) में कर्मसंन्यास की अपेक्षा कर्मयोग की श्रेष्ठता, कर्मफलत्याग की अनिवार्यता, सभी प्राणियों में समबुद्धि तथा परमात्मचिन्तन द्वारा सुख की प्राप्ति वर्णित है।

6. **षष्ठ अध्याय : 'आत्मसंयमयोग'** नामक षष्ठ अध्याय (श्लोक 47) में संन्यास तथा योग की एकरूपता, सर्वसंकल्पत्याग से योगप्राप्ति, योगसाधना की उचित विधि तथा श्रेष्ठ योगी का लक्षण वर्णित है।

7. **सप्तम अध्याय : 'ज्ञानविज्ञानयोग'** नामक सप्तम अध्याय (श्लोक 30) में अष्ट भेदात्मिका जड़प्रकृति, संसारधारिका चेतन प्रकृति, जगदुत्पत्ति में ईश्वर की मूलकारणता तथा त्रिगुणात्मिका माया का निरूपण है।

8. **अष्टम अध्याय : 'अक्षरब्रह्मयोग'** नामक अष्टम अध्याय (श्लोक 28) में ब्रह्म, अध्यात्म, कर्म, अधिभूत, अधियज्ञ तथा ईश्वर-ज्ञान के उपाय का वर्णन है।

9. **नवम अध्याय : 'राजविद्याराजगुह्ययोग'** नामक अष्टम अध्याय (श्लोक 34) में श्रीकृष्ण ने अपने परम भाव तथा सृष्टि का वर्णन करके प्राणिमात्र के लिए अनन्य भक्ति तथा शरणागति का उपदेश दिया है।

10. **दशम अध्याय : 'विभूतियोग'** नामक दशम अध्याय (श्लोक 42) में श्रीकृष्ण द्वारा अपने को सबका मूल कारण बताना, अर्जुन द्वारा उन्हें परम तत्त्व स्वीकारना तथा अन्त में श्रीकृष्ण द्वारा अपनी विभूतियों का ख्यापन वर्णित है।

11. **एकादश अध्याय : 'विश्वरूपदर्शनयोग'** नामक एकादश अध्याय (श्लोक 55) में अर्जुन को श्रीकृष्ण द्वारा अपने विराट् रूप का दर्शन कराना, अर्जुन द्वारा श्रीकृष्ण की स्तुति तथा पुनः श्रीकृष्ण का स्वस्वरूप धरण वर्णित है।

12. **द्वादश अध्याय : 'भक्तियोग'** नामक द्वादश अध्याय (श्लोक 20) में साकार तथा निराकार ब्रह्मोपासकों की श्रेष्ठताविषयक अर्जुन की जिज्ञासा का समाधान तथा भक्ति का वर्णन किया गया है।

13. **त्रयोदश अध्याय : 'क्षेत्रक्षेत्रज्ञविभागयोग'** नामक त्रयोदश अध्याय (श्लोक 34) में क्षेत्र (शरीर) तथा क्षेत्रज्ञ (जीव) का वर्णन, ज्ञान तथा अज्ञान का निरुपण तथा आत्मा की एकता का वर्णन है ।

14. **चतुर्दश अध्याय : 'गुणत्रयविभागयोग'** नामक चतुर्दश अध्याय (श्लोक 27) में प्रकृतिजन्य तीनों गुणों- सत्त्व, रज, तमस् के स्वरूप एवं प्रवृत्ति का वर्णन, त्रिगुणातीत पुरुष की स्वरूप तथा आवरण का वर्णन किया गया है।

15. **पञ्चदश अध्याय : 'पुरुषोत्तमयोग**' नामक पञ्चदश अध्याय (श्लोक 20) में अविनाशी संसारवृक्ष का निरूपण, प्राप्ति का उपाय वर्णन तथा संशयरहित ज्ञानी पुरुष द्वारा पुरुषोत्तम का भजन वर्णित है।

16. **षोडश अध्याय : 'दैवासुरसम्पद्विभागयोग'** नामक षोडश अध्याय (श्लोक 24) में मनुष्य की देवी एवं आसुरी सम्पत्तियों, इनके फल तथा शास्त्रविधि से ही कर्म करने की श्रेयस्करता का वर्णन है।

17. **सप्तदश अध्याय : 'श्रद्धात्रयविभागयोग'** नामक सप्तदश अध्याय (श्लोक 28) में विविध सात्विकी राजसी, तामसी श्रद्धा तथा उनके फल का, यज्ञ, तप तथा दान की विविधता तथा उनके फल का वर्णन किया गया है।

18. **अष्टादश अध्याय : 'मोक्षसंन्यासयोग'** नामक अष्टादश अध्याय (श्लोक 78) में संन्यास तथा त्याग का सविस्तर वर्णन, त्यागी का लक्षण, सहज कर्म के त्याग का निषेध, सुख की त्रिविधता, समबुद्धिरूप योग का आलम्बन करने, कर्त्तव्य का अहङ्कार न करने का उपदेश देकर भगवत् शरण में आने का निर्देश तथा अन्त में अर्जुन द्वारा अनन्य शरणागत होकर कृष्ण के उपदेश से युद्ध करने के निश्चय का वर्णन है।

1.2.6 श्रीमद्भगवद्गीता के भाष्यकार एवं टीकाकार

सनातन धर्म-दर्शन में 'प्रस्थानत्रयी' का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है। प्रस्थानत्रयी में परिगणित उपनिषद्, गीता तथा ब्रह्मसूत्र ही धार्मिक एवं दार्शनिक सम्प्रदायों के लिए मुख्य आधार हैं। उसमें भी 'गीता' का महत्त्वपूर्ण स्थान है। प्राचीनकालिक सभी धार्मिक सम्प्रदाय प्रवर्त्तक आचायों में शङ्कराचार्य , रामानुजाचार्य , निम्बार्काचार्य, मध्वाचार्य, वल्लभाचार्य तथा रामानन्दाचार्य इन छः आचार्यों ने अपने मतानुसार गीता पर गम्भीर भाष्यों का लेखन किया है। इन सभी ने अपने सम्प्रदाय की पुष्टि के लिए गीता के नीति-निर्देशों के अनुसार ही अपने मतों का उपस्थापन भी किया। इन दार्शनिक आचार्यों के अतिरिक्त अन्य मध्यकालीन तथा आधुनिक आचायों तथा मनीषियों ने भी गीता की टीकाएँ लिखी हैं जिनमें प्रमुख हैं – शङ्करानन्दकृत 'गीतातात्पर्यबोधिनी', श्रीधरकृत 'सुबोधिनी' , मधुसूदनसरस्वतीकृत 'गूढार्थदीपिका', नीलकण्ठकृत 'भावप्रदीप', अभिनवगुप्तकृत 'गीतार्थसङ्ग्रह', केशव काश्मीरीकृत गीताभाष्य (तत्त्वप्रकाशिका), विट्ठलेशकृत 'गीतातात्पर्यनिर्णय', गोस्वामी पुरुषोत्तमकृत 'गीतामृततरङ्गिणी', विश्वनाथ चक्रवर्तीकृत 'सारार्थवर्षिणी', रामकण्ठकृत 'सर्वतोभद्र', बलदेव विद्याभूषणकृत 'गीतामृतभूषण', सन्त ज्ञानेश्वरकृत 'ज्ञानेश्वरी' (मराठी भाषा में), धर्मदत्त ऊर्फ़ बच्चा झा कृत गूढार्थतत्त्वालोक (मधुसूदनीटीका पर), लोकमान्य तिलककृत 'गीतारहस्य, योगी अरविन्द तथा विनोबा भावे की टीकाएँ आदि।

अभ्यास प्रश्न : 1

1. श्रीमद्भगवद्गीता महाभारत का अंश है – यह कथन है ?

    क. सत्य

ख. असत्य

2. श्रीमद्भगवद्गीता की गणना 'प्रस्थानत्रयी' में होती है ?

क. सत्य

ख. असत्य

3. भगवद्गीता महाभारत के किस पर्व में वर्णित है ?

क. अनुशासन पर्व

ख. आश्वमेधिक पर्व

ग. आश्रमवासिक पर्व

घ. भीष्म पर्व

4. श्रीमद्भगवद्गीता में कितने अध्याय हैं ?

क. 4

ख. 6

ग. 7

घ. 18

5. भगवद्गीता में कितने श्लोक हैं ?

क. 700

ख. 335

ग. 1100

घ. 500

6. श्रीमद्भगवद्गीता के प्राचीनतम भाष्यकार कौन हैं ?

क. रामानुजाचार्य

ख. रामानन्दाचार्य

ग. लोकमान्य तिलक

घ. शङ्कराचार्य

7. 'गीतारहस्य' के लेखक कौन हैं ?

क. शङ्कराचार्य

ख. रामानुजाचार्य

ग. रामानन्दाचार्य

घ. लोकमान्य तिलक

8. 'गीतार्थसङ्ग्रह' के लेखक कौन हैं ?

क. शङ्कराचार्य

ख. रामानुजाचार्य

ग. रामानन्दाचार्य

घ. अभिनवगुप्तपादाचार्य

9. गीता के द्वितीय अध्याय का नाम है ?

क. विभूतियोग

ख. भक्तियोग

ग. साङ्ख्ययोग

घ. विश्वरूपदर्शनयोग

10. गीता का एकादश अध्याय है ?

क. विभूतियोग

ख. भक्तियोग

ग. साङ्ख्ययोग

घ. विश्वरूपदर्शनयोग

1.3 श्रीमद्भगवद्गीता का तात्पर्य

श्रीमद्भगवद्गीता का यथार्थ तात्पर्य जानने के लिएहमें उन आचार्यो तथा पण्डितों के ग्रन्थों का अवलोकन करना चाहिए, जिन्होंने गीता के तात्पर्य का विशद विवेचन किया है। साथ ही इस हेतु गीता के विषय-विभाग को समझना भी आवश्यक है। प्राचीन दार्शनिक सम्प्रदायों के प्रायः सभी व्याख्याकारों ने अपने अपने दृष्टिकोण से अष्टादश अध्यायों के विषय-विभाग का निरूपण किया है। यहाँ भगवद्गीता के तात्पर्य के सन्दर्भ में उपलब्ध प्रमुख मतों का निरूपण किया जा रहा है –

1.3.1 महर्षि व्यास का दृष्टिकोण

गीता मनीषियों में महाभारत के कर्ता महर्षि व्यास ही अग्रगण्य हैं। अतः सर्वप्रथम उन्हीं के मतानुसार संक्षेप में गीता के तात्पर्य को ही निरूपित करते हैं। महाभारत के शान्तिपर्व में आये हुए उल्लेखों से ज्ञात होता है कि गीताधर्म तथा भागवतधर्म दोनों एक ही - क्योंकि नारायणीय अथवा भागवतधर्म के निरूपण में वैशम्पायन ने जनमेजय से कहा है कि यही भागवतधर्म सङ्क्षिप्त रीति से भगवद्गीता में पहले ही बताया गया है। आगे यह भी कहा गया है कि कौरव पाण्डव युद्ध के समय जब अर्जुन उद्विग्न हो गया था, तब स्वयं भगवान् ने यह उपदेश अर्जुन को दिया था। यहाँ यह ध्यान में योग्य है कि जिस भागवतधर्म के विषय में दो बार कहा गया है, वही वस्तुतः गीता का प्रतिपाद्य विषय है। उसी को 'सात्वत' या 'एकान्तिक' धर्म भी कहा गया है। इसका विवेचन करते समय दो लक्षण दिये गये हैं –

नारायणापरो धर्मः पुनरावृत्तिदुर्लभः ।
प्रवृत्तिलक्षणश्चैव धर्मो नारायणात्मकः ।। (महाभारत शान्तिपर्व 347.80-81)

अर्थात् यह नारायणीय धर्म प्रवृत्तिमार्ग का होकर भी पुनर्जन्म को टालनेवाला है अर्थात् पूर्णमोक्ष का दाता है। यहाँ प्रवृत्ति का अर्थ है कर्मसंन्यास न लेकर मरण पर्यन्त चातुर्वर्ण्यविहित

निष्काम कर्म करना चाहिए। अतः यह स्पष्ट है कि गीता में जो उपदेश अर्जुन को किया गया है, वह भागवतधर्म का ही है तथा उसको महाभारतकार प्रवृत्तिविषयक ही मानते हैं, क्योंकि उपर्युक्त धर्म भी प्रवृत्तिविषयक ही है।

सारांश यह है कि महाभारत में उल्लिखित वचनों का यही अभिप्राय है कि गीता में अर्जुन को जो उपदेश किया था, वह विशेषकर मनु-इक्ष्वाकु इत्यादि परम्परा से चले आये प्रवृत्तिविषयक भागवतधर्म का ही है तथा उसमें निवृत्तिविषयक यतिधर्म का जो निरूपण पाया जाता है, वह केवल आनुषंगिक है।

1.3.2 शङ्कराचार्य का दृष्टिकोण

आचार्य शङ्कर के अद्वैत वेदान्त के अनुसार गीता के विषय-विभाग के सम्बन्ध में दो प्रधान मत उपलब्ध हैं। **प्रथम मत :** कर्म-उपासना-ज्ञानप्रधान तथा **द्वितीय मत :** जीव-ब्रह्मैक्यप्रधान। जिसमें प्रथम प्रकार के विषय-विभाग में मनुष्य के कल्याण के लिए आवश्यक कर्म, भक्ति (उपासना) तथा ज्ञान – इन तीन उपायों को गीता का प्रतिपाद्य माना गया है। तदनुसार गीता को तीन षट्कों में विभक्त किया गया है। गीता के 'पूर्वषट्क' (अध्याय 1-6) में 'कर्म' का मुख्य रूप से विवेचन है तथा उसी में 'कर्मयोग' का निरूपण है। 'मध्यषट्क' (अध्याय 7-12) में उपासना का विवेचन है जिसमें उपास्य ईश्वर तथा उपासना प्रकारों का वर्णन है। 'अन्तिमषट्क' (अध्याय 13-18) ज्ञानप्रधान है। उसमें ज्ञान का उपदेश है तथा उसी में क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ का स्वरूप, जीव-ईश्वर का सम्बन्ध, जीव की बन्धक प्रकृति का वर्णन है। जीव-ब्रह्मैक्यप्रधानरूप द्वितीय प्रकार के विषय-विभाग में यह प्रतिपादित किया गया है कि गीता उपनिषदों का सार है तथा उपनिषदों में जीवब्रह्म के ऐक्य का प्रतिपादक **'तत्त्वमसि'** यह महावाक्य प्रधान है। इसमें तीन पद हैं – 'तत्', 'त्वम्', 'असि'। इनमें **'तत्'** का अर्थ **'परब्रह्म'** है, **'त्वम्'** का अर्थ **'जीव'** तथा **'असि'** पद **'जीव-ब्रह्मैक्य'** का प्रतिपादक है। इन्हीं तीनों पदों के अर्थों का विवेचन गीता के छः अध्यायों के तीन षट्कों में किया गया है। गीता के 'प्रथमषट्क' (अध्याय 1-6) में 'त्वम्' पद के जीव रूपी अर्थ का निरूपण किया गया है। 'द्वितीयषट्क' (अध्याय 7-12) में 'तत्' पद के ईश्वर रूपी अर्थ का निरूपण किया गया है। ईश्वरविभूति, विश्वरूपदर्शन आदि ईश्वर तत्त्व के प्रतिपादक विषय भी उसी के अन्तर्गत आते हैं। भक्ति भी ईश्वर से सम्बद्ध है अतः द्वादश अध्याय में भक्तितत्त्व का निरूपण है। 'अन्तिमषट्क' (अध्याय 13-18) में जीव तथा ब्रह्म की एकता का प्रतिपादन किया गया है। यद्यपि महावाक्य के क्रमानुसार पहले 'तत्' पदार्थ परब्रह्म का निरूपण प्रसङ्ग प्राप्त था किन्तु जीव स्वस्वरूप के ज्ञान के बिना परब्रह्म को नहीं जाना जा सकता अतः महावाक्य के पदों का क्रम परिवर्तित करके 'त्व' पदार्थ जीव का निरूपण प्रथमतया किया गया है। वस्तुतः जीव-ब्रह्म की एकता ही अन्तिम षट्क का अर्थ है तथा यही गीता का मुख्य प्रतिपाद्य है। इस प्रकार गीता में क्रमशः कर्म, भक्ति तथा ज्ञान तीनों का प्रतिपादन हुआ है।

गीता के भाष्यकारों तथा गीता के टीकाकारों ने गीता का क्या तात्पर्य निश्चित किया है। इन भाष्यों तथा टीकाओं में आद्यशङ्कराचार्य कृत गीताभाष्य अतिप्राचीन ग्रन्थ माना जाता है। यद्यपि इसके पूर्व गीता पर अनेक भाष्य तथा टीकाएँ लिखीं जा चुकी थीं, किन्तु वे आज उपलब्ध नहीं हैं। इसीलिए यह ज्ञात नहीं हो सकता कि महाभारत के रचनाकाल से शंकराचार्य के समय तक गीता का अर्थ किस प्रकार किया जाता था, तथापि शाङ्करभाष्य में ही इन प्राचीन टीकाओं के मतों का जो उल्लेख है , उससे स्पष्ट ज्ञात होता है कि शङ्कराचार्य के

पूर्वकालीन टीकाकार गीता का अर्थ महाभारत के कर्ता के अनुसार ही ज्ञानकर्मसमुच्चयात्मक किया करते थे, किं बहुना प्रवृत्ति-विषयक अर्थ किया जाता था। अर्थात् ज्ञानी मनुष्य को ज्ञान के साथ-साथ मृत्युपर्यन्त स्वधर्मविहित कर्म करना चाहिए। परन्तु वैदिक कर्मयोग का सिद्धान्त शङ्कराचार्य को मान्य नहीं था। इसीलिए उसका खण्डन करने तथा अपने मत के गीता का तात्पर्य बनाने के लिए ही उन्होंने गीताभाष्य की रचना की है। यह बात उक्तभाष्य के आरम्भ के उपोद्घात में स्पष्ट रीति से कही गयी है। शङ्कराचार्य अलौकिक मूर्धन्य विद्वान् थे। उन्होंने अपनी दिव्य अलौकिक शक्ति से उस समय चारों ओर फैले हुए नास्तिक मतों का खण्डन किया। श्रुति-स्मृति-विहित वैदिकधर्म की रक्षा के लिए भारत की चारों दिशाओं में चार मठों स्थापना की। प्राचीन वैदिकधर्म के जिस विशिष्ट मार्ग को श्रेष्ठ बताकर उन्होंने स्थापित किया, उसी के अनुकूल गीता का भी अर्थ है। उन्होंने पूर्ववर्ती टीकाकारों द्वारा प्रतिपादित गीता के ज्ञान तथा कर्म के समुच्चयात्मक तात्पर्य को अस्वीकार किया। शाङ्करमतानुसार कर्म ज्ञानप्राप्ति का गौणसाधन है तथा कर्मसंन्यासपूर्वक ज्ञान से ही मोक्ष की प्राप्ति होती है। इस प्रकार शङ्कराचार्य की दृष्टि में गीता का तात्पर्य प्रवृत्तिविषयक न होकर निवृत्तिविषयक ही है।

शङ्कराचार्य के गीताभाष्य की निम्नलिखित विशेषताएं हैं –

1. गीताशास्त्र सम्पूर्ण वेदार्थ का सारसंग्रह है। गीताशास्त्र का अर्थ जान लेने पर सभी पुरुषार्थों की सिद्धि होती है।
2. वेदोक्त धर्म दो प्रकार का है – प्रवृत्तिरूप धर्म जिसे **'कर्मयोग'** कहा जाता है और निवृत्तिरूप धर्म जिसे **'ज्ञानयोग'** की संज्ञा दी जाती है। कर्मयोग उपाय है और ज्ञानयोग उपेय है। कर्मयोग से अन्तःकरण शुद्ध होता है। इससे ज्ञाननिष्ठा की योग्यता प्राप्त- होती है। आत्मशुद्धि के लिए निष्कामभाव से कर्म करना चाहिए अथवा ब्रह्म को कर्मफल अर्पित करके कर्म करना चाहिए। कर्मफल का त्याग ही संन्यास का लक्षण है। संन्यास ज्ञान का लक्षण है।
3. गीताशास्त्र का निश्चय है कि केवल तत्त्वज्ञान से ही मोक्ष मिलता है, कर्मसहित ज्ञान से मोक्ष नहीं मिलता। इस प्रकार गीताशास्त्र में ज्ञानमार्ग का निरूपण किया गया है। इसी को ज्ञाननिष्ठा कहा गया है। ज्ञानमार्ग से कर्ममार्ग तथा भक्तिमार्ग का सहसमुच्चय नहीं हो - सकता।
4. मोक्ष अकार्य है। अतः वह किसी कर्म से साध्य नहीं है। वह स्वतः सिद्ध है। वह उत्पाद्य, संस्कार्य, विकार्य और आप्य नहीं है।
5. कर्म अविद्यापूर्वक हैं। उनका नाश विद्या या ज्ञान से होता है। ज्ञान से प्रारम्भ, क्रियमाण और सञ्चित कर्मों का नाश हो जाता है।
6. जीव का कर्तापन गौण है। भ्रान्ति अथवा अविद्या के कारण जीव अपने को कर्ता, भोक्ता आदि समझता है। अविद्यानिवृत्ति होने पर जीव को आत्मबोध होता है वह अजर और - अमरहै। उसके जन्म, मरण, दुःख, सभी व्यवहार अविद्या निमित्तिक हैं।
7. बुद्धि आत्माकार का आभास है। बुद्धि का आभास मन है मन के आभास इन्द्रियाँ हैं। इन्द्रियों का आभास स्थूल शरीर है। इस प्रकार आभासवाद परमात्मा और जीवात्मा के सम्बन्ध की व्याख्या करता है।
8. द्वैतवादियों के अनुसार जैसे बन्धनअवस्था में ही शास्त्र आदि प्रमाणों तथा कर्मों की -

सार्थकता है, मुक्तअवस्था में नहीं-, वैसे ही अद्वैतवाद में भी जीवों की ईश्वर के साथ एकता हो जाने पर शास्त्र आदि प्रमाणों तथा कर्मों की व्यर्थता होती है। उनकी सार्थकता अविद्या अवस्था में ही है। इस प्रकार गीताशास्त्र में अद्वैतवाद और द्वैतवाद का समन्वय किया गया है।

9. अध्यारोप और अपवाद की विधि से आत्मा का ज्ञान प्राप्त होता है। लोकमत, वैशेषिक, साङ्ख्य, बौद्ध, जैन आदि दर्शनों में जो आत्मविवेचन है उसको भाष्यकार ने निरस्त किया है और **'अयम् आत्मा ब्रह्म'** अथवा **'साक्षात् अपरोक्षात् ब्रह्म'** के रूप में आत्मा को सिद्ध किया है।

1.3.3 अभिनवगुप्तपादाचार्य का दृष्टिकोण

अद्वैत तथा वैष्णव सम्प्रदायों के अतिरिक्त शैव तथा शाक्तों के भी अनेक सम्प्रदाय हैं। आचार्य अभिनवगुप्त का सिद्धान्त आगम (तन्त्र) शास्त्र के आधार पर प्रतिष्ठित है तथा इनका दर्शन **'प्रत्यभिज्ञादर्शन'** के नाम से प्रसिद्ध है। इन्होंने परशिव को ही मुख्य तत्त्व स्वीकारा है अतः इसे **'शैवदर्शन'** भी कहा जाता है। अभिनवगुप्त मुख्यतः अद्वैत मत के समर्थक हैं किन्तु आचार्य शङ्कर के अद्वैत से अभिनवगुप्त के अद्वैत में यह भिन्नता है कि ये जगत् को मिथ्या नहीं मानते। अभिनवगुप्त मूलतत्त्व परम शिव में एक नित्य स्वातन्त्र्य शक्ति मानते हैं जिसके कारण वह परम तत्त्व ही स्वतः जगद्रूप में परिणत हो जाता है। इस मत में मुक्ति परम शिव के प्रसाद से मिलती है। जब जीव को यह प्रत्यभिज्ञा हो जाती है कि मैं शिव ही हूँ तब वह मुक्त हो जाता है। इसी प्रत्यभिज्ञा में कर्म, भक्ति, ज्ञान आदि का उपयोग है। अभिनवगुप्त की गीता पर एक सङ्क्षिप्त व्याख्या उपलब्ध है। जिसका नाम **'गीतार्थसङ्ग्रह'** है। उन्होंने स्पष्टतः प्रत्यभिज्ञा सम्प्रदाय के अनुकूल ही गीता की व्याख्या प्रस्तुत की है। उन्होंने ज्ञान एवं कर्म की परस्पर सम्बद्धता को स्वीकारा है। परम तत्त्व ही कल्याणकारक होने से शिव तथा आकर्षक होने से कृष्ण कहलाता है।

1.3.4 रामानुजाचार्य का दृष्टिकोण

शङ्कराचार्य के उपरान्त विभिन्न सम्प्रदाय के आचार्यों ने अपने-अपने सम्प्रदाय के विचारानुसार गीता तथा प्रस्थानत्रयी के अन्य ग्रन्थों पर भाष्य लिखे। शाङ्करसम्प्रदाय के अनन्तर, रामानुजाचार्य ने विशिष्टाद्वैत सम्प्रदाय का प्रवर्तन किया। रामानुजाचार्य के परमगुरु यामुनाचार्य हैं। इन्हीं की प्रेरणा से आचार्य रामानुज ने वैष्णवमत में दीक्षित होकर शेष जीवन भगवद्भक्ति तथा अपने सिद्धान्तों के प्रचार-प्रसार में लगाया। यामुनाचार्य के ग्रन्थों में प्रमुख है **'गीतार्थसङ्ग्रह'**। इसमें मात्र बत्तीस श्लोक हैं जो भगवद्गीता की सङ्क्षिप्त टीका या तात्पर्य है। गीता के प्रत्येक अध्याय के प्रतिपाद्य को एक-एक श्लोक के माध्यम से यहाँ प्रस्तुत करने का अद्भुत प्रयास किया गया है। यह अपनी प्रकृति का अद्भुत गीताभाष्य है। उसमें गीता का विषय-विभाग इस प्रकार है – ज्ञान तथा कर्म दोनों के सम्मिलित रूप से भगवद्भक्ति प्राप्त होती है। गीता का मुख्य प्रतिपाद्य ज्ञानकर्मसमुच्चयवाद है। गीता के उपसंहार में भी शरणागति की ही प्रमुखता दर्शायी गयी है। अतः गीता का मुख्य प्रतिपाद्य भगवद्भक्ति तथा शरणागति ही है। कर्म और ज्ञान भक्ति के सहकारी हैं। यही सिद्धान्त रामानुजाचार्य को भी मान्य है।

आचार्य रामानुज ने गीताभाष्य में अपने भक्ति एवं प्रपत्ति (शरणागति) के सिद्धान्त का बड़ी सफलता से निरूपण किया है। गीता की पृष्ठभूमि भक्तिसिद्धान्त का प्रतिपादन करने में अधिक

उपादेय सिद्ध हुई है। वे भक्ति के सिद्धान्त को उपनिषत्समर्थित मानते हैं। उन्होंने यह स्पष्ट किया है कि वेदान्तोदित भक्तियोग को प्रतिष्ठित करने के लिएही गीता की रचना हुई है। कुछ शास्त्रकारों ने गीता दर्शन में कर्मयोग, ज्ञानयोग एवं भक्तियोग का पृथक् अस्तित्व स्वीकार किया है। किन्तु रामानुजाचार्य के मतानुसार गीता का मुख्य प्रतिपाद्य भक्ति ही है, कर्म और ज्ञान तो भक्ति के सहकारी कारण हैं। भक्तियोग के सिद्धान्त का जहाँ एक ओर आभिजात्य एवं बौद्धिक वर्ग की ज्ञान-पिपासा शान्त करने में सफल हुआ है, वहीं दूसरी ओर वह जनसामान्य की धार्मिक भावनाओं और मान्यताओं को भी पूरा करता है। साथ ही उन्होंने शरणागति या प्रपत्ति के सिद्धान्त का प्रतिपादन करके समाज में समरसता स्थापित करने का भी सार्थक प्रयास किया।

1.3.5 मध्वाचार्य का दृष्टिकोण

रामानुज सम्प्रदाय के अनन्तर वैष्णव 'द्वैतसम्प्रदाय' का प्रादुर्भाव हुआ। इसके प्रवर्तक मध्वाचार्य थे। गीता पर इनके दो भाष्य हैं – **1. गीताभाष्य** तथा 2. **गीता-तात्पर्यनिर्णय**। मध्वाचार्य ईश्वर तथा जगत् को सर्वथा भिन्न मानते हैं। उनके मत में ईश्वर जगत् का निमित्त कारण है, उपादान कारण नहीं। जीव भी ईश्वर से सर्वथा भिन्न है। बन्ध तथा मोक्ष दोनों जीव की अवस्थाएँ हैं। इनके मत में भी रामानुज की भाँति मुक्ति का कारण ज्ञान-कर्मसमुच्चय है। उन्होंने गीता के अपने भाष्य में यह प्रतिपादित किया कि यद्यपि गीता में निष्काम कर्म के महत्त्व का वर्णन है, तथापि वह साधन है तथा भक्ति ही अन्तिम निष्ठा है । इस मत में भी ज्ञान की अपेक्षा भक्ति की प्रमुखता है।

1.3.6 निम्बार्काचार्य का दृष्टिकोण

निम्बार्काचार्य द्वारा प्रवर्तित एक और वैष्णव सम्प्रदाय है, जिसमें राधाकृष्ण की भक्ति का उपदेश दिया गया है। इस सम्प्रदाय को **'द्वैताद्वैत'** कहते हैं। उनका मत है कि सृष्टि से पूर्व ब्रह्म एक ही रहता है किन्तु सृष्टि के बाद वह द्वैत हो जाता है। ब्रह्म का उत्पत्ति-विनाश कभी नहीं होता। मुक्ति की प्राप्ति के लिए ज्ञान-कर्म समुच्चय के साथ भक्ति की प्रधानता निम्बार्क भी स्वीकार करते हैं। निम्बार्क रचित **'भगवदगीता-वाक्यार्थ'** नामक ग्रन्थ अनुपलब्ध है। इस मत के अनुयायी केशव काश्मीरी ने गीता की **'तत्त्वप्रकाशिका'** टीका में स्थान-स्थान पर शङ्कराचार्य के मत का अनुगमन करके भी सिद्धान्तरूप से भक्ति को ही प्रधानता दी है।

1.3.7 वल्लभाचार्य का दृष्टिकोण

वल्लभाचार्य शुद्धाद्वैतवादी वैष्णव आचार्य हैं। इनके सिद्धान्तानुसार ब्रह्म ही सम्पूर्ण जगत् का मूल है किन्तु ये जगत् को मिथ्या नहीं मानते। इनके अनुसार परब्रह्म अपनी स्वतन्त्र इच्छाशक्ति से अपने भीतर ही जगत् को उत्पन्न करता तथा समय पर स्वयं में लीन कर लेता है। माया-प्रकृति आदि परब्रह्म की भिन्न-भिन्न शक्ति है जो ब्रह्म से ही प्रकट होती है। अणुरूप जीव भी ब्रह्म से ही प्रकट होता है। जीव अग्नि के स्फुलिंगों के समान ईश्वर के अंश हैं। मायाधीन जीव को ईश्वर की कृपा के बिना मोक्षज्ञान नहीं हो सकता, इसलिए मोक्ष का मुख्यसाधन भगवद्भक्ति ही है। ये परमेश्वर के अनुग्रह को **'पुष्टि'** कहते हैं। अतः यह सम्प्रदाय **'पुष्टिमार्ग'** के नाम से प्रसिद्ध है। जीव की मुक्ति का कारण केवल भगवान् का अनुग्रह है। जीव का मुख्य कर्त्तव्य भगवद्भक्ति है। इनके अनुसार भगवद्भक्ति ही गीता का प्रधान तात्पर्य है।

1.3.8 रामानन्दाचार्य का दृष्टिकोण

विशिष्टाद्वैतमत के अनुयायियों में रामानन्द स्वामी का स्थान महत्त्वपूर्ण है। इन्होंने रामानुजमत का ही समर्थन किया है। रामानुज का विशिष्टाद्वैतवाद 'लक्ष्मीनारायणवाद' है और रामानन्द का विशिष्टाद्वैतवाद 'सीतारामवाद' है। मन्त्र, उपास्य और उपासना के भेद से दोनों दर्शनों में भेद है। रामानन्दाचार्य ने गीता पर **'आनन्द'** नामक भाष्य का लेखन किया है। उन्होंने गीताशास्त्र को अध्यात्मविद्या-प्रधान कहा। गीता के द्वारा परम कारुणिक भगवान् देवकीनन्दन ने अर्जुन को उपदेश देने के व्याज से अपने सभी भक्तों के उद्धार का मार्ग प्रदर्शित किया है। भगवान् देवकीनन्दन कृष्ण आदि पुरुष साकेताधिपति भगवान् श्रीराम के अवतार हैं। प्रथम षट्क (1-6 अध्याय) में ज्ञान-गर्भित कर्मयोग का प्रतिपादन है जो परा भक्ति का उदय है। उसका प्रयोजन अक्षरतत्त्व का यथार्थ ज्ञान प्रदान करना है। द्वितीय षट्क (7-12 अध्याय) में सपरिकर भक्तियोग का वर्णन है। इन दोनों षट्कों में निखिल अध्यात्मशास्त्र का प्रतिपादन हो गया है। किन्तु उनमें निर्दिष्ट पदार्थों का संशोधन करना तृतीय षट्क (13-18 अध्याय) का कार्य है। रामानन्दाचार्य 'प्रपत्तिषट्क'(अहिर्बुध्न्यसंहिता के अनुसार) अर्थात् छः प्रकार की शरणागति के सिद्धान्त मानते हैं। साथ ही वे भक्तियोग (प्रपत्तियोग) को ही भगवत्प्राप्ति के मुख्य साधन के रूप में निरूपित करते हैं।

1.3.9 लोकमान्य तिलक का दृष्टिकोण

भगवद्गीता के आधुनिक टीकाकारों में भारतीय स्वातन्त्र्य संग्राम सेनानी एवं भारतीय विद्याओं के विलक्षण विद्वान् लोकमान्य बालगङ्गाधर तिलक का नाम अग्रगण्य है। तीन षट्कों का विषय-विभाग उनको स्वीकार्य नहीं है। अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ **'गीतारहस्य'** में उन्होंने यह तथ्य निरूपित किया कि गीता में कर्म, भक्ति तथा ज्ञान तीनों की एक श्रृङ्खला निर्मित की गई है। तिलक ने शङ्कराचार्य के दार्शनिक सिद्धान्त को ही मुख्यतः मान्यता प्रदान की है, किन्तु उनके मतानुसार गीता का मुख्य प्रतिपाद्य विषय कर्मसंन्यास न होकर कर्मयोग है। गीता में ज्ञान तथा भक्ति का प्रतिपादन कर्मयोग की सफलता के लिए ही है। इस प्रकार उनके अनुसार गीता का प्रतिपाद्य **'ज्ञानमूलक-भक्तिप्रधान-कर्मयोग'** है।

1.3.10 पद्मश्री डॉ. केशवराव मुसलगाँवकर का दृष्टिकोण

भगवद्गीता के समसामयिक व्याख्याकारों में महामहोपाध्याय पद्मश्री डॉ. केशवराव सदाशिव शास्त्री मुसलगाँवकर का नाम विशेषरूप से उल्लेखनीय है । उन्होंने 'गीतातत्त्वमीमांसा' नामक गीता की अभिनव व्याख्या का लेखन किया है। जिसमें अनेक साधक और बाधक प्रमाणों के आधार पर उन्होंने यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि गीता का तात्पर्य बुद्धियोग पुरस्सर कर्मयोग के प्रतिपादन में है ।

इस प्रकार विभिन्न भाष्यकारों और टीकाकारों ने अपने मतानुकूल गीता के तात्पर्य को निरूपित करने का प्रयास किया है। अतः सभी तात्पर्य में पर्याप्त भिन्नता दृष्टिगोचर होती है।

अभ्यास प्रश्न : 2

1. 'भागवतधर्म प्रवृत्तिविषयक है'– गीता के सन्दर्भ में यह तात्पर्य किसका है ?

   क. शङ्कराचार्य

ख. रामानुजाचार्य

ग. महर्षि वेद व्यास

घ. मध्वाचार्य

2. अद्वैत वेदान्त के अनुसार गीता के विषय-विभाग के सम्बन्ध में प्रधान मत हैं –

क. कर्म-उपासना-ज्ञानप्रधान

ख. जीव-ब्रह्मैक्यप्रधान

ग. कर्म-ज्ञानप्रधान

घ. कर्म-उपासना-ज्ञानप्रधान और जीव-ब्रह्मैक्यप्रधान

3. 'शङ्कराचार्य की दृष्टि में गीता का तात्पर्य प्रवृत्तिविषयक न होकर निवृत्तिविषयक ही है'– यह कथन है ?

क. सत्य

ख. असत्य

4. किसके मतानुसार गीता का मुख्य प्रतिपाद्य भगवद्भक्ति तथा शरणागति ही है –

क. शङ्कराचार्य

ख. रामानुजाचार्य

ग. रामानन्दाचार्य

घ. वल्लभाचार्य

5. 'ज्ञानमूलक-भक्तिप्रधान-कर्मयोग' को किसने गीता का तात्पर्य माना है –

क. रामानुजाचार्य

ख. रामानन्दाचार्य

ग. लोकमान्य तिलक

घ. शङ्कराचार्य

1.4 सारांश

गीता महाभारत का महनीय अंश है। यह सनातन वाङ्मय का विश्व प्रसिद्ध एवं सर्वमान्य दार्शनिक ग्रन्थ है। इसमें धर्म, दर्शन और नीति का अनुपम समावेश हुआ है। इसके सात सौ श्लोकों में अत्यन्त सरल भाषा में मानवमात्र के कल्याण का मार्ग प्रशस्त किया गया है। गीता के महत्त्व का प्रमुख कारण उसका समन्वयात्मक दृष्टिकोण है। इसमें जहाँ एक ओर मानव जीवन से सम्बद्ध अध्यात्म पक्ष के अन्तर्गत मुख्यतः प्रकृति, जीव, जगत्, ब्रह्म, पुरुषोत्तम और मोक्ष का अनुपम वर्णन किया गया है वहीं दूसरी ओर व्यवहारपक्ष के अन्तर्गत कर्मयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोग का भी सुन्दर विवेचन किया गया है।गीता आत्मसंयम और आत्मनिरीक्षण पर बल देती है। यह मानव को कर्त्तव्य बोध करानेवाला असाधारण ग्रन्थ है। इसमें कर्मक्षेत्र में संघर्षरत मानवों के लिए दिव्य सन्देश है। इसका प्रयोजन केवल तात्त्विक रूप से विचार परिवर्त्तन करना मात्र नहीं है ; अपितु इसका उद्देश्य तो मानवमात्र को आत्मोत्थान के

लिएप्रेरित करना है। गीता के सार्वदेशिक एवं सार्वकालिक महत्त्व के कारण ही प्राचीन दार्शनिक सम्प्रदायों के प्रायः सभी व्याख्याकारों ने इसके यथार्थ तात्पर्य को जानने का स्तुत्य प्रयास किया है। इसके आकर्षण का अनुमान इसी बात से लगाया जा सकता है कि इसका व्यापक प्रचार न केवल भारतवर्ष में अपितु सम्पूर्ण विश्व में है। आज विश्व की सभी प्रमुख भाषाओं में इसके अनुवाद तथा अनेक समीक्षात्मक ग्रन्थ उपलब्ध हैं। किंबहुना 'भगवद्गीता' के रूप में किंकर्त्तव्यविमूढ अर्जुन को भगवान् श्रीकृष्ण द्वारा प्रदान किया गया वह उपदेश आज भी जनमानस को सकारात्मक चेतना एवम् अभिनव दृष्टि प्रदान कर रहा है।

1.5 शब्दावली

1. प्रस्थानत्रयी – सनातन धर्म-दर्शन में 1. उपनिषद्, 2. भगवद्गीता और 3. ब्रह्मसूत्र – इन ग्रन्थों को प्रस्थानत्रयी कहा जाता है।
2. कर्मयोग – गीता में प्रवृत्तिरूप धर्म को 'कर्मयोग' कहा गया है।
3. ज्ञानयोग – गीता में निवृत्तिरूप धर्म को 'ज्ञानयोग'कहा गया है।
4. प्रपत्ति – रामानुजाचार्य ने 'प्रपत्ति' का अर्थ शरणागति माना है। अर्थात् अनन्यभाव से भगवान् की शरण में जाना।
5. पुष्टि – वल्लभाचार्य ने भगवान् के अनुग्रह को 'पुष्टि' कहा है। इनके मतानुसार जीव की मुक्ति का कारण केवल भगवान् का अनुग्रह है।

1.6 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

अभ्यास प्रश्न क्र.1.

1. क, 2. क, 3. घ, 4. घ, 5. क, 6. घ, 7. घ, 8. घ, 9. ग, 10. घ ।

अभ्यास प्रश्न क्र.2.

1. ग, 2. घ, 3. क, 4. ख, 5. ग।

1.7 सन्दर्भ ग्रन्थ

1. भगवद्गीता, शङ्कराचार्य, आनन्दगिरि, मधुसूदन सरस्वती, नीलकण्ठ, धनपतिसूरि, अभिनवगुप्त और बच्चा झा की टीकाओं सहित, निर्णयसागर बम्बई, 1936
2. भगवद्गीता (एकादशटीका सहित) – सं. शास्त्री गजानन शम्भु साधले, परिमल पब्लिकेशन, दिल्ली, 1985
3. गीतारहस्य – लोकमान्य बालगंगाधर तिलक, रामचन्द्र बलवन्त तिलक, नारायण पेठ, पूणे, 1933
4. गीता प्रवचन (गीता व्याख्यानमाला) – पण्डित गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, 2006
5. गीतातत्त्वमीमांसा – डॉ. केशव राव मुसलगाँवकर, चौखम्भा संस्कृत संस्थान, वाराणसी, 2023

6. भारतीय दर्शन – आचार्य बलदेव उपाध्याय, शारदा मन्दिर, वाराणसी, 2011
7. भारतीय दर्शन – डॉ. जगदीशचन्द्र मिश्र, चौखम्भा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी, 2010
8. महाभारत का आलोचनात्मक संस्करण– प्र.सं. वि.एस. सुखटणकर, भाण्डारकर प्राच्यविद्या शोध प्रतिष्ठान, पूणे, 1966
9. शब्दकल्पद्रुम – राधाकान्तदेव बहादुर, चौखम्बा संस्कृत सीरीज, वाराणसी, विक्रम संवत् 2024
10. संस्कृतवाङ्मयम् – डॉ.हरिकृष्ण शास्त्री दातार , कीर्तिसौरभप्रकाशन, वाराणसी,1989
11. संस्कृत वाङ्मय का बृहद् इतिहास – वेदान्त खण्ड – प्रो. संगमलाल पाण्डेय, उत्तर प्रदेश संस्कृत संस्थान, लखनऊ, 1996
12. संस्कृत वाङ्मय का बृहद् इतिहास – आर्षकाव्य खण्ड – प्रो. भोलाशंकर व्यास, उत्तर प्रदेश संस्कृत संस्थान, लखनऊ, 2000
13. संस्कृत साहित्य का इतिहास – डॉ. उमाशङ्कर ऋषि शर्मा, चौखम्भा भारती अकादमी, वाराणसी, 2012
14. संस्कृत साहित्य तथा संस्कृति – वाचस्पति गैरोला, चौखम्भा विद्याभवन, वाराणसी, 2009
15. स्वामी रामानन्दकृत गीता का आनन्दभाष्य, अनुभवानन्दकृत गीतार्थसुधा, रघुवराचार्यकृत अर्थचन्द्रिका और वैष्णवाचार्यकृत गुह्यार्थदीपिका सहित – वेदान्ताश्रम, सिद्धपुर, (गुजरात),1965
16. History of Classical Sanskrit literature – M. Krishnamachariar, Motilal Banarasidass Publishers, Dehli 2016.
17. Vaishnavism Shaivism And Other Minor Religious Systems – Sir R.G. Bhandarkar, Indological Book House, Varanasi, 1965

1.8 बोध प्रश्न

1. भगवद्गीता के रचनाकाल पर प्रकाश डालिए ?
2. भगवद्गीता के नामकरण के आधार की विवेचना कीजिए ?
3. भगवद्गीता की विषय-वस्तु का विस्तृत निरूपण कीजिए ?
4. भगवद्गीता के महत्त्व का सम्यक् प्रतिपादन कीजिए ?
5. भगवद्गीता के उपलब्ध भाष्यों एवं टीकाओं का विवरण प्रस्तुत कीजिए ?
6. शङ्कराचार्य आदि व्याख्याकारों के आलोक में भगवद्गीता के तात्पर्य को स्पष्ट कीजिए **?**

इकाई 2 श्रीमद्भगवद्गीता की दार्शनिकता

इकाई की रूपरेखा

2.0 उद्देश्य

श्रीमद्भगवद्गीता से सम्बद्ध इस इकाई का अध्ययन करने के उपरान्त आप –

- श्रीमद्भगवद्गीता की दार्शनिकता का परिचय दे सकेंगे।
- श्रीमद्भगवद्गीता के अनुबन्धचतुष्टय को जान सकेंगे।
- श्रीमद्भगवद्गीता के आध्यात्मिक पक्ष की व्याख्या कर सकेंगे।
- श्रीमद्भगवद्गीता के व्यवहारिक पक्ष को व्यवस्थित रूप से समझ सकेंगे।
- श्रीमद्भगवद्गीता के समन्वयात्मक दृष्टिकोण के बारे में जान सकेंगे।

2.1 प्रस्तावना

भगवद्गीता सनातन धर्म के दार्शनिक साहित्य का अनुपम एवम् अद्वितीय ग्रन्थ है । यह महाभारत का सारतत्त्व है । यह महाभारत के भीष्मपर्व (षष्ठपर्व) के अध्याय (25-42) कुल 18 अध्यायों में संकलित है । इसमें 700 श्लोक हैं । इसकी भाषा जितनी सरल है, भाव उतने ही अधिक गम्भीर हैं । गीता का उपदेश सार्वभौमिक तथा सार्वकालिक है । जिस परिस्थिति में गीता का उपदेश प्रदान किया गया था, वह असाधारण थी । महाभारत का भयङ्कर संग्राम होने जा रहा था, जिसमें भाई के सामने भाई उसका वध करने के लिए तैयार खड़ा था । ऐसी विपरीत परिस्थिति में अर्जुन का विषादग्रस्त होना नितान्त स्वाभाविक ही है । अर्जुन महाभारत-कालीन योद्धाओं में सुप्रसिद्ध और परमवीर योद्धा था । वह इस प्रकार की सांसारिक परिस्थितियों में पड़ कर अपने कर्त्तव्य के विषय में संशय रखनेवाले मानव का प्रतिनिधित्व करता है । गीताज्ञान के वक्ता स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण थे, जो कि योगेश्वर, जगद्गुरु और युगद्रष्टा महापुरुष थे । अर्जुन के सामने समस्या थी – युद्ध करूँ या न करूँ ? इस कठिन प्रश्न का समाधान करने में ही गीता का आविर्भाव हुआ है । अतः गीता की उपदेश की पद्धति अत्यन्त सुस्पष्ट है; वह आचार-मीमांसा का प्रतिपादन करती है । इसलिये गीता को 'योगशास्त्र' कहा जाता है । 'योग' शब्द के अनेक अर्थ हैं जिसमें उसका एक अर्थ 'व्यवहार' भी है । यहाँ भी योग से आशय 'व्यवहार' या 'कर्ममार्ग' है । गीता के प्रत्येक अध्याय की पुष्पिका में 'ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे' कहने का तात्पर्य भी यही है । इस प्रकार भगवद्गीता का मुख्य प्रतिपाद्य विषय ब्रह्मविद्या पर प्रतिष्ठित व्यवहार या कर्ममार्ग का उपदेश प्रदान करना है । किंकर्त्तव्यविमूढ अर्जुन को भगवान् श्रीकृष्ण द्वारा 'भगवद्गीता' के रूप में प्रदान किया गया वह उपदेश आज भी जनमानस को निरन्तर कर्त्तव्यपथ का बोध करा रहा है ।

2.2 अनुबन्धचतुष्टय

संस्कृत ग्रन्थों की रचना की अपनी विशिष्ट पद्धति होती है । जिसमें प्रायः ग्रन्थ के प्रारम्भ में उसके सम्पूर्ण विवरण को अध्येता को समझाने के लिए 'अनुबन्धचतुष्टय' का निरूपण किया जाता है । 1. विषय, 2. अधिकारी, 3. प्रयोजन और 4. सम्बन्ध ये चारों 'अनुबन्धचतुष्टय' कहे जाते हैं ।

मूल भगवद्गीता में भी इन चारों का सङ्केत है किन्तु भगवद्गीता की पुष्पिकारूप मङ्गल पाठ के पद्यों में इनका निरूपण किया गया है । यथा –

पार्थाय प्रतिबोधितां भगवता नारायणेन स्वयं
व्यासेन ग्रथितां पुराणमुनिना मध्ये महाभारतम् ।

अद्वैतामृतवर्षिणीं भगवतीमष्टादशाध्यायिनी –
मम्ब त्वामनुसन्दधामि भगवद्गीते भवद्वेषिणीम् ।।

नमोस्तु ते व्यास विशालबुद्धे फुल्लारविन्दायतपत्रनेत्र ।
येन त्वया भारततैलपूर्णः प्रज्वालितो ज्ञानमयः प्रदीपः ।।

प्रपन्नपारिजाताय तोत्रवेत्रैकपाणये ।
ज्ञानमुद्राय कृष्णाय गीतामृतदुहे नमः ॥

सर्वोपनिषदो गावो दोग्धा गोपालनन्दनः ।
पार्थो वत्सः सुधीर्भोक्ता दुग्धं गीतामृतं महत् ॥

प्रथम पद्य में गीता के प्रादुर्भाव के क्रम को दिखाया गया है – युद्ध के समय अर्जुन के प्रति साक्षात् भगवान् श्रीकृष्ण ने जिसका उपदेश किया और महर्षि व्यास ने महाभारत में जिसका निबन्धन किया, अद्वैतरूप अमृत की वर्षा करने वाली, अठारह अध्यायों में समन्वित, आवागमन रूप भवचक्र को समूल नष्ट करने वाली भगवद्गीतारूपिणी माता का मैं बार-बार अनुसन्धानात्मक स्मरण करता हूँ। द्वितीय पद्य में भगवान व्यास को प्रणाम किया गया है – अनन्त बुद्धि के अथाह सागर, प्रफुल्लित कमल के समान नेत्र वाले उन भगवान व्यास को बार-बार प्रणाम है, जिन्होंने महाभारत रूप तैल से परिपूर्ण पात्र में इस ज्ञानमय गीतारूप दीपक को प्रज्वलित कर दिया। तृतीय पद्य में इसके मुख्य उपदेष्टा भगवान् श्रीकृष्ण का स्मरण है – जो शरणागतों के लिए कल्पवृक्ष स्वरूप हैं, अर्जुन के सारथी बने हुए जिनके एक हाथ में घोड़ों के चलाने के लिए बेंत है और दूसरे हाथ में उपदेश के समय की ज्ञानमुद्रा है। इस प्रकार चतुर्थ पद्य में यह बतलाया गया है कि गीतारूप अमृत के उपदेश का मूल उपनिषद् है।

1. **विषय:** उपनिषदों में कहा हुआ जीव, ब्रह्म का अद्वैत अर्थात् अभेद गीता का विषय है।
2. **अधिकारी:** मोक्षार्थी इसके अधिकारी हैं ।
3. **प्रयोजन:** संसारचक्र से मुक्त हो जाना इसका मुख्य प्रयोजन है।
4. **सम्बन्ध:** विषय का और ग्रन्थ का परस्पर प्रतिपाद्यप्रतिपादकभाव, अधिकारी और ग्रन्थ का बोध्यबोधकभाव आदि सम्बन्ध हैं।

गीता का उपदेश भगवान् श्रीकृष्ण ने अर्जुन को प्रदान किया, किन्तु वह तो एक निमित्तमात्र है, उनके उपदेश का वास्तविक उद्देश्य मनुष्यमात्र को अपने कल्याण के मार्ग की ओर प्रेरित करना है।

2.3 श्रीमद्भगवद्गीता का अध्यात्म पक्ष

गीता का अध्यात्म पक्ष अत्यन्त व्यापक है । यह अनेक दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण है। इसमें दर्शन से सम्बद्ध जीव, जगत्, प्रकृति, ब्रह्म आदि अवधारणाओं का विशद विवेचन किया गया है । यहाँ उससे जुड़े प्रमुख तत्त्वों का विवेचन प्रस्तुत किया जा रहा है।

2.3.1 प्रकृति

श्रीमद्भगवद्गीता में 'प्रकृति' को कहीं 'व्यक्त', कहीं 'अव्यक्त' तथा कहीं 'महद्-ब्रह्म' की सञ्ज्ञा दी गई है। गीता की प्रकृति साङ्ख्यदर्शन की प्रकृति से भिन्न है। साङ्ख्यदर्शनानुसार सृष्टि की उत्पत्ति का मूल कारण प्रकृति है, जबकि गीता में भी जगत् का उत्पादन प्रकृति ही करती है; पर ऐसा करने में वह स्वतन्त्र नहीं है। गीता के अनुसार परमात्मा को प्रकृति का अध्यक्ष माना गया है। प्रकृति सत्त्व, रजस् और तमस् - इन तीन गुणों से निर्मित है। वह स्वतः जड़ है; उसमें चेतन की उत्पत्ति की क्षमता नहीं है । परमात्मा की इच्छानुसार प्रकृति सृष्टि-निर्माण का कार्य

सञ्चालित करती है। यथा –

मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्।
हेतुनानेन कौन्तेय जगद् विपरिवर्त्तते।। (गीता- 9.10)

गीता में प्रकृति का दो प्रकार का वर्णन प्राप्त होता है – 1.'अपरा', 2. 'परा'। ये दोनों प्रकार की प्रकृतियाँ ईश्वर के अधीन हैं। गीता में 'अपरा' से आशय 'भौतिक-प्रकृति' तथा 'परा' से 'जीव-प्रकृति' से है। अपरा-प्रकृति को ही 'क्षेत्र' तथा 'क्षर-पुरुष' और परा-प्रकृति को 'क्षेत्रज्ञ' तथा 'अक्षर-पुरुष' कहा गया है। पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश, मन, बुद्धि और अहङ्कार रूप अष्टधा प्रकृति 'अपरा' तथा चैतन्य जीव रूप 'परा' प्रकृति है। इस प्रकार परा प्रकृति जीव का और अपरा प्रकृति जीव से भिन्न समस्त भौतिक पदार्थों का प्रतीक है –

भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च।
अहङ्कार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा।।

अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम्।
जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत्।। (गीता-7.4-5)

प्रकृति वर्णन में गीता और साङ्ख्य की तत्त्व विवेचना का अन्तर अवश्य रूप से जान लेना आवश्यक है कि साङ्ख्य के अनुसार सृष्टि के मूल में अचेतन प्रकृति और चेतन पुरुष के संयोग से समस्त पदार्थ उत्पन्न होते हैं। वहाँ प्रकृति और पुरुष से भिन्न तीसरा तत्त्व नहीं है। जबकि गीता के अनुसार इन दोनों से परे एक सर्वव्यापक परम तत्त्व है और वह है परमात्मा। उसकी अध्यक्षता में ही सृष्टि का प्रारम्भ होता है और प्रकृति-पुरुष उसके विभूतिमात्र हैं।

2.3.2 जीव

श्रीमद्भगवद्गीता में ईश्वर के चैतन्यात्मक व्यापक-स्वरूप की अनेक प्रकार से व्याख्या की गई है। तदनुसार पुरुष के दो रूप बतलाये गये हैं – 'क्षर' और 'अक्षर'।

द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च।
क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते।। (गीता - 15.16)

क्षर : इस परिवर्तनशील जगत् में व्याप्त विश्वात्मा को 'क्षर-पुरुष' कहते हैं। यही 'अपरा-प्रकृति' भी है। इसके पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, मन, बुद्धि और अहङ्कार – ये आठ रूप हैं; यह क्षरणशील एवं विकार्य प्रकृति है। यह प्रकृति से स्वतन्त्र नहीं, बल्कि प्रकृतिस्थ पुरुष है। जन्म-मरणशील और ससीम है।

अक्षर: अविनाशी कूटस्थ विश्वातीत आत्मा को 'अक्षर पुरुष' कहते हैं। यही 'परा-प्रकृति' भी है। अक्षर पुरुष अविकार्य और निष्क्रिय है। अपरा प्रकृति से यह उत्कृष्ट है। प्रकृति का यह साक्षी है। यही जीवात्मा है। चेतन स्वरूप होने से जीव ईश्वर की उत्कृष्ट विभूति है। इसी को क्षेत्रज्ञ भी कहा गया है। कृतकर्मों का फल धारण करने से अथवा भोगायतन होने से शरीर ही 'क्षेत्र' (खेत) कहलाता है। गीता में पञ्चमहाभूत, अहङ्कार, बुद्धि, अव्यक्त, दशेन्द्रिय, मन, पञ्चतन्मात्रायें, इच्छा-द्वेष, सुख-दुःख, सङ्घात, चेतना और धैर्य – इन इकतीस तत्त्वों के समूह को 'क्षेत्र' कहा गया है –

महाभूतान्यहङ्कारो बुद्धिरव्यक्तमेव च।
इन्द्रियाणि दशैकं च पञ्च चेन्द्रियगोचराः॥

इच्छा द्वेषः सुखं दुःखं सङ्घातश्चेतना धृतिः।
एतत्क्षेत्रं समासेन सविकारमुदाहृतम्॥ (गीता 13.6-7)

शरीर इन समस्त तत्त्वों की अभिव्यक्ति है। अत: इस क्षेत्र के ज्ञाता को 'क्षेत्रज्ञ'(आत्मा) कहते हैं। चरण से लेकर मस्तक पर्यन्त सम्पूर्ण शरीर का ज्ञाता आत्मा ही है। गीता के विभिन्न अध्यायों में षड्विकारशून्य आत्मा का विविध रूप में वर्णन है। गीता के 'साङ्ख्ययोग' नामक द्वितीय अध्याय में जीव रूप आत्मा का स्वरूप विशेष रूप से वर्णित है। गीता की दृष्टि में आत्मा निर्विकार है। आत्मा का न तो जन्म होता है और न मरण। यह अजन्मा, नित्य और शाश्वत है। यह पुरातन होकर भी नवीन है। यही गुणों के संसर्ग से बन्धन में पड़ता है। विनाशशील शरीर के नष्ट हो जाने पर भी इसका विनाश नहीं होता –

न जायते म्रियते वा कदाचिद्
नायं भूत्वा भविता वा न भूयः।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो
न हन्यते हन्यमाने शरीरे॥ (गीता-2.20)

न यह किसी से मरता है, न किसी को मारता है –

य एनं वेत्ति हन्तारं यश्चैनं मन्यते हतम्।
उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते॥ (गीता-2.19)

जिस प्रकार मनुष्य पुराने वस्त्र को छोड़ कर नये वस्त्र को धारण करता है, उसी प्रकार जीव प्रारब्ध भोग द्वारा जीर्ण शरीर को छोड़ कर नये शरीर को प्राप्त करता है –

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि संयाति नवानि देही॥ (गीता-2.22)

यह जीवात्मा जन्म और मृत्यु परे है। यह अखण्डित और अघुलनशील है। इसे न तो जलाया जा सकता है, न सुखाया जा सकता है। यह शाश्वत, सर्वव्यापी, अविकारी और सदैव एक समान रहनेवाला तत्त्व है –

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः॥

अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च।
नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः॥ (गी-2.23,24)

यह जीव अनेक होकर भी एक है। जिस प्रकार सूर्य सम्पूर्ण संसार को प्रकाशित करता है, उसी प्रकार क्षेत्रज्ञ आत्मा समस्त क्षेत्र (शरीर) को प्रकाशित करता है –

यथा प्रकाशयत्येकः कृत्स्नं लोकमिमं रविः।
क्षेत्रं क्षेत्री तथा कृत्स्नं प्रकाशयति भारत॥ (गीता. 13.34)

जीव ईश्वर का सनातन अंश है –

ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः । (गीता. 15.7)

गीता में जीव-ईश्वर का अंशांशिभाव प्रतिपादित किया गया है । जीव तथा ईश्वर में भेद का विवेचन गीता के 'क्षेत्र-क्षेत्रज्ञविभागयोग' नामक त्रयोदश अध्याय में किया गया है । ईश्वर परम चेतन हैं और उनके अंशरूप जीव भी चेतन हैं । यद्यपि ईश्वर और जीव दोनों चेतन हैं किन्तु दोनों में भेद यह है कि जीव व्यष्टि चेतन है और ईश्वर समष्टि चेतन हैं ।

2.2.3 जगत्

प्रकृति के माध्यम से जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय का मूल कारण परमात्मा ही है । तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार बीज से वृक्ष उत्पन्न होता है तथा में पुनः बीज में ही लीन हो जाता है, उसी प्रकार यह जगत् भगवान् से उत्पन्न होता है तथा पुनः उन्हीं में लीन हो जाता है । जगत् के सम्बन्ध में गीता का कथन है कि भगवान् ही सभी भूतों के जीवन के सनातन, अविनाशी तथा अव्यय बीज है –

बीजं मां सर्वभूतानां विद्धि पार्थ सनातनम् ।
बुद्धिर्बुद्धिमतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम् ।। (गीता - 7.10)

परमात्मा ही प्राणियों के जीवन का लक्ष्य है । वे ही इनके पालक, स्वामी, साक्षी, धाम, शरणस्थली तथा अत्यन्त प्रियसखा है । सृष्टि और संहार में सबके जीवन का आधार हैं । जीवन का आश्रय और अविनाशी बीज वही हैं –

गतिर्भर्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत् ।
प्रभवः प्रलयः स्थानं निधानं बीजमव्ययम् ।। (गीता - 9.18)

मानवीय गणना के अनुसार एक हजार युग मिलकर ब्रह्मा का एक दिन बनता हैं और इतनी ही बड़ी ब्रह्मा की रात्रि भी होती है । ब्रह्मा के दिन के शुभारम्भ में सारे जीव अव्यक्तावस्था से व्यक्त होते हैं और ब्रह्मा की रात्रि प्रारम्भ होते ही पुनःअव्यक्त में विलीन हो जाते हैं –

अव्यक्ताद् व्यक्तयः सर्वाः प्रभवन्त्यहरागमे ।
रात्र्यागमे प्रलीयन्ते तत्रैवाव्यक्तसञ्ज्ञके ।।

भूतग्रामः स एवायं भूत्वा भूत्वा प्रलीयते ।
रात्र्यागमेऽवशः पार्थं प्रभवत्यहरागमे ।। (गीता - 8.18-19)

गीता में प्रकृति को कहीं 'व्यक्त', कहीं 'अव्यक्त' और कहीं 'महद् ब्रह्म' की सञ्ज्ञा प्रदान की गई है । गीता की प्रकृति साङ्ख्य की प्रकृति से भिन्न है । साङ्ख्य जगत् की उत्पत्ति का मूल कारण प्रकृति को मानता है, जबकि गीता में भी जगत् का उत्पादन प्रकृति ही करती है; पर ऐसा करने में वह स्वतन्त्र नहीं है । गीता के अनुसार प्रकृति का अध्यक्ष परमात्मा है । इन्हीं की इच्छा के अनुसार प्रकृति सृष्टि-निर्माण या उत्पत्ति का कार्य सञ्चालित करती है –

मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम् ।
हेतुनानेन कौन्तेय जगद् विपरिवर्तते ।। (गीता- 9.10)

महद् ब्रह्म विभिन्न योनियों में जन्म ग्रहण करने वाली मूर्त्तियों की योनि (उत्पत्तिस्थान) है तथा ईश्वर बीज रखने वाले पिता हैं –

सर्वयोनिषु कौन्तेय मूर्त्तयः सम्भवन्ति याः ।
तासां ब्रह्म महद्योनिरहं बीजप्रदः पिता ।। (गीता- 14.4)

'नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः' इस सत्कार्यवाद का प्रतिपादन करने से गीता की दृष्टि में जगत् मिथ्या न होकर यथार्थ है । तात्पर्य यह कि भौतिक जगत् जीवों को गर्भ में धारण किये है, जो सृष्टिकाल में अपने पूर्व कर्मों के अनुसार विविध रूपों में प्रकट होते हैं ।

2.3.4 ब्रह्म

श्रीमद्भगवद्गीता में प्रकृति और पुरुष को अनादि तत्त्व कहा गया है । यथा – **प्रकृतिं पुरुषञ्चैव विद्ध्यनादी उभावपि** (गीता - 13.19); किन्तु इन दोनों से परे सबका मूलभूत एक तत्त्व है, जिसे पुरुषोत्तम कहा जाता है –

अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः। (गीता- 15.18) । प्रकृति और पुरुष इस परम तत्त्व की दो विभूतियाँ है । गीता में प्रकृति, पुरुष और पुरुषोत्तम इन तीनों तत्त्वों को जगत्, जीव और परब्रह्म कहा गया है । साङ्ख्य दर्शन में प्रकृति और पुरुष को अनादि, स्वतन्त्र और स्वयम्भू कहा गया है; किन्तु गीता में इन्हें अनादि होते हुए भी स्वतन्त्र एवं स्वयम्भू नहीं बताया गया है । यहाँ श्रीकृष्ण ने प्रकृति को अपनी माया और पुरुष को अपना अंश कहा है – **दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया ।** (गीता-7.14) तथा **ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातन ।** (गीता-15.7)। गीता के अनुसार प्रकृति सृष्टि के लिए स्वतन्त्र नहीं है, वह ईश्वर के अधीन रहकर अपना कार्य करती है । यथा – **मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्** (गीता- 9.10)। इन सब तथ्यों के उपरान्त गीता के किसी निश्चित अध्यात्मिक सिद्धान्त को स्थिर करना कठिन है । अतः शङ्कराचार्य ने गीता को दुर्विज्ञेयार्थ कहा है – **"तदिदं गीताशास्त्रं समस्तवेदार्थसारसङ्ग्रहभूतं दुर्विज्ञेयार्थम्"** (गीताभाष्य का उपोद्घात) । गीता में गम्भीरतम ब्रह्म का अत्यन्त सरल भाषा में विवेचन है । इसके अष्टम अध्याय के आरम्भ में अर्जुन ने भगवान् से पूछा– "हे पुरुषोत्तम ! ब्रह्म क्या है ? अध्यात्म क्या है और कर्म का स्वरूप क्या है ?" इसके उत्तर में भगवान् ने कहा – "परम अक्षर-अविनाशी ब्रह्म है । उसका स्वभाव अध्यात्म है और सृष्टिरूप कार्य कर्म है" –

किं तद् ब्रह्म किमध्यात्मं किं कर्म पुरुषोत्तम । (गीता- 8.1)
अक्षरं ब्रह्म परमं स्वभावोऽध्यात्ममुच्यते ।
भूतभावोद्भवकरो विसर्गः कर्मसञ्ज्ञितः ।। (गीता- 8.3)

गीता में ब्रह्म के सगुण एवं निर्गुण दोनों ही रूपों का समन्वय है । वह समस्त इन्द्रियों का मूल स्रोत होते हुए भी इन्द्रियों से रहित है । प्राणियों के पालन में आसक्त होकर भी पूर्णतया अनासक्त है । भौतिक प्रकृति के समस्त गुणों का अधिष्ठाता होते हुए भी प्राकृतिक गुणों से परे है । यथा –

सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम् ।
असक्तं सर्वभृच्चैव निर्गुणं गुणभोक्तृ च ।। (गीता-13.14)

ब्रह्म से संसार की उत्पत्ति और प्रलय दोनों हैं । वह समस्त प्राणियों में निवास करता है। जिस प्रकार धागे में मणियाँ पिरोयी रहती हैं, उसी प्रकार ब्रह्म में समस्त जगत् अनुस्यूत गूँथा हुआ है–

मत्तः परतरं नान्यत्किञ्चिदस्ति धनञ्जय।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव ।। (गीता-7.7)

गीता का ब्रह्म बड़ा ही विलक्षण है। वह सत् भी है, असत् भी है और इससे परे भी है। जगत् के कण-कण में उसका निवास है। वह अक्षर ब्रह्म है – **त्वमक्षरं सदसत्तत्परं यत्** (गीता-11.37)। फिर गीता की उद्घोष है कि यह विलक्षण ब्रह्म न तो सत् है और न ही असत् है – **अनादिमत्परं ब्रह्म न सत्तन्नासदुच्यते**। यह ब्रह्म अनादि है जो प्रत्येक प्राणी के भीतर और बाहर है। वह दूर भी है और निकट भी है –

बहिरन्तश्च भूतानामचरं चरमेव च।
सूक्ष्मत्वात्तदविज्ञेयं दूरस्थं चान्तिके च तत् ।। (गीता- 13.15)

इस ब्रह्म के हाथ, पाँव, आँखें, सिर तथा मुंह और कान सब जगह हैं। इस तरह वह ब्रह्म विश्व के कण-कण में व्याप्त होकर बैठा है –

सर्वतः पाणिपादं तत्सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम्।
सर्वतः श्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति ।। (गीता- 13.14)

गीता में ब्रह्म के 'अपर' तथा 'पर' दोनों प्रकार के भावों का निर्देश मिलता है। ईश्वर एक ही अंश से योगमाया से युक्त रहता है और उसी अंश से जगत् में अभिव्यक्त होता है। वह एक अंश से जगत् को व्याप्त कर स्थित रहता है –

विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत् । (गीता- 10.42) इसे अपर भाव, अपरा प्रकृति एवं विश्वानुगरूप कहा जाता है; किन्तु ब्रह्म केवल जगन्मात्र ही नहीं हैं, प्रत्युत वे इसका अतिक्रमण भी करते हैं। यही उनका यथार्थ स्वरूप है। परा प्रकृति चेतन है और जीवात्मा उसी में सन्निविष्ट है। गीता के अनुसार पराशक्ति ब्रह्म की कार्यकारिणी शक्ति है। यह ब्रह्म के चेतन स्वरूप से निर्गत होती है। इस परमोत्कृष्ट रूप को अव्यय कहा जाता है – **परं भावमजानन्तो ममाव्ययमनुत्तमम्** (गीता- 7.24)। काल के प्रवाह के साथ परिवर्तित होने वाली परा प्रकृति है । ब्रह्म की परा और अपरा दोनों प्रकृतियाँ इसी प्रकार हैं। विश्व के कण-कण में ब्रह्म व्याप्त हैं। जगत् के हर पदार्थ में उनका महत्तम अंश व्याप्त है। विभूतिसम्पन्न, शोभायुक्त तथा ऊर्जित पदार्थों में उसी ब्रह्म की अप्रतिहत शक्ति दृष्टिगोचर होती है। यथा –

यत् यत् विभूतिमत् सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा।
तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोऽसम्भवम् ।। (गीता- 10.41)

गीता के 'विभूतियोग' नामक दशम अध्याय में ब्रह्म के व्यापक स्वरूप का निर्देश भगवद्विभूतियों के सविस्तर वर्णन के रूप में प्राप्त होता है।

2.3.5 पुरुषोत्तम

'पुरुषोत्तम' गीता का रहस्यमय आध्यात्मिक तत्त्व है। गीतादर्शन के अनुसार क्षर और अक्षर दो पुरुष हैं। इनमें समस्त जड़ पदार्थ और जीव-जन्तु क्षर हैं एवं कूटस्थ अविनाशी पुरुष अक्षर है।

इन दोनों से परे एक तीसरा पुरुष है, जिसे 'परमात्मा' कहा जाता है। यह क्षर से भी परे है और अक्षर से भी उत्तम है। अतः इसे 'पुरुषोत्तम' कहा जाता है। ये क्षर और अक्षर दोनों से परे हैं, सर्वश्रेष्ठ हैं; अतः लोक और वेदों में ये पुरुषोत्तम कहलाते हैं –

यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः।
अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः॥ (गीता - 15.18)

साङ्ख्य दर्शन में पुरुष और प्रकृति में पुरुषतत्त्व को प्रधान तत्त्व माना गया है; किन्तु गीता में उससे भी परे त्रिभुवन में व्याप्त परमात्मा को परम पुरुष अर्थात् पुरुषोत्तम कहा गया है। असङ्ख्य बद्ध एवं मुक्त जीवों के नियन्ता परमात्मा ही पुरुषोत्तम हैं। पुरुषोत्तम अन्तर्यामी परमात्मा है। यह परमात्मा विश्वानुग होकर भी विश्वातीत है। गीता में इस प्रकार प्रकृति, पुरुष और पुरुषोत्तम – ये तीन तत्त्व हुए। इन्हें जगत्, जीव और परब्रह्म कहते हैं। गीता में पुरुषोत्तम के दो रूप निरूपित किये गये हैं – व्यक्त और अव्यक्त। इनमें व्यक्त रूप मायिक है और अव्यक्त रूप ईश्वर का वास्तविक स्वरूप है। गीता के अनुसार पुरुषोत्तम सर्वोच्च सत्ता है। वह निरतिशय, शाश्वत, अनन्त, कूटस्थ, अज और अमर है। वह सर्वव्यापक, सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान है। वह मन का कर्त्ता, धर्ता और संहर्त्ता है। वही लोक-परलोक है, परब्रह्म है, परमतत्त्व है और पुरुषोत्तम है। इसीलिए इन्हें सर्वश्रेष्ठ परमतत्त्व, परमब्रह्म, परमात्मा और पुरुषोत्तम कहा जाता है।

गीता में भगवान् श्रीकृष्ण ने स्पष्ट कहा है कि जो कोई उन्हें तत्त्वतः पुरुषोत्तम जानता है, वही वास्तव में सर्वज्ञ है।

यो मामेवमसम्मूढो जानाति पुरुषोत्तमम्।
स सर्वविद् भजति मां सर्वभावेन भारत॥ (गीता - 15.16)

अपूर्ण ज्ञानी परतत्त्व के सन्दर्भ में तर्क में उलझा रहता है, किन्तु पूर्ण ज्ञानी प्रत्यक्ष रूप से परम पुरुषोत्तम तत्त्व को जानकर भक्तियोग में तत्पर होकर मृत्यु-सागर को पार कर अमर्त्य बन जाता है। इसी पुरुषोत्तम रूप परम तत्व को सर्वकर्मार्पण कर देने का उपदेश गीता देती है। गीता के 'पुरुषोत्तमयोग' नामक पञ्चदश अध्याय में पुरुषोत्तम तत्त्व की व्यापक विवेचना की गई है। इस प्रकार गीता में उपनिषदों के ब्रह्मवाद, साङ्ख्यसम्मत प्रकृति-पुरुषवाद तथा भागवतदर्शनसम्मत ईश्वरवाद का अनुपम समन्वय प्रस्तुत किया गया है।

अभ्यास प्रश्न : 1

1. गीता में 'प्रकृति' को कहा गया है –

   क. अव्यक्त

   ख. व्यक्त

   ग. महद्-ब्रह्म

   घ. उपर्युक्त सभी

2. अभिकथन : गीता में प्रकृति का दो प्रकार का वर्णन प्राप्त होता है – 'अपरा' और 'परा'।

   तर्क : गीता के अनुसार परमात्मा को प्रकृति का अध्यक्ष माना गया है।

   क. अभिकथन सत्य है और तर्क भी सही है।

ख. अभिकथन असत्य है और तर्क भी सही है।

3. गीता के अनुसार 'अपराप्रकृति' से आशय है –

क. भौतिक-प्रकृति

ख. क्षेत्र

ग. क्षर-पुरुष

घ. उपर्युक्त सभी

4. गीता के अनुसार 'पराप्रकृति' से आशय है –

क. जीव-प्रकृति

ख. क्षेत्रज्ञ

ग. अक्षर-पुरुष

घ. उपर्युक्त सभी

5. गीता के अनुसार अपराप्रकृति के कितने रूप हैं ?

क. पाँच

ख. आठ

ग. नौ

घ. ग्यारह

6. गीता के अनुसार 'क्षेत्र' कितने तत्त्वों का समूह है –

क. इकतीस

ख. ग्यारह

ग. पाँच

घ. नौ

7. गीता के द्वितीय अध्याय में किसका स्वरूप विशेष रूप से वर्णित है –

क. आत्मा

ख. प्रकृति

ग. त्रिगुण

घ. ज्ञान

8. अभिकथन : गीता में जीव-ईश्वर का अंशांशिभाव प्रतिपादित किया गया है।

तर्क : जीव व्यष्टि चेतन है और ईश्वर समष्टि चेतन है।

क. अभिकथन सत्य है और तर्क भी सही है।

ख. अभिकथन असत्य है और तर्क भी सही है।

9. जीव तथा ईश्वर में भेद का विवेचन गीता के किस अध्याय में किया गया है ?

क. 'क्षेत्र-क्षेत्रज्ञविभागयोग' नामक त्रयोदश अध्याय

ख. 'पुरुषोत्तमयोग' नामक पञ्चदश अध्याय

ग. 'साङ्ख्ययोग' नामक द्वितीय अध्याय

घ. 'विश्वरूपदर्शनयोग' नामक एकादश अध्याय

10. गीता के किस अध्याय में ब्रह्म के व्यापक स्वरूप तथा भगवद्विभूतियों का वर्णन प्राप्त होता है –

क. 'विभूतियोग' नामक दशम अध्याय

ख. 'पुरुषोत्तमयोग' नामक पञ्चदश अध्याय

ग. 'विश्वरूपदर्शनयोग' नामक एकादश अध्याय

घ. 'भक्तियोग' नामक द्वादश अध्याय

2.4 श्रीमद्भगवद्गीता का व्यवहार पक्ष

समन्वयात्मकता गीता की अपनी विशिष्टता है। गीता का अध्यात्मपक्ष जितना गम्भीर, यथार्थपरक तथा विश्लेषणात्मक है, इसका व्यवहारपक्ष भी उतना ही तत्त्वपरक, समन्वयात्मक तथा संश्लेषणात्मक है। गीता की जन्मकालिक परिस्थितियों पर गम्भीरता से विचार करने पर यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि इसका परम लक्ष्य जीवन में व्यावहारिक शिक्षा देना है। स्पष्टतः इसका मुख्य प्रयोजन जीवन की व्यावहारिक समस्या को हल करना तथा न्यायोचित आचरण के लिये प्रेरित करना है। सनातन शास्त्रों ने मानवीय प्रकृति तथा तज्जन्य प्रवृत्ति को ध्यान में रखकर चरम लक्ष्य की प्राप्ति के लिए त्रिविध उपायों की व्यवस्था की है। वे हैं – ज्ञानमार्ग, कर्ममार्ग तथा भक्तिमार्ग। चिन्तनशील साधक ज्ञानमार्ग से, संसारी पुरुष कर्ममार्ग से एवं अनुरागी व्यक्ति अपनी भक्तिमार्ग से अपने उद्देश्य तक पहुँच सकता है। गीता के अध्ययन से ही ज्ञात होता है कि गीता के उत्पत्तिकाल में ही श्रेयःप्राप्ति के लिए चार प्रकार के मार्ग प्रचलित थे – कर्ममार्ग, ज्ञानमार्ग, ध्यानमार्ग तथा भक्तिमार्ग। प्रत्येक मार्ग के अनुयायी अपने मार्ग को उत्कृष्ट तथा दूसरे मार्ग की अवहेलना करते थे। यथा –

पश्यन्ति केचिदात्मानमात्मना।
अन्ये साङ्ख्येन योगेन कर्मयोगेन चापरे॥

अन्ये त्वेवमजानन्तः श्रुत्वाऽन्येभ्य उपासते।
तेऽपि चातितरन्त्येव मृत्युं श्रुतिपरायणः॥ (गीता-13.24-25)

गीता में कर्ममार्गादि चारों मार्गों का अद्भुत समन्वय कर लोकहित का कल्याणकारी मार्ग प्रशस्त किया गया है।

2.4.1 कर्मयोग

गीता के समय कर्म के सन्दर्भ में अनेक मत प्रचलित थे, जिनमें यज्ञानुष्ठान से सम्बद्ध वैदिक विधान, सत्य के अन्वेषण का उपनिषत् सिद्धान्त तथा ईश्वरपूजासम्बन्धी सिद्धान्त प्रमुख हैं। गीता में इन सब विचारों को एकत्रित करके एक सुसंगत पद्धति में आबद्ध करने का प्रयास किया गया है। गीता का यह मन्तव्य है कि प्रकृति से अर्जित गुणों के अनुसार ही प्रत्येक व्यक्ति को कुछ न कुछ कर्म करना ही पड़ता है। कोई व्यक्ति क्षण भर के लिए भी निष्क्रिय नहीं रह

सकता, यह उसकी विवशता है। यथा –

न हि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः ।। (गीता - 3.5)

सृष्टि के अन्त में समस्त विश्व एक सूक्ष्म कर्मरूप बीज की अवस्था में विद्यमान रहता है। यथा –

अव्यक्ताद्व्यक्तय: सर्वा: प्रभवन्त्यहरागमे।
रात्र्यागमे प्रलीयन्ते तत्रैवाव्यक्तसञ्ज्ञके ।।

भूतग्राम: स एवायं भूत्वा भूत्वा प्रलीयते।
रात्र्यागमेऽवश: पार्थ प्रभवत्यहरागमे ।। (गीता – 8.18-19)

क्योंकि सृष्टि-प्रक्रिया ईश्वर के अधीन है अतः ईश्वर को कर्म का अध्यक्ष भी कहा गया है। कर्ममार्ग के द्वारा ही मनुष्य परम तत्त्व तक पहुँच सकता है। गीता मनुष्य को अनासक्त भाव से कर्म करने की प्रेरणा देती है। क्योंकि भौतिक सुख-सुविधाओं का संकलन भी कर्म ही है। परन्तु यह कर्म मानव-जीवन का लक्ष्य नहीं हो सकता है। गीता जीवन के लिए कर्म की महत्ता स्वीकार करती है। कर्म से ही व्यक्ति का संसार से सम्बन्ध स्थापित होता है। गीता के अनुसार प्रत्येक 'कर्म' के पाँच कारण होते हैं। अतः सारे कर्मों का स्थान अर्चस् (शरीर), कर्त्ता, विभिन्न इन्द्रियों, अनेक प्रकार की चेष्टायें तथा परमात्मा ये पाँच कर्म के कारण हैं। यथा –

अधिष्ठानं तथा कर्त्ता कारणञ्च पृथग्विधम्।
विविधाश्च पृथक्चेष्टा दैवं चैवात्र पञ्चमम् ।। (गीता-18.14)

'कर्ता' कर्म का फलभोक्ता भी है। जिस कामना अर्थात् अभिलाषा से कर्म किया जाता है, उसका फल तो कर्ता को भोगना पड़ता ही है; क्योंकि यह कर्ता की फलाकांक्षा की आसक्ति है। इससे उसे मुक्ति नहीं मिल सकती है। गीता की दृष्टि में फल की आकांक्षा से रहित कृतकर्म संसार-बन्धन का कारण नहीं हो सकता। इस प्रकार फल के बन्धन से मुक्ति भी सम्भव है। इस हेतु 'योग' का उपदेश वहाँ किया गया है। तदनुसार कुशलता से सम्पादित कर्म बन्धनमुक्त हो सकता है और यही कर्म कुशलता 'योग' है – **"योगः कर्मसु कौशलम्"**। मोक्ष के लिए तो कर्म का त्याग तथा कर्मयोग दोनों ही श्रेयस्कर हैं; किन्तु दोनों में से कर्म के परित्याग से कर्मयोग श्रेष्ठतम है। यथा –

संन्यासः कर्मयोगश्च निःश्रेयसकरावुभौ।
तयोस्तु कर्मसंन्यासात् कर्मयोगो विशिष्यते ।। (गीता-5.2)

गीता के अनुसार भौतिक इच्छाओं पर आधारित कर्मों का त्याग करना 'संन्यास' कहलाता है तथा समस्त कर्मों के फलों का परित्याग करना 'त्याग' है –

काम्यानां कर्मणां न्यासं संन्यासं कवयो विदुः।
सर्वकर्मफलत्यागो प्राहुस्त्यागं विचक्षणः ।। (गीता - 18.2)

कर्मयोग के स्वरूप को प्रतिपादित करते हुए गीता में कहा गया है –

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि ।। (गीता- 2.47)

कर्मयोग की सिद्धि के आवश्यक तीन सोपान हैं – (१) फल की आकाङ्क्षा का परित्याग (२) कर्त्तव्य के अभिमान का निराकरण तथा (३) ईश्वरार्पण बुद्धि से कर्म । गीता के अनुसार जो व्यक्ति आसक्ति छोड़कर कर्म करता है, उसे किसी तरह के अनिष्ट की आशङ्का नहीं रहती है। अतः मनुष्य को फल की आसक्ति छोड़कर ईश्वरार्पण बुद्धि से कर्म करना चाहिए। यथा –

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोसि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्॥ (गीता- 9.27)

आशय यह है कि मनुष्य को चाहिए कि वह लोकसङ्ग्रह के लिए आसक्तिरहित होकर जो कुछ भी कर्म करे, उसे ईश्वर को अर्पित कर दे। यह कर्म के सन्दर्भ में गीता का सारगर्भित समन्वयात्मक दृष्टिकोण है ।

मनुष्य अपने स्वभावजन्य कर्म में आबद्ध है। उसे अपने सङ्कल्प के विपरीत भी कुछ कर्म करना पड़ते हैं । यही गीता का कर्म सिद्धान्त है। यथा –

यदहङ्कारमाश्रित्य न योत्स्य इति मन्यसे।
मिथ्यैष व्यवसायस्ते प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यसि॥ (गीता-18.59)

गीता का कथन है कि अग्नि नहीं जलाने या कर्म नहीं करने से कोई न तो संन्यासी होता है और न ही योगी होता है। अपितु जो व्यक्ति अपने कर्मफल के प्रति अनासक्त होकर कर्त्तव्य-बुद्धि से केवल कर्म का सम्पादन करता है, वही संन्यासी और योगी अर्थात् कर्मयोगी है । यथा –

अनाश्रितं कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः।
स संन्यासी च योगी च न निरग्निर्न चाक्रियः॥ (गीता - 6.1)

गीता के अनुसार किसी भी कर्म के सम्पादन में देह केवल एक साधन है। आत्मार्थी स्वकीय आत्म-विकास के लिए देह को अपने उपयोग में लाता है तथा निष्काम-कर्म रूपी लक्ष्य को प्राप्त करता है । निष्काम कर्म से दो लक्ष्य सिद्ध होते हैं – आत्मलाभ तथा ईश्वरप्राप्ति । आत्मलाभ से तात्पर्य ब्राह्मी स्थिति की उपलब्धि से है।

कर्मयोग की यह सर्वोत्कृष्ट उपलब्धि है। इससे मोक्ष की प्राप्ति होती है –

एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ नैनां प्राप्य विमुञ्चति।
स्थित्वास्यामन्तकालेऽपि ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति ॥ (गीता 2.72)

इसी प्रकार ईश्वरप्राप्ति का अर्थ है – ईश्वर के सामीप्य की अनुभूति से है। भगवान् श्रीकृष्ण का कथन है कि जीवन के अन्त में जो केवल ईश्वर का स्मरण करते हुए शरीर का त्याग करता है, वह शीघ्र ही ईश्वरत्व के स्वभाव को प्राप्त करता है । इसमें लेशमात्र भी सन्देह नहीं करना चाहिए। यथा –

अन्तकाले च मामेव स्मरन्मुक्त्वा कलेवरम्।
यः प्रयाति स मद्भावं याति नास्त्यत्र संशयः॥ (गीता- 8.5)

वस्तुतः दोनों का प्रयोजन एक ही है। गीता का सुस्पष्ट निर्देश है कि चाहे हम किसी भी स्थिति में हों, ईश्वरार्पण बुद्धि से हमें कर्म करते ही रहना चाहिए । इस प्रकार गीता के अनुसार भगवत्प्राप्ति के समस्त साधनों में कर्मफलत्यागरूप निष्काम कर्मयोग ही सर्वोत्तम है।

2.4.2 ज्ञानयोग

गीता ज्ञानयोग की महत्ता को स्वीकार करती है किन्तु ज्ञान के विषय में उसकी मान्यता अन्य दार्शनिक मतों से कुछ विलक्षण है। गीता के अनुसार आत्मा की एकता की समग्र अनुभूति ही 'ज्ञान' है । इस ज्ञान के दो स्तर हैं – समस्त प्राणियों में एक ही आत्मा का दर्शन और अपनी आत्मा में समस्त प्राणियों का दर्शन – यह समदर्शन ही मनुष्य का वास्तविक 'ज्ञान' है। चिन्तन के ये दोनों स्तर एक-दूसरे के पूरक हैं। यथा –

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः ।। (गीता - 6.29)

सभी प्राणियों में आत्मदर्शन का उदाहरण संसार में प्रायः सर्वत्र दृष्टिगोचर होता है, किन्तु आत्मा में सर्वभूतदर्शन का उदाहरण भगवान् श्रीकृष्ण के विराट् रूप में दृष्टिगोचर होता है। अर्जुन ने भगवान् श्रीकृष्ण के द्वारा दर्शित विराट् रूप में एक स्थान पर अनेक रूप में विभक्त सम्पूर्ण विश्व को दिव्यदृष्टि से देखा। गीता के एकादशाध्याय में वर्णित विश्वरूपदर्शन का रहस्य **"एकस्थं कृत्स्नं जगत्"** के प्रत्यक्षीकरण में निहित है। गीता में भगवान् श्रीकृष्ण का कथन है कि जिस प्राणी को जन्म-जन्मान्तर के उपरान्त वास्तविक अर्थ में ज्ञान की उपलब्धि होती है; वह विश्व के समस्त कारणों का कारण मुझे ही मानता है और मेरी शरण में आ जाता है। ऐसा ज्ञानी व्यक्ति भौतिक जगत् को आध्यात्मिक विविधताओं का विकृत प्रतिबिम्ब मानता है। समदर्शी ज्ञानी सभी प्राणियों में समदृष्टि रखता है। उसे आत्मसाक्षात्कार हो जाता है। भौतिकता के प्रति विरक्ति और भगवान् के प्रति आसक्ति ही उसके लिए ज्ञान का मार्ग प्रशस्त कर देती है। परन्तु ऐसे शरणागत ज्ञानी महात्मा संसार में दुर्लभ हैं –

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः।। (गीता- 7.19)

गीता के शब्दों में आस्था एवं भक्ति रखने वाले परम ज्ञानी पुरुष सर्वश्रेष्ठ हैं। मैं (वासुदेव) उन्हें अत्यन्त प्रिय हूँ और वे मुझे प्रिय हैं'–

तेषां ज्ञानी नित्ययुक्तः एकभक्तिर्विशिष्यते।
प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः ।। (गीता - 7.17)

बुद्धि के द्वारा जीवन के यथार्थ को जानना 'विज्ञान' है और यह सामान्य ज्ञान से भिन्न है। विज्ञानविषयक ज्ञान रजोगुण प्रधान है । अध्यात्मविषयक ज्ञान सत्त्वगुण प्रधान है। यह समग्र ज्ञान ईश्वर का ज्ञान है। जब मनुष्य के मन-बुद्धि पर सात्त्विक ज्ञान का प्रभाव पड़ता है तब दैहिक स्वभाव पर भी समबुद्धिरूप परिणाम प्रतिबिम्बित होने लगता है । परम सत्य के यथार्थ ज्ञान के लिए विज्ञान के स्थान पर अन्य साधना का आश्रय अपेक्षित है । गीता के अनुसार प्रणिपात, परिप्रश्न तथा सेवाभाव ज्ञानप्राप्ति के लिए आवश्यक उपाय हैं –

तद् विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।
उपदेश्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः ।। (गीता- 4.34)

गीता में 'ज्ञान' को संसार की सर्वाधिक पवित्र वस्तु माना गया है। ऐसे ज्ञान की उपलब्धि एक साधक की समग्र साधना का प्रतिफल है। जो व्यक्ति अपनी साधना में सिद्ध हो जाता है, वह

यथासमय अपने भीतर ही इस प्रज्ज्वलित 'ज्ञान' के प्रत्यक्ष अनुभव को प्राप्त करता है –

नहि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते ।
तत् स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि ।। (गीता- 4.38)

गीता का कथन है कि श्रद्धावान्, जितेन्द्रिय तथा ज्ञानी पुरुष शीघ्र ही परम शान्ति को प्राप्त करता है। इस ज्ञान और शान्ति का पर्यवसान भगवद्भावना ही है –

श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः।
ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति ।। (गीता- 4.39)

गीता के ज्ञानयोग का सन्देश यही है कि हम आत्मा को परमात्मा में स्थिर कर संयमित जीवन से ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं। बुद्धि को शुद्ध कर, इन्द्रियों को वशवर्त्ती बनाकर, दुर्जय और दुर्धर्ष क्रोध को वशी बनाकर हमें ज्ञान की साधना करनी चाहिए।

2.4.3 भक्तियोग

जिन विविध मार्गों से मनुष्य अपने जीवन को परमात्मा में अधिष्ठित कर सकते हैं, उनमें भक्ति का विशिष्ट महत्त्व है । भक्तियोग का प्रमुख तात्पर्य भक्त का 'अनन्यभाव' है। परमात्मा के अतिरिक्त किसी दूसरे का भाव मन में न लाना ही ईश्वर की अनन्य भक्ति कहलाती है। इस अनन्य भक्ति से ही ईश्वर की कृपा प्राप्त की जा सकती है, अन्यथा नहीं। यही भक्तियोग की महत्त्व है –

पुरुषः स परः पार्थ भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया ।
यस्यान्तःस्थानि भूतानि येन सर्वमिदं ततम् ।। (गीता-8.22)

भगवद्गीता में वर्णित भक्तियोग समस्त आध्यात्मिक सिद्धान्तों और दर्शनों का सारतत्त्व है। अतः इसे 'राजविद्या' तथा 'राजगुह्य' या समस्त रहस्यों का रहस्य कहा गया है –

राजविद्याराजगुह्यं पवित्रमिदमुत्तमम् ।
प्रत्यक्षावगमं धर्म्यं सुसुखं कर्त्तुमव्ययम् ।। (गीता-9.2)

परमात्मा के प्रति निष्काम, निर्विकल्प, निर्हेतुक एवं निरतिशय प्रेम का नाम ही भक्ति है; क्योंकि भक्ति में भक्त की सारी भावनायें प्रभु प्रेम में समर्पित होती हैं। महर्षि नारद के अनुसार भगवान् के प्रति अनन्य आस्था के साथ आत्मसमर्पण ही 'भक्ति' है – **'सा त्वस्मिन् परमप्रेमरूपा'** (नारदभक्तिसूत्र -1.1.2)। भक्ति गीता का हृदय है। गीता में ईश्वर की उपासना के निराकार तथा साकार प्रकारों में साकार उपासना को श्रेष्ठतर निरूपित किया गया है। विराट्रूपदर्शन के अन्त में श्रीकृष्ण ने अनन्या भक्ति को विश्वरूपदर्शन का एकमात्र साधन कहा है। अनन्या भक्ति की परिणति भगवत्प्राप्ति ही है। भगवान् श्रीकृष्ण के कथनानुसार जो व्यक्ति यज्ञ, दान, तप आदि सकाम कर्मों तथा मनोधर्म के कल्मष से मुक्त होकर ईश्वर की शुद्ध भक्ति में तत्पर रहता है, जो उसके लिए ही कर्म में तत्पर रहता है, जो परमात्मा को ही अपने जीवन का लक्ष्य समझता है और जो प्रत्येक जीव से मैत्रीभाव रखता है; वह निश्चय ही अपनी अनन्या भक्ति से मुझ परमात्मा को प्राप्त करता है –

**मत्कर्मकृद् मत्परमो मद्भक्तः सङ्गवर्जितः ।
निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव ।।** (गीता-11.55)

गीता के भक्तियोग में किसी भी साधन से कोई विरोध नहीं है। उसके अनुसार आदर्श भक्त वह है जिसमें प्रेम के साथ-साथ ज्ञान का भी प्रकाश है। अतः आर्त, जिज्ञासु तथा अर्थार्थी भक्तों की अपेक्षा भगवान् ने ज्ञानी भक्त को श्रेष्ठ कहा है –

**उदाराः सर्व एवैते ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम् ।
आस्थितः स हि युक्तात्मा मामेवानुत्तमां गतिम् ।।** (गीता-7.18)

भगवान् श्रीकृष्ण का कथन है कि मेरे ऐसे भक्तों का कभी विनाश नहीं होता –

**अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति ।
नायं लोकोऽस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः।।** (गीता- 4.40)

स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा है – "सब धर्मों को छोड़कर केवल मेरा ही आश्रय ग्रहण करो। मैं तुम्हें सब पापों से मुक्त कर दूँगा"। यथा –

**सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज ।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ।।** (गीता-18.66)

आत्मा की परमात्मा के साथ एकत्व की बुद्धि ही ब्राह्मी स्थिति कही जाती है। इसी ब्रह्मात्म्यैकबुद्धि के लिए परमात्मा के स्वरूप का चिन्तन परमावश्यक है। यह स्वरूप-चिन्तन ही व्यक्ति के मन को ईश्वर के साथ तद्रूप बना देता है। ऐसा व्यक्ति शीघ्र ही अपने- आपमें परब्रह्म की अनुभूति प्राप्त करता है। ऐसा व्यक्ति जीवन के दिव्य पद पर प्रतिष्ठित होकर पूर्णतः प्रसन्न हो जाता है। ऐसा व्यक्ति न कभी शोक करता है और न कभी किसी वस्तु की कामना करता है। प्रत्येक प्राणी को वह समभाव से देखता है। ऐसी स्थिति में ही वह व्यक्ति मेरी शुद्ध भक्ति प्राप्त करता है –

**ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति ।
समः सर्वेषु भूतेषु मद् भक्तिं लभते पराम् ।।** (गीता- 18.54)

देहात्म बुद्धि के अन्तर्गत जब कोई व्यक्ति इन्द्रियतृप्ति के लिए ही कोई कर्म नहीं करता है, तब अपनी इच्छाओं के अनवरत प्रवाह से भी ठीक उसी तरह विचलित नहीं होता, जैसे कि नदियों के जल के निरन्तर प्रवेश करते रहने भी सागर बिल्कुल ही अविचलित और शान्त रहता है। उसी तरह भक्तिभावना से सम्पन्न व्यक्ति भी हर स्थिति में सागर की तरह शान्त रहता है –

**आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत् ।
तद्वत्कामा यं प्रविशन्ति सर्वे स शान्तिमाप्नोति न कामकामी ।।** (गीता- 2.70)

भगवान् के प्रति उत्कट प्रेम होने पर भक्त भगवत्प्रेम में लीन हो जाता है। भगवत् प्रेम में लीन उस व्यक्ति को सर्वत्र उस ईश्वर का ही दर्शन होता है। अपने आराध्य के प्रति अगाध प्रेम होने के कारण वह सब कुछ भूल जाता है। ऐसा भक्त अपने-आपको ईश्वर के चरणों में समर्पित कर देता है। भगवान् की शरणागति ही ईश्वर-प्राप्ति का एकमात्र साधन है। अतः भगवान् श्रीकृष्ण ने भक्त अर्जुन को इसी शरणागति का उपदेश दिया है। यह शरणागति ही भक्तियोग है।

2.4.4 ध्यानयोग

ध्यान एक योगाभ्यास है, जिससे मन को एकाग्र बनाया सकता है । श्रीमद्भगवद्गीता के 'आत्मसंयमयोग' नामक षष्ठ अध्याय में ध्यानयोग का विशद वर्णन प्राप्त होता है । गीता के अनुसार 'ध्यान' मानव की जागृत अन्तश्चेतना के चिन्तन की एक विशिष्ट अवस्था है । तप, जप, निरग्निता तथा अक्रियता से ध्यान की प्राप्ति नहीं होती है । इसे तो कर्म के प्रति अनासक्त कोई योगी ही प्राप्त कर सकता है –

अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः ।
स संन्यासी च योगी च न निरग्निर्न चाक्रियः ।। (गीता- 6.1)

ध्यान के सन्दर्भ में गीता पर औपनिषदिक चिन्तन का प्रभाव स्पष्टतः परिलक्षित होता है । इसका ध्यान-वर्णन श्वेताश्वतरोनिषद् (28.15) के साथ अत्यधिक समानता रखता है । चञ्चल मन को एकाग्र बनाने के लिए गीता आसन, प्राणायाम, प्रत्याहारादि समस्त योगसाधनों का उपदेश देती है –

शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः।
नात्युच्छ्रितं नातिनीचं चैलाजिनकुशोत्तरम् ।।

तत्रैकाग्रं मनः कृत्वा यतचित्तेन्द्रियक्रियः ।
उपविश्यासने युञ्ज्याद्योगमात्मविशुद्धये ।। (गीता- 6.11-12)

अर्थात् ध्यान के लिए कोई योगी शान्त, एकान्त एवं किसी पवित्र स्थान में जाकर सर्वप्रथम कुश का आसन बिछा दे । उस कुशासन को मृगचर्म से आच्छादित कर दे । उसके ऊपर कोई कोमल एवं पवित्र वस्त्र बिछा दे । आसन बिछाते समय यह ध्यान अवश्य रक्खे कि आसन न तो बहुत ऊँचा हो, न बहुत नीचा स्थान की पवित्रता को भी ध्यान में अवश्य रक्खे । फिर उस पवित्र भूमि पर बिछे आसन पर साधक दृढतापूर्वक शान्त मन से बैठ जाय और मन, इन्द्रियों तथा कर्मों को वश में करते हुए तथा मन को एक बिन्दु पर स्थिर करके हृदय को शुद्ध करने के लिए योगाभ्यास करे ।

गीता में ध्यान की प्रक्रिया निरूपित करते हुए आगे कहा गया है । ध्यान करने वाले व्यक्ति को चाहिए कि वह अपने शरीर, गर्दन तथा सिर को सीधा रखे । फिर नाक के अगले सिरे पर दृष्टि लगाये । इस तरह यह अविचलित तथा दमित मन से, भयरहित विषयी जीवन से पूर्णतया मुक्त होकर अपने हृदय में ईश्वरचिन्तन करे और ईश्वर को ही अपना चरम लक्ष्य बना ले फिर उसका ध्यानयोग निश्चय ही सुदृढ होकर मुक्ति का साधन बन जायेगा –

समं कायशिरोग्रीवं धारयन्नचलं स्थिरः ।
सम्प्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं दिशश्चानवलोकयन् ।।

प्रशान्तात्मा विगतभीर्ब्रह्मचारिव्रते स्थितः ।
मनः संयम्य मच्चित्तो युक्त आसीत मत्परः ।। (गीता- 6.13-14)

गीता के अनुसार ध्यानयोग का उपयोग एकाग्र चित्त से सर्वत्र विद्यमान सर्वव्यापक भगवान् के भजन करने में है । इस सन्दर्भ में भगवान् श्रीकृष्ण का कथन है कि जो उन्हें सर्वत्र देखता है और

सब कुछ उनमें देखता है, उसके लिए न तो भगवान् कभी अदृश्य होते हैं और न ही भगवान् से वह दूर होता है –

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति ।। (गीता- 6.30)

गीता के अनुसार ध्यानरत योगी दो प्रकार के होते हैं – युक्त और युक्ततम ।

1. **युक्त** : ज्ञान एवं तज्जन्य अनुभूति सन्तुष्टात्मा, मिट्टी, पत्थर और सोने को एक तरह समझने वाला, जितेन्द्रिय से और विकाररहित योगी 'युक्त'योगी कहलाता है। यथा –

ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा कूटस्थो विजितेन्द्रियः।
युक्त इत्युच्यते योगी समलोष्टाश्मकाञ्चनः।। (गीता- 6.8)

2. **युक्ततम :** युक्त योगियों में भी जो आत्मनिष्ठभाव से ईश्वर में आत्मलीन होकर सतत श्रद्धाभाव से ध्यानमग्न रहता है, वह 'युक्ततम' योगी कहलाता है । यथा –

योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना।
श्रद्धावान्भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः ।। (गीता- 6. 47)

भगवान् श्रीकृष्ण का स्वयं का कथन है – 'जो मुझे जिस प्रकार भजते हैं, मैं भी उन्हें वैसे ही भजता हूँ अर्थात् स्वीकार करता हूँ। मनुष्य सब प्रकार से मेरे मार्ग का ही अनुसरण करते हैं' –

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।
मम वर्त्मानुवर्त्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः ।। (गीता- 4.11)

निष्कर्षतः गीता के ध्यानयोग का तात्पर्य ध्यान और भक्ति के सामञ्जस्य से है। उसके अभाव में केवल शारीरिक व्यायामरूप ध्यानयोग से ईश्वर की प्राप्ति असम्भव है।

2.4.5 समन्वयात्मक दृष्टिकोण

श्रीमद्भगवद्गीता सर्वशास्त्रमयी है। यह अपने अनुपम दार्शनिक चिन्तन और सशक्त वैचारिक विशेषताओं के कारण सनातन धर्म, अध्यात्म और दर्शन का अद्वितीय प्रतिनिधि-ग्रन्थ है। गीता सभी सिद्धान्तों के समन्वय का अनुपम उदाहरण है। इसमें वर्णित प्रत्येक चिन्तन एक-एक दर्शन या दृष्टिकोण का प्रतिनिधित्व करता है। वे एक-दूसरे के अवरोधक नहीं अपितु प्रतिपूरक हैं। गीता में जहाँ एक ओर निर्गुण और सगुण ब्रह्म है तो दूसरी ओर साङ्ख्यदर्शन का प्रकृतिवाद ; साथ ही एक ओर जहाँ प्राचीन उपनिषदों का ब्रह्मवाद है तो दूसरी ओर अर्वाचीन उपनिषदों का ईश्वरवाद। इतना ही नहीं ; गीता में ज्ञान, कर्म और भक्ति तीनों योगों की त्रिवेणी है। ज्ञान, कर्म और भक्ति एक-दूसरे के पूरक हैं। ज्ञान शक्ति का, कर्म भुक्ति का और भक्ति मुक्ति का साधन है। निश्चित रूप से मानव-जीवन को सुनिश्चित लक्ष्य तक पहुँचाने में गीता की असाधारण भूमिका है। इसका प्रमुख कारण उसका वह समन्वयात्मक दृष्टिकोण है, जो व्यक्ति के साधना मार्ग को प्रशस्त करता है। जिससे साधक को सहज अपने लक्ष्य की सिद्धि प्राप्त होती है।

अभ्यास प्रश्न : 2

1. 'गीता मनुष्य को अनासक्त भाव से कर्म करने की प्रेरणा देती है'– यह कथन है –
   क. सत्य
   ख. असत्य
2. गीता के अनुसार प्रत्येक 'कर्म' के कितने कारण होते हैं ?
   क. चार
   ख. तीन
   ग. सात
   घ. पाँच
3. गीता के अनुसार ज्ञानप्राप्ति के लिए आवश्यक उपाय हैं –
   क. प्रणिपात
   ख. परिप्रश्न
   ग. सेवाभाव
   घ. उपर्युक्त सभी
4. **'नहि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते'**– यह कथन गीता के किस अध्याय में वर्णित है ?
   क. पञ्चमाध्याय में
   ख. चतुर्थाध्याय में
   ग. षष्ठाध्याय में
   घ. एकादशाध्याय में
5. गीता में 'भक्तियोग' को कहा गया है –
   क. राजविद्या
   ख. राजगुह्य
   ग. उपर्युक्त दोनों
   घ. उपर्युक्त में से कोई नहीं
6. गीता के अनुसार ध्यानरत योगी कितने प्रकार के होते हैं –
   क. दो
   ख. चार
   ग. नौ
   घ. आठ

2.4 सारांश

गीता भारतीय दर्शन का अमूल्य रत्न है। उसका समन्वयात्मक दृष्टिकोण ही उसके असाधारण महत्त्व का कारण है। इसमें जहाँ एक ओर मानव जीवन से सम्बद्ध अध्यात्म पक्ष के अन्तर्गत मुख्यतः प्रकृति, जीव, जगत्, ब्रह्म, पुरुषोत्तम और मोक्ष का अनुपम वर्णन किया गया है वहीं दूसरी ओर व्यवहारपक्ष के अन्तर्गत कर्मयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोग का भी सुन्दर विवेचन किया गया है। इसका उपदेश किसी सम्प्रदाय-विशेष के लिए नहीं, अपितु मानवमात्र के लिए कल्याण का साधन है। परमात्मा की इच्छानुसार प्रकृति सृष्टि-निर्माण करती है। परमात्मा ही प्राणियों के जीवन का लक्ष्य है। जीव को ईश्वर का सनातन अंश है। आत्मा निर्विकार है। उसका न तो जन्म होता है और न मृत्यु । गीता की दृष्टि में व्यक्ति को निष्काम कर्मयोगी बनने का प्रयास करना चाहिए। जिससे वह अपने जीवन के परम लक्ष्य को सिद्ध कर सके।

2.5 शब्दावली

1. प्रकृति – साङ्ख्यदर्शनानुसार प्रकृति सृष्टि की उत्पत्ति का मूल कारण है। वहाँ सत्त्व, रजस् और तमस् - इन तीन गुणों की साम्यावस्था को प्रकृति कहा गया है।
2. क्षेत्र – गीता में पञ्चमहाभूत, अहङ्कार, बुद्धि, अव्यक्त, दशेन्द्रिय, मन, पञ्चतन्मात्रायें, इच्छा-द्वेष, सुख-दुःख, सङ्घात, चेतना और धैर्य – इन इकतीस तत्त्वों के समूह को ’क्षेत्र ‘कहा गया है ।
3. सत्कार्यवाद – यह साङ्ख्यदर्शन का प्रमुख सिद्धान्त है। जिसके अनुसार कार्य अपने कारण में सदैव अव्यक्त अवस्था में विद्यमान रहता है ।

2.6 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

अभ्यास प्रश्न क्र.1.

1. घ, 2. क, 3. घ, 4. घ, 5. ख, 6. क, 7. क, 8. क, 9. क, 10. क।

अभ्यास प्रश्न क्र.2.

1. क, 2. घ, 3. घ, 4. ख, 5. ग, 6. क।

2.7 सन्दर्भ ग्रन्थ

1. भगवद्गीता, शङ्कराचार्य, आनन्दगिरि, मधुसूदन सरस्वती, नीलकण्ठ, धनपतिसूरि, अभिनवगुप्त और बच्चा झा की टीकाओं सहित, निर्णयसागर बम्बई, 1936
2. भगवद्गीता (एकादशटीका सहित) – सं. शास्त्री गजानन शम्भु साधले, परिमल पब्लिकेशन, दिल्ली, 1985
3. गीतादर्शन – स्वामी अखण्डानन्द सरस्वती, सत्साहित्य प्रकाशन ट्रष्ट, वाराणसी
4. गीतारहस्य – लोकमान्य बालगंगाधर तिलक, रामचन्द्र बलवन्त तिलक, नारायण पेठ, पूणे, 1933

5. गीता प्रवचन (गीता व्याख्यानमाला) – पण्डित गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, 2006
6. गीतातत्त्वमीमांसा – डॉ. केशव राव मुसलगाँवकर, चौखम्भा संस्कृत संस्थान, वाराणसी, 2023
7. भारतीय दर्शन – आचार्य बलदेव उपाध्याय, शारदा मन्दिर, वाराणसी, 2011
8. भारतीय दर्शन – डॉ. जगदीशचन्द्र मिश्र, चौखम्भा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी, 2010
9. महाभारत का आलोचनात्मक संस्करण– प्र.सं. वि.एस. सुखटणकर, भाण्डारकर प्राच्यविद्या शोध प्रतिष्ठान, पूणे, 1966
10. शब्दकल्पद्रुम – राधाकान्तदेव बहादुर, चौखम्बा संस्कृत सीरीज, वाराणसी, विक्रम संवत् 2024
11. मीमांसादर्शन – प्रो. मण्डन मिश्र, रमेश बुक डिपो, जयपुर, 1955
12. प्रेमदर्शन-नारदभक्तिसूत्र – हनुमानप्रसाद पोद्दार, गीताप्रेस गोरखपुर, विक्रम संवत् 2077
13. शाण्डिल्य सूत्र– सं. आचार्य बलदेव उपाध्याय,सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी,1967
14. संस्कृतवाङ्मयम् – डॉ.हरिकृष्ण शास्त्री दातार , कीर्तिसौरभप्रकाशन, वाराणसी,1989
15. संस्कृत वाङ्मय का बृहद् इतिहास – वेदान्त खण्ड – प्रो. संगमलाल पाण्डेय, उत्तर प्रदेश संस्कृत संस्थान, लखनऊ, 1996
16. संस्कृत वाङ्मय का बृहद् इतिहास – आर्षकाव्य खण्ड – प्रो. भोलाशंकर व्यास, उत्तर प्रदेश संस्कृत संस्थान, लखनऊ, 2000
17. संस्कृत साहित्य का इतिहास – डॉ. उमाशङ्कर ऋषि शर्मा, चौखम्भा भारती अकादमी, वाराणसी, 2012
18. संस्कृत साहित्य तथा संस्कृति – वाचस्पति गैरोला, चौखम्भा विद्याभवन, वाराणसी, 2009
19. स्वामी रामानन्दकृत गीता का आनन्दभाष्य, अनुभवानन्दकृत गीतार्थसुधा, रघुवराचार्यकृत अर्थचन्द्रिका और वैष्णवाचार्यकृत गुह्यार्थदीपिका सहित – वेदान्ताश्रम, सिद्धपुर, (गुजरात),1965
20. History of Classical Sanskrit literature – M. Krishnamachariar, Motilal Banarasidass Publishers, Dehli 2016.
21. Vaishnavism Shaivism And Other Minor Religious Systems – Sir R.G. Bhandarkar, Indological Book House, Varanasi, 1965

2.8 बोध प्रश्न

1. भगवद्गीता में वर्णित प्रकृति के स्वरूप की समीक्षा कीजिए।
2. भगवद्गीता के अनुसार जीव के स्वरूप का विस्तृत निरूपण कीजिए।

3. भगवद्गीता के अनुसार जगत्-तत्त्व के स्वरूप का विशद विवेचन कीजिए।
4. भगवद्गीता के आलोक में ब्रह्म के स्वरूप की विस्तृत विवेचना कीजिए।
5. भगवद्गीता में वर्णित पुरुषोत्तम-तत्त्व के वैशिट्य पर प्रकाश डालिए।
6. भगवद्गीता के अनुसार कर्मयोग का सम्यक् प्रतिपादन कीजिए ।
7. भगवद्गीता के अनुसार ज्ञानयोग के स्वरूप का निरूपण कीजिए।
8. भगवद्गीता के अनुसार ध्यानयोग के स्वरूप की विवेचना कीजिए।
9. भगवद्गीता में वर्णित भक्तियोग के तात्पर्य को स्पष्ट कीजिए।

इकाई 3 श्रीमद्भगवद्गीता में दैवी और आसुरी सम्पत्ति

इकाई की रूपरेखा

3.0 उद्देश्य

श्रीमद्भगवद्गीता से सम्बद्ध इस इकाई का अध्ययन करने के उपरान्त आप –

- दैवी सम्पत्ति और आसुरी सम्पत्ति का परिचय दे सकेंगे।
- दैवी सम्पत्ति और आसुरी सम्पत्ति के परिणामों को जान सकेंगे।
- आसुरी सम्पत्ति के स्वभाव और कार्यों की व्याख्या कर सकेंगे।
- आसुरी सम्पत्ति के मूल कारणों को व्यवस्थित रूप से समझ सकेंगे।
- दैवी सम्पत्ति के प्राप्ति के मार्ग को जान सकेंगे।

3.1 प्रस्तावना

श्रीमद्भगवद्गीता के 'दैवासुरसम्पद्विभाग' नामक षोडश अध्याय में दैवी और आसुरी सम्पत्ति का

वर्णन आध्यात्मिक तथा व्यावहारिक दोनों दृष्टियों से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। प्रकाशार्थक 'दिव्' धातु से 'देव' शब्द बना है जिसका अर्थ होता है प्रकाशमान्। 'दैवी' शब्द का अर्थ देवता से सम्बद्ध, अर्थात् प्रकाशमय है। प्रकाश से आशय यहाँ ज्ञान के आलोक से है। अपनी चित्तवृत्ति को अभय, सत्त्वसंशुद्धि आदि गुणों की ओर ले जाने वाले देवता हैं। 'सम्पत्ति' का अर्थ है सामग्री, वैभव अथवा ऐश्वर्य। तदनुसार इस प्रकार 'दैवी सम्पत्ति' शब्द प्रकाशमय वैभव, ज्ञानमय सामग्री अथवा ज्ञानयुक्त ऐश्वर्य के भाव को दर्शाता है। 'असुर' शब्द अनेक धातुओं से निर्मित होता है। जिनमें प्रक्षेप या नाशार्थक 'अस्' धातु से निष्पन्न 'असुर' शब्द का अर्थ होता है – फेंकनेवाला या नाश करनेवाला। प्राणार्थक 'असु' धातु से निष्पन्न होनेवाले 'असुर' शब्द में निहित 'र' का अर्थ – रममाण रहनेवाला अर्थात् विषयों में अत्यधिक आसक्त होता है। अपनी चित्तवृत्ति को दम्भ, दर्प आदि विषय भोगों की ओर ले जाने वाले असुर कहलाते हैं। 'आसुरी' शब्द का अर्थ है असुर से सम्बन्धित। इस प्रकार 'आसुरी सम्पत्ति' नाशकारक, विषयभोगात्मक अथवा अज्ञानमय साधनसामग्री का प्रतीक है।

मनुष्य जीवन का चरम लक्ष्य मोक्ष की प्राप्ति है। गीता के प्राचीन भाष्यकार तथा व्याख्याकारों ने एक मत से दैवी सम्पत्ति के अनुष्ठान अथवा उसकी प्राप्ति को मोक्ष का उपाय माना है। मोक्ष की इच्छा रखने वाले व्यक्ति को दैवी सम्पत्ति प्राप्त करने का निरन्तर प्रयास करना चाहिए, तभी दैवी सम्पत्ति से सम्पन्न होकर वह मोक्ष का अधिकारी बन सकता है। जिस प्रकार मोक्ष प्राप्ति में दैवी सम्पत्ति साधक है, वैसे ही आसुरी सम्पत्ति मोक्ष में बाधक है। अतः साधक साधनों के साथ ही बाधक साधनों को भी अवश्य ही जान लेना चाहिए। मोक्षार्थी के लिए आसुरी सम्पत्ति से बचना भी उतना ही आवश्यक है जितना कि दैवी सम्पत्ति का ग्रहण करना। यदि साधक व्यक्ति मोक्ष की विघातक आसुरी सम्पत्ति से बचता चला जाय तो उसमें दैवी सम्पत्ति के लक्षण अपने आप ही प्रकट होने लग जाते हैं। यह परम आवश्यक है कि जिस आसुरी सम्पत्ति का त्याग करना अभीष्ट है हमे उसके स्वरूप का सुस्पष्ट ज्ञान हो। अनेक अवसरों पर मनुष्य जिस बात को दैवी सम्पत्ति समझ कर अपने व्यवहार में ग्रहण कर लेता है वही आगे चलकर परिणाम में आसुरी सम्पत्ति प्रमाणित होने लगती है। जब मनुष्य को उसके यथार्थ स्वरूप का ज्ञान होता है तब वह उससे मुक्त होना चाहता है। परन्तु उस दशा में वह आसुरी सम्पत्ति उसे पूर्ण रूप से अपने प्रभाव में इस प्रकार ले लेती है कि मनुष्य चाहते हुए भी उससे स्वयं को मुक्त नहीं करा पाता। आसुरी सम्पत्ति के प्रभाव में आने का कारण उसका स्वरूप विषयक अज्ञान ही है। इसीलिए दैवी सम्पत्ति के स्वरूप ज्ञान से भी अधिक आवश्यक आसुरी सम्पत्ति का पूर्ण ज्ञान होना है जिससे कि उसके प्रभाव से सर्वथा बचा जा सके। इसीलिए भगवान् श्रीकृष्ण ने षोडश अध्याय में दैवी सम्पत्ति का वर्णन केवल प्रारम्भिक तीन श्लोकों में ही पूर्ण कर दिया है और आसुरी सम्पत्ति का वर्णन अध्याय की समाप्ति पर्यन्त किया है।

3.2 दैवी सम्पत्ति का स्वरूप

गीता के अनुसार दैवी सम्पत्ति मोक्ष प्राप्ति का साधन है। दैवी सम्पत्तिसम्पन्न कर्मयोगी व्यक्ति में अभय, अन्तःकरणशुद्धि आदि छब्बीस गुण विद्यमान होते हैं। यथा –

अभयं सत्त्वसंशुद्धिर्ज्ञानयोगव्यवस्थितिः ।
दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम् ॥

अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्यागः शान्तिरपैशुनम् ।
दया भूतेष्वलोलुप्त्वं मार्दवं हीरचापलम् ॥

तेजः क्षमा धृतिः शौचमद्रोहो नातिमानिता ।
भवन्ति सम्पदं दैवीमभिजातस्य भारत ! ॥ (गीता-16.1-3)

1. **अभय :** दैवी सम्पत्ति के गुणों में सर्वप्रथम स्थान अभय को दिया गया है। अपनी इष्ट वस्तु के वियोग और अभीष्ट वस्तु की उपलब्धि न होने से प्राणिमात्र को कष्ट पहुँचता है, उस दुःख का जो कारण है उसे देखकर भय होता है, उससे निवृत्त हो जाना ही 'अभय' कहलाता है। भय तब उत्पन्न होता है जब कोई ऐसा कार्य हो जाय जिस कार्य के औचित्य पर सन्देह हो कि मेरे द्वारा किया गया यह कार्य उचित है अथवा अनुचित। प्राणिमात्र का यह सामान्य स्वभाव है कि भय के कारण के विद्यमान होने पर वे उसके प्रभाव में आ जाते हैं। परन्तु दैवी सम्पत्ति वाले प्राणी आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक आदि भय के कारणों के विद्यमान होने पर भी कभी भयभीत नहीं होते। वह अपनी उपस्थिति से अन्य प्राणियों को भी निर्भय बना देते हैं। प्राचीन साहित्य में जिन तत्त्वदर्शी ऋषियों के तपोवनों और आश्रमों का वर्णन प्राप्त होता है, वे दैवीसम्पत्ति सम्पन्नता के जीवन्त उदाहरण हैं, वहाँ परस्पर विरुद्ध प्रकृतिवाले गो, व्याघ्र आदि प्राणियों में भी परस्पर भय नहीं रहता था।

2. **सत्वसंशुद्धि :** सत्वसंशुद्धि से आशय अन्तःकरण की शुद्धि से है। अन्तःकरण के शुद्ध न होने पर बड़े बड़े अनाचार होने लगते हैं। मनुष्य दूसरों से असत्य बोलता है, उनको धोखा देता है और अपने दम्भ आदि का प्रदर्शन करता है। किन्तु विशुद्ध अन्तःकरण वाला व्यक्ति कभी ऐसा व्यवहार नहीं करता। अतः दैवी सम्पत्ति सम्पन्न मनुष्य में सत्वसंशुद्धि का गुण अनिवार्य माना जाता है।

3. **ज्ञानयोगव्यवस्थिति :** तत्त्वज्ञान के लिएध्यानयोग में निरन्तर सुदृढ स्थित होना ही 'ज्ञानयोगव्यवस्थिति' है। अर्थात् ज्ञान और योग में सर्वदा स्वयं को लगाये रखना ही 'ज्ञानयोगव्यवस्थिति' कहलाती है।

4. **दान :** परोपकार की भावना से अपने पास जो अन्न आदि है उसका यथाशक्ति वितरण करना दान है। परन्तु सभी प्रकार के दान दान की श्रेणी में नहीं आते। पात्र-अपात्र का विचार करते हुए अपने द्वारा न्यायपूर्वक अर्जित द्रव्य का सत्पात्र को देना ही 'दान' कहलाने योग्य है।

5. दम **:** विषयोन्मुख इन्द्रियों को नियन्त्रित करना ही 'दम' कहलाता है। इन्द्रियाँ अपने विषयों के आकर्षण में चित्त को ऐसा बाँध सा देती हैं कि उन हेय विषयों के पीछे पीछे चित्त भटकता रहता है। चित्त की इस चञ्चलता को दम से रोकना सम्भव होता है। अतः दैवी सम्पत्ति शाली व्यक्ति के लिए इन्द्रियों का दमन अनिवार्य है।

6. **यज्ञ :** सृष्टि क्रम को निरन्तर निर्बाध रूप से परिचालित करने वाली प्रकृति सिद्ध वैज्ञानिक प्रक्रिया का नाम 'यज्ञ' है। वेदविहित अग्निहोत्रादि तथा स्मृतियों में वर्णित विष्णु, रुद्र, देवी आदि सभी यज्ञों के प्रकार हैं। प्रकृति के उपकारक अंश को अपनी अनुकूलता के लिए आकृष्ट कर लेना ही मानवीय यज्ञों का मुख्य प्रयोजन है। बिना किसी फल की अभिलाषा के भगवत्प्रीत्यर्थ सभी प्राणियों के हित की कामना से जो यज्ञ विधिपूर्वक

किये जाते हैं वे ही दैवी सम्पत्ति के अन्तर्गत आते हैं।

7. **स्वाध्याय :** वेदों का अध्ययन में अपनी निष्ठा रखना ही 'स्वाध्याय' है।

8. **तप :** कष्टों को सहन करना 'तप' कहलाता है। अपने शरीर को कष्ट सहने योग्य बनाना ही तप का प्रमुख उद्देश्य है। भारतीय संस्कृति में कृच्छ्र, चान्द्रायण, एकादशी व्रत आदि के रूप में अनेक प्रकार के तप माने गये हैं।

9. **ऋजुता:** ऋजुता का अर्थ है सरलता। आर्जव भी इसी का पर्याय है । ऋजुता से आशय अन्तःकरण की सरलता अर्थात् निष्कपटव्यवहार से है। व्याख्याकारों ने मन, वचन और कर्म की एकरूपता को ऋजुता कहा है।

10. **अहिंसा:** प्राणियों को कष्ट देना 'हिंसा' कहलाता है। हिंसा का क्षेत्र अत्यन्त विस्तृत है; आशय यह है कि मन, वचन अथवा शरीर से किसी भी प्रकार किसी भी प्राणी को पीड़ा पहुँचाना 'हिंसा' है। हिंसा का सर्वथा अभाव 'अहिंसा' है। अर्थात् निष्कारण मन, वचन और कर्म से किसी को कष्ट न देना 'अहिंसा' कहलाता है।

11. **सत्य :** जो वस्तु वास्तव में जैसी हो, उसको उसके यथार्थ स्वरूप में प्रकाशित कर देना ही 'सत्य' है। वस्तुत: मन, वाणी और कर्म की एकरूपता रहने पर ही सत्य का परिपालन सम्भव है। यद्यपि सत्य सभी को ज्ञात रहता है, परन्तु उसे आचरण में उतारना बहुत ही कठिन होता है। दैवी सम्पत्तिशाली व्यक्ति के लिए व्यवहारिक रूप में सत्यनिष्ठ होना आवश्यक है।

12. **अक्रोध :** अक्रोध का अर्थ है दूसरे के द्वारा पीड़ित होने पर भी अपने चित्त को विचलित न करके शान्त रखना। आशय यह है कि क्रोध आने पर मनुष्य दूसरों को पीड़ित करने लगता है, इस प्रकार के विकार को हटा देना अक्रोध है।

13. **त्याग :** कार्यों में अपने कर्तृत्त्व के अभिमान को छोड़ देना 'त्याग' कहलाता है। इसी प्रकार व्याख्याकारों ने आत्महित के प्रतिकूल जो वस्तुएं हैं उनको दूर कर देने को भी त्याग माना है।

14. **शान्ति :** इन्द्रियों का अपने विषयों की ओर आकर्षण स्वाभाविक है। उससे उन्हें रोकने के लिए मन की चञ्चलता को नियन्त्रित करना आवश्यक है। इस प्रकार मन की चञ्चलता का अभाव ही शान्ति है।

15. **अपैशुन :** चुगलखोरी की आदत पिशुनता कहलाती है। इसे बहुत बड़ा अपराध माना गया है। इस प्रकार की पिशुनता से दूर रहना 'अपैशुन' कहा जाता है। तात्पर्य यह है कि किसी के सामने किसी की भी निन्दादि न करना अपैशुन या अपिशुनता है।

16. दया : प्राणियों के दुःखों के निवारण के लिए प्रयत्न करना, उन पर कृपा करना दया कहलाता है।

17. **अलोलुप्त्व :** अपने विषयों के समीप आने पर इन्द्रियों का चञ्चल हो जाना ही लोलुपता कहलाता है। ऐसी परिस्थिति में भी इन्द्रियों में विकार न उत्पन्न होने देना ही अलोलुप्त्व है। इस प्रकार इन्द्रियों का विषयों से निस्पृह रहने को अलोलुप्त्व कहा जाता है। जिससे इन्द्रियों का विषयों के साथ संयोग होने पर भी वे उनमें आसक्त नहीं होती।

18. **मार्दव :** मार्दव या मृदुता से आशय मन की कोमलता से है। स्वभाव में मृदुता रहने पर मनुष्य को सज्जन व्यक्तियों का स्नेह प्राप्त होता है।

19. ह्री : लोक और शास्त्र से विरुद्ध कार्य करने में लज्जा का अनुभव होना 'ह्री' कहलाता है।

20. अचापल: बिना किसी प्रयोजन के व्यर्थ ही चेष्टाओं का आचरण करना चञ्चलता या चापल है। इसका अभाव ही अचापल कहलाता है।

21. तेज : तेज या तेजस्विता यह श्रेष्ठ पुरुषों में निहित उस शक्ति अथवा प्रभाव का नाम है, जिसके प्रभाव से उनके सामने दुष्ट प्रकृति के मनुष्य भी नतमस्तक होकर अन्याय के आचरण से दूर हो जाते हैं।

22. क्षमा: क्षमा का तात्पर्य शरणागत के अपराध को भूल जाना या क्षमा करना है। मन में क्षमा का गुण विद्यमान होने पर अपराध करने वाले व्यक्ति के प्रति किसी प्रकार का बुराभाव उत्पन्न नहीं होता।

23. धृति: धृति का अर्थ धैर्य है। यह बड़ी से बड़ी विपत्ति में व्यक्ति को कर्त्तव्य का निरन्तर बोध कराती है। जिससे अवसादग्रस्त देह और इन्द्रियों को कष्ट का अनुभव नहीं होता।

24. शौच : शौच का अर्थ शुचिता या पवित्रता है। वह दो प्रकार का माना गया है – आभ्यन्तर और बाह्य।

25. अद्रोह : अद्रोह से आशय द्वेषबुद्धि के अभाव से है। जिससे व्यक्ति के मन में दूसरों को नष्ट करने का भाव जागृत नहीं होता।

26. अनतिमानिता : अनतिमानिता से तात्पर्य स्वयं में श्रेष्ठता के अभिमान के अभाव से है।

3.3 आसुरी सम्पत्ति के लक्षण

गीता के अनुसार आसुरी सम्पत्ति दैवी सम्पत्ति के विपरीत होती है। अतः दैवी सम्पत्ति से विपरीत लक्षण आसुरी सम्पत्ति के हैं। ये सब आसुरी प्रवृत्ति के मनुष्यों के मनोभाव हैं । उनकी चित्तवृत्ति दम्भ, दर्प, अत्यन्त मान, क्रोध, कठोरता और अज्ञान से परिपूर्ण रहती है। यथा –

दम्भो दर्पोऽभिमानश्च क्रोधः पारुष्यमेव च।
अज्ञानं चाभिजातस्य पार्थ ! सम्पदमासुरीम्॥ (गीता - 16.4)

असुर मनोभावों के स्वरूप का विशद विवेचन इसी प्रसङ्ग में आगे किया गया है। ये मनोवृत्तियाँ ही विभिन्न प्रकार के क्रियाकलापों से समस्त संसार को उद्विग्न करती हैं।

3.4 दैवी तथा आसुरी सम्पत्ति का परिणाम

गीता के अनुसार दैवी सम्पत्ति मोक्षकारक और आसुरी सम्पत्ति बन्धन का कारण होती है । यथा –

दैवी सम्पद्विमोक्षाय निबन्धायासुरी मता।
मा शुचः सम्पदं दैवीमभिजातोऽसि पाण्डव !॥ (गीता -16.5)

दैवी सम्पत्ति का आश्रय लेकर प्राणी बन्धनों से मुक्त होता है और आसुरी सम्पत्ति का आश्रय लेकर अधिकाधिकबन्धनों में बँधता ही चला जाता है। मनुष्य के त्रिगुणात्मक स्वभाव में ये दोनों ही सम्पत्तियाँ न्यूनाधिक मात्रा में जन्म से ही रहती हैं। उनमें से आसुरी दोषों का नाशकर दैवी गुणों का परिपोष ही मानव-जीवन का श्रेष्ठ कर्त्तव्य है। इससे यह स्पष्ट है कि दैवी सम्पत्ति

ही अभ्युदय की पूर्णता है। इसके विपरीत आसुरी सम्पत्ति मनुष्य के नाश की सामग्री है। उसमें निहित दोषों के योग से अवनति और अन्त में निश्चित रूप से अधःपतन होता है। अतः दैवी सम्पत्ति को सम्पादन करने योग्य और आसुरी सम्पत्ति को त्याग करने योग्य माना गया है।

3.5 आसुरी सम्पत्ति का स्वभाव

गीता के अनुसार संसार में प्राणियों की दो ही श्रेणियाँ हैं – दैवी तथा आसुरी। यथा –

भूतसर्गौ लोकेऽस्मिन् दैव आसुर एव च। (गीता - 16.6)

आसुरी स्वभाव के मनुष्य प्रवृत्ति और निवृत्ति को नहीं जानते उनमें न पवित्रता होती है, न सदाचार होता है और न ही सत्य का व्यवहार होता है। यथा –

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च जना न विदुरासुराः।
न शौचं नापि चाऽऽचारो न सत्यं तेषु विद्यते।। (गीता - 16.7)

प्रवृत्ति और निवृत्ति से आशय कर्त्तव्याकर्त्तव्य या विधि-निषेध से है। इस प्रकार शास्त्र के द्वारा उपदिष्ट कार्यों का आचरण करना 'प्रवृत्ति' तथा शास्त्रों में जिन कार्यों को निषिद्ध कहा गया है, उनसे विरत हो जाना 'निवृत्ति' है । आसुर भाव वाले मनुष्य अज्ञान के कारण या तो शास्त्रों को जानते ही नहीं, यदि जानते भी हों तो आसुरी प्रवृत्ति के वशीभूत होकर शास्त्रबोधित कर्त्तव्याकर्त्तव्य की अवहेलना करते हैं। उनमें अज्ञानजन्य स्वभाव के कारण आचार अर्थात् शुद्धि और अशुद्धि का कोई विचार नहीं रहता । वे स्वेच्छाचारी होते हैं अतः उनमें सत्य का भी अभाव होता है। मन, वाणी और कर्म का एकरूप होना ही 'सत्य' कहलाता है, परन्तु आसुर स्वभाववाले मनुष्यों के मन में कुछ, वाणी में कुछ तथा आचरण कुछ और ही होता है।

3.6 आसुरी सम्पत्ति में जगत् का स्वरूप

गीता के अनुसार आसुरी स्वभाव के मनुष्य संसार को असत्य, निराधार, ईश्वर के अस्तित्व से रहित, अपरस्परसम्भूत तथा काममूलक मानते हैं। उनकी दृष्टि में केवल उपभोग ही जगत् का प्रयोजन है। यथा –

असत्यमप्रतिष्ठं ते जगदाहुरनीश्वरम्।
अपरस्परसम्भूतं किमन्यत्कामहैतुकम्।। (गीता -16.8)

तात्पर्य यह है कि आसुरभाव वाले व्यक्ति जगत् को असत्य कहकर ब्रह्म की सत्ता अथवा उसके दृश्यमान जगत् से किसी भी प्रकार के सम्बन्ध को अस्वीकार कर देते हैं। वे जगत् को अप्रतिष्ठ अर्थात् निराधार कहकर ब्रह्म या प्रकृति को जगत् का कारण या आधार भी नहीं मानते हैं। साथ ही वे किसी ऐसी बात पर विश्वास नहीं करते, जो प्रत्यक्ष न हो। अतः वे ईश्वर की सत्ता को भी अस्वीकार कर देते हैं। व्याख्याकारों ने 'अपरस्परसम्भूत' शब्द का आशय स्त्री-पुरुष के संसर्ग से उत्पन्न तथा कार्यकारणसम्बन्ध के बिना अकस्मात् उत्पन्न माना है। इन दोनों आशयों से यह स्पष्ट होता है कि प्रत्यक्षवादी आसुरी प्रवृत्ति के लोग जगत् की उत्पत्ति का कारण ढूँढने के लिए ब्रह्म आदि तत्त्वों के अन्वेषण करने को व्यर्थ मानते हैं और काम वासना को ही इस जगत् का मूल मानते हैं।

3.7 असुरों के उपद्रवी कार्य

आसुरी सम्पत्ति वालों की दृष्टि में यह जगत् असत्य, अप्रतिष्ठ और काममूलक है। इसलिए उनमें ईश्वरीय सत्ता का कोई भय ही नहीं रहता है। उनकी शक्ति ही उनका परम आधार है और वे उसे निरन्तर बढ़ाने में लग जाते हैं। उनकी आत्मा नष्ट हो चुकी होती है। उनकी बुद्धि भी विवेकशून्य हो जाती है। वे संसार को अपने वश में करने के लिए सदैव हिंसा का आश्रय लेते हैं। अतः वे संसार के घोर शत्रु बन जाते हैं और उसके नाश की योजना बनाने लगते हैं। यथा–

एतां दृष्टिमवष्टभ्य नष्टात्मानोऽल्पबुद्धयः ।
प्रभवन्त्युग्रकर्माणः क्षयाय जगतोऽहिताः ॥ (गीता - 16.9)

आसुरी प्रवृत्ति के मनुष्य मोह के कारण कभी पूर्ण न होनेवाली अपनी विषय वासनाओं को तृप्त करने के लिएदम्भ, मान और मद से युक्त होकर अनेक प्रकार के अशुद्ध आचरण करते हैं। वे अपनी मदान्धता में अन्यलोगों को तुच्छ समझते हैं। ऐसे लोग मन और शरीर से भी भ्रष्ट होते हैं । यथा –

काममाश्रित्य दुष्पूरं दम्भमानमदान्विताः ।
मोहाद्गृहीत्वाऽसद्ग्राहान् प्रवर्तन्तेऽशुचिव्रताः ॥ (गीता - 16.10)

प्रत्येक प्राणी का जीवन एक निश्चित समयावधि के लिए होता है। कोई भी इस अस्थिर और क्षणभङ्गुर संसार में यह नहीं जानता कि आज इस क्षण बाद क्या होगा ? और कल क्या होगा ? इतना अस्थिर जीवन जीते हुए भी आसुरी सम्पत्ति के मनुष्य मृत्यु पर्यन्त की चिन्ता करते रहते हैं, उनकी चिन्ता भी अपने सुख और उपभोग की ही होती है और इसी में वे अपना सम्पूर्ण जीवन व्यतीत कर देते हैं। यथा –

चिन्तामपरिमेयां च प्रलयान्तामुपाश्रिताः ।
कामोपभोगपरमा एतावदिति निश्चिताः ॥ (गीता - 16.11)

विषयवासनाओं के अधीन रहनेवाले ये आसुरी प्रवृत्ति के लोग सैकडों आशा-पाशों से बँधे हुए और केवल काम-क्रोध में निष्ठा रखनेवाले होते हैं । वे अपने कामभोग के लिए निरन्तर अन्यायपूर्वक द्रव्य एकत्रित करते हैं । न्याय का उनके जीवन में कोई स्थान ही नहीं होता । यथा –

आशापाशशतैर्बद्धाः कामक्रोधपरायणाः ।
कामभोगार्थमन्यायेनार्थसञ्चयान् ॥ (गीता – 16.12)

तात्पर्य यह है कि संसार में आशा बहुत बड़ा बन्धन है। आसुरी सम्पत्ति के व्यक्ति अनेक आशा-पाशों में जकड़े रहते हैं। काम और क्रोध ही उनके परम आश्रय होते हैं। वे सदा इनमें निमग्न रहते हैं, कभी भी इनसे बाहर आते। अपनी कामनाओं की पूर्ति के लिए उन्हें द्रव्य की आवश्यकता होती है। इसलिए वे सदैव अनैतिक मार्ग से अर्थसंचय करते रहने की इच्छा रखते हैं।

3.8 असुरों का अहङ्कार

गीता के अनुसार आसुर भाव वाले मनुष्यों की प्रवृत्ति स्वाभाविक रूप से अन्याययुक्त कर्मों में रहती है। वे अपने सामने सम्पूर्ण संसार को तुच्छ समझते हैं। उन्हें जिस वस्तु की कामना होती है उसे प्राप्त करने के लिए वे किसी भी अनैतिक प्रकार के साधन का भी प्रयोग करने से नहीं चूकते। उनमें अहङ्कार की मात्रा अत्यधिक होती है और इस अहङ्कार के कारण वे किसी को किसी भी क्षेत्र में अपने समान देखना नहीं चाहते। धन-सम्पत्ति में, वे अपने समान किसी और को धनसम्पन्न नहीं रहने देना चाहते। यथा –

इदमद्य मया लब्धमिमं प्राप्स्ये मनोरथम्।
इदमस्तीदमपि मे भविष्यति पुनर्धनम्॥ (गीता-16.13)

अर्थात् उनके मन में सदैव यही भाव रहता है कि आज मैंने यह प्राप्त किया, अब इस मनोकामना या इच्छा को पूर्ण करूँगा, मेरे पास यह धन तो है ही और फिर वह धन भी मेरा होगा।

आसुरी प्रवृत्ति के लोगों का मद इतना अधिक बढ़ जाता है कि वह अपने से अधिक किसी की सुनना ही नहीं चाहते, यहाँ तक कि वे ईश्वर की सत्ता को भी नकारते हैं और अपने अतिरिक्त अन्य किसी को ईश्वर नहीं मानते। यथा –

असौ मया हतः इदमद्य मया शत्रुर्हनिष्ये चापरानपि ।
ईश्वरोऽहमहं भोगी सिद्धोऽहं बलवान् सुखी ॥ (गीता-16.14)

अर्थात् उनके मन में यही विचार रहता है कि मैंने इस शत्रु को मार दिया, अन्य शत्रुओं को भी मैं मार डालूँगा। मैं ही ईश्वर हूँ, सब वस्तुओं का भोग करने वाला मैं ही हूँ, मैं सिद्ध हूँ (क्योंकि सभी सिद्धियाँ मुझे प्राप्त हैं) । मैं केवल साधारण मनुष्य ही नहीं, बल्कि बहुत बलवान् हूँ और मैं ही सुखी भी हूँ ।

आसुरी प्रवृत्ति के मनुष्य सदैव अज्ञान से मोहित रहते हैं। वे सोचते हैं कि वे धनी हैं, कुलीन हैं, उनके समान और कौन है ? वे दूसरों का अपमान करने के लिए यज्ञ करेंगे, दान देंगे और अत्यधिक आनन्द प्राप्त करेंगे। यथा –

आढ्योऽभिजनवानस्मि कोऽन्योऽस्ति सदृशो मया ।
यक्ष्ये दास्यामि मोदिष्य इत्यज्ञानविमोहिताः ॥ (गीता-16.15)

यहाँ एक तथ्य ध्यान देने योग्य है कि यज्ञ करना और दान देना तो शास्त्र विहित है, और शास्त्र विहित कर्मों का अनुष्ठान तो दैवीसम्पत्ति के अन्तर्गत आता है, फिर इन बातों का समावेश आसुरी सम्पत्ति में किस उद्देश्य से किया गया ? यह शङ्का होना स्वाभाविक है। इसका उत्तर यह है कि दैवीसम्पत्ति में यज्ञ, दान आदि कर्मों का अनुष्ठान करते हुए "यह कार्य मैं कर रहा हूँ", "यह दान मैं दे रहा हूँ" यह अहङ्कार भावना नहीं रहती और परमात्मा के द्वारा ही यह सब सम्भव हो रहा है, मैं तो निमित्त मात्र हूँ, यही भाव विद्यमान रहता है। इसके विपरीत आसुरी सम्पत्ति में "मैं यज्ञ करूँगा", "मैं दान दूँगा" ऐसी अहङ्कार-भावना उनके प्रत्येक कार्य में रहती है। इस प्रकार वे अनेक प्रकार की अविवेक भावना से युक्त होते हैं।

बिना प्रारब्ध और ईश्वर की सहायता के हम अपने आप ही सब कुछ कर सकते हैं, ऐसा मानकर

आसुरी प्रवृत्ति के लोग अनेक प्रकार की अभिलाषाओं से भ्रमित चित्तवाले, मोहरूपी जाल में फँसे हुए और विषयोपभोग में आसक्त हुए अपवित्र नरक में गिरते हैं अर्थात् अधोगति को प्राप्त होते हैं। यथा –

अनेकचित्तविभ्रान्ता मोहजालसमावृताः ।
प्रसक्ताः कामभोगेषु पतन्ति नरकेऽशुचौ ॥ (गीता-16.16)

तात्पर्य यह है कि आसुरी लोगों की अनेक प्रकार की अभिलाषाओं के कारण उनकी चित्तवृत्ति कभी स्थिर नहीं हो पाती। इसीलिए वे मोह जाल में फँस जाते हैं और उससे उनकी गति नरक की ओर ही हो जाती है। वे अपने जीवन को नरक के समान ही भोगते हैं। उनका अन्त भी नरक के समान ही दुःखमय होता है।

आसुरी स्वभाव के लोग 'आत्मसम्भावित' होते हैं – अर्थात् कोई उन्हें मानें या न मानें परन्तु वे स्वयं अपने को बहुत बड़ा मानते हैं और स्वयं ही अपने गुण-गान किया करते हैं। वे 'स्तब्ध' अर्थात् विनयरहित होते हैं। स्तब्ध से तात्पर्य यह है कि वे पूज्यजनों के आगमन पर शिष्टाचार का पालन करते हुए प्रणाम उन्हें आदि भी नहीं करते। देवता के समक्ष जाने पर भी उनमें विनीत भाव नहीं होता। वस्तुतः उनके किसी भी व्यवहार से नम्रता प्रदर्शित नहीं होती। वे धन और मान के मद से युक्त होते हैं। वे यज्ञ भी करते हैं, परन्तु यज्ञानुष्ठान में उनकी कोई लोककल्याण की भावना नहीं होती। यज्ञ आदि के द्वारा भी वे अपने दम्भ को ही प्रकट करते हैं और नाम मात्र के विधिविहीन यज्ञों का अनुष्ठान करते हैं। विधिपूर्वक यज्ञ न करने के कारण यज्ञों का कोई फल तो उन्हें प्राप्त नहीं होता, बल्कि विपरीत फल को ही वे प्राप्त करते हैं। यथा –

आत्मसम्भाविताः स्तब्धा धनमानमदान्विताः ।
यजन्ते नामयज्ञैस्ते दम्भेनाविधिपूर्वकम् ॥ (गीता-16.17)

गीता के अनुसार अविद्याग्रस्त आसुरी सम्पत्तिवाले लोगों का कभी भी उद्धार नहीं होता, क्योंकि वे सबका उद्धार करने वाले भगवान् से ही द्वेष रखते हैं। अतः वे जन्म जन्मान्तर तक सदैव अशुभ योनियों में ही रहते हैं। यथा –

अहङ्कारं बलं दर्पं कामं क्रोधं च संश्रिताः ।
मामात्मपरदेहेषु प्रद्विषन्तोऽभ्यसूयकाः ॥

तानहं द्विषतः क्रूरान्संसारेषु नराधमान् ।
क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु ॥

आसुरीं योनिमापन्ना मूढा जन्मनि जन्मनि ।
मम प्राप्यैव कौन्तेय ! ततो यान्त्यधमां गतिम् ॥ (गीता-16.18-20)

अर्थात् आसुर भावयुक्त ये लोग अहङ्कारी, बलवान् , दर्प से युक्त , कामनाओं में संलिप्त, क्रोधादि दोषों में निमग्न्न और मत्सरी स्वभाववाले होते हैं। अतः अपने और दूसरों के शरीर में स्थित ईश्वर से द्वेष करते हैं। ऐसे पापादि दोषों से युक्त, ईश्वर से द्वेष करने वाले, क्रूर प्रकृति वाले, नराधमों को निरन्तर आसुरी योनियों अर्थात् हिंसक पशुओं की योनियों में ही जन्म लेना पड़ता है। वे मूढ़ जन्म जन्मान्तरों तक आसुरी योनियों में भटकते हुए ईश्वर को प्राप्त किये बिना अधोगति को प्राप्त होते हैं और संसार चक्र से कभी भी मुक्त नहीं हो पाते ।

गीता में दैवी और आसुरीसम्पत्ति के जो स्वभाव वर्णित किए गए हैं उनके अनेक उदाहरण प्राचीन साहित्य में हमें प्राप्त होते हैं। यही नहीं यदि हम हमारे जीवन को देखें तो यह अनुभव करेंगे कि जाने या अनजाने में हम इन दैवी और आसुरी सम्पत्तियों के लक्षणों से ही गुजरते हैं। इस प्रकार हमारे भीतर भी निरन्तर देवासुरसङ्ग्राम चल रहा है।

3.9 आसुरी सम्पत्ति के मूल कारण

गीता के अनुसार आसुरी सम्पत्ति के काम, क्रोध और लोभ ये तीन मूल कारण हैं। ये ही तीनों नरक के द्वार हैं तथा आत्मा के पतन के कारण भी हैं। ये ही ऐसी मनोवृत्तियां हैं जिन पर विजय प्राप्त करना अत्यन्त कठिन है। अतः इन तीनों दोषों का त्याग करना चाहिए। यथा –

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः ।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत् ।। (गीता-16.21)

दैवी तथा आसुरी प्रवृत्तियाँ प्रकाश और अन्धकार के समान साथ-साथ रहती हैं और अवसर पाकर घटती बढ़ती रहती हैं। काम एक स्वतःसिद्ध मानवीय या प्राणिमात्र की प्रवृत्ति है। परन्तु जिस काम को यहाँ नरक का द्वार बतलाया गया है, वह भगवत् स्वरूप धर्माविरुद्ध काम से भिन्न असत् काम है। तात्पर्य यह है कि जो काम धर्म विरूद्ध है, वह आसुरीसम्पत्ति के अन्तर्गत आता है। इसी प्रकार रजोगुण का परिणाम ही क्रोध है। काम का अधिक मात्रा में होना ही लोभ है। जब किसी विशेष वस्तु के उपभोग की इच्छा होती है तो उसके साथ ही यह भी भाव जागृत होता है कि कोई अन्य इसका उपभोग न करने पाए और इच्छित उस वस्तु में कोई कमी भी न आने पाये, इसी मनोवृत्ति का नाम लोभ है। अतः इन तीनों आत्मनाश के कारणों से बचना चाहिए।

3.10 श्रेयो मार्ग का अवलम्बन

गीता के अनुसार काम, क्रोध और लोभ नरक के इन द्वारों से मुक्त हुआ व्यक्ति अपने श्रेय अर्थात् आत्मकल्याण का आचरण करता है और इस प्रकार श्रेयो मार्ग का अवलम्बन करते हुए वह श्रेष्ठ या परम गति प्राप्त करता है। यथा –

एतैर्विमुक्तः कौन्तेय ! तमोद्वारैस्त्रिभिर्नरः ।
आचारत्यात्मनः श्रेयस्ततो याति परां गतिम् ।। (गीता-16.22)

परम गति का अर्थ केवल मरणोत्तर शुभ गति ही नहीं है अपितु जीवन में इस संसार में भी शुभ फलों की प्राप्ति होने का भाव भी इसमें अन्तर्निहित है। साधक को श्रेयो मार्ग प्रारम्भ में तो कष्टमय प्रतीत होता है पर उसका परिणाम अत्यन्त हितकारी होता है। शास्त्रीय विधियों का सम्यक् आचरण ही श्रेयो मार्ग की प्राप्ति का उपाय का है।

3.11 शास्त्रविधि के परिपालन की अनिवार्यता

गीता के अनुसार जो मनुष्य शास्त्र के अनुशासन को त्यागकर मनमाना आचरण करता है, उसे सुख, सिद्धि तथा उत्तम गति भी प्राप्त नहीं होती। इसलिए व्यक्ति को अपने कर्तव्य और अकर्तव्य का निर्णय करने में शास्त्र को अवश्य आधार बनाना चाहिए। उसे व्यस्थित रूप से

समझकर तदनुसार ही कर्म का सम्पादन करना चाहिए। इस प्रकार शास्त्रविधि के परिपालन से ही सिद्धि तथा शुभ गति भी प्राप्त होती है। यथा –

यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम्॥
तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ।
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि॥ (गीता - 16.23-24)

अभ्यास प्रश्न :

1. गीता के किस अध्याय में दैवी और आसुरी सम्पत्ति का वर्णन प्राप्त होता है –
   क. दशम अध्याय में
   ख. पञ्चदश अध्याय में
   ग. एकादश अध्याय में
   घ. षोडश अध्याय में
2. दैवी सम्पत्ति सम्पन्न व्यक्ति में कितने गुण विद्यमान होते हैं –
   क. 26
   ख. 25
   ग. 16
   घ. 07
3. दैवी सम्पत्ति का प्रथम गुण किसे माना गया है –
   क. सत्त्वसंशुद्धि
   ख. मार्दव
   ग. अद्रोह
   घ. अभय
4. किस गुण के प्रभाव से दुष्ट प्रकृति के मनुष्य भी अन्याय के आचरण से दूर हो जाते हैं –
   क. क्षमा
   ख. अनतिमनित्व
   ग. दया
   घ. तेज
5. विषयोन्मुख इन्द्रियों को नियन्त्रित करना कहलाता है –
   क. दान
   ख. दम
   ग. तप
   घ. ऋजुता

6. आसुरी सम्पत्ति में मुख्यतया कितने मनोभाव होते हैं ?

   क. चार

   ख. पाँच

   ग. आठ

   घ. नौ

7. गीता के अनुसार संसार में प्राणियों की कितनी श्रेणियाँ हैं –

   क. दो

   ख. ग्यारह

   ग. पाँच

   घ. नौ

8. अभिकथन : आसुरी स्वभाव के मनुष्य संसार को असत्य, निराधार, ईश्वर के अस्तित्व से रहित, अपरस्परसम्भूत तथा काममूलक मानते हैं।

   तर्क : उनकी दृष्टि में केवल उपभोग ही जगत् का प्रयोजन है।

   क. अभिकथन सत्य है और तर्क भी सही है

   ख. अभिकथन असत्य है और तर्क भी सही है।

9. आसुरी सम्पत्ति के मूल कारण हैं –

   क. काम

   ख. क्रोध

   ग. लोभ

   घ. उपर्युक्त सभी

10. अभिकथन : शास्त्रीय विधियों का सम्यक् आचरण ही श्रेयो मार्ग की प्राप्ति का उपाय है।

   तर्क : शास्त्रविधि के परिपालन से ही सिद्धि तथा शुभ गति भी प्राप्त होती है।

   क. अभिकथन सत्य है और तर्क भी सही है

   ख. अभिकथन असत्य है और तर्क भी सही है।

3.12 सारांश

गीता में वर्णित दैवी और आसुरी सम्पत्ति का वर्णन आध्यात्मिक तथा व्यावहारिक दोनों दृष्टियों से अत्यन्त उपादेय है। 'दैवी सम्पत्ति' ज्ञान और 'आसुरी सम्पत्ति' अज्ञान का प्रतीक है। दैवी सम्पत्ति मोक्ष प्राप्ति का साधन है। उसमें उत्पन्न व्यक्ति कर्मयोगी बनता है। उसमें अभय, अन्तःकरणशुद्धि आदि छब्बीस गुण विद्यमान होते हैं। आसुरी सम्पत्ति का स्वरूप दैवी सम्पत्ति के बिल्कुल विपरीत होता है। आसुरी प्रवृत्ति के मनुष्यों के मनोभाव दम्भ, दर्प, अत्यन्त मान, क्रोध, कठोरता और अज्ञान से परिपूर्ण होते हैं। इन्हीं के वशीभूत होकर वे अपने क्रियाकलापों से सम्पूर्ण संसार को उद्विग्न करते रहते हैं। वे काम वासना को ही इस जगत् का मूल मानते हैं।

उनकी दृष्टि में केवल उपभोग ही जगत् का प्रयोजन है। उनमें ईश्वरीय सत्ता का कोई भय ही नहीं रहता है। उनकी आत्मा नष्ट हो चुकी होती है। उनकी बुद्धि भी विवेकशून्य हो जाती है। वे हिंसा के बल पर संसार को अपने नियन्त्रण में रखने का प्रयास करते हैं। ऐसे व्यक्ति अनेक आशाओं के बन्धनों में जकड़े रहते हैं। अपनी कामनाओं की पूर्ति के लिए वे सदैव अनैतिक मार्ग से अर्थार्जन करने की इच्छा रखते हैं। उनकी प्रवृत्ति स्वाभाविक रूप से अन्याययुक्त कार्यों में होती है। अत्यधिक अहङ्कार के कारण वे किसी को किसी भी क्षेत्र में अपने समान देखना नहीं चाहते। वे अपने सामने पूरे संसार को तुच्छ समझते हैं। यज्ञ आदि के द्वारा भी वे अपने दम्भ का ही प्रदर्शन करते हैं। अविद्याग्रस्त और ईश्वर से द्वेष रखने वाले उन लोगों का कभी भी उद्धार नहीं होता। वे जन्म जन्मान्तर तक सदैव अशुभ योनियों में ही रहते हैं। आसुरी सम्पत्ति के तीन मूल कारण हैं – काम, क्रोध और लोभ। ये ही तीनों नरक के द्वार हैं और आत्मा के पतन के कारण भी हैं। इसलिए इन तीनों से सतत बचने का यत्न करना चाहिए और इनसे मुक्त हुआ व्यक्ति ही आत्मकल्याण प्राप्त कर सकता है। जो मनुष्य शास्त्र के अनुसार आचरण नहीं करता है उसे सुख, सिद्धि तथा उत्तम गति भी प्राप्त नहीं होती। अतः मोक्षार्थी को आसुरी सम्पत्ति का त्याग करते हुए दैवी सम्पत्ति के सम्पादन का निरन्तर प्रयास करना चाहिए।

3.13 शब्दावली

1. दम्भ – दम्भ एक प्रकार की चित्त वृत्ति है। जिसका सम्बन्ध प्रायः सभी व्याख्याकारों ने एक प्रकार के धर्मानुष्ठान से ही जोड़ा है। उनके अनुसार जो धर्मानुष्ठान कर्त्तव्यबुद्धि से न किया जाकर केवल प्रदर्शन के लिए किया जाता है वह 'दम्भ' कहलाता है। उसमें केवल अपनी प्रतिष्ठा और पूजा को बढ़ाने का उद्देश्य अन्तर्निहित होता है। दम्भपूर्वक किये गये धर्मानुष्ठान से कोई फल सिद्ध नहीं हो पाता, जबकि कर्त्तव्यबुद्धि से किये गए धर्मानुष्ठान से अनन्त सुख की प्राप्ति होती है।
2. मानित्व – स्वयं में विद्यमान गुणों अथवा उनके न रहने पर भी उनका प्रदर्शन करके अपनी प्रशंसा करना और पूज्य व्यक्तियों के प्रति तिरस्कार का भाव प्रकट करना 'मान' कहलाता है। ऐसे प्रदर्शन से स्वयं को जोड़े रखना ही 'मानित्व' है। उससे विशुद्ध ज्ञान का उदय प्रतिबन्धित हो जाता है।
3. हिंसा – प्राणियों को कष्ट देना 'हिंसा' कहलाता है। हिंसा का क्षेत्र अत्यन्त विस्तृत है; आशय यह है कि मन, वचन अथवा शरीर से किसी भी प्रकार किसी भी प्राणी को पीड़ा पहुँचाना 'हिंसा' है।
4. अज्ञान – तत्त्व के यथार्थ स्वरूप का दर्शन करना तथा निरन्तर आत्मज्ञान में निरत रहना, यही ज्ञान है, इससे विपरीत जो कुछ भी है, वह अज्ञान है।

3.14 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

अभ्यास प्रश्न – 1. घ, 2. क, 3. घ, 4. घ, 5. ख, 6. क, 7. क, 8. क, 9. घ, 10. क।

3.15 सन्दर्भ ग्रन्थ

1. भगवद्गीता, शङ्कराचार्य, आनन्दगिरि, मधुसूदन सरस्वती, नीलकण्ठ, धनपतिसूरि, अभिनवगुप्त और बच्चा झा की टीकाओं सहित, निर्णयसागर बम्बई, 1936
2. भगवद्गीता (एकादशटीका सहित) – सं. शास्त्री गजानन शम्भु साधले, परिमल पब्लिकेशन, दिल्ली, 1985
3. गीतादर्शन – स्वामी अखण्डानन्द सरस्वती, सत्साहित्य प्रकाशन ट्रष्ट, वाराणसी
4. गीतारहस्य – लोकमान्य बालगंगाधर तिलक, रामचन्द्र बलवन्त तिलक, नारायण पेठ, पूणे, 1933
5. गीता प्रवचन (गीता व्याख्यानमाला) – पण्डित गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, 2006
6. गीतातत्त्वमीमांसा – डॉ. केशव राव मुसलगाँवकर, चौखम्भा संस्कृत संस्थान, वाराणसी, 2023
7. भारतीय दर्शन – आचार्य बलदेव उपाध्याय, शारदा मन्दिर, वाराणसी, 2011
8. भारतीय दर्शन – डॉ. जगदीशचन्द्र मिश्र, चौखम्भा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी, 2010
9. महाभारत का आलोचनात्मक संस्करण– प्र.सं. वि.एस. सुखटणकर, भाण्डारकर प्राच्यविद्या शोध प्रतिष्ठान, पूणे, 1966
10. शब्दकल्पद्रुम – राधाकान्तदेव बहादुर, चौखम्बा संस्कृत सीरीज, वाराणसी, विक्रम संवत् 2024
11. मीमांसादर्शन – प्रो. मण्डन मिश्र, रमेश बुक डिपो, जयपुर, 1955
12. संस्कृतवाङ्मयम् – डॉ.हरिकृष्ण शास्त्री दातार , कीर्तिसौरभप्रकाशन, वाराणसी,1989
13. संस्कृत वाङ्मय का बृहद् इतिहास – वेदान्त खण्ड – प्रो. संगमलाल पाण्डेय, उत्तर प्रदेश संस्कृत संस्थान, लखनऊ, 1996
14. संस्कृत वाङ्मय का बृहद् इतिहास – आर्षकाव्य खण्ड – प्रो. भोलाशंकर व्यास, उत्तर प्रदेश संस्कृत संस्थान, लखनऊ, 2000
15. संस्कृत साहित्य का इतिहास – डॉ. उमाशङ्कर ऋषि शर्मा, चौखम्भा भारती अकादमी, वाराणसी, 2012
16. संस्कृत साहित्य तथा संस्कृति–वाचस्पति गैरोला, चौखम्भा विद्याभवन, वाराणसी, 2009
17. स्वामी रामानन्दकृत गीता का आनन्दभाष्य, अनुभवानन्दकृत गीतार्थसुधा, रघुवराचार्यकृत अर्थचन्द्रिका और वैष्णवाचार्यकृत गुह्यार्थदीपिका सहित – वेदान्ताश्रम, सिद्धपुर, (गुजरात),1965
18. History of Classical Sanskrit literature – M. Krishnamachariar, Motilal Banarasidass Publishers, Dehli 2016.
19. Vaishnavism Shaivism And Other Minor Religious Systems – Sir R.G. Bhandarkar, Indological Book House, Varanasi, 1965

3.16 बोध प्रश्न

1. भगवद्गीता में वर्णित दैवी सम्पत्ति के स्वरूप का वर्णन कीजिए।
2. भगवद्गीता के अनुसार दैवी सम्पत्ति में अन्तर्भावित गुणों का विशद निरूपण कीजिए।
3. भगवद्गीता के अनुसार आसुरी सम्पत्ति के स्वरूप का सम्यक् विवेचन कीजिए।
4. भगवद्गीता के आलोक में दैवी तथा आसुरी सम्पत्ति के परिणामों पर प्रकाश डालिए।
5. भगवद्गीता के अनुसार आसुरी सम्पत्ति के मूल कारणों की समीक्षा कीजिए।
6. भगवद्गीता के अनुसार श्रेयो मार्ग का निरूपण कीजिए।